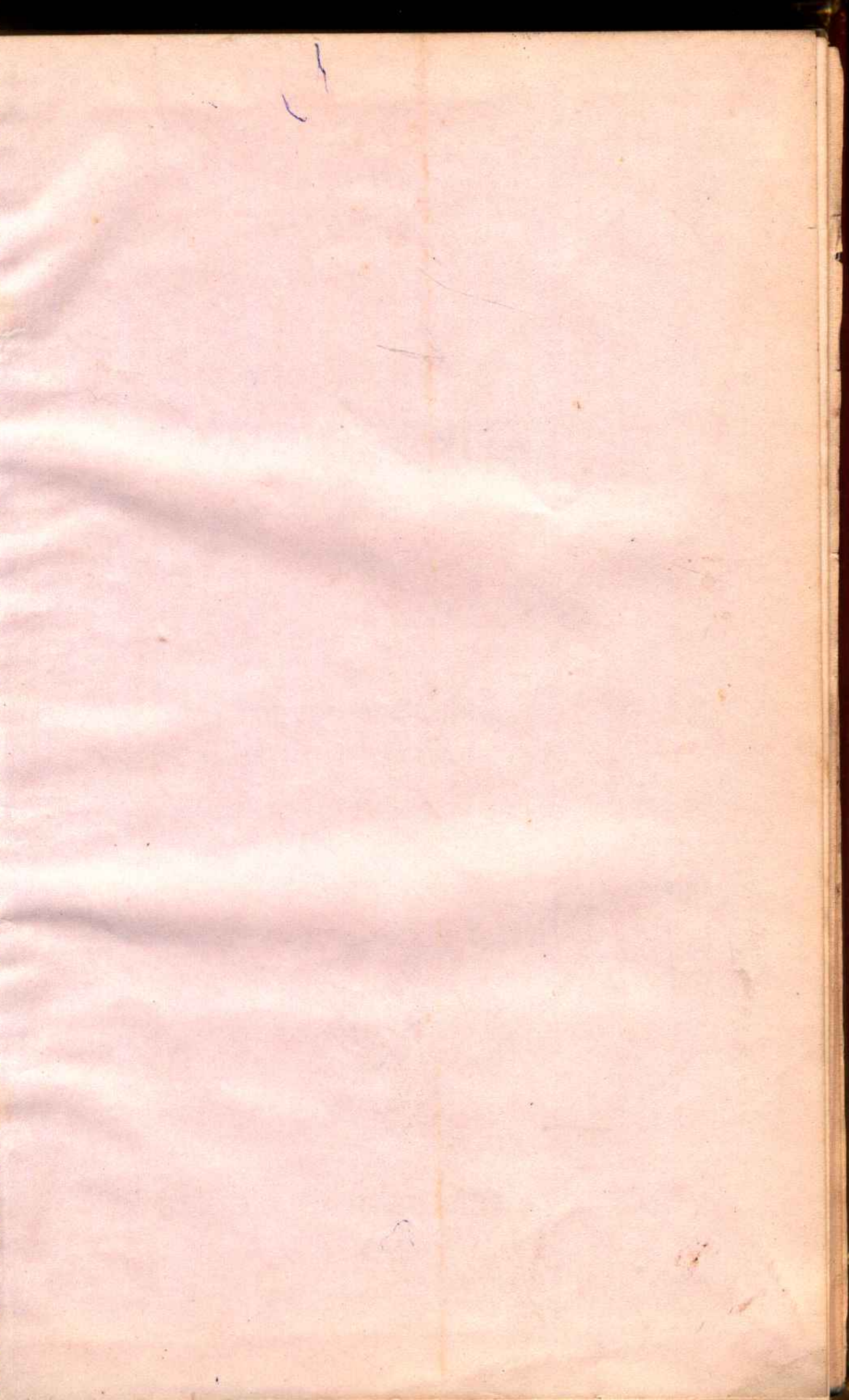
लघुशब्देन्दुशेखरः

पञ्चसन्ध्यन्तः सुबोधिनीहिन्दीव्याख्योपेतः

आचार्य विश्वनाथ मिश्रः



॥ श्रीः ॥

चौखम्बा प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

९१

महामहोपाध्यायनागेशभट्टविरचितः

लघुशब्देन्दुशेखरः

पञ्चसन्ध्यन्तः सुबोधिनीहिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याता

आचार्य विश्वनाथमिश्रः

पूर्वप्राचार्यः राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयः, बीकानेरः



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(प्राच्यभारती के प्रकाशक तथा वितरक)
३८, यू. ए., जवाहर नगर, बंगलो रोड़
पो॰ बा॰ नं॰ २११३, दिल्ली-११०००७
दूरभाष : २३६३९१

प्रथम संस्करण **१९९८**
मूल्य २५०-००



अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के॰ ३७/११७, गोपाल मन्दिर लेन
पो॰ बा॰ नं॰ ११२९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ३३५२६३

प्रमुख वितरक
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो॰ बा॰ नं॰ १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक
ए॰ के॰ लिथोग्राफर
दिल्ली-३५

तत्रभवतां श्रीमतां निखिलशास्त्र-महोदधिमथन-मन्दरायमाणानां
निरस्तसमस्तप्रापञ्चिकजालावदातदेदीप्यमानकल-
धौतकल्पालौकिकतनुभृतां, वादिव्रातगजेन्द्रदुर्मदघटा
विधूननबद्धपरिकरपञ्चाननानां, निरतिशयाह्लाद-
प्रयोजकप्रवचनपाथेयपरितृप्तबुधजनसन्दोह-
जेगीयमानयशसां करकुशेशयपात्रमात्रमुद्-
वहतां मूर्तिमद्वाग्ब्रह्मस्वरूपस्वामिश्री-
करपात्रमहोदयानां पुण्यस्मृतौ

समर्पणम्

धृत्वा शरीरमजनीह नु किं पृथिव्यां
वाग्ब्रह्म किञ्चिदनवद्यतरेण धाम्ना ।
यान् स्वामिवर्यचरणानवलोक्य साक्षा-
दीदृङ् मतिर्मतिमतां समभूत् समेषाम् ॥१ ॥

धर्मोऽथवा विग्रहवानिवासी–
दाश्रित्य यान् श्रीकरपात्रसंज्ञान् ।
सरस्वतीरूपिषु भक्तिधारे
हरेर्हरस्येव च येषु लीने ॥२ ॥

तेषां श्रीहरिहरानन्दकरपात्रमहात्मनाम् ।
पूतायै स्मृतये काचित् कृतिरेषा समर्प्यते ॥३ ॥

विनीतेन
व्याख्यात्रा

प्रस्तावना

जागतिक निखिल व्यवहार का साधन शब्द है। यदि शब्द नामक तत्त्व इस जगत् में नहीं होता तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ इस जगत् की स्थिति कल्पनातीत होती। इसीलिये आचार्य दण्डी ने कहा है—

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दात्मकं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

यह वाक्तत्त्व अनादिनिधन है। नामरूपात्मक यह सारा जगत् उसी का विवर्त है। शब्द की इस महनीयता को व्यक्त करते हुए महावैयाकरण भर्तृहरि का कहना है कि

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

शब्द ब्रह्म है। ब्रह्म वह है जिसका आदि अन्त नहीं। अनादि अनन्त शब्द ब्रह्म परावाक् रूप है। वही पदार्थों के रूप में प्रकट होता है। वही वाचक अभिधान और नाम शब्दों से कहा जाता है। अभिधेयाभिधानात्मक प्रपञ्चोत्पादनानुकूलशक्त्यवच्छिन्न वही है।

इस प्रकार के विलक्षण शब्द के याथार्थ्य का बोध व्याकरण के बिना उपायान्तर से असाध्य है। भर्तृहरि कहते हैं—

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते॥

यद्यपि नित्य ब्रह्मात्मक शब्द की व्याक्रिया व्याकरण की सीमा से परे है तथापि रेखागवय न्यायेन "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते" इस अभियुक्तोक्ति के आधार पर व्याकरण के द्वारा शब्द की व्याक्रिया की जाती है। इस प्रकार व्याकरणशास्त्र शब्द के व्युत्पादन के द्वारा सर्वशास्त्रोपकारक होता है। यह वेदाङ्गों में मुख की भांति प्रधान है। व्याकरण वह निकषोपल है जिसके द्वारा भाषा का विशुद्ध एवं परिमार्जित रूप सामने आता है। धातु और प्रत्ययों की आधारशिला पर शब्दों का निर्माण कर उसके अन्तराल में निहित स्वारसिक अर्थ की अभिव्यक्ति कराना व्याकरण का प्रधान लक्ष्य है। व्याकरण वह निरापद राजमार्ग है जिस पर अबाधरूप से चलते हुए भाषा की समस्त विधाओं का आलोडन भलीभांति किया जा सकता है।

भारत में व्याकरण के अध्ययन और अध्यापन की परम्परा बहुत पुरानी है। संस्कृत व्याकरण ने शब्द के जिस व्यापक और नित्य स्वरूप का निरूपण किया है तथा शब्द में अर्थ प्रकाशन की जिस विधा को प्रस्तुत किया है वह अपने में अनुपम है।

व्याकरण शास्त्र का प्रथम प्रवक्ता कौन है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जिस प्रकार समस्त ज्ञान और समस्त विद्याओं का प्रवक्ता ब्रह्मा को माना जाता है, उसी प्रकार व्याकरण का प्रथम प्रवक्ता भी ब्रह्मा ही है। ऋक्तन्त्रकार ने लिखा है—

ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भारद्वाजाय, भारद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः ॥१ ।४ ॥

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी इन्द्र के लिये बृहस्पति के द्वारा व्याकरण के पारायण की बात इस प्रकार कही है—

बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः, न चान्तं जगाम ॥

महाभाष्य प०पृ०५८

इन्द्र का व्याकरण प्रवचन कर्तृत्व तैत्तिरीय संहिता में भी कहा गया है— वाग् वै पराच्यव्याकृता अवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुरु इति। तामिन्द्रो व्याकरोत्।

इस उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि व्याकरण की परम्परा प्राचीन एवं सदातनी है। वाल्मीकिरामायण जो आदिकाव्य है उसके द्वारा भी इस बात की सम्पुष्टि होती है। वहाँ हनुमान् जी के सम्बन्ध में कहा गया है—

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहुव्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम्॥ किष्किन्धा ३ ।२९

व्याकरण की परम्परा बहुत पुरानी है यह बात इसी से स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शाकल्य, गार्ग्य, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, स्फोटायन, गालव आदि दश प्राचीन वैयाकरणों के नाम का उल्लेख किया है। पाणिनि ने प्राचीनों का केवल नामोल्लेख ही नहीं किया है अपितु प्राचीन वैयाकरणों की कतिपय संज्ञाओं का यथावत् ग्रहण भी अपनी अष्टाध्यायी में किया है। उदाहरण के लिये पाणिनि का सूत्र है "आङो नास्त्रियाम्" यहाँ आङ् से किस का ग्रहण किया जाय ऐसा कोई संकेत पाणिनि ने नहीं किया है। किन्तु इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं—

"आङिति टा संज्ञा प्राचाम्" प्राचीनों के अनुसार आङ् यह तृतीया के एकवचन टा विभक्ति की संज्ञा है। इसी प्रकार "औङ आपः" इस सूत्र में औङ् पद से प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन का ग्रहण भी प्राचीन वैयाकरणों के आधार पर ही किया जाता है।

वर्तमान समय में व्याकरण की संख्या नव सुनी जाती है। वह इस प्रकार हैं—

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम्॥

इनमें शाकटायन सारस्वत आदि कतिपय व्याकरण ही सम्प्रति उपलब्ध हैं ऐसा सुना जाता

है। पाणिनि से पूर्व चार हजार सूत्रों से युक्त भाष्य वार्तिकादि से उपवृंहित कलेवर लौकिक तथा वैदिक उभयविध शब्दसाधुत्वपरायण कोई व्याकरण था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पाणिनि से पूर्व कोई व्याकरण था ही नहीं, क्योंकि स्वयं पाणिनि ने अपने से पूर्व के वैयाकरणों का नामोल्लेख अपनी अष्टाध्यायी में किया है। इसलिये व्याकरण का अस्तित्व और उसका वेदाङ्गत्व पाणिनि से पूर्वकालिक है यह बात असंदिग्ध है।

श्री भार्गवशास्त्री द्वारा सम्पादित नवाह्निकमहाभाष्य की भूमिका में माहेश्वर जयद्रथ विरचित हरचरित चिन्तामणि का शब्दशास्त्रावतार प्रकाशित हुआ है। उससे विदित होता है कि नन्दनृपति के समय पाटलिपुत्र में वर्ष नामक गुरु से विद्याध्ययन की कामना से पाणिनि वहां गये थे। विद्याकाम पाणिनि ने सनकादि सिद्धों के साथ भगवान् शंकर की आराधना की और उनके प्रसाद से चतुर्दश-सूत्रात्मक वर्णसमाम्नाय की उपलब्धि पाणिनि को हुई। ये चौदह सूत्र ही पाणिनि व्याकरण की आधारशिला हैं। पाणिनि के शिष्य द्वारा रचित-पाणिनीय शिक्षा में लिखा हुआ है।

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥ पा०शि०५७

ये चौदह सूत्र जिन्हें प्रत्याहार सूत्र भी कहा जाता है इनके लिये अक्षर समाम्नाय शब्द का प्रयोग किया गया है। आम्नाय, समाम्नाय शब्द वेद के लिये प्रयुक्त होते हैं। यहाँ चौदह सूत्रों के लिये समाम्नाय शब्द के प्रयोग के द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि ये भी वेद की भांति अनादि अपौरुषेय हैं। इन चौदह सूत्रों के अन्त में ण-क-ङ-च- आदि जो चौदह अनुबन्ध लगे हुए हैं ये महेश्वर कृत हैं।

नन्दिकेश्वर कृत काशिका में इन चतुर्दश सूत्रों की व्याख्या के अवसर पर कहा गया है—

अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यं वर्णचतुर्दशम्।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये॥

यहाँ धात्वर्थ का अर्थ है धातुमूलक शब्दशास्त्र की प्रवृत्ति के लिये, इन अनुबन्धों को चौदह सूत्रों में लगाया गया है।

प्रत्याहार सूत्रों की अपाणिनीयता—

"अइउण्" इत्यादि चौदह सूत्र पाणिनि के द्वारा रचित हैं या पाणिनि को महेश्वर प्रसाद से उपलब्ध हैं? यह एक विसंवाद है। इस विसंवाद में यही असंदिग्ध तथ्य है कि ये सूत्र पाणिनिकर्तृक नही हैं। किन्तु पाणिनि को महेश्वर प्रसादात् उपलब्ध हैं। इस बात की सम्पुष्टि निम्नलिखित तथ्यों से होती है—

(१) नन्दिकेश्वरकृत काशिका के नीचे लिखे दो श्लोक इस बात के सत्यापक हैं—

(क) नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नव पञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद् विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

(ख) अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यं वर्णचतुर्दशम्।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये॥

यहाँ सनकादि के उद्धार की कामना से महेश्वर कर्तृक चतुर्दश वार ढक्का नाद समुद्भूत अतिरहस्य इन चौदह सूत्रों की उपलब्धि तथा इनमें महेश्वर के द्वारा चौदह अनुबन्धों के आसञ्जन की बात स्पष्ट रूप से उल्लिखित है।

(२) पाणिनि शिष्य द्वारा रचित पाणिनीय शिक्षा का श्लोक ५७ जो उपरि उद्धृत है उसमें उल्लिखित "अक्षर समाम्नाय मधिगम्यमहेश्वरात्" यह वाक्य इन चौदह सूत्रों की उपलब्धि पाणिनि को महेश्वर से हुई है इस बात को अति विशद रूप से व्यक्त कर रहा है।

(३) नवाह्निक महाभाष्य प्रथम अध्याय प्रथम पाद द्वितीय आह्निक के अन्त में भाष्यकार इन प्रत्याहार सूत्रों के सन्दर्भ में कह रहे हैं—

"सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः।

महाभाष्य के एकमात्र प्रामाणिक व्याख्याता कैयट ने 'ब्रह्मराशि, पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि ब्रह्मतत्त्व ही शब्द रूप में प्रतिभासित हो रहा है दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के इसके फल हैं। अर्थात् यह ब्रह्मराशि अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनों फलों का साधक है। यही इसका पुष्पितत्त्व और फलितत्त्व है। इसे चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डित बताकर इस बात की ओर संकेत किया गया है कि चन्द्र और सूर्य जिस प्रकार अनादि हैं उसी प्रकार से चतुर्दश सूत्र भी अनादि हैं। कोई आधुनिक व्यक्ति इनका कर्त्ता नहीं है।

नागेशभट्ट के अनुसार चतुर्दशसूत्रमूलक शब्दशास्त्र का निर्माण ही इन का पुष्पितत्व है और व्याकरणशास्त्रमूलक साधु शब्दों का प्रयोग ही इनका फलितत्व है।

(४) प्रत्याहार सूत्रों के अपाणिनीय होने पर ही "वृद्धिरादैच्" सूत्र में विधेय वाचक वृद्धि पद का पहले पाठ करना सार्थक होता है। अन्यथा "उद्देश्यमनुद्दिश्य न विधेयमुदीरयेत्" इस नियम के अनुसार पहले यहाँ उद्देश्य वाचक 'आदैच्' का पाठ होना चाहिये, जैसा कि 'अदेङ् गुणः' सूत्र में किया गया है। किन्तु इस सूत्र में वृद्धि का पाठ पहले करने के कारण को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार का कहना हैं कि—

"एतदेकमांचार्यस्स्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्। माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते॥

तात्पर्य यह है कि शास्त्र या ग्रन्थ के आदि में मङ्गलाचरण करना चाहिये, जिससे ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति हो और वह ग्रन्थ प्रथित हो। पाणिनि की अष्टाध्यायी एक ग्रन्थ है, अतः उसके आदि में भी मङ्गलाचरण अपेक्षित है। इसी उद्देश्य से 'वृद्धिरादैच्' सूत्र में पाणिनि ने

उद्देश्य 'आदैच्' का प्रथम प्रयोग न करके मङ्गलार्थक वृद्धि शब्द का पहले प्रयोग किया है। यदि प्रत्याहार सूत्र भी पाणिनि कर्तृक माने जांय तो वृद्धिरादैच् ।१।१।१। यह सूत्र पन्द्रहवां सूत्र हो जायेगा। ऐसी स्थिति में इस सूत्र घटक वृद्धि शब्द की मङ्गलार्थकता कैसे सिद्ध होगी? यह बात तो तब संगत होगी जब "वृद्धिरादैच्" को अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र माना जाय। ऐसा मानने पर तो यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि प्रत्याहार सूत्र पाणिनि के नहीं है।

प्रत्याहार सूत्रों को पाणिनिकर्तृक मानने वालों के सामने भाष्यकार की इस शब्दावली "एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते— यत्तुल्यजातीयांस्तुल्य जातीयेषूपदिशति— अचोऽक्षु हलो हल्सु" अर्थात् आचार्य की यह शैली देखी जाती है कि तुल्यजातीय का उपदेश तुल्यजातीय में करते है। वे अच् का उपदेश अच् में तथा हल् का उपदेश हल् में किये हैं" के अतिरिक्ति दूसरा कोई संबल नहीं है किन्तु विचार करने पर यह तर्क भी प्रभावहीन ही सिद्ध होता है। कारण यह है कि भाष्यकार एक जगह इस अक्षर समाम्नाय को चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डित कह कर इसे अनादि मानते हैं और आधुनिक किसी व्यक्ति की कृति इन्हें नहीं मानते हैं। यदि प्रस्तुत भाष्य में आये हुए आचार्य पद का अर्थ पाणिनि माना जाय तो अक्षर समाम्नाय को चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डित मानना व्यर्थ ही हो जायेगा। इसी लिये तो इस प्रस्तुत भाष्य में आये हुए आचार्य पद का अर्थ करते हुए महावैयाकरण नागेश भट्ट लिखते हैं— आचार्यशब्देन-अनादिः शब्दपुरुषः" तात्पर्य यह है कि आचार्य का अर्थ यहाँ अनादि पुरुष ही है। शेखर की व्याख्या चिदस्थिमाला के रचयिता ने भी आचार्य पद से अनादि पुरुष का ही ग्रहण किया है। ये अनादि पुरुष महेश्वर ही हैं।

महेश्वर के ढक्कानाद से अभिव्यक्त ये चौदह सूत्र वेदराशि की भांति अनादि श्रुति हैं। भट्टोजिदीक्षित ने 'इति माहेश्वराणि सूत्राणि' कह कर इसी बात की पुष्टि की है। किमर्थो वर्णानामुपदेशः' (म॰भा॰१।१।१) इस भाष्य की व्याख्या में 'पाणिनये महादेवकृतो वर्णानामुपदेशः किमर्थः" ऐसा लिख कर नागेश भट्ट भी इन्हें माहेश्वर सूत्र ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें पाणिनिकर्तृक मानना उपेक्षणीय है।

पाणिनि व्याकरण की महनीयता

यद्यपि व्याकरण शास्त्र का वैविध्य सुनने और देखने को मिलता है तथापि पाणिनि व्याकरण उपलब्ध समस्त व्याकरणों में सर्वातिशायी है। पाणिनि के सूत्रों की रचना को देख कर महाभाष्य-कार पतञ्जलि कहते हैं "महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते आचार्यस्य। अत्र वर्णेनाप्यनर्थकेन न भवितव्यम्, किं पुनरियता सूत्रेण"। आचार्य पाणिनि की दृष्टि बहुत ही सूक्ष्म है। उनकी रचना में एक भी वर्ण निरर्थक नही है। इसीलिये तो सुद्ध्य् उपास्यः इस स्थिति में 'संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र से यकार का लोप जब प्राप्त हुआ तो वार्तिककार ने यलोपाभाव के लिये "यणः प्रतिषेधो वाच्यः" इस वार्तिक का निर्माण किया, किन्तु भाष्यकार जो सूत्रकार के प्रति बद्धादर हैं उन्होने 'झलो झलि' सूत्र से षष्ठ्यन्त झलः पद की अनुवृत्ति 'संयोगान्तस्य लोपः" इस सूत्र में करके संयोगान्त झल् का ही लोप होता है, यकार झल् नहीं है इसलिये इसका लोप नहीं होगा; ऐसा कह कर वार्तिक की अनावश्यकता बताई। सूत्रकार के ऊपर न्यूनता का आरोप उन्हें सह्य नहीं है। चाहे

कुछ भी हो किन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि पाणिनि व्याकरण के विकास में वार्तिककार कात्यायन का महत्वपूर्ण योगदान है। उक्त अनुक्त और द्विरुक्त का चिन्तन करना और तदनुरूप वार्तिक का निर्माण करना यह असाधरण प्रतिभा का ही कार्य हो सकता है। वार्तिक की परिभाषा इस प्रकार है।

उक्तानुक्तद्विरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ।। पराशरोपपुराण

पाणिनि व्याकरण के विश्वतोमुख विकास में महर्षि पतञ्जलि का योगदान सर्वातिशायी है। इन्होंने प्रसन्न किन्तु गंभीर चिन्तन शैली में पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या की है। उदाहरण प्रत्युदाहरण लौकिकन्याय का प्रदर्शन पूर्वक सरलभाषा में सूत्रों की व्याख्यापद्धति इनकी असाधारण विशेषता है। भाष्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ।।
विष्णुधर्मोत्तर तृतीय खण्ड चतुर्थ अध्याय।

सूत्रानुसारिवाक्यों के द्वारा सूत्रार्थ का वर्णन किया जाय साथ ही सूत्रघटक पदों का भी वर्णन किया जाय वह भाष्य कहा जाता है। एतद् लक्षण लक्षित पतञ्जलि का महाभाष्य जिस सरस सरल और समासरहित प्राञ्जल भाषा में व्याकरण जैसे शुष्क विषय को व्याख्यायित करता है वह अपने में अनुपम है। इसकी लेखन शैली अद्वितीय है। इन विशेषताओं के साथ भाष्य का गाम्भीर्य भी अपने में अनुपम है। तभी तो कैयट जैसे व्याकरण-मर्मज्ञ कहते हैं— "भाष्याब्धिः क्वातिगंभीरः क्वाहं मन्दमतिस्ततः"।

इस प्रकार पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि की प्रखर प्रतिभा का अभिव्यञ्जक पाणिनि-व्याकरण 'त्रिमुनिव्याकरणम्' रूप में भी ख्यात है।

पाणिनि व्याकरण के अध्ययनाध्यापन का द्वैविध्य'

पाणिनि व्याकरण का अध्ययन और अध्यापन आज दो पद्धतियों से होता है। एक तो अष्टाध्यायी सूत्र क्रमानुसार और दूसरा अष्टाध्यायी क्रम को भंग कर व्युत्क्रम से प्रयोगानुसार। इसका कारण यह है कि किसी विषय का सम्यक् ज्ञान के लिये अष्टाध्यायी क्रमानुसार अध्ययन करने वाले के लिये सम्पूर्ण अष्टाध्यायी का अध्ययन अपेक्षित होगा। उदाहरणार्थ अष्टाध्यायी में समास प्रकरण दूसरे अध्याय में है तो समासान्त प्रकरण पांचवे अध्याय में है। इसी प्रकार समासाश्रय विधि वाले सूत्र छठे अध्याय में हैं। समास में उपसर्जन संज्ञा करने वाला सूत्र प्रथम अध्याय का है तो उपसर्जन का पूर्व प्रयोग करने वाला सूत्र द्वितीय अध्याय का है। अग्नीषोमौ" प्रयोग में अग्नि शब्द के इकार को ईकार करने वाला सूत्र "ईदग्नेः सोमवरुणयोः" ६ ।:।२६ छठे अध्याय का है। इस प्रकार एक समास प्रक्रिया को सम्पन्न करने के लिये सम्पूर्ण अष्टाध्यायी की परिक्रमा करनी पड़ती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये प्रक्रिया ग्रन्थों की रचना का क्रम शुरु हुआ। इस क्रम में धर्मकीर्ति की रूपमाला तथा रामचन्द्राचार्य की

१४५० विक्रम संवत् के आसपास विरचित प्रक्रियाकौमुदी का नाम उल्लेखनीय है।

इन पुस्तकों में पाणिनि के समस्त सूत्रों की व्याख्या नहीं है। इस कमी को दूर किया भट्टोजिदीक्षित ने। इन्होंने पाणिनि सूत्रों का क्रम भंग कर, नवीन उद्भावनाओं से संवलित, तथा ग्रन्थ के हार्द को अभिव्यक्त करने वाली पंक्तियों से पूर्ण "वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी" नामक ग्रन्थ की रचना की। आज यह ग्रन्थ अपनी विशेषताओं के कारण संस्कृत जगत् में सर्वोत्कृष्ट स्थान पर है। सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या स्वयं भट्टोजिदीक्षित ने "प्रौढमनोरमा" नामक ग्रन्थ में की है। दूसरी ओर वैयाकरणधुरीण नागेश भट्ट ने सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या "लघुशब्देन्दुशेखर" नामक ग्रन्थ में की। इसी सन्दर्भ में इनका "वृहत् शब्देन्दुशेखर" नामक ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि पाणिनि व्याकरण के विश्वतोमुखी विकास में नागेश भट्ट का स्थान अद्वितीय है। इनका वैदुष्य अप्रतिम है और इनकी रचनायें भी अनेक हैं।

भट्टोजिदीक्षित की प्रौढमनोरमा का अनुगमन करते हुए श्री ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या "तत्त्वबोधिनी" लिखी। दूसरी ओर लघुशब्देन्दुशेखर का अनुसरण करते हुए वासुदेव दीक्षित ने बालमनोरमा नामक सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या लिखी। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन व्याख्याओं में स्वयं का चिन्तन नहीं है। बालमनोरमा का तो मुख्य उद्देश्य मूल का स्पष्टीकरण है। सूत्रों का अर्थ, प्रयोग की प्रायः सिद्धि पंक्त्यर्थ का विवेचन ये सारी बातें बालमनोरमा मेें देखने को मिलती हैं।यत्र तत्र बालमनोरमाकार का वैशिष्ट्य भी देखने को मिलता है। इसके लिये "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र की बालमनोरमा द्रष्टव्य है।

तत्त्वबोधिनी व्याख्या मूल का अक्षरशः व्याख्यान न करके अपेक्षित अंश का स्पष्टीकरण करती है। साथ ही कहीं कहीं मौलिक तथ्य को प्रस्तुत कर चिन्तन का मार्ग प्रशस्त करती है। एतदर्थ 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ सूत्र की तत्त्वबोधिनी द्रष्टव्य है। इन दोनों व्याख्याओं पर विशेष विचार विस्तारभय से न कर के इतना ही कहना पर्याप्त है कि ये व्याख्यायें नव्य व्याकरण परम्परा का गौरव हैं।

वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी के ऊपर महामहोपाध्याय नागेश भट्ट की व्याख्या लघुशब्देन्दुशेखर नाम से प्रथित है। निखिलशास्त्रावगाहिनी उनकी प्रखर प्रतिभा प्रसूत उनके ग्रन्थ उनके विलक्षण वैदुष्य के ख्यापक हैं। लघुशब्देन्दुशेखर उनकी कृतियों में अन्यतम है। नागेश भट्ट ने इसे अर्थप्रकाशक कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि थोड़े शब्दों में अर्थबाहुल्य को व्यक्त करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।

सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या स्वयं भट्टोजिदीक्षित ने "प्रौढमनोरमा" में की है, किन्तु नागेश भट्ट के द्वारा की गई व्याख्या का अपना वैशिष्ट्य है। उदाहरणार्थ "हलन्त्यम्" सूत्र के अन्योन्याश्रय दोष के विवेचन के अवसर पर दीक्षित जी ने "हलन्त्यम्" इस सम्पूर्ण सूत्र की आवृत्ति की जगह दो विकल्प रखे हैं। पहला तो 'हल्" जो यह एकदेश हैं इसी में तन्त्र मानकर तन्त्रावृत्ति कर ली जाय या यहाँ एकशेष मानकर एकशेषावृत्ति कर ली जाय, सम्पूर्ण सूत्र की आवृत्ति न की जाय। दूसरा विकल्प है हल् च ल् च इस विग्रह में समाहार– द्वन्द्व कर लिया जाय। लकार का संयोगान्त लोप करके 'हलन्त्यम्' यह निर्देश बन जायेगा। परिणाम स्वरूप लकार की इत् संज्ञा पहले हो जायेगी, तत् पश्चात् हल् प्रत्याहार बनाकर हलों की इत् संज्ञा संभव होने से

सम्पूर्ण सूत्र की आवृत्ति ठीक नहीं है। ऐसा पूर्वपक्ष करके इन्हें अयुक्त सिद्ध कर के सम्पूर्ण सूत्र की आवृत्ति का औचित्य सिद्ध किया है। अन्योन्याश्रय दोष को मानकर उसे दूर करने का यह उपायान्तर दीक्षित जी के द्वारा प्रदर्शित किया गया है जब कि नागेश भट्ट अन्योन्याश्रय दोष के उपस्थित न होने का ही उपाय प्रदर्शित किये हैं। इस प्रसंग में इन्होनें हयवरट् से लेकर हल् तक के दश सूत्रों की आवृत्ति का एक पक्ष रखा है। दूसरा पक्ष आदिरत्येन सूत्र के 'सहेता" पद की विशिष्ट व्याख्या करके अन्योन्याश्रय के अनुत्थान की बात की है। इसी प्रसंग में इन्होंने भाष्यकार द्वारा प्रदर्शित एकशेष की भी चर्चा की है। अन्त में सम्पूर्ण सूत्र की आवृत्ति जो दीक्षित को अभिमत है उसकी सम्पुष्टि की है। शेखर में और भी बातें यहाँ विवेचित हैं, जिनकी चर्चा दीक्षित ने नहीं की है।

इस प्रकार देखा जाता है कि नागेश की व्याख्या में अपना कुछ वैलक्षण्य है। अन्योन्याश्रय का यथार्थ हार्द तब तक स्पष्ट नही होगा जब तक मनोरमा के साथ शेखर का अध्ययन न किया जाय। कुछ सूत्रों की व्याख्या तो शेखर की अपनी तुलना ही नहीं रखती। उदाहरणार्थ "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" सूत्र की व्याख्या देखी जा सकती है। इसका जितना गंभीर और विशद विवेचन नागेशने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। "लण् सूत्रेऽकारश्च" इस कौमुदी की पंक्ति के ऊपर र प्रत्याहार का विवेचन नागेश का सर्वथा अपूर्व है जो आज नव्यव्याकरण के पतझड़ के समय भी काशी प्रभृति कतिपय स्थलों में शास्त्रार्थ का केन्द्रबिन्दु बना हुआ है।

शेखर की भाषा प्रौढ़ तथा गंभीर भाव को आत्मसात् किये हुए है। इसकी इस विशेषता को दृष्टिगत कर अधिकारी विद्वानों ने इसकी व्याख्यायें की हैं। शेखर की संस्कृत व्याख्याओं में निम्नलिखित व्याख्यायें प्रसिद्ध तथा उपलब्ध हैं।

१. नागेशभट्ट के प्रधान शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे विरचित चिदस्थिमाला। यह शेखर के मूल अर्थ को खोलने में अति उपयोगी है।

२. दण्डिभट्ट विरचित परिष्कार पथ का अनुवर्तन करने वाली अभिनव चन्द्रिका।

३. सदाशिवभट्ट विरचित 'सदाशिवभट्टी' व्याख्या जो शेखर के मूल अर्थ को स्पष्ट करने में एक विशेष स्थान रखती है।

४. राघवेन्द्राचार्य विरचित विषम पद विवृति।

५. उदयशंकर पाठक कृत ज्योत्स्ना।

६. भैरवमिश्र कृत भैरवी (चन्द्रकला)।

७. नित्यानन्दपंत कृत दीपक।

८. गुरुप्रसाद शास्त्री संकलित वरवर्णिनी।

इसमें सन्देह नहीं कि शेखर जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ के अभिप्राय को खोलते में इन व्याख्याओं का महत्त्व पूर्ण स्थान है। वैयाकरण जगत् इन महापुरुषों का सदैव ऋणी रहेगा जिन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा से शब्देन्दुशेखर जैसे प्रौढ़ विवेचन सापेक्ष ग्रन्थ में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त किया। एक समय ऐसा था कि इन विद्वानों की अनल्प कल्पना से समुद्भूत शेखरस्थलीय परिष्कार विशिष्टवैदुष्य के निकषोपल थे। किन्तु 'ते हि नो दिवसा गताः" इस उक्ति के अनुसार पठन पाठन की सारी प्रक्रिया परिवर्तित हो चुकी है। परिष्कार पर चर्चा तो तब संभव है जब

मूल का यथार्थ बोध हो किन्तु मूल का सम्यक् अर्थ बोध ही आज शिथिल प्राय हो चुका है। ऐसी स्थिति में आवश्यक था कि शब्देन्दु शेखर की हिन्दी व्याख्या भी हो। विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। परिणाम स्वरूप शेखर की हिन्दी व्याख्या का प्रणयन शुरु हुआ। मुझे शेखर की हिन्दी व्याख्या करने की प्रेरणा श्रद्धेय पं. रामप्रसाद जी त्रिपाठी पूर्व व्याकरण विभागाध्यक्ष सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय वाराणसी से मिली। परिभाषेन्दुशेखर की मेरी सुबोधिनी व्याख्या जब उन्होंने देखी तब वे बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि आप इसी प्रकार शब्देन्दुशेखर की भी हिन्दी व्याख्या कीजिये। ऐसी प्रशस्त प्रेरणा हेतु मैं उनका आभारी हूँ। इस व्याख्या में मूल ग्रन्थ का विधिवत् स्पष्टीकरण किया गया है। इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि पुस्तक का कोई भी अंश या शब्द अव्याख्यात न रह जाय। स्पष्टीकरण के व्यामोह में व्याख्या का कलेवर अवश्य बढ़ गया है, फिर भी उसकी उपादेयता असंदिग्ध है।

इस व्याख्यापथ के यायावर मुझे अपने प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव की अनुकम्पा का मंगलमय पाथेय उपलब्ध था। मेरे गुरुदेव श्री रामयश त्रिपाठी (महाशय जी) निखिल शास्त्र पारदृश्वा तथा अनितरसाधारण पाठन शैली के पुरोधा थे। शास्त्रीय अमूर्त रहस्य भी उनके सामने मूर्तिमान् होकर उपस्थित रहते थे। ऐसे गुरुदेव के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ जिनके चरणों में बैठकर कुछ पा सका। इस व्याख्या को लिखते समय मेरे सामने षट्टीकोपेत शेखर था। इस पुस्तक से मुझे अपने कार्य में पर्याप्त सहायता मिली है, अतः इन टीकाकारों के प्रति मैं आभारी हूँ जिनसे सम्बल प्राप्त कर मैं इस कार्य को पूर्ण कर सका।

यद्यपि इस व्याख्या में कोई भी व्याख्येय अंश छूटा नहीं है, फिर भी स्थान पदार्थ, यथासंख्य सूत्र का हार्द आदि कुछ बातें ऐसी हैं जिनकी चर्चा इस व्याख्या में नहीं की गई है। र प्रत्याहार जैसे विषयों से सम्बद्ध मूल की व्याख्या तो विस्तार से कर दी गई है, तथापि इन स्थलों को इस प्रस्तावना में भी संक्षिप्त रूप में विवेचित कर दिया जाता है जिससे यथावसर उन्हें समझने में कोई कठिनाई न हो। अणुदित् सूत्र की व्याख्या की विशेषता वहीं द्रष्टव्य है।

र प्रत्याहार

र प्रत्याहार 'हयवरट्' सूत्र के रकार से लेकर लण् सूत्र के मध्यस्थ अकार तक होता है। इसमें रकार और लकार ये दो वर्ण आते हैं। इसका बीज है "तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार की "लपरत्वं वक्ष्यामि" यह उक्ति। "उरण् रपरः" सूत्र में रकार को देखकर भाष्यकार के सामने यह प्रश्न था कि रपर करने से कृष्णर्द्धिः" प्रयोग तो बन सकता है, पर "तवल्कारः" जैसे प्रयोग तो सिद्ध नहीं हो सकते। इसीलिये उन्होंने कहा 'लपरत्वं वक्ष्यामि'। भाष्य के इस शब्द की व्याख्या कैयट और नागेश ने अपने २ ढंग से की। कैयट ने इस भाष्य को र प्रत्याहार के रूप में व्याख्यायित किया तो नागेश ने "उरण् रपरः" सूत्र में लकार का पाठ कर देना चाहिये इस रूप में उस भाष्य की व्याख्या की। कैयट के मत का अवलम्बन कर दीक्षित जी ने "लण् सूत्रेऽकारश्च" लिखकर लण् सूत्रस्थ अकार की अनुनासिकत्वेन इत् संज्ञा कर के र प्रत्याहार बना डाला। इस प्रकार नव्य व्याकरण परम्परा में र प्रत्याहार और उसका विरोध ये दो पक्ष प्रचलित होगये। र प्रत्याहार के विरोधी नागेश भट्ट ने लण् सूत्रस्थ

अकार को इत् संज्ञक मानने में निम्नलिखित दोषों की बात कही है—

१. यदि लण् सूत्रस्थ अकार अनुनासिक होने के कारण इत् संज्ञक है और उससे र प्रत्याहार बनता है तथा उसमें रकार और लकार ये वर्ण आते हैं तो अतोल्रान्तस्य सूत्र में पाणिनि का लकारोच्चारण व्यर्थ हो जायेगा।

२. लण् सूत्रस्थ अकार के इत्संज्ञक होने पर र प्रत्याहार की भांति य प्रत्याहार भी बन सकता था। ऐसी स्थिति में यण् पद घटित सूत्रों में पाणिनि को य प्रत्याहार का ही व्यवहार करना चाहिये था। उन्होंने वैसा नहीं किया है। इससे भी र प्रत्याहार के अभाव की ही सम्पुष्टि होती है।

३. अनुबन्ध (इत्संज्ञक) वर्णों की गणना प्रत्याहार में नहीं होती। इस बात में भाष्यकार ने तीन हेतुओं का प्रदर्शन किया है। वे हेतु हैं आचारात्, अप्रधानत्वात् लोपश्च बलवत्तरः"। इनमें तृतीय हेतु आनुमानिक प्रक्रिया में पक्षतावच्छेदक का अव्यापक हो जायेगा, यदि लण् सूत्रस्थ अकार अनुनासिक है तब। इसके कारण को स्पष्ट करते हुए नागेश ने शेखर में लिखा है कि सर्वप्रथम प्रत्याहार हल् प्रत्याहार बनता है। उस समय अच् प्रत्याहार न बनने के कारण लण् सूत्रस्थ अकार की "उपदेशेऽच्" सूत्र से इत्संज्ञा न हो सकेगी। परिणाम यह होगा कि "अनुबन्धाः प्रत्याहार जन्य बोधविषयत्वाभाववन्तः, लोपशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वात्" इस अनुमान वाक्य में आया हुआ हेतु लण् सूत्रस्थ अकार में नहीं जायेगा क्योंकि इत्संज्ञा के अभाव में लण् सूत्रस्थ अकार "तस्य लोपः" सूत्र के उद्देश्यतावच्छेदक इत्व से आक्रान्त नहीं हो रहा है। पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन क्रियमाण अनुमिति में हेतु को पक्षतावच्छेदक का व्यापक होना चाहिये जो यहाँ नहीं हो रहा है।

४. लण् सूत्रस्थ अकार के हल् प्रत्याहार में प्रविष्ट हो जाने का परिणाम यह होगा कि "सोऽस्ति" इस प्रयोग में तत् शब्द के आगे सुविभक्ति का "एतत्तदोः सुलोपः" सूत्र से लोप होने लगेगा क्योंकि अस्ति का अकार रूपी हल् पर में मिल रहा है जो सुलोप का निमित्तत्वेन उस सूत्र में आश्रीयमाण है।

र प्रत्याहार के पक्षधरों की ओर से नागेश के इन आक्षेपों का उत्तर इस प्रकार दिया गया है—

१. 'अतोल्रान्तस्य' सूत्र में लकारोच्चारण से र प्रत्याहार का अनस्तित्व है ऐसा न मानकर र प्रत्याहार अनित्य है ऐसा मानना ही उपयुक्त है। इस से उक्त सूत्र में लकारोच्चारण का सार्थक्य हो जाता है। साथ ही "कमलानाम्" प्रयोग में "रषाभ्याम्" सूत्र से नकार को णकार नहीं होता।यहाँ लकार र प्रत्याहारस्थ वर्ण के रूप में ग्राह्य नहीं हुआ।

२. लण् सूत्रस्थ अकार के इत्संज्ञक होने पर भी उससे केवल र प्रत्याहार की ही सिद्धि होगी, न कि य प्रत्याहार की भी। कारण कि य प्रत्याहार बनाने से अर्द्धमात्रा के लाघव के होने पर भी अनेक प्रकार का गौरव है। उदाहरण के लिये— योऽचि" सूत्र में य प्रत्याहार का ग्रहण करके यकारादि चार वर्णों का आदेश प्राप्त होगा, जिसका निवारण करना पड़ेगा। "महाशूद्री" प्रयोग में रकार रूपी य प्रत्याहार के

वर्ण के उपधा में आ जाने के कारण 'अयोपधात्' इस निषेध की प्रवृत्ति हो जायेगी। परिणाम यह होगा कि 'यहाँ जातेरस्त्री सूत्र से ङीष् नहीं हो सकेगा। "यस्येति च" "यस्य विभाषा" आदि सूत्रों में यकार से क्या ग्राह्य है इसे स्पष्ट करने के लिये अनेक प्रकार के यत्न करने पड़ेंगे।

३. तृतीय हेतु का अव्यापकत्वापत्ति रूप दोष भी र प्रत्याहारवादियों के यहाँ नहीं है। कारण यह है कि अनुबन्ध तो वही कहा जाता है जिसकी इत् संज्ञा हुई हो। यहाँ तो हल् प्रत्याहार की सिद्धि के पूर्व अच् प्रत्याहार की निष्पत्ति न होने के कारण लण् सूत्रस्थ अकार की उपदेशेऽच् सूत्र से इत्संज्ञा ही नहीं होती है। ऐसी स्थिति में तो वह अनुबन्ध ही नहीं कहा जायेगा।फलस्वरूप वह जब पक्ष ही नहीं बन रहा है तब पक्षतावच्छेदकाव्यापकत्वापत्ति रूप दोष का यहाँ क्या औचित्य है?
यदि इत्संज्ञायोग्यत्वम् अनुबन्धत्वम् इस मान्यता के आधार पर इसे अनुबन्ध बना भी दिया जाय तब भी कोई दोष नहीं है क्योंकि अव्याप्यवृत्ति हेतु भी अनुमापक देखा जाता ही है। जैसे अयं वृक्षः द्रव्यम् कपिसंयोगात्" यहाँ मूलावच्छेदेन वर्तमान कपिसंयोग वृक्ष के द्रव्यत्व का अनुमापक होता है।

४. लण् सूत्रस्थ अकार के हल् प्रत्याहार में प्रविष्ट हो जाने से 'सोऽस्ति' इस प्रयोग में सुलोप की आपत्ति भी असंगत ही है। कारण यह है कि "अदेङ् गुणः" "कुमारः श्रमणादिभिः" इत्यादि सूत्रों में सुलोप नहीं देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि लण् सूत्रस्थ अकार के हल् प्रत्याहार में आ जाने के कारण उससे पर में रहने वाले सु विभक्ति का लोप "हल्ङ्याब्भ्यः" सूत्र से सिद्ध है। ऐसी स्थिति में एतत्तदोः सुलोपः सूत्र से सुलोप का विधान व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि लण् सूत्रस्थ अकार र प्रत्याहार से अतिरिक्त अन्य किसी प्रत्याहार का प्रयोजक नही है। इस प्रकार र प्रत्याहार की सिद्धि निर्बाध होती है।

स्थान पदार्थः

"इको यणचि" इस विधि सूत्र के द्वारा इक् के स्थान पर यण् का विधान किया जाता है। इसी प्रकार विभिन्न विधि सूत्रों के द्वारा यत् किञ्चित् वर्ण के स्थान पर यत्किञ्चित् विधेय होता है। यद्यपि स्थान शब्द का अर्थ अति प्रसिद्ध है, तथापि वैयाकरण परम्परा में परिष्कृत भाषा में इसे प्रौढ़ बना दिया गया है। यहाँ वही बात स्पष्ट की जा रही है। उदाहरण के लिये "इको यणचि" को ही लें। यह सूत्र अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट इक् के स्थान पर यण् का विधान करता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि अच् से अव्यवहित पूर्व इक् का उच्चारण किया जाता है तो उच्चारण असाधु है। उसकी जगह यदि अजव्यवहितपूर्वत्व विशिष्ट यण् का उच्चारण किया जाता हैं तो वह उच्चारण साधु माना जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि

"इकोयणचि" सूत्र से दो बातें व्यक्त होती हैं—

१. अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टम् इक्कर्मकम् उच्चारणम् इष्टसाधनम्' इति ज्ञानं भ्रमः।

२. अजव्यवहितपूर्वत्व विशिष्टं यण् कर्मकम् उच्चारणम् इष्टसाधनम् इति ज्ञानं प्रमा।

पहले ज्ञान में इक्कर्मक उच्चारण में विशेष्यता है और इष्टसाधनत्व में प्रकारणता (विशेषणता) है। इस प्रकार इष्टसाधनत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितउच्चारणनिष्ठविशेष्यताअवच्छेदकता कर्मत्व में है क्योंकि कर्म-उच्चारण मे विशेषण है। उस कर्मत्वनिष्ठ अवच्छेदकता का अवच्छेदक इक् है, इसलिये उच्चारणत्वावाच्छिन्न उच्चारणनिष्ठ विशेष्यतावच्छेदकतावच्छदेकता इक्निष्ठ होती है।

दूसरे ज्ञान में इसी प्रकार इष्ट साधनत्व निष्ठ प्रकारता निरूपिता जो उच्चारणत्वावाच्छिन्न उच्चारणनिष्ठ विशेष्यता है, तदवच्छेदकताव्च्छेदकता यण्निष्ठ होती है।

इस बात को सन्दर्भित करते हुए परिष्कृत स्थान पदार्थ के स्वरूप पर दृष्टिपात करने पर उसका यह स्वरूप सामने आता है—

अवच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकतानिरूपितोच्चारणत्वावच्छिन्ना या विशेष्यता तदवच्छेदक धर्मावच्छिन्नविशेष्यताकेष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वप्रकारकज्ञानीयविशेष्यता वच्छेदकता-वच्छेदकता।

इसका समन्वय इस प्रकार करना चाहिये—

ऊपर जो दो ज्ञानों का स्वरूप दिखाया गया है उनमें पहला ज्ञान इष्टसाधनत्वप्रकारक भ्रमविषयत्वप्रकारक उच्चारणविशेष्यक है।

दूसरा ज्ञान इष्टसाधनत्वप्रकारक प्रमाविषयत्व प्रकारक उच्चारणविशेष्यक है। निष्कर्ष यह होता है कि "भ्रमत्व प्रकारक ज्ञानीय विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता इक्निष्ठ होती है दूसरी ओर प्रमात्वप्रकारकज्ञानीय विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता यण्निष्ठ होती है। यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है।

यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि भ्रमत्वप्रकारकज्ञानीय विशेष्यता उच्चारणत्वावच्छिन्ना है। इसी उच्चारणत्व धर्म से प्रमात्व प्रकारक ज्ञानीय विशेष्यता भी अवच्छिन्न है। इसलिये यहाँ इस प्रकार कहा जाता है कि इक्निष्ठ अवच्छेदकता निरूपित कर्मत्वनिष्ठ अवच्छेदकता निरूपित उच्चरणत्वावच्छिन्ना जो उच्चारणनिष्ठा विशेष्यता है, तदवच्छेदक उच्चारणत्वधर्मावच्छिन्न विशेष्यताक इष्टसाधनत्व प्रकारक प्रमाविषयत्व प्रकारक ज्ञान होता है—"यण्कर्मकम् उच्चारणमिष्ट-साधनमिति ज्ञानं प्रमा" यह ज्ञान। एतद्ज्ञानीय विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता यण् में आती है। इस प्रकार इक्निष्ठावच्छेदकता निरूपित अवच्छेदकतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतावान् यण् का होना ही इक् के स्थान पर यण् का होना है।

यहाँ सन्देह होता है कि इस प्रकार के स्थान पदार्थ को स्वीकार करने पर 'इक्निष्ठ स्थानिता निरूपित आदेशतावान् गुण हो' ऐसा व्यवहार क्यों न हो? कारण कि गुणकर्मकमुच्चारणम् इष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयतावत्' ऐसा आद्गुणः का अर्थ होने से जिस प्रकार विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता यण् में जाती है उसी प्रकार गुण में भी जाती है। इस शंका के उत्तर में कहा जाता है कि भ्रमत्व प्रकारकज्ञानीय विशेष्यता जिस शास्त्र से प्रयोज्य हो उसी शास्त्र प्रयोज्य प्रमात्वप्रकारक ज्ञानीय विशेष्यता को भी होना चाहिये। इक् और गुण के स्थल में यह बात नहीं है, क्योंकि भ्रमत्वप्रकारक ज्ञानीयविशेष्यता 'इको यणचि' शास्त्र प्रयोज्य है

और प्रमात्वप्रकारकज्ञानीय विशेष्यता "आद्गुणः" सूत्र प्रयोज्य है। इस प्रकार दोष का निराकरण होता है।

इस विवेचन के उपरान्त यह सन्देह होता है कि "जराया जरसन्यतरस्याम्" इस विकल्प स्थल में स्थानी और आदेश दोनों का उच्चारण इष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयतावत् होता है। ऐसी स्थिति में यहां स्थान पदार्थ की संगति कैसे होगी?

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि "विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकताकत्व, इष्टसाधनत्व प्रकारताकत्व और भ्रमविषयत्वप्रकारकत्व" इन तीनों में स्थान पद की खण्डशः शक्ति है। विकल्प स्थल में भ्रमविषयत्व प्रकारकत्व अंश का परित्याग कर दिया जाता है। इस प्रकार कोई दोष नही होता

यथासंख्यमनुदेशः समानाम्।

अनुदेश का अर्थ है पश्चाद्भव वाक्यार्थबोधकालिकसम्बन्धः। इनमें अनुशब्द पश्चात् अर्थ का वाचक है और दिश धातु का अर्थ है ज्ञान या बोध। इस प्रकार अनुदेश शब्द का उपर्युक्त अर्थ होता है। समानाम् इस पद का अर्थ है समान संख्या वाले। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ होता है समान संख्या वालों का पश्चाद्भववाक्यार्थबोधकालिक सम्बन्ध यथा संख्य = संख्या का आतिक्रमण नहीं करता है। संख्या शब्द के दो अर्थ होते हैं। (१) ज्ञान या बोध और (२) गणना। उपर्युक्त अर्थ संख्या शब्द का गणना अर्थ मान कर किया गया है।

जब संख्या शब्द को ज्ञानार्थक मानेगें तब सूत्रार्थ इस प्रकार होता है—

समान संख्या वालों का पश्चाद्भव वाक्यार्थ बोधकालिक सम्बन्ध यथासंख्य अर्थात् बोधक्रम का अतिक्रमण नही करता है। जिस क्रम से बोध होता है उसी क्रम से उनका पारस्परिक सम्बन्ध होता है।

ऊपर समानाम् पद का अर्थ समान संख्या वाले किया गया है। ये समान संख्यावाले उद्देशी और अनुद्देशी यहाँ विवक्षित हैं। उद्देशी का अर्थ है पूर्वोच्चार्यमाण और अनुद्देशी का अर्थ है पश्चाद् उच्चार्यमाण। यहां उद्देशी और अनुद्देशी शब्द से न केवल पूर्वोच्चार्यमाण और पश्चाद् उच्चार्यमाण का ही ग्रहण होता है अपितु उनसे प्रतिपाद्य का भी ग्रहण होता है। जैसे "एचोऽयवायावः" सूत्र में एच् उद्देशी और अनुद्देशी अयादि हैं। उद्देशी कोटि में एक ही एच् शब्द है जब कि अनुद्देशी में उच्चार्यमाण चार हैं। इस प्रकार यथासंख्य की कठिनाई हो जाती है, किन्तु उच्चार्यमाण प्रतिपाद्य का ग्रहण कर लेने से उद्देशी एच् भी चार हो जाते हैं। इस प्रकार इनका यथासंख्य अन्वय हो जाता है।

उद्देशी और अनुद्देशी का अर्थ उद्देश्य और विधेय करना ठीक नहीं है क्योंकि वैसा करने पर केवल उद्देश्य और विधेय का ही यथासंख्य अन्वय हो सकेगा। केवल उद्देश्य कोटि में प्रविष्टों का यथासंख्य नही हो सकेगा। उदाहरण के लिये "समूलाकृतजीवेषु हन् कृञ् ग्रहः" ३।४।३६ इस सूत्र को लिया जा सकता है। यहाँ विधेय तो एकमात्र केवल णमुल् है। इसका उद्देश्य धातुत्रय जो सूत्र में उक्त हैं, उनके साथ अन्वय (यथासंख्य) कथमपि संभव नहीं है। यहाँ तो उद्देश्य कोटि प्रविष्ट समूल अकृत और जीव का यथा संख्यान्वय हन् कृञ् और ग्रह

के साथ ही होता है। यह बात उद्देशी और अनुद्देशी का उपर्युक्त अर्थ करने पर ही संभव है।

ऊपर बताया गया है कि समानाम् का अर्थ समसंख्या वालों का है। संख्या की समानता एक द्विवचनादि के आधार पर तथा गणना के आधार पर दोनों प्रकार से की जाती है। जैसे "ङमो ह्रस्वादचि" इस सूत्र में "ङमः" यह एकवचनान्त है तथा ङम् पदवाच्य तीन हैं। पश्चादुच्चार्यमाण ङमुट्" पदभी एकवचनान्त तथा ङुट्, णुट् और नुट् रूप में ये भी तीन हैं। इस प्रकार वचन और संख्या के आधर पर यहाँ यथासंख्य होता है। इसी प्रकार "नन्दिग्रहिपचादिभ्यः" तथा "कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिवहोः" सूत्रों में भी वचन तथा संख्या की समानता में यथासंख्या न्वय होता है।

इस सूत्र का परिष्कृत अर्थ भी वैयाकरण सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। इस अर्थ को जानने के पहले तत् सम्बन्धी आवश्यक बातों का जान लेना आवश्यक है। जहाँ स्थानी और आदेश का प्रसंग होता है वहाँ स्थानी प्रतियोगी और आदेश अनुयोगी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एच् के स्थान पर अयादि आदेश स्थल में एच् में प्रतियोगिता और अयादि में अनुयोगिता का होना स्पष्ट ही है।

प्रस्तुत सूत्र में संख्या की चर्चा बराबर आ रही है। द्वित्व आदि संख्यायें अपेक्षाबुद्धिजन्य हैं। जैसे अयमेकः, एतदेकत्वविशिष्टविशिष्टोऽयमेकः इतीमौ द्वौ। इमौ द्वौ, एतद्द्वित्व विशिष्टविशिष्टोऽयमेकः, इतीमे त्रयः। इसी प्रकार चतुष्ट्व पञ्चत्व संख्या की उपपादिका अपेक्षा बुद्धियों को जानना चाहिये। द्वित्व उत्पादिका अपेक्षा बुद्धि के विषय प्रथम तथा द्वितीय दोनों व्यक्ति होते हैं। प्रथम व्यक्ति के लिये जब अयमेकः ऐसा प्रयोग किया जाता है तब उसका तात्पर्य होता है— एकत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित इदन्त्वावच्छिन्नापेक्षाबुद्धीयविशेष्यता का आश्रय प्रथम व्यक्ति है।

द्वितीय व्यक्ति में भी एकत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित इदन्त्वावच्छिन्न विशेष्यता रहती है किन्तु प्रथम तथा द्वितीय व्यक्तिनिष्ठ विशेष्यता में मौलिक भेद यही होता है कि प्रथम व्यक्ति के लिये "अयमेकः" ऐसा प्रयोग किया जाता है जब कि द्वितीय व्यक्ति के लिये 'अयमेकः' एतद् एकत्व विशिष्टविशिष्टोऽयमेक इति इमौ द्वौ, ऐसा प्रयोग होता है। इस प्रकार प्रथम व्यक्तिनिष्ठ विशेष्यता इदन्त्वावच्छिन्ना है जबकि द्वितीय व्यक्तिनिष्ठा विशेष्यता एकत्वावच्छिन्ना है। यदि कहा जाय कि "अयमेकः" कहने से एकत्वावच्छिन्न विशेष्यता प्रथम व्यक्ति में हो रही है तो इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि यद्यपि एकत्वनिष्ठप्रकारता निरूपित विशेष्यता उभयनिष्ठ है तथापि प्रथम में जो विशेष्यता है वह प्रकारता समानाधिरण होने से अमुख्य है और द्वितीय निष्ठ विशेष्यता मुख्य है। इन उपर्युक्त सारे तथ्यों को दृष्टिगत करते हुए इस सूत्र का परिष्कृत अर्थ इस प्रकार होता है— समसंख्याकानां पश्चाद्भववाक्यार्थ-बोधकालिकः सम्बन्धः प्रतियोगिविशिष्टानुयोगिको भवति। वै०—स्ववृत्तिसंख्योत्पादकापेक्षा बुद्धीयैकत्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित विशेष्यता सजातीय विशेष्यताश्रयत्वसम्बन्धेन। साजात्यं च मुख्यत्वामुख्यत्वान्यतरसम्बन्धेन। इसका समन्वय इस प्रकार होता है— जैसे एचोऽयवायावः" सूत्र से एकार को अय् और ओकार को अव् आदेश किया जाता है। यहाँ एकार और ओकार प्रतियोगी हैं और अय् और आव् अनुयोगी हैं। एकार और ओकार में संख्या की उत्पादिका

बुद्धि इस प्रकार होती है— अयमेक एकारः, एतदेकत्व विशिष्टोऽयमेक ओकार इति इमौ द्वौ। यहाँ एकत्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित विशेष्यता दोनों में है। यह बात ऊपर कही जा चुकी है किन्तु प्रथमनिष्ठ विशेष्यता प्रकारता समानाधिकरण होने से अमुख्य है।

जिस प्रकार एकार और ओकारनिष्ठ संख्योत्पादिका अपेक्षा बुद्धि ऊपर बताई गई है वैसी ही अपेक्षा बुद्धि अय् और अव् के लिये भी बताई जाती है। अय् निष्ठ अपेक्षा बुद्धीय विशेष्यता भी एकार निष्ठ विशेष्यता केसमान प्रकारता समानाधिकरण होने से अमुख्य है,इसीलिये एकारनिष्ठ विशेष्यता का साजात्य उसमें है। इस विशेष्यता का आश्रय अय् अनुयोगी होता है। इसी प्रकार द्वित्वोत्पादिका अपेक्षा बुद्धीय एकत्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित मुख्य विशेष्यताश्रय ओकारनिष्ठ विशेष्यता सजातीय विशेष्यता का आश्रय अव् होता है। यह अव् ओकार प्रतियोगिक सम्बन्ध का अनुयोगी बनता है। इस प्रकार समसंख्याकों का सम्बन्ध प्रतियोगी विशिष्ट अनुयोगिक होता है। इस प्रकार ऐसे स्थलों में यथासंख्य अन्वय होता है।

स्थानिवद्भाव

पाणिनि व्याकरण की नव्य व्याकरण परम्परा में स्थानिवद्भाव गंभीर चिन्तन का केन्द्र बिन्दु रहा है। "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" स्थानिवद्भाव विधायक इस सूत्र घटक अनल्विधौ पद के ऊपर जो चिन्तन हुआ है वह अपने में अनुपम है।

स्थानिवद्भाव का तात्पर्य है आदेश को स्थानी के तुल्य बनाना। 'रामाय' प्रयोग में ङे विभक्ति के स्थान पर यादेश कर देने के बाद 'सुपि च" सूत्र से वाञ्छित दीर्घ तब तक नहीं होता है जब तक ङे वृत्ति धर्म सुप्त्व यकार में नहीं आता है। यह कार्य "स्थानिवद्" सूत्र से किया जाता है। इसी प्रकार "रामेण" प्रयोग में टा" के स्थान पर इन आदेश करने के बाद स्थानिवद्भाव से टावृत्ति सुप्त्व इन में लाकर सुबन्ततदादित्वप्रयुक्त पदत्व की सिद्धि यहाँ की जाती है। इस प्रकार स्थानिवद्भाव व्याकरणशास्त्र का व्यापक विषय है।

स्थानिवद्भावविधायक सूत्र घटक 'अनल्विधौ" यह पद अल् विधि में स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध करता है। अल्विधि पद के अर्थ के विषय में दीक्षित और नागेश का वैमत्य है। दीक्षित जी अल् से स्थान्यवयव अल् का ग्रहण करके उसका धर्म यदि अल्मात्र वृत्ति धर्म हो तो वहाँ स्थानिवद्भव का निषेध करते हैं। अल्मात्र वृत्ति धर्म एक एक अक्षर में रहने वाला धर्म होता है। जैसे कत्व अत्व, इत्व इत्यादि धर्मः तथा अच्त्व, हल्त्व धर्म भी अल्मात्र वृत्ति धर्म हैं। इन धर्मों को लाने में स्थानिवद्भाव नहीं होता है। उदाहरण के लिय "द्यौः" प्रयोग को लिया जा सकता है। यहां वकार के स्थान पर औ आदेश "दिव औत् सूत्र से किया गया है। यहाँ वकार का धर्म हल्त्व स्थानिवद्भाव से औकार में लाकर "हलङ्याब्भ्यः" सूत्र से सुलोप नहीं किया जा सकता है क्योंकि अल् विधि होने के कारण यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध कर दिया जाता है।

इस प्रकार प्राचीन वैयाकरण स्थान्यवयव अल् वृत्ति धर्म के अल्मात्र वृत्ति धर्म होने पर स्थानिवद्भाव का निषेध करते हैं। नागेश भट्ट अल् विधि के लिये स्थानी का अल् रूप होना आवश्यक मानते हैं। अल् के स्थानी रूप होने पर तद्वृत्ति धर्म अल् वृत्ति हो या अनल् वृत्ति

(समुदाय वृत्ति) हो वहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध इनके अनुसार कर दिया जाता है।

ऐसा अर्थ स्वीकार करने का परिणाम होता है कि "धिन्वन्ति" प्रयोग की सिद्धि हो जाती है। इकारेत्संज्ञक धिव् धातु लट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन झि अन्तादेश इदित्वात् नुम् करने पर 'धिन्व अन्ति' इस स्थिति में "धिन्विकृण्व्योर च"३।१।१० इस सूत्र से वकार को अकार और उ प्रत्यय (विकरण) किया जाता है। अकार का लोप और उकार को यण् करके धिन्वन्ति प्रयोग सिद्ध होता है। यहाँ उ प्रत्यय का धर्म आर्धधातुकत्व को स्थानिवद्भाव से वकार में लाकर उसे इट् का आगम नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह स्थानी रूप अल् उकारवृत्ति धर्म है ऐसे धर्म को लाने में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है।

यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी स्थिति में "रामाय" प्रयोग में स्थानी एकार का धर्म सुप्त्व यकार में लाकर दीर्घ कैसे किया जाता है। यहाँ भी स्थानिवद्भाव का निषेध होकर दीर्घ नहीं होना चाहिये। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि नागेश के मत में अल् को स्थानी रूप होना चाहिये। रामाय प्रयोग में यादेश की स्थानिता "ङे" इस समुदाय में है। षष्ठीप्रकृत्यर्थताव च्छेदक ही स्थानितावच्छेदक होता है। इसलिये यहाँ "ङे" इस समुदाय के स्थानी होने के कारण अल् रूप स्थानी के अभाव में यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता है। विस्तार भय से इस बात को यही विराम दिया जा रहा है। विस्तृत जानकारी हेतु शेखर की दीपक आदि टीकाओं को देखें।

स्थानिवद्भाव करने वाला दूसरा सूत्र है "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" यह सूत्र पूर्वसूत्र के विपरीत अल् विधि में स्थानिवद्भाव करता है इसके द्वारा किये जाने वाले स्थानिवद् भाव के लिये निम्नलिखित विन्दु अपेक्षित होते हैं—

१. जिस आदेश का स्थानिवद्भाव करना हो वह आदेश केवल अच् रूपी स्थानी के स्थान पर हुआ हो।
२. वह परनिमित्तक हो। अर्थात् किसी को पर में मान कर हुआ हो।
३. स्थानीभूत अच् से पूर्व में देखे गये को कोई विधि (कार्य) सम्प्रति कर्तव्य हो।

उदाहरण के लिय सुध् य्-उपास्यः' इस स्थिति को लिया जा सकता है। "उपास्यः" के उकार को निमित्त मान कर जायमान यह यकार अपने स्थानी ईकार से पूर्व में देखे गये धकार को अनचि च" सूत्र से द्वित्व की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव के द्वारा अच् रूप में लब्धसत्ताक होने जा रहा था, किन्तु 'न पदान्त' सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध कर दिये जाने के कारण वहाँ अच्त्व की प्रतीति नहीं हुई।

यह सूत्र केवल अजादेश का स्थानिवद्भाव करता है। हल् के स्थान पर जायमान आदेश का स्थानिवद्भाव यह नहीं करता है। इसका परिणाम यह होता है कि "आगत्य" प्रयोग में लुप्त मकार का स्थानिवद्भाव नहीं होता। अन्यथा मकार के स्थानिवद्भाव होने से "ह्रस्वस्य पिति कृति" का तुक् यहाँ नहीं हो पाता।

"स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" तथा "अचः परस्मिन्" इन दोनों सूत्रों में मौलिक भेद एक यह भी है कि पहला सूत्र केवल भावातिदेश करता है। भावातिदेश का तात्पर्य है कि स्थानी के रहने पर जो कार्य होता था, वह आदेश के होने पर भी हो जाय, किन्तु किन्तु स्थानी के

रहने पर जो कार्य नहीं होता था वह आदेश के होने पर न होवे" ऐसा अभावातिदेश यह सूत्र नहीं करता है। जैसे नी धातु से ण्वुल् प्रत्यय तथा उसे अक् आदेश करने पर नी + अक:" इस स्थिति में स्थानी वु वृत्ति णित्व का आनयन तो अक में हो जाता है जिससे अक को णित् मानकर "अचोञ्णिति" से बृद्धि हो जाती है, किन्तु स्थानी 'वु' के हलादि होने के कारण जो अवादेश 'वु' के परे रहते नहीं हो सकता है उस अवादेश के अभाव के लिये यहाँ हलादित्व का अतिदेश नहीं होता है।

इसके विपरीत 'अच: परस्मिन्" सूत्र दोनों अतिदेश करता है। स्थानी के रहने पर जो कार्य होता था वह आदेश के होने पर भी हो और स्थानी के रहने पर जो कार्य नहीं होता था वह आदेश के होने पर भी न हो। भाव का उदाहरण-'निगाल्यते' यह प्रयोग है। निपूर्वक गृधातु से णिच्-वृद्धि निगारि धातु से कर्मवाच्य में लट्-त-यक् निगारि-यते' इस स्थिति में णिलोप करने के बाद लुप्त णिच् के इकार का स्थानिवद्भाव करके "अचि विभाषा" सूत्र से रकार को लकार किया जाता है। यह लकारादेश अच् पर में रहने पर होता है। यह णिच् के लोप के बाद भी स्थानिवत्वेन हो जाता है क्यों कि स्थानी के रहने पर होने वाला कार्य उसके न रहने पर भी स्थानिवत्वेन हो जाता है। गणयति यह अभावातिदेश का उदाहरण है। गण धातु अकारान्त है। इससे णिच् करने पर अकार के रहते गकारोत्तर अकार उपधा में नहीं आता, अत: उसे वृद्धि नहीं होती है। जब णकार के आगे अकार का लोप हो जाता है तब गकारोत्तरवर्ती अकार उपधा में आ जाता है। ऐसी स्थिति में "अतउपाधाया:" सूत्र से उसे वृद्धि प्राप्त होती है किन्तु स्थानिवद्भाव से लुप्त अकार के चले आने के कारण उसे वृद्धि नहीं होती। तात्पर्य यह है कि स्थानी अकार के रहने पर गकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि नहीं होती थी वह वृद्धि अकार के लोप के बाद भी नहीं होती है। यह अभावातिदेश है।

पूर्वान्तवद्भाव और परादिवद्भाव

"अन्तादिवच्च" सूत्र से ये दोनों भाव किये जाते हैं। यहाँ "एक: पूर्वपरयो:" सूत्र से पूर्वपरयो:" की अनुवृत्ति होती है। पूर्व का अन्वय अन्त के साथ और पर का अन्वय आदि के साथ होता है। अन्त शब्द एकादेश के पूर्व स्थानी का तथा आदि शब्द एकादेश के पर स्थानी का बोधक हैं। पूर्व और पर शब्द क्रमश: पूर्वस्थानीघटितसमुदाय और परस्थानी घटितसमुदाय के बोधक हैं। पूर्व और पर के स्थान पर जहाँ एक आदेश किया जाता है वहाँ एकादेश का पूर्वस्थानी पूर्व समुदाय का अन्त होता है और पर स्थानी उत्तर समुदाय का आदि वर्ण होता है। इस प्रकार की योजना के बाद इस सूत्र का अर्थ होता है कि जो एकादेश विशिष्ट होता है वह पूर्वस्थानीघटितसमुदाय के तथा परस्थानीघटितसमुदाय के तुल्य होता है। पूर्व स्थानी घटित समुदाय के तुल्य होने का तात्पर्य है पूर्वान्तवद्भाव और परस्थानि घटित समुदाय के तुल्य होने का तात्पर्य है परादिवद्भाव। ये दोनों भाव कार्यानुरोध से किये जाते हैं। ये दोनों भाव एक ही जगह साथ में नहीं किये जाते हैं।

उपर्युक्त कथ्य को "प्रार्च्छति' प्रयोग में प्रमापित किया जा सकता है। प्र + ऋच्छति' इस अवस्था में अ और ऋ के स्थान पर आर् वृद्धि एकादेश किया जाता है। एकादेश विशिष्ट

होता है 'प्रार्' । यह प्रार् एकादेश के पूर्वस्थानी अकार से घटित समुदाय-प्र' के तुल्य हो जाता है। प्र के तुल्य होने से प्रार् भी पद हो जाता है और रेफ पदान्त हो जाता है। उस पदान्त रेफ को जब विसर्ग की प्राप्ति होती है तब कर्तरि चर्षि आदि निर्देशों के आधार पर उसका वारण किया जाता है। परादिवद्भाव का उदाहरण "रामौ" इस प्रयोग को समझना चाहिये। राम + औ 'इस अवस्था' में वृद्धि कर देने पर "रामौ" इसका पदत्व बनाने के लिय परादिवद्भाव से "औ" में सुप्त्व् लाया जाता है और मान्त राम् उस अंश में प्रकृतित्व लाया जाता है। इस प्रकार यहाँ पदत्व की सिद्धि होती है।

पूर्वस्थानिघटित समुदाय और परस्थानिघटित समुदाय के धर्म का आनयन यह सूत्र करता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि इस सूत्र के द्वारा समुदाय वृत्ति धर्म प्रतिपादिकत्व सुबन्तत्व, प्रत्ययत्व, आदि धर्म का ही अतिदेश होता है। अन्त और आदि वर्ण में रहने वाले धर्म अत्व, इत्व ह्रस्वत्व आदि का अतिदेश इस सूत्र से नहीं होता है। इसीलिये खट्व + आ' से बने हुए खट्वा शब्द के आकार में अत्व का अतिदेश न होने के कारण "खट्वाभिः" प्रयोग में भिस् को ऐस् नहीं होता है।

अल् वृत्ति धर्म का इसके द्वारा अतिदश को न होते हुए देखकर दीक्षित जी ने कहा कि यह सूत्र स्थानिवत् सूत्र से गतार्थ है। स्थानिवत् सूत्र भी अल्विधि में नहीं लगता और यह भी वहाँ नहीं लगता। इस प्रकार दोनों का विषय एक समान होने के कारण स्थानिवत् सूत्र से इसकी गतार्थता की बात उन्होनें कही। नागेश भट्ट— का कहना है कि यद्यपि अल्मात्र वृत्ति धर्म का अतिदेश इस सूत्र से नहीं होता, तथापि यह सूत्र स्थानिवत् सूत्र से गतार्थ नहीं है। कारण यह है कि कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ स्थानिवद्भाव तो नहीं हो सकता किन्तु पूर्वान्तवद्भाव तो हो सकता है। जैसे क्षीरं पिबतीति क्षीरपः, तेन क्षीरपेण" इस प्रयोग में एकाजुत्तरपदत्व को लाकर एकाजुत्तरपदेणः" सूत्र से णत्व करना है। क्षीरपेण इस प्रयोग में गुण करने से पे "यह अंश एकाच् होते हुए भी उत्तर पद नहीं है क्योंकि इसमें विभक्ति का अंश भी मिला है। यह एकाजुत्तरपदत्व स्थानिवत् सूत्र से इसलिये नहीं आयेगा कि अल्त्व व्याप्यधर्मघटितधर्म के आनयन में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। यहाँ अल्त्वव्याप्यधर्म अच्त्व धर्म से घटित एकाजुत्तपदत्व है। इसलिये यहाँ स्थानिवद् भाव संभव नहीं है। किन्तु पूर्वान्तवद्भाव तो हो ही सकता है। यहाँ पूर्व स्थानी पकारोत्तर अकार है, उससे घटित समुदाय "प" यह उत्तर पद है, तद्वृत्तिधर्म है एकाजुत्तरपदत्व, यह धर्म एकादेश विशिष्ट "पे" इस अंश में चला आता है जिससे यहाँ वाञ्छित णत्व की सिद्धि होती है। इस प्रकार नागेशभट्ट इसे स्थानिवत् सूत्र से गतार्थ नहीं मानते हैं।

इस प्रकार शेखर के कतिपय स्थलों का सारांश और उनका हार्द यहाँ प्रस्तुत किया गया। तत्तत् स्थलीय शेखर की अवगति में इससे सहायता मिलेगी' ऐसा विश्वास है।

प्रस्तुत व्याख्या की उपादेयता

संस्कृत की अनेक तथा कतिपय हिन्दी व्याख्याओं के रहते हुए इस व्याख्या की क्या उपादेयता है १. इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना है कि शेखर के मूल का अर्थ पूर्णरूपेण सरलता से स्पष्ट करना इस व्याख्या का मुख्य उद्देश्य है। प्रत्येक पंक्ति इस रूप में यहाँ

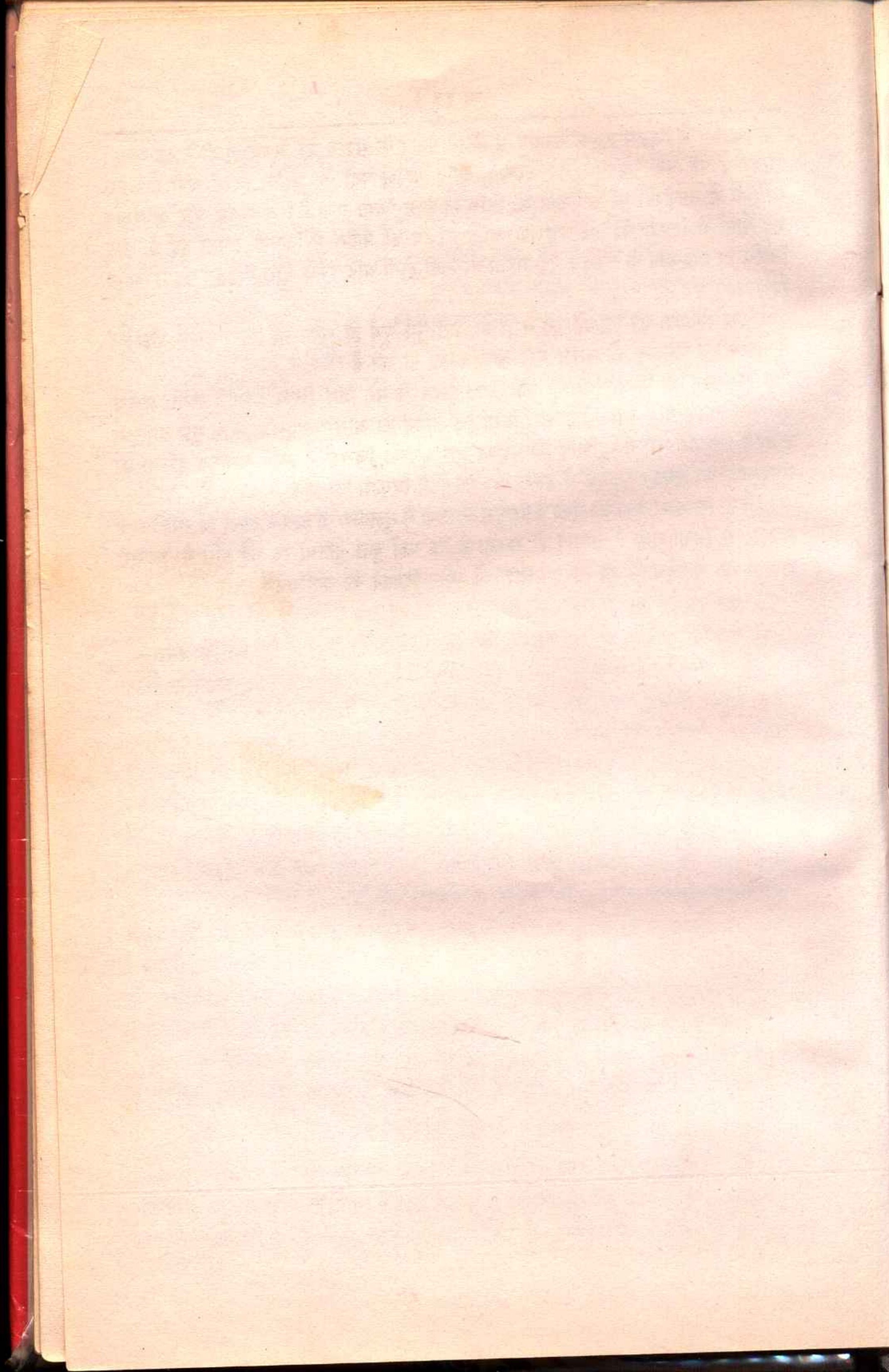
व्याख्यायित है जिससे उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार के संशय का अवकाश ही न रह जाय। शेखर में पदे पदे "अतएव, तेन, तस्मात्, आदि सापेक्ष पदों का प्रयोग किया गया है। इस व्याख्या में तत्तद्पदों की सापेक्षता को विधिवत् स्पष्ट किया गया है। अध्ययन और अध्यापन की भाषा में लिखी गई यह व्याख्या अपने उद्देश्य की प्राप्ति में कितनी सफल हुई है" यह निर्णय तो विद्वज्जन ही करेगें। मुझे महती प्रसन्नता होगी यदि इसके द्वारा विद्वद्वर्ग का मनस्तोष हो सका।

इस व्याख्या को लिखने का कार्य तो वर्षों पूर्व पूर्ण हो चुका था किन्तु इसके प्रकाशन में अनपेक्षित विलम्ब का कारण मेरी अनवधानता ही रही है।

व्याख्या की पाण्डुलिपि को व्यवस्थित करने में मेरे प्रिय शिष्य प्रभुदत्त शर्मा आत्रेय, एम.ए. व्याकरणाचार्य, व्याख्याता ब्राह्मीविद्यापीठ लाडनूं का अविस्मरणीय सहयोग मुझे उपलब्ध हुआ है। इन्होनें पूरी पाण्डुलिपि को पढ़कर मुझे सुनाया, जिससे मैं इसमें समागत त्रुटियों का निराकरण कर सका। एतदर्थ मैं इनके विश्वतोमुखी विकास की कामना करता हूँ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इस व्याख्या में मूलग्रन्थ के प्रत्येक स्थल का स्पष्टीकरण विस्तार से किया गया है, तथापि हो सकता है कि यहाँ कुछ त्रुटियां रह गई हों। मैं आभारी होऊंगा उन महानुभावों का जो इस दिशा में ध्यान दिलाने का कष्ट करेगें।

विनयावनत–
विश्वनाथ मिश्र



॥श्रीः॥

लघुशब्देन्दुशेखरः

'सुबोधिनी'हिन्दीव्याख्योपेतः

अथ संज्ञाप्रकरणम्

पातञ्जले महाभाष्ये कृतभूरिपरिश्रमः।
शिवभट्टसुतो धीमान् सतीदेव्यास्तु गर्भजः ॥१॥
याचकानां कल्पतरोररिकक्षहुताशनात्।
शृङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविकः ॥२॥
नत्वा फणीशं नागेशस्तनुतेऽर्थप्रकाशकम्।
मनोरमोमार्द्धदेहं लघुशब्देन्दुशेखरम् ॥३॥

व्याख्याकर्तृमङ्गलाचरणम्

विराजते शेखररूपधारिणी
कला नु यस्याधिललाटमैन्दवी।
स देवदेवोऽनिशमिन्दुशेखरो
नतेन सम्यक् शिरसा प्रणम्यते ॥१॥
महाशयत्वेन महाशयाभिधा-
मवाप्य येऽस्मिन् यशसा चकासति।
कृपाकरांस्तान् प्रणमाम आदरा–
न्महागुरून् रामयशस्त्रिपाठिनः ॥२॥
शब्देन्दुशेखरगतासु सतीषु मन्ये
व्याख्यासु नाम विविधासु विचक्षणानाम्।
विलक्षणत्वं नु बिभर्ति किञ्चिद्
व्याख्येयमस्यां भुवि वैश्वनाथी ॥३॥

पातञ्जल-महाभाष्य में भूरि परिश्रम करने वाले, सती देवी के गर्भ से उत्पन्न, शिवभट्ट के पुत्र बुद्धिमान् नागेश, जिन्होंने याचकों के लिए कल्पवृक्ष तथा शत्रुरूपी शुष्कतृणपुञ्ज के लिए

हुताशन (अग्नि) के समान शृङ्गवेरपुर के नृपति रामसिंह से जीविका प्राप्त की थी, वे नागेश पतञ्जलि को नमस्कार करके अर्थप्रकाशक लघुशब्देन्दुशेखर को बना रहे हैं, जिसका आधा शरीर भट्टोजिदीक्षित-विरचित मनोरमा नामक ग्रन्थ है।

विमर्श— उपर्युक्त मङ्गलाचरण में 'लघुशब्देन्दुशेखरम्' इस विशेष्यवाचक पद में तथा इसके विशेषण "अर्थप्रकाशकम्" और "मनोरमोमार्द्धदेहम्" इन दोनों पदों में श्लेष है। इसका परिणाम यह होता है कि यहाँ ईश्वरपक्षीय और ग्रन्थपक्षीय इन दो अर्थों का बोध होता है। ईश्वर (शंकर) पक्ष में "लघुशब्देन्दुशेखरम्" पद में समास इस प्रकार होता है— "लघुः = कलात्मकः— शब्द इव इन्दुः— शेखरे यस्य तम्। अर्थस्य प्रकाशकम् अर्थप्रकाशकम्" इस पद का अर्थ इस पक्ष में 'निखिलप्रपञ्चप्रकाशकम्' है। अर्थ शब्द से यहाँ निखिल प्रपञ्च का ग्रहण किया गया है। श्रुति कहती है—"यस्य भाषा सर्वमिदं विभाति"। इस ईश्वरीय पक्ष में 'मनोरमोमार्द्धदेहम्' इस पद में समास इस प्रकार किया जाता है—'मनोरमा या उमा सा एव अर्द्धदेहो यस्य तम्'। मनोरमा उमा = पार्वती ही जिनका आधा शरीर है। 'तनुते' का अर्थ यहाँ 'विस्तारयति प्रकाशयति वा' ऐसा करना चाहिए।

ग्रन्थ पक्ष में—"लघु = अल्पः शब्दः इन्दुरिव शेखरो मुख्यो यस्य तम्" ऐसा समास किया जाता है। इस प्रकार यहाँ यह बात व्यक्त होती है कि इस ग्रन्थ में शब्द थोड़े हैं और अर्थ का प्राचुर्य है। अल्प शब्दों से अर्थबाहुल्य का प्रतिपादन इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। इसीलिए 'अर्थप्रकाशकम्' इस विशेषण की सार्थकता होती है।

इस पक्ष में 'मनोरमोमार्द्धदेहम्' इस पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—"मनोरमा (भट्टोजिदीक्षितविरचिता) एव उमा = मनोरमोमा, सा एव अर्द्धदेहो यस्य तम्"। तात्पर्य है कि शेखर-ग्रन्थ का आधा शरीर मनोरमा ही है। मनोरमा के ज्ञान के बिना शेखर का ज्ञान सम्भव नहीं है। इस पुस्तक में मनोरमा की बहुत बातों का खण्डन भी किया गया है। अनेक स्थलों में 'परे तु' ऐसा कहकर अपना मत व्यक्त करते हुए नागेश ने कैयट और दीक्षित के मतों का निराकरण किया है। ऐसी स्थिति में 'मनोरमोमार्द्धदेहम्' इस पद में इस प्रकार समास किया जाता है—"मनोरमोमाया अर्द्धं द्यति = खण्डयतीति मनोरमोमार्द्धदा"। यह शब्द "आतोऽनुपसर्गे कः" सूत्र से क प्रत्यय करके आकार का लोप और टाप् करके बनाया जाता है। इसके बाद "मनोरमोमार्द्धदा ईहा यस्य तम्" ऐसा विग्रह किया जाता है। इस प्रकार इस पद का अर्थ होता है कि मनोरमा के अर्द्धभाग के खण्डन की चेष्टा है जिसकी, ऐसा लघुशब्देन्दुशेखर ग्रन्थ नागेश भट्ट बना रहे है। 'मनोरमोमार्द्धदेहम्' इस पद के उपर्युक्त विग्रह से भी यही बात व्यक्त होती है कि शेखर के ज्ञान के लिए मनोरमा का ज्ञान आवश्यक है।

ऊपर श्लोक में आये हुए 'सतीदेव्याः' इस पद में कर्मधारय समास है। सती शब्द रूढ़ संज्ञावाचक है, इसलिए यह नित्य स्त्रीलिङ्ग है। इसके नित्य स्त्रीत्व का फल यह है कि यहाँ पुंवद्भाव नहीं होता। पुंवद्भाव के लिए शब्द का भाषितपुंस्क होना आवश्यक है जो कि यहाँ है ही नहीं।

ग्रन्थसमाप्तिग्रन्थप्रचारादिप्रतिबन्धकदुरितप्रशमाय समुचितऋषित्रय-नमस्काररूपं मङ्गलमाचरन् शिष्यशिक्षायै व्याख्यातृश्रोतॄणामनुषङ्गतो मङ्गलाय च

निबध्नाति—मुनित्रयमिति। **कारकविभक्तेर्बलवत्त्वाद् द्वितीया।** परिभाव्येति। तच्छब्दस्य बुद्धिस्थपरामर्शकत्वात् प्राचामुक्तीस्तिरस्कृत्येत्यर्थः, मुनित्रयोक्तीर्विचार्येत्यर्थो वा। 'परिभावस्तिरस्क्रिया' इति कोशात्तिरस्कारार्थकस्य धातोर्विचारार्थकत्वेऽपि न बाधकम्। धातूनामनेकार्थत्वात्। अत एव 'परौ भुवोऽवज्ञाने' इति सङ्गच्छते। एतेन स्वग्रन्थस्य प्राचीनग्रन्थैरगतार्थता समूलत्वञ्च ध्वनितम्। भाविनोऽपि बुद्ध्या विषयीकरणादियमिति निर्देशः। सिद्धान्तप्रकाशकत्वेनातिदुरूहग्रन्थान्तरेभ्यः सिद्धान्तज्ञाने जायमानस्य क्लेशरूपसन्तापस्य शामकत्वेन च कौमुदीसादृश्यम्। अनेन वैयाकरणसिद्धान्ता विषयाः, तज्ज्ञानं प्रयोजनं तज्जिज्ञासुरधिकारीत्यादि सूचितम्॥

भट्टोजिदीक्षितकृत "वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी" की व्याख्या के प्रसंग में उनके मंगलाचरण पर विचार करते हुए नागेश कह रहे हैं कि आरम्भ किया हुआ ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हो तथा इसका प्रचार हो, साथ ही इसकी परिसमाप्ति और प्रचारादि के प्रतिबन्धक जो दुरित = विघ्न, उनका प्रशमन = शान्ति हो, इस उद्देश्य से ग्रन्थ के आदि में भट्टोजिदीक्षित पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि इन तीन ऋषियों के लिए "मुनित्रयम्" इस श्लोक के द्वारा समुचित नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण कर रहे हैं।

मङ्गल से विघ्नध्वंसपूर्वक ग्रन्थ की समाप्ति (पूर्ति) होती है, क्योंकि कहा गया है—"समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्" "मङ्गलञ्च विघ्नध्वंसस्य द्वारम्"। यहाँ कहा जा सकता है कि विघ्नध्वंस के लिए यदि मङ्गलाचरण आवश्यक है तब उसे मन में ही कर लेना चाहिए था, ग्रन्थ के आदि में उसे लिपिबद्ध करने की क्या आवश्यकता थी? इस शंका के उत्तर में नागेश का कहना है कि मङ्गल को ग्रन्थ के आदि में लिखने के दो प्रयोजन हैं। पहला प्रयोजन तो शिष्यों को शिक्षा देना है। ग्रन्थकार की यह भावना रहती है कि मेरे शिष्य यदि भविष्य में ग्रन्थ-रचना करें तो वे भी इसी प्रकार ग्रन्थ के आदि में मङ्गलाचरण कर लिया करें। दूसरा प्रयोजन यह है कि इस ग्रन्थ के जो व्याख्याता और श्रोता हों उन्हें भी अनुषंग = प्रसंगवश मङ्गल अर्थात् कल्याण की उपलब्धि हो। कल्याण की कामना से प्रत्येक शुभ कर्म के प्रारम्भ में मंगलाचरण की शिष्ट परम्परा प्रसिद्ध ही है।

यहाँ कहा जा सकता है कि देवताओं को छोड़कर कौमुदीकार ने ऋषित्रय का नमस्कारात्मक मङ्गल क्यों किया? तो इस शंका का उत्तर यह है कि विशिष्ट कार्य को करने वाली जो विभूतियाँ होती हैं वे साधारण मानव न होकर ईश्वरानतिरिक्त ही होती हैं। पाणिनि आदि ऋषित्रय के कार्य, जो सूत्र, वार्तिक और भाष्य के रूप में ख्यात हैं, वे असाधारण कार्य हैं। इस प्रकार के असाधारण कार्य को करने वाले अवश्यमेव नमस्करणीय हैं। इसी उद्देश्य से दीक्षित जी ने कौमुदी के प्रारम्भ में "मुनित्रयम्" इत्यादि रूप में मङ्गलाचरण किया है।

अब यहाँ यह विचार हो रहा है कि "मुनित्रयम्" इस पद में द्वितीया विभक्ति क्यों हुई है? कारण यह है कि उसके आगे 'नमस्' यह अव्यय है, जिसके योग में "नमःस्वस्तिस्वाहा" इत्यादि सूत्र से चतुर्थी का विधान किया जाता है। इसलिए यहाँ द्वितीया न होकर "हरये नमः"

की भाँति चतुर्थी विभक्ति होनी चाहिए। इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि यहाँ "कारकविभक्तेर्बलवत्वात्" द्वितीया विभक्ति हुई है। बात यह है कि 'मुनित्रयम्' इस पद में जिस प्रकार "नमस्" पद के योग में चतुर्थी प्राप्त होती है उसी प्रकार 'नमस्कृत्य' इस क्रिया का कर्म होने के कारण मुनित्रय शब्द से द्वितीया की भी प्राप्ति होती है। यहाँ नमस् पद के आधार पर प्राप्त चतुर्थी उपपद विभक्ति है। उपपद विभक्ति वही होती है जो किसी पद के सहारे प्राप्त हो। क्रिया का आश्रयण करके प्राप्त विभक्ति कारक विभक्ति कही जाती है। इस आधार पर यहाँ प्राप्त द्वितीया कारक विभक्ति है। इन दोनों में यहाँ कौन विभक्ति हो? इस प्रकार की जिज्ञासा में "उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी" इस परिभाषा के द्वारा कारक विभक्ति द्वितीया का बलवत्व बोधन होने के कारण द्वितीया विभक्ति की गई।

यहाँ यह शंका नहीं की जा सकती कि "नमस्कृत्य" इस कृदन्त के योग में "कर्तृकर्मणोः कृति" सूत्र से मुनित्रय शब्द में द्वितीया को परत्वात् बाधकर षष्ठी होनी चाहिए, क्योंकि "न लोकाव्यय" इस सूत्र से अव्यय के योग में षष्ठी का निषेध कर दिया जाता है। 'नमस्कृत्य' यह अव्यय पद है। एक यह विचार भी यहाँ प्रस्तुत होता है कि "नमस्" शब्द दो प्रकार का उपलब्ध होता है। पहला तो स्वरादिगणपठित और दूसरा उर्य्यादिगणपठित। "नमः स्वस्तिस्वाहा" इस सूत्र में स्वस्ति और स्वाहा जो स्वरादिगणपठित हैं, उनके साहचर्य से स्वरादिगणपठित नमस् का ही ग्रहण किया जायेगा। 'नमस्कृत्य' का नमस् तो उर्य्यादिगण का है, इसीलिए इसके योग में चतुर्थी की प्राप्ति ही नहीं है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर "रावणाय नमस्कुर्यात्" इस प्रयोग में चतुर्थी नहीं होगी। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ का नमस् शब्द स्वरादिगणपठित है, कारण यह है कि यदि इसे स्वरादिगणपठित 'नमः' माना जायेगा तो "नमस्पुरसोर्गत्योः" सूत्र से विसर्ग को सकार नहीं हो सकेगा; क्योंकि गतिसंज्ञा 'उर्य्यादिगणपठित की ही होती है, न कि स्वरादिगणपठित की भी। इसलिए यही स्वीकार करना चाहिए कि चतुर्थी विभक्ति अविशेषेण दोनों "नमः" के योग में होती है और यहाँ चतुर्थी का वारण "उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी" इस परिभाषा के आधार पर ही करना चाहिऐ।

"नमस्कृत्य" पद की सिद्धि इस प्रकार की जाती है—नमः शब्द उर्य्यादिगणपठित है, इसलिए "उर्य्यादिच्विडाचश्च" सूत्र से इसकी गतिसंज्ञा होती है। ऐसे गतिसंज्ञक नमःपूर्वक कृ धातु से "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" सूत्र से क्त्वा प्रत्यय होता है। "कुगतिप्रादयः" सूत्र से गति समास (तत्पुरुष) करने के बाद समास में क्त्वा प्रत्यय को ल्यप् और तुक् का आगम करके "नमस्पुरसोर्गत्योः" सूत्र से विसर्ग का सकार होता है। इस प्रकार नमस्कृत्य की सिद्धि होती है।

मङ्गलाचरण में आये हुए परिभाव्य शब्द पर विचार करते हुए कह रहे हैं—परिभाव्येति। परिभाव्य के पहले "तदुक्तीः" पद आया है। इसमें आया हुआ तत् शब्द बुद्धिस्थ और पूर्व का परामर्शक है। जब तत् शब्द से बुद्धिस्थ प्राचीन माधवादि आचार्यों का ग्रहण किया जायेगा तब परिभाव्य का अर्थ "तिरस्कृत्य" माना जायेगा। इस प्रकार प्राचीनों की उक्तियों का तिरस्कार करके दीक्षित जी कौमुदी बना रहे हैं, यह बात व्यक्त होती है। साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन काशिका प्रभृति ग्रन्थों से कौमुदी की गतार्थता नहीं है, क्योंकि भाष्यविरोधी

बातों का निराकरण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता, जब कि कौमुदी में भाष्यानुकूल सारी बातें कही गई हैं तथा भाष्यविरुद्ध बातों का निराकरण किया गया है। जब 'तदुक्तीः' पद के तत् शब्द से पूर्व का परामर्श किया जायेगा तो उसके पूर्व में "मुनित्रय" का उल्लेख होने के कारण उनका ग्रहण किया जायेगा। ऐसी स्थिति में उनकी उक्तियों का परिभाव्य अर्थात् विचार करके कौमुदी बनाई जा रही है, ऐसा अर्थ होता है। यदि कहा जाय कि परिपूर्वक भू धातु का अर्थ तिरस्कार ही होता है। "अनादरः परिभवः परिभावस्तिरस्क्रिया" यह कोश भी इसी बात की पुष्टि करता है। ऐसी स्थिति में "मुनित्रय की उक्ति का विचार करके" यह अर्थ यहाँ कैसे संगत होगा? तो इसके उत्तर में नागेशभट्ट का कहना है कि तिरस्कारार्थक धातु के विचारार्थक होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि धातु के अनेक अर्थ होते हैं। इसीलिए "परौ भुवोऽवज्ञाने" इस सूत्र में किये गये अवज्ञान ग्रहण की सार्थकता होती है। अन्यथा परिपूर्वक भू धातु का अर्थ यदि केवल तिरस्कार ही होता तो किसकी व्यावृत्ति के लिए "अवज्ञान" ग्रहण किया गया होता? इससे स्पष्ट होता है कि धातु के अनेक अर्थ होते हैं।

एतेन = परिभाव्य पद के इस प्रकार दो अर्थों से यह बात व्यक्त होती है कि दीक्षित अपने ग्रन्थ की प्राचीन ग्रन्थों से अगतार्थता बताने के साथ यह भी बता रहे हैं कि यह ग्रन्थ समूल अर्थात् प्रामाणिक है, क्योंकि मुनित्रय की उक्ति का भलीभाँति परिशीलन करके इसका निर्माण किया गया है।

'इदम्' शब्द का प्रयोग सन्निकृष्ट पुरोवर्ती वस्तु के लिए किया जाता है। ऐसी स्थिति में जब वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी का प्रारम्भ करने जा रहे हैं और उस समय कौमुदी बनी हुई नहीं है तब उसके लिए "इयम्" इस प्रकार का निर्देश क्यों किया गया? इस शंका के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि यद्यपि सिद्धान्तकौमुदी ग्रन्थ भावी है तथापि वह बुद्धिविषय तो है ही। अर्थ दो प्रकार के होते हैं—बौद्ध और बाह्य। यद्यपि कौमुदी की बाह्य सत्ता अभी नहीं है किन्तु उसकी जो बौद्धसत्ता है उसके आधार पर "इयम्" ऐसा निर्देश किया गया है।

मङ्गलाचरण में आया हुआ कौमुदी शब्द कौमुदी-सदृश में लाक्षणिक है। कौमुदी अर्थात् ज्योत्स्ना के साथ इस कौमुदी ग्रन्थ का क्या सादृश्य है? ऐसी जिज्ञासा में कह रहे हैं कि कौमुदी के साथ इस ग्रन्थ का सादृश्य प्रकाशकत्व और तापशामकत्व इन दो धर्मों के आधार पर होता है। कौमुदी जिस प्रकार घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करती है उसी प्रकार कौमुदी ग्रन्थ वैयाकरणसिद्धान्तों को प्रकाशित करता है।

कौमुदी = चन्द्रिका जिस प्रकार रविकिरणसन्तप्त व्यक्तियों के ताप का शमन करती है उसी प्रकार वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी भाष्यादि दुरूह ग्रन्थान्तरों से सिद्धान्त-ज्ञान में होने वाले क्लेशरूप सन्ताप का शमन करती है। सिद्धान्तकौमुदी के हृदयंगम हो जाने पर भाष्यादि ग्रन्थों का रहस्य झटिति समझ में आ जाता है, यही इसका तापशामकत्व है।

इसके अतिरिक्त ह्लादकत्व और तापजनकत्व रूप धर्मों के आधार पर भी कौमुदी-सादृश्य लिया जाता है। जिस प्रकार चन्द्रिका सबकों आह्लादित करती है उसी प्रकार यह कौमुदी ग्रन्थ वैयाकरणसिद्धान्तों का सरलता से बोध करा कर वैयाकरणों को आह्लादित करता है। जिस प्रकार चन्द्रिका विरहीजन और चौर-तस्करादिकों को ताप देती है उसी प्रकार कौमुदी ग्रन्थ भी

स्थूलबुद्धि व्यक्तियों के लिए दुरवबोध होकर उनके लिए तापजनक बन जाता है। इस प्रकार धर्मचतुष्टय के आधार पर कौमुदी = चन्द्रिका के साथ वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी का सादृश्य लिया जाता है।

अनेन = "वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी" इस प्रकार ग्रन्थ का नामकरण करने से अनुबन्धचतुष्टय को बताना भी ग्रन्थकार (कौमुदीकार) को अभिप्रेत है। सम्बन्ध, अधिकारी, विषय और प्रयोजन—ये चार अनुबन्ध कहे जाते हैं। जैसा कि कहा गया है—इस ग्रन्थ का नाम वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी है। इससे विदित होता है कि इस पुस्तक में "वैयाकरणसिद्धान्त" विषय रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। विषय और पुस्तक का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। जिज्ञासु व्यक्तियों को प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान हो जाय, यही इसका प्रयोजन है। वैयाकरण-सिद्धान्त का जिज्ञासु व्यक्ति इसे पढ़ने का अधिकारी है। ये सारी बातें यहाँ पुस्तक के नामकरण से सूचित की गई हैं।

यहाँ यह विचार हो रहा है कि संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश और अधिकार—ये जो छः प्रकार के सूत्र होते हैं इनमें "अइउण्" इत्यादि जो चौदह सूत्र हैं वे कौन सूत्र हैं? इस प्रकार की शंका के उत्तर में कह रहे हैं—

अइउण्। एषां क्रमबोधकत्वेऽपि 'आदिरन्त्येन' इत्यनेनैकवाक्यतया वृत्तिपरिच्छेदकत्वेन संज्ञासूत्रत्वम्। क्रमस्य सञ्ज्ञाद्वारैवोपयोगात्। एकवाक्यता चादिरकारादिरन्त्येनेता तत्सदृशेन णकारादिना सहोच्चार्यमाण आद्यन्ताक्षिप्तानां सञ्ज्ञेति। 'स्वौजस्' इत्यादीनामप्येतदेकवाक्यतया सुबादिसञ्ज्ञासूत्रत्वं स्वादि-विधायकत्वञ्चेति बोद्ध्यम्। एषु संहिताया अविवक्षया न संहिताकार्यम्। अनुकरणेन सौत्रत्वाच्च वर्णेभ्यो न विभक्त्युत्पत्तिः। कारप्रत्ययोऽपि न, बाहुलकात्।

ये चौदह सूत्र क्रम के बोधक हैं। क्रम से यहाँ वर्ण-विषयक क्रम विवक्षित है। अकार के बाद इकार, उसके बाद उकार, आदि वर्ण जिस क्रम से वर्णसमाम्नाय में उल्लिखित हैं इसी क्रम से तत्तत् प्रत्याहारों में इनका ग्रहण करना चाहिए, यही इन सूत्रों की क्रमबोधकता है। यदि यह क्रमबोधकता न रहे तो इण् प्रत्याहार में उकार की जगह अकार का ग्रहण होने लग जाता। इस प्रकार ये सूत्र क्रम के बोधक हैं, किन्तु इनके क्रम की उपयोगिता प्रत्याहारों के बिना सम्भव नहीं है। प्रत्याहारविधायक सूत्र "आदिरन्त्येन सहेता" है, इसलिए इसके साथ इन सूत्रों की एकवाक्यता होती है। एकवाक्यता के बाद ही प्रत्याहार सूत्र से "अण्" प्रत्याहार बनने पर "अण्" पद में अकारादि णान्त समुदायनिरूपित शक्ति है, ऐसा बोध होता है। इस प्रकार "आदिरन्त्येन सहेता" के साथ मिल कर ये प्रत्याहारसूत्र वृत्तिपरिच्छेदक = अर्थात् शक्ति के नियामक होते हैं। शक्ति के नियामक होने के कारण ये संज्ञासूत्र भी हैं। संज्ञासूत्रों का कार्य शक्ति का नियमन करना ही होता है। जैसे वृद्धिसंज्ञा करके पाणिनि ने यह बताया कि वृद्धि पद में आदैच्निरूपित शक्ति है। इसी प्रकार यहाँ अणादि प्रत्याहारों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

अब यहाँ यह विचार हो रहा है कि "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र से बनाये गये प्रत्याहारों में क्रम का बोध कराना जो "अइउण्" इत्यादि चौदह सूत्रों के लिए कहा गया है, वह तो तब

संगत हो जब "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र से अण्, अच् आदि प्रत्याहार बनें? किन्तु स्थिति ऐसी है कि "आदिरन्त्येन" सूत्र से प्रत्याहार बन ही नहीं रहा है। कारण इसका यह है कि "आदिरन्त्येन" सूत्र प्रत्याहार बनाने के लिए अन्त्य इत् के साथ आदि वर्ण की अपेक्षा रखता है, किन्तु अन्त्य इत् के साथ आदि वर्ण मिलता नहीं है। उदाहरण के लिए "अच्" प्रत्याहार बनाने के लिए अन्त्य इत् शब्द से "ऐऔच्" का चकार लिया जायेगा, किन्तु उसके साथ आदि वर्ण अकार नहीं है। अकार तो "अइउण्" सूत्र में पढ़ा गया है। इस प्रकार अन्त्य इत् और आदि वर्ण के बीच अनेक सूत्रों का व्यवधान होने के कारण दोनों का साहित्य नहीं है। "इको यणचि" सूत्र में जहाँ दोनों का "अच्" इस रूप में साहित्य दिखा कर सप्तमी के एकवचन में प्रयोग किया गया है, वहाँ अकार और चकार का साहित्य होने पर भी यहाँ का चकार इत्संज्ञक नहीं है। इत्संज्ञा तो ऐऔच् के चकार की होती है। इस प्रकार जहाँ अन्त्य इत् है वहाँ तत्सहित आदि नही हैं और जहाँ आदि और अन्त्य दोनों साथ हैं वहाँ इत्संज्ञा नहीं हुई है। इस प्रकार अच् आदि प्रत्याहारों का बनना असम्भव दिखता है। इस प्रकार की विसंगति के निराकरण के लिए "आदिरन्त्येन सहेता" इस सूत्र के आदि और अन्त्य पद की तत्सदृश में लक्षणा की जाती है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि "अच्" प्रत्याहार बनाने हेतु अन्त्य इत् जो "ऐऔच्" सूत्र का चकार है, उसके सदृश "इको यणचि" इस सूत्र में पठित "अच्" का चकार है। इसी प्रकार आदित्वेन विवक्षित जो "अइउण्" का अकार है, उसके सदृश "इको यणचि" के अच् का अकार है। इस प्रकार "अइउण्" के अकार तथा "ऐऔच्" के चकार में सादृश्य की प्रतियोगिता तथा "अच्" के अकार और चकार में सादृश्य की अनुयोगिता है। जिसका सादृश्य कहीं दिया जाता है वह सादृश्य का प्रतियोगी तथा जिसमें दिया जाता है वह सादृश्य का अनुयोगी होता है।

इस प्रकार आदि और अन्त्य पद की तत्सदृश में लक्षणा करके "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया जाता है— "अन्त्येत्सदृशसहितो य आदिसदृशस्तद्घटितं पदं स्वविशिष्टानां संज्ञा भवति"। वै॰—"स्वघटकवर्णनिष्ठानुयोगितानिरूपकसादृश्यप्रतियोगित्वेन विवक्षितवर्णनिष्ठाद्यवयवतानिरूपकसमुदायघटकत्व,स्वघटकवर्णनिष्ठानुयोगितानिरूपकसादृश्य-प्रतियोगित्वेन विवक्षितवर्णनिष्ठान्त्यावयवतानिरूपकसमुदायघटकत्वेत्युभयसम्बन्धेन" इस परिष्कार का समन्वय इस प्रकार किया जाता है—अन्त्य इत् "ऐऔच्" का चकार है, उसके सदृश "इको यणचि" सूत्र के अच् का चकार है, इसके सहित आदिसदृश, आदि शब्द से "अइउण्" का अकार उसके सदृश "अच्" का अकार है। इन दोनों से घटित पद "अच्" पद होता है। यह अच् पद स्वघटकवर्ण अकार में रहने वाली जो सादृश्य की अनुयोगिता, उसका निरूपक जो सादृश्य, उस सादृश्य की जो प्रतियोगिता उस प्रतियोगिता का आश्रयत्वेन अर्थात् प्रतियोगित्वेन विवक्षित वर्ण "अइउण्" का अकार होता है। यह अकार है आदि अवयव जिसका वह समुदाय तथा स्व = अच् पद, स्वघटक वर्ण चकारनिष्ठ अनुयोगिता का निरूपक सादृश्य प्रतियोगित्वेन विवक्षित वर्ण "ऐऔच्" का चकार है अन्त्यावयव जिसका, ऐसा समुदाय है "अइउण्" से लेकर "ऐऔच्" पर्यन्त समुदाय। इस समुदाय के घटक वर्ण अकार से लेकर चकार पर्यन्त के वर्ण होते हैं। ये ही वर्ण उपर्युक्त दोनों सम्बन्ध से स्वविशिष्ट होते हैं। इन

स्वविशिष्ट वर्णों का बोधक "इको यणचि" का अच् पद होता है। इसी प्रकार अन्य प्रत्याहारों के विषय में भी समझना चाहिए।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'अइउण्' इत्यादि चौदह सूत्रों के साथ इस प्रकार एकवाक्यता किये बिना "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र का सफल वाक्यार्थबोध हो ही नहीं सकता। यह एकवाक्यता "उपजीव्योपजीवकभावापन्न बोध का प्रयोजक होने के कारण वाक्यैकवाक्यता है। चौदह सूत्र (अइउण् इत्यादि) उपजीव्य हैं और "आदिरन्त्येन सहेता" यह उपजीवक है।

इसी बात को सन्दर्भित करते हुए नागेशभट्ट मूल में कह रहे हैं कि "एकवाक्यता च" अर्थात् इस स्थल पर एकवाक्यता इस प्रकार होती है कि यदि अण् प्रत्याहार बनाना है तो आदि शब्द से "अइउण्" के अकार और अन्त्य शब्द से "लण्" का णकार लेकर इनके सदृश "अणुदित्" सूत्र का "अण्" यह पद गृहीत कर आद्यन्त से आक्षिप्त समुदाय "अइउण्" से लेकर "लण्" पर्यन्त का समुदाय गृहीत किया जायेगा। इस समुदाय के घटक वर्णों की संज्ञा (बोधक) "अणुदित्" सूत्र का अण् पद होगा।

इसी प्रसंग में कह रहे हैं कि "सुपः" इस सूत्र में सुप् प्रत्याहार के ज्ञान के लिए "स्वौजस्" इस सूत्र का भी "एतदेकवाक्यतया" = "आदिरन्त्येन" सूत्र के साथ एकवाक्यता करके सुप् प्रत्याहार बनाया जाता है। इस प्रकार "सुप्" इस संज्ञा का विधायक होने के कारण "स्वौजस्" यह सूत्र संज्ञासूत्र तथा तत्तत् प्रातिपदिकों से "स्वादि" प्रत्ययों का विधान करने के कारण स्वादिविधायक सूत्र कहा जाता है।

यहाँ अब यह शंका हो रही है कि "अइउण्" इत्यादि सूत्रों में गुण आदि सन्धिकार्य क्यों नहीं होता? अकार के आगे इकार के होने से गुण होकर एकार तथा उकार पर में रहने पर एकार का अयादेश, इस रूप में यहाँ सन्धिकार्य होना चाहिए। इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि एषु = 'अइउण्' इत्यादि सूत्रों में संहिता की अविवक्षा होने के कारण संहिता का कार्य सन्धि यहाँ नहीं होता। सन्धि-प्रकरण में संहिता का अधिकार जाता है, इसलिए सन्धिकार्य संहिता में ही होते हैं। यहाँ पर संहिता का अभाव होने के कारण सन्धिकार्य नहीं होता।

कुछ लोगों का कहना है कि "अ इ उ" इत्यादि स्वरवर्ण है। इनका पाठ चादिगण में भी देखा जाता है। इसलिए चादिगण के अन्तर्गत "उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च" इस सूत्र से इनकी निपात संज्ञा हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि "निपात एकाजनाङ्" इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा और "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" इस सूत्र से प्रकृतिभाव हो जाता है, इसलिए यहाँ सन्धिकार्य नहीं होता है।

अब यहाँ शंका होती है कि अकारादि प्रत्येक वर्ण से विभक्ति की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है? इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि "अइउण्" इत्यादि सूत्रों में जो अकारादि वर्ण हैं वे सब प्रयोग में आने वाले अकारादि वर्णों के अनुकरण हैं। अनुकरण से अनुकार्य का बोध होता है। इस बोध के उपपन्न होने के लिए अनुकरण और अनुकार्य के बीच अभेद और भेद ये दो पक्ष माने जाते हैं। अभेद पक्ष का तात्पर्य यह है कि अनुकरण अनुकार्य से अभिन्न अर्थात् सदृश है। इस अभेद पक्ष में अनुकरण में अनुकार्य की जो समानानुपूर्वी है,

तन्मूलक अभेदाध्यवसाय अनुकार्य और अनुकरण में होता है। अभेदाध्यवसाय का अर्थ अभिन्नता का निश्चय है। इस अभिन्नता का आधार दोनों का सादृश्य होता है। इस प्रकार इस पक्ष में अनुकरण से अनुकार्य का बोध सादृश्यज्ञान से हो जाता है। इसके लिए शक्ति या लक्षणा की आवश्यकता नहीं होती है। ऐसी स्थिति में "वृत्तिज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यार्थविषयक-बोधजनकत्वमर्थवत्वम्" यह अर्थवत्त्व अनुकरण में नहीं रहता है। जब अनुकरण में अर्थवत्त्व का अभाव हो गया तो उसकी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती और परिणामस्वरूप उसके आगे विभक्ति की उत्पत्ति नहीं होती है।

यदि कहा जाय कि अनुकार्य और अनुकरण में जब भेदविवक्षा पक्ष है तब अनुकरण से अनुकार्य का बोध कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि इस पक्ष में अनुकरण से अनुकार्य का बोध होने के लिए अनुकार्यनिरूपित बोधजनकत्वशक्ति का अनुकरण में आरोप किया जाता है। इस प्रकार भेदविवक्षा पक्ष में अनुकरण से अनुकार्य का बोध आरोपित शक्तिजन्य उपस्थिति के द्वारा होता है। अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब अनुकरण शक्ति के द्वारा अनुकार्य का बोध कराता है तब "शक्तिमत्त्वमर्थवत्त्वम्" यह अर्थवत्त्व का लक्षण अनुकरण में चला जाता है। ऐसी स्थिति में उसकी प्रातिपदिक संज्ञा करके उसके आगे विभक्ति की उत्पत्ति क्यों नहीं होती? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस पक्ष में प्रातिपदिक संज्ञा करके अकारादि प्रत्येक वर्ण से विभक्ति की उत्पत्ति करने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि अकारादि जो स्वरवर्ण हैं ये चादिगण में पढ़े गये हैं और चादिगण में पढे जाने के कारण इनकी निपात संज्ञा और तत्प्रयुक्त अव्यय संज्ञा होती है। परिणाम यह होता है कि भेदविवक्षा पक्ष में अनुकरण के आगे आयी हुई विभक्ति का 'अव्ययादाप्सुपः' से लुक् कर दिया जाता है। किन्तु अनुकरण और अनुकार्य का यह भेदविवक्षा पक्ष मानना इसलिए ठीक नहीं है कि अकारादि स्वर वर्णों के निपात होने के कारण इस पक्ष में अनुकरण अकारादिकों के आगे आई हुई विभक्तियों का लुक् करने पर भी हकारादि जो व्यञ्जन वर्ण हैं उनका पाठ चादि निपातों के साथ न होने के कारण उनके आगे आई हुई विभक्ति का लुक् नहीं हो सकेगा। इसीलिए मूल में शेखरकार कह रहे हैं—"अनुकरणत्वेन सौत्रत्वाच्च वर्णेभ्यो न विभक्त्युत्पत्तिः"। यहाँ "सौत्रत्वाच्च" इस पद में जो चकार है वह हेतु अर्थ में है और अनुकरणत्वेन का अर्थ है—अभेदानुकरणत्वेन। इस प्रकार इस पंक्ति का अर्थ ऐसा होता है— "यतः सौत्रत्वम् अतः अभेदानुकरणत्वम्, तस्मात् न विभक्त्युत्पत्तिः"। तात्पर्य यह है कि "अइउण्" इत्यादि के सूत्र होने के कारण यहाँ अनुकार्य और अनुकरण का अभेदविवक्षा पक्ष है, इसलिए अकारादि वर्णों के आगे विभक्ति की उत्पत्ति नहीं होती है। यह बात ऊपर विस्तार से बताई जा चुकी है।

अथवा इस बात को प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि अनुकार्य की आनुपूर्वी में अनुकरण की शक्ति रहती है। इसलिए अनुकरण के शक्तिमत्त्व से उसके अर्थवत्त्व होने के कारण वहाँ विभक्ति की उत्पत्ति होने पर भी सौत्रत्वात् विभक्ति का लुक् हो जाता है। उत्पन्न विभक्ति का लुक् ही उसकी अनुत्पत्ति के रूप में व्याख्यात है।

अब शंका होती है कि वर्णबोधक इन अकारादि वर्णों से "वर्णात्कारः" वार्तिक से कार प्रत्यय क्यों नहीं होता है? उत्तर में नागेशभट्ट का कहना है कि "रोगाख्यायांण्वुल् बहुलम्"

इस सूत्र से बहुल ग्रहण की अनुवृत्ति इस वार्तिक में होती है। इसलिए बहुलग्रहण के प्रभाव से यहाँ कार प्रत्यय नहीं होता है। कुछ लोगों का यह कहना था कि "अइउण्" इत्यादि चौदह सूत्र क्रम के बोधक हैं, इसलिए इनमें वर्णबोधकत्व नहीं है। इस प्रकार वर्णबोधक न होने के कारण इनके आगे कार प्रत्यय नहीं होता, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अइउण् इत्यादि चौदह सूत्रों के समूह के क्रमबोधक होने पर भी प्रत्येक में वर्णबोधकता तो है ही। इसलिए यहाँ कार प्रत्यय का वारण बाहुलक के आधार पर ही करना चाहिए।

यत्तु—उपजीव्यविरोधात् सन्धिर्न। तथा हि अजादिसञ्ज्ञाग्रहकाले 'आद्गुणः' इत्यादीनामनिष्पत्त्या तदप्रवृत्तावविकृतरूपाकारादिषु गृहीताजादिपदशक्तिः पश्चादच्प्रत्याहारे ज्ञाते उपेन्द्र इवात्रापि तत्प्रवृत्तौ विरुद्ध्येत। न हि सन्धिकार्ये कृतेऽविकृतरूपश्रवणं भवति' इति। तन्न पुनरच्पदस्यार्थान्तरे शक्त्यग्रहेण तद्विरोधाभावात्। न च सन्धौ सन्देहः। व्याख्यानतो निर्णयसम्भवात्।

'अइउण्' इत्यादि सूत्रों में 'सन्धिकार्य क्यों नहीं होता, यह बात ऊपर विवेचित की जा चुकी है। इसी सन्दर्भ में सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या 'सिद्धान्तरत्नाकर' के रचयिता के मत का उल्लेख 'यत्तु' इस पद के द्वारा कर रहे हैं। सिद्धान्तरत्नाकरकार का कहना है कि 'अइउण्' इत्यादि सूत्रों में उपजीव्य-विरोध के कारण सन्धिकार्य नहीं होता है। यहाँ उपजीव्य-विरोध किस प्रकार होता है, इस बात को स्पष्ट करते हुए उनका कहना है कि जिस समय "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र से अच् आदि संज्ञाओं (प्रत्याहारों) का ग्रह = ज्ञान (निष्पत्ति) हो रहा था, उस समय गुणविधायक सूत्र "आद्गुणः" की निष्पत्ति (स्थिति) ही नहीं थी। कारण कि सर्वप्रथम प्रत्याहार बनने के बाद ही तत्तत् प्रत्याहारघटित सूत्रों का निर्माण या स्थिति होती है। उदाहरण के लिए इक्, यण् और अच् प्रत्याहार बनने के बाद ही "इको यणचि" की निष्पत्ति होती है। इसी प्रकार अच् प्रत्याहार बनने के बाद ही अच् को पर में मान कर गुण करने वाले "आद्गुणः" सूत्र की निष्पत्ति होती है। किन्तु अजादि संज्ञा बनाते समय 'आद्गुणः' की निष्पत्ति तो है नहीं। ऐसी स्थिति में वर्णसमाम्नाय (अइउण् इत्यादि सूत्रों) में तदप्रवृत्तौ = 'आद्गुणः' की प्रवृत्ति न होने के कारण अविकृत रूप वाले अकारादि वर्णों में अच् पद की शक्ति गृहीत होती है। पश्चात् = वर्णोपदेश ज्ञान के बाद जब अच् प्रत्याहार का ज्ञान हो जाता है तब जिस प्रकार "उपेन्द्रः" प्रयोग में "आद्गुणः" की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार यदि अत्रापि = अक्षरसमाम्नाय में भी "आद्गुणः" की प्रवृत्ति होने लगे तो वहाँ उपजीव्य-विरोध स्पष्ट ही होता है, क्योंकि जिस अविकृत अकारादि वर्णों में अच् पद की शक्ति गृहीत कर के "आद्गुणः" का वाक्यार्थबोध होता है वही "आद्गुणः" गुण के द्वारा उस अविकृत रूप के विनाश का कारण कैसे बनेगा? सन्धिकार्य करने पर तो अविकृत रूप का श्रवण नहीं होगा। इस प्रकार उपजीव्य-विरोध होने के कारण "सन्निपात परिभाषा के" द्वारा यहाँ सन्धिकार्य को रोक दिया जाता है।

नागेशभट्ट इस बात से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कह रहे हैं—"तन्न"। इनका तात्पर्य यह है कि यदि अविकृतत्व को उपजीव्य बनाकर अच् पद की शक्ति गृहीत हुई होती तो सन्धि के द्वारा विकृत रूप करने पर उपजीव्य-विरोध होता। किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि

"आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र से अच् पद की जो शक्ति गृहीत होती है वह अकारादि चान्तसमुदायघटक वर्णों में ही गृहीत होती है। "आद्गुणः" सूत्र से गुण के द्वारा विकृत रूप करने पर भी अकारादि चान्तसमुदायघटक वर्णों से भिन्न अर्थान्तर में तो अच् पद की शक्ति गृहीत होती नहीं है। ऐसी स्थिति में उपजीव्य-विरोध की स्थिति यहाँ न होने के कारण "सन्निपात परिभाषा" के द्वारा सन्धिकार्य का वारण करना ठीक नहीं है, किन्तु संहिता की अविवक्षा से यहाँ सन्धिकार्य नहीं होता, यही समाधान उचित है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

यदि कहा जाय कि सन्धिकार्य करने से उपजीव्य-विरोध भले न हो किन्तु अच् प्रत्याहार के घटक वर्ण कौन-कौन हैं? यह सन्देह तो होगा ही। इसके उत्तर में शेखरकार का कहना है कि सन्देह का निर्णय तो व्याख्यान से (व्याख्यातृपरम्परामूलक व्याख्यान से) सम्भव है।

ननु चतुर्दशसूत्र्यामक्षरसमाम्नाय इति व्यवहारानुपपत्तिराम्नायसमाम्नायशब्दयोर्वेदे एव प्रसिद्धेरित्यत आह—माहेश्वराणीति। महेश्वरादागतानीत्यर्थः। महेश्वरप्रसादलब्धानीति फलितम्। एवञ्चैवमानुपूर्वीका श्रुतिरेवैषा। तत्प्रसादात्पाणिनिना लब्धा। श्रुतिमूलकत्वादस्यैव वेदाङ्गत्वम्। अत्र प्रमाणम्—

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तम्.....' ॥(पा०शि० ५७)

इति शिक्षावचनम्। लण्सूत्रे णकारविषयाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'व्याख्यानत इति' इत्यादावाचार्यपदेन महेश्वरः। अनुबन्धाश्च महेश्वरकृता एवेत्यनुपदं स्फुटीभविष्यति। 'ञमङणनम्' इत्यत्र मकारप्रत्याख्यानपरं भाष्यं तु किमदृष्टार्थमेव तदुच्चारणमुत दृष्टार्थमपीत्येवं विचारपरम्। सर्वत्र प्रत्याख्यानमेवम्परमेव। अन्यथाऽङ्गानामपि पारायणे धर्मश्रवणेन तत्र तत्र पाणिनिन्यासप्रत्याख्यानस्याप्यसङ्गतिः स्यात्। तदुक्तम् 'इको यणचि' इति सूत्रे—

'सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्' इति।

किञ्चिद् दृष्टादृष्टार्थवत्, किञ्चिच्छुद्धादृष्टार्थवत्, सर्वथाऽनर्थकं न किञ्चिदिति तदर्थः। वृद्धिसूत्रस्थे—'वर्णेनाप्यनर्थकेन न भवितव्यम्' इति भाष्यग्रन्थेऽनर्थकत्वं बोध्यार्थराहित्यरूपमिति न निष्प्रयोजनत्वरूपानर्थक्येन तत्र तत्र प्रत्याख्यानपरभाष्यासङ्गतिः। अत एव 'सोऽयमक्षरसमाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो ब्रह्मराशिः'' इति भाष्यमुपादायोक्तं भर्तृहरिणा—'यथैवेदमव्युच्छिन्नं चन्द्रतारकादि एवमस्याक्षरसमाम्नायस्य न कश्चिद् आधुनिकः कर्त्तास्ति एवमेव वेदपारम्पर्येण स्मर्यमाणः' इति। आधुनिकः शरीरी। पुष्पितत्वं तन्मूलकशब्दशास्त्रद्वारेण। शब्दप्रयोगेण च फलितत्वम्।

अब यहाँ यह विचार हो रहा है कि "अइउण्" इत्यादि चौदह सूत्रों के लिए जो अक्षरसमाम्नाय शब्द का व्यवहार किया जाता है वह ठीक नहीं है, क्योंकि आम्नाय और समाम्नाय ये दो शब्द वेद के लिए ही प्रयुक्त होते हैं या प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार की शंका के उत्तर में

शेखरकार का कहना है कि इसीलिए तो दीक्षितजी ने इन सूत्रों के लिए "माहेश्वराणि" इस पद का प्रयोग किया है। "तत आगतः" इस सूत्र से आगत अर्थ में अण् प्रत्यय करने से बने हुए 'माहेश्वराणि' पद का अर्थ "महेश्वर से आये हुए" हैं। ये चौदह सूत्र महेश्वर से आये हुए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि महेश्वर के प्रसाद से पाणिनि ने इन सूत्रों को प्राप्त किया है, न कि ये सूत्र महेश्वर से बनाये हुए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि एवमानुपूर्वीका = अइउण् से लेकर हल् तक की आनुपूर्वी वाली यह श्रुति है, जो महेश्वर के प्रसाद से लब्ध है। इस प्रकार इन चौदह सूत्रों के लिए आम्नाय और समाम्नाय शब्द का प्रयोग उचित ही है।

इस प्रकार जब ये सूत्र श्रुति रूप हैं तो इन सूत्रों के आधार पर बना हुआ यह पाणिनि-व्याकरण भी वेदाङ्ग होता है। यहाँ "अस्यैव वेदाङ्गत्वम्" में आये हुए 'एव' शब्द का अर्थ "अपि" है, न कि अवधारण। यदि यहाँ एव शब्द को अवधारणार्थक माना जायेगा तो इसका अर्थ होगा कि "इसका ही वेदाङ्गत्व है"। ऐसी स्थिति में तो यह कहा जा सकता है कि पाणिनि-व्याकरण बनने से पहले वेद के पाँच ही अङ्ग थे। किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि तैत्तिरीय शाखा में इन्द्रव्याकरण की प्रशंसा देखी जाती है, इसलिए वेदमूलक होने के कारण उसमें भी वेदाङ्गता सुरक्षित है। इसलिए "अस्यैव वेदाङ्गत्वम्" में आये हुए एव शब्द का अर्थ अपि = भी ही करना चाहिए, जिसका भाव यह है कि "यह पाणिनिव्याकरण भी वेदाङ्ग है"।

ये चौदह सूत्र श्रुति हैं और ये महेश्वर के प्रसाद से प्राप्त हैं—इस बात में प्रमाण यह पाणिनि-शिक्षा का वचन है कि जिसने महेश्वर से अक्षरसमाम्नाय को प्राप्त कर सारे व्याकरणशास्त्र को बनाया है। यहाँ आये हुए समाम्नाय शब्द से इन चौदह सूत्रों का श्रुतित्व तथा "महेश्वरात्" पद से महेश्वर के प्रसाद से इनकी प्राप्ति ये दोनों बातें व्यक्त होती हैं।

अब यहाँ यह सन्देह होता है कि जब ये चौदह सूत्र श्रुति हैं तो इनमें परिवर्तन कभी भी सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में भाष्यकार की यह उक्ति कहाँ तक संगत है जहाँ उन्होनें कहा है कि— जब अइउण् सूत्र में णकार अनुबन्ध है ही तो पुनः "लण्" सूत्र में णकारोच्चारण-विषयक जो आचार्य की प्रवृत्ति है इसकी क्या उपादेयता है? इसलिए "लण्" सूत्र में णकार-विषयक आचार्य की प्रवृत्ति से "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" यह परिभाषा ज्ञापित की जाती है। यह भाष्योक्ति श्रुतित्वपक्ष में इसलिए असंगत लग रही है कि यहाँ लण् सूत्र के णकार के अस्तित्व के ऊपर ही सन्देह व्यक्त करके उससे परिभाषा का ज्ञापन किया गया है। इस सन्देह के उत्तर में कहा गया है कि उक्त भाष्य में आचार्य पद से पाणिनि का ग्रहण न करके महेश्वर का ग्रहण करना चाहिए। चौदह सूत्रों में जो चौदह अनुबन्ध लगे हुए हैं वे महेश्वर-कृत ही हैं। यह बात आगे स्पष्ट है।

अब प्रश्न होता है कि जब अनुबन्ध महेश्वरकृत हैं तो "ञमङणनम्" सूत्र के मकार का भाष्यकार ने जो प्रत्याख्यान किया है वह ठीक नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "ञमङणनम्" के मकार से बनने वाले "यम्" आदि प्रत्याहारों को "झभञ्" के ञ् तक बनाकर तथा वैसा करने से आयी हुई विसंगतियों का निराकरण करके भाष्यकार ने जो "ञमङणनम्" के मकार का प्रत्याख्यान किया है उसका तात्पर्य यह है कि यह मकार केवल अदृष्टार्थ (पुण्यार्थ) है अथवा इसका कोई दृष्टफल भी है ऐसा विचारपरक यह भाष्य है, न कि मकार के प्रत्याख्यान

करने में भाष्य का तात्पर्य है। भाष्यकार ने जहाँ कहीं भी किसी वर्ण या पद का प्रत्याख्यान किया है वहाँ सभी जगह यही समझना चाहिए कि इस प्रत्याख्येय वर्ण या पद का दृष्ट फल तो नहीं है, किन्तु यह अदृष्टफलक है। अन्यथा यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया जाय तो अङ्गानाम् = वेदाङ्ग के भी पारायण से धर्म होने के कारण उसमें किसी भी अंश का प्रत्याख्यान करना उचित नहीं है, ऐसी स्थिति में तत्र तत्र = भाष्य में पाणिनि के न्यास का प्रत्याख्यान असंगत हो जायेगा। इसलिए ऐसे स्थलों के लिए यही स्वीकार करना चाहिए कि जिसका दृष्ट फल नहीं है वह अदृष्ट फल के लिए है।

यह बात "इको यणचि" इस सूत्र के भाष्य में कही गई है कि सामर्थ्ययोगात् = सप्रयोजन (सार्थक) होने के कारण नही देखता हूँ कि अत्र = पाणिनिव्याकरण में कुछ भी अनर्थक = दृष्टादृष्ट प्रयोजनशून्य है। अर्थात् पाणिनिव्याकरण का एक भी अक्षर व्यर्थ नहीं है। सामर्थ्ययोगात् शब्द का उक्त अर्थ इस विग्रह के आधार पर किया गया है—"सम्यक् अर्थ: प्रयोजनम् = समर्थः। समर्थ एव सामर्थ्यं, स्वार्थे ष्यञ्। सामर्थ्यस्य योगस्तस्मात्। सर्वत्रैवादृष्टरूपफलस्य सम्बन्धात्"। इसमें कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनका फल दृष्ट और अदृष्ट दोनों हैं। कुछ ऐसे हैं जिनका शुद्ध अदृष्ट ही फल है अर्थात् उसका दृष्ट फल नहीं है। सर्वथा अनर्थक यहाँ कुछ भी नहीं है।

"वृद्धिरादैच्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि यहाँ एक वर्ण को भी अनर्थक नहीं होना चाहिए। यहाँ अनर्थक का अर्थ बोध्य अर्थ से रहित होना है। पाणिनिव्याकरण का एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो अपने अभिधेय (वाच्यार्थ) को न कहता हो। इसलिए भाष्य की यह उक्ति कि यहाँ एक भी वर्ण को अनर्थक नहीं होना चाहिए" भी सार्थक हो जाती है। ऐसी स्थिति में निष्प्रोजनत्वरूप = दृष्ट प्रयोजनशून्य होने के कारण भाष्यकार ने यत्र-तत्र जो प्रत्याख्यान किया है उस प्रत्याख्यानपरक भाष्य की असंगति नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने अभिधेयार्थ का बोध कराने के कारण यहाँ कोई वर्ण भी अनर्थक नहीं है, साथ ही दृष्ट फल न होने के कारण उनका प्रत्याख्यान करना भी असंगत नहीं होता है।

अत एव = वर्णसमाम्नाय के श्रुति होने के कारण ही भाष्यकार ने कहा है कि वह श्रुति रूप यह अक्षरसमाम्नाय पुष्पित और फलित होकर चन्द्रमा और तारों के समान प्रतिमण्डित = सुशोभित ब्रह्मराशि है। भर्तृहरि ने इस भाष्य को लेकर कहा है कि जिस प्रकार ये चन्द्र और तारा आदि अव्युच्छिन्न = शरीरधारी कर्त्ता से परिच्छिन्न अर्थात् बनाये हुए नहीं हैं, उसी प्रकार इस अक्षरसमाम्नाय का कोई आधुनिक शरीरधारी व्यक्ति कर्त्ता नहीं है। वेद के अध्ययन के सम्बन्ध में जैसी गुरुशिष्य परम्परा है और उससे वेद जिस प्रकार स्मर्यमाण होते हैं उसी प्रकार ये चौदह सूत्र भी स्मर्यमाण ही हैं।

ऊपर भर्तृहरि के शब्दों में जो "आधुनिक" शब्द आया है उसका अर्थ शरीरी है। भाष्यकार ने अक्षरसमाम्नाय के लिए पुष्पित और फलित इन दो शब्दों का प्रयोग किया है। उसमें इसका पुष्पितत्व इसके आधार पर बनाये गये शब्दशास्त्र के द्वारा है और शब्दशास्त्र से निष्पन्न शब्दों का प्रयोग ही इसका (अक्षरसमाम्नाय का) फलितत्व है।

उक्तञ्चैतच्चतुर्दशसूत्रव्याख्यायां नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायाम्—

"नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।

उद्धर्त्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥
अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यं वर्णचतुर्दशम् ।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये" ॥ इति ॥

धात्वर्थं धातुमूलकशब्दशास्त्रप्रवृत्त्यर्थम् । अत एव 'अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः' इत्युक्तं भाष्ये । अत्र करणशब्दप्रयोगेणानुबन्धानां सादित्वं सूचितम् । तत्करणञ्चोपदेशकर्तृकर्तृकमेव प्रत्यासत्तेः । तेन तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्यानादित्वं सूचितम् । अत्र सनकाद्युद्धरणेच्छयाऽस्य ब्रह्मोपदेशरूपत्वं सूचितम् । तच्च श्रुतित्वाभावे न सङ्गच्छते । 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इत्युक्तेः ।

इन चौदह सूत्रों की व्याख्या जो नन्दिकेश्वरकृत काशिका है उसमें इन सूत्रों का महेश्वर से प्राप्त होना और अनुबन्धों का सादित्व इस प्रकार कहा गया है—

सनकादि सिद्धों के उद्धार की कामना से नटराजराज शंकर ने नृत्त (गात्र-विक्षेप) के अवसान में चौदह बार डमरु को बजाया। विमर्शे सति = विचार करने पर, एतत् = ढक्कानादरूप वस्तु, शिवसूत्रजालम् = शिवोपदिष्ट चतुर्दश सूत्र रूप में परिणत हो गया। अत्र सर्वत्र सूत्रेषु = नादरूप इन सभी (चौदह) सूत्रों में अन्तिम चौदह वर्ण (णकारादि लान्त अनुबन्धसमूहरूप वर्ण) धातुमूलक शब्दशास्त्र की प्रवृत्ति के लिए समुपादिष्ट अर्थात् यथोचित रूप से सन्निविष्ट किये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि चौदह सूत्रों के उपदेश काल में अनुबन्ध नहीं थे। इनका सन्निवेश पीछे से किया गया, जिससे पाणिनि, शाकटायन आदि वैयाकरणों की इष्ट सिद्धि हो सके, क्योंकि अनुबन्धों के द्वारा प्रत्याहारसिद्धिपुरःसर शब्दशास्त्र की प्रवृत्ति होती है।

यहाँ 'धात्वर्थम्' पद का अर्थ = धातुमूलक शब्दशास्त्र की प्रवृत्ति के लिए है। अत एव = अनुबन्धों के सादि होने के कारण ही भाष्यकार ने कहा कि अनुबन्धकरण के लिए वर्णों का उपदेश किया गया है। यहाँ करण शब्द से यह बात सूचित होती है कि अनुबन्ध सादि हैं अर्थात् पीछे से बनाये गये हैं। इस पर कहा जा सकता है कि अनुबन्ध सादि भले हों परन्तु ये महेश्वरकृत हैं इसमें क्या प्रमाण है? इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि प्रत्यासत्तेः = उपस्थितत्वात् ये अनुबन्ध उपदेशकर्ता = वर्णोपदेशकर्त्ता महेश्वरकर्तृक ही हैं। तेन = "अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः" इस भाष्य से यह विदित होता है कि अनुबन्ध तो बनाये हुए हैं किन्तु उनके अतिरिक्त जो अक्षरसमाम्नाय है वह अनादि है।

अत्र = उक्त नन्दिकेश्वर-काशिका में हेतुत्वेन उपन्यस्त जो सनकादि की उद्धरणेच्छा है उससे अस्य = ढक्कानिनाद का ब्रह्मोपदेशत्व = ब्रह्मप्रतिपादक वर्णोपदेशत्व सूचित होता है। तच्च = यह ब्रह्मोपदेशत्व वर्णसमम्नाय को श्रुति माने बिना संगत नहीं होता है। क्योंकि कहा गया है—"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः"। अर्थात् श्रुतिवाक्यों से श्रवण = ब्रह्मोपदेश का श्रवण करना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में जो "विमर्शे" पद आया है वह विपूर्वक मृश् धातु से घञ् प्रत्यय करके विमर्श शब्द का सप्तमी का एकवचनान्तरूप है। इसे मृश् धातु का उत्तमपुरुष का एकवचन नहीं मानना चाहिए, क्योंकि मृश् धातु परस्मैपदी है। यदि आर्षत्वात् आत्मनेपदी इसे माना

जाय तो भी इट् प्रत्यय के ङित् होने के कारण यहाँ लघूपध गुण कथमपि संभव नहीं है। अतः यह सप्तम्यन्त ही है।

ऋक्तन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि—'इदमक्षरच्छन्दो वर्णशः समनुक्रान्तं यथाऽऽचार्या ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिरिन्द्रायेन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाज ऋषिभ्य ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते, न भुक्त्वा न नक्तं प्रब्रूयाद् ब्रह्मराशिः' इति। ब्रह्मराशिरित्यस्य ब्रह्मप्रतिपादको वर्णराशिरित्यर्थः। तत्त्वञ्च नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायां स्पष्टम्। अत एव 'वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः कर्त्तव्यः' इति भाष्ये उक्तम्। पाणिनेर्लाघवेन शास्त्रप्रवृत्तिफलको यः समवायो वर्णानां क्रमेण सन्निवेशस्तदर्थ इति तदर्थः। स चाणादिप्रत्याहारद्वारा शास्त्रप्रवृत्त्यर्थः। एवञ्चायमुपदेशः पाणिनेरन्यकृत इति स्पष्टमेवोक्तम्। मन्त्रोपदेश इतिवच्चात्रोपदेशपदप्रयोगः। अत एवास्य ज्ञाने सर्ववेदपारायणजं पुण्यं फलमिति भाष्ये उक्तम्। व्याकरणमुपक्रम्य 'वेदानां वेदः' इति छन्दोगश्रुतिरप्येतत्परैवेति दिक्।

तत्प्रयोजनमाह—सञ्ज्ञार्थानीति। एतच्चोपपादितम्।। सञ्ज्ञाप्रणयनञ्च लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थमिति बोध्यम्।

सञ्ज्ञार्थत्वोपपत्तये आह—एषामिति।

इन उपर्युक्त बातों को ऋक्तन्त्र व्याकरण में शाकटायन ने इस प्रकार कहा है— इदम् = यह वर्णसमाम्नाय (अइउण् इत्यादि) अक्षरच्छन्दः = नित्य वेदस्वरूप हैं। यह समनुक्रान्त = सम्यक् अनुक्रम से दर्शित है। जैसा कि आचार्यों ने कहा है—ब्रह्मा ने बृहस्पति के लिए इसका उपदेश किया। बृहस्पति ने इन्द्र के लिए, इन्द्र ने भरद्वाज के लिए और भरद्वाज ने ऋषियों के लिए इसका उपदेश किया। तं खलु इमम् अक्षरसमाम्नायम्—ऐसे इस अक्षरसमाम्नाय का उपदेश ऋषियों ने ब्राह्मणों के लिए किया। यह अक्षरसमाम्नाय ब्रह्मराशि है, इसलिए इसे न तो भोजन करके पढ़े और न रात्रि में पढ़े। ब्रह्मराशि का अर्थ—ब्रह्मप्रतिपादक वर्णराशि है। तत्त्वञ्च—इसका ब्रह्मप्रतिपादकत्व नन्दिकेश्वरकृत काशिका में स्पष्ट है। वहाँ "अइउण्" का अर्थ इस प्रकार किया गया है—अः = निर्गुण परमेश्वर, इम् = माया का आश्रय करके, उः = व्यापक सगुण रूप में, ण् = था। इस प्रकार के व्याख्यान से इसका ब्रह्मप्रतिपादकत्व स्पष्ट है।

अत एव = चौदह सूत्रों के ब्रह्मप्रतिपादक वर्णराशि होने के कारण भाष्यकार ने कहा है कि वृत्तिसमवाय के लिए वर्णों का उपदेश करना चाहिए।

यहाँ वृत्तिसमवाय में वृत्ति का अर्थ है—शास्त्रप्रवृत्ति और समवाय का अर्थ है—वर्णों का क्रमेण सन्निवेश। इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ होता है कि पाणिनि की लाघवेन जो शास्त्र की प्रवृत्ति, उसके लिए वर्णों का जो क्रमेण सन्निवेश, उसके लिए वर्णों का उपदेश करना चाहिए। स च = यह जो सन्निवेश है वह अणादि प्रत्याहार द्वारा शास्त्र (सूत्र) की प्रवृत्ति में उपयोगी होता है। अक्षरसमाम्नाय में वर्णों का विशेष क्रम है। इससे इक्, यण्, अच् आदि संज्ञाएँ बनती हैं जिससे "सुद्ध्युपास्यः" इत्यादि लक्ष्यों में "इको यणचि" शास्त्र की प्रवृत्ति

लाघवेन होती है। पाणिनि की लाघवेन शास्त्र की प्रवृत्ति हो, इसलिए वर्णोपदेश करना चाहिए, इस कथन से यह सिद्ध होता है कि यह उपदेश पाणिनि से अन्य किसी दूसरे से ही किया गया है।

यदि कहा जाय कि उपदेश शब्द अज्ञात ज्ञापक का बोधक है। ऐसी स्थिति में वर्णों का उपदेश करना चाहिए, इस कथन से यह बात व्यक्त होती है कि यहाँ अज्ञात वर्णों का ज्ञान कराया गया है तो ये वर्ण सादि सिद्ध हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में इनका अनादित्व भङ्ग हो रहा है। इस प्रकार की आशंका का निराकरण करते हुए कह रहे हैं कि यहाँ जो उपदेश का प्रयोग किया गया है वह मन्त्रोपदेश में आये हुए उपदेश की भाँति है। जिस प्रकार सिद्धमन्त्रों के उच्चारण के लिए भी उपदेश का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार अनादि जो अक्षर-समाम्नाय के वर्ण हैं उनके लिए भी उपदेश शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ वर्णोपदेश का तात्पर्य ढक्कानिनाद से उनकी अभिव्यक्ति से है। अत एव = यह अक्षरसमाम्नाय ब्रह्मप्रतिपादक वर्णराशि है, इस बात को स्वीकार करने से ही भाष्यकार ने कहा कि— इसके ज्ञान से वही पुण्यफल होता है जो सारे वेदों के पारायण से उत्पन्न होता है।

व्याकरण का उपक्रम करके छान्दोग्य श्रुति में जो कहा गया है— "वेदानां वेदः" अर्थात् यह वेदों का वेद है, यह श्रुति भी एतत्परा एव = चौदह सूत्र की अनादि श्रुतिरूपता परक ही है। ये चौदह सूत्र वेदों के भी वेद हैं अर्थात् ये अनादि श्रुति हैं।

वर्णसमाम्नाय का साक्षात् प्रयोजन बताते हुए कह रहे हैं—संज्ञार्थानीति। अणादि संज्ञाएँ वर्णसमाम्नाय के प्रयोजन हैं। यदि कहा जाय कि इसमें संज्ञाओं का उपादान तो किया नहीं गया है तो यह संज्ञार्थ किस प्रकार है? तो इस जिज्ञासा के उत्तर में कह रहे हैं— एतच्चोपपादितम् = यह बात पहले कह आये हैं कि अइउण् इत्यादि चौदह सूत्र क्रम के बोधक हैं और इसके साथ "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र के साथ एकवाक्यता करके अण् आदि संज्ञा-विधायक सूत्र भी हैं। संज्ञा का प्रणयन = निर्माण लाघवेन शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इक्, यण् और अच् प्रत्याहार बनने पर "इको यणचि" सूत्र की प्रवृत्ति लाघवेन होती है। अन्यथा प्रत्येक वर्ण का नामोल्लेखपुरःसर प्रकिया करने में महान् गौरव होता।

अण् आदि संज्ञाएँ कैसे बनाई जाती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं—"एषामन्त्या इतः"। इन चौदह सूत्रों के अन्तिम वर्णों की "हलन्त्यम्" सूत्र से इत् संज्ञा होती है, जिससे "आदिरन्त्येन सहेता" इस सूत्र के द्वारा अण् आदि संज्ञाएँ बनाई जाती हैं।

अकारश्चेति। तेन रप्रत्याहारसिद्धिः। अनन्त्यत्वात्पृथगुक्तिः। इदं 'तुल्यास्य'-सूत्रस्थकैयटानुरोधेन।

यहाँ "अकारश्च" का तात्पर्य "लण्सूत्रेऽकारश्च" से समझना चाहिए। इस वाक्य में इससे पूर्व वाक्य "एषामन्त्या इतः" से 'इतः' इस बहुवचनान्त पद की अनुवृत्ति करके विभक्ति का एकवचन में परिवर्तन करके इसका अर्थ इस प्रकार किया जाता है कि "लण् सूत्र में लकारो-त्तरवर्ती जो अकार है उसकी इत्संज्ञा होती है। इस वाक्य की पृथक् उक्ति इसलिए की गई कि यह अकार अन्त्य नहीं है। साथ ही यह हल् वर्ण न होकर स्वर वर्ण है।

"हलन्त्यम्" सूत्र से जो इत्संज्ञा होती है वह अन्त्य हल् की होती है। लण्सूत्रस्थ अकार के ऐसा न होने के कारण इसकी इत्संज्ञा करने के लिए पृथगुक्ति की गई। इसकी इत्संज्ञा अनुनासिकत्व की प्रतिज्ञा करके "उपदेशेऽजनुनासिक" सूत्र से की जाती है। अब प्रश्न होता है कि लण्सूत्रस्थ अकार की इत् संज्ञा की क्या आवश्यकता है?

इस प्रश्न के उत्तर में सिद्धान्तकौमुदीकार दीक्षित का कहना है कि "उरण् रपरः" इस सूत्र में आये हुए र पद से यदि र वर्ण का ग्रहण किया जाय तो "कृष्णर्द्धिः" इस प्रयोग के सिद्ध होने पर भी "तवल्कारः" इस प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए "तुल्यास्यप्रयत्नम्" के भाष्य में भाष्यकार ने कहा कि "लपरत्वं वक्ष्यामि" अर्थात् रपर के साथ लपर भी होना चाहिए। कैयट ने उक्त भाष्य की व्याख्या करते हुए कहा कि "रप्रत्याहाररूपेण व्याख्यास्यामि"। तात्पर्य यह है कि लपरत्व की सिद्धि र प्रत्याहार के माध्यम से होगी। इस र प्रत्याहार की सिद्धि के लिए दीक्षितजी कौमुदी में कहते हैं कि "लण्सूत्रेऽकारश्च"। इस वचन के आधार पर लण्सूत्रस्थ अकार के अनुनासिकत्व की प्रतिज्ञा करके "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" सूत्र से इत् संज्ञा की जाती है। इसके बाद "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र से "हयवरट्" सूत्र के रकार से लेकर लण्सूत्रस्थ अकार तक र प्रत्याहार की सिद्धि होती है। इस र प्रत्याहार में र और ल ये दो वर्ण आते हैं। "उरण् रपरः" के र पद से यही र प्रत्याहार गृहीत होता है। परिणामस्वरूप "कृष्णर्द्धिः' में रपरत्व और "तवल्कारः" प्रयोग में लपरत्व होता है। यह बात "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" सूत्रस्थ कैयट के अनुरोध पर आधारित है।

परे त्वस्यानुनासिकत्वे 'अतो ल्रा' इति सूत्रे पाणिनिर्लकारं नोच्चारयेत्। प्रत्याहारेणैव निर्वाहात्। किञ्चास्येत्सञ्ज्ञकत्वे बहुषु यण्पदघटितसूत्रेष्वर्द्धमात्रा-लाघवानुरोधेन यप्रत्याहारेणैव व्यवहरेत्। किञ्चानुबन्धानामच्प्रत्याहारे ग्रहणाभावे 'आचारादप्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तरः' इति भाष्योक्तस्य तृतीयहेतोरव्यापकत्वा-पत्तिः। तव लोपस्य बलवत्त्वेऽपि हल्प्रत्याहारसिद्धेः प्रागच्पदार्थनिष्पत्त्यभावेन उपदेशेऽज्' इत्यस्य वाक्यार्थाभावेन लणित्यकारस्येत्सञ्ज्ञालोपयोरभावेन प्रत्याहारेषु जातिग्रहणपक्षस्यैव भाष्यकृता सिद्धान्तितत्वेन हल्प्रत्याहारे लणित्यकारप्रवेशे 'मामाँस्त्रायस्व' इत्यत्रानुनासिकपक्षेऽनुस्वारापत्तिर्दुर्वारा, 'सोऽस्ति' इत्यादौ सुलोपाद्यापत्तिश्च।

अब "परे तु" इस शब्द के द्वारा नागेशभट्ट अपना मत कह रहे हैं। इनका कहना है कि यदि लण्सूत्रस्थ अकार अनुनासिक होता और उसकी इत्संज्ञा होती और उससे र प्रत्याहार बनता होता तो "अतो ल्रान्तस्य" सूत्र में पाणिनि को लकारोच्चारण नहीं करना चाहिए था, क्योंकि र शब्द से यहाँ र प्रत्याहार लिया जाता और र प्रत्याहार में रकार और लकार ये दो वर्ण आते ही हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ का लकारोच्चारण अनावश्यक ही हो जाता। इससे स्पष्ट है कि लण्सूत्रस्थ अकार अनुनासिक नहीं है, उसकी इत्संज्ञा नहीं होती और र प्रत्याहार नहीं बनता है। इसलिए "अतो ल्रान्तस्य" सूत्र में लकारोच्चारण सार्थक ही है। यदि कहा जाय कि उक्त सूत्र में लकारोच्चारण से यह ज्ञापन किया जायेगा कि र प्रत्याहार अनित्य है। इसका

फल यह होता है कि "रषाभ्यां नो णः" सूत्र में रकार से लकार का ग्रहण नहीं होता है। परिणाम स्वरूप "कमलानाम्" प्रयोग में नकार को णकार नहीं होता है। इसी प्रकार "रदाभ्यां निष्ठातः" सूत्र में रकार से लकार का ग्रहण नहीं होता, जिससे "प्रफुल्लतः" प्रयोग में लकार से पर में निष्ठा के तकार को नकार नहीं होता। इसी प्रकार र प्रत्याहार की अनित्यता के कारण "अतो लान्तस्य" सूत्र में भी र से लकार नहीं लिया जायेगा, इसलिए वहाँ लकारग्रहण सार्थक है। तस्मात् यह नहीं कहा जा सकता कि र प्रत्याहार नहीं बनता। र प्रत्याहारवादियों की ओर से इस प्रकार र प्रत्याहार का औचित्य सिद्ध करने पर नागेश भट्ट अपने पूर्व कथन में अरुचि आने के कारण "किञ्च" इस शब्द से र प्रत्याहार के खण्डन का उपक्रम करते हुए कह रहे हैं कि यदि लण्सूत्रस्थ अकार इत्संज्ञक होता तो र प्रत्याहार की भाँति उससे "य" प्रत्याहार भी बनता। इस 'य' प्रत्याहार में "य व र ल" ये चार वर्ण आते। ऐसी स्थति में यण् का कार्य जब "य" प्रत्याहार से चल सकता है तो यण्पदघटित बहुत से सूत्रों में णकार के उच्चारण न करने से जो आधा मात्रा का लाघव हो रहा है उसे दृष्टिगत कर पाणिनि को यण्-पदघटित सूत्रों में यण् का उच्चारण न करके य का ही उच्चारण करना था, किन्तु पाणिनि ने ऐसा नहीं किया है। इससे विदित होता है कि लण्सूत्रस्थ अकार की इत्संज्ञा नहीं होती है।

यहाँ एक बात यह विचारणीय उपस्थित है कि नागेश भट्ट ने कहा है कि बहुत से यण्-पदघटित सूत्रों में यण् की जगह य का प्रयोग करने से आधा मात्रा का लाघव होता है। किन्तु यह बात इसलिए असंगत लग रही है कि जब बहुत सूत्रों में यण् की जगह य का प्रयोग किया जायेगा तो अनेक मात्राओं का लाघव होगा। ऐसी स्थिति में बहुत सूत्रों में आधा मात्रा के लाघव की बात असंगत है। इस असंगति को दूर करने के लिए विभिन्न व्याख्याताओं ने इस पंक्ति की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। कुछ लोगों का कहना है कि जहाँ-जहाँ यण् की जगह य प्रत्याहार का प्रयोग करने में लाघव हो वहीं य प्रत्याहर से व्यवहार करना उचित है। जैसे "यण्वतः" की जगह "यवतः", "इको यणचि" की जगह "य इकोचि", "इणो यण्" की जगह "य इणः" इस रूप में न्यास करने में आधा मात्रा का लाघव है। "इग्यणः" इत्यादि स्थलों में "यणः" की जगह "यस्य" ऐसा न्यास करने में लाघव नहीं है, इसलिए यहाँ य प्रत्याहार का प्रयोग नहीं किया जायेगा। इसीलिए बहुषु यण्पदघटितसूत्रेषु" कहा गया है न कि "सर्वेषु यण्पदघटितसूत्रेषु" ऐसा कहा गया। किन्तु यह कहना भी इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता कि इस प्रकार भी अनेक सूत्रों में जब आधा-आधा मात्रा का लाघव हो रहा है तो सब मिलकर अनेक मात्राओं का लाघव होता है। ऐसी स्थिति में "बहुषु यण्पदघटितसूत्रेषु अर्धमात्रालाघवानुरोधेन" यह कहना संगत नहीं हो रहा है।

कुछ लोगों का कहना है कि इसका तात्पर्य यह है कि लण् सूत्र में णकारोच्चारण नहीं करना चाहिए और शेखर की पंक्ति की योजना इस प्रकार करनी चाहिए—"वर्णसमाम्नाये अर्द्धमात्रालाघवानुरोधेन बहुषु यण्पदघटितसूत्रेषु यप्रत्याहारेणैव व्यवहरेत्"। अर्थात् "लण् के णकार को न करने से वर्णसमाम्नाय में आधामात्रा का लाघव हो रहा है।" इस प्रकार लकारोत्तरर्ती अकार से य प्रत्याहार बना कर बहुत से यण् पद वाले सूत्रों में य का व्यवहार किया जा सकता

है। किन्तु यह कथन भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। कारण यह है कि यदि "लण्" सूत्र का णकार नहीं किया जायेगा तो "अणुदित्" सूत्र में अण् प्रत्याहार तथा इण् प्रत्याहार ये दोनों प्रत्याहार, जो पर-णकार (लण् के णकार) तक माने जाते हैं, इनकी विसंगति होने लगेगी। इसका कारण यह है कि णकार के अभाव में अण् की जगह "आ" प्रत्याहार बनेगा और इण् की जगह य प्रत्याहार (इ + अ = य) बनने लगेगा। परिणाम यह होगा कि "आ सर्वनाम्नः", "योऽचि", "यस्येति च" इत्यादि सूत्रों में वर्ण का ग्रहण किया जाय या प्रत्याहार का, यह एक अनिश्चय की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। यदि व्याख्यान के द्वारा निर्णय का प्रयत्न किया जायेगा तो अर्द्धमात्रा का लाघव दिखाने वाले को महान् गौरव का सहन करना पड़ेगा।

यदि "प्रत्येकम्" पद का अध्याहार करके शेखर की पंक्ति की संगति इस प्रकार बैठायी जाय कि "प्रत्येकमर्द्धमात्रालाघवानुरोधेन बहुषु यण्पदघटितसूत्रेषु यप्रत्याहारेणैव व्यवहरेत्" तो संगति बैठ जाती है। इसका तात्पर्य यह होगा कि जहाँ यण् की जगह य का प्रयोग करेंगें वहाँ प्रत्येक जगह आधा मात्रा का लाघव होने के कारण बहुत से यण्पदघटित सूत्रों में पाणिनि को यण् की जगह य प्रत्याहार का ही प्रयोग करना चाहिए था, किन्तु उन्होंने वैसा किया नहीं है। इससे संकेत मिलता है कि लण् सूत्र का अकार अनुनासिक नहीं है। अन्यथा र प्रत्याहार की भाँति य प्रत्याहार भी बनाया गया होता।

नागेश भट्ट के द्वारा इस प्रकार र प्रत्याहार का खण्डन करने पर र प्रत्याहार के पक्षधरों की ओर से कहा जाता है कि लण्सूत्रस्थ अकार के अनुनासिक होने पर भी उससे केवल र प्रत्याहार ही बनेगा, न कि य प्रत्याहार भी। इसका कारण यह है कि य प्रत्याहार बनाने पर "योऽचि", "यस्य हलः", "यस्येति च" इत्यादि सूत्रों में य प्रत्याहार लिया जाय या य वर्ण लिया जाय, इसके निर्णय के लिए व्याख्यान का आश्रयण करना होगा, जो एक प्रकार का गौरव ही होगा। इसीलिए णकार अनुबन्ध की भी सार्थकता होती है कि उसके द्वारा अण्, इण् और यण् प्रत्याहारों की सिद्ध हो सके। इस प्रकार लण्सूत्रस्थ अकार के अनुनासिकत्व और उसके द्वारा र प्रत्याहार की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है।

र प्रत्याहारवादियों की ओर से इस प्रकार कहने पर शेखरकार दूसरे किञ्च के द्वारा र प्रत्याहार का निराकरण करते हुए कह रहे हैं कि यदि लण्सूत्रस्थ अकार को अनुनासिक माना जायेगा तो भाष्योक्त तृतीय हेतु की अव्यापकत्वापत्ति हो जायेगी। इस बात का विशद विवेचन इस प्रकार है— भाष्यकार ने अच् प्रत्याहार में अनुबन्धों (इत्संज्ञक वर्णों) का ग्रहण क्यों नहीं किया? इस प्रश्न के उत्तर में तीन हेतुओं को प्रदर्शित करते हुए अनुमान की प्रक्रिया से बताया है कि अच् प्रत्याहार में अनुबन्धों का ग्रहण नहीं होता है। अनुमान का वह क्रम इस प्रकार है—"अनुबन्धाः प्रत्याहारजन्यबोधविषयत्वाभाववन्तः, लोपशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वात्"। इसका तात्पर्य है कि अनुबन्ध प्रत्याहारजन्य बोध के विषय नहीं होते, क्योंकि वे लोपशास्त्र जो "तस्य लोपः" है, उसके उद्देश्यतावच्छेदक = इत्संज्ञकत्व से आक्रान्त हैं, अर्थात् उनकी इत् संज्ञा और लोप हो जाता है, इसलिए वे प्रत्याहार में गृहीत नहीं होते। यहाँ प्रयुक्त हेतु तीसरा हेतु है। इसके पूर्व "आचारात् और अप्रधानत्वात्" ये दो हेतु भाष्य में प्रस्तुत किये

जा चुके हैं, किन्तु इन दोनों हेतुओं में कोई अव्यापकत्वापत्ति की शंका न होने के कारण तृतीय हेतु में अव्यापकत्वापत्ति की शंका की है।

इस प्रसंग में एक यह शंका उपस्थित होती है कि जहाँ हेतु से साध्य की अनुमिति होती है वहाँ साध्य का व्यापक होना और हेतु का व्याप्य होना अनिवार्य होता है। ऐसी स्थिति में जब कि हेतु व्याप्य होता है तब उसका अव्यापक होना तो गुण ही है तो शेखर कार ने हेतु में जो अव्यापकत्वापत्ति का दोष दिया है वह कहाँ तक उचित है? इस शंका का उत्तर यह है कि यहाँ जो हेतु के अव्यापक की बात कही गई है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि हेतु की साध्य के प्रति अव्यापकत्वापत्ति हो रही है, क्योंकि ऐसी अव्यापकत्वापत्ति (व्याप्यता) तो इष्ट ही है। यहाँ जो अव्यापकत्वापत्ति की बात की जा रही है उसका तात्पर्य पक्षतावच्छेदक के प्रति हेतु की अव्यापकत्वापत्ति से है। बात यह है कि अनुमिति दो प्रकार की होती है— एक तो पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन और दूसरी पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन। पहली अनुमिति में तो जिस अधिकरण में अनुमिति करनी होती है हेतु का तदधिकरणवृत्तित्व अपेक्षित होता है। पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमितिस्थल में तो पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न सारे पक्षों में हेतु की वृत्तिता अपेक्षित होती है। उदाहरण के लिए यदि पर्वतत्वावच्छेदेन सकल पर्वत में वह्नि की सिद्धि करनी है तो सभी पर्वतों में धूम का रहना अनिवार्य होगा। यह धूम पक्षतावच्छेदक पर्वतत्व का व्यापक होता है। यदि एक भी पर्वत में धूम नहीं रहा तो उसमें पक्षतावच्छेदक के प्रति व्यापकता नहीं रहेगी। ऐसे अव्यापक हेतु से पर्वतत्वावच्छेदेन अनुमिति नहीं हो सकती है।

प्रस्तुत स्थल में भी यही बात है। ऊपर जो अनुमान का क्रम दिखाया गया है, यह अनुमिति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन की जा रही है। इस अनुमिति में "लोपशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्व रूप हेतु को अनुबन्धरूपी प्रत्येक पक्ष में रहना अपेक्षित है, तभी वह पक्षतावच्छेदक का व्यापक हो सकता है। लण् सूत्र के अकार को अनुनासिक मानने पर 'इत्संज्ञायोग्यत्व रूप अनुबन्धत्व के उसमें रहने पर भी लोपशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्व रूप हेतु अर्थात् इत्संज्ञकत्व उसमें नहीं जाता है। तात्पर्य यह कि उसकी इत् संज्ञा नहीं होती है। बिना इत् संज्ञा के वह लोपशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्त हो ही नहीं सकता। इस प्रकार यहाँ अव्यापकत्वापत्ति रूप दोष की प्रसक्ति होती है।

अब प्रश्न होता है कि अनुनासिक होने पर भी उसकी इत् संज्ञा क्यों नहीं होती, जिससे उक्त दोष की आपत्ति होती है? इस प्रश्न के उत्तर को समझने के लिए पहले इसकी पृष्ठभूमि पर ध्यान देना आवश्यक है। भाष्यकार ने यह विचार किया कि—प्रत्याहारे = वर्णसमाम्नाय में, य एतेऽक्षु = अच्बोधक सूत्रों में प्रत्याहार बनाने के लिए जो अनुबन्ध किये गये हैं, उनका अच्बोधक प्रत्याहारों में ग्रहण क्यों नहीं होता है? भाष्यकार की यह आशंका अच् प्रत्याहार में आये हुए "ण्,क्,ङ्,च्" इन चार अनुबन्धों के लिए ही है। अच् प्रत्याहार में हल् अनुबन्धों का ग्रहण क्यों नहीं होता? यही यहाँ के प्रश्न का तात्पर्य है। यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि जिस प्रकार भाष्यकार ने अच् प्रत्याहार में हल् अनुबन्धों के ग्रहण की शंका की, उसी प्रकार लण् सूत्र के अकार के सम्बन्ध में भी शंका करनी चाहिये थी कि हल् प्रत्याहार में अच् अनुबन्ध

(लण् के अकार) की गणना क्यों नहीं होती, क्योंकि यह भी अनुनासिक होने के कारण इत्संज्ञा के योग्य है ?

यदि कहा जाय कि अच् में हल् अनुबन्ध इसलिए नहीं लिये जायेंगे कि "लोपश्च बलवत्तरः" इस उक्ति के द्वारा उनका लोप हो जायेगा; तो यही उत्तर हल् प्रत्याहार में आये हुए अच् अनुबन्ध के लिए भी हो सकता है। किन्तु विचार करने पर विदित होता है कि अच् प्रत्याहार में आये हुए अनुबन्धों का लोप से अपहार हो जाने पर भी हल् में आये हुए अच् अनुबन्ध का लोप ही नहीं होगा। कारण कि इसकी इत्संज्ञा ही नहीं हो रही है। इत् संज्ञा न होने का कारण यह है कि प्रत्याहारों के बीच पहला प्रत्याहार हल् प्रत्याहार बनता है, क्योंकि "हलन्त्यम्" सूत्र की आवृत्ति करके आवृत्त "हलन्त्यम्" सूत्र से सर्वप्रथम इत् संज्ञा "हल्" इस चौदहवें सूत्र के लकार की होती है। इसके बाद हल् प्रत्याहार बनाकर "हलन्त्यम्" सूत्र से चकारादि वर्णों की इत् संज्ञा करके अच् प्रत्याहार बनता है। इस प्रकार देखा जाता है कि अच् प्रत्याहार बनने के पहले हल् प्रत्याहार बन जाने के कारण अच् प्रत्याहार में आने वाले हल् अनुबन्धों की इत् संज्ञा और तत्प्रयुक्त लोपेन उनका अपहार तो संभव है किन्तु हल् प्रत्याहार की सिद्धि के पहले अच् प्रत्याहार की निष्पत्ति, जैसा कि पहले बताया जा चुका है न होने के कारण हल् प्रत्याहार में आये हुए अनुबन्ध की "उपदेशऽजनुनासिक" सूत्र से इत् संज्ञा होगी ही नहीं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि यदि लण् सूत्र के अकार को अनुनासिक माना जाता है तो इत्संज्ञायोग्यत्वरूप अनुबन्धत्व के उसमें रहने के कारण वह प्रकृत अनुमिति में पक्ष तो बनता है, किन्तु उपर्युक्त व्याख्यान से जैसा कि विदित होता है वह लोपशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदक इत्व से आक्रान्त नहीं होता है, अर्थात् उसकी इत् संज्ञा नहीं हो रही है। इस प्रकार इस पक्ष में हेतु के न जाने के कारण "पक्षैकदेशावृत्तित्वं भागासिद्धिः" नामक दोष यहाँ पड़ता है।

इसी बात को शेखरकार इस प्रकार कह रहे हैं कि तव मते = लण् सूत्र का अकार अनुनासिक है, ऐसा स्वीकार करने वाले प्राचीन के मत में लोप के बलवान् होने पर भी हल् प्रत्याहार की सिद्धि के पहले अच् प्रत्याहार की निष्पत्ति (सिद्धि) न होने के कारण "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इस सूत्र का वाक्यार्थबोध ही नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थति में "लण् सूत्र के अकार की न तो इत् संज्ञा होगी और न लोप होगा। ऐसी स्थिति में लोप शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्व हेतु अनुबन्ध नामक पक्ष में नहीं जाता है, इसलिए तृतीय हेतु की अव्यापकत्वापत्ति रूप दोष इस मत में पड़ रहा है। मेरे मत (नागेश के मत) के अनुसार तो लण् का अकार अनुनासिक ही नहीं है, इसलिए वह अनुबन्ध भी नहीं है। इस प्रकार इस मत में कोई दोष नहीं पड़ता है।

इस कथन के ऊपर र प्रत्याहार के समर्थकों की ओर से कहा जाता है कि भाष्यकार ने कहा है कि "अक्षु य एते प्रत्याहारार्था अनुबन्धाः क्रियन्ते" इस भाष्य से स्पष्ट है कि केवल "अनुबन्धत्व" पक्षतावच्छदेक नहीं है, किन्तु "अज्बोधकसूत्रस्थानुबन्धत्व" ही पक्षतावच्छेदक है। ऐसी स्थिति में लण् का अकार तो जब पक्ष ही नहीं है तो यहाँ तृतीय हेतु की अव्यापकत्वापत्ति का प्रश्न ही नहीं है। इसलिए लण् सूत्र के अकार का अनुनासिकत्व और र प्रत्याहार की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है। इस पर शेखरकार का कहना है कि इस प्रकार तृतीय हेतु की अव्यापकत्वापत्ति भले न हो, किन्तु लण् के अकार की इत् संज्ञा और लोप से अपहार न होने

के कारण उसकी गणना हल् प्रत्याहार में होने लगेगी। इसका परिणाम यह होगा कि "अन् प्राणने" धातु से क्विप् प्रत्यय करके "अनुनासिकस्य क्विझलोः" सूत्र से उपधादीर्घ, प्रातिपदिक संज्ञा और सम्बोधन में प्रथमा, उसका लोप और सम्बुद्धिप्रयुक्त नलोपाभाव करके "हे आन्! मां त्रायस्व" इस अर्थ की विवक्षा में "माम् + आंस्त्रायस्व" इस स्थिति में लण् के अकार से आंस्त्रायस्व के आकार का ग्रहण करके उसे हल् होने के कारण "मोऽनुस्वारः" सूत्र से माम् के मकार को अनुस्वार होने लगेगा।

यदि कहा जाय कि व्यक्ति पक्ष में लण्सूत्रस्थ अकार और लक्ष्यस्थ आकार दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए लक्ष्यस्थ आकार का ग्रहण लण् सूत्र के अकार से नहीं होगा। तस्मात् "मामांस्त्रायस्व" का दोष नहीं है, तो इस बात को दृष्टिगत कर शेखरकार का कहना है कि "अणुदित्" सूत्र के अण् ग्रहण के प्रत्याख्यान के लिए भाष्यकार ने प्रत्याहार में जातिपक्ष को ही सिद्धान्तित किया है। अन्यथा व्यक्तिभेद होने के कारण "अवात्ताम्" इस प्रयोग में "अवस्-स-ताम्" इस स्थिति में "झलो झलि" से सकार का लोप नहीं होगा, क्योंकि झल् के तकार से लक्ष्यस्थ तकार भिन्न है। जब प्रत्याहार में जातिपक्ष मान लिया गया तो लण् सूत्र के अकार से लक्ष्यस्थ आकार का ग्रहण होगा और फलस्वरूप "मामांस्त्रायस्व" का दोष रहेगा ही।

यदि कहा जाय कि ह्रस्वत्व समानाधिकरण अकार ही हल् प्रत्याहार में माना जायेगा। उपर्युक्त लक्ष्यस्थ आकार तो दीर्घ है, अतः यहाँ दोष नहीं है तो ऐसी स्थिति में अन् धातु से विच् प्रत्यय करके अन् बनाने पर "माम् + अंस्त्रायस्व" इस प्रयोग का दोष दुरुद्धर हो जायेगा। इसके अतिरिक्त ह्रस्वत्व-समानाधिकरण अत्व जात्याश्रय का हल् प्रत्याहार में ग्रहण है, ऐसा स्वीकार करने पर दूसरा दोष यह है कि "सोऽस्ति" इस प्रयोग में अकार को हल् मान कर "एतत्तदोः" सूत्र से सु का लोप होने लग जायेगा। इसलिए यही स्वीकार करना चाहिए कि लण् सूत्र का अकार अनुनासिक नहीं है।

अत एव—

'प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न।'

इत्यनेन प्रत्याहारे वर्णसमाम्नाये य एतेऽक्षु अज्बोधकसूत्रेषु प्रत्याहारार्था अनुबन्धाः क्रियन्ते तेषामज्ग्रहणेन ग्रहणं कस्मान्नेत्यर्थकेनाच्प्रत्याहारे शङ्का कृता, न हल्प्रत्याहारे। भाष्ये च 'अइउण्' इत्यादिसूत्रचतुष्टयोपादानेनैवास्य प्रवृत्तिर्दर्शिता। तत्र प्राधान्यं प्रत्याहारेषु ग्रहणार्थत्वरूपं, हल्षु च तथोपदेशस्तेषाम्, अक्षु तु स्वराणामेव तथोपदेश इति प्राधान्यात् तेषामेव सञ्ज्ञित्वमिति भाष्ये स्पष्टम्। न च हशादिप्रत्याहारे टग्रहणस्यापत्तिरिति वाच्यम्। हकारादिषु पुनः पुनरकारोच्चारणेनोच्चारणार्थवर्णरहितहलां तद्घटितप्रत्याहारे ग्रहणाभावस्य वक्तुं शक्यत्वात् तद्विषयप्रयोगाणामनभिधानाच्च। तस्मादस्यानुनासिकत्वमप्रामाणिकम्। 'उरण् रपरः' इत्यत्र लग्रहणं कर्त्तव्यमेव। ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यवदित्याहुः।

अत एव = लण् सूत्र का अकार अनुनासिक नहीं है, इस बात को स्वीकार करने से ही, अथवा र प्रत्याहार नहीं बनता इस बात को स्वीकार करने से ही अग्रिम भाष्य की संगति होती

है। भाष्यकार ने "प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न" इस वार्तिक का व्याख्यान इस प्रकार किया है—प्रत्याहारे = वर्णसमाम्नाय में य एतेऽक्षु = अच्बोधक "अइउण्" इत्यादि सूत्रचतुष्टय में ये जो अनुबन्ध प्रत्याहार के लिए किये गये हैं उनका अज्ग्रहणेन अच् संज्ञा से ग्रहण = बोध क्यों नहीं होता? अर्थात् अइउण् इत्यादि चार सूत्र, जिनसे अच् प्रत्याहार बनता है उन सूत्रों में आये हुए चार अनुबन्ध अच् क्यों नहीं कहे जाते? ऐसी शंका करके "आचारात्, अप्रधानत्वात्, लोपश्च बलवत्तरः" इन तीन हेतुओं के द्वारा उनका अच् प्रत्याहार में ग्रहण न होना सिद्ध किया है।

अब यहाँ यह विचार करना है कि भाष्यकार ने अच् प्रत्याहार में हल् वर्णों के ग्रहण के विषय में शंका तो की, किन्तु हल् प्रत्याहार में इस प्रकार की शंका नहीं की। यदि लण् सूत्र का अकार अनुनासिक होता और उसकी इत् संज्ञा होती तो जिस प्रकार भाष्यकार ने अच् प्रत्याहार में हल् वर्णों के ग्रहण के सम्बन्ध में शंका-समाधान किया है, वैसे ही हल् प्रत्याहार में भी अच् वर्ण (लण् के अकार) के ग्रहण के सम्बन्ध में भी शंका-समाधान किये होते; परन्तु भाष्यकार ने ऐसा नहीं किया है, इसलिए समझतें हैं कि लण् सूत्र का अकार अनुनासिक नहीं है।

अपने इसी कथन की सम्पुष्टि में नागेश भट्ट आगे कह रहे हैं कि उपर्युक्त शंका के अवसर पर जिन अज्बोधक सूत्रों में अनुबन्धों का ग्रहण नहीं होता, उनका उल्लेख करते हुए भाष्यकार ने "अइउण्" इत्यादि चार सूत्रों का ही उल्लेख किया और वहीं "अस्य = प्रत्याहारेऽनुबन्धानाम्" इस वार्तिक की प्रवृत्ति दिखलायी है। इससे भी स्पष्ट होता है कि लण् का अकार अनुनासिक नहीं है। यदि होता तो उसके सम्बन्ध में भी शंका-समाधान किया गया होता।

अब भाष्य में प्रदर्शित तीनों हेतुओं में द्वितीय हेतु का व्याख्यान करते हुए कह रहे हैं कि तत्र = वार्तिक में आये हुए "अप्रधानत्वात्" इस मध्यम हेतु के भीतर जो प्रधान शब्द आया है, उस प्रधान शब्द से प्रत्याहार में ग्रहण (बोध) रूपी प्राधान्य विवक्षित है। तात्पर्य यह है कि प्रत्याहार में उन्हीं का ग्रहण होता है जो प्रधान होते हैं। अनुबन्ध क्योंकि अप्रधान होते हैं इसलिए उनका प्रत्याहारों में ग्रहण नहीं होता। उनकी अप्रधानता "अन्त्येन" इस पद में अप्रधान अर्थ में की गई तृतीया विभक्ति द्वारा विदित है।

हल्षु = हल्बोधक सूत्रों में, तेषाम् = हल् वर्णों का तथा = ग्रहण करने के लिये उपदेश किया गया है। अक्षु तु = अच्बोधक सूत्रों में तो स्वरवर्णों का ही, तथोपदेशः = ग्रहण के लिए उपदेश किया गया है। इस प्रकार अच्बोधक सूत्रों में अच् वर्ण की और हल्बोधक सूत्रों में हल् वर्णों की प्रधानता होने के कारण तत्र = अच् प्रत्याहार में तेषामेव = अच् वर्णों का ही और हल् प्रत्याहार में हल् वर्णों का ही संज्ञित्व होता है अर्थात् बोध होता है। यह बात भाष्य में स्पष्ट है।

अब यह शंका हो रही है कि नागेश भट्ट ने उपर्युक्त प्रकार से अच् प्रत्याहार में ही अनुबन्धों का ग्रहण न होना सिद्ध किया है। ऐसी स्थिति में इनके मत में भी हश् आदि प्रत्याहारों में टकार आदि अनुबन्धों का ग्रहण क्यों न होवे? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि हश् आदि प्रत्याहारों में टकारादि अनुबन्धों के ग्रहण की आपत्ति नहीं है। इसका कारण

यह है कि "हयवरट्" के हकार से लेकर हल् सूत्र के हकार तक जितने हल् वर्ण हैं, उन सभी वर्णों में बार-बार अकार का उच्चारण किया गया है, क्योंकि विना अच् के व्यञ्जन वर्ण का उच्चारण भी नहीं हो सकता। इसलिए पुनः-पुनः अकारोच्चारण से यह समझा जाता है कि उच्चारणार्थक वर्ण से रहित हल् वर्णों का उनसे घटित प्रत्याहार में ग्रहण नहीं होता है। इसलिए हश् आदि प्रत्याहारों में टकारादि अनुबन्धों के ग्रहण होने की आपत्ति नहीं है। यदि कथञ्चित् उच्चारणार्थकवर्णरहित हल् वर्णों का ग्रहण प्रत्याहार में कर लिया जाता है तो तद्विषयक = टकारादि अनुबन्ध-विषयक "रामो टीकते" इत्यादि प्रयोगों का अनभिधान ही समझना चाहिए। अर्थात् ऐसे प्रयोग नहीं होते, ऐसा ही मानना चाहिए।

तस्मात् = इस उपर्युक्त विवेचन से जब यह सिद्ध हो गया कि लण् सूत्र के अकार को अनुनासिक नहीं माना जा सकता तो इसके अनुनासिकत्व को अप्रामाणिक ही समझना चाहिए। अर्थात् लण्सूत्रस्थ अकार अनुनासिक नहीं है। इसलिए उसकी इत् संज्ञा करके र प्रत्याहार बनाया जाता है, यह बात भी अप्रामाणिक ही है। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि तब "तवल्कारः" प्रयोग की सिद्धि किस प्रकार होगी ? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि "उरण् रपरः" सूत्र में लकार का ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि "उरण्रलपरः" ऐसा सूत्र करने में भाष्य का तात्पर्य समझना चाहिए। जिस प्रकार ऋकार और लृकार की सवर्ण संज्ञा करने के लिए ''ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्" ऐसा कहा गया है, उसी प्रकार ऋकार के स्थान पर रपर और लृकार के स्थान पर लपर आदेश होने के लिए "उरण् रलपरः" ऐसा सूत्र मानना चाहिए। ऐसा नागेश भट्ट कहते हैं।

विमर्श– नागेश भट्ट इत्संज्ञायोग्यत्व रूप अनुबन्धत्त्व को स्वीकार कर जो तृतीय हेतु की अव्यापकत्वापत्ति का दोष दिये हैं, वह ठीक नही है; क्योंकि "इत्संज्ञकत्वमनुबन्धत्वम्", इस रूप में अनुबन्धत्व को यदि स्वीकार किया जाता है तो लण् सूत्र का अकार पक्ष ही नहीं बनता है, क्योंकि हल् प्रत्याहार की सिद्धि के पहले उसकी इत् संज्ञा ही नहीं होती है। इसलिये अव्यापकत्वापत्ति का दोष नहीं है।

दूसरी बात यह है कि नागेश के मतानुसार उच्चारणार्थक वर्णों की भी निवृत्ति इत् संज्ञा और लोप के द्वारा ही होती है, यह बात उन्होंने 'दिव औत्' सूत्र में कही है। ऐसी स्थिति में हल् प्रत्याहार की सिद्धि के पहले जिस प्रकार लण् के अकार की इत् संज्ञा नहीं होती है, उसी प्रकार हयवरट् इत्यादि में हकारोत्तर वर्तमान उच्चारणार्थक अकार की भी इत् संज्ञा नहीं होगी। ऐसी स्थिति में हकार के अकार को लेकर पक्षतावच्छेदकाव्यापकत्व रूप दोष उनके मत में भी आ जाता है।

इसी प्रकार "सोऽस्ति" इस प्रयोग में सुलोप की जो आपत्ति दी गई है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि लण् सूत्र के अकार के हल् वर्ण हो जाने पर "अदेङ् गुणः", "आद्गुणः" इत्यादि स्थलों में णकारोत्तरवर्ती अकार रूप हल् से पर में रहने वाली सु विभक्ति के सकार का "हल्ङ्याब्भ्यः" सूत्र से लोप होना चाहिए, किन्तु इन स्थलों में लोप न करने से यह परिकल्पना की जायेगी कि लण् सूत्र का अकार र प्रत्याहारातिरिक्त अन्य किसी भी प्रत्याहार का प्रयोजक नहीं है। इस प्रकार लण्सूत्रस्थ अकार के हल् प्रत्याहार में न आने के कारण "सोऽस्ति", "मामांस्त्रायस्व"

इत्यादि प्रयोगों में दिखाये गये सारे दोषों का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार लण्सूत्रस्थ अकार को अनुनासिक मान कर उससे र प्रत्याहार बनाने में कोई बाधा नहीं है। नागेश भट्ट ने "उरण् रलपरः" ऐसा न्यास मान कर लकारोच्चारण करके र प्रत्याहार का जो खण्डन किया है उसकी अपेक्षा र प्रत्याहार को स्वीकार करने में ही लाघव है।

ननु 'हय' इत्यादावकारोच्चारणेन तस्य हल्त्वप्रसङ्गोऽत आह—हकारादिष्विति। 'न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति' इति 'उच्चैरुदात्तः' इति सूत्रस्थ-भाष्यात् 'एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते, यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति अचोऽक्षु हलो हल्षु' इति प्रत्याहारेऽनुबन्धानामित्यत्र भाष्याच्चेति भावः।

अब यह शंका होती है कि "हयवरट्" इत्यादि सूत्रों में हकारादि प्रत्येक वर्ण के साथ अकार का उच्चारण किया गया है। ऐसी स्थिति में हश् प्रत्याहार में यदि अकारविशिष्ट हकार का ग्रहण किया जाता है तब "रामो हसति" इस प्रयोग के बनने पर भी "रामो हिनस्ति" यह प्रयोग किस प्रकार बनेगा? इस प्रकार की शंका के निराकरण हेतु कहा गया है—

हकारादि वर्णों में जो अकार है वह केवल उच्चारण के लिए है। "उच्चैरुदात्तः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि बिना अच् के व्यञ्जन वर्ण का उच्चारण भी नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्याहार में अनुबन्धों (इत्संज्ञक वर्णों) का ग्रहण होता है या नहीं? इस प्रसंग में "प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न" इस वार्तिक के व्याख्यान के अवसर पर भाष्यकार ने कहा है कि यह आचार्य की शैली है कि वे तुल्यजातीय वर्णों का उपदेश तुल्यजातीय वर्णों के साथ करते हैं। उन्होंने अच् वर्णों को अच् प्रत्याहार में एक साथ ही पढ़ा (उपदेश किया) है और हल् वर्णों का उपदेश एक साथ हल् प्रत्याहार में किया है।

इससे विदित होता है कि हल् वर्णों के साथ अकार का जो उच्चारण किया गया है वह केवल हल् वर्णों के अक्लिष्ट और स्पष्ट उच्चारण के लिए ही किया गया है, न कि वह ग्रहणार्थ है। इस प्रकार हकारादि वर्णों में अकार को उच्चारणार्थक मानने का परिणाम यह होता है कि "रामो हसति" की भाँति "रामो हिनस्ति" प्रयोग में भी "हशि च" सूत्र की प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती है। "उच्चैरुदात्तः" सूत्र के भाष्य मे जो आचार्य शब्द आया है उसका अर्थ विचारणीय है। इस आचार्य पद से पाणिनि को नहीं लिया जा सकता, क्योंकि पाणिनि वर्णसमाम्नाय के कर्त्ता और उपदेष्टा कुछ भी नहीं है। चिदस्थिमालाकार ने आचार्य का अर्थ अनादि पुरुष किया है। सम्भवतः उनका संकेत महेश्वर की ओर हो।

स्यादेतत्। 'न विभक्तौ' इत्यादेः सार्थक्याय 'हलन्त्यम्' इत्यस्योपदेशेऽन्त्यं हल् इदित्यर्थस्यावश्यकत्वेन 'हलन्त्यम्', 'आदिरन्त्येन' इत्यनयोः परस्परापेक्षत्वेना-ऽन्योन्याश्रयाल्लकारे इत्संज्ञामबोधयित्वा हलामित्सञ्ज्ञाबोधनं पाणिनेरयुक्तम्। न च 'हयवर' इत्यादेरावृत्त्या 'शषसर्' इत्यन्तं समुदायमुद्दिश्य 'हल्' इत्यनेन हल्सञ्ज्ञाऽपि विधेयेति वाच्यम्। दशसूत्राऽऽवृत्तौ गौरवात्।

ननु 'उपदेशे इदन्त्यम्, अच्, अनुनासिकः' इति सूत्रत्रयमस्तु, अजित्यनन्त्यार्थम्, तृतीयेऽजित्यनुवृत्तिसामर्थ्यादच्चेदिद्भवति तर्ह्यनुनासिक एवेति नियमाश्रयणादरु-

प्रभृतौ न दोषः, योगविभागसामर्थ्याच्चानन्तरस्येति न्यायं बाधित्वा व्यवहितस्यापि तेन नियमः, 'मिदचोन्त्यात्' इति ज्ञापकाच्च न विपरीतनियमः, एवञ्च हल्ग्रहणमपि व्यर्थमन्योन्याश्रयश्च न।

"हलन्त्यम्" सूत्र में जो अन्योन्याश्रय दोष पड़ता है, जिसका समाधान भट्टोजिदीक्षित ने "हलन्त्यम्" सूत्र की आवृत्ति करके किया है, उस प्रसंग को प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं— "स्यादेतत्" इत्यादि।

यहाँ "स्यात्" पद में लिङ् लकार संभावना अर्थ में हुआ है, इसलिए इसका अर्थ होता है कि अन्योन्याश्रय दोष के निराकरण के लिए ये वक्ष्यमाण उपाय भी हो सकते हैं। इन वक्ष्यमाण उपायों पर चर्चा करने से पहले यह विचार करना आवश्यक है कि "अन्योन्याश्रय दोष क्या चीज है और वह "हलन्त्यम्" सूत्र में कैसे पड़ता है? इस सन्दर्भ में जब "हलन्त्यम्" सूत्र की व्याख्या करने चलते हैं तब उसमें आया हुआ "हल्" यह पद सन्देह का केन्द्रबिन्दु बन जाता है। इस हल् पद से वर्णसमाम्नाय का चौदहवाँ "हल्" सूत्र लिया जाय अथवा "हल्" धातु लिया जाय अथवा "हकारादि लान्त समुदाय का बोधक "हल्" प्रत्याहार लिया जाय? इन तीन विकल्पों में "हल्" यह चौदहवाँ सूत्र तथा हल् धातु इन दोनों का ग्रहण यहाँ नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि इन दोनों का ग्रहण करने पर विभक्तिस्थ तवर्ग, सकार और मकार की इत्संज्ञा तो "हलन्त्यम्" सूत्र से प्राप्त ही नहीं रहेगी, तो इनकी इत्संज्ञा को रोकने के लिए "न विभक्तौ तुस्माः" सूत्र की क्या आवश्यकता रह जाती है। इस प्रकार यह सूत्र व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए "हलन्त्यम्" सूत्र में हल् सूत्र तथा हल् धातु का ग्रहण न करके हल् प्रत्याहार का ग्रहण किया जाता है। इस हल् प्रत्याहार का ज्ञान "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र से होता है। किन्तु यह ज्ञान भी तब होगा जब "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र के वाक्यार्थबोध में उपजीव्य इत् पदार्थ का ज्ञान हो। इत् पदार्थ का ज्ञान "हलन्त्यम्" सूत्र से ही होता है।

इस प्रकार देखा गया कि "हलन्त्यम्" सूत्र के वाक्यार्थबोध में जिस हल् पदार्थ के ज्ञान की आवश्यकता है उस हल् पदार्थ का ज्ञान "आदिरन्त्येन" सूत्र के अधीन है और "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र के वाक्यार्थबोध में अपेक्षित इत् पदार्थ का ज्ञान "हलन्त्यम्" सूत्र के अधीन है। इस प्रकार "हलन्त्यम्" तथा "आदिरन्त्येन सहेता" ये दोनों अपने-अपने वाक्यार्थबोध के लिए एक-दूसरे की अपेक्षा करते हैं। इस प्रकार "परस्परापेक्षत्वरूप या स्वज्ञप्त्यधीनज्ञप्तिकत्व रूप अन्योन्याश्रय दोष यहाँ उपस्थित होता है।

इस अन्योन्याश्रय को हटाने के लिए दीक्षित ने "हलन्त्यम्" सूत्र की आवृत्ति कर दी और आवृत्त "हलन्त्यम्" सूत्र में "हलः अन्त्यम्" इस प्रकार षष्ठीसमास करके "हल्" सूत्र के लकार की इत् संज्ञा की। परिणाम यह हुआ कि इत् पदार्थ का ज्ञान होने से "हल्" प्रत्याहार की सिद्धि हुई, जिससे "हलन्त्यम्" का वाक्यार्थबोध हुआ। फलस्वरूप अन्योन्याश्रय का निराकरण हुआ।

नागेश भट्ट इन बातों को सन्दर्भित करते हुए अन्योन्याश्रय मिटाने के सम्भावित अन्य उपायों को प्रदर्शित करते हुए कह रहे हैं कि "न विभक्तौ तुस्माः" इस सूत्र के सार्थक होने के लिए "हलन्त्यम्" सूत्र का "उपदेशेऽन्त्यं हल् इत् स्यात्" अर्थात् "उपदेश अवस्था में अन्त्य

जो हल् उसकी इत् संज्ञा होती है" ऐसा अर्थ करना आवश्यक है। ऐसा अर्थ करने पर "हलन्त्यम्" और "आदिरन्त्येन सहेता" ये दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हो जाते हैं, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। इसलिए पाणिनि को यह चाहिए था कि वे पहले लकार की इत्संज्ञा का विधान किये होते जिससे हल् प्रत्याहार की सिद्धिपूर्वक "हलन्त्यम्" का वाक्यार्थबोध सम्पन्न हो सके, किन्तु उन्होने ऐसा न करके हल् की इत् संज्ञा का विधान पहले किया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि बिना हल् पदार्थ के ज्ञान के उसकी इत्संज्ञा कैसे होगी? इत् संज्ञा से पूर्व उद्देश्य रूप में हल् का ज्ञान होना आवश्यक है। इस हल् का ज्ञान इत् पदार्थ के ज्ञानाधीन है और इत् पदार्थ का ज्ञान हल् पदार्थ के ज्ञानाधीन है। इस प्रकार एक के दूसरे पर आश्रित रहने के कारण अन्योन्याश्रयदोष पड़ता है, जिससे उक्त दोनों सूत्रों में किसी का भी वाक्यार्थबोध नहीं हो रहा है।

यदि कहा जाय कि "हयवरट्" सूत्र से लेकर "हल्" सूत्र तक दश सूत्रों की आवृत्ति करके आवृत्त "हयवरट्" से लेकर "शषसर्" तक के इन नौ सूत्रों की "हल्" इस दशवें (चौदहवें) सूत्र से "हल्" संज्ञा का विधान किया जायेगा। इस प्रकार हल् पदार्थ का ज्ञान हो जाने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा। नागेश भट्ट इस बात से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि इस प्रकार दश सूत्रों की आवृत्ति करने में गौरव होता है। अतः यह कथन ठीक नहीं है।

अन्योन्याश्रय दोष के परिहार के लिए कुछ लोगों का कहना है कि "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" और "हलन्त्यम्" इन दोनों सूत्रों के स्थान पर "उपदेश इदन्त्यम्", "अच्", "अनुनासिकः" इस प्रकार तीन सूत्र किये जायेंगे। इनमें पहले सूत्र से उपदेशे में अन्त्य वर्ण की इत् संज्ञा होगी। वह अन्त्य वर्ण अच् हो या हल्, सबकी इत् संज्ञा होगी। अब हल् पदार्थ के ज्ञान की आवश्यकता पूर्व की भाँति है ही नहीं, जिससे अन्योन्याश्रय दोष की आपत्ति हो सके। कारण कि अब तो उपदेश में अन्त्य वर्ण की इत् संज्ञा की जा रही है। इसमें किसी प्रत्याहार के ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। इस सूत्र से णकार आदि अन्त्य वर्णों की इत्संज्ञा हो जाने से अण्, अच् आदि प्रत्याहारों की सिद्धि हो जायेगी। दूसरा सूत्र "अच्" है। इससे उस अच् वर्ण की इत् संज्ञा होगी जो अच् अनन्त्य हैं अर्थात् अन्त में नहीं हैं। यहाँ यह शंका नहीं की जा सकती कि यहाँ प्रथम सूत्र से भू, रु, श्रु इत्यादि अजन्त धातुओं के अन्त्य अच् की इत् संज्ञा क्यों नहीं होगी? यदि कहिए कि इनकी इत् संज्ञा का कोई फल नहीं है, इसलिए इत् संज्ञा नहीं होगी तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि "स्वरतिसूतिसूयति" इत्यादि सूत्र तथा "उदितो वा" इस सूत्र से वैकल्पिक इट् का विधान ही यहाँ फल हो सकता है। किन्तु यह शंका यहाँ इसलिए निराकृत हो जायेगी कि तृतीय सूत्र जो "अनुनासिकः" है, उसका कार्य पूर्व दोनों सूत्रों से ही चल सकता है तो उसकी क्या आवश्यकता है? इस प्रकार यह तीसरा सूत्र व्यर्थ होकर नियम करेगा कि "अच् की इत् संज्ञा हो तो वह अनुनासिक की ही हो"। उक्त धातुओं के अच् अनुनासिक नहीं हैं, इसलिए उनकी इत् संज्ञा नहीं होगी। यहाँ यह बात भी ध्यान देने की है कि इस "अनुनासिकः" सूत्र में पूर्वसूत्र से अच् की अनुवृत्ति आती है, जिससे यह भी अनुनासिक अच् की ही इत् संज्ञा करता है। उपर्युक्त प्रकार से व्यर्थ होकर जब इसने नियम कर दिया तो रु प्रभृति धातुओं का दोष नहीं रह जाता है।

यदि कहा जाय कि जहाँ शुद्ध नियम होता है वहाँ विपरीत नियम भी सम्भावित होता है। ऐसी स्थिति में यहाँ "अनुनासिक:" यह सूत्र "अनुनासिक की इत् संज्ञा हो तो अच् की ही हो" ऐसा विपरीत नियम क्यों नहीं करेगा? तो इसका उत्तर यह है कि यदि ऐसा विपरीत नियम होगा तो हल् वर्ण मकार, ञकार आदि की इत् संज्ञा होगी ही नहीं। ऐसी स्थिति में मित् आगम को अन्त्य अच् से पर में करने वाला "मिदचोऽन्त्यात् परः" यह सूत्र तथा ञित् णित् प्रत्यय पर में रहने पर अच् को वृद्धि करने वाला "अचो ञ्णिति" ये सूत्र व्यर्थ हो जायेंगे और ज्ञापन करेंगे कि यहाँ विपरीत नियम नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि "अनुनासिक:" सूत्र के पास में "अचः" यही सूत्र है, इसलिए "अनन्तरस्य विधिर्भवति प्रतिषेधो वा" इस नियम के आधार पर "अनुनासिक:" सूत्र का नियम अपने अनन्तर सूत्र "अचः" के लिए ही होगा, न कि "उपदेशे इदन्त्यम्" के लिए भी। ऐसी स्थिति में इस प्रथम सूत्र से रु प्रभृति अजन्त धातुओं के अच् की इत् संज्ञा की आपत्ति यथावस्थित रह जाती है? इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि यदि "अनुनासिक:" सूत्र का नियम केवल "अच्" सूत्र पर ही लागू होता तो "अजनुनासिक:" ऐसा एक ही योग कर दिये होते। अलग-अलग "अच्" और अनुनासिक:" ये दो सूत्र क्यों बनाये जाते? इसलिए इस योगविभाग के सामर्थ्य से "अनन्तरस्य विधिः प्रतिषेधो वा" इस न्याय को बाध कर "अनुनासिक:" सूत्र का नियम व्यवहित सूत्र "उपदेशे इदन्त्यम्" के लिए भी लागू होगा। इसलिए रु इत्यादि धातुओ में इस सूत्र से भी इत् संज्ञा की आपत्ति नहीं रह जाती है।

एवञ्च = उपर्युक्त विवेचन से 'हल् ग्रहण अनावश्यक होने के कारण व्यर्थ है और अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं पड़ता है। इसलिए सूत्रत्रयात्मक योग करना उचित है।

न च पाणिनिसूत्रभेदे पारायणादावदृष्टहानिः। तथा च तत्र तत्र भाष्यम्—'अपाणिनीयन्तु भवति'—इति वाच्यम्। कल्प्यमानन्यासस्य लघुत्वेऽस्यादोषत्वात्। 'सूत्रभेदं तमुपाचरन्ति यत्र तदेवाऽन्यत् सूत्रं क्रियते भूयो वा, यदि तदेवोपसंहृत्य क्रियते नासौ सूत्रभेदः' इति, 'अच उपसर्गात्तः' इति सूत्रभाष्यात्। नासौ सूत्रभेदः इत्यस्य दोषाय इति शेषः। सति सम्भवे दृष्टद्वारैवाङ्गानामदृष्टार्थत्वमिति तदाशयः। अत एव तत्र तत्र ज्ञापकपरसकलभाष्योच्छेदो नेति चेन्न। योगविभाग-नियमज्ञापकाश्रयणेऽतिगौरवात्। न हि वर्णाभिव्यक्तिजनककण्ठाद्यभिघात-गौरवमेवादर्त्तव्यं, न तु ज्ञानजनकमनोव्यापारगौरवमिति राजाज्ञाऽस्ति। न च सह आ समन्ताद् एति गच्छतीति सहेता मध्यमो वर्ण इत्यर्थ इति, अतो नान्योन्याश्रय इति वाच्यम्। अन्योन्याश्रयतत्परिहारादीन् वदता भाष्यकारेण 'कटी' 'वी' इत्यत्र प्रश्लिष्टात 'ईङ् गतौ' इत्यतश्च सहआङ्पूर्वात्तृजभावबोधनात्। किञ्च योगमर्यादया तत उक्तार्थालाभः। आ समन्तादित्यस्यानन्वितार्थत्वं व्यर्थत्वञ्च। रूढौ तु न मानमतः सूत्रावृत्त्या तं परिहरति—हलन्त्यमिति।

यदि कहा जाय कि इस प्रकार पाणिनि के सूत्रों का भेद करने से, उनके पारायण से जो अदृष्ट (पुण्य) की प्राप्ति होती थी, उसकी हानि होगी; क्योंकि भाष्यकार ने भी जहाँ इस प्रकार

का प्रसंग आया है वहाँ कहा है कि ऐसा करने से अपाणिनीयता होगी, जो अनार्ष होने के कारण पुण्यजनक नहीं हो सकती। ऐसा कहने पर सूत्रत्रय (उपदेशे इदन्त्यम्, अच्, अनुनासिकः) का वादी कहता है कि यदि कल्प्यमान न्यास पूर्वन्यास की अपेक्षा लघु हो रहा हो तो अस्य = अपाणिनीयत्व का होना कोई दोष नहीं है। विचार करने पर विदित होता है कि "हलन्त्यम्" और "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इन दोनों सूत्रों में जितने पद हैं उनकी अपेक्षा इन तीन सूत्रों का जो न्यास है, उसमें हल् का ग्रहण नहीं करना पड़ रहा है। यह एक लाघव ही है। सूत्रभेद तो तम् = उसे उपाचरन्ति = कहते हैं जहाँ तदेव = उतना ही बड़ा सूत्र अन्यत् = सन्निवेश बदलकर रूपान्तर में किया जाता है। अथवा भूयो वा = उससे बड़ा सूत्र बनाया जाता है वहाँ भी सूत्रभेद कहा जाता है। यदि उसी सूत्र को उपसंहृत्य = संक्षिप्त करके छोटे प्रमाण का (आकार का) कर दिया जाता है तो वह सूत्रभेद दोषाधायक नहीं होता। यह बात "अच उपसर्गत्तः" सूत्र के भाष्य में कही कई है। यदि कहा जाय कि ऐसे सूत्रभेद से अदृष्ट की सिद्धि का नहीं होना तो दोष है ही, तो इसके उत्तर में कह रहे हैं कि सति सम्भवे = यथासम्भव दृष्टफल के द्वारा ही अङ्ग की अदृष्टार्थता होती है। यदि अङ्गों की (वेदाङ्ग की) शुद्ध अदृष्टार्थता ही स्वीकृत होती तो यह बात कही जा सकती थी कि अपाणिनीय होने से अदृष्टफल नहीं होगा, किन्तु यह बात है नहीं। "नासौ सूत्रभेदो दोषाय" इस भाष्योक्ति से स्पष्ट होता है कि यदि लाघव होता हो तो वहाँ सूत्रभेद दोषजनक नहीं होता है। इस भाष्य से यह संकेत मिलता है कि लाघव रूप दृष्ट फल मिलने पर भाष्यकार ने अदृष्ट की अनुत्पत्ति को दोष नहीं माना। अर्थात् आनुपूर्वी के भिन्न होने पर भी यदि दृष्ट फल मिल रहा है तो वहाँ अदृष्ट फल भी है, ऐसा समझना चाहिए। अत एव = दृष्ट द्वारा ही अङ्ग अदृष्टफलजनक होते हैं, यह बात स्वीकार करने से ही भाष्यकार द्वारा पाणिनि के सूत्रों से अथवा सूत्रघटक पदों से जहाँ कहीं कुछ ज्ञापन किया है उस ज्ञापकपरक भाष्य का उच्छेद नहीं होता है।

यदि अदृष्ट फल के लिए पाणिनि के निर्देश आवश्यक हैं तो उन्हें व्यर्थ करके उनसे ज्ञापन करना कहाँ तक उचित होता? इसलिए इस सन्दर्भ में यही समझना चाहिए की दृष्टफल के द्वारा ही अङ्ग अदृष्टफलक होते हैं। उदाहरण के लिए "अभ्यासस्यासवर्णे" इस सूत्र से अथवा इस सूत्र के असवर्ण ग्रहण से "वार्णादाङ्गं बलीयो भवति" इस परिभाषा को ज्ञापित किया गया है। यदि यह सूत्र या इसका असवर्ण पद ये अदृष्टफल के लिए आवश्यक होते तो इन्हें व्यर्थ करना और उससे उक्त परिभाषा का ज्ञापन करना ये सारी बातें असंगत हो जातीं। जब दृष्टफल के द्वारा अदृष्टफलार्थ मानने की बात स्वीकृत कर ली जाती है तो यहाँ कहा जा सकता है कि "अभ्यासस्यासवर्णे" सूत्र का दृष्ट फल तो परिभाषा हो गई और इसी के द्वारा यह सूत्र अदृष्टफलक भी होता है।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि भाष्यकार ने "इको यणचि" सूत्र में कहा है कि पाणिनि के कुछ पद तो ऐसे हैं जिनका फल शुद्ध अदृष्ट है और कुछ का फल दृष्टादृष्ट है। सर्वथा अनर्थक यहाँ कुछ भी नहीं है। "अच उपसर्गात्तः" इस सूत्र में वे अङ्गों की अदृष्टार्थता दृष्ट द्वारा ही व्यक्त कर रहे हैं। ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। इस शंका के उत्तर में विवेचकों

का कहना है कि "इको यणचि" सूत्र का भाष्य एकदेशी है और "अच उपसर्गात्तः" सूत्र का भाष्य सिद्धान्ती है। इसलिए परस्पर विरोध का कोई प्रश्न नहीं है।

इस उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि "उपदेशे इदन्त्यम्", "अच्", "अनुनासिकः" इन सूत्रों वाले न्यास में हल्ग्रहण नहीं करना पड़ता है। इस लाघव के साथ अन्योन्याश्रय की आपत्ति भी नहीं होती। इसलिए लाघवात् यही न्यास करना चाहिए। नागेश भट्ट इस बात से सहमत नहीं है। वे कह रहे हैं इस प्रकार के न्यास में "अच्" और "अनुनासिकः" का पृथक्-पृथक् योग करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त "अच्" सूत्र से कार्य चल सकता था तो फिर "अनुनासिकः" योग की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार अनुनासिक योग व्यर्थ होकर नियम करता है कि अच् की इत्संज्ञा हो तो अनुनासिक की ही हो। इसके बाद विपरीत नियम का वारण करना तथा योगविभागसामर्थ्य से 'अनन्तरस्य" इस नियम का बाध करके व्यवहित के लिए भी नियम करना—ये समस्त कार्य सूत्रत्रयवादी को करने पड़ते हैं। इस प्रकार इस पक्ष में अतिगौरव होता है। इस पक्ष में हल्ग्रहण न करने का जो लाघव दिखाया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि हल् शब्द के उच्चारण में जो वर्ण की अभिव्यक्ति का जनक कण्ठ-तालु आदि स्थानों का अभिघात है वही गौरव गौरव है और योगविभाग, नियम तथा विपरीत नियम का वारण करना इत्यादि जो मनोव्यापार रूपी गौरव हो रहा है, वह गौरव नहीं है; ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है। उच्चारणप्रयुक्त गौरव तो गौरव कहा जाय किन्तु मनोव्यापार रूपी गौरव को गौरव न माना जाय ऐसा कोई राज्यादेश नहीं है। इसलिए तीन सूत्र करने वाले का मत अतिगौरवग्रस्त होने से अमान्य है।

अन्योन्याश्रय दोष को दूर करने के लिए कोई मतान्तर प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि "आदिरन्त्येन सहेता" इस सूत्र का अर्थ ऐसा किया जायेगा जिससे अन्योन्याश्रय की आपत्ति नहीं होगी। अन्योन्याश्रय की समस्या तो तब खड़ी होती है जब 'इता' इस पद में आये हुए "इत्" शब्द से इत्संज्ञक का ग्रहण किया जाता है। अब ऐसा न करके "सहेता" यह एक स्वतन्त्र पद 'सहेतृ' शब्द का प्रथमा के एकवचन में माना जायेगा। इसकी सिद्धि इस प्रकार होती है—"कटी" धातु अथवा "वी" धातु में प्रश्लिष्ट 'इ' धातु से कर्ता अर्थ में तृच् प्रत्यय और इकार को गुण करके "एतृ" शब्द बनाया जायेगा। इससे पूर्व में "सह" और "आ" इन दोनों को रखा जायेगा। इस प्रकार "सह + आ + एतृ" इस स्थिति में "एङि पररूपम्" सूत्र से "आ" इस उपसर्ग का पररूप कर दिया जायेगा। इसके बाद "सह + एतृ" इस स्थिति में "ओमाङोश्च" सूत्र से पररूप करके "सहेतृ" शब्द का प्रथमा के एकवचन में "सहेता" यह रूप निष्पन्न किया जायेगा। "ओमाङोश्च" सूत्र से पररूप करने के लिए ही बीच में आङ् का सन्निवेश किया गया है। अन्यथा यहाँ वृद्धि का प्रसंग हो जाता है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि यहाँ "इङ् अध्ययने" या "इक् स्मरणे" धातुओं को न लेकर प्रश्लिष्ट "इ" धातु का ग्रहण क्यों किया गया है? तो इसका उत्तर यह है कि दोनों धातु नित्य ही अधिपूर्वक प्रयुक्त होते हैं। इसलिए इनका स्वतन्त्र प्रयोग न होने के कारण इन दोनों का ग्रहण यहाँ नहीं किया गया। इसी प्रकार "इण् गतौ" का भी ग्रहण यहाँ इसलिए नहीं किया गया कि उससे बने हुए "एतृ" शब्द के पर में रहने पर "सह + एतृ" इस स्थिति में "एत्येधत्यूठ्सु" सूत्र से वृद्धि होने लगती।

इस प्रकार "सहेता" यह रूप उपर्युक्त प्रकार से बनाने पर इसका अर्थ इस प्रकार होगा— "सह-आ = समन्तात् एति गच्छतीति = बुद्धिविषयो भवतीति सहेता मध्यमो वर्णः"। यह सहेता शब्द योगरूढ़ है। योगशक्ति से "सह एति" इस योगार्थ की प्रतीत होती है और रूढ़ि शक्ति से मध्यम वर्ण का बोध होता है। सहेता ऐसा अर्थ करने के बाद "आदिरन्त्येन" सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है—"सहेता = मध्यमो वर्णः, अन्त्यसहितादिसंज्ञकः (अणादिसंज्ञकः) स्यात्"। यहाँ सहेता (मध्यम वर्ण) संज्ञी हैं और आद्यन्त यह संज्ञा है। आदि और अन्त्य के साथ मध्यम वर्ण की एकबुद्धिविषयता होने के कारण जिस प्रत्याहार की अपेक्षा होगी उसके आदि और अन्त्य वर्ण को लेकर उनके मध्यपाती वर्णों का बोध करने से अच्, हल् आदि संज्ञाओं का परिज्ञान हो जाने के कारण "हलन्त्यम्" सूत्र के वाक्यार्थबोध के लिए हल् पदार्थ का ज्ञान सम्भव हो जाने से अन्योन्याश्रय का कोई प्रश्न ही नहीं होता।

नागेश भट्ट इस बात से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि उपर्युक्त प्रकार से सहेता शब्द की सिद्धि करके अन्योन्याश्रय न पड़ने की जो बात कही जा रही है वह ठीक नहीं है, क्योंकि भाष्यकार ने "हलन्त्यम्" सूत्र में अन्योन्याश्रय को माना है और उसका परिहार भी किया है। यदि उक्त प्रकार से यहाँ अन्योन्याश्रय है ही नहीं तो भाष्यकार का अन्योन्याश्रय मानना और उसका परिहार करना ये सारी बातें असंगत हो जायेंगी। इसलिए भाष्यकार के अनुसार यही स्वीकार करना चाहिए कि "कटी" धातु और "वी" धातु में प्रश्लिष्ट 'इ' धातु से अथवा "ईङ गतौ" इस दैवादिक धातु से पूर्व सह और आङ् को रख कर तृच् प्रत्यय नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि "सहेता" पद की योगशक्ति से उक्त अर्थ = मध्यम वर्ण रूपी अर्थ का लाभ भी नहीं होता है। "सहेता" रूप की सिद्धि के लिए जिस "आङ्" का यहाँ प्रयोग किया गया है उसके अर्थ "आसमन्तात्" का न तो यहाँ अन्वय हो रहा है और न कोई उसकी उपयोगिता है। इसलिए "आसमन्तात्" अर्थ यहाँ व्यर्थ ही है। यदि कहा जाय कि "सहेता" पद मध्यम वर्ण में रूढ़ है, तो इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि सहेता शब्द को रूढ़ मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष के परिहार के लिए कोई उपाय न होने के कारण दीक्षितजी ने "हलन्त्यम्" इस सम्पूर्ण सूत्र की आवृत्ति करके इस दोष का परिहार किया है। उन्होंने आवृत्त "हलन्त्यम्" में "हलः अन्त्यम्" ऐसा समास करके "हल्" इस चौदहवें सूत्र के अन्त्य लकार की इत् संज्ञा कर दी। इससे इत् पदार्थ का ज्ञान हो जाने से "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र से "हल्" प्रत्याहार बना दिया जाता है, जिससे "उपदेशऽन्त्यं हल् इत् स्यात्" इस अर्थवाले "हलन्त्यम्" सूत्र का वाक्यार्थबोध हो जाता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष मिट जाता है।

भाष्येऽप्यन्योन्याश्रयमाशङ्क्य—'हलन्त्यमित्सञ्ज्ञं भवति, लकारश्चेद्भवतीति वक्तव्यमि'त्युक्त्वा—'एकशेषनिर्देशाद्वा सिद्धम्, हल् च हल् च हल्—हलन्त्यमित्' इत्युक्तम्। तस्यायं भावः—"कृतैकशेषेण हल्पदेन सम्बन्धसामान्यषष्ठ्या समासोऽन्त्यशब्दस्य च द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्येवोभयत्रान्वयः, एवञ्च हल्सूत्रान्त्यं हल्रूपान्त्यञ्चेति बोधः, अन्त्ये—'राहोः शिर' इतिवत्षष्ठी"ति। अत्रोच्चारयि-

तुरेकशेषनिर्देशो बोद्धुस्त्वावृत्त्या बोधः। 'हसमीपो लकार इत्, हल्रूपान्त्यश्चे'ति कैयटोक्तव्याख्यायान्तु—'हल् इत्सञ्ज्ञं भवति, हलन्त्यश्चेदि'ति वदेदित्यूह्यम्।

भाष्य में भी "हलन्त्यम्" सूत्र में अन्योन्याश्रय की आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि "अन्त्य हल् की इत्संज्ञा होती है और लकार भी इत्संज्ञक होता है" ऐसा कहना चाहिए। ऐसा कह कर फिर सन्देह किया कि यह कार्य कैसे होगा? तो उत्तर दिया कि "एकशेषनिर्देशाद्वा सिद्धम्" अर्थात् यह कार्य "हलन्त्यम्" सूत्र में एकशेष निर्देश से सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि "हलन्त्यम्" सूत्रघटक हल् पद में "हल् च हल् च इति हल्" इस प्रकार एकशेष करके पाणिनि ने हल् का उच्चारण किया है। इसलिए दो हल् पदों के लाभ के लिए हल् की आवृत्ति कर दी जायेगी। सूत्रघटित अन्त्य शब्द का दोनों हल् के साथ उसी प्रकार सम्बन्ध किया जायेगा जैसे द्वन्द्व के अन्त में श्रूयमाण पद का प्रत्येक के साथ अन्वय होता है। इस प्रकार दोनों हल्पदों को अन्त्य के साथ सम्बन्ध करने पर "हलन्त्यम्" "हलन्त्यम्" इस रूप में दो "हलन्त्यम्" सूत्र हो जाते हैं। इन दोनों जगहों पर "हलः अन्त्यम् = हलन्त्यम्" इस रूप में षष्ठीसमास किया जायेगा। यहाँ पर जो षष्ठी है वह सम्बन्धसामान्य में अर्थात् निरूप्यनिरूपकभाव सम्बन्ध में है। इनमें पहले "हलन्त्यम्" का अर्थ होगा कि "हल् जो चौदहवाँ सूत्र है, उसके अन्त्य की इत् संज्ञा हो। इस सूत्र से जब 'हल्' सूत्र के लकार की इत् संज्ञा हो गई तो भाष्यकार के इस कथन कि "लकारश्चेद्भवति" की क्रियान्विति हो गई। इस प्रकार इत् पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र से हल् प्रत्याहार बना दिया जाने पर दूसरा जो "हलन्त्यम्" है उसका अर्थ होता है कि "हल् रूप जो अन्त्य उसकी इत् संज्ञा होती है"। इस प्रकार "हलन्त्यम्" का अन्योन्याश्रय मिटता है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि दोनों "हलन्त्यम्" सूत्रों में निरूप्यनिरूपकभाव अर्थ में षष्ठी करके षष्ठीसमास किया गया है। यह षष्ठीसमास तो उस "हलन्त्यम्" में संगत है जहाँ हलः = अर्थात् "हल्सूत्रस्यान्त्यम् इत्" ऐसा अर्थ करते हैं; क्योंकि वहाँ लकार में हल् सूत्र-निरूपित अन्त्यत्व सुलभ है, किन्तु जिस "हलन्त्यम्" का अर्थ करते है कि हल् रूपी अन्त्य की इत् संज्ञा हो, वहाँ तो अभेद की प्रतीति होने के कारण षष्ठ्यर्थभेद (निरूप्यनिरूपकभाव सम्बन्ध) की प्रतीति किस प्रकार सम्भव है? इस शंका का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार का कहना है—अन्त्ये = उपदेश में अन्त्य हल् की इत् संज्ञा करने वाले "हलन्त्यम्" सूत्र में षष्ठी इस प्रकार हुई है जिस प्रकार "राहोः शिरः" इस वाक्य में होती है। तात्पर्य यह है कि जो राहु है वह शिर से अलग दूसरी कोई चीज नहीं है, किन्तु शिर ही राहु है। ऐसी स्थिति में जब राहु और शिर दोनों अभिन्न हैं तो भेद की ख्यापिका षष्ठी यहाँ कैसे सम्भव है? इसलिए यहाँ षष्ठी उपपन्न होने के लिए राहु में ही स्वनिरूपित अवयवत्व का आरोप किया जाता है। इस प्रकार राहुपदवाच्य में अवयविता और शिरःपदवाच्य में अवयवता उपपन्न होती है, जिससे भेदमूलक षष्ठी यहाँ उपपन्न होती है। इसी प्रकार जहाँ अन्त्य हल् की इत् संज्ञा की बात है वहाँ व्यपदेशिवद्भाव से हल् में ही हल्निरूपित अन्त्यत्व का आरोप करके वास्तविक अभेद में आरोपित भेद के आधार पर षष्ठी कर ली जाती है। इस प्रकार यहाँ अन्त्यत्व में हल्निरूपितत्व की संगति हो जाती है। "हलन्त्यम्" के उच्चारयिता (पाणिनि) ने इस सूत्र के हल् पद का

उच्चारण एकशेष करके किया है, इसलिए 'बोद्धा', आवृत्ति के द्वारा दो हल् पदों का बोध कर लेता है।

अब सन्देह यह होता है कि आपने उक्त व्याख्यान के द्वारा यह सिद्ध तो कर दिया कि भाष्यकार ने हल् में एकशेष को स्वीकार कर हल् पद की आवृत्ति करके दोनों हल् के साथ 'अन्त्यम्' पद का अन्वय किया है। इससे संकेत मिलता है कि सम्पूर्ण "हलन्त्यम्" सूत्र की आवृत्ति में भाष्य का तात्पर्य है। किन्तु कैयट के व्याख्यान से यह बात सिद्ध नहीं हो रही है। कैयट ने प्रासंगिक भाष्य का व्याख्यान करते हुए "हस्य ल् = हल्" इस प्रकार हल् पद का समास करके षष्ठी का अर्थ सामीप्य मान कर कहा कि "हकार के समीप जो लकार है, उसकी इत् संज्ञा होती है"। दूसरे "हलन्त्यम्" का अर्थ किया कि "हल् रूपी जो अन्त्य उसकी इत् संज्ञा होती है"।

ह समीप लकार की इत् संज्ञा करने में कैयट का तात्पर्य "हल्" इस चौदहवें सूत्र के लकार में है। किन्तु कैयट के इस व्याख्यान में हल् का अन्त्य के साथ अन्वय करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। क्योंकि हल् सूत्र का जो अन्त्य है वही हकार के समीप का लकार है। ऐसी स्थिति में कैयट के मतानुसार लकार की इत् संज्ञा करने वाले सूत्र में अन्त्य पद की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इससे विदित होता है कि कैयट सम्पूर्ण सूत्र की आवृत्ति के पक्ष में नहीं है, क्योंकि अन्त्य पद के बिना ही उन्होंने "हल्" सूत्र के लकार की इत् संज्ञा कर दी है।

इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए नागेश का कहना है कि कैयट की व्याख्या भाष्य-सम्मत नहीं है। कारण यह है कि ऊपर विवेचित क्रमानुसार भाष्यकार ने जब दो "हलन्त्यम्" बनाया तो उसमें लकार की इत्संज्ञा के विधायक सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा कि "हल्सूत्रान्त्यमित्"। उन्होंने इस व्याख्या में हल् सूत्र का नामोल्लेख किया है, साथ ही अन्त्य शब्द का भी उल्लेख किया है। यदि कैयट की व्याख्या भाष्याभिमत होती तो भाष्यकार कहते कि "हल् इत्संज्ञंभवति हलन्त्यश्चेत् इति"। हल् की अर्थात् हकार के समीप लकार की इत् संज्ञा होती है और अन्त्य हल् की इत् संज्ञा होती है। किन्तु ऐसा न करके 'हल्' सूत्र का अन्त्य इत्संज्ञक हो, ऐसा कहने से स्पष्ट है कि अन्त्यसहित सम्पूर्ण सूत्र की आवृत्ति में भाष्यकार का तात्पर्य है। दूसरी बात यह है कि कैयट की व्याख्या इसलिए भी असंगत है कि सामीप्य षष्ठी का अर्थ भी नहीं होता है, जैसा कि कैयट ने स्वीकार किया है। यह बात मनोरमा-शब्दरत्न में विस्तार से वर्णित है।

नन्वेवमपि 'न विभक्तावि'ति विभक्तिपदबोद्ध्यसुप्तिङ्बोधो 'हलन्त्यमि'ति वाक्यार्थबोधोत्तरं, तद्बोधश्चापवादवाक्यार्थबोधोत्तरमित्यन्योन्याश्रयस्तदवस्थ एवेति चेन्न, अपवादवाक्यार्थबोधात्पूर्वं पदपदार्थोपस्थितावुत्सर्गवाक्यार्थबोधे प्रतिबन्धकाभावात्। न ह्यभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्येव प्रतियोगिज्ञानेऽभावज्ञानस्य कारणता कस्यापि सम्मता, प्रतियोगिज्ञानं विना निषेधवाक्यार्थासम्भवाच्च।

नन्वेवमपि = इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष दूर करने पर भी अन्योन्याश्रय दोष तदवस्थ ही है, क्योंकि "न विभक्तौ तुस्माः" इस सूत्र के वाक्यार्थबोध में विभक्तिपद के अर्थ का ज्ञान

अपेक्षित है। विभक्ति पदार्थ, जो सुप् और तिङ् है, उसका ज्ञान "हलन्त्यम्" सूत्र के वाक्यार्थबोध के बाद ही सम्भव है। "हलन्त्यम्" सूत्र का वाक्यार्थबोध तब तक नहीं हो सकता जब तक उसके अपवाद "न विभक्तौ तुस्माः" का वाक्यार्थबोध नहीं हो जाता, क्योंकि "प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गः प्रवर्तते" अर्थात् "अपवाद के विषय को प्रकल्प्य = छोड़ कर उत्सर्ग-शास्त्र की प्रवृत्ति होती है" इस नियम के आधार पर "हलन्त्यम्" सूत्र की प्रवृति के पहले उसके अपवाद "न विभक्तौ तुस्माः" का वाक्यार्थबोध होना अपेक्षित है, जिससे "हलन्त्यम्" उसके विषय का परित्याग कर सके। इस प्रकार "हलन्त्यम्" के वाक्यार्थबोध के लिए "न विभक्तौ तुस्माः" के वाक्यार्थबोध की अपेक्षा और "न विभक्तौ" के वाक्यार्थबोध के लिए "हलन्त्यम्" के वाक्यार्थबोध की अपेक्षा होने के कारण परस्परापेक्षत्व रूप अन्योन्याश्रय पुनः तदवस्थ ही है।

यदि कहा जाय कि यहाँ अन्योन्याश्रय दोष न होकर चक्रक दोष है। वह इस प्रकार है— "हलन्त्यम्" का वाक्यार्थबोध "न विभक्तौ" के वाक्यार्थबोध के अधीन है, "न विभक्तौ" का वाक्यार्थबोध" विभक्तिपदार्थकेज्ञानाधीन है, विभक्तिपदार्थ का बोध सुप्तिङ्पदार्थ के ज्ञानाधीन है और सुप्तिङ्पदार्थ का ज्ञान "आदिरन्त्येन सहेता" के वाक्यार्थबोध के अधीन है और इसका वाक्यार्थबोध इत्पदार्थ के ज्ञानाधीन है, तथा इत्पदार्थ का ज्ञान "हलन्त्यम्" सूत्र के अधीन है। इस प्रकार यहाँ चक्रकापत्ति दोष स्पष्ट ही है। ऐसी स्थति में यहाँ चक्रक दोष की चर्चा न कर पुनः अन्योन्याश्रय दोष तदवस्थ है, ऐसा क्यों कहा गया? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि चक्रक दोष हो या अन्योन्याश्रय दोष हो, दोनों जगह "स्वप्रयोज्यप्रयोज्यत्व" रूप ही दोष होता है। एक से प्रयोज्य दूसरा और दूसरे से प्रयोज्य पहला रहता है। "हलन्त्यम्" "न विभक्तौ तुस्माः" और "आदिरन्त्येन सहेता" इन तीनों का वाक्यार्थबोध एक-दूसरे से प्रयोज्य ही है; जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका हे। यही स्थिति अन्योन्याश्रय में भी होती है। इसलिए अन्योन्याश्रय के समान होने के कारण चक्रकदोष में यहाँ अन्योन्याश्रय शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार चक्रकात्मक अन्योन्याश्रय दोष के पुनः उपस्थित होने पर उसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि यदि अपवाद के वाक्यार्थबोध से पहले पदपदार्थ की उपस्थिति हो जाती है तो उत्सर्ग के वाक्यार्थबोध का प्रतिबन्ध नहीं होता। अर्थात् वहाँ उत्सर्ग का वाक्यार्थबोध हो ही जाता है।

अभाव के ज्ञान के लिए जिस प्रकार प्रतियोगी के ज्ञान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रतियोगी के ज्ञान के लिए अभाव के ज्ञान की कारणता किसी को भी सम्मत नहीं है। यह निश्चित है कि प्रतियोगी के ज्ञान के बिना निषेध का वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता। घटाभाव के लिए घट का होना आवश्यक तो है किन्तु घट के लिए घटाभाव का होना आवश्यक नहीं होता। इसी प्रकार यहाँ "न विभक्तौ तुस्माः" के वाक्यार्थबोध के लिए विभक्ति पदार्थ की अपेक्षा रहने पर भी जब "हलन्त्यम्" सूत्रघटक समस्त पदों के अर्थों की उपस्थिति है तो उसका वाक्यार्थ न हो इसमें क्या प्रमाण है? अर्थात् "हलन्त्यम्" के वाक्यार्थबोध के लिए निषेधसूत्र "न विभक्तौ तुस्माः" के वाक्यार्थबोध की कोई आवश्यकता नहीं है।

यदि कहा जाय कि अपवाद के वाक्यार्थबोध के पहले उत्सर्ग के वाक्यार्थबोध के हो जाने से उत्सर्ग सूत्र की लक्ष्यसंस्कारक सार्वत्रिक प्रवृत्ति होने लगेगी और इस क्रम में वह यदि अपवाद के लक्ष्य में भी प्रवृत्त हो जाता है तो "भुक्तवन्तं प्रति मा भुक्था:" इस न्याय के आधार पर अपवादशास्त्र का प्रणयन ही व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए "पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चात् उत्सर्गाः" इस नियम से उत्सर्ग के वाक्यार्थबोध के पहले अपवाद का वाक्यार्थबोध होना आवश्यक ही है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त दोष तदवस्थ ही रह जाता है। इस शंका को दृष्टिगत करके कह रहे हैं—

'पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः' इत्यस्य त्वयं भावः— "लक्षणैकचक्षुष्कस्य उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने सर्वत्रोत्सर्गकृतसंस्कार- बुद्धावुत्सर्गापवादयोर्विषयव्यवस्थानापत्त्या—'भुक्तवन्तम्प्रति मा भुक्था' इति वाक्यस्येव— अपवादशास्त्रवैयर्थ्यापत्त्या चापवादशास्त्रपर्यालोचनेन तद्विषयलक्ष्यसंस्कारं निर्णीय —तदविषयं तत्तल्लक्ष्यं तत्तद्विषयवाक्योपप्लवद्वारोत्सर्गेण संस्करोति, अन्यथा विकल्पापत्तिरि'ति। यद्यपि 'भुक्तवन्तं प्रती'ति न्यायो लुगादिना जातनिवृत्ते-र्व्यभिचरितस्तथापि तत्राप्यनुत्पत्तिरेवेति न दोषः, न्यायानङ्गीकारेऽपि विकल्पापत्तेः सत्त्वाच्च। 'अभिनिविशन्ते' इत्यस्य—बुद्ध्यारूढा भवन्तीत्यर्थः। लक्ष्यैकचक्षुष्कस्तु —तत्तच्छास्त्रपर्यालोचनं विनापि अपवादविषयं परित्यज्योत्सर्गेण लक्ष्यसंस्कारञ्जानीते, तस्यापि शास्त्रप्रक्रियास्मरणपूर्वकप्रयोग एव धर्मोत्पत्तेः। तदुक्तम्—'प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गः प्रवर्तते' इति। प्रकल्प्य = परित्यज्य।

"पूर्वं हि अपवादा अभिनिविशन्ते" इस परिभाषा का यह भाव है कि जो व्यक्ति लक्षणैकचक्षुष्क होता है अर्थात् लक्षण = सूत्र ही लक्ष्य के साधुत्व-ज्ञान का एक मात्र साधन है, जिसके लिए ऐसा लक्षणैकचक्षुष्क व्यक्ति पहले अपवाद के विषय की पर्यालोचना करके, जहाँ उसका विषय नहीं होता ऐसे स्थल का निर्णय करता है। जब उसे निश्चय हो जाता है कि वह अपवाद-शास्त्र का लक्ष्य नहीं है तब ऐसे लक्ष्य का संस्कार उत्सर्गशास्त्र के द्वारा करता है। अन्यथा उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न सारे उद्देश्यों (लक्ष्यों) का संस्कार उत्सर्गशास्त्र के द्वारा ही होगा, ऐसी बुद्धि होने पर यदि अपवादशास्त्र के विषय को भी उत्सर्गशास्त्र का विषय बना लेता है, तब उत्सर्ग और अपवाद के विषय की व्यवस्था न होने के कारण कौन अपवाद का विषय है और कौन उत्सर्ग का विषय है? इस अनिश्चय की स्थिति में अपवाद के विषय में भी उत्सर्ग की प्रवृत्ति हो जायेगी। परिणाम यह होगा कि भोजन किये हुए के प्रति यह कहना कि "भोजन मत करो" यह वाक्य जिस प्रकार निष्प्रयोजन है वैसे ही बाद में यह कहना कि "यह अपवाद का विषय है, यहाँ उत्सर्ग की प्रवृत्ति ठीक नहीं है" व्यर्थ ही होगा। फलस्वरूप अपवादशास्त्र का वैयर्थ्य होने लगेगा। इसलिए उत्सर्गशास्त्र के द्वारा पहले अपवादशास्त्र के विषय का पर्यालोचन करके उसके द्वारा किये जाने वाले लक्ष्य संस्कार का निर्णय किया जाता है। इसके बाद तदविषयम् = अपवादशास्त्र के अविषय लक्ष्यों का संस्कार तद्विषयक वाक्य (उत्सर्गशास्त्रीयवाक्य) के उपप्लव = आवृत्ति के द्वारा उत्सर्गशास्त्र से किया जाता है। व्यक्तिपक्ष में प्रत्येक लक्ष्य

व्यक्ति के लिए लक्षण के उपप्लव की परम्परा है। जैसा कि ण्वुल् और तृच् के लिए होता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो "असति बाधके उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन विधेयान्वयः" इस नियम के आधार पर दोनों शास्त्रों के प्रामाण्य होने के कारण दोनों शास्त्रों (उत्सर्ग और अपवाद) की लक्ष्य में पर्यायेण प्रवृत्ति होने पर वहाँ विकल्पापत्ति = पर्यायापत्ति रूप दोष होने लगेगा। यहाँ विकल्पापत्ति का अर्थ पर्यायापत्ति किया गया है, क्योंकि ऐसे स्थलों पर यदि उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति पहले हो जाती है तो वहाँ अपवादशास्त्र की प्रवृत्ति बाद में सम्भव ही नहीं होगी। इसलिए पर्यायेण वहाँ दोनों की प्रवृत्ति होने से पर्यायतापत्ति रूप दोष होगा।

यद्यपि लुक् आदि के द्वारा जात की अर्थात् किये गये की निवृत्ति होने के कारण "भुक्तवन्तं प्रति" इस न्याय का व्यभिचार = प्रभावहीनता देखी गई है। अन्यथा जो लक्ष्य में कर दिया गया उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु निवृत्ति देखी जाती है। इसलिए "भुक्तवन्तं प्रति" यह न्याय व्यभिचरित है तथापि जहाँ लुक् से किसी की निवृत्ति होती है वहाँ निवृत्ति का तात्पर्य उसकी अनुत्पत्ति में ही होने के कारण कोई दोष नहीं है।

नागेश भट्ट पहले कह आये हैं कि लक्षणैकचक्षुष्क व्यक्ति यदि उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति कर देता है तो "भुक्तवन्तं प्रति" इस न्याय से अपवादशास्त्र की व्यर्थता होने लगती है। अब इस न्याय को व्यभिचरित बता कर यह कहना चाहते हैं कि उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति सब जगह हो जाने पर भी जब अपवादशास्त्र का अवसर आयेगा तो उत्सर्ग से किये गये कार्य की निवृत्ति हो सकती है, किन्तु वहाँ निवृत्ति का तात्पर्य उस कार्य की अनुत्पत्ति मानने से कोई दोष नहीं होता। उदाहरण के लिये "सेर्ह्यपिच्च" इस सूत्र से विधेय 'हि' का "अतो हेः" सूत्र से जो लुक् होता है उसका तात्पर्य यह है कि "सेर्ह्यपिच्च" सूत्र लोट्स्थानिक 'सि' के स्थान पर अदन्ताङ्गाव्यवहितोत्तर अभावविशिष्ट "हि" का विधान करता है। अर्थात् यहाँ "हि" की उत्पत्ति होती ही नहीं है। इसलिए ऐसे स्थलों पर निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं होता।

वास्तव में लुक् के द्वारा आदेश की अनुत्पत्ति की बात कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "हलन्त्यम्" और "न विभक्तौ तुस्माः" "इको यणचि" और "अकः सवर्णे दीर्घः" इन उत्सर्ग और अपवादों के स्थल से लुक् की स्थिति भिन्न होती है। वहाँ उत्सर्ग और अपवाद भाव रहता ही नहीं है। इसलिए उत्सर्ग और अपवाद स्थल की व्यवस्था यही माननी चाहिए कि ऐसे स्थलों पर "इको यणचि" इत्यादि उत्सर्गसूत्र "अकः सवर्णे दीर्घः" जैसे अपवादशास्त्र को पहले बुद्ध्यारूढ मात्र करके "श्रीशः" जैसे उसके लक्ष्यों को छोड़कर "सुद्ध्युपास्यः" जैसे लक्ष्यों का संस्कार अपने वाक्यों का उपप्लव = आवृत्ति करके करते हैं। इस प्रकार देखा गया कि उत्सर्ग के वाक्यार्थबोध के लिए पहले अपवाद के वाक्यार्थबोध की कोई आवश्यकता नहीं है। अपवादशास्त्र केवल बुद्ध्यारूढ़ होते हैं। इसलिए "पूर्वं ह्यपवादाः" इस न्याय के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि "हलन्त्यम्" सूत्र के वाक्यार्थबोध के लिए उससे पहले "न विभक्तौ" का वाक्यार्थबोध अपेक्षित है और उसकी अपेक्षा के कारण अन्योन्याश्रय दोष तदवस्थ है।

न्यायानङ्गीकारेऽपि = यदि "पूर्वं ह्यपवादाः" इस न्याय को स्वीकार नहीं किया जाता है तो भी उक्त प्रकार से जैसा कि पहले कहा जा चुका है—उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन उद्देश्य

मात्र के लिए "श्रीशः" जैसे प्रयोगों के लिए "इको यणचि" और "अकः सवर्णे दीर्घः" दोनों सूत्रों के उपप्लव होने के कारण दोनों की प्रवृत्ति होने से विकल्प की आपत्ति हो ही जायेगी। यहाँ "अभिनिविशन्ते" इस पद का अर्थ है—बुद्ध्यारूढ़ होना अर्थात् बुद्धि का विषय होना। इस प्रकार लक्षणैकचक्षुष्क व्यक्ति अपवादशास्त्र का ज्ञानमात्र करके उसके विषय को छोड़कर उत्सर्गशास्त्र से लक्ष्य का संस्कार करता है। इसलिए उत्सर्ग के वाक्यार्थबोध के लिए अपवाद के वाक्यार्थबोध की अपेक्षा न होने के कारण अन्योन्याश्रय नहीं होता है।

लक्ष्यैकचक्षुष्क व्यक्ति की दृष्टि तो लक्ष्य पर ही रहती है। उसके लिए किसी शास्त्र के पर्यालोचन की आवश्यकता रहती ही नहीं। वह लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसके योग्य लक्षण की प्रवृत्ति करके लक्ष्य की सिद्धि कर लेता है। इस प्रकार वह "तच्छास्त्रपर्यालोचनं विनैव" = अपवादशास्त्र की पर्यालोचना के बिना ही उसके विषय को छोड़ कर उत्सर्गशास्त्र से लक्ष्य की सिद्धि करता है। इसलिए इस पक्ष में उत्सर्ग के वाक्यार्थबोध के पहले अपवाद के वाक्यार्थबोध की अपेक्षा न रहने के कारण "हलन्त्यम्" और "न विभक्तौ तुस्माः" इन सूत्रों के सन्दर्भ में अन्योन्याश्रय दोष का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

यदि कहा जाय कि लक्ष्यैकचक्षुष्क व्यक्ति को जब लक्षण की अपेक्षा रहती ही नहीं तब वह उत्सर्गशास्त्र से लक्ष्य का संस्कार क्यों करता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि तस्यापि = उस लक्ष्यैकचक्षुष्क व्यक्ति की भी शास्त्रसम्बन्धी प्रवृत्ति इसलिए होती है कि शास्त्र की प्रकिया के स्मरणपूर्वक शब्द का प्रयोग करने से ही धर्म की उत्पत्ति होती है। तदुक्तम् = जैसा कि कहा गया है—"प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गः प्रवर्तते" इति। यहाँ "ततः" इस पद की पञ्चमी प्राक् शब्द के योग में है। इसलिए इसका अर्थ है कि अपवाद- शास्त्र की पर्यालोचना से पहले ही उसके विषय को प्रकल्प्य = छोड़ कर उत्सर्गशास्त्र प्रवृत्त होता है। यहाँ प्रकल्प्य का अर्थ 'परित्यज्य' इसलिए किया गया है कि यदि प्रकल्प्य का अर्थ "बुद्ध्यारूढ़ करके" ऐसा किया जाय तो "लक्षणैकचक्षुष्क के लिए स्वीकृत परिभाषा "पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते" इससे प्रस्तुत परिभाषा "प्रकल्प्य चापवादविषयम्" का कोई भेद ही नहीं होगा। क्योंकि ऐसी स्थिति में दोनों समानार्थक हो जायेगीं।

कैयट ने इस प्रकल्प्य पद का अर्थ "सम्पाद्य" किया है। अर्थात् उत्सर्गशास्त्र अपवाद के विषय को बना कर प्रवृत्त होता है। नागेश भट्ट कैयट की व्याख्या से असहमत हैं। अपनी असहमति वे इस प्रकार कह रहे हैं।

यत्तु—'प्रकल्प्य चे'त्यस्यायमर्थः—"यथा 'न सम्प्रसारणे' इति वचनात्परस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणं, पूर्वस्य तु तन्निमित्तः प्रतिषेधः" इति—अभ्यस्तसञ्ज्ञासूत्रे कैयटः, तन्न; 'न सम्प्रसारणे' इति सूत्रस्थभाष्यविरोधात्। तत्र हि 'एतदेव ज्ञापयति परस्य—न पूर्वस्येति, यद्वा सम्प्रसारणाश्रयस्य प्रतिषेधः—' इत्याद्युक्तम्। न हि न्यायेन सिद्धे एवमुक्तिरुचिता, तस्मान्न्यायस्य मदुक्त एव विषय इति बोद्धव्यम्। यदपि—'अपवादवाक्यार्थं विना नोत्सर्गवाक्यार्थ इति तदर्थः' इति, तदपि न उक्तयुक्तेः। 'न विभक्तौ तुस्माः' इति शास्त्रस्थतुस्मपदार्थज्ञानमात्रेण पादीनामेव

तद्विषयत्वाभावबुद्ध्या तेषु हलन्त्यसूत्रप्रवृत्त्या सुप्तिङ्रूपविभक्तिपदार्थज्ञानं सुलभमिति दिक्। अत्राप्युपदेश इति सम्बद्ध्यते, तद्बललभ्यार्थमाह—सूत्रे इति।

कैयट ने "प्रकल्प्य च" इस प्रतीक को लेकर कहा कि यहाँ प्रकल्प्य पद का अर्थ सम्पाद्य अर्थात् बनाकर है। जैसे युवन् शब्द से शस् विभक्ति लाने पर "न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्" इस सूत्र के सार्थक्य के लिए पहले परयण् वकार को सम्प्रसारण "श्वयुवमघोनामतद्धिते" सूत्र से होता है। इसके बाद पूर्वयण् यकार को इसी सूत्र से प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध "न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्" सूत्र से किया जाता है, जिससे "यूनः" प्रयोग की सिद्धि होती है। यहाँ यदि परयण् को पहले सम्प्रसारण नहीं किया जाता तो पूर्वयण् को प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध भी नहीं होता। इस प्रकार अपने निषेधशास्त्र "न सम्प्रसारणे" के विषय को उत्सर्गशास्त्र = सम्प्रसारण-विधायक शास्त्र पहले सम्पादित कर देता है, उसी प्रकार अपवाद के विषय को बना कर उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। यह बात कैयट ने अभ्यस्तसंज्ञाविधायक "उभे अभ्यस्तम्" (६।१।५) सूत्र में कही है।

किन्तु कैयट ने प्रकल्प्य पद की जो व्याख्या की है वह ठीक नहीं है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—पहला तो यह कि प्रकल्प्य का अर्थ "सम्पाद्य" करने पर "न सम्प्रसारणे" सूत्र के भाष्य से विरोध हो रहा है। भाष्यकार ने वहाँ कहा है कि "एतदेव ज्ञापयति परस्य न पूर्वस्येति" अर्थात् प्रस्तुत "न सम्प्रसारणे" सूत्र ही ज्ञापन करता है कि पहले परयण् को सम्प्रसारण हो, न कि पूर्वयण् को। अन्यथा यदि पहले पूर्वयण् को सम्प्रसारण हो जाता है तो यह सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि जिस यण् को सम्प्रसारण का निषेध करना है उसे तो सम्प्रसारण हो ही गया और जिस सम्प्रसारण को पर में मान कर पूर्व को निषेध वाञ्छित है उस पर यण् को सम्प्रसारण हुआ ही नहीं। इस प्रकार "न सम्प्रसारणे' सूत्र की प्रवृत्ति के लिए उपयुक्त स्थिति न होने के कारण यह सूत्र व्यर्थ होकर पहले पर यण् को सम्प्रसारण का ज्ञापन करता है। यदि प्रकल्प्य पद का सम्पाद्य अर्थ करके इस परिभाषा से ही पर यण् को सम्प्रसारण हो जाता है तो भाष्यकार का ज्ञापकाश्रयण करना व्यर्थ ही हो जायेगा।

यदि कहा जाय कि कैयट के उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य है कि "न सम्प्रसारणे" सूत्र व्यर्थ होकर "प्रकल्प्य चापवादविषयम्" इस परिभाषा का ही ज्ञापन करता है और इस परिभाषा के द्वारा परयण् को पहले सम्प्रसारण होना और पूर्वयण् को तन्निमित्तक सम्प्रसारण का निषेध होना—यह कैयटोक्ति उसी का फलितार्थकथन है। इसलिए भाष्य से विरोध नहीं है, तो इस बात को दृष्टिगत कर कैयट के कथन में "यद्वा" शब्द से दूसरा विरोध दिखा रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भाष्यकार ने "यूनः" इस प्रयोग की सिद्धि के लिए एक उपायान्तर प्रदर्शित किया है। उन्होंने कहा है कि "सम्प्रसारणाश्रयस्य प्रतिषेधः" अर्थात् "न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्" सूत्र न बना कर "सम्प्रसारणाच्च" इस सूत्र के स्थान पर "सम्प्रसारणादसम्प्रसारणे" ऐसा न्यास किया जायेगा। इसका तात्पर्य यह है कि सम्प्रसारण से अच् पर में रहने पर उसे पूर्वरूप होता है, यदि उसके आगे सम्प्रसारण पर में न रहे तब। अब "युवन् + अस्" इस स्थिति में यकार और वकार को एक साथ सम्प्रसारण करने पर "इ-उ-उ-अन्" इस स्थिति में इकारोत्तरवर्ती उकार को पूर्वरूप नहीं होगा, क्योंकि उसके आगे वकारस्थानिक सम्प्रसारण उकार पर में है। इस

सम्प्रसारण उकार के आगे जो अकार है उसे तो पूर्वरूप हो ही जायेगा, क्योंकि उसके आगे सम्प्रसारण पर में नहीं है। इस प्रकार अकार को पूर्वरूप और दोनों उकारों को दीर्घ करके "इ + ऊन् + अस्" इस स्थिति में यण् करके "यूनः" प्रयोग की सिद्धि की गई है। यदि कैयट की व्याख्या के अनुसार प्रकल्प्य का अर्थ सम्पाद्य होता तो "प्रकल्प्य चापवाद विषयम्" इस परिभाषा के द्वारा ही यूनः" प्रयोग की सिद्धि, पहले परयण् को सम्प्रसारण करके हो सकती थी तो इस कार्य के लिए भाष्यकार की यह उक्ति कि "सम्प्रसारणाश्रयस्य प्रतिषेधः" सर्वथा असंगत हो जाती। कैयट के अनुसार "प्रकल्प्य" का अर्थ "सम्पाद्य" करने से तीसरी विसंगति यह है कि ऐसा अर्थ करने से परिभाषा में आये हुए "तत उत्सर्गः प्रवर्तते" इन पदों के अर्थ की संगति नहीं बैठती है। इसका कारण यह है कि यदि उत्सर्गशास्त्र पहले ही लग कर अपवाद के विषय को बना देता है जिससे अपवादशास्त्र की प्रवृत्ति सम्भव हो सके तो ऐसा करने के बाद उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति का बोधक "ततः प्रवर्तते" इस पद का क्या औचित्य है? क्योंकि उत्सर्गशास्त्र तो पहले ही लग चुका है। अपवाद के विषय को बनाने के बाद तो उसकी प्रवृत्ति होती ही नहीं। ऐसी स्थिति में "ततः प्रवर्तते" इसके अक्षरार्थ का आनुगुण्य यहाँ नहीं हो पाता।

इस प्रकार उपर्युक्त व्याख्यान के अधार पर निष्कर्ष यह निकला कि "प्रकल्प्य चापवाद-विषयम्" इस परिभाषा के सम्बन्ध में कैयट का कथन ठीक नहीं है, किन्तु इस सम्बन्ध में 'मदुक्त एव' = नागेश का कहना ही ठीक है। नागेश ने प्रकल्प्य का अर्थ परित्यज्य किया है। इसका तात्पर्य यह है कि लक्ष्यैकचक्षुष्क व्यक्ति के लिए अपवादशास्त्र के पर्यालोचन की आवश्यकता नहीं रहती है। वह तो अपवाद के विषय को छोड़ कर उत्सर्ग के द्वारा लक्ष्य का संस्कार कर लिया करता है। इसलिए "हलन्त्यम्" और "न विभक्तौ" के सम्बन्ध में जो चक्रक (अन्योन्याश्रय) की आपत्ति दिखाई गई थी, उसका प्रश्न ही नहीं उठता।

यदपि = कुछ लोगों का कहना है कि उक्त जो दो वचन = "पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते" तथा "प्रकल्प्य चापवादविषयम्" ये जो दो परिभाषाएँ हैं इनका अर्थ यह है कि अपवादशास्त्र के वाक्यार्थबोध के बिना उत्सर्गशास्त्र का वाक्यार्थबोध होता ही नहीं है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आकांक्षा, योग्यता आदि वाक्यार्थबोध की सामग्री रहने पर, यदि पद से पदार्थ की उपस्थिति हो रही है तो वहाँ उत्सर्गशास्त्र के वाक्यार्थबोध के होने में कोई बाधा नहीं होती। अर्थात् पदपदार्थोपस्थिति होने पर उत्सर्ग का वाक्यार्थबोध तो हो ही जाता है। यहाँ "उक्तयुक्तेः" इस पद का यही तात्पर्य है।

अब यहाँ यह शंका हो रही है कि "प्रकल्प्य चापवादविषयम्" इस परिभाषा की जैसी व्याख्या नागेश भट्ट ने की है कि "अपवाद के विषय को छोड़ कर उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति होती है" इस व्याख्या के अनुसार "न विभक्तौ तुस्माः" सूत्र के विषय को छोड़ने के लिए पहले उसका वाक्यार्थबोध होना आवश्यक है। उसका वाक्यार्थबोध हो जाने के बाद ही उसके विषय का ज्ञान होगा और तब उसका परिहार करके "हलन्त्यम्" की प्रवृत्ति होगी और जब इसकी प्रवृत्ति होगी तब पकार एवं ङकार की इत्संज्ञा करके सुप्, तिङ् प्रत्याहारों की सिद्धि होगी। इस प्रकार जब सुप् और तिङ् प्रत्याहारों का ज्ञान होगा तब "न विभक्तौ" का वाक्यार्थबोध होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष तदवस्थ ही रह जाता है। इस शंका का उत्तर देते हुए

नागेश का कहना है कि "न विभक्तौ तुस्माः" इस सूत्र के वाक्यार्थबोध के बिना ही केवल तुस्म पदार्थ तवर्ग, सकार और मकार के ज्ञान मात्र से ही पता चल जायेगा कि "न विभक्तौ" सूत्र केवल इन्हीं की इत् संज्ञा का निषेध करता है। इसलिए इनसे भिन्न जो पकारादि वर्ण हैं वे एतद्विषय = 'न विभक्तौ' के विषय नहीं हैं, ऐसा निश्चय करके तेषु = पकारादि वर्णों में "हलन्त्यम्" सूत्र की प्रवृत्ति हो जायेगी, जिससे सुप् और तिङ् प्रत्याहारों की सिद्धि होगी और फलस्वरूप विभक्तिपदार्थ का ज्ञान सुलभ हो जायेगा। इससे स्पष्ट होता है कि उत्सर्ग के वाक्यार्थबोध के पहले सर्वत्र अपवाद का वाक्यार्थबोध होना अपेक्षित नहीं है। इसलिए यहाँ अन्योन्याश्रय दोष का कोई प्रश्न ही नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त व्याख्यान से यह स्पष्ट हुआ कि "हलन्त्यम्" सूत्र में जो अन्योन्याश्रय दोष पड़ा था, उसकी व्यावृत्ति सम्पूर्ण "हलन्त्यम्" की आवृत्ति के द्वारा ही सम्भव हो सकी है। अत्रापि = आवृत्त "हलन्त्यम्" सूत्र में भी उपदेश पद का सम्बन्ध होता है। इसका फल यह होता है कि "हल विलेखने" धातु के लकार की इत्संज्ञा नहीं होती, क्योंकि उपदेश में यह धातु अकारान्त है; इसलिए लकार उपदेशावस्था में अन्त्य हल् नहीं है। इस सूत्र में उपदेश पद के सम्बन्ध होने से ही इसका अर्थ करते हुए कहा गया है कि "हलिति सूत्रेऽन्त्यमित्"। यहाँ "सूत्रे" इस पद का लाभ उपदेश पद की अनुवृत्ति से ही हुआ है। दीक्षित के मतानुसार उपदेश पद भावघञन्त है, जिसका अर्थ आद्योच्चारण है। आद्योच्चारण तो हल धातु और हल् सूत्र दोनों का होने पर भी "हल" धातु उपदेश में अकारान्त है, इसलिए वहाँ इसकी प्रवृत्ति न करके "सूत्रे" कहा गया है। अर्थात् इस सूत्र से "हल्" इस चौदहवें सूत्र के अन्त्य की इत्संज्ञा होती है। "अत्राप्युपदेश इति सम्बध्यते" इस पंक्ति में पढ़े गये अपि शब्द से दूसरे "हलन्त्यम्" का ग्रहण होता है, जहाँ उपदेश का सम्बन्ध होता ही है।

आदिरन्त्येन। आदिरिति किम्? अन्त्यशब्देन पूर्वेषामाक्षेपादिगादिप्रत्याहारेऽकारादिग्रहणं मा भूदिति। एवमादिशब्देन परेषामाक्षेपादिणादिप्रत्याहारेषु ञादीनां ग्रहणं मा भूदिति—'अन्त्येने'ति। 'आदिः'—'अन्त्येने'त्युभयोपादाने तु न दोषः। लोके 'अयमादिरन्त्यो वे'त्युक्तेऽवशिष्टमपि किञ्चिदस्तीति नियमेन प्रतीतेः। 'परस्मिन्सति यस्मात्पूर्वो नास्ति स आदिः', 'पूर्वस्मिन्सति यस्मात्परो नास्ति सोऽन्त्य' इति—अकारादिग्रहणे—इकारणकारादीनामाद्यन्तत्वस्यैवानापत्तेः।

"आदिरन्त्येन सहेता" यह प्रत्याहारविधायक सूत्र है। अन्त्य इत् के साथ आदि वर्ण को लेकर इसके द्वारा अण्, अच्, हल् आदि प्रत्याहार बनाये जाते हैं। इस सूत्र से प्रत्याहार किस प्रकार बनाये जाते हैं, इस बात का विस्तृत विवेचन "अइउण्" सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर किया जा चुका है। अब यहाँ यह शंका होती है कि इस सूत्र में पढ़े गये अन्त्य शब्द से ही आदि का आक्षेप सम्भव है तो इस सूत्र में आदिग्रहण क्यों किया गया है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि अन्त्य शब्द से आदि का ही आक्षेप हो इसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि जो अन्त्यत्व है वह पूर्व से निरूपित होता है। इसलिए अन्त्य शब्द से पूर्व का आक्षेप होगा अथवा अन्त्यवर्णघटित समुदाय मात्र का आक्षेप होगा। परिणामस्वरूप सूत्रार्थ इस प्रकार

होगा—"अन्त्य इत् सहित जो पूर्व वह प्रत्यासत्त्या पूर्व वर्णों की संज्ञा हो"। अथवा "अन्त्य इत् के सहित वर्ण अन्त्य से आक्षिप्त अन्त्यवर्णघटित समुदायघटक वर्णों की संज्ञा हो"। इस प्रकार के सूत्रार्थ होने पर इक्, उक् इत्यादि प्रत्याहारों में इकारादि की भाँति पूर्वत्वेन अकार का भी ग्रहण होने लगेगा, जो सर्वथा अनभीष्ट है। इसी प्रकार इस सूत्र में यदि अन्त्य शब्द का उपादान न किया जाय तो आदि शब्द से पर का आक्षेप होगा। परिणाम यह होगा कि "इत्संज्ञक वर्ण के साथ जो आदिवर्ण है, वह परवर्णों का बोधक हो" ऐसा सूत्रार्थ होने से इण् आदि प्रत्याहारों में ञकार आदि वर्णों का भी ग्रहण होने लगेगा; क्योंकि "अन्त्येन" पद के अभाव में इकाराद्यवयवक समुदायघटक वर्णों का बोध अपेक्षित होने के कारण इण् प्रत्याहार में ञकार का ग्रहण दुर्वार हो जायेगा। इसलिए सूत्र में "अन्त्येन" इस पद का उपादान किया गया है। "आदिः" और "अन्त्येन" इन दोनों पदों का जब उपादान कर दिया जाता है तब उक्त दोष नहीं होते, क्योंकि इक् प्रत्याहार बनाते समय यदि अकार का ग्रहण करते हैं तब इकार में आदित्व रहेगा ही नहीं। इसी प्रकार इण् प्रत्याहार में यदि ञकार का ग्रहण करने चलेंगे तो णकार में अन्त्यत्व ही नहीं रहेगा। अब तो इक् प्रत्याहार के लिए आदि शब्द से इकार ही लिया जायेगा और अन्त्य शब्द से ककार लिया जायेगा। इस प्रकार उभय का उपादान करने से दोष नहीं रहता है।

यहाँ "उभयोपादाने तु न दोषः" इस बात का प्रमापक हेतु "अकारादिग्रहणे इकारणकारादीना-माद्यन्तत्वस्यैवानापत्तेः" यह पंक्ति है।

अब शंका होती है कि आदि किसे कहते हैं और अन्त्य किसे कहते हैं, जिन दोनों के उपादान से दोष नहीं रहता? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि परस्मिन् सति = अर्थात् परवर्ण के रहते हुए जिसके पूर्व में कोई न रहे उसे आदि कहते हैं। इसी प्रकार जिससे पूर्व में तो कोई हो किन्तु पर में कोई न हो, उसे अन्त्य कहते हैं। आदि और अन्त्य की ऐसी परिभाषा करने पर 'इक्' प्रत्याहार में आदि शब्द से इकार ही लिया जायेगा, न कि अकार। इसी प्रकार अन्त्य शब्द से ककार ही लिया जायेगा, न कि ञकार। इसलिए उभयोपादान से दोष (अकारादि ग्रहण का दोष) हट जाता है। यदि कहा जाय कि आदि और अन्त्य का लक्षण इस प्रकार करने का आधार क्या है? तो इसके उत्तर में कह रहे हैं कि "अयमादिरन्त्यो वा इत्युक्तेऽवशिष्टमपि किञ्चिदस्तीति नियमेन प्रतीतेः" अर्थात् यह आदि है और यह अन्त्य है, ऐसा कहने से यह प्रतीति नियमतः होती है कि यहाँ इन दोनों से अतिरिक्त भी कुछ है। जो कुछ अवशिष्ट (अतिरिक्त) है वह आद्यन्तघटित समुदाय है। उस समुदाय का आदि वही है जिससे आगे तो कुछ (वर्ण) है किन्तु उससे पूर्व में कोई नहीं है। इस प्रकार प्रतीति के आधार पर आदि और अन्त्य की उक्त परिभाषा की गई है।

अत्राद्यन्ताभ्यामवयवत्वेन बोधकाभ्यां स्वघटितः समुदाय आक्षिप्तः सञ्ज्ञी, तस्य चैकत्र लक्ष्ये प्रयोगाभावात्प्रत्येकं सञ्ज्ञित्वम्। अन्त्यस्य तु न तत्कार्यं, तस्येत्सञ्ज्ञालोपाभ्यामपहारात्। एतत्फलितकथनमेव भाष्ये मूले च—स्वस्य च रूपस्येति। स्वमित्यनुवृत्तिपरत्वेन व्याख्यानन्तु हेयमेव, अनुवृत्तौ फलाभावात्। इतेति किम्?—'ञमङणने'ति णकारादिभिः प्रत्याहारो मा भूदिति।

अत्र = प्रस्तुत सूत्र में अवयवत्वेन अवयव के बोधक जो आदि और अन्त्य शब्द हैं उनसे स्वघटित समुदाय का आक्षेप होता है, क्योंकि बिना समुदाय के आदि और अन्त्य का अस्तित्व ही नहीं होगा। इस प्रकार आदि और अन्त्य से जिस समुदाय का आक्षेप होता है वह समुदाय उस प्रत्याहार का संज्ञी होता है। संज्ञी का अर्थ बोध्य है। तत्तद् प्रत्याहार संज्ञा (बोधक) होते हैं और आद्यन्त्य से आक्षिप्त समुदाय उसका बोध्य होता है। उदाहरण के लिए अच् प्रत्याहार को लिया जा सकता है। यहाँ आदि अकार और अन्त्य चकार से तद्घटित अकारादि चान्तवर्णघटित समुदाय का आक्षेप होता है। यह समुदाय (समुदायघटक वर्ण) ही अच् प्रत्याहार का संज्ञी है। यद्यपि समुदाय में संज्ञित्व है तथापि किसी एक लक्ष्य में उस समुदाय का प्रयोग सम्भव नहीं है। जैसे "इको यणचि" यह सूत्र अच् पर में रहने पर इक् को यण् करता है। यहाँ "सुद्ध्युपास्यः" इत्यादि उदाहरणों में अकारादि चान्त समस्त वर्णों से घटित अच् प्रत्याहार तो पर में है नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी एक लक्ष्य में उस समुदायात्मक प्रत्याहार का मिलना सम्भव नहीं है। इसलिए तत्तद् प्रत्याहार का संज्ञी (बोध्य) उस प्रत्याहार के घटक प्रत्येक वर्ण होते हैं। अन्त्य जो इत्संज्ञक वर्ण होता है वह उस प्रत्याहार का संज्ञी नही होता, इसलिए उसे "न तत्कार्यम्" = संज्ञित्वप्रयुक्त कार्य नहीं होता है, क्योंकि इत्संज्ञक होने के कारण लोप के द्वारा उसका अपहार हो जाता है। इसी का फलितार्थकथन भाष्य और मूल = कौमुदी में कहा गया है कि 'स्वस्य च रूपस्य' अर्थात् अन्त्य के सहित जो आदि वर्ण है वह मध्यपाती वर्णों का बोधक होता हुआ अपना भी बोधक होता है।

भट्टोजिदीक्षित ने प्रत्याहार में आदि वर्ण का ग्रहण करने के लिए "स्वंरूपम्" सूत्र से "स्वं" पद की अनुवृत्ति की है और स्वशब्देन केवल आदि का ही ग्रहण किया है, अन्त्य का नहीं। क्योंकि 'अन्त्येन' इस पद में जो तृतीया विभक्ति है वह अप्रधान अर्थ में हुई है और सर्वनाम प्रधान के परामर्शी होते हैं। इस प्रकार यहाँ आदि का ग्रहण किया गया है। दीक्षित जी को आदि के ग्रहण के लिए इस प्रयास की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई कि वे देखते हैं कि आदि और अन्त्य संज्ञास्वरूप के अन्तर्भूत हैं; और संज्ञा जो होती है वह परार्थ होती हैं। जैसे गुण संज्ञा परार्थ (संज्ञी अदेङ्) के बोध के लिए हैं। यहाँ गुण इस आनुपूर्वी का ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार अजादि संज्ञाओं से अकारादि वर्णों का बोध नहीं हो पायेगा। इसलिए स्वं की अनुवृत्ति करके वे आदि का ग्रहण कर रहे हैं।

नागेश भट्ट इस बात से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि आदि वर्ण का प्रत्याहार में ग्रहण करने के लिए "स्वं" पद की अनुवृत्ति करके जो व्याख्यान किया गया है वह हेय है। बिना स्वं पद की अनुवृत्ति के ही प्रत्याहारों में आदि वर्ण का ग्रहण सिद्ध है। "वृद्धिरादैच्", अदेङ् गुणः" की भाँति यहाँ संज्ञासंज्ञीभाव नहीं है। यहाँ तो अच् प्रत्याहार बनाने के लिए "अकारादि चान्त समुदाय को उद्देश्य करके 'अच्' यह संज्ञा बनाई जा रही है। इसलिए अकार और चकार ये दोनों संज्ञी कोटि में आ जाते हैं। इनमें "अन्त्य का तो इत् संज्ञा और लोप के द्वारा अपहार हो जाने के कारण प्रत्याहार में ग्रहण नहीं होता, किन्तु आदि का तो होता ही है। इसलिये स्वं पद की अनुवृत्तिपरक व्याख्यान उचित नहीं है। दूसरी बात यह है कि अनुवृत्ति (स्वम् पद की अनुवृत्ति) का कोई फल भी नहीं है। इसका कारण यह है कि दीक्षित

के अनुसार जिस अन्त्य इत् के साथ आदि वर्ण को लेकर जो प्रत्याहार बनाया जा रहा होगा— उस अन्त्य इत् की ही व्यावृत्ति स्वं पद के द्वारा होगी। उदाहरण के लिए हल् प्रत्याहार को लिया जा सकता है। यहाँ अन्त्य इत् लकार है और तत्सहित आदि "हल्" यह आनुपूर्वी है। इसमें आया हुआ लकार स्वं पद से भले न लिया जाय, किन्तु हकार से लेकर लकार पर्यन्त वर्णों के मध्यपाती जो इत्संज्ञक वर्ण 'ट् ण् म् ञ् ष्' इत्यादि हैं उनका ग्रहण हल् में क्यों न होने लगे? इस बात का उत्तर स्वं पद की अनुवृत्तिवादी के यहाँ नहीं है। नागेश के मतानुसार तो जितने इत्संज्ञक वर्ण हैं उनका प्रत्याहार में ग्रहण इसलिए नहीं होता है कि उनकी इत् संज्ञा के कारण लोप से अपहार हो जाता है। इस प्रकार किसी भी प्रत्याहार के मध्यपाती इत्संज्ञक वर्ण का उस प्रत्याहार में ग्रहण न होने के लिए इसी उपाय (इत् संज्ञा और लोप) का ही अवलम्बन करना आवश्यक है तो इसी उपाय से अन्त्य इत् के ग्रहण की व्यावृत्ति हो सकती है। इसलिए फलाभावात् स्वं पद की अनुवृत्ति अनावश्यक ही है।

इस सूत्र में यदि "इता" इस तृतीयान्त विशेष्यवाचक पद का उल्लेख नहीं किया गया होता तो इण् प्रत्याहार, जो लण् के णकार तक बनता है, वह "ञमङणनम्" के णकार पर्यन्त समुदाय की विवक्षा के आधार पर इसी णकार को अन्त्य मान कर यहीं तक बनने लगेगा। इसी प्रकार अम्, यम् आदि प्रत्याहार "ञमङणनम्" के इत्संज्ञक मकार तक न बन कर "ञम्" पर्यन्त समुदाय की विवक्षा करके इसी मकार तक बनने लगेंगे। इसलिए "अन्त्येन" इस पद के विशेष्यके रूप में "इता" इस तृतीयान्त विशेष्य का उल्लेख सूत्र में किया गया है।

'सह'ग्रहणाच्च समुदाय एव सञ्ज्ञेति समुदायादेवेक इत्यादौ विभक्त्युत्पत्तिर्नादिमात्रात्। न चान्त्यस्येत्सञ्ज्ञालोपाभ्यामपहारात् 'आदिरन्त्येने'-त्यसङ्गतं, सूत्रेष्वित्सञ्ज्ञायामपीगादिशब्देषु तदभावात्, 'अन्त्येने'त्यस्येदन्त्यसदृशे-नेत्यर्थात्, व्यक्तिपक्षे एवमेवौचित्यात्, सादृश्यमूलिकैव चात्र तत्त्वप्रत्यभिज्ञेत्याहुः। 'अचि श्नुधात्वि'ति सूत्रे 'इण' इत्येव सिद्धे 'य्वोरि'ति निर्देशादिण्परेणैवेति लण्सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

इस सूत्र में जो 'सह' ग्रहण किया गया है उससे यह संकेत मिलता है कि अन्त्य इत् के साथ जो आदि वर्ण है; जैसे अच्, इक्, एच् आदि अन्त्यादि समुदाय रूप; इसी की संज्ञा अर्थात् प्रत्याहार संज्ञा होती है। अब यहाँ यह शंका होती है कि "इको यणचि" सूत्र के शब्दरत्न में कहा गया है कि "अणुदित्" सूत्र प्रत्याहार के आदि वर्णों में बोधकता कराने के लिए चरितार्थ है। शब्दरत्न की इस उक्ति का प्रस्तुत कथन से कि "समुदाय में ही बोधकत्व है" इससे विरोध हो रहा है। शब्दरत्नकार के अनुसार तो प्रत्याहार के आदि वर्ण में बोधकता की बात सिद्ध हो रही है और यहाँ समुदाय में बोधकता की बात कही जा रही है। इस शंका के उत्तर में कहा जाता है कि शेखरकार का भी वही तात्पर्य है, जो शब्दरत्नकार का है। तात्पर्य यह है कि शेखरकार भी बोधकता, आदि में ही मानते हैं, किन्तु वह आदिबोधक तब होता है जब वह अन्त्य इत् के साथ रहे। इसीलिए "उच्चारितः प्रत्यायको भवति नानुच्चारितः" इस भाष्यवचन के आधार पर प्रत्याहार के द्वितीयादि वर्णों के सवर्णी का बोध होने के लिए लक्षणा के आश्रयण

की बात कही गई है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि बोधकता तो प्रत्याहार के आदि वर्ण में ही है। किन्तु इस कथन पर फिर यह शंका होती है कि जब आदि वर्ण ही संज्ञा (बोधक) है तो विशिष्ट (इक् आदि समुदाय) से विभक्ति की उत्पत्ति किस प्रकार होगी, क्योंकि समुदाय में जब बोधकता ही नहीं है तो उसकी प्रातिपदिक संज्ञा ही नहीं होगी तो उसके आगे विभक्ति आने का प्रश्न ही नहीं होगा?

इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "समुदाय एव संज्ञा"। अर्थात् बोधकता के आदि मात्र में रहने पर भी प्रातिपदिक संज्ञा तो समुदाय की ही होती है। "समुदाय एव संज्ञा" में आये हुए संज्ञा का अर्थ प्रातिपदिक संज्ञा है। प्रातिपदिक संज्ञा के लिए वाञ्छित जो अर्थवत्त्व— "एतत्संज्ञाफलभूतविभक्तीतरसमभिव्याहारानपेक्षया लोकऽर्थविषयकबोधजनकत्व" रूप में विवक्षित है, वह अर्थवत्त्व तो आदिमात्र में नहीं जाता, क्योंकि आदि मात्र को बोधक होने के लिए उसे विभक्तीतर अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण की अपेक्षा होती है। इसलिए वह अर्थवान् नहीं होता है, किन्तु समुदाय ही अर्थवान् होता है, क्योंकि उसे स्वघटक आदि में बोधकता उपपन्न करने के लिए विभक्तीतर किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि बोधकता (वाचकता) तो आदि मात्र में है किन्तु प्रातिपदिक संज्ञा तो समुदाय की ही होती है। इसलिए "प्रत्याहाराद्यवर्णे अणुदित्सूत्रं चरितार्थम्" इस ग्रन्थ से शेखर का विरोध भी नहीं होता है। समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा होने से ही "इकः" इत्यादि पदों में समुदाय से ही विभक्ति की उत्पत्ति होती है, केवल आदि मात्र से विभक्ति की उत्पत्ति नहीं होती। अब शंका होती है कि अन्त्य वर्ण का तो इत् संज्ञा और लोप से अपहार हो जाता है तो ऐसी स्थति में "आदिरन्त्येन" यह कहना ही असंगत है। दूसरी बात यह है कि जब अन्त्य वर्ण है ही नहीं तो उसके साथ आदि का रहना और समुदाय से विभक्ति का आना— ये सारी बातें असंगत हो रही हैं? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि सूत्रेषु = वर्णसमाम्नाय के सूत्रों में इत् संज्ञा होने पर भी "इको यणचि" इत्यादि सूत्रों में जो इक् आदि पद हैं वहाँ तो इत् संज्ञा होती नहीं। इसलिए "आदिरन्त्येन" कहना असंगत नहीं है और समुदाय से विभक्ति के आने में कोई बाधा नहीं है। अब शंका होती है कि "इको यणचि" इत्यादि सूत्रों में जहाँ इक् आदि शब्दों में ककार पढ़ा गया है वहाँ जब इत् संज्ञा ही नहीं होती तब अन्त्य इत् के अभाव में प्रत्याहार की सिद्धि किस प्रकार होगी? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र में जो अन्त्य शब्द है वह अन्त्यसदृश में लाक्षणिक है। इसी प्रकार आदि शब्द भी आदि सदृश में लाक्षणिक है। सादृश्य का नियामक धर्म—स्ववृत्तिश्रावणप्रत्यक्ष विषयतावच्छेदकत्व होता है। इस प्रकार अन्त्य इत् "ऋलृक्" सूत्र का ककार होता हैं और तत्सदृश "इको यणचि" सूत्रस्थ इक् का ककार है। इसी प्रकार आदि वर्ण "अइउण्" सूत्र का इकार है और तत्सदृश इक् शब्द का इकार है। इस प्रकार अन्त्येत्सदृश सहित आदि सदृश वर्ण "इक्" यह शब्द होता है। यह इक् शब्द स्वघटक वर्ण ककारनिष्ठ अनुयोगितानिरूपक सादृश्य का प्रतियोगी ऋलृक् का ककार अन्त्यावयव है जिस समुदाय का तथा इक् शब्द स्वघटक वर्ण इकारनिष्ठानुयोगितानिरूपक सादृश्य का प्रतियोगी जो "अइउण्" का इकार, वह है आदि अवयव जिसका उस समुदाय की संज्ञा होता है। इस प्रकार इकारादि ककारान्त समुदायघटक

वर्णों की बोधिका "इक्" यह संज्ञा (प्रत्याहार) बनती है। व्यक्तिपक्ष में जब कि प्रत्येक वर्ण एक-दूसरे से भिन्न होते हैं उस समय इस प्रकार लक्षणा करना ही उचित है, क्योंकि इस पक्ष में "ऋलृक्" सूत्रस्थ ककार से इक्, अक्, उक् इत्यादि शब्दों के ककार भिन्न हैं। इन ककारों के साथ तत्तत्सूत्रों में आये हुए इकार, अकार और उकार वर्ण भी वर्णसमाम्नायस्थ इकार, अकार और उकार से भिन्न ही हैं। ककारादि वर्णों के साथ अकारादि वर्णों का साहित्य "अकः सवर्णे" आदि तत्तत् सूत्रों में ही मिलता है, न कि वर्णसमाम्नाय में मिलता है। इसलिए लक्षणा के आश्रयण से ही प्रत्याहार की सिद्धि हो सकती है। यह बात "अइउण्" सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर विस्तार से बताई जा चुकी है।

अत्र = व्यक्तिपक्ष में सादृश्यमूलिकैव = सादृश्य के द्वारा ही तत्त्वप्रत्यभिज्ञा = अभेद की प्रतीति होती है। तात्पर्य यह है कि सादृश्य के द्वारा ही 'अइउण्' के इकार और 'ऋलृक्' के ककार की "इको यणचि" के इकार, ककार के साथ अभेद की प्रतीति होती है।

अब सन्देह होता है कि अण्, इण् आदि प्रत्याहारों में आये हुए णकार का सादृश्य अइउण् के णकार के साथ माना जाय अथवा "लण्" के णकार साथ माना जाय? इस सन्देह के उत्तर में कह रहे हैं कि "अचिश्नुधातु सूत्र में जो "य्वोः" ऐसा निर्देश किया गया है यह इकार और उकार के बोध के लिए हैं। यदि इण् प्रत्याहार "अइउण्" के णकार के सादृश्य के आधार पर बनता तो उसमें इ और उ ये दो अक्षर आते। ऐसी स्थिति में इकार और उकार का द्वन्द्व समास करके "य्वोः" इस गुरुभूत न्यास की अपेक्षा लाघवात् उसकी जगह "इणः" ऐसा न्यास करना उचित था, किन्तु पाणिनि ने ऐसा न्यास न करके "य्वोः" ऐसा जो गुरुभूत न्यास किया है, इससे विदित होता है कि इण् प्रत्याहार परणकार तक लिया जाता है। अर्थात् लण्सूत्रस्थ णकार के सादृश्य के आधार पर इण् प्रत्याहार बनता है। अब 'इणः' ऐसा न्यास करने पर तेरह वर्णों का ग्रहण होने लगेगा। इसकी व्यावृत्ति के लिए "य्वोः" यह गुरुभूत न्यास सार्थक होता है। इसके द्वारा केवल इकार और उकार ही वहाँ लिये जाते हैं। अण् प्रत्याहार तो अणुदित् सूत्र को छोड़ कर सब जगह पूर्वणकार तक लिया जाता है। 'अणुदित्' सूत्र में केवल परणकार तक अण् प्रत्याहार लिया जाता है। यह बात "लण्" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

हलन्त्यम्। अत्र पदद्वयं, समासेऽन्त्यशब्दस्य पूर्वनिपातापत्तेः। कर्मधारययोग्य-पदानां समासाभावस्य सूत्रकारशैलीसिद्धत्वाच्च। यद्यपि सर्वोऽपि हल् तं तं समुदायं प्रत्यन्त्यो भवति तथाप्यन्त्यपदोपदेशपदाभ्यां प्रत्यासत्त्याऽज्ञातस्वस्वरूपज्ञाप-कोच्चारणविषयसमुदायं प्रत्यन्त्य इह गृह्यते। अत एव—मकारेत्सञ्ज्ञापरित्राणार्थः-स्थमोरुकारश्चरितार्थः। समुदायोपदेश एव सर्वत्र ऋषितात्पर्येणाऽवयवानां नान्तरीयकतया तेषामज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकत्वाभावात्।

'हलन्त्यम्' इस सूत्र में "हल्" और "अन्त्यम्" ये दो पद पृथक्-पृथक् हैं। यहाँ कर्मधारय समास नहीं हुआ है। यदि इन दोनों पदों का कर्मधारय समास किया जाय तो जातिवाचक और गुणवाचक के बीच गुणवाचक ही विशेषण होता है, इस नियम के आधार पर अन्त्य शब्द, जो गुणवाचक है, उसी का पूर्वनिपात होने लगता। यदि कहा जाय कि अन्त्य शब्द की भांति

हल् शब्द भी हकारादि लान्त समुदायघटक वर्णों का वाचक होने के कारण गुणवाची है। ऐसी स्थिति में अन्त्य शब्द की भाँति हल् शब्द का भी पूर्वनिपात हो सकता है। इस प्रकार पूर्व समाधान में अरुचि आने पर कह रहे हैं कि कर्मधारय के योग्य पदों का समास न करना सूत्रकार की शैली है। इसलिए यहाँ समास नहीं किया गया है। इसीलिए "अलोऽन्त्यात्", "हलोऽनन्तराः", "तत्पुरुषः समानाधिकरणः" इत्यादि निर्देश उपपन्न होते हैं। यहाँ सभी जगह समास का अभाव है।

यदि कहा जाय कि जब कर्मधारय-योग्य पदों का समासाभाव करना सूत्रकार की शैली है तब "निपात एकाजनाङ्" इस सूत्र में "एकाच्" पद में कर्मधारय समास क्यों किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जहाँ पर साक्षात् उद्देश्यताप्रयोजक और साक्षात् उद्देश्यतावच्छेदकताप्रयोजक पद कर्मधारय समास के योग्य हों वहीं पर समास का अभाव करना सूत्रकार की शैली है। जैसे "हलन्त्यम्" इस सूत्र में हल् को उद्देश्य करके इत् संज्ञा विधेय है, इसलिए 'हल्' यह उद्देश्यताप्रयोजक पद है। इस हल् पदार्थ में "अन्त्यम्" यह पद साक्षात् विशेषण है। इसलिए यह साक्षात् उद्देश्यतावच्छेदकताप्रयोजक पद है। ऐसी स्थिति में यहाँ सूत्रकार ने समास नहीं किया, किन्तु "निपात एकाच्" सूत्र से जहाँ निपात को उद्देश्य करके प्रगृह्य संज्ञा विधेय है वहाँ उद्देश्यताप्रयोजक निपात पद का तो समास किसी पद के साथ किया ही नहीं गया है और जिस एकाच् पद में समास किया गया है वह उद्देश्यतावच्छेदकता का प्रयोजक पद है। इस प्रकार यहाँ केवल उद्देश्यतावच्छेदकताप्रयोजकपदघटक दो पदों का समास हुआ है। इसलिए कोई विसंगति नहीं है।

यद्यपि विवक्षाधीन समुदाय की परिकल्पना करने पर सभी हल् उस समुदाय के अन्त्य हो जाते हैं। जैसे—दध्नच् प्रत्यय में यदि दध्न् पर्यन्त समुदाय की परिकल्पना की जाती है तब नकार अन्त्य हल् हो जाता है। इसी प्रकार 'वृङः षाकन्' से विहित षाकन् प्रत्यय में षाक् पर्यन्त समुदाय का अन्त्य हल् ककार हो रहा है। इसी प्रकार "जबगडदश्" में "जबग्" पर्यन्त समुदाय का अन्त्य गकार हो रहा है। ऐसी स्थिति में किसी भी हल् की इत्संज्ञा हो सकती है। इसका परिणाम यह होगा कि यदि षाकन् प्रत्यय में ककार की इत्संज्ञा होगी तो यहाँ कित्त्वप्रयुक्त गुण का अभाव होने लगेगा। इसी प्रकार अन्यत्र भी अन्य प्रकार के दोषों की आपत्ति होगी। इसलिए कह रहे हैं कि इस प्रकार विवक्षा के आधार पर समुदाय की परिकल्पना करके जिस किसी हल् की इत्संज्ञा नहीं की जा सकती, किन्तु "हलन्त्यम्" सूत्र में पठित अन्त्य शब्द तथा यहाँ अनुवृत्त उपदेश पद इन दोनों पदों के द्वारा उस समुदाय का अन्त्य यहाँ लिया जाता है जो समुदाय अज्ञातस्वरूप के ज्ञापक उच्चारण का विषय हो। तात्पर्य यह है कि अज्ञात स्वरूप ज्ञापकोच्चारण जिसका किया गया है उसी समुदाय के अन्त्य हल् की इत् संज्ञा होती है। पाणिनि ने अज्ञातस्वरूप का ज्ञापकोच्चारण "जबगडदश्" इस रूप में किया है। इसी प्रकार "षाकन्" यह अज्ञातस्वरूप का ज्ञापक उच्चारण है। इसलिए इन समुदायों के अन्त्य हल् की ही इत् संज्ञा होगी, न कि स्वपरिकल्पित समुदाय के अन्त्य हल् की। अत एव = अज्ञातस्वरूप ज्ञापकोच्चारण विषय समुदाय का ग्रहण करने से ही "इदमस्थमुः" सूत्र के उकार के लिए कहा गया है कि यह उकार मकार की इत् संज्ञा से परित्राण करने के लिए चरितार्थ (आवश्यक) है।

यदि "थमु" प्रत्यय में अन्त्य में उकार का उच्चारण नहीं किया गया होता तो मकार ही उपदेश के अन्त्य में होता और उसकी इत् संज्ञा हो जाती। यदि कहा जाय कि उकार का उच्चारण अन्त्य में न करने पर भी "न विभक्तौ" सूत्र से मकार की इत्संज्ञा का निषेध हो जायेगा। ऐसी स्थिति में उकारोच्चारण की सार्थकता कैसे होगी? तो इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि इस उकारोच्चारण से "न विभक्तौ" के निषेध की अनित्यता ज्ञापित की जाती है। इसलिए उस सूत्र से कार्य न चलने के कारण उकारोच्चारण की सार्थकता होती है। ऋषि का तात्पर्य सब जगह समुदाय के उपदेश (आद्योच्चारण) में ही रहता है। इसलिए "थमु" प्रत्यय का अन्त्य उकार ही होता है, मकार नहीं होता है। यदि कहा जाय कि जब अवयव में ऋषि का तात्पर्य नहीं रहता तो उनका उच्चारण करना व्यर्थ है? तो इस शंका को दृष्टिगत करके कह रहे हैं कि अवयवों का उच्चारण तो नान्तरीयक = व्यापकत्वेन होगा ही। अवयवों के उच्चारण के बिना समुदाय का उच्चारण हो ही नहीं सकता; इसलिए उनका उच्चारण किया जाता है, किन्तु ऋषि का तात्पर्य समुदाय के उच्चारण में ही रहता है न कि अवयवों के उच्चारण में। इस प्रकार अवयवों का उच्चारण होने पर भी तेषाम् = उनके उच्चारणों का अज्ञातस्वरूप ज्ञापकत्व नहीं होता है। अज्ञातस्वरूप ज्ञापकत्व तो समुदायोच्चारण में ही होता है।

उपदेशेऽन्त्यमिति। तत्र विद्यमानमन्त्यमित्यर्थः। तेन 'अइउणि'त्यादौ णादीनां हल्प्रत्याहारसिद्ध्युत्तरं तत्सिद्धिः, अन्यत्र त्वन्तरङ्गत्वात्प्राय उच्चारणेनाभिव्यक्तस्य तदव्यवधानेनैवेत्सञ्ज्ञा, पदार्थोपस्थितिरनुबन्धविनिर्मुक्तस्यैव, 'उपदेशोत्तरकाला इत्सञ्ज्ञे'ति 'नाज्झलावि'ति सूत्रभाष्यात्। 'धुडि'त्यादौ सानुबन्धाद्विभक्तिस्तु-तेनैवानुबन्धविनिर्मुक्तोपस्थितेस्तस्यैवार्थवत्त्वात्सुलभा, इत्सञ्ज्ञाकार्यं तु यत्र सञ्ज्ञा तत्रानर्थक्यात्तदुपस्थाप्य एव। स्पष्टञ्चेदं-'तित्स्वरितमि'त्यत्र कैयटे।

वैयाकरणे चित्स्वरस्तु न, तस्येच्चकारसदृशत्वेऽपि तत्त्वाभावात्। विभक्त्यादिसञ्ज्ञापि-सूत्रान्तर्गतानामेवेति-तत्रैव 'न विभक्तावि'त्यादीनां प्रवृत्तिः, अत एव-"-'इदम इशि'त्यादावण्वात्सवर्णग्रहणं प्राप्तमप्रत्यय'इत्यनेन निषिद्ध्यते-" इति भाष्योक्तं सङ्गच्छते। यत्त्वनेकाल्सूत्रे 'इशि शिद्ग्रहणाभावेऽपि शित्करणादेव सर्वादेशत्वमि'ति भाष्ये उक्तं,-तस्येत्सञ्ज्ञकशकारकरणाद्भूतपूर्वानेकाल्त्वमादाय सर्वादेशत्वमित्यर्थ इति न तद्विरोधः।

उपदेश अवस्था में जो अन्त्य हल् उसकी इत् संज्ञा होती है। इस सूत्र का ऐसा अर्थ करने पर यह सन्देह होता है कि जिस समय "अइउण्" आदि सूत्रों का आद्योच्चारण हुआ उस समय इत्संज्ञाविधायक "हलन्त्यम्" सूत्र का वाक्यार्थबोध ही नहीं हुआ रहता है तो उस समय इत् संज्ञा की बात करना असंगत है। आद्योच्चारण काल में "हलन्त्यम्" के वाक्यार्थबोध के न होने का कारण यह है कि "अइउण्" इत्यादि चौदह सूत्रों के उपदेश के अनन्तर आवृत्त "हलन्त्यम्" सूत्र से सर्वप्रथम चौदहवें सूत्र "हल्" के लकार की इत्संज्ञा होती है। इसके बाद हल् प्रत्याहार की सिद्धि होती है। इसके अनन्तर "हलन्त्यम्" सूत्र का वाक्यार्थबोध करके णकारादि वर्णों की इत्संज्ञा होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आद्योच्चारण काल में "हलन्त्यम्"

सूत्र का वाक्यार्थबोध सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् की इत् संज्ञा हो, यह कहना असंगत ही है।

इस शंका को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि "तत्र विद्यमानमित्यर्थः"। इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ विद्यमान पद का अध्याहार किया जाता है, इसलिए इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि आद्योच्चारण काल में विद्यमान जो अन्त्य हल्, उसकी इत्संज्ञा होती है। इस प्रकार आद्योच्चारण काल के कुछ क्षण बाद भी इत् संज्ञा होने से कोई असंगति नहीं होती, क्योंकि हल् प्रत्याहार की सिद्धि के बाद भी णकारादि वर्णों में उपदेशकालिक विद्यमानता सुस्थिर रहती है; इसलिए उनकी इत्संज्ञा हो जाती है। तेन = विद्यमान पद का अध्याहार करने से यह संगति बैठ जाती है कि "अइउण्" इत्यादि सूत्रों के णकारादि वर्णों की तत्सिद्धि = इत् संज्ञा की सिद्धि हल् प्रत्याहार की सिद्धि के बाद हो जाती है। यह बात ऊपर विधिवत् स्पष्ट की जा चुकी है। अन्यत्र = अक्षरसमाम्नाय से भिन्न स्थल "भवतष्ठक्छसौ" इत्यादि स्थलों में तो उच्चारण के द्वारा जब ठक् और छस् प्रत्ययों की अभिव्यक्ति अर्थात् ज्ञान हो जाता है तो अन्तरङ्गत्वात् उनकी अभिव्यक्ति के अव्यवधानेन = अनन्तर ही अन्त्य हल् की इत् संज्ञा हो जाती है। लक्ष्य में जो पदार्थोपस्थिति होती है वह तो अनुबन्ध से विनिर्मुक्त = रहित की ही होती है। ऐसा होता इसलिए है क्योंकि "नाज्झलौ" सूत्र के भाष्य मे भाष्यकार ने कहा है कि "उपदेशोत्तरकाला इत्संज्ञा" अर्थात् इत् संज्ञा उपदेश के उत्तर काल में होती है।

अब यह शंका होती है कि जब उपदेश के उत्तर काल में ही इत् संज्ञा हो जाती है तो इत्संज्ञक वर्ण का लोप भी हो जाता है। ऐसी स्थिति में "ङः सि धुट्" इत्यादि सूत्रों में अनुबन्ध टकार सहित धुट्" शब्द के आगे विभक्ति क्यों आती है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं— सानुबन्धक धुट् शब्द से विभक्ति तो इसलिए आती है कि तेनैव = सानुबन्धक धुट् आदि शब्दों से ही अनुबन्ध-विनिर्मुक्त धकार की उपस्थिति होती है। इस प्रकार अनुबन्ध-विनिर्मुक्त की उपस्थिति कराने के कारण सानुबन्धक धुट् आदि शब्द ही अर्थवान् होते हैं, इसलिए उन्हीं की प्रातिपदिक संज्ञा होकर समुदाय (सानुबन्धक) से ही विभक्ति होती है। "ङः सि धुट्" आदि सूत्रों में अनुबन्ध का लोप उच्चारणसामर्थ्यात् नहीं होता है। अन्यथा यदि अनुबन्ध का लोप सूत्र में ही कर दिया जाय तो "धुट्" इस स्वरूप का ज्ञान ही नहीं होगा। वस्तुस्थिति तो यह है कि सूत्रोपात्त "धुट्" आदि शब्दों में इत् संज्ञा तो हो जाती है, क्योंकि उपदेशोत्तर काल में विद्यमानता वहीं पर है, किन्तु लोप के द्वारा अनुबन्ध का अपहार तो लक्ष्य में दिखलाया जाता है। इसी बात को मूल में कह रहे हैं कि जहाँ सूत्र में इत् संज्ञा होती है वहाँ इत् संज्ञा का कार्य अर्थात् फल न होने के कारण तत्र = सूत्र में लोप करना अनर्थक है; इसलिए तदुपस्थाप्य = धुट् आदि शब्दों से उपस्थित किया गया जो लक्ष्यस्थ धकार आदि वर्ण हैं वहीं इत् संज्ञा का कार्य लोप का प्रदर्शन किया जाता है। इसलिए टित्वात् धुट् आदि में होता है और कित् जो होते हैं वे अन्त में होते हैं। यह बात "तित् स्वरितम्" सूत्र के कैयट में स्पष्ट है।

अब शंका होती है कि बोधक में स्थित जो अनुबन्ध है वे यदि बोध्य में ही कार्यकारी होते हैं तो व्याकरण शब्द से विकार अर्थ में "अनुदात्तादेश्च" सूत्र से अञ् प्रत्यय करने पर "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" सूत्र से आद्युदात्त "वैयाकरण" शब्द में "चितः" इस सूत्र से अन्तोदात्त होना

चाहिए। वैयाकरण शब्द में ऐच् का आगम हुआ है। यह चित् आगम है। इसके चित्व का प्रयोजन चित् स्वर का लक्ष्य में उपर्युक्त प्रकार से होना अनिवार्य है। इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "वैयाकरण शब्द में चित् स्वर (प्रकृतिप्रत्यय-समुदाय का अन्तोदात्तत्व) नहीं होता, क्योंकि यहाँ विहित जो ऐच् आगम है, इसका चकार, इत्संज्ञक "ऐऔच्" के चकार के सदृश तो है किन्तु स्वयं इत्संज्ञक नहीं है। इत् संज्ञा तो ऐऔच् के चकार की ही होती है। इसके बाद ऐच् प्रत्याहार बनने पर तत्तद् स्थलों में ऐच् का व्यवहार किया जाता है। इसलिए ऐजागम के चित् न होने के कारण यहाँ चित् स्वर नहीं होता।

यदि कहा जाय कि "व्याकरणमधीयते विदन्ति वा' इस अर्थ में अण् प्रत्यय करने पर "आद्युदात्तश्च" सूत्र से अण् प्रत्यय के उदात्त होने के कारण "वैयाकरण" शब्द में अन्तोदात्तत्व का होना तो अनिवार्य ही है, ऐसी स्थिति में यहाँ अन्तोदात्त नहीं होता, यह कहना कहाँ तक ठीक है? इस प्रश्न के उत्तर में यह समझना चाहिए कि उपर्युक्त प्रकार से जब व्याकरण शब्द से विकार अर्थ में अञ् प्रत्यय करते हैं तब अञ् प्रत्यय के कारण वैयाकरण शब्द आद्युदात्त तथा अन्तानुदात्त हो जाता है। इस अन्तानुदात्त वैयाकरण शब्द में चित्वप्रयुक्त अन्तोदात्तत्व के न होने में ही प्रकृत ग्रन्थ का तात्पर्य है।

ऊपर बताया जा चुका है कि उपदेश के उत्तर काल में इत् संज्ञा होती है। ऐसी स्थिति में जिनका उपदेश सूत्रों में हुआ है उनकी इत् संज्ञा सूत्रों में ही होती है। इसका परिणाम यह होता है कि विभक्ति संज्ञा, जो सुप् और तिङ् की होती है, वह संज्ञा भी "स्वौजस्" इत्यादि सूत्र तथा "तिप्तस्झि" इत्यादि सूत्र के अन्तर्गत आये हुए प्रत्ययों की इन सूत्रों में ही हो जाती है। इसलिए "न विभक्तौ तुस्माः" इस निषेधक सूत्र की प्रवृत्ति भी तत्रैव = इत् संज्ञा के विषय जो सूत्र में उपात्त हैं, वहीं होती है। तात्पर्य यह है कि इत् संज्ञा, विभक्ति संज्ञा और "न विभक्तौ" का निषेध—ये सारे कार्य सूत्र में ही होते हैं।

अत एव = पदार्थोपस्थिति अनुबन्ध विनिर्मुक्त की ही होती है, इस बात को स्वीकार करने से ही "इदम इश्" इस सूत्र से विधेय "इश्" आदेश जब "इह" इत्यादि प्रयोगों में अनुबन्धविनिर्मुक्त होकर इकार रूप में उपस्थित होता है तब इसे अण् होने के कारण अणत्वात् सवर्ण का ग्रहण प्राप्त होता है और वह सवर्णग्रहण "अणुदित्" सूत्र के अप्रत्यय ग्रहण से निषिद्ध कर दिया जाता है। यह इकार विधीयमान है और जो विधीयमान होता है वह अपने सवर्णी का ग्राहक नहीं होता है। यदि लक्ष्य में अनुबन्धविनिर्मुक्त की उपस्थिति नहीं होती तो लक्ष्य में जो इश् उपस्थित होता वह तो अण् होता ही नहीं। ऐसी स्थिति में वहां सवर्ण का ग्रहण भी प्राप्त नहीं होता तो सवर्ण के ग्रहण की शंका करना और अप्रत्यय ग्रहण के द्वारा उसका वारण करना, ये सारी बातें असंगत हो जातीं।

अब इस प्रसंग में भाष्य का विरोध और उसका परिहार प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि भाष्यकार ने कहा कि "अनेकाल्शित् सर्वस्य" इस सूत्र में शिद्ग्रहण के अभाव में भी "इश्" आदेश अनेकाल् होने के कारण सर्वादेश हो सकता है। इश् आदेश की अनेकालता "शित्" करण से हो रही है। इस भाष्य से विदित होता है कि सूत्र में इत् संज्ञा करके लक्ष्य में अनुबन्ध-विनिर्मुक्त की उपस्थिति में भाष्यकार का तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वे इश् के शकार को अनेकालत्व

का सम्पादक मान रहे हैं। यदि शकार से विनिर्मुक्त इकार मात्र लक्ष्य में आता तो वह केवल एक अल्मात्र ही होता; ऐसी स्थिति में उसे अनेकाल् मानकर सर्वादेश की बात करना भाष्यकार का असंगत ही हो जाता। इससे स्पष्ट है कि लक्ष्य में अनुबन्धविनिर्मुक्त की उपस्थिति नहीं होती है किन्तु पहले शकार की इत् संज्ञा न करके इश् को अनेकाल् मानकर सर्वादेश कर लिया जाता है, इसके बाद लक्ष्य में ही इत्संज्ञा होती है। इस प्रकार लक्ष्य में अनुबन्ध-विनिर्मुक्त की उपस्थिति होती है, इस कथन से उपर्युक्त भाष्य का विरोध स्पष्ट ही हो रहा है। इस शंका को दृष्टिगत करके कह रहे हैं कि भाष्यकार का तात्पर्य यह नहीं है कि लक्ष्य में अनुबन्धसहित की उपस्थिति होती है, किन्तु लक्ष्य में उपस्थिति तो अनुबन्धविनिर्मुक्त की ही होती है। ऐसी स्थिति में अनेकाल्त्वात् सर्वादेश की बात कैसे संगत होगी? तो इसके उत्तर में कह रहे हैं कि तस्य = उस भाष्य का अर्थ यह है कि इश् आदेश में जो इत्संज्ञक शकारकरण किया गया है तथा जिसकी इत् संज्ञा सूत्र में ही हो गई है, उस शकार की इत् संज्ञा होने से पूर्व इश् आदेश में जो अनेकाल्त्व है उस भूतपूर्व अनेकाल्त्व को लेकर लक्ष्य में इकार आदेश सम्पूर्ण के स्थान पर होता है। तात्पर्य यह है कि इश् में शकारकरण के सामर्थ्य से बोध्य और बोधक में अभेदाध्यवसाय कर लिया जाता है। परिणामस्वरूप इश् की भाँति इकार भी अनेकाल् मान लिया जाता है, जिससे उसका सर्वादेशत्व होता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि लक्ष्य में अनुबन्धविनिर्मुक्त की ही उपस्थिति होती है। इसलिए भाष्य से कोई विरोध नहीं है।

"यत्तु" इत्यादि शेखर की पंक्ति की व्याख्या करते समय वहाँ इस प्रकार अन्वय करके उसकी व्याख्या करनी चाहिए—"अनेकाल्सूत्रे शिद्ग्रहणाभावेऽपि इशि शित्करणादेव सर्वादेशत्वमिति।"

अत्र केचित्—"अनुबन्धा अनेकान्ताः = अनवयवाः, यो ह्येकान्तः स कदाचित् तत्रोपलभ्यत एव, अयन्तु न तथा, तदर्थभूते विधेये कदाप्यदर्शनात् 'हलन्त्यमि'त्य-त्रान्त्यशब्दः परसमीपबोधकः, 'चुटू' इत्यादावादिशब्दः पूर्वसमीपबोधकः, 'अनेकाल्शित्इ'त्यादौ समीपे समीप्यमूलकावयवत्वारोपेण बहुव्रीहिः, स्पष्टञ्चेदमुपदेशेऽजि'ति सूत्रे भाष्ये, 'मपर्यन्तस्ये'ति सूत्रे कैयटे च। तेन डा-णलादाविशादौ च न दोषः, अत एव 'उपदेशेऽजि'ति सूत्रे 'उपदेश'ग्रहणं चरितार्थम्। तद्धि 'अभ्र आँ अटित' इत्यादा'वादितश्चे'तीट्प्रतिषेधाभावाय, अनेकान्तत्वे हि तत्प्राप्तिरित्याहुः।

प्रस्तुत प्रसंग इत् संज्ञा को लेकर चल रहा है। जिसकी इत् संज्ञा होती है या जो इत् संज्ञा के योग्य होता है, उसे अनुबन्ध कहते हैं। इस इत् संज्ञा के प्रसंग में यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि अनुबन्ध बोधक के अवयव होते हैं या नहीं? इस प्रकार अनुबन्धों के अवयवानवयवत्व विषयक जिज्ञासा के प्रसंग में कह रहे हैं—अत्र केचित्। कुछ लोगों का कहना है कि अनुबन्ध अनेकान्त होते हैं। अनेकान्त का अर्थ अनवयव है अर्थात् अनुबन्ध बोधक के अनवयव होते हैं अर्थात् अनुबन्ध बोधक के अवयव नहीं होते हैं। क्योंकि जो जिसका अवयव होता है, वह

कभी-न-कभी उसके विधेय में अवश्य देखा जाता है। उदाहरण के लिए तिप् का इकार और सुप् के उकार को लिया जा सकता है। ये दोनों "पठति" और "रमासु" इन प्रयोगों में विधेय के साथ देखे जाते हैं। अनुबन्ध ऐसे नहीं होते, क्योंकि वे तदर्थभूत विधेय अर्थात् स्व विधेय के साथ कभी नहीं देखे जाते हैं। यहाँ तत्र का अर्थ विधेय है और तदर्थभूत में तद् शब्द का अर्थ बोधक है। उदाहरण के लिए "जुगुप्सते" के सकार का बोधक "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" का सन् है। इसलिए सूत्रघटक सन् का विधेय लक्ष्यस्थ सकार होता है, अतः यह तदर्थभूत विधेय कहा जाता है। सन् का नकार उसके विधेय सकार के साथ कभी नहीं देखा जाता, अतः वह सन् का अवयव नहीं है।

अब यहाँ शंका होती है कि जब "सन्" का नकार उसका अवयव नहीं है तो "हलन्त्यम्" सूत्र से उसकी इत् संज्ञा कैसे होगी, क्योंकि यह सूत्र उपदेशावस्था में अन्त्यावयव हल् की इत् संज्ञा करता है?

उपर्युक्त व्याख्यान से यह सिद्ध हुआ है कि सन् का नकार उसका अवयव है ही नहीं तो उसकी इत् संज्ञा किस प्रकार होगी? और जब इत् संज्ञा ही नहीं होगी तो अनुबन्धत्व के अभाव में उसके अवयवानवयवत्व का विचार कहाँ तक संगत होगा? यदि कहा जाय कि सन् के नकार में सन्निरूपित अवयवत्व का आरोप कर दिया जायेगा तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "शित्, णित्, कित्" आदि इत्घटित धर्म के अतिदेश के लिए ही अवयवत्व का आरोप किया जाता है, इसीलिए "शकारः अवयवः इत् यस्यासौ शित्" इस प्रकार की व्युत्पत्ति के आधार पर "शप्" को शित् कहा जाता है।

"हलन्त्यम्" सूत्र में तो ऐसी कोई बात नहीं है, किन्तु यहाँ तो इत् संज्ञा ही करनी है, इसलिए यहाँ अवयवत्व का आरोप सम्भव नहीं है। इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि "हलन्त्यम्" में अन्त्य शब्द पर-समीप का बोधक है। इसलिए उपदेश में पर-समीप की इत् संज्ञा होती है, ऐसा अर्थ करने से उपर्युक्त दोष का निराकरण हो जाता है। इसी प्रकार "चुटू" सूत्र में आदि शब्द पूर्व-समीप का बोधक है। इसलिए "जस्" और "टा" आदि विभक्तियों में पूर्व में विद्यमान जकार और टवर्ग के टकार की इत् संज्ञा हो जाती है।

अब शंका होती है कि "अनेकाल् शित् सर्वस्य" इत्यादि सूत्रों में जो शित् शब्द आया है उसका विग्रह 'शकारः अवयवः इत् यस्यासौ शित्' इस प्रकार होता है। इसी प्रकार कित्, णित्, आदि शब्दों की व्युत्पत्ति होती है। किन्तु अनुबन्धों को अनेकान्त (अनवयव) मानने पर यह व्युत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि अनुबन्ध तो अवयव है ही नहीं? इस प्रकार की शंका के निराकरण के लिए कह रहे हैं कि "अनेकाल् शित् सर्वस्य" में जो शित् पद आया है उसमें बहुव्रीहि समास आरोपित अवयवत्व के आधार पर होता है। तात्पर्य यह है कि "शी" का शकार, क्नु का ककार, जिनकी इत् संज्ञा होने वाली है, वे समीप में उच्चारित अनुबन्ध हैं। इनका अनुबन्धत्व इत्संज्ञायोग्यत्व रूप है। इसलिए "स्वसमीपोच्चारिते अनुबन्धे स्वनिरूपितावयवत्वमारोप्यते" इस नियम से उनमें शी और क्नु निरूपित अवयवत्व का आरोप कर दिया जाता है। इस प्रकार शित् और कित् इत्यादि शब्दों का उक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यहाँ संगत हो जाता है। यह बात "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। "मपर्यन्तस्य"

इस सूत्र के कैयट में भी यह बात स्पष्ट की गई है। तेन = आदि और अन्त्य शब्द को क्रमशः पूर्वसमीप और परसमीप का बोधक स्वीकार करने से ही तिप् के स्थान पर किये गये "डा" के डकार की तथा तिप् के स्थान पर किये गये 'णल्' के णकार की "चुटू" सूत्र से तथा "इश्" के शकार की "हलन्त्यम्" सूत्र से इत् संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार कोई दोष नहीं रहता है। अत एव = अनुबन्धों को अनेकान्त (अनवयव) मानने से ही "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इस सूत्र में उपदेशग्रहण चरितार्थ होता है। उपदेश में अनुनासिक अच् की इत् संज्ञा करने के लिए यह उपदेशग्रहण है। इसका फल यह है कि "अभ्र आँ अटितः" का "आँ" जो उद्देश है इसकी इत् संज्ञा नहीं होती है। उपदेश और उद्देश में यही अन्तर है कि उपदेश प्रत्यक्ष आख्यान को कहते हैं और उद्देश वह होता है जो गुण के द्वारा जाना जाय। "प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशः" "गुणैः प्रापणमुद्देशः" इस भाष्यवचन से उपदेश और उद्देश के उपर्युक्त स्वरूप का निर्णय होता है। उपदेश के रूप में स्वादि, तिबादि अथवा किसी प्रत्यय का ग्रहण किया जा सकता है जिनका प्रत्यक्ष कथन किया गया है। "अभ्र आँ अटितः" का जो "आँ" है यह "आङोऽनुनासिकः छन्दसि" इस सूत्र से अनुनासिक बनाया गया है। अनुनासिकत्व धर्म गुण है, इसके द्वारा "आँ" का अनुनासिकत्व ज्ञात होने के कारण "आँ" यह उद्देश है, उपदेश नहीं है। "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" सूत्र में यदि उपदेश ग्रहण नहीं किया जायेगा तो अनुनासिक जिस किसी की इत् संज्ञा करने पर "इस उद्देश आँ की इत् संज्ञा होने लगेगी। इत्संज्ञा करने का परिणाम यह होगा कि इत्संज्ञक यह "आँ" अनुबन्ध कहा जायेगा। यह अनुबन्ध 'अट्' धातु के समीप में पठित है, इसलिए "स्वसमीपोच्चारितेऽनुबन्धे स्वनिरूपितावयवत्वमारोप्यते" इस नियम के आधार पर इसमें "अट्" धातु के अवयवत्व का आरोप होगा। इस आरोप का परिणाम यह होगा कि "अट्" धातु आदित् कहा जायेगा, जिससे "आदितश्च" सूत्र से यहाँ इट् का निषेध होने लगेगा और "अटितः" प्रयोग की अनुपपत्ति होने लगेगी। इसलिए उपदेशग्रहण किया गया, जिससे अनुनासिक उद्देश की इत् संज्ञा न हो।

यह बात अनुबन्धों के अनेकान्त पक्ष में ही संगत होती है। इसी पक्ष में स्वसमीपोच्चारित अनुबन्ध में स्वावयवत्व का आरोप होता है, न कि अनुबन्धों के एकान्तपक्ष में। एकान्त पक्ष में तो वास्तविक अवयव ही अवयव कहा जाता है, न कि आरोपित अवयव। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि "अनेकान्ता अनुबन्धाः" इसी पक्ष में उपदेशग्रहण चरितार्थ होता है। जैसा कि ऊपर व्याख्यान किया जा चुका है कि "अभ्र आँ अटितः" प्रयोग में "आदितश्च" सूत्र से इट् के निषेध के वारण के लिए ही उपदेशग्रहण है। यह इट् का निषेध अनुबन्धों के अनेकान्त पक्ष में ही प्राप्त होता है, क्योंकि इसी पक्ष में "आँ" में अट् धातु के अवयवत्व का आरोप करने से अट् धातु आदित् होता है, जिससे उसे इट् के निषेध की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त प्रकार से अनुबन्धों का बोधकानवयवत्व (अनेकान्तत्व) बतलाया गया, किन्तु इसके उपक्रम में "केचित्तु" शब्द का उल्लेख करके इस पक्ष को अरुचिग्रस्त भी सूचित कर दिया गया है। इस पक्ष में अरुचि के निम्नलिखित कारण हैं—

(१) शित्, कित्, णित् इत्यादि शब्दों में समास उपपन्न करने के लिए "स्वसमीपोच्चारितेऽनुबन्धे स्वनिरूपितावयवत्वमारोप्यते" इस आरोपक वाक्य को स्वीकार करना पड़ता है।

(२) सन् इत्यादि शब्दों में नकारादि जब अवयव ही नहीं है तो तद्घटित सनादि शब्दों से विभक्ति नहीं होनी चाहिए, अतः वहाँ सौत्रत्वात् विभक्ति की परिकल्पना करनी पड़ती है।

(३) "चुटू" सूत्र में आदि शब्द की पूर्वसमीप में तथा "हलन्त्यम्" इत्यादि में अन्त्य शब्द की परसमीप में लक्षणा करनी पड़ती है।

(४) "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" सूत्र से विधेय आन् का नकार विधेय के साथ लक्ष्य में कभी नहीं देखा जाता। जैसे "मातापितरौ" प्रयोग में केवल आकार ही दिखायी पड़ता है। इस प्रकार आनङ् के नकार में "विधेये कदाप्यदर्शनात्" यह हेतु तो जाता है, परन्तु "बोधकानवयवाः" यह साध्य उसमें नहीं जाता है। इस प्रकार साध्याभावाधिकरण में हेतु की सत्ता रह जाने के कारण प्रस्तुत हेतु व्यभिचरित भी हो जाता है।

इन सब कारणों से "अनेकान्ता अनुबन्धाः" इस पक्ष में अरुचि आने के कारण सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं—

परे तु"—एकान्ता एव, शास्त्रे तत्रोपलम्भादन्यत्रानुपलम्भाच्च। अनवयवो हि काकादिरेकजातीयसम्बन्धेन गृहवृक्षादिषूपलभ्यते, नैवमयम्। किञ्चानवयवत्वे ण-श-कप्रत्ययादौ णादेरित्त्वानापत्तिः, प्रत्ययादित्वाभावात्। एवमन्त्यत्वाभावादिशादेः शस्येत्त्वानापत्तिः। उक्तार्थलाक्षणिकत्वे तु लक्षणैव दोषः। किञ्च-दघ्नचश्चकारवैयर्थ्यापत्त्याऽवयवत्वमेव न्याय्यम्। अत एव 'वुञ्छण्कठजि'ति सूत्रविहितके णित्त्वप्रयुक्तवृद्धिर्न। 'तस्य लोपः' इति भाष्ये—'एकान्तत्वमेव न्याय्यमि'त्युक्तेश्च। 'उपदेशेऽजि'तिसूत्रे उपदेशग्रहणन्तु स्पष्टार्थमेव—" इत्याहुः। सर्वत्रानुबन्धसहितनिर्देशे विधौ—'गुप्तिज्किद्भ्य' इत्यादौ 'नकारेत्सञ्ज्ञकः सो भवति' इत्यादिक्रमेण बोधः। अनुवादे 'सन्यत' इत्यादौ च—'नकारेत्सञ्ज्ञके सशब्दे परे' इत्यादिक्रमेण बोधः। स्पष्टञ्चेदं निष्ठासञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये। अत एवाऽऽटश्चेत्यादेर्नासङ्गतिः। अन्यथा यत्राऽऽट् सूत्रे, तत्र नाच्परो, नेष्यते च तत्र वृद्धिः। यत्र प्रयोगे इष्यते वृद्धिस्तत्र नाऽऽडिति तदसङ्गतिः स्पष्टैव। अन्त्यङ्किम्? वाचालः। हल्किम्? चिरिणोतीत्यादौ धातोरन्त्यस्य मा भूत्।

वास्तव में तो अनुबन्ध एकान्त (अवयव) ही होते हैं। इसका कारण यह है कि अनुबन्ध, "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्", "इदम इश्" इत्यादि शास्त्र (सूत्र), जो तत्तद् प्रत्ययों के या आदेशों के विधायक हैं, उनमें बोधक के साथ उपलब्ध होते हैं, अन्यत्र उनकी उपलब्धि नहीं होती है। यहाँ "तत्र" इस पद का अर्थ बोधक है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुबन्ध बोधक के अवयव होते हैं। "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" इस सूत्र का सन् बोधक है और "जुगुप्सते" इस लक्ष्य का सकार बोध्य है। सन् के साथ नकार बराबर देखा जाता है। लक्ष्य में नकार नहीं देखा जाता। इसलिए नकार सन् रूपी बोधक का अवयव है। वह बोध्य का अवयव नहीं है। यहाँ इस प्रकार अनुमान-वाक्य का प्रयोग होगा—"अनुबन्धाः बोधकावयवाः बोधके उपलम्भात्, अन्यत्रानुपलम्भाच्च।" व्यतिरेकव्याप्ति के द्वारा इस बात की पुष्टि की जा रही है कि काक इत्यादि पक्षी एकजातीय सम्बन्ध से अर्थात् किसी एक सम्बन्ध-विशेष से गृह और वृक्ष आदि

पर देखे जाते हैं, इसलिए काकादि वृक्ष और गृह के अवयव नहीं होते हैं। अनुबन्ध एकजातीय सम्बन्ध से बोधक के साथ तथा बोधक से भिन्न के साथ कभी नहीं देखे जाते। तात्पर्य यह है कि काक कभी वृक्ष पर, कभी घर पर और कभी और जगह संयोगसम्बन्ध से बैठा हुआ देखा जाता है। उसका संयोग उस स्थान से तात्कालिक होता है। इसलिए काक गृह-वृक्षादि का अवयव नहीं है। सन् के नकार की स्थिति इससे भिन्न है। वह सन् के साथ ही समवाय सम्बन्ध से अथवा "सकारोत्तरोच्चारणविषयत्व" सम्बन्ध से रहता है, किसी और के साथ नहीं रहता है। इसलिए जो जिसके साथ एकजातीय सम्बन्ध से उपलब्ध हो और अन्यत्र उपलब्ध न हो वह उसका अवयव होता है। इस नियम के आधार पर अनुबन्ध बोधक के अवयव सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि अनुबन्ध बोधक के अवयव होते हैं। यदि उन्हें बोधक का अवयव नहीं माना जाय तो उनके अनवयवत्व की स्थिति में "ण, श और क" प्रत्ययों के णकार, शकार और ककार की इत् संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि इत् संज्ञा करने वाले सूत्र "चुटू" और "लशक्वतद्धिते" के द्वारा प्रत्यय के आदि अवयव णकारादिकों की ही इत् संज्ञा की जाती है। अनवयव पक्ष में अनुबन्ध तो अवयव है ही नहीं, इसलिए इनकी इत् संज्ञा सम्भव नहीं है। इसी प्रकार अन्त्य अवयव न होने के कारण "इश्" के शकार की "हलन्त्यम्" से इत् संज्ञा नहीं होगी। यदि इस दोष को दूर करने के लिए आदि शब्द की पूर्वसमीप में लक्षणा और अन्त्य शब्द की परसमीप में लक्षणा की जाती है तो लक्षणा के द्वारा "ण श और क" वर्णों की इत् संज्ञा सम्भव होने पर भी अनवयव पक्ष में लक्षणा का आश्रयण करना ही दोष होता है। अनुबन्ध को जब अवयव माना जाता है तो ण, श और क इनके प्रत्यय का आदि अवयव और अन्त्यावयव होने के कारण इनकी इत् संज्ञा अनायासेन हो जाती है।

अनुबन्ध को बोधक का अनवयव मानने पर "प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः" इस सूत्र में पठित "दघ्नच्" प्रत्यय का चकार अनुबन्ध व्यर्थ हो जाता है। इसका कारण यह है कि इस पक्ष में सामीप्य के आधार पर अनुबन्धों में अवयवत्व का आरोप किया जाता है। ऐसी स्थिति में "द्वयसच्" का चकार ही "दघ्नच्" का भी अवयव हो जायेगा, तो दघ्नच् के चकार की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार दघ्नच् का चकार व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए अनुबन्धों का अवयवत्व मानना ही न्याय्य है। अत एव = अनुबन्धों का अवयव होना ही न्याय्य है, इस बात को स्वीकार करने से ही "वुञ्छण्कठच्" इत्यादि सूत्र में पठित 'छण्' प्रत्यय का णकार उसी का अवयव होता है, न कि क प्रत्यय का अवयव। इसलिए क प्रत्यय पर में रहने पर "ऋश्यकम्" प्रयोग में णित्व के कारण होने वाली वृद्धि नहीं होती है। यदि अनुबन्धों का अनेकान्तत्व पक्ष मान्य होता तो सामीप्य के कारण छण् के णकार में कप्रत्ययनिरूपित अवयवत्व का आरोप होता और उसके णित् होने के कारण "ऋश्यकम्" प्रयोग में णित्वप्रयुक्त वृद्धि दुर्निवार हो जाती। "तस्य लोपः" सूत्र के भाष्य में अनुबन्धों का एकान्तत्व = अवयवत्व ही न्याय्य है, ऐसा कहने से भी इसी बात की सम्पुष्टि होती है।

अब प्रश्न होता है कि यदि अनुबन्धों का एकान्तत्व पक्ष ही मान्य है तब "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" सूत्र में उपदेशग्रहण की क्या गति होगी? क्योंकि यह बात पहले बताई जा चुकी है कि

उक्त उपदेशग्रहण की सार्थकता तो अनुबन्धों के अनेकान्त पक्ष में ही होती है। इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि अनुबन्धों के एकान्त पक्ष में तो "उपदेशेऽच्" सूत्र का उपदेशग्रहण स्पष्टार्थ है। उसका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है।

पहले कह आये हैं कि उपदेश के उत्तरकाल में ही इत् संज्ञा होने के कारण पदार्थोपस्थिति अनुबन्धविनिर्मुक्त की होती है। ऐसी स्थिति में "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" इस सूत्र का वाक्यार्थ-बोध इस प्रकार कैसे होगा कि "गुप्, तिज् और कित् धातुओं से सन् प्रत्यय होता है?" इस आशंका के उत्तर में कह रहे हैं कि सब जगह जहाँ अनुबन्ध-सहित निर्देश किया गया है; जैसे उदाहरणार्थ "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" यह विधिसूत्र है। ऐसे विधिसूत्रों का अर्थ करते समय ऐसा वाक्यार्थबोध किया जायेगा कि 'गुप्तिज्कित् धातुओं से पर में नकार इत्संज्ञक सकार होता है।' इसी प्रकार सभी विधेय स्थल में वाक्यार्थबोध करना चाहिए। जहाँ पर सन् आदि अनुवाद (उद्देश्य) कोटि में आवे; जैसे—"सन्यतः" सूत्र में सन् विधेय न होकर उद्देश्य कोटि में आया है—क्योंकि इसका अर्थ है, सन् से अव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट अकार को इकार हो। ऐसे स्थलों पर जब कि अनुबन्धविनिर्मुक्त की उपस्थिति लक्ष्य में हुई है तब इस सूत्र का वाक्यार्थबोध ऐसा करना चाहिए कि "नकार इत्संज्ञक स शब्द पर में रहने पर अकार को इकार होता है"।

वस्तुतस्तु "सन्यतः" इत्यादि अनुवाद-स्थल में ही नकारेत्संज्ञक सकार पर में रहने पर अकार को इकार हो, इस अर्थ की उपयोगिता है। 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इस सूत्र का अर्थ यदि, इन धातुओं से सन् प्रत्यय होता है, ऐसा भी किया जाय तो कोई क्षति नहीं है; क्योंकि वाक्यार्थबोध से पूर्व उपदेश का ज्ञान न होने के कारण वहाँ इत् संज्ञा ही नहीं होगी। ऐसी स्थिति में इस सूत्र के वाक्यार्थ बोध में नकारेत्संज्ञक का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इदम् = यह बात कि "सब जगह विधेय स्थल में अनुबन्ध = इत्संज्ञक वर्ण रहित तत्तद् विधेय होते हैं निष्ठासंज्ञाविधायक "क्तक्तवतू निष्ठा" सूत्र के भाष्य में कही गई है। भाष्यकार ने वहाँ कहा है कि प्रयोग में तो अनुबन्ध का अभाव ही रहेगा, इसलिए उसके औपदेशिक रूप को लेकर तत्तत् कार्य किये जाने चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि विधेय स्थल में सब जगह "गुप्तिज्किद्भ्यः" की भाँति वाक्यार्थबोध करना चाहिए। अत एव = "उस प्रकार का वाक्यार्थबोध स्वीकार करने से ही" "आटश्च" सूत्र की असंगति नहीं होती है। इसका तात्पर्य यह है कि—

"आटश्च" यह सूत्र आट् से अच् पर में रहने पर पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश करता है। यहाँ आट् से परे अच् का तात्पर्य है—टकारेत्संज्ञक आकार से पर में अच् का रहना। इसी प्रकार आट्विधायक सूत्र "आडजादीनाम्" का भी अर्थ है— लुङ्, लङ् और लृङ् लकार पर में रहने पर अजादि धातु को टकारेत्संज्ञक आकार का आगम होता है। इस प्रकार विधि और अनुवाद (विधेय और उद्देश्य—दोनों जगह) इस उपर्युक्त विधि से अर्थ करने का परिणाम यह होता है कि "अधि-आ-इ-स्-त" इस स्थिति में टकारेत्संज्ञक आकार से पर में इकार रूपी अच् के होने के कारण वृद्धि होकर "अध्यैष्ट" प्रयोग की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार अन्य अजादि धातुओं के तत्तद् प्रयोग सिद्ध होते हैं। यदि "आटश्च" सूत्र का अर्थ

उपर्युक्त प्रकार से न करके "आट् से पर में अच् रहने पर वृद्धि होती है" ऐसा अर्थ किया जाता तो "आडजादीनाम्" सूत्र में जहाँ आट् है वहाँ न तो उससे पर में अच् है और न वहाँ वृद्धि करना अभीष्ट ही है। 'अध्यैष्ट' 'ऐधत' आदि प्रयोगों में जहाँ वृद्धि करना अभीष्ट है वहाँ "आट्" ही नहीं है। इस प्रकार ऐसी स्थिति में "आटश्च" सूत्र की असंगति स्पष्ट ही है। इसलिए विधि और अनुवाद स्थलों में अनुबन्धघटित पदों का अर्थ पूर्वोक्त रीति से ही करना चाहिए।

"हलन्त्यम्" इस सूत्र में यदि "अन्त्यम्" इस पद का ग्रहण नहीं किया जाय तो "वाचालः" इस प्रयोग में जो "आलच्" प्रत्यय किया गया है इसके लकार की भी इत् संज्ञा होने लगेगी, क्योंकि अब अन्त्य हल् न लेकर किसी भी हल् की इत्संज्ञा होने में कोई बाधा नहीं है। इसलिए सूत्र में "अन्त्यम्" पद का ग्रहण करना आवश्यक है। इसी प्रकार यदि सूत्र में "हल्" ग्रहण न किया जाय तो अन्त्य मात्र की इत्संज्ञा करने की स्थिति में 'चिरिणोति' इस प्रयोग में आये हुए 'चिरि' धातु के अन्त्य इकार की इत् संज्ञा होने लगेगी। इसलिए सूत्र में "हल् ग्रहण भी आवश्यक है।

आद्योच्चारणमिति। आद्यमुच्चारणमित्यर्थः, भावे घञिति. भावः। तच्च प्रत्यासत्त्यैतच्छास्त्रप्रवर्तकाचार्याणामेव। आद्यत्वञ्च–अज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकत्वम्। उपस्याद्यर्थत्वाद्दिशेरुच्चारणक्रियत्वात्। अत एव 'एकाच उपदेशे' इति सूत्रे कैयटेनोक्तम्–'इत्सञ्ज्ञाविधावुच्चारणवचन उपदिशिर्गृह्यते'–इति। 'आदेच' इति सूत्रेऽपि–'येषां स्वरूपज्ञापनायापूर्वमुच्चारणं तेषामेवोपदेशव्यवहारः'–इति। तत्र सूत्रे भाष्येऽपि–'उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेश–' इति। प्रकृतसूत्रे भाष्येऽपि–'प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशः'–इत्युक्तम्। तस्य चोक्त एवार्थः।

"हलन्त्यम्" सूत्र उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् की इत् संज्ञा करता है। प्रश्न होता है कि उपदेश किसे कहते हैं? इस जिज्ञासा में कौमुदीकार ने कहा—"उपदेश आद्योच्चारणम्"। नागेश भट्ट इसी "आद्योच्चारण" प्रतीक को लेकर प्रस्तुत प्रकरण को कह रहे हैं। इस प्रकरण की व्याख्या से पूर्व यह जान लेना जरुरी है कि "उपदेश" शब्द की व्युत्पत्ति और उसके अर्थ के सम्बन्ध में दीक्षित और नागेश का वैमत्य है। दीक्षित आदि प्राचीन वैयाकरण उपपूर्वक दिश् धातु से भाव में घञ् और लघूपध गुण करके उपदेश शब्द की सिद्धि करते हैं। इनके अनुसार उपदेश शब्द की व्युत्पत्ति होगी "उपदेशनम् उपदेशः"। इस व्युत्पत्ति के अनुसार "उपदेश" शब्द का अर्थ होता है—आद्योच्चारण, क्योंकि उप शब्द आद्य अर्थ का वाचक है और दिश् धातु उच्चारण क्रिया को कहता है। इस प्रकार उपदेश शब्द का उपर्युक्त अर्थ होता है।

नागेश भट्ट उपदेश शब्द की इस व्युत्पत्ति से असहमत हैं। इनके अनुसार "उपदेश" शब्द की व्युत्पत्ति होती हैं— "उपदिश्यते येन असौ उपदेशः" अर्थात् जिसके द्वारा उपदेश किया जाय वह उपदेश है। इस मत के अनुसार उपदेश शब्द में घञ् प्रत्यय करण अर्थ में हुआ है। इनके अनुसार उपदेश शब्द का अर्थ है शास्त्र। शास्त्र का तात्पर्य प्रयोग-सिद्धि में करणभूत धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, निपात, आगम और आदेश से है। वस्तुस्थिति तो यह है कि प्राचीन वैयाकरण इस व्याकरणशास्त्र में जहाँ सर्वत्र उपदेश शब्द को भावघञन्त और

आद्योच्चारणार्थक मानते हैं, वहाँ नागेश भट्ट केवल "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इस सूत्र के उपदेश शब्द को करणघञन्त मानते हैं। अन्यत्र तो उपदेश शब्द के भावघञन्त में ही इनका भी तात्पर्य है। इसी सन्दर्भ में प्राचीन मत को व्याख्यायित करते हुए कह रहे हैं कि उपदेश शब्द का अर्थ आद्य उच्चारण है। यह आद्य उच्चारण इस शास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों का ही यहाँ ग्राह्य है, क्योंकि इस प्रसंग में वे ही यहाँ उपस्थित हैं। अब प्रश्न होता है कि उच्चारण का आद्यत्व क्या है? इस जिज्ञासा में कह रहे हैं कि अज्ञातस्वस्वरूप का बोधक होना ही उच्चारण का आद्यत्व है। जिस आनुपूर्वी का उच्चारण किया जाय और उस उच्चारण से उसी आनुपूर्वी का बोध होता हो तो वह उच्चारण आद्योच्चारण कहा जाता है। जैसे अइउण् ऋलृक् आदि चौदह सूत्रों के उच्चारण से इन्हीं चौदह सूत्रों का बोध होता है, इसलिए ये चौदह सूत्र उपदेश कहे जाते हैं। इसी प्रकार सु, औ, जस्, टाप्, शीङ्, ङीप् आदि आनुपूर्वी का उच्चारण भी उपदेश कहा जाता है। अच्, हल् इत्यादि प्रत्याहार, प्रत्यय, टि, घु, षट् आदि संज्ञाएँ अपने स्वरूप की बोधिका न होकर अपने-अपने संज्ञी की बोधिका हैं, अतः इन्हें उपदेश नहीं कहा जा सकता। वस्तुतस्तु उच्चारण को उपदेश न कह कर उच्चारण के विषय को उपदेश कहना चाहिए। अइउण् इत्यादि का जो उच्चारण किया जाता है वे 'अइउण्' आदि उस उच्चारण के कर्म या विषय होते हैं। इसलिए अज्ञातस्वरूप का ज्ञापक उच्चारण का जो विषय होता है वह उपदेश है।

उपदेश शब्द का ऐसा अर्थ इसलिए होता है कि उपदेश शब्द में जो उप शब्द है वह आद्य अर्थ का वाचक है और दिश् धातु उच्चारण क्रिया का वाचक है। अत एव= उपदेश शब्द आद्योच्चारणार्थक है, इस बात को स्वीकार करने से ही "एकाच उपदेशे" इस सूत्र में कैयट ने कहा कि इत्संज्ञाविधि में जो उपदेश शब्द आया है, उससे उच्चारण का वाचक 'उपदेश' शब्द का ग्रहण किया जाता है। आदेच उपदेशेऽशिति" इस सूत्र में भी कैयट ने कहा है कि जिनके स्वरूप के ज्ञापन (बोध) के लिए अपूर्व (आद्य) उच्चारण किया जाता है उन्हीं का उपदेश शब्द से व्यवहार किया जाता है। तत्र सूत्रे= "आदेच उपदेशेऽशिति" इस सूत्र के भाष्य में भी कहा गया है कि प्रातिपदिकों का उद्देश किया गया है, इनका उपदेश (आद्योच्चारण) नहीं किया गया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार गाय का सींग या कान पकड़ कर कहा जाता है कि 'यह गाय है' इस प्रकार प्रातिपदिक का प्रत्यक्ष आख्यान (कथन) नहीं किया गया है, क्योंकि ऐसा करना सम्भव नहीं है। किन्तु तत्तद्धातुओं से तत्तद् प्रत्यय करके विभिन्न शब्द बनते हैं, इस प्रकार प्रातिपदिकों का उद्देश किया गया है।

इस भाष्य में आये हुए उपदेश शब्द से भी यही सिद्ध होता है कि उपदेश शब्द भावघञन्त और आद्योच्चारण अर्थ वाला है। यह बात केवल "आदेच उपदेशेऽशिति" सूत्र के भाष्य में ही नहीं है, किन्तु प्रकृत सूत्र= "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" सूत्र के भाष्य में भी कहा गया है कि "प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशः" अर्थात् प्रत्यक्ष वस्तु का जो कथन (उच्चारण) है वही उपदेश है। इस प्रकार स्पष्ट है कि "तस्य च = उपदेश शब्द का" उक्त एवार्थः= आद्योच्चारण ही अर्थ है।

परे तु—"उपदेश इति किमर्थम्? 'अभ्र आँ अपः'। कः पुनरुद्देशोपदेशयोर्विशेषः?' इति भाष्ये उक्तम्। यदि प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशो गुणैः

प्रापणमुद्देशस्तर्हि 'लृटः सद्वा' 'निष्ठे'ति विहितानां शतृशानच्क्तक्तवतूनामवयवस्येत्सञ्ज्ञानापत्तिः। तथा 'राजसूयसूर्य', 'चित्याग्निचित्ये'त्यादिनिपातनानुमितक्यबादीनां पादेरित्त्वानापत्तिः। 'वदः सुपी'त्यत्रोच्चारितस्तु नैतत्सम्बन्धी। अत एव 'तस्यापत्यमत इञ्' इति न्यासेऽन्यशब्दसम्बद्धापत्यार्थस्यानुक्तरूपशेषत्वमुक्तमाकरे। तस्मादत्र सूत्रे उपदेशशब्देनोद्देशस्यापि ग्रहणं वक्तव्यम्। एवम् 'अभ्र आँ अप' इत्यादावपि प्राप्नोतीति तेषां सङ्ग्रहोऽस्य व्यावृत्तिर्येन भवति स विशेषः कः? इति प्रश्नः।

इस सम्बन्ध में नागेश भट्ट "परे तु" इस शब्द से अब अपना मत कह रहे हैं कि "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने शंका किया कि इस सूत्र में "उपदेश" इस पद की क्या आवश्यकता है? ऐसी शंका करके उत्तर में कहा कि यदि इस सूत्र में उपदेश ग्रहण नहीं किया जायेगा तो 'अनुनासिक अच् की इत् संज्ञा हो' इतना मात्र सूत्रार्थ होने पर "अभ्र आँ अपः" इस वाक्य में जो उद्देश "आँ" यह अनुनासिक है, उसकी भी इत् संज्ञा होने लगेगी। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि "आङोऽनुनासिकश्छन्दसि" इस सूत्र से "आँ" यह अनुनासिक बनाया गया है। अनुनासिकत्व यह गुण है, इसके द्वारा प्रतिपादन होने के कारण "आँ" यह उद्देश है। इसकी इत् संज्ञा न होने लगे इसलिए सूत्र में उपदेश ग्रहण किया गया है। ऐसा कह कर भाष्यकार ने पुनः प्रश्न किया कि उद्देश और उपदेश में क्या विशेषता है? यदि कहा जाय कि 'प्रत्यक्ष का कथन उपदेश है और गुणों के द्वारा प्रापण (प्रतिपादन) करना उद्देश है तो "लृटः सद्वा" इस सूत्र से विधेय सत्संज्ञक शतृ और शानच् प्रत्यय के अवयवों शकार, ऋकार और चकार की तथा "निष्ठा" सूत्र से विधेय क्त और क्तवतु प्रत्ययों के अवयव ककार और उकार की इत् संज्ञा नहीं हो सकेगी, क्योंकि शतृ और शानच् का प्रत्यक्ष कथन न करके सत् शब्द के द्वारा इनका विधान किया जा रहा है। इसी प्रकार क्त और क्तवतु प्रत्ययों का प्रत्यक्ष नामोल्लेख न करके निष्ठा शब्द के द्वारा विधान किया जा रहा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष आख्यान के अभाव में उक्त दोनों स्थलों पर वाञ्छित इत् संज्ञा नहीं हो सकेगी। यदि कहा जाय कि शकार और ऋकार इत्संज्ञक अत् का तथा शकार और चकार इत्संज्ञक आन का परामर्श "तौ" इस पद से होगा। इन वर्णों की इत् संज्ञा तो "लटः शतृशानचौ" इस सूत्र में प्रत्यक्ष आख्यान के आधार पर ही हो जाती है। इसी प्रकार "क्तक्तवतू निष्ठा" इस सूत्र में किये गये प्रत्यक्ष आख्यान के आधार पर ही इत् संज्ञा करके "निष्ठा" सूत्र से अनुबन्धविनिर्मुक्त त और तवत् की उपस्थिति लक्ष्य में करने से कोई दोष नहीं है, तो इस अरुचि को ध्यान में रख कर आद्योच्चारणार्थक उपदेश शब्द की विसंगति दिखाते हुए नागेश का कहना है कि प्राचीनाभिमत उपदेश पदार्थ को स्वीकार करने पर "राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्य" इत्यादि सूत्र में पठित राजसूय, सूर्य, मृषोद्य आदि सात शब्द, जो बिना क्यप् प्रत्यय के सिद्ध नहीं हो सकते, इन शब्दों की सिद्धि के लिए निपातन का आश्रय लिया गया और उस निपातन से जिस क्यप् का अनुमान किया गया, इस निपातनानुमित क्यप् के ककार की तथा पकार की इत् संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि इस क्यप् का प्रत्यक्ष आख्यान नहीं हुआ है।

इसी प्रकार "चित्याग्निचित्ये च" इस सूत्र से निष्पाद्य "चित्य" और "अग्निचित्या" इन प्रयोगों में भी क्यप् प्रत्यय निपातन से ही किया गया है। इस निपातनानुमित क्यप् के अवयवों की इत् संज्ञा इसलिए नहीं होगी; क्योंकि इसका भी प्रत्यक्ष आख्यान नहीं है। यदि कहा जाय कि "वदः सुपि क्यप् च" इस सूत्र में क्यप् का प्रत्यक्ष आख्यान होने से इसे उपदेश मान कर यहाँ इत् संज्ञा सुलभ है तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि 'वदः सुपि' सूत्र से विहित क्यप् एतत् सम्बन्धी = राज उपपद सु धातु के उत्तर विहित क्यप् का बोधक नहीं है। इसी प्रकार वह क्यप् चि धातु से उत्तर विहित क्यप् का भी बोधक नहीं है, किन्तु वह तो केवल वद् धातु सम्बन्धी क्यप् का बोधक है। इसलिए निपातनानुमित क्यप् अनुपदिष्ट ही रहता है। इसलिए इसके ककारादिकों की इत्संज्ञा नहीं होगी।

अत एव = जो जिससे विहित होता है वह उसी का सम्बन्धी होता है, इस बात को स्वीकार करने से ही आकर-ग्रन्थ की यह उक्ति संगत होती है कि "तस्यापत्यम्" और "अत इञ्" इन दोनों सूत्रों की जगह "तस्यापत्यमत इञ्" ऐसा एक सूत्र करने पर अकारान्त शब्द सम्बन्धी अपत्य अर्थ के उक्त होने पर भी अकारान्त से भिन्न शब्द सम्बन्धी अपत्य अर्थ तो अनुक्त ही रहता है। इस प्रकरण की स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार है—प्रश्न होता है कि "तस्यापत्यम्" सूत्र से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय का विधान करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपत्य अर्थ भी इदमर्थ के भीतर आता है। इसलिए जहाँ अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय अभीष्ट है वहाँ इदमर्थ में ही अण् प्रत्यय करने से कार्य चल सकता है। ऐसी स्थिति में "तस्यापत्यम्" सूत्र से अपत्य अर्थ में अण् का विधान ठीक नहीं है। यदि कहा जाय कि 'अत इञ्' इस अग्रिम सूत्र में अनुवृत्ति के लिये "तस्यापत्यम्" सूत्र आवश्यक है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि अनुवृत्ति मात्र ही इसका प्रयोजन है तो "तस्यापत्यमत इञ्" ऐसा ही न्यास करना उचित था, किन्तु ऐसा न करके "तस्यापत्यम्" यह जो पृथक् सूत्र किया गया है इस पृथक्करण की क्या आवश्यकता है? इस शंका के समाधान में कहा गया कि यदि "तस्यापत्यम्" सूत्र न करके अपत्य अर्थ को इदमर्थ मानकर "तस्येदम्" सूत्र से अण् करने चलेंगे तो "भानोः इदम् (अपत्यम्)" इस विग्रह में "तस्येदम्" सूत्र को बाधकर "वृद्धाच्छः" सूत्र से छ प्रत्यय होने लगेगा। इस छ प्रत्यय को बाधकर अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय करने के लिए "तस्यापत्यम्" यह सूत्र है।

यदि कहा जाय कि "वृद्धाच्छः" सूत्र शेषाधिकार का है। शेष अर्थ वह होता है जो अपत्यादि अर्थों से भिन्न हो। ऐसी स्थिति में अपत्य अर्थ में तो छ प्रत्यय की प्राप्ति ही नहीं है तो उसे बाधने के लिए पृथक् "तस्यापत्यम्" की क्या आवश्यकता है? इस शंका के समाधान में कहा गया कि यदि "तस्यापत्यमत इञ्" ऐसा एक न्यास करेंगे तो अदन्तप्रकृतिक अपत्य अर्थ के उक्त होने पर भी उससे भिन्न उदन्तादि शब्दप्रकृतिक अपत्य अर्थ तो अनुक्त ही है। ऐसे उदन्त शब्द भानु शब्द से अपत्य अर्थ में प्राप्त अण् को बाध कर छ प्रत्यय होने लगेगा। इस छ प्रत्यय को बाध कर अपत्य अर्थ में अण् करने के लिए "तस्यापत्यम्" सूत्र पृथक् से किया गया।

इस उपर्युक्त व्याख्यान से स्पष्ट होता है कि जो जिससे विहित होता है वह उसी से सम्बद्ध होता है। इसलिए वद धातु से विहित क्यप् राजसूय आदि शब्दों के क्यप् का बोधक

नहीं है। ऐसी स्थिति में "राजसूय" आदि शब्दों में निपातन से अनुमित क्यप् के ककार, पकार की इत् संज्ञा नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रत्यक्ष आख्यान रूप उपदेशत्व इसमें नहीं है। इसलिए "अत्र सूत्रे" = "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इस सूत्र में उपदेश शब्द से उद्देश का भी ग्रहण करना चाहिए। जब उपदेश शब्द से उद्देश का भी ग्रहण करते हैं तो "अभ्र आँ अपः" इस वाक्य-घटक उद्देश "आँ" की भी इत् संज्ञा प्राप्त होती है। यद्यपि उपदेश शब्द से उद्देश का भी ग्रहण करने से निपातनानुमित क्यप् के अवयवों की इत् संज्ञा हो जाती है, किन्तु उनके साथ "अभ्र आँ अपः" के "आँ" की भी प्राप्त हो जाती है। यही दोष है। इसलिए ऐसी स्थिति में तेषाम् = निपातन से अनुमित क्यप् आदि का तो संग्रह हो जाय और अस्य = "अभ्र आँ अपः" के 'आँ' की इत् संज्ञा की व्यावृत्ति जिससे हो वह कौन-सी विशेषता उपदेश और उद्देश के बीच है? क्योंकि उपदेश से जब उद्देश का भी ग्रहण करते हैं तो उपदेश में तो इत् संज्ञा हो और उद्देश में न हो इसका विनिगमक क्या है? यही भाष्यकार के "कः पुनरुद्देशोपदेशयोर्विशेषः" इस प्रश्न का तात्पर्य है।

यदि कहा जाय कि "राजसूय" आदि शब्दों में निपातन से अनुमित "क्यप्" के अवयवों की इत् संज्ञा करने के लिए उपदेश शब्द से उद्देश के ग्रहण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जब क्यप् ही निपातन से किया जा रहा है तब उसके अवयवों की इत् संज्ञा भी निपातन से ही हो सकती है। इसलिए उपदेश से उद्देश के ग्रहण की आवश्यकता ही नहीं है। इस बात को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि लोकव्यवहार में भी उपदेश और उद्देश का सांकर्य देखा जाता है। जैसे मन्त्र का साक्षात् उपदेश करने पर श्रोता कहता है—"उद्दिष्टो मेऽनुवाकः" और "कुण्डली देवदत्तः" इस प्रकार गुण के द्वारा देवदत्त का बोध कराने पर उद्देशस्थल में कहा जाता है कि "उपदिष्टो मे देवदत्त" अथवा रास्ता पूछने वाले को जब कहा जाता है कि आगे चतुष्पथ से दाहिने हाथ की ओर जाना, तो वह कहता है "उपदिष्टो मे पन्थाः"। इस प्रकार लोकव्यवहार में देखा जाता है कि उपदेश और उद्देश के बीच प्रयोग का सांकर्य है। ऐसी स्थिति में "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इस सूत्र में भी उपदेश से उद्देश का ग्रहण होगा। परिणाम यह होगा कि "अभ्र आँ अपः" इसके 'आँ' की भी इत् संज्ञा प्राप्त होगी। इस प्रकार उपदेश ग्रहण करने पर भी जब "आँ" की इत् संज्ञा प्राप्त ही है तो उपदेशग्रहण की क्या आवश्यकता है?

तत्सङ्ग्रहार्थमेव लोकव्यवहारेणापि तयोः सङ्कीर्णत्वमुपपाद्यैतद्व्यावृत्तये तत्सङ्ग्रहाय च—'उपदेशनेऽजनुनासिक इति वक्तव्यं, किं पुनरुपदेशनम्? शास्त्रम्'—इत्युक्तं वार्तिककृता। तत्र शास्त्रपदेन प्रयोगशासनकरणभूता धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातागमादेशा हलन्त्यसूत्रे व्यवसितपदार्थत्वेन भाष्ये उक्ता गृह्यन्ते। एवञ्च तत्सङ्ग्रहो'ऽभ्र आँ' इत्येतद्व्यावृत्तिश्च सिद्धा। तस्य च वार्तिकस्य बाहुलकात्करणे घञा प्रत्याख्यानं भगवता कृतम्।

उपर्युक्त व्याख्यान से यह स्पष्ट हो चुका है कि लोकव्यवहार में उपदेश और उद्देश का प्रयोग सांकर्य है। लोकव्यवहार में उपदेश और उद्देश के संकीर्णत्व का उपपादन तत्संग्रहार्थ

अर्थात् निपातनानुमित क्यप् आदि के संग्रह के लिए ही किया गया है, जिससे इन्हें भी उपदेश मान कर इनके अवयवों की इत् संज्ञा हो सके। किन्तु ऐसा करने पर "अभ्र आँ अप:" के 'आँ की भी इत् संज्ञा प्राप्त होती ही है। इसलिए एतद्व्यावृत्तये = "अभ्र आँ अप:" के "आँ" की इत् संज्ञा की व्यावृत्ति के लिए और तत्संग्रहाय = निपातनानुमित क्यप् आदि के संग्रह के लिए अर्थात् "आँ" की इत् संज्ञा न हो किन्तु क्यप् आदि के अवयवों की इत् संज्ञा हो जाय इसके लिए वार्तिककार ने कहा कि "उपदेशनेजनुनासिक इत्" ऐसा न्यास करना चाहिए। ऐसा कह कर पुनः शंका किया कि यह "उपदेशनम्" क्या है? तो उत्तर दिया कि "उपदेशन", शास्त्र है।

वार्तिककार के इस कथन से सिद्ध होता है कि उन्होंने उपपूर्वक दिश् धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करके "उपदेशन" शब्द बनाया है। उपदेशन शब्द का अर्थ उन्होंने शास्त्र किया है। शास्त्र पद से प्रयोगों की सिद्धि में करणभूत धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, निपात, आगम और आदेश—ये छः जो "हलन्त्यम्" सूत्र में व्यवसित पदार्थ के रूप में कहे गये हैं, ये ही गृहीत होते हैं। "हलन्त्यम्" सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर यह भी एक पक्ष आया था कि व्यवसित के अन्त्य की इत् संज्ञा होती है। व्यवसित शब्द से उपर्युक्त धातु आदि छः लिये गये हैं। वे ही छै यहाँ शास्त्र पद से गृहीत हो रहे हैं। इस प्रकार वार्तिककार के मतानुसार धातु आदि के अनुनासिक अच् की इत् संज्ञा करने से तत्सङ्ग्रहः = निपातनानुमित क्यप् आदि का संग्रह हो जाता है। अर्थात् क्यप् आदि के अवयवों की वाञ्छित इत् संज्ञा हो जाती है, क्योंकि शास्त्रत्वेन अभिमत धातु आदि के बीच ये प्रत्यय रूप में प्रस्तुत हैं। इसलिए प्रत्ययत्वेन इनके अवयवों की इत् संज्ञा तो "हलन्त्यम्" सूत्र से हो गई, किन्तु "अभ्र आँ अप:" के आँ इस उद्देश की इत् संज्ञा नहीं हुई, क्योंकि यद्यपि "आँ" यह आदेश रूप होने से धातु आदि रूप में गृहीत उपदेशन पदार्थ में आता है तथापि "आँ" के स्वयमेव परिनिष्ठित प्रयोग रूप होने के कारण प्रयोगान्तर का शासन करणत्व रूप उपदेशन शब्दार्थ का इसमें अभाव रहता है। अनुनासिक के द्वारा यह स्वयं परिनिष्ठित रूप बनता है, न कि किसी दूसरे प्रयोग को परिनिष्ठित करने में इसकी कोई उपयोगिता है। इसलिए इसकी इत् संज्ञा नहीं होती है, अपितु इत् संज्ञा से इसकी व्यावृत्ति हो जाती है।

भाष्यकार ने "उपदेशेऽजनुनासिक" इस न्यास की सम्पुष्टि की है। इन्होंने वार्तिककार द्वारा अभिप्रेत अर्थ का बोध इसी न्यास से किया। इसके लिए इन्होंने करण में घञ् प्रत्यय करके उपदेश शब्द सिद्ध किया और उसका वही धातु आदि छः अर्थ किया, जो वार्तिककार को अभिप्रेत है। इस प्रकार करणघञन्त उपदेश शब्द से कार्य चला कर भाष्यकार ने वार्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया। यदि कहा जाय कि करण अर्थ में तो ल्युट् प्रत्यय होता है, ऐसी स्थिति में वहाँ घञ् प्रत्यय कैसे होगा? तो इसका उत्तर भाष्यकार की ओर से दिया गया कि यहाँ घञ् प्रत्यय बाहुलकात् हो जायेगा।

इस विवेचन से विदित होता है कि उपदेश शब्द करणघञन्त है और उससे धातु आदि छः जो ऊपर गिनाये जा चुके हैं उन्हीं का ग्रहण होता है, न कि उपदेश शब्द भावघञन्त और आद्योच्चारण अर्थ वाला है।

किञ्च हलन्त्यसूत्रे भावघञन्तोपदेशपदानुवृत्तौ—'भवतष्ठक्छसावि'-त्यादिविहितेष्वित्सञ्ज्ञानापत्तिः, परस्य सत्त्वेन कादेरन्त्यत्वाभावात्। यदि तूपदेशे प्रत्ययत्वादिविशिष्टान्त्य इदित्यर्थ', इत्युच्यते तदोपदेश इति व्यर्थम्, अन्त्यपदसामर्थ्येनैव तल्लाभात्। अत एवात्र सूत्रे उपदेशग्रहणस्यानुबन्धा अनेकान्ता इत्यस्थितपक्षेऽभ्र आँ अटित इति प्रयोजनमुक्तं, न तूत्तरार्थमित्युक्तम्।

यदि कहा जाय कि उपदेश शब्द को करणघञन्त बनाने के लिए बाहुलक का आश्रयण करना पड़ता है और यह बाहुलकाश्रयण अगतिक गति है, तो इस बात को ध्यान में रखकर "किञ्च" के द्वारा कह रहे हैं कि यदि उपदेश शब्द को करणघञन्त न मानकर भावघञन्त मानते हैं और "हलन्त्यम्" सूत्र में इसी भावघञन्त की अनुवृत्ति करते हैं तो "भवतष्ठक्छसौ" इस सूत्र से विहित ठक् और छस् प्रत्ययों के अवयवों की इत् संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि ठक् के ककार के आगे छस् के रहने के कारण अन्त्य में ककार मिलेगा ही नहीं। "हलन्त्यम्" सूत्र का अर्थ है—उपदेश में विद्यमान जो उपदेशघटकवर्णाव्यवहितपूर्वत्वाभावविशिष्ट हल्, उसकी इत् संज्ञा होती है। इस प्रकार का हल् ठक् का ककार नहीं हैं, क्योंकि उसमें छस्-निरूपित पूर्वत्व ही है। यदि कहा जाय कि उपदेश में जो प्रत्ययत्वविशिष्ट है, उसके अन्त्य की इत् संज्ञा होती है, ऐसा "हलन्त्यम्" सूत्र का अर्थ करने से प्रत्ययत्वविशिष्ट ठक् के ककार की इत् संज्ञा हो जायेगी तो कोई दोष नहीं है, इस पर कहते हैं कि ऐसा करने पर "हलन्त्यम्" सूत्र में "उपदेश की अनुवृत्ति करना ही व्यर्थ है, क्योंकि इस प्रकार के अर्थ का लाभ तो अन्त्य पद के सामर्थ्य से ही हो जायेगा। क्योंकि यदि जिस किसी हल् की इत् संज्ञा करनी है तो फिर अन्त्य ग्रहण की क्या आवश्यकता है? यदि कहा जाय कि यदि अन्त्य ग्रहण नहीं करेंगे तो आदिवर्ण की इत् संज्ञा होने लगेगी, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि आदिवर्ण की इत् संज्ञा इसी प्रकार हो जाय तो "षः प्रत्ययस्य", "चुटू" आदि सूत्र, जो प्रत्यय के आदि वर्ण षकार, चवर्ग और टवर्ग की इत् संज्ञा करते हैं, व्यर्थ हो जायेंगे। इसलिए अन्त्य ग्रहण के अभाव में प्रत्यय के आदि वर्ण की इत् संज्ञा होने लगेगी यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए अन्त्यग्रहण आदि की इत् संज्ञा की व्यावृत्ति के लिए आवश्यक नहीं है। इस प्रकार अन्त्यग्रहण व्यर्थ ही है। इसलिए अन्त्यग्रहण के सामर्थ्य से प्रत्ययत्व आदि धर्म से विशिष्ट के अन्त्य की इत् संज्ञा होगी तो इस सूत्र में (हलन्त्यम् सूत्र में) उपदेश पद की क्या आवश्यकता है। अत एव= "हलन्त्यम्" सूत्र में उपदेश पद का प्रयोजन नहीं है, इस बात को स्वीकार करने से ही अत्र सूत्रे= "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इस सूत्र में किये गये "उपदेशे" इस पद का सार्थक्य "अनेकान्ता अनुबन्धाः" इस अस्थित पक्ष (जो पक्ष सैद्धान्तिक नहीं है) में "अभ्र आँ अटितः" इस प्रयोग में उद्देश्य "आँ"की इत् संज्ञा के निवारण के लिए किया गया। इसे "हलन्त्यम्" इस उत्तर सूत्र में अनुवृत्त्यर्थ नहीं माना गया।

इससे स्पष्ट होता है कि यदि उपदेश शब्द भावघञन्त मानते हैं तो "हलन्त्यम्" सूत्र में इसकी अनुवृत्ति करना व्यर्थ हो जाता है और स्थिति यह है कि अनुवृत्ति की गई है, इससे स्पष्ट होता है कि उपदेश करणघञन्त है, जिसकी अनुवृत्ति "हलन्त्यम्" में होती है।

विमर्श-- यहाँ यह बात विशेषरूप से विचारणीय है कि नागेश "भवतष्ठक्छसौ" के प्रकरण से उपदेश शब्द को क्या करणघञन्त सिद्ध कर सके हैं? प्रारम्भ में उन्होंने कहा कि यदि भावघञन्त उपदेश शब्द की अनुवृत्ति "हलन्त्यम्" सूत्र में करते हैं तो "भवतष्ठक्छसौ" सूत्र में ठक् के ककार की इत्संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि अज्ञातस्वरूपज्ञापकोच्चारण रूप उपदेश के अन्त्य में ककार नहीं आता है। कारण यह है कि वह छकार से पूर्व में है। इस कथन के ऊपर जब प्राचीनों की ओर से कहा जाता है कि उपदेश में प्रत्ययत्व आदि से विशिष्ट की इत् संज्ञा होती हैं, ठक् क्योंकि प्रत्यय है इसलिए उसके ककार की इत् संज्ञा में कोई बाधा नहीं है, तो इस पर नागेश का कहना है कि यदि ऐसा अर्थ करते हैं तो "हलन्त्यम्" सूत्र में उपदेश पद की अनुवृत्ति ही व्यर्थ है। क्योंकि अन्त्य पद के सामर्थ्य से ही अन्त्य की इत् संज्ञा सिद्ध है।

भाष्यकार ने "उपदेशेऽच्" सूत्र के "उपदेशे" इस पद का सार्थक्य "अनेकान्ता अनुबन्धाः" जैसे अस्थिर पक्ष में जो दिया है उससे भी यही संकेत मिलता है कि यह 'उपदेशे' पद अनुवृत्ति के लिए नहीं है।

नागेश के इस उपर्युक्त कथन पर विचार करने से विदित होता है कि नागेश भट्ट के द्वारा यहाँ प्राचीनों की मान्यता की सम्पुष्टि ही की जा रही है। कारण यह है कि इसी पक्ष में "हलन्त्यम्" सूत्र में की गई 'उपदेशे' की अनुवृत्ति व्यर्थ होती है और इसीलिए "अनेकान्ता अनुबन्धाः" जैसे पक्ष में उसके सार्थक्य की बात कही गई है। इस प्रकार प्राचीन मत की सम्पुष्टि करते हुए भी वे इस प्रकरण से करणघञन्त उपदेश शब्द सिद्ध कर रहे हैं। यह बात विचारणीय है।

अब यह सन्देह होता है कि यदि उपदेश शब्द भावघञन्त है और इसकी अनुवृत्ति "हलन्त्यम्" सूत्र में होती है, तब इसका अर्थ होता है कि आद्योच्चारण में विद्यमान अन्त्य हल् की इत् संज्ञा हो। ऐसा अर्थ होने पर जिज्ञासा होती है कि किसके अन्त्य हल् की इत् संज्ञा हो? इस जिज्ञासा में "व्यवसितान्त्यमिति वक्तव्यम्" इस वार्तिक का उत्थान होता है और व्यवसित के अन्त्य की इत्संज्ञा होती है, किन्तु करणघञन्त उपदेश शब्द, जो धातु, प्रातिपदिक आदि व्यवसित पदार्थ का वाचक है, उसकी अनुवृत्ति जब 'हलन्त्यम् सूत्र' में करते हैं तो वहाँ 'व्यवसितान्त्यग्रहणम्' इस वार्तिक की क्या उपयोगिता है? इसलिए उपदेश शब्द को करणघञन्त मानना ठीक नही है। इस शंका को दृष्टिगत कर कह रहें हैं—

न च करणसाधनोपदेशशब्दानुवृत्त्या सिद्धे हलन्त्यसूत्रे—'व्यवसितान्त्यमिति वक्तव्यं, के पुनर्व्यवसिताः?—धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातागमादेशाः' इति वार्तिकाद्यनुत्थानमिति वाच्यं, समुदायद्वाराऽवयवस्याप्युपदेशकरणत्वात्तदन्त्यस्यापि लोपापत्तिरित्याशयात्। भाष्यकृता चान्त्यग्रहणसामर्थ्येन प्रत्याख्यातम्।

यदि कहा जाय कि करणघञन्त उपदेश शब्द की "हलन्त्यम्" सूत्र में अनुवृत्ति करते हैं तो इस उपदेश शब्द से ही धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय आदि का बोध हो जायेगा। ऐसी स्थिति में "हलन्त्यम्" सूत्र द्वारा व्यवसित के अन्त्य की इत् संज्ञा करने के लिए किये गये "व्यवसितान्त्यमि-ति वक्तव्यम्" के पुनर्व्यवसिताः? "धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातागमादेशा" इस वार्तिक आदि

की कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती है। तात्पर्य यह है कि भाष्यकार ने विचार किया कि "हलन्त्यम्" सूत्र में किसी सम्बन्धी का उल्लेख न होने के कारण किसके अन्त्य की इत् संज्ञा की जाय, यह बात स्पष्ट नहीं हो रही है। इसलिए भाष्यकार ने कहा कि व्यवसित के अन्त्य की इत् संज्ञा होती है। फिर शंका किया कि व्यवसित कौन हैं ? उत्तर दिया कि "धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, निपात, आगम और आदेश" ये ही व्यवसित हैं। इन्हीं के अन्त्य की इत् संज्ञा होती है। यह बात भावघञन्त पक्ष में ही संगत होती है।

नागेश के मतानुसार तो करणघञन्त उपदेश शब्द "हलन्त्यम्" सूत्र में अनुवृत्त हुआ है। इस उपदेश का भी वही अर्थ है जो व्यवसित शब्द का है। ऐसी स्थिति में वहाँ किया गया वार्तिक व्यर्थ ही है। इस शंका का उत्तर देते हुए शेखरकार का कहना है कि जिस प्रकार समुदाय उपदेश का करण है उसी प्रकार समुदाय के द्वारा उसके अवयव भी उपदेश के करण हैं। ऐसी स्थिति में करणसाधन उपदेश पद की अनुवृत्ति करने पर भी अवयव के अन्त्य की इत्संज्ञा न होने लगे इसलिए "व्यवसितान्त्यमिति वक्तव्यम्" इस वार्तिक की आवश्यकता हो जाती है। वार्तिक करने पर अवयव के अन्त्य की इत् संज्ञा नहीं होती है, क्योंकि व्यवसितत्व का पर्याप्ति सम्बन्ध से अधिकरण समुदाय ही होता है, अवयव नहीं होते हैं। इस प्रकार पर्याप्ति का लाभ करना वार्तिक का प्रयोजन है। भाष्यकार ने अन्त्यग्रहण के सामर्थ्य से ही धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, निपात, आगम और आदेश के अन्त्य की इत् संज्ञा करके उक्त वार्तिक (व्यवसितान्त्यम्) का प्रत्याख्यान कर दिया। इनका कहना है कि "हलन्त्यम्" सूत्र से यदि जिस किसी के अन्त्य की इत् संज्ञा करनी हो तो वहाँ अन्त्यग्रहण व्यर्थ ही है। अन्त्यग्रहण आदि की इत् संज्ञा की व्यावृत्ति के लिए आवश्यक है यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि "षः प्रत्ययस्य", "चुटू" आदि सूत्रों के आरम्भसामर्थ्य से ही आदि वर्ण की इत्संज्ञा 'हलन्त्यम्' सूत्र से नहीं होगी। अन्यथा आदि हल् की इत् संज्ञा होने पर इन सूत्रों का वैयर्थ्य स्पष्ट ही है, इसलिए आदि की इत्संज्ञा की व्यावृत्ति के लिए अनावश्यक अन्त्यग्रहण के सामर्थ्य से भाष्यकार ने उक्त वार्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया।

तत्रानुबन्धविशिष्टानां धातुत्वादि तु धातुत्वादियोग्यघटितत्वाद्बोध्यम्। निपातानां द्योतकत्वेन 'ब्राह्मणवसिष्ठ'न्यायेन च पृथग्ग्रहणम्। व्यवसितत्वञ्च—'धातुत्वादिना परिच्छिन्नत्वादि'ति कैयटः। एवञ्चोदश्विदादिप्रातिपदिकान्त्यस्यापि लोपः प्राप्नोतीति 'प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वाच्योऽकृत्तद्धितान्तानाम्' इति वार्तिककृतोक्तम्। कुम्भकार इत्यादावपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गप्रवृत्तेः पूर्वं प्रातिपदिकत्वे णादिलोपो न स्यादिति—'अकृदि'त्यादि। तच्च 'फलाभावान्नेत्सञ्ज्ञे'त्यादिना भाष्ये प्रत्याख्यातम्। अत्राद्योच्चारणार्थकोपदेशपदानुवृत्तौ त्वस्य वार्तिकस्यानुत्थानमेव स्यात्। 'उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेश' इति 'आदेच' इति सूत्रभाष्ये उक्तेः। एतद्भाष्यैकवाक्यतया पस्पशाह्निकान्तस्थे 'अग्रहणप्रातिपदिकानामुपदेशः कर्तव्यो—मञ्चको मञ्जक इति मा भूदि'ति भाष्ये उपदेशशब्दो ग्रहणं कर्तव्यमित्यर्थकः। तच्चानुवादरूपमेव सन्देहनिवर्तकमिति बोद्धव्यम्।

अब सन्देह होता है करणघञन्त उपदेश शब्द को स्वीकार करने पर 'न धातुलोप आर्धधातुके' सूत्र के भाष्य से विरोध हो रहा है। कारण यह है कि करणघञन्त पक्ष में धातुत्वविशिष्ट के अन्त्य की इत् संज्ञा की जाती है, जब कि उक्त सूत्र के भाष्य के अनुसार पहले अनुबन्धलोप करके तब धातुसंज्ञा की जाती है। इस विरोध के परिहार हेतु नागेश का कहना है कि तत्र = व्यवसित पदार्थ में अनुबन्धविशिष्ट की धातुसंज्ञा पहले ही इसलिए हो जाती है कि वह धातुत्व के योग्य से घटित है। जैसे 'लूञ् छेदने', का लूञ् धातुत्व के योग्य 'लू' से घटित होने के कारण धातु ही है। लूञ् बोधक है और 'लू' बोध्य है। बोध्य और बोधक में अभेदाध्यवसाय होता है, इसलिए "लूञ्" यह धातुत्वयोग्यघटित होने से तथा 'लू' धातु का बोधक होने से धातु है। इसी प्रकार प्रत्ययत्वयोग्यघटितत्वात् प्रत्ययादि संज्ञा अनुबन्धविशिष्टों की हो जायेगी। इस प्रकार अनुबन्धलोप करके धातुसंज्ञा करने में और धातुत्वविशिष्ट के अन्त्य की इत् संज्ञा करने में कोई विरोध नहीं है। अब शंका होती है कि निपात भी प्रातिपदिक है। ऐसी स्थिति में व्यवसित पदार्थ में प्रातिपदिक से पृथक् निपात का ग्रहण क्यों किया गया है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि जिस प्रकार वशिष्ठ के ब्राह्मण होने के कारण जब ब्राह्मणत्वेन उसका ग्रहण हो ही जाता तो फिर 'ब्राह्मण वशिष्ठ' कहना केवल प्रपञ्चार्थ है, उसी प्रकार यहाँ निपातग्रहण स्पष्टार्थ या प्रपञ्चार्थ है।

कुछ लोग व्यवसित का अर्थ निश्चित करते हैं, उनके भ्रम को दूर करते हुए कह रहे हैं कि यहाँ धातुत्व आदि से परिच्छिन्न = विशिष्ट ही व्यवसित शब्द से लिये गये हैं। ऐसा कैयट ने कहा है।

अब यह शंका हो रही है कि भाष्यकार ने भावघञन्त, आद्योच्चारणार्थक उपदेश शब्द का प्रयोजन "अनेकान्ता अनुबन्धाः" इस अस्थिर पक्ष में अभ्र आँ अटितः" इस वाक्यघटक "आँ" इस उद्देश्य की इत् संज्ञा न होना जो बताया है, उससे प्राचीन मत की ही सम्पुष्टि होती है, क्योंकि उक्त प्रयोजन को बताकर भाष्यकार ने यह विचार पुनः नहीं किया कि "उपदेशेऽज्" सूत्र में उपदेशग्रहण करना चाहिए या नहीं? इससे सिद्ध होता है कि वे भावघञन्त उपदेश शब्द को उत्तरसूत्र (हलन्त्यम्) में अनुवृत्त्यर्थ मानते हैं। यदि नवीनों का मत भाष्यसम्मत होता तो सिद्धान्त पक्ष "एकान्ता अनुबन्धाः" जहाँ वास्तविक अवयव ही अवयव कहे जाते हैं, इस पक्ष में "अभ्र आँ अटितः" का दोष होता ही नहीं, क्योंकि "आँ" यह अट्धातु का अवयव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त प्रयोग में दोष न होने के कारण भाष्यकार को कहना चाहिए था कि यद्यपि सिद्धान्त पक्ष में "अभ्र आँ अटितः" प्रयोग में दोष न होने के कारण एतदर्थ "उपदेशेऽज्" सूत्र में उपदेशग्रहण अनावश्यक है, तथापि उत्तरसूत्र में अनुवृत्त्यर्थ वह आवश्यक है। किन्तु भाष्यकार ने कुछ भी नहीं कहा। इससे सिद्ध होता है कि नागेशाभिमत उपदेश पद की अनुवृत्ति "हलन्त्यम्" सूत्र में होती है, यह बात प्रमाणविहीन है।

इस शंका का समाधान करते हुए "करणघञन्त उपदेश शब्द की अनुवृत्ति "हलन्त्यम्" सूत्र में होती है" इस बात की सम्पुष्टि में कह रहे हैं—एवञ्च = करणघञन्त उपदेश शब्द की अनुवृत्ति "हलन्त्यम्" सूत्र में करने का ही परिणाम होता है कि "उदश्वित्", "शकृत्" आदि प्रातिपदिक, जो इस पक्ष में उपदेश कहे जाते हैं, उनके अन्त्य की भी इत् संज्ञा प्राप्त होती है,

इसलिए इनकी इत् संज्ञा के निवारण के लिए वार्तिककार ने "प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वाच्योऽकृत्तद्धितान्तानाम्" यह वार्तिक बनाया। इसका तात्पर्य यह है कि कृदन्त और तद्धितान्त से भिन्न जो प्रातिपदिक, उनके अन्त्य हल् की इत्संज्ञा का प्रतिषेध कहना चाहिए। यदि कहा जाय कि इस प्रतिषेधवचन के रहने पर भी "उदश्वित्" के तकार की इत् संज्ञा का निवारण नहीं हो रहा है, क्योंकि उदकपूर्वक श्वि धातु से क्विप् प्रत्यय और तुक् करके बना हुआ 'उदश्वित्' शब्द तो कृदन्त ही है। प्रतिषेध तो कृदन्त से भिन्न प्रातिपादिकों का हो रहा है। इसी प्रकार शक् धातु से औणादिक 'ऋतिन्' प्रत्यय करने से बना हुआ "शकृत्" शब्द भी कृदन्त ही है। ऐसी स्थिति में इन दोनों जगह तकार के लोप की आपत्ति यथावस्थित है। इस दोष को दूर करने के लिए कैयट ने कहा कि ये दोनों शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं, इसलिए कृदन्त-भिन्न होने के कारण इनके अवयव तकारों की इत् संज्ञा नहीं होती है। वस्तुतस्तु "उदश्वित्" शब्द का तकार तुक् से निष्पन्न है, इसलिए कृत् प्रत्यय का तकार न होने के कारण इसका लोप स्वयमेव प्राप्त नहीं है। शकृत् के तकार के लोप का वारण करने के लिए उसे अव्युत्पन्न मानना ही उपाय है। यदि इसे कृदन्त मानने पर ही आग्रह हो तो इसका समाधान यह है कि 'शकृत्' का तकार उपदेश में अन्त्य नहीं है, क्योंकि यहाँ "ऋतिन्" प्रत्यय औपदेशिक है, जिसका अन्त्य नकार है।

अब यह शंका होती है कि उक्त वार्तिक में "अकृत्तद्धितान्तानाम्" इस पद की क्या आवश्यकता है? यदि इतना ही कहा जाय कि "प्रातिपदिकावयव अन्त्य हल् की इत् संज्ञा नहीं होती" तो इतने मात्र से भी "उदश्वित्" आदि प्रयोगों का दोष हट जाता है। ऐसी स्थिति में "अकृत्तद्धितान्तानाम्" यह पद अनावश्यक है। इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि इस पद के न रहने पर जिस प्रकार "उदश्वित्" के तकार की इत् संज्ञा नहीं होती उसी प्रकार 'कुम्भं करोति' इस विग्रह में अण् प्रत्यय और ऋ को वृद्धि करने पर बने हुए "कुम्भकारण्" के णकार की भी इत् संज्ञा नहीं होगी। यदि कहा जाय कि उपदेश में ही इत् संज्ञा करने के बाद प्रातिपदिक संज्ञा होती है। इसलिए "अण्" के णकार की इत् संज्ञा पहले ही हो जायेगी तो कोई दोष नहीं है; तो इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "उपसञ्जनिष्यमाण" न्याय से जहाँ अपवादशास्त्र पीछे लगने वाला होता है और उत्सर्ग की प्राप्ति पहले होती है, वहाँ उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् वहाँ उत्सर्गशास्त्र अपने अपवाद के विषय को पहले ही छोड़ कर अपना कार्य करता है।

प्रस्तुत स्थल में कृदन्त और तद्धितान्त की प्रातिपदिक संज्ञा अपवाद है और उपदेश में अन्त्य हल् की इत् संज्ञा यह उत्सर्ग है। यह इत् संज्ञा यद्यपि अण् प्रत्यय करते ही प्राप्त है, तथापि उत्तरकाल में होने वाली प्रातिपदिक संज्ञा से इसका बाध हो जाता है। इसलिए "कुम्भकारण्" की पहले प्रातिपदिक संज्ञा हो जायेगी। इसके बाद ण आदि अक्षरों (अनुबन्धों) की इत् संज्ञा होगी ही नहीं। इस दोष को दूर करने के लिए वार्तिक में "अकृत्तद्धितान्तानाम्" इस पद की आवश्यकता है। इस पद को वार्तिक में रखने का परिणाम यह होता है कि 'कुम्भकारण्' के कृदन्त होने के कारण निषेध नहीं लगता और णकारादि वर्णों की इत् संज्ञा हो जाती है।

तच्च = "प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वाच्योऽकृत्तद्धितान्तानाम्" इस वार्तिक का भाष्यकार ने यह कह कर प्रत्याख्यान कर दिया कि प्रातिपदिक के अन्त्य वर्ण की इत् संज्ञा तो फलाभाव के कारण ही नहीं होगी। इसलिए इस वार्तिक की आवश्यकता नहीं है। यदि कहा जाय कि राजन् शब्द के नकार की यदि इत् संज्ञा हो जाती है तो नित् स्वर का होना यहाँ फल है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि नित् स्वर निदन्त को होता है, राजन् शब्द ऐसा नहीं है। यदि कहा जाय कि व्यपदेशिवद्भाव से यह निदन्त है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि व्यपदेशिवद्भाव प्रातिपदिक में नहीं होता। इस प्रकार प्रातिपदिक के अन्त्य की इत् संज्ञा करने का कोई फल नहीं होने के कारण भाष्यकार ने उपर्युक्त वार्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया।

इस उपर्युक्त व्याख्यान से निष्कर्ष यह निकला कि उपदेश शब्द जब करणघञन्त है तब प्रातिपदिक भी उसके अन्तर्गत आते हैं। इसलिए "उदश्वित्" आदि स्थलों में प्रातिपदिकावयव की भी इत्संज्ञा प्राप्त होती है। उसका वारण करने के लिए वार्तिककार को "प्रातिपदिकानाम्" यह वार्तिक बनाना पड़ा। यद्यपि भाष्यकार ने इस वार्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया है, तथापि वार्तिक का उत्थान और प्रत्याख्यान ये सारी बातें करण घञन्तपक्ष में ही संगत होती हैं।

यदि प्राचीनों के अनुसार उपदेश शब्द भावघञन्त होता और इस भावघञन्त की अनुवृत्ति "हलन्त्यम्" सूत्र में हुई होती तो प्रातिपदिकों का उपदेश न होने के कारण उनके अन्त्यावयव की इत् संज्ञा ही प्राप्त नहीं होती, तो ऐसी स्थिति में "प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वक्तव्यः" इस वार्तिक का उत्थान किस प्रकार होता? "आदेच उपदेशे" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि प्रातिपदिकों का उद्देश होता है, इनका उपदेश नहीं होता। इस भाष्य से स्पष्ट होता है कि प्रातिपदिकों का जब उपदेश ही नहीं होता तो इनके अन्त्य की इत् संज्ञा की प्राप्ति न होने के कारण "प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वाच्यः" इस वार्तिक की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि उपदेश शब्द करणघञन्त है और इसी की अनुवृत्ति "हलन्त्यम्" सूत्र में होती है। इसीलिए प्रातिपदिक जो इस पक्ष में उपदेश माने जाते हैं, उनके अन्त्य की इत् संज्ञा प्राप्त होती है, जिसके वारण के लिए "प्रातिपदिकानाम्" यह वार्तिक सार्थक होता है।

"आदेच उपदेशे" सूत्र का भाष्य, जिसमें प्रातिपदिकों का उपदेश न होने की बात कही गई है, उस भाष्य से एकवाक्यता-सम्पादन के लिए पस्पशाह्निक के अन्त में जो यह भाष्य है कि "अग्रहणप्रातिपदिकानामुपदेशः कर्तव्यः मञ्चको मञ्जक इति मा भूत्" अर्थात् "मञ्चक" की जगह "मञ्जक" ऐसा न बोला जाय इसलिए जिन प्रातिपदिकों का ग्रहण नहीं हुआ है, अर्थात् जो प्रातिपदिक गण में नहीं पढ़े गये हैं उनका उपदेश कर देना चाहिए। इस भाष्य में जो उपदेश शब्द आया है उसका अर्थ है—ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिनका ग्रहण नहीं हुआ है उनका ग्रहण कर देना चाहिए। तच्च = वह उनका ग्रहण उनका अनुवाद होगा, क्योंकि प्रक्रिया के द्वारा निष्पादित शब्दों का गणों में ग्रहण करना उनका अनुवाद ही तो होगा। उनका गणपाठ में ग्रहण करना सन्देह का निवर्तक होगा। तात्पर्य यह है कि तत्तद्गणों में अपठित शब्दों का ग्रहण कर देने से यह सन्देह मिट जायेगा कि अमुक शब्द अमुक गण में है या नहीं?

विमर्श—विचार यह करना है कि उपदेश शब्द को करणघञन्त सिद्ध करने के लिए नागेश भट्ट ने "प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वाच्यः" इस वार्तिक को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया और कहा कि भावघञन्त अर्थात् आद्योच्चारणार्थक उपदेश शब्द को मानने पर प्रातिपदिकों का उच्चारण न होने के कारण उनका उपदेश ही नहीं होता तो उनके अवयव की इत् संज्ञा के निवारण के लिए किया गया उपर्युक्त वार्तिक व्यर्थ हो जायेगा। अपनी इस बात की पुष्टि में इन्होंने "आदेच उपदेशे" का भाष्य उद्धृत किया, जिसमें कहा गया है—"उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेशः" अर्थात् प्रतिपदिकों का उद्देश है, इनका उपदेश अर्थात् आद्योच्चारण नहीं है; क्योंकि धातु और प्रत्यय के सन्नियोग से अनन्त प्रातिपदिक बनाये जाते हैं, इसलिए उनका आद्योच्चारण सम्भव नहीं है।

इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने उपदेश शब्द को भावघञन्त ही माना है। तभी भाष्यकार कहते हैं कि प्रातिपदिकों का उपदेश नहीं होता। इस भावघञन्त उपदेश शब्द के बल पर नागेश भट्ट उपदेश शब्द को करणघञन्त सिद्ध कर रहे हैं, यह एक विडम्बना-सा ही प्रतीत होता है। आगे चल कर पस्पशाह्निक के भाष्य "अग्रहणप्रातिपदिकानामुपदेशः कर्तव्यः" में आये हुए 'उपदेश' शब्द का अर्थ वे 'ग्रहण करना चाहिए' ऐसा करते हैं। ऐसा वे इसलिए करते हैं जिससे उपदेश शब्द का अर्थ आद्योच्चारण न होने लग जाय। किन्तु 'ग्रहण करना चाहिए' ऐसा कहने से भी तो उनका उच्चारण करना ही पड़ता है। इसी अभिप्राय से उन्होंने ग्रहण को अनुवाद रूप कहा है। अनुवाद द्वितीयोच्चारण होता है, न कि प्रथमोच्चारण। किन्तु इस प्रकार भी उपदेश शब्द के सम्बन्ध में प्राचीन मत अर्थात् आद्योचारण अर्थ की ही सम्पुष्टि होती है। अर्थात् प्रातिपदिकों का आद्योच्चारण रूप उपदेशत्व नहीं है। इसलिए भाष्यकार भी कह रहे हैं—

"प्रातिपदिकानां नोपदेशः" अर्थात् 'नाद्योच्चारणम्'। इस प्रकार विचार करने से उपदेश शब्द की भावघञन्तता ही सिद्ध हो रही है, तथापि शेखरकार उसे करणघञन्त सिद्ध करने के लिए बद्धपरिकर हैं। अपनी मान्यता की सम्पुष्टि हेतु इसमें सम्भावित आपत्तियों का निराकरण करते हुए वे कह रहे हैं—

नन्वेवं 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे' इति सूत्रे—'षष्ठीप्रकल्पकत्वं तस्ये'ति पक्षे 'गुप्तिज्किद्भ्यः' इत्यादावपि षष्ठीप्रक्लृप्त्यापत्तिः, न च सनः सनेवादेशो भविष्यतीति बाधकाभाव इति वाच्यम्; 'उपदेशे इत्युच्यमाना इत्सञ्ज्ञा न प्रकल्पेत'—इत्युक्तं भाष्ये, तद्विरुद्ध्येतात्रोपदेशपदाननुवृत्ताविति चेन्न, तस्यैकदेश्युक्तित्वेनासाधकत्वात्। तथा हि—तत्र 'ङमो ह्रस्वादची'त्यादौ—यत्र सप्तमी पञ्चमी चेत्युभयं निर्दिश्यते तत्र—किं पूर्वस्य कार्यमथ परस्येति सन्देहे—परत्वानवकाशत्वाभ्यां पञ्चमीनिर्देशो बलवानिति सिद्धान्तिनोक्तम्।

तत एकदेशिना—'यथार्थं वा षष्ठीनिर्देशः कर्तव्य' इति समाधानान्तरमुक्तम्। 'यथाविषयं प्रागुक्तेषु कार्यिणः षष्ठ्या निर्देष्टव्या' इति तदर्थः। तेषु सप्तमीनिर्देशस्य क्वचित्पूर्वत्र क्वचिदुत्तरत्राऽऽवश्यकत्वेनोभयनिर्देशे गौरवेणैवैकदेश्युक्तिः।

नन्वेवम् = इस प्रकार भावघञन्त उपदेश शब्द की अनुवृत्ति न करके उपदेश शब्द को करणघञन्त मान कर "हलन्त्यम्" सूत्र में उस करणघञन्त की अनुवृत्ति करने पर भाष्य से विरोध हो रहा है। वह इस प्रकार हो रहा है— "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" और "तस्मादित्युत्तरस्य" ये दोनों सूत्र षष्ठी की प्रकल्पना करते हैं। षष्ठीप्रकल्पना का तात्पर्य यह है कि जहाँ औपश्लेषिकाधिकरणबोधक सप्तम्यन्त पद होता है वहाँ क्रियमाण कार्य सप्तम्यन्तार्थ से अव्यवहित पूर्व के स्थान पर होता है। ऐसा इसलिए होता है कि "तस्मिन्निति" सूत्र का अर्थ ही ऐसा है कि "सप्तमीनिर्देशेन यत्र कार्यं तत्र सप्तम्यन्तार्थान्वय्यर्थकं पदं षष्ठ्यन्तं बोध्यम्।" तात्पर्य यह है कि इस परिभाषा से सप्तमीनिर्देशस्थल में 'अव्यवहितांश, पूर्वांश और षष्ठ्यंश की उपस्थिति होती है। इसलिए "इको यणचि" सूत्र का अर्थ होता है कि "अजव्यवहितपूर्वत्व-विशिष्टस्येकः स्थाने यण् भवती"ति।

इसी प्रकार "तस्मादित्युत्तरस्य" यह परिभाषा भी "अव्यवहितांश, परांश और षष्ठ्यंश" इस अंशत्रय की उपस्थापिका परिभाषा है। इसलिए पञ्चमीनिर्देश से जो कार्य होता है वह अव्यवहित उत्तर के स्थान पर होता है। "ङः सि धुट्" जहाँ पञ्चमी और सप्तमी दोनों निर्देश किये गये हैं, वहाँ "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" इस परिभाषा से "ङः" की पञ्चमी ने "सि" इस पद की सप्तमी को षष्ठी बना दिया। इसलिए वहाँ "सस्य धुट्" ऐसा अर्थ किया जाता है।

इस परिप्रेक्ष्य में जब "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" इस सूत्र के ऊपर विचार किया जाता है तो यहाँ की पञ्चमी भी "सन्" इस प्रथमान्त पद को षष्ठ्यन्त बना देगी। परिणामस्वरूप सूत्रार्थ होगा 'गुप्तिज्कित्धातुभ्यः परस्य सनः आदेशो भवति'। ऐसा अर्थ करने पर दो विप्रतिपत्तियां सामने आती हैं। एक तो यह कि अभी तक तो गुप् आदि धातुओं के आगे सन् आया ही नहीं है तो किस सन् के स्थान पर आदेश किया जाय। दूसरी बात यह है कि किसी विधेय का उल्लेख न होने के कारण सन् के स्थान पर किसका विधान किया जाय? इस शंका के उत्तर में कहा गया कि ऐसी स्थिति में यहाँ अर्थापत्तिमूलक एकवाक्यान्तर की परिकल्पना करके "गुप्-तिज्-कित्" धातुओं से पर में सन् किया जायेगा। इस सन् के स्थान पर आन्तरतम्यात् सन् ही आदेश हो जायेगा। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में ('गुप्-तिज्-किद्भ्यः सन्' इस सूत्र में) "तस्मादित्युत्तरस्य" सूत्र से षष्ठी की प्रकल्पना कर ली जाती है तो कोई हानि नहीं है। इस पर भाष्यकार ने कहा कि यदि यहाँ षष्ठी की प्रकल्पना करके सन् के स्थान पर सन् आदेश करते हैं तो उपदेश में कही गई जो इत् संज्ञा है वह इत् संज्ञा (नकार की इत् संज्ञा) "हलन्त्यम्" सूत्र से नहीं हो सकेगी। इसका कारण यह है कि उपदेश आद्योच्चारण को कहते हैं। यहाँ सन् के स्थान पर आन्तरतम्यात् जो सन् आदेश हुआ है वह पाणिनिकर्तृक आद्योच्चारण का विषय नहीं है, इसलिए इसका उपदेश न होने के कारण इसके अवयव नकार की इत् संज्ञा नहीं होगी। यही दोष षष्ठीप्रकल्पना पक्ष में हो रहा है।

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि भाष्यकार उपदेश शब्द को भावघञन्त मानते हैं। इसीलिए आद्योच्चारण के अभाव में उन्होंने सन् के नकार की इत् संज्ञा का न होना दोष रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उपदेश पद की अननुवृत्ति = भावघञन्त उपदेश पद की अनुवृत्ति न करने पर करणघञन्तवादी का भाष्य से विरोध स्पष्ट ही है।

करणघञन्तवादी नागेश इस शंका का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि यह भाष्य, जिसमें इत् संज्ञा की अनापत्ति रूपी दोष दिया गया है, वह सिद्धान्तभाष्य न होकर एकदेशी भाष्य है। इसलिए यह एकदेशी भाष्य "उपदेश" शब्द की भावघञन्तता का साधक नहीं हो सकता है। प्रस्तुत भाष्य एकदेशी कैसे है, इस बात को सिद्ध करते हुए कह रहे हैं—

तत्र = भाष्य में यह विचार हुआ कि जहाँ सप्तम्यन्त पद रहेगा, वहाँ अव्यवहित पूर्व के स्थान पर कार्य होगा। जहाँ पञ्चम्यन्त पद रहेगा, वहाँ अव्यवहित उत्तर के स्थान पर कार्य होता है, किन्तु "ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्" इस सूत्र में जहाँ "ह्रस्वात्" यह पञ्चमी का निर्देश है तथा "अचि" यह सप्तमी का निर्देश है, ऐसे स्थल पर "तस्मिन्निति" की प्रवृत्ति करा कर क्या सप्तम्यन्तार्थ से अव्यवहित पूर्व के स्थान पर कार्य किया जाय अथवा "तस्मादित्युत्तरस्य" की प्रवृत्ति के द्वारा अव्यवहित पर के स्थान परकार्य किया जाय? ऐसा सन्देह होने पर सिद्धान्ती भाष्य में कहा गया कि जहाँ दोनों का (पञ्चम्यन्त और सप्तम्यन्त का) निर्देश किया गया हो वहाँ परत्वात् और अनवकाशत्वात् पञ्चमीनिर्देश बलवान् होता है। इसलिए ऐसे स्थलों पर "तस्मादित्युत्तरस्य" की प्रवृत्ति के द्वारा उत्तर के स्थान पर ही कार्य होता है। "इको यणाचि" में सप्तमीनिर्देश के तथा "उदः स्थास्तम्भोः" सूत्र में पञ्चमीनिर्देश के चरितार्थ होने के कारण "ङमो ह्रस्वादचि" सूत्र में पञ्चमीनिर्देश बलवान् हुआ और तदनुसार कार्य करने से "अचि" इस सप्तम्यन्त पद को षष्ठ्यन्त करके "अचः" ऐसा कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि "अचः ङमुट्" ऐसा अर्थ वहाँ किया जाता है।

सिद्धान्ती भाष्य के ऐसा कहने पर एकदेशी ने कहा कि इस षष्ठीप्रकल्पना की अपेक्षा उचित यह है कि तत्तत् स्थलों में यथार्थ रूप में षष्ठी का निर्देश कर देना चाहिए। एकदेशी के इस समाधानान्तर का तात्पर्य यह है कि यथाविषय अर्थात् तत्तद् प्रदेशों में जहाँ पूर्व के स्थान पर कार्य वाञ्छित है वहाँ पूर्वबोधक पद को षष्ठ्यन्त करके ही पढ़ना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ पर के स्थान पर कार्य वाञ्छित है वहाँ परबोधक पद को षष्ठ्यन्त करके ही पढ़ना चाहिए। किन्तु यह प्रकार गौरवग्रस्त होने के कारण एकदेशी है। इसकी गौरवग्रस्तता इस प्रकार है— "घेर्ङिति" इस सूत्र में ङित्प्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट घिसंज्ञक को गुण करना है, इसलिए यहाँ "ङिति" यह सप्तम्यन्त पद आवश्यक है। यही "ङिति" यह पद "आण्नद्याः" इस सूत्र में आता है। यहाँ नद्यन्त से पर में रहने वाले ङिद्वचन को आट् का आगम किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि सप्तमीनिर्देश कहीं पर पूर्व के स्थान पर कार्य कराने के लिए आवश्यक है और कहीं पर उसी के यहाँ कार्य करना है, इसलिए उसका षष्ठ्यन्त होना आवश्यक है। उसकी यह षष्ठ्यन्तता "नद्याः "इस पञ्चम्यन्त पद के आधार पर "तस्मादित्युत्तरस्य" सूत्र से की जाती है। इस प्रकार एक ही पद को एक जगह उसके मूल रूप में रखकर कार्यवशात् अन्यत्र उसका विपरिणाम करना ही लाघव है। इसकी अपेक्षा यदि "घेर्ङिति", "आण्नद्या ङितः", "ङमो ह्रस्वादचः ङमुत्रो" और "मय उट् वो वाऽचि", "आमः सर्वनाम्नः सुट्", "आमि त्रेस्त्रयः", "आने मुक्" "आनस्येदासः" इस प्रकार एक सप्तम्यन्त पद को एक जगह "सप्तम्यन्त रूप में निर्देश तथा उसी को दूसरी जगह षष्ठ्यन्त रूप में पढ़ना गौरव ही है। इससे स्पष्ट होता है कि "यथार्थं वा षष्ठीनिर्देशः कर्तव्यः" यह एकदेशी की उक्ति है।

ततः परेणैकदेशिना—षष्ठीपदानुवृत्त्या तस्मिन्नित्यादेरेव षष्ठीप्रकल्पकत्वमाश्रित्य 'यथार्थं वा षष्ठी'त्येकदेश्युक्तिः प्रत्याख्याता। षष्ठीपदानुवृत्तौ गौरवादुभयोः प्रकल्पकत्ववारणाय परत्वानवकाशत्वयोरेकः पूर्वपरयोरिति पूर्वपरग्रहणस्य युगपत्प्रकल्पकत्वाभावे ज्ञापकस्य चावश्यकत्वाच्चेयमप्येकदेश्युक्तिः। ततः पूर्वेणैकदेशिना तत्पक्षे गुप्तिजित्यादौ दोषः शङ्कितः।

ततः षष्ठीप्रक्लृप्तिवादिनैकदेशिनोक्तम्—"स्यादेष दोषो यदीत्सञ्ज्ञा आदेशं प्रतीक्षेत! तत्र खलु कृतायामित्सञ्ज्ञायां लोपे च कृते आदेशो भविष्यति, 'उपदेश' इति हीत्सञ्ज्ञोच्यते"—इति। एवञ्च त्वदुक्तिर्व्याहतेत्याशयः।

तदग्रे उपदेशपदाननुवृत्तिमभिप्रेत्य—'अथवा नानुत्पन्ने सनि प्रक्लृप्त्या भवितव्यम्, यदा चोत्पन्नः सन् तदा कृतसामर्थ्या पञ्चमीति प्रक्लृप्तिर्न भविष्यति' इति समाधानान्तरं कृतम्। तत्र परत्वविशिष्टस्य सन उत्पादने पञ्चम्या उपक्षयात्प्रवृत्त्यन्तराभावान्नास्ति तस्याः प्रकल्पकत्वमि'ति तदर्थं कैयट आह। एवञ्च प्रकृतसूत्रस्थस्य सूत्रार्थप्रतिपिपादयिषया प्रवृत्तस्य भाष्यवार्तिकस्यैकदेश्युक्ततद्भाष्यबलेन प्रौढिवादत्वकल्पनं नोचितम्, लक्ष्यासिद्धेश्च।

इसके बाद दूसरे एकदेशी ने कहा कि "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" और "तस्मादित्युत्तरस्य" इन दोनों सूत्रों में "षष्ठी स्थाने योगा" सूत्र से षष्ठी पद की अनुवृत्ति करके क्रमशः उक्त दोनों सूत्रों का व्याख्यान इस प्रकार किया जायेगा कि पूर्व में कार्यिता का प्रतिपादन करने वाली षष्ठी तद्बोधक पद में होती है। जैसे "शि तुक्" सूत्र में सप्तम्यन्त "शि" पद के द्वारा उपस्थित "तस्मिन्निति" सूत्र यहाँ "नश्च" सूत्र से आये हुए "नः" इस पञ्चम्यन्त पद में षष्ठी की प्रकल्पना कर देता है, जिससे शकाराव्यवहित पूर्वत्वविशिष्ट नकार के यहाँ तुक् का आगम होता है। इसी प्रकार "तस्मादित्युत्तरस्य" यह सूत्र जहाँ उत्तर में कार्यिता का बोधन करना होगा तद्वाचक पद में षष्ठी की प्रकल्पना करता है। इसलिए "आण्नद्याः "सूत्र में "घेर्ङिति" सूत्र से आये हुए "ङिति" इस सप्तम्यन्त पद में षष्ठी की प्रकल्पना कर के नद्यन्त से पर में रहने वाले ङिद्वचन को आट् का आगम किया जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों सूत्रों में षष्ठी पद की अनुवृत्ति करके इन दोनों सूत्रों से ही षष्ठी की प्रकल्पना करना ठीक है, इस बात का आश्रयण कर इस एकदेशी ने "यथार्थं वा षष्ठीनिर्देशः कर्तव्यः" इस पूर्व एकदेशी के कथन का प्रत्याख्यान कर दिया। किन्तु यह कथन भी एकदेशी की ही उक्ति है। कारण इसका यह है कि एक तो इस पक्ष में षष्ठी पद की अनुवृत्ति करनी पड़ती है, जो एक गौरव है। दूसरी बात यह है कि जहाँ कहीं सप्तमी और पञ्चमी निर्देश साथ-साथ किये गये हैं; जैसे 'ङः सि धुट्' इत्यादि सूत्रों में पर्यायेण पञ्चमी और सप्तमी इन दोनों की षष्ठीप्रकल्पना न होने लगे इसलिए परत्व और अनवकाशत्व का आश्रयण करना आवश्यक होगा, जिससे पर और अनवकाश के आधार पर ही षष्ठी की प्रकल्पना हो सके। इसके अतिरिक्त युगपत् (एक ही साथ) पञ्चमी और सप्तमी दोनों की षष्ठीप्रकल्पना न होने लगे इसके लिए "एकः पूर्वपरयोः" इस सूत्र के पूर्वपर ग्रहण को ज्ञापक मानना पडेगा।

यदि एक ही साथ पूर्व और पर दोनों के लिए षष्ठी की प्रकल्पना हो जाय तो "एकः पूर्वपरयोः" सूत्र में "पूर्वपरयोः" ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? जैसे "आद्गुणः" सूत्र में "अचि" पद की अनुवृत्ति आती है। इस सूत्र में "आत्" यह पञ्चम्यन्त पद है ही। इन दोनों के स्थान पर एक गुण आदेश करने के लिए "पूर्वपरयोः" ग्रहण किया गया है। यदि एककालावच्छेदेन पूर्व और पर दोनों में षष्ठी की प्रकल्पना हो जाय तो फिर "पूर्वपरयोः" इस पद की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार "पूर्वपरयोः" यह पद व्यर्थ होकर यौगपद्येन उभयप्रकल्पकत्व के अभाव का ज्ञापक होगा। इस प्रकार इस मत के अनुसार षष्ठी पद की अनुवृत्ति करना, पर्यायेण उभयोः= पञ्चमी और सप्तमी इन दोनों की षष्ठीप्रकल्पना का वारण करने के लिए परत्व और अनवकाशत्व का आश्रयण करना तथा यौगपद्येन दोनों के प्रकल्पकत्व (षष्ठी प्रकल्पकत्व) का वारण करने के लिए पूर्वपर ग्रहण को ज्ञापक मानना। ये सारे गौरव करने पड़ते हैं। इसलिये यह कथन भी एकदेशी का ही है। इस प्रकार यहाँ दो एकदेशी प्रस्तुत हैं। एक तो "यथार्थ षष्ठीनिर्देशः" कहने वाला और दूसरा षष्ठी पद की अनुवृत्ति करके षष्ठी की प्रकल्पना करने वाला। इन दोनों के उपर्युक्त कथोपकथन के प्रसंग में पूर्व एकदेशी, जो यथार्थ में षष्ठीनिर्देश का पक्षधर है, उसने तत्पक्षे= षष्ठी की प्रकल्पना के पक्ष में "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" इस सूत्र में पहले कहे गये दोष की अर्थात् सन् के स्थान पर सन् आदेश करने पर उपदेशाभाव के कारण नकार की इत् संज्ञा नहीं होगी ऐसे दोष की शंका की।

ततः= इसके बाद षष्ठी की प्रकल्पना करने वाले एकदेशी ने कहा कि यह दोष तब होता यदि इत् संज्ञा आदेश की प्रतीक्षा करती। अर्थात् आदेश के बाद यदि इत् संज्ञा करनी होती तो यह दोष कि "उपदेशाभावात् इत् संज्ञा नहीं होगी" कथञ्चित् हो सकता था, किन्तु बात ऐसी नहीं है। कारण यह है कि षष्ठी की प्रकल्पना से पहले उपदेश से उत्तरकाल में ही सूत्र में उच्चारित "सन्" के नकार की इत् संज्ञा हो जायेगी। इसके बाद प्रयोग में तो अनुबन्ध-विनिर्मुक्त सकार ही आयेगा। इसलिए यहाँ इत् संज्ञा के न होने का कोई प्रश्न ही नहीं होता। इत् संज्ञा तो उपदेश में ही हो गई है। इस प्रकार यहाँ इत् संज्ञा न होने की बात जो कही गई है वह व्याहत= व्यर्थ (निराकृत) है। इतनी बात कहने के बाद उसके आगे षष्ठी की प्रकल्पनावादी ने एक दूसरा समाधान भी किया। इस समाधान को देते हुए वे "हलन्त्यम्" सूत्र में उपदेश पद की अनुवृत्ति को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि जब तक सन् उत्पन्न नहीं होता, तब तक षष्ठी की प्रकल्पना नहीं हो सकती और जब गुप् आदि धातुओं से सन् उत्पन्न हो जाता है, तो उस सन् के विधान के लिए पञ्चमी चरितार्थ हो जाती है, तब वह कृतसामर्थ्या अर्थात् कृतकार्य हो जाती है। ऐसी स्थिति में जिस पञ्चमी का प्रयोजन सिद्ध हो गया है, उस उपक्षीण पञ्चमी के आधार पर षष्ठी की प्रकल्पना कथमपि हो ही नहीं सकती। कैयट ने भी कहा है कि जब तक गुपादि धातुओं से सन् उत्पन्न नहीं होता है तब तक धातु से पर में रहने वाले सन् को सन् आदेश हो, यह बात कही नहीं जा सकती। इसलिए गुपादि धातुओं से परत्वविशिष्ट सन् की उपलब्धि के लिए पहले सन् का विधान करना आवश्यक है। इस प्रकार सन् के उत्पादन (विधान) में पञ्चमी का जब उपक्षय हो जाता है अर्थात् वह प्रवृत्त होकर कार्य करा देती है तो प्रवृत्यन्तराभावात्= पुनः प्रवृत्ति में प्रमाण न होने के कारण तस्याः= पञ्चमी

का षष्ठीप्रकल्पकत्व नहीं हो सकता। कारण यह है कि जो पञ्चमी एक बार गुप् आदि धातुओं से पर में सन् का विधान करके चरितार्थ हो गई, वह पुनः सन् के षष्ठ्यन्त की प्रकल्पिका कैसे हो सकती है?

इस प्रकार प्रकृतसूत्रस्थ = "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" इस सूत्र का भाष्यवार्तिक, जो सूत्रार्थप्रतिपादन के लिए प्रवृत्त हुआ है, उसके एकदेशी होने के कारण उसके बल पर उपदेश शब्द के करणघञन्त को प्रौढिवाद कहना ठीक नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि उपदेश शब्द को करणघञन्त नहीं मानते है तो "भवतष्ठक्छसौ" इस सूत्र में ठक् के ककार की इत् संज्ञा नहीं होगी। इस प्रकार लक्ष्य की असिद्धि होने लगेगी। इसलिए उपदेश शब्द को करण-घञन्त ही मानना चाहिए।

अब यह शंका हो रही है कि करण-घञन्त उपदेश शब्द से व्यवसितों का ग्रहण करने पर सूत्रों के उनके भीतर न आने के कारण "अइउण्" आदि के अन्त्य की इत् संज्ञा किस प्रकार होगी? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं—

'अइउणि'त्यादीनामपि क्रमबोधकत्वेनार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वम्। चित्रङश्चोः कुरित्यादेरपि प्रातिपदिकत्वम्। लोपश्चेत्यत्रापि शकारस्य स्वरूपेणार्थवत्त्वात्प्रातिपदिकत्वम्। अनुबन्धानामेकान्तत्वे तु 'लोपो यी'त्यतो लोपग्रहणेऽनुवर्तमाने पुनर्लोपग्रहणात्सर्वादेशत्वं बोद्धव्यम्। 'एकाच उपदेश' इत्यत्रत्यः कैयटोऽपि चिन्त्य एव। अन्योऽपि तज्जातीयश्चिन्त्य एव। 'एकाच उपदेश', 'आदेच उपदेशे' इत्यादौ तु भावसाधन एवेति सुधियो विभावयन्त्वित्याहुः।

"अइउण्" इत्यादि चौदह सूत्र भी क्रम के बोधक हैं। इसलिए बोधकत्व रूप अर्थवत्त्व इनमें भी होने के कारण अर्थवत्त्वात् इनकी प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार प्रातिपदिक होने से ये भी व्यवसित हो जाते हैं और व्यवसित होने के कारण ये उपदेश हो जाते हैं। इस प्रकार इनके अन्त्य की इत् संज्ञा होने में कोई बाधा नहीं होती। इसी प्रकार "नमो वरिवश्चित्रङः" सूत्र में पठित "चित्रङ्" के प्रातिपदिक होने के कारण उसके अन्त्य ङकार की इत् संज्ञा हो जाती है। चु, कु, टु इत्यादि जो उदित कहे जाते हैं, इनके उकार की इत् संज्ञा, जो इनके उदित कहलाने में कारण है, वह इसलिए हो जाती है कि "कु" पदबोध्य जो ककारादि हैं उनके बोधक होने के कारण कु, चु, टु इत्यादि में भी अर्थवत्त्वेन प्रातिपदिकत्व रहता है। इसलिए इन्हें प्रातिपदिक मान कर इनके उकार की इत् संज्ञा कर दी जाती है, जिससे इनके उदित्त्व व्यवहार में कोई बाधा नहीं होती है।

अब शंका यह हो रही है कि "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इस सूत्र में "लोपश्च" इस प्रकार का द्विशकार निर्देश किया गया है। यहाँ "लोपश्" यह भिन्न पद है और "श" यह भिन्न पद है। यहाँ का जो दूसरा शकार है उसकी इत् संज्ञा किस प्रकार होगी? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यह शकार अपने स्वरूप का बोधक होने के कारण अर्थवान् है और अर्थवान् होने के कारण प्रातिपदिक है। यह व्यपदेशिवद्भाव से प्रातिपदिक का अन्त्य है, इसलिए इसकी भी इत् संज्ञा हो जाती है। अनुबन्धों का जब "अनेकान्त" पक्ष है तब समीपस्थ अनुबन्ध

में अवयवत्व का आरोप करने से "लोप" शित् होता है, जिससे वह सर्वादेश होता है। यदि कहा जाय कि अनुबन्धों के अनेकान्त पक्ष में इस उपर्युक्त प्रक्रिया से लोप, सर्वादेश हो जाय, किन्तु अनुबन्धों का एकान्त होना जो मुख्य पक्ष है, उस पक्ष में लोप की सर्वादेशता कैसे होगी? क्योंकि इस पक्ष में तो वास्तविक अवयव ही अवयव कहे जाते हैं न कि आरोपित अवयव। शकार तो लोप का अवयव है नहीं। ऐसी स्थिति में इसकी सर्वादेशता किस प्रकार होगी? इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि अनुबन्धों के एकान्त पक्ष में "लोपो यि" इस सूत्र से लोप की अनुवृत्ति "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इस सूत्र में लाकर कार्य चल सकता था तो इस सूत्र में पुनः लोप ग्रहण की क्या आवश्यकता है? यही लोपग्रहण व्यर्थ होकर सर्वादेश के लिए सार्थक होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त व्याख्यान से नागेश भट्ट ने "उपदेशेऽजनुनासिक इत् इस सूत्र के उपदेश पद को करणघञन्त सिद्ध किया है। अब प्रश्न होता है कि जब उपदेश शब्द करणघञन्त है तब "एकाच उपदेश" सूत्र में कैयट ने जो यह कहा है कि "इत्संज्ञाविधि में उच्चारण का वाचक उपदेश शब्द लिया जाता है। अर्थात् उपदेश शब्द भावघञन्त है और उसका अर्थ आद्योच्चारण है" इस कैयट की क्या गति होगी? नागेश इस सम्बन्ध में कह रहे हैं कि यहाँ का कैयट चिन्त्य है अर्थात् ठीक नहीं है। यहाँ कैयटोऽपि" के अपि शब्द से भावघञन्तवादी मनोरमाकार दीक्षित का ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार वे भी चिन्तनीय हैं। इनके अतिरिक्त भावघञन्तवादी अन्य भी चिन्तनीय हैं।

यहाँ नागेश भट्ट के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि इत् संज्ञा के विधायक जो "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" और "हलन्त्यम्" ये दो सूत्र जहाँ उपदेश में इत् संज्ञा की जाती है, इन दोनों सूत्रों में उपदेश शब्द करणघञन्त है। इसलिए इन्होंने 'इत्संज्ञाविधावुच्चारणवचन उपदिशि गृह्यते" इस वचन को चिन्तनीय कहा है। इसी प्रकार अन्यवचन, जो इत्संज्ञाविधि में भावघञन्त के पोषक हैं, उन्हें भी चिन्तनीय बताया है। किन्तु "एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्" और "आदेच उपदेश" इत्यादि सूत्रों में जो उपदेश शब्द आया है वह तो भावसाधन ही है, क्योंकि वहाँ इत्संज्ञाविधि न होकर एक जगह तो औपदेशिक एकाच और अनुदात्त धातुओं से पर में वलादि आर्धधातुक को इट् का निषेध किया जाता है और दूसरी जगह औपदेशिक एजन्त धातु के एच् को आकार किया जाता है। यहाँ उपदेश शब्द को भावघञन्त माने बिना कार्य नहीं चल सकता, क्योंकि आद्योच्चारण काल के "एकाच्त्व, अनुदात्तत्व और एजन्तत्व को लेने के लिए उपदेश शब्द का भावघञन्त होना अत्यावश्यक है, ऐसा सुधीजन को समझना चाहिए।

ननु शास्त्रेऽनुनासिकोच्चारणाभावात्तत्त्वज्ञानं दुर्लभमत आह—प्रतिज्ञेति। प्रतिज्ञाविषयानुनासिक्यवन्त इत्यर्थः। 'पाणिनीया' इत्यस्य पाणिनिप्रभृतिप्रोक्ता वर्णा इत्यर्थः। प्रतिज्ञा चायमेवमिति कथनं, वर्णानां तत्त्वज्ञापको व्यवहारश्च, ताभ्यां तज्ज्ञानं सुलभमिति भावः। प्रतिज्ञातारश्च प्रत्यासत्त्यैतच्छास्त्रकर्तार एवेति दिक्।

"उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इस सूत्र से जिन अनुनासिक अचों की इत् संज्ञा अभिप्रेत है वे सभी अच् अनुनासिक चिह्नविशिष्ट करके इस शास्त्र (व्याकरणशास्त्र) में धातु आदि में उच्चारित नहीं किये गये हैं। ऐसी स्थिति में तत्त्व ज्ञान = अनुनासिकत्व और अननुनासिकत्व का ज्ञान दुर्लभ होने के कारण उनकी इत् संज्ञा किस प्रकार होगी? इस शंका को दृष्टिगत कर कह रहे हैं— "प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः"। यहाँ प्रतिज्ञा शब्द में 'प्रतिज्ञायते इति प्रतिज्ञा' इस विग्रह में प्रति पूर्वक ज्ञा धातु से "आतश्चोपसर्गे" इस सूत्र से कर्म में अङ् प्रत्यय किया गया है। प्रति पूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ है व्यवहार और अङ् प्रत्यय का अर्थ है—विषय। "पाणिनेरिमे" इस विग्रह में "वृद्धाच्छः" सूत्र से छः प्रत्यय करके बने हुए 'पाणिनीय' शब्द का अर्थ है पाणिनि प्रभृति से प्रोक्त वर्ण । इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य का अर्थ होता है कि पाणिनि प्रभृति से प्रोक्त वर्णों का अनुनासिकत्व् प्रतिज्ञा का विषय अर्थात् व्यवहार का विषय है। वर्णों की यह प्रतिज्ञा = व्यवहारविषयता दो प्रकार से होती है। पहला तो यह है कि जिस वर्ण का अनुनासिकत्व वाञ्छित है, उसके लिए ऐसा कहा गया हो कि 'अयमेवम्' अर्थात् 'अयम् अनुनासिकः'। जैसे "अदड्डुतरादिभ्यः पञ्चभ्यः" इस सूत्र में यदि अदड् को डित् न किया जाय तो वहाँ पूर्वसवर्ण दीर्घ होने लगेगा? ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि "अदड्" का अकार अनुनासिक है। इस प्रसंग में भाष्य की शब्दावलि इस प्रकार है— 'सिद्धन्तु अनुनासिकोपधात्।' इस प्रकार भाष्यकार के द्वारा यहाँ अकार को अनुनासिक कहा गया है।

अनुनासिकत्व के परिज्ञान का दूसरा प्रकार पाणिनि आदि आचार्यों का व्यवहार है। जैसे पाणिनि ने सूत्र बनाया "उदितो वा" "इदितो नुम्धातोः" यह उदित् और इदित् का व्यवहार इस बात का संकेत देता है कि तत्तत् स्थलों में उकार और इकार अनुनासिक है, इसलिए उनकी इत् संज्ञा करने से तत्तद् धातु उदित् और इदित् कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने "प्रत्ययः", "परश्च" इत्यादि सूत्रों में जो सु विभक्त्यन्त का प्रयोग किया है, इससे विदित होता है कि सु का उकार अनुनासिक है, जिसकी इत् संज्ञा और लोप करने के बाद सकार को रुत्व-विसर्ग करके उक्त निर्देश बनाये गये हैं। इस प्रकार ताभ्याम् = "कथनव्यवहाराभ्याम्" अर्थात् कथन और व्यवहार के द्वारा तज्ज्ञानम् = अनुनासिकत्व का ज्ञान सुलभ होता है।

उपर्युक्त प्रकार की जो प्रतिज्ञा है वह 'अयमेवम्' इस प्रकार की और व्यवहारवेद्या है, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। अब जिज्ञासा होती है कि "अयमेवम्" इस प्रकार का कथन किसका यहाँ पर ग्राह्य है? तथा किसके व्यवहार से वर्णों के अनुनासिकत्व का परिज्ञान किया जाय? इस प्रकार की शंका का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि ऐसी प्रतिज्ञा के करने वाले उपस्थितत्वात् इस व्याकरण के कर्ता जो मुनित्रय हैं, वे ही यहाँ गृहीत हैं न कि अन्य कोई व्यक्ति। इस प्रकार पाणिनि प्रभृति से प्रोक्त वर्णों का अनुनासिकत्व उनके अनुनासिक सम्बन्धी कथन तथा व्यवहार से समझा जाता है।

निर्देशादिति। तेषां तत्र ग्रहणे हि नासिकादौ यणापत्तिरिति भावः। न चेत्त्वविधानसामर्थ्याद्यणभावः सिद्धः। तस्यापि प्रत्याहारेष्वनुबन्धाग्रहणज्ञापनद्वारैव यणभावकल्पकत्वौचित्यात्। साक्षाच्छास्त्रबाधकल्पनापेक्षयाऽस्यार्थस्यौचित्यात्।

'निर्देशादि'त्यस्य— 'तन्मूलभूतेत्त्वविधानसामर्थ्यादित्यर्थ' इति तात्पर्यम्। आदिना— तृषिमृषिकृषेरेकः पूर्वेत्यादिसङ्ग्रहः।

"उपदेशेऽजनुनासिक इत्" सूत्र से "लण्" सूत्रस्थ अकार की इत् संज्ञा करने का परिणाम यह होता है कि "हयवरट्" सूत्र के रकार से लण् के अकार तक "र" प्रत्याहार बनता है। इस र प्रत्याहार में र और ल ये दो वर्ण आते हैं। यहाँ शंका होती है कि र और ल के मध्यपाती जो टकार अनुबन्ध (इत्संज्ञक वर्ण) है उसका भी ग्रहण र प्रत्याहार में क्यों नहीं होता? इस शंका के उत्तर में कहा गया कि प्रत्याहारों में इत्संज्ञक वर्ण का ग्रहण नहीं होता है। यदि कहा जाय कि इस कथन में क्या प्रमाण है? तो इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "अनुनासिक इत्यादि निर्देशात्"। शेखर में "निर्देशात् यह जो प्रतीक कहा गया है वह कौमुदीकार के उपर्युक्त कथन का ही प्रतीक है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि प्रत्याहार में इत्संज्ञक वर्ण का ग्रहण होता तो पाणिनि के "मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः" इस सूत्र में आया हुआ "अनुनासिक" यह निर्देश बन ही नहीं सकता था, क्योंकि उस स्थिति में ककार अच् प्रत्याहार में आता और उस ककार रूपी अच् को पर में मानकर सकारोत्तरवर्ती इकार को यण् होने लगता। किन्तु यहाँ यण् नहीं हुआ है, इसलिए यह समझते हैं कि प्रत्याहार में इत्संज्ञक वर्ण का ग्रहण नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि "नासा एव नासिका" इस विग्रह में अत्यन्तस्वार्थिक कन् प्रत्यय करने से निष्पन्न "नासिका" शब्द में क प्रत्यय को पर में मानकर "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" इस सूत्र से पद संज्ञा और "इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य" सूत्र से ह्रस्वसमुचित प्रकृतिभाव हो जाने से यहाँ यण् की प्राप्ति नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि प्रकृतिभाव के वैकल्पिक होने के कारण उसके अभावपक्ष में यण् की प्राप्ति तो है ही। यहाँ भ संज्ञा से पदसंज्ञा का बाध होने से "इकोऽसवर्णे" की अप्राप्ति होने के कारण यण् की प्राप्ति है, ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि "यचि भम्" सूत्र में यकार वर्ण केवल हल्त्वधर्मविशिष्ट ही सम्भव है इसलिए उसके साहचर्य से अच् वर्ण भी केवल अच्त्वविशिष्ट ही लिया जायेगा। प्रस्तुत में ककाररूपी वर्ण अच्त्व और हल्त्व उभयधर्माक्रान्त है, इसलिए इसके पर में रहने पर भ संज्ञा की प्राप्ति ही नहीं है। वस्तुतस्तु "नासिका" शब्द "नासृ शब्दे" के नास् धातु से ण्वुल् प्रत्यय करके बना हुआ है। इसलिए यहाँ भ और पद संज्ञा का विषय ही नहीं है।

यदि कहा जाय कि "प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्य" (७।३।४४) इस पाणिनि सूत्र से "नासिका" शब्द में जो इकार-विधान किया गया है तत्सामर्थ्यात् यहाँ यण् नहीं होगा। इसलिए प्रत्याहार में इत्संज्ञक वर्ण का ग्रहण नहीं होता, इसमें कोई प्रमाण नहीं है तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि इकारविधानसामर्थ्यात् यण् की अप्रवृत्ति करने से "इको यणचि" इस विधिशास्त्र का साक्षात् बाध करना पड़ता है। इसकी अपेक्षा तो यही उचित है कि अनुनासिक इस निर्देश से अप्रधान संज्ञाशास्त्र "आदिरन्त्येन सहेता" का ही बाध करके यह परिकल्पना की जाय कि प्रत्याहार में इत्संज्ञक वर्ण का ग्रहण नहीं होता है।

अथवा "नह्यत्र ककारे परेऽच्कार्यं दृश्यते" इस पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार भी की जाती है कि "नहि अत्र अपरे ककारे अच्कार्यं दृश्यते" अर्थात् यदि प्रत्याहार में इत्संज्ञक वर्ण का

ग्रहण होता तो कण्ठस्थानजन्य ककार अच् प्रत्याहार में आता और इसकी अकार के साथ सवर्ण संज्ञा होती। परिणाम यह होता कि "अनुनासिक" शब्दघटक ककार, जिसके पर में अकार है, इन दोनों के स्थान पर दीर्घ एकादेश रूपी अच् कार्य हो गया होता। किन्तु ऐसा अच्कार्य यहाँ देखा नहीं जाता। इससे समझते हैं कि प्रत्याहार में इत्संज्ञक वर्ण का ग्रहण नहीं होता है।

यहाँ "अनुनासिक इत्यादिनिर्देशात्" में आये हुए आदि शब्द से "तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य", "एकः पूर्वपरयोः" इत्यादि पाणिनि के निर्देशों का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पहले सूत्र में ककार को पर में मान कर "मृषि के इकार को यण् नहीं हुआ है। इसी प्रकार दूसरे सूत्र में ककार को पर में मानकर एकार को "अय्" आदेश नहीं हुआ है। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रत्याहार में इत्संज्ञक वर्ण का ग्रहण नहीं होता है। अन्यथा ककार रूपी अच् को पर में मान कर उक्त दोनों स्थलों में उक्त दोनों सन्धिकार्य होने लगते।

प्रत्याहार में इत्संज्ञक वर्ण का ग्रहण नहीं होता, यह बात अनुनासिक शब्द में इत्वविधान के सामर्थ्य से ज्ञापित की गई है। इसलिए मूल में जो यह कहा गया है कि "अनुनासिक इत्यादिनिर्देशात्" इस पंक्ति का अर्थ ऐसा करना चाहिए कि अनुनासिक इत्यादि निर्देश में तन्मूलभूत इत्वविधान के सामर्थ्य से प्रत्याहार में इत्संज्ञक वर्ण का ग्रहण नहीं होता है। अन्यथा यहाँ इकार को यण् होने से इत्वविधान ही व्यर्थ हो जाता।

ननु'प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न' इति वार्तिके प्रत्याहारशब्दस्य वर्णसमाम्नाये प्रसिद्धेः 'प्रत्याहारेष्वितामि'त्यनुपपन्नमत आह—आदिरन्त्येनेतीति। वार्तिके तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति भावः।

शंका होती है कि "प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न" इस वार्तिक में आया हुआ प्रत्याहार शब्द वर्णसमाम्नाय का बोधक है। वहाँ पठित अनुबन्धों का अच्ग्रहण (बोधक) से ग्रहण क्यों नहीं होता है? इस शंका में जब प्रत्याहार शब्द से वर्णसमाम्नाय का ग्रहण किया जा रहा है तब इस शंका का औचित्य ही नहीं रहता, क्योंकि णकारादि अनुबन्ध तो वर्णसमाम्नाय में गृहीत ही हैं। लोक में और शास्त्रान्तर में प्रत्याहार शब्द योग के अंग के रूप में प्रसिद्ध है, जहाँ इत्संज्ञक वर्ण के ग्रहण का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। ऐसी स्थिति में जब कि प्रत्याहार शब्द का अर्थ ही अस्पष्ट है तो "प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणम्" इस वाक्यघटक प्रत्याहार शब्द से किसका ग्रहण किया जाय? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "आदिरन्त्येन सहेता" इस सूत्र से की गई "अल्-अच्-हल्" आदि संज्ञाएँ ही प्रत्याहार शब्द से कही जाती हैं। "प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्य बोध्यन्ते वर्णा यत्र स प्रत्याहारः" इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न प्रत्याहार शब्द अच् आदि अर्थों की अन्वर्थ संज्ञा है। अल् शब्द से सम्पूर्ण अक्षरों का बोध स्पष्ट ही संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया है।

अब शंका होती है कि जब "आदिरन्त्येन सहेता" इस सूत्र से की गई "अच्, हल्" आदि संज्ञाएँ ही प्रत्याहार हैं तब "प्रत्याहारेऽनुबन्धानाम्" इस वार्तिक में प्रत्याहार शब्द से वर्णसमाम्नाय का ग्रहण क्यों किया जाता है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि इस वार्तिक में आया हुआ "प्रत्याहार" शब्द "तादर्थ्य" में प्रयुक्त हुआ है। जिसके लिए जो होता है उसके लिए

भी उसका प्रयोग किया जाता है। वर्णसमाम्नाय प्रत्याहार बनाने के लिए हैं, इसलिए प्रत्याहारार्थ वर्णसमाम्नाय के लिए भी प्रत्याहार शब्द का प्रयोग किया गया है।

ऊकालोऽच्। कुक्कुटरुते उकारे एकद्वित्रिमात्रत्वप्रसिद्धेरकारादयो नोक्ताः। 'ऊ' इति एकद्वित्रिमात्राणां क्रमेण प्रश्लेषनिर्देशो व्याख्यानात्। तेन स्वोच्चारणकालसदृशो लक्ष्यते। स कालो यस्येति बहुव्रीहिः, तत्फलितमाह—उश्च ऊश्च ऊ३श्चेति।

"ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः" (१।२।२७) इस पाणिनिसूत्र की व्याख्या करते हुए नागेश भट्ट कह रहे है "ऊकालोऽच्" इति। यह सूत्र ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा का विधान करता है। ऊकाल शब्द में एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक—इन तीनों प्रकार के उकारों का सन्निवेश है। इसका विग्रह इस प्रकार होता है—"उ१श्च ऊ२श्च ऊ ३श्च इति वः"। यहाँ "अकः सवर्णे दीर्घः" इस सूत्र से दो बार दीर्घ कर निष्पन्न ऊ ३ इस दीर्घ ऊकार का काल शब्द के साथ "वः कालो यस्य" इस विग्रह में बहुव्रीहि समास करके "ऊकाल" शब्द की निष्पत्ति की गई है। द्वन्द्व के अन्त में श्रूयमाण काल शब्द का प्रत्येक उकार के साथ सम्बन्ध होने के कारण उ१काल-सदृश ऊ२काल-सदृश, और ऊ३काल-सदृश काल है जिसका उस अच् की ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा का विधान किया जाता है। इन तीन संज्ञाओं का विधान ही इस बात का प्रमापक है कि ऊकाल शब्द में तीन प्रकार के उकारों का सन्निवेश है।

"ह्रस्वदीर्घप्लुतः" इस पद की निष्पत्ति समाहार द्वन्द्व करके सौत्रत्वात् पुंल्लिग करने से हुई है। यदि इतरेतर द्वन्द्व किया जाय तो यहाँ बहुवचन की आपत्ति होने लगेगी। सौत्रत्वात् एकवचन करने पर "बहुषु बहुवचनम्" सूत्र का बाध करना पड़ता, जो अनुचित होता। इसलिए समाहार द्वन्द्व करके सौत्रत्वात् नपुंसक का बाध करके पुंल्लिग किया गया है।

यद्यपि वर्णसमाम्नाय में अकार के पहला अक्षर होने के कारण "अकालोऽज्भ्रस्वदीर्घप्लुतः" ऐसा सूत्र बनाना चाहिए था, तथापि ब्राह्ममुहूर्त में सूत्र-निर्माण के समय एक, द्वि और त्रिमात्रिक वर्ण उकार को एक साथ कुक्कुट के उच्चारण में सुनकर पाणिनि ने तदनुसार सूत्र बनाया "ऊकालोऽज्भ्रस्वदीर्घप्लुतः"। इन सब बातों को सन्दर्भित करते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि अक्षरसमाम्नाय में प्रथम वर्ण कण्ठस्थानजन्य अकार है। उसके आधार पर "अकालोऽज्भ्रस्व-दीर्घप्लुतः" ऐसा सूत्र बनाना चाहिए था, किन्तु पाणिनि ने वैसा न करके "ऊकालः" ऐसा जो निर्देश किया है इसका क्या तात्पर्य है? इस प्रकार के सन्देह के उत्तर में कह रहे हैं कि कुक्कुट के उच्चारण में आये हुए उकार में एक मात्रा, द्विमात्रा और त्रिमात्रा की स्पष्ट प्रतिपत्ति होने के कारण ब्राह्ममुहूर्त में सूत्रनिर्माणकाल में कुक्कुट के शब्द को सुन कर पाणिनि ने अकारादि वर्णों का उल्लेख न करके "ऊकाल" ऐसा निर्देश किया।

ऊकाल पद में जो "ऊ" ऐसा निर्देश है इसमें एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक उकारों का क्रम से सन्निवेश किया गया है। कारण इसका यह है कि यहाँ तीन संज्ञाएँ की जा रही हैं, इसलिए उकार भी तीन प्रकार के होने चाहिए। इसलिए संज्ञा और संज्ञी का यथासंख्य यहाँ संगत होता है। इस प्रकार यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि ऊकाल का ऊकार दीर्घनिर्देश मात्र है। इसी प्रकार "एका, द्वे तिस्रश्च मात्रा यस्य तस्य भावस्तत्त्वमिति" विग्रह में निष्पन्न होने से

"एकद्वित्रिमात्रत्वप्रसिद्धेः" यह नागेश की पंक्ति भी साधु ही है। इसलिए "एकादिदशान्तानां द्वन्द्वैकशेषयोरनभिधानम्" इस नियम से उक्त पंक्ति असंगत है ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिए। यहाँ द्वन्द्व समास न करके अनेक पदों का बहुव्रीहि समास किया गया है।

अब शंका होती है कि ऊ वर्ण का काल के साथ सामानाधिकरण्य न होने के कारण "वः कालो यस्यासौ ऊकालः" इस प्रकार बहुव्रीहि समास कैसे होगा? क्योंकि उकार तो किसी का काल होता नहीं। इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि तेन = ऊ पद से (शब्द से) स्वउच्चारण कालसदृश लक्षित है। अर्थात् ऊकार जब किसी का काल नहीं हो सकता तो मुख्यार्थबाध होने के कारण ऊकार शब्द की लक्षणा स्वउच्चारण कालसदृश में की जाती है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक उकार के उच्चारण काल के सदृश है उच्चारण काल जिस अच् का, उस अच् की क्रम से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है। इस अर्थ को सन्दर्भित कर ऊकाल शब्द का विग्रह इस प्रकार किया जाता है—"वः कालो यस्यासौ ऊकालः"। शेखर के मूल में जो कहा गया है "स कालो यस्येति बहुव्रीहिः" यह उक्त विग्रह का फलितार्थ है। अर्थात् एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक उकार के उच्चारण काल के सदृश काल है जिसका, इस बात को अभिव्यञ्जित करने के लिए कह रहे हैं—"स कालो यस्य"। वस्तुतः विग्रह तो "वः कालो यस्यासौ ऊकालः" यही है। यहाँ वः" इस बहुवचन पद के साथ "कालः" इस पद में एकवचन का प्रयोग "जात्याख्यायामेकवचनम्" इस नियम के आधार पर हुआ है। इसी बात के फलितार्थ के रूप में कौमुदी में कहा गया है—"उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः" अर्थात् ऊकाल शब्द में तीनों उकारों का सन्निवेश है।

ननु 'उकालो ह्रस्व' इति वाक्येऽण्त्वात्सवर्णग्रहणे द्वित्रिमात्रयोरपि ह्रस्वसञ्ज्ञायां प्रदाय, प्रलूयेत्यादौ 'ह्रस्वस्ये'ति तुक्स्यादिति चेन्न। 'ऊ अजि'त्येवाज्ग्रहण-सामर्थ्यादूसदृशोऽजित्यर्थे सादृश्यस्य व्याख्यानात्कालकृतस्यैव ग्रहणमिति सिद्धे अधिकं कालग्रहणम्—'उच्चारितसम्बन्धिकालसदृशकालस्यैव सञ्ज्ञा, न तु तेन गृहीतसम्बन्धिकालसदृशकालस्यापी'त्यर्थेनादोषात्। तदुक्तं भाष्ये—'यावत्त-परकरणं तावदत्र कालग्रहणम्'—इति।

अब यह विचार हो रहा है कि "उकालो ह्रस्वः" इस ह्रस्वघटित प्रथम वाक्य में आया हुआ उकार अण् है। ऐसी स्थिति में "अणुदित्" सूत्र से उकार के सवर्णी द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक उकारों का ग्रहण होने से उनके कालसदृश काल वाले दीर्घ और प्लुत अचों की भी ह्रस्व संज्ञा हो जायेगी। इसका परिणाम यह होगा कि "प्रदाय" और "प्रलूय" इन प्रयोगों में आकार तथा ऊकार को ह्रस्व मान कर यहाँ "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" सूत्र से तुक् होना चाहिए। इस शंका का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि जहाँ "ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः" ऐसा सूत्र है, उसकी जगह "ऊ अज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः" ऐसा सूत्र करेंगे। अर्थात् सूत्र में कालग्रहण नहीं करेंगे। कालग्रहण करने से जिस अर्थ की उपलब्धि होती है, उस अर्थ की उपलब्धि बिना कालग्रहण के भी सम्भव है। उसका प्रकार यह है कि जब "ऊ अच्" ऐसा न्यास करते हैं तब जिज्ञासा होती है कि ऊकार जब स्वयं अच् ही है तब यहाँ अच्ग्रहण की क्या आवश्यकता

है ? इस प्रकार अच्ग्रहण, जो अनावश्यक की स्थिति में है, उसके सामर्थ्य से ऊकार के सदृश अच् का ग्रहण किया जायेगा। ऊकार का सादृश्य व्याख्यान के आधार पर कालकृत ही लिया जायेगा। परिणामस्वरूप ऐसा अर्थ होगा कि ऊकार के उच्चारण काल के सदृश है काल जिसका उस अच् की क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कालग्रहण के अभाव में भी उस अर्थ की उपलब्धि हो गई जो अर्थ कालग्रहण करने से होता है। ऐसी स्थिति में "काल" ग्रहण व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि "उकालो ह्रस्व" इस प्रथम वाक्य में उच्चारित जो उकार, उसका जो एकमात्रा का काल, उस काल के समान काल है जिस अच् का अर्थात् जो अच् एकमात्राकालिक है, उसी की ह्रस्व संज्ञा होगी, न कि उस एकमात्राकालिक उकार से सवर्णग्रहण द्वारा गृहीत वर्ण के उच्चारण काल के सदृश काल वाले वर्ण की ह्रस्व संज्ञा होगी। इसलिए प्रस्तुत में प्रथम वाक्य में आये हुए ह्रस्व उकार के सवर्णी दीर्घ और प्लुत ऊकारों का ग्रहण करके उनके उच्चारण काल के सदृश काल वाले दीर्घ और प्लुत अचों की ह्रस्व संज्ञा नहीं होती है। परिणाम यह होता है कि "प्रदाय" और "प्रलूय" में तुक् की शंका का निराकरण हो जाता है।

यह बात भाष्य में भी कही गई है कि "यावत्तपरकरणं तावदत्र कालग्रहणम्।" इसका तात्पर्य यह है कि "अदेङ् गुणः", "अतो भिस" इत्यादि सूत्रों में किया गया तपरकरण जो कार्य करता है वही कार्य कालग्रहण भी करता है। अर्थात् जिस प्रकार उक्त दोनों सूत्रों में किये गये तपरकरण से एकमात्राकालिक अकार की ही गुण संज्ञा होती है तथा एकमात्राकालिक अकार से पर में रहने वाले भिस् को ही ऐस् आदेश होता है, उसी प्रकार "ऊकालोऽच्" सूत्र में किया गया कालग्रहण भी जितने मात्रिक उकार के पास लगेगा उतने मात्रिक का ही बोध करायेगा। जैसे उकाल के काल से एकमात्रा कालिक ही उकार लिया जायेगा। इसी प्रकार "ऊ२कालः" के काल के प्रभाव से द्विमात्राकालिक ऊकार ही लिया जायेगा। इसी प्रकार त्रिमात्राकालिक ऊकार के पास जब काल का प्रयोग है तब वहाँ त्रिमात्राकालिक ऊकार ही लिया जायेगा।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि जो कार्य तपरकरण करता है वही कार्य कालग्रहण भी करता है। इस व्याख्यान का निष्कर्ष यह निकला कि "उकालो ह्रस्वः" इस प्रथम वाक्य में आया हुआ काल शब्द एकमात्रिक उकार का ही बोध करायेगा और उसी की ह्रस्व संज्ञा होगी। इस उकार से दीर्घ और प्लुत का ग्रहण नहीं होगा, जिससे उनके कालसदृश काल वाले दीर्घ और प्लुत को ह्रस्व संज्ञा की जा सके। इस प्रकार "प्रदाय" और "प्रलूय" के दोषों का समाधान हो जाता है।

न चाजिति वर्णग्रहणे जातिग्रहणस्य दुर्वारत्वात्तितउच्छत्रमित्यत्र दीर्घात्पदान्ताद्वेति तुगापत्तिरिति वाच्यं, ज्ञापकसिद्धत्वेन तस्यासार्वत्रिकत्वात्। अन्तरङ्गत्वेन ह्रस्वत्वनिमित्तनित्यतुक एव प्राप्तेश्च। अज्ग्रहणं प्रतक्ष्येत्यादौ ह्रस्वस्येति तुग्व्यावृत्त्यर्थम्।

अब यह विचार हो रहा है कि प्रस्तुत सूत्र में जो अच्ग्रहण किया गया है वह वर्णों का ग्रहण या बोधक है। जो शब्द वर्ण का बोधक होता है वहाँ जाति का ग्रहण होता है, अर्थात्

तज्जात्यवच्छिन्न अनेक वर्णों का भी ग्रहण कर लिया जाता है। "वर्णग्रहणे जातिग्रहणम्" यह बात "निपात एकाजनाङ्" इस सूत्र में किये गये 'एक' ग्रहण से ज्ञापित है। उस सूत्र में "अच्" यह एकवचनान्त का प्रयोग है। इसी से एक अच् का बोध हो सकता था तो पुनः वहाँ एक ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार एकग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "वर्णग्रहणे जातिग्रहणम्"। इस ज्ञापन का तात्पर्य यह है कि वर्णवृत्तिजाति का वर्णसमुदाय में आरोप होता है। इस ज्ञापन का फल यह होता है कि दम्भ् धातु से सन् प्रत्यय करने पर "दम्भ इच्च" सूत्र से इकार आदेश करने पर "दिम्भ्- स" इस स्थिति में "हलन्ताच्च" सूत्र, जो इक् समीपवर्ती हल् से परे झलादि सन् को कित् करता है, उससे सन् को कित् करके उपधा के नकार का लोप किया जाता है। यहाँ प्रश्न होता है कि इक् के समीप हल् तो मकार है, उससे पर में झलादि सन् नहीं है तो उसे कित् किस प्रकार किया जा सकता है। किन्तु "निपात एकाजनाङ्" सूत्र के एक ग्रहण से जब यह बात ज्ञापित की गई कि वर्णग्रहण में जातिग्रहण होता है तो हल्त्वजात्यवच्छिन्न म् और भ् दोनों को हल् मान कर उनसे पर में रहने वाले सन् को कित् करके मकार का लोप किया जाता है।

इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि वर्णग्रहण में जातिग्रहण होता है। इस परिप्रेक्ष्य में "तितउच्छत्रम्" इस प्रयोग में तकारोत्तरवर्ती अकार उसके आगे के उकार इन दोनों अच्त्वजात्यवच्छिन्न वर्णों को अच् माना जायेगा। परिणाम यह होगा कि "अउ" इन दोनों वर्णों की एक-एक मात्रा को लेकर दीर्घ अच् से पर में छकार के होने के कारण "पदान्ताद्वा" सूत्र से वैकल्पिक तुक् होना चाहिए? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि जो बात ज्ञापक सिद्ध होती है वह सार्वत्रिक (सब जगह के लिए) नहीं होती है, क्योंकि कहा गया है, "ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र"। इसलिए "ऊकालोऽच्" सूत्र के "अच्" पद में यह नियम लागू नहीं हुआ कि "वर्णग्रहणे जातिग्रहणम्"। जब यह नियम यहाँ प्रभावी नहीं हुआ तो "तितउच्छत्रम्" इस प्रयोग में "पदान्ताद्वा" इस सूत्र से वैकल्पिक तुक् की आपत्ति नहीं होती है।

यदि इसी बात पर आग्रह हो कि "वर्णग्रहणे जातिग्रहणम्" यह नियम सार्वत्रिक है तो "तितउच्छत्रम्" के दोष को दूर करने के लिए दूसरा समाधान दे रहे हैं कि ह्रस्वत्वनिमित्तक जो नित्य तुक् है वह वैकल्पिक तुक् की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, क्योंकि नित्य तुक् "उ छत्रम्" इस स्थिति में होता है, जबकि वैकल्पिक तुक् के लिए "अ–उ–छत्रम्" इस स्थिति की आवश्यकता है। इस प्रकार वैकल्पिक तुक् के निमित्त के भीतर नित्य तुक् का निमित्त आ रहा है। इसलिए "अन्तर्भूतनिमित्तकत्वमन्तरङ्गत्वम्" यह अन्तरङ्ग का लक्षण नित्य तुक् में ही संगत होता है। इसलिए वैकल्पिक तुक् को बाधकर अन्तरङ्गत्वात् यहाँ नित्य तुक् होता है।

प्रस्तुत सूत्र में अच्ग्रहण करने का फल यह होता है कि "प्रतक्ष्य" इस प्रयोग में ककार और षकार जिन दोनों के मेल से "क्ष्" वर्ण बना है, उसकी एक मात्रा को लेकर यहाँ "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" सूत्र से तुक् नहीं होता। अन्यथा अच्ग्रहण न करने पर एकमात्रिक जिस किसी वर्ण की ह्रस्व संज्ञा करने पर "प्रतक्ष्य" प्रयोग में "क्ष्" वर्ण की ह्रस्व संज्ञा करके तुक् दुर्निवार्य हो जाता।

उच्चैरु। नात्र श्रुतिकृतमुच्चैस्त्वमुपांशुप्रयोगेऽव्याप्तेः। श्रुतिप्रकर्षस्याऽव्यवस्थितत्वाच्च। किन्तु स्थानकृतम्। 'उच्चैरि'त्यधिकरणशक्तिप्रधानम्। अधिकरणत्वञ्चोच्चारणं प्रति। तच्च ताल्वादीनां सभागत्वे एवेत्याशयेनाह—ताल्वादीति। इदं प्राचामनुरोधेन। वर्णसमाम्नायेऽकारस्य प्राथम्यात्कण्ठादीति वक्तुमुचितम्, एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम्। प्रयत्नप्रेरितो वायुर्यदोर्ध्वभागे प्रतिहतोऽचं व्यञ्जयति तदा स उदात्त इति भावः। अजिति। 'ऊकाल' इत्यतस्तदनुवर्तते। उदात्तत्वादीनामज्धर्मताया एव लोकप्रसिद्धत्वेन हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनस्याविद्यमानत्वाच्चेदं स्वरूपकथनपरं बोद्धव्यम्।

"उच्चैरुदात्तः" इस सूत्र की व्याख्या के क्रम में नागेश भट्ट इसका प्रतीक कह रहे हैं "उच्चैरु"। यह "उच्चैरु" प्रतीक "उच्चैरुदात्तः" इस सूत्र का है। यह सूत्र अचों की उदात्त संज्ञा करता है। इस सूत्र में आया हुआ "उच्चैः" यह पद यदि शब्दगत उच्चैस्त्व का बोधक और प्रथमान्त माना जाय तो जो अच् उच्चैस्त्वेन श्रूयमाण होगा उसी की उदात्त संज्ञा होगी और जो अच् नीचैस्त्वेन (मन्दत्वेन) श्रूयमाण होगा उसकी उदात्त संज्ञा नहीं होगी। दूसरी बात यह है कि शब्द का उच्चैस्त्व और नीचैस्त्व नियत नहीं है, क्योंकि जिसकी कर्णेन्द्रिय तीक्ष्ण है उसे जो शब्द उच्चैस्त्वेन श्रूयमाण होता है वही शब्द मन्द कर्णेन्द्रिय वाले व्यक्ति के लिए नीचैस्त्वेन श्रूयमाण होता है। एक ही वर्ण में उदात्तत्व और अनुदात्तत्व दोनों धर्मों का रहना सम्भव नहीं है। इसलिए "उच्चैः" पद ऊर्ध्व अवयव का वाचक और अधिकरण शक्ति-प्रधान अव्यय है, यही बात यहाँ अभिप्रेत है। इस बात को सूचित करते हुए कह रहे हैं कि इस सूत्र में उच्चैस्त्व श्रवणकृत नहीं लिया गया है। अर्थात् जो अच् उच्चैस्त्वेन श्रूयमाण हो उस की उदात्त संज्ञा हो, ऐसी बात यहाँ अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर उपांशु का प्रयोग जहाँ मन्त्र का उच्चारण धीरे से किया जाता है, ओष्ठों का संचालन थोड़ा होता है तथा शब्द का ज्ञान स्वयं उच्चारयिता को ही होता है ऐसे उपांशु[१] जप में अव्याप्ति हो जायेगी। यहाँ भी उदात्तत्व, अनुदात्तत्व आदि वाञ्छित हैं, किन्तु उच्चैस्त्वेन श्रूयमाण वर्ण यहाँ न होने के कारण उदात्त संज्ञा नहीं हो सकेगी। इसलिए यहाँ अव्याप्ति दोष हो जायेगा। दूसरी बात यह है श्रुतिप्रकर्ष व्यवस्थित नहीं है। क्योंकि निर्दोष श्रवणेन्द्रिय से उच्चैस्त्वेन श्रूयमाण शब्द सदोष श्रोत्रेन्द्रिय से मन्दत्वेन श्रूयमाण होते हैं। ऐसी स्थिति में इस सूत्र में श्रुतिकृत उच्चैस्त्व को न लेकर स्थानकृत उच्चैस्त्व लिया जाता है।

"उच्चैः" यह अधिकरणशक्ति-प्रधान अव्यय है। यह अधिकरणता उच्चारण के प्रति ली जाती है। अर्थात् ताल्वादि स्थानों के उच्चैः (ऊर्ध्वभाग में) भाग में जो उच्चारण है, उस उच्चारण के विषय की उदात्त संज्ञा होती है। तत्तत् स्थानों की यह अधिकरणता तब सम्भव है जब तालु आदि स्थानों की सभागता हो। तात्पर्य यह है कि तालु आदि स्थानों के ऊर्ध्व, अधः, और मध्य भाग से विशिष्ट होने पर ही तत्तत् स्थानों में तत्तद्वर्णों की अधिकरणता उपपन्न हो सकती

---

१. "शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ च चालयेत्।
किञ्चिच्छब्दं स्वयं विद्यादुपांशुः स जपः स्मृतः॥

है। इसी आशय से कौमुदीकार कह रहे हैं—"ताल्वादिषु सभागेषु" अर्थात् भाग सहित तालु आदि स्थानों में ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न जो अच् है उसकी उदात्त संज्ञा होती है।

नागेश भट्ट का कहना है कि दीक्षितजी ने "उच्चैरुदात्तः" की वृत्ति में "ताल्वादिषु सभागेषु" जो कहा है वह प्राचीनों के अनुसार कहा है। वर्णसमाम्नाय में अकार पहला अक्षर है और उसका स्थान कण्ठ है। इसलिए उन्हें "कण्ठादिषु सभागेषु" ऐसा कहना चाहिए था। यहां प्राचीनों से तात्पर्य प्रक्रियाकारों से है।

इसी प्रकार अन्यत्र "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" की वृत्ति में भी जहाँ "ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तर-प्रयत्नश्च" इस रूप में वृत्ति कही गई है वहाँ भी ताल्वादि की जगह "कण्ठादि" ऐसा कहना चाहिए था, क्योंकि पहला स्थान कण्ठ ही है। कुछ लोगों का कहना है कि ताल्वादि शब्द में दो समास हैं। "तालुनः आदिः ताल्वादि" अर्थात् कण्ठस्थान। दूसरा विग्रह है "तालु आदिर्येषां तानि ताल्वादीनि। ताल्वादिश्च ताल्वादीनि चेति ताल्वादि"। "नपुंसकमनपुंसकेन" इस सूत्र से एकशेष और नपुंसकलिंग एकवचन करने से ताल्वादि यह निर्देश बना है, जिससे कण्ठादि, स्थानों का ग्रहण होता है। किन्तु इस प्रकार कण्ठादि स्थानों के बोध की अपेक्षा तो स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ कण्ठादि शब्द का उल्लेख करना ही अच्छा होता।

वक्ता के प्रयत्न से प्रेरित वायु ऊपर की ओर चलकर जब ताल्वादि स्थानों के ऊर्ध्वभाग में अभिहत होता है और अच् वर्ण को व्यञ्जित करता है तो वह वर्ण उदात्त कहा जाता है। ये उदात्त आदि संज्ञाएँ अच् की ही होती है, इसी अभिप्राय से मूल में अच् का उल्लेख किया गया है। प्रश्न होता है कि "उच्चैरुदात्तः" सूत्र में अच् का उल्लेख तो नहीं किया गया है। ऐसी स्थिति में अच् को उदात्तादि संज्ञाएँ किस प्रकार होती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः" सूत्र से अच् पद की अनुवृत्ति यहाँ होती है, इसीलिए वृत्ति में अच् का उल्लेख करके उनकी उदात्तादि संज्ञाएँ की गई हैं।

वस्तुतस्तु उदात्तत्व, अनुदात्तत्व और स्वरितत्व—ये सभी अच् वर्णों के ही धर्म हैं। यह बात लोक में भी प्रसिद्ध है। इसीलिए जहाँ हल् वर्ण को किसी स्वर की प्राप्ति होती है वहाँ व्यञ्जन वर्ण अविद्यमान के तुल्य हो जाता है, जिससे वह स्वर हल् की जगह अच् वर्ण को ही होता है। इस प्रकार जब उदात्तत्वादि अच् के ही धर्म हैं तब जो यहाँ अच् पद की अनुवृत्ति करके अच् को जो ये संज्ञाएँ की गई हैं यह बात स्वरूपकथनपरक है, न कि कोई अपूर्व बात का कथन है।

आये इति। यच्छब्दः 'फिषोऽन्त' इत्यन्तोदात्तः, जस्सुप्त्वादनुदात्तः, 'एकादेश उदात्तेने'त्येकार उदात्तः।

यहाँ "आकार" "निपाता आद्युदात्ताः" इस सूत्र से उदात्त है। "ये" यह पद यद् शब्द का प्रथमा के बहुवचन का रूप है। इसमें "यद्" शब्द "फिषोऽन्त उदात्तः" इस सूत्र से अन्तोदात्त है। इसके आगे जस् विभक्ति आने पर 'यद्' के दकार को "त्यदादीनामः" सूत्र से अकार किया जाता है। यह अकार अनुदात्त होता है। "अतो गुणे" सूत्र से पररूप करने पर "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इस सूत्र से यकारोत्तर अकार उदात्त होता है। जस् विभक्ति "सुप्पितौ अनुदात्तौ" सूत्र से अनुदात्त है। जस् को शी करने के बाद गुण करने से निष्पन्न एकार पुन "एकादेश

उदात्तेनोदात्तः" इस सूत्र से उदात्त होता है। इस प्रकार "आये" यह उदात्त का उदाहरण बनता है।

अर्वाङिति। अभिमुखवाच्यव्युत्पन्नं 'फिषोऽन्त' इत्यन्तोदात्तम्। आद्यस्य शेषनिघातेनाऽनुदात्तत्वम्। अर्वन्तमञ्चतीत्यर्थे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण वाऽन्तोदात्तत्वम्।

"नीचैरनुदात्तः" यह सूत्र ताल्वादिस्थानों के अधोभाग में निष्पन्न अच् की अनुदात्त संज्ञा करता है। इसका उदाहरण देते हुए कह रहे हैं—"अर्वाङ्" इत्यादि। "अर्वाङ्" यह अभिमुख अर्थ का वाचक अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। "फिषोऽन्त उदात्तः" इस सूत्र से "वा" शब्द का आकार उदात्त है। आद्यस्य = अकार को शेषनिघात अर्थात् "अनुदात्तपदम्" सूत्र से निघात = अनुदात्त किया जाता है। इस प्रकार यह अनुदात्त का उदाहरण बनता है।

अथवा "अर्वन्तमञ्चति" इस विग्रह में अर्वन्पूर्वक अञ्च् धातु से क्विन् प्रत्यय करके "अर्वाञ्च्" शब्द का यह "अर्वाङ्" रूप "प्राङ्" की भाँति निष्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार निष्पन्न "अर्वाङ्" इस पद में "समासस्य" सूत्र से प्राप्त अन्तोदात्तत्व को बाधकर "गतिकारकोप पदात् कृत्" इस सूत्र से अन्तोदात्त किया जाता है। अन्त्य आकार को उदात्त करने पर आद्य अकार अनुदात्त होता है। इस प्रकार यह अनुदात्त का उदाहरण होता है।

एकस्मिन्नच्युदात्तानुदात्तयोर्धर्मिणोर्मेलनविरोधादाह—वर्णधर्माविति। बाहुलकादधिकरणे घञ्। अर्श आद्यजित्यन्ये। इयं त्रिसूत्री स्पष्टार्था, लोकवेदयोरुदात्तादिव्यवहारस्य प्रसिद्धत्वात्।

उदात्त और अनुदात्त के बाद स्वरित संज्ञा के विषय में उल्लेख करते हुए कह रहे हैं कि एक अच् में उदात्त और अनुदात्त दो धर्मियों का मिलना सम्भव नहीं है, क्योंकि विरुद्ध धर्म वाले दो धर्मी एक साथ रह नहीं सकते। इसलिए स्वरितसंज्ञाविधायक सूत्र "समाहारः स्वरितः" की वृत्ति में कहा गया है—"उदात्तत्व और अनुदात्तत्व" ये दोनों वर्णधर्म जिस अच् में सम्मिलित हों अर्थात् इन दोनों धर्मों के सम्मेलन का अधिकरणीभूत जो अच् है उसकी स्वरित संज्ञा होती है। पूर्वसूत्रों में धर्मीपरक उदात्त और अनुदात्त शब्द इस सूत्र में आकर लक्षणा के द्वारा धर्मपरक हो जाते हैं।

समाहार शब्द सम् और आ पूर्वक हृ धातु से "समाह्रियेते अस्मिन्" इस विग्रह में अधिकरण अर्थ में "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" इस सूत्र से घञ् प्रत्यय करने से बना हुआ है।

यदि कहा जाय कि "समाहार" तो कोई संज्ञा नहीं है तो यहाँ संज्ञा अर्थ में घञ् किस प्रकार हुआ है? तो इसका समाधान यह है कि इस सूत्र में संज्ञा ग्रहण प्रायिक है। अर्थात् घञ् प्रत्यय कहीं असंज्ञा में भी हो जाता है। यदि कहा जाय कि यहाँ अधिकरण अर्थ में घञ् को बाध कर ल्युट् की आपत्ति है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि "कृत्यल्युटो बहुलम्" इस सूत्र में किये गये बहुलग्रहण के प्रभाव से यहाँ ल्युट् की प्राप्ति नहीं है। यदि कहा जाय कि कर्तृभिन्न कारकसामान्य में विहित घञ् का "करणाधिकरणयोश्च" इस विशेष सूत्र से विहित ल्युट् के द्वारा बाध हो जायेगा तो यहाँ अधिकरण अर्थ में घञ् नहीं होना चाहिए? इस शंका

के उत्तर में कह रहे हैं—"समाहार" शब्द में अधिकरण अर्थ में घञ् प्रत्यय बाहुलकात् हुआ है। इसका अर्थ है—उदात्तत्व और अनुदात्तत्व का अधिकरण। अथवा समाहार शब्द को "समाहरणं समाहारः" इस व्युत्पत्ति में भावघञन्त माना जाय तो इसका अर्थ होगा सम्मेलन। "एतादृशार्थकः समाहारः अस्ति यत्रासौ समाहारः" इस व्युत्पत्ति में "अर्शआदिभ्योऽच्" इस सूत्र से अच् प्रत्यय करके समाहार शब्द बना हुआ है। इसका भी वही अर्थ है जो अधिकरण में घञ् प्रत्यय से निष्पन्न समाहार शब्द का है।

उदात्तादि तीनों संज्ञाओं का विधान करने वाले तीनों सूत्र स्पष्टार्थ हैं, इस बात को बताते हुए कह रहे हैं कि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—ये तीनों संज्ञाएँ लोक और वेद में प्रसिद्ध हैं। ऐसी स्थिति में जो बात लोक और वेद में प्रसिद्ध है उसके लिए संज्ञा का विधान करना अनावश्यक ही है, तथापि स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए इन संज्ञाओं की विधायिका त्रिसूत्री उचित ही है।

ह्रस्वग्रहणमिति। ह्रस्वपदघटितग्रहणमित्यर्थः।

अब यह विचार प्रस्तुत है कि उदात्तत्व और अनुदात्तत्व ये दोनों धर्म जिस अच् में सम्मिलित होते हैं वह अच् स्वरित कहा जाता है, किन्तु यह बात स्पष्ट नहीं है कि उस अच् का कौन-सा भाग उदात्त होता है और कौन भाग अनुदात्त होता है? इस जिज्ञासा के उत्तर में पाणिनि का सूत्र प्रस्तुत होता है—"तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्"। इस सूत्र में आया हुआ "अर्धह्रस्व" शब्द भी गम्भीर विवेचन की अपेक्षा रखता है। कारण यह है कि यदि यहाँ "ह्रस्वस्य अर्धम्" इस विग्रह में एकदेशी समास करते हैं, तब इसका अर्थ होगा कि "ह्रस्व स्वरित का आदि से आधा भाग उदात्त होता है।" ऐसा अर्थ करने का परिणाम यह होगा कि ह्रस्व स्वरित में आधा भाग उदात्त होगा, किन्तु दीर्घ और प्लुत स्वरित में आधा भाग उदात्त नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि दीर्घ और प्लुत स्वरित में भी एकमात्रा का अंश तो है ही और वही ह्रस्व कहा जाता है, ऐसी स्थिति में वहाँ भी एकमात्रिक अंश में आधा उदात्त हो सकता है? तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दीर्घ और प्लुत में एकमात्रिक अंश के रहने पर भी उसकी ह्रस्व संज्ञा नहीं होती है। अन्यथा दीर्घ में भी "ह्रस्वस्य पिति कृति" का तुक् होने लगेगा।

इस प्रकार "अर्धह्रस्व" शब्द की विसंगति को परिलक्षित कर कौमुदीकार ने कहा—"ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्"। अर्थात् अर्धह्रस्व शब्द में ह्रस्वग्रहण अतन्त्र है अर्थात् अविवक्षित है। जब ह्रस्वग्रहण अविवक्षित हो गया तब स्वरित मात्र में अर्थात् सभी स्वरित में आदि से आधा भाग उदात्त होता है। इस प्रकार ह्रस्वस्वरित में आधी मात्रा, दीर्घस्वरित में एक मात्रा तथा प्लुतस्वरित में डेढ़ मात्रा उदात्त होता हैं और उत्तरार्ध की इतनी ही मात्राएँ अनुदात्त होती हैं।

दीक्षितजी की "ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्" इस पंक्ति को सन्दर्भित कर नागेशभट्ट कह रहे हैं—ह्रस्वग्रहणमिति। इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए वे कह रहे हैं कि "ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्" का अर्थ है—ह्रस्वपदघटित अर्धह्रस्वग्रहण अतन्त्र है। अतन्त्र शब्द की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं—

अतन्त्रमिति। स्वशास्त्रसङ्केतितरूपेणाबोधकमित्यर्थः। किन्त्वर्धमात्रारूपार्थ-बोधकमिति भावः। एवञ्च—दीर्घादिष्वप्यर्धमात्रैवोदात्ता। इत आरभ्य नवसूत्र्या 'अ

अ' इत्यतः प्रागुत्कर्षेणास्य त्रिपाद्यामपि प्रवृत्तिः। सर्वञ्चेदं भाष्ये स्पष्टम्। 'अर्धमुदात्तमि'ति वृत्तिस्तु—सत्या सत्यभामेतिवद् व्याख्येया। 'उत्तरार्धमि'त्यस्य चार्धमात्रातोऽवशिष्ट उत्तरो भाग इत्यर्थः। वेदे तु यथाप्रयोगं प्रातिशाख्यादस्माच्च व्यवस्था।

'अतन्त्रम्' का अर्थ है—"स्वशास्त्रसंकेतितरूपेणाबोधकम्"। यहाँ स्वपद से ह्रस्व का ग्रहण किया जाता है। उसका शास्त्र अर्थात् ह्रस्व का विधायक शास्त्र है—"ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः"। इसके द्वारा ह्रस्व का संकेतित रूप है "एकमात्राकालिकाच्त्व"। इस रूप से यहाँ ह्रस्वग्रहण अतन्त्र है अर्थात् अबोधक है। तात्पर्य यह है कि यहाँ ह्रस्व शब्द एकमात्राकालिक अच् का बोधक न होकर केवल मात्रा का बोधक है। इस प्रकार अर्धह्रस्व शब्द का अर्थ "अर्धमात्रा" होता है। सारांश यह है कि "अर्धह्रस्व" शब्द "अर्धमात्रा" अर्थ में यहाँ रूढ़ है, न कि दीक्षितजी की भाँति ह्रस्वग्रहण सर्वथा व्यर्थ है।

इस प्रकार नागेश भट्ट के मतानुसार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीनों स्वरितों में आदि से आधा मात्रा उदात्त होता है और क्रमशः आधा मात्रा, डेढ़ मात्रा और ढाई मात्रा—तीनों स्वरितों के बचे हुए अंश अनुदात्त होते हैं।

अब प्रश्न होता है कि "तस्यादितः" (१।२।३२) यह सूत्र सपादसप्ताध्यायस्थ है तो त्रिपादीस्थ स्वरितों में इसकी प्रवृत्ति किस प्रकार होगी? क्योंकि वे तो इसके प्रति असिद्ध हो जायेंगे। इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "इत आरभ्य" अर्थात् इस प्रस्तुत सूत्र से लेकर "एकश्रुतिदूरात् सम्बुद्धौ" (१।२।३३) आदि "उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः" (१।२।४०) तक जो नव सूत्र सापादिक हैं तथा एकश्रुति आदि विभिन्न कार्य करते हैं, इन नव सूत्रों का उत्कर्ष "अ अ" (८।४।६८) से पहले किया जायेगा। तात्पर्य यह है कि इन नव सूत्रों का पाठ "अ अ" सूत्र से पहले कर दिया जायेगा। परिणाम इसका यह होगा कि प्रस्तुत सूत्र भी त्रिपादी हो जायेगा। ऐसी स्थिति में स्वरित के विधायक "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (८/४/६६) आदि सूत्र प्रस्तुत सूत्र के प्रति असिद्ध नहीं होंगे। फलस्वरूप वहाँ भी इस सूत्र "तस्यादितः" की प्रवृत्ति हो जायेगी। अब यदि यह कहा जाय कि नव सूत्रों का पाठ "अ अ" से पूर्व में करने में क्या प्रमाण है? तो इसका उत्तर इस प्रकार समझना चाहिए कि "हे देवाः, ब्रह्माणः आगच्छत" इस वाक्य में "आमन्त्रितस्य" (६।१।१९८) सूत्र से आद्युदात्त करने पर अवशिष्ट अचों को शेषनिघातेन जब अनुदात्त कर दिया जाता है तब "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (८।४।६६) इस सूत्र से अनुदात्त को स्वरित किया जाता है। इसके बाद "देवब्रह्मणोरनुदात्तः" (१।२।३८) सूत्र से स्वरित को अनुदात्त किया जाता है। यदि इस अनुदात्तविधायक सापादिक सूत्र के प्रति स्वरितविधायक उपर्युक्त त्रिपादी सूत्र असिद्ध हो जाय तो अनुदात्त का विधान किसे किया जायेगा? इसलिए "देवब्रह्मणोरनुदात्तः" इस सूत्र से अनुदात्त-विधान ही प्रमाण होता है कि नव सूत्रों का पाठ "अ अ" सूत्र से पहले है। यह सब कुछ भाष्य में स्पष्ट है।

अब यह शंका होती है कि नागेश भट्ट के मतानुसार जब प्रत्येक स्वरित में अर्धमात्रा उदात्त होता है तब इनके अनुसार कौमुदीकार की यह वृत्ति कि "स्वरितस्यादितोऽर्द्धमुदात्तम्" कैसे संगत होगी? क्योंकि यहाँ वृत्ति में तो "अर्द्धमुदात्तम्" की बात कही गई है। इस शंका

के उत्तर में नागेशभट्ट का कहना है कि "अर्धमुदात्तम्" इस वृत्ति की व्याख्या "सत्या सत्यभामा" की भाँति करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि "विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपः" इस वार्तिक से सत्यभामा शब्द में भामा का लोपकर सत्यभामा की जगह केवल सत्या का प्रयोग अथवा केवल भामा का ही प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार यहाँ अर्धमात्रा की जगह केवल "अर्धम्" का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य तो केवल अर्धमात्रा अर्थ करने में ही है।

"उत्तरार्धम्" का अर्थ यह है कि अर्धमात्रा की अपेक्षा जो अवशिष्ट भाग है वही उत्तरार्ध है, न कि दीक्षित की भाँति उत्तर का आधा भाग। वेद में तो प्रयोगानुसारिणी व्यवस्था प्रातिशाख्य और इस "तस्यादितः" के आधार पर करनी चाहिए।

तस्य चेति। अनुदात्तस्येत्यर्थः। उदात्तेति। उदात्तस्वरितयोः परत्वे सतीत्यर्थः। तयोः परत्वञ्चोपस्थितानुदात्तापेक्षयैव। अन्यत्र—उदात्तस्वरितयोः परत्वाभावे। प्रातिशाख्ये इति। लोके त्वनुदात्त एवेति भावः।

यहाँ 'तस्य' इस पद से स्वरित का उत्तरार्द्ध, जो अनुदात्त होता है, वह गृहीत होता है। उस अनुदात्त का श्रवण कब स्पष्ट होता है? इस बात को ध्यान में रख कर कहा गया है उदात्तेति। यह 'उदात्तेति' प्रतीक कौमुदीकार के "तस्य चोदात्तस्वरितपरत्वे श्रवणं स्पष्टम्" इस पंक्ति का प्रतीक है। तात्पर्य यह है कि जिस स्वरित के पर में उदात्त या स्वरित रहे उसी स्वरित का शेष भाग अनुदात्त होता है, अन्यत्र नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि उदात्त और स्वरित का यह परत्व उपस्थित अनुदात्त की अपेक्षा ही यहाँ लिया जाता है।

अन्यत्र = जहाँ उदात्त या स्वरित का परत्व नहीं है वहाँ तो अनुदात्त का श्रवण न होकर उदात्तश्रुति ही प्रातिशाख्ये = वेदव्याकरण में प्रसिद्ध है। लोक में तो वह अनुदात्त ही रहता है।

ह्रस्वस्वरितमुदाहरति—क्वेति। 'किमोऽदि'त्यत, 'क्वाती'ति कादेशे 'तित्स्वरितम्' इति स्वरितः। दीर्घं तमुदाहरति—रथानामिति। येऽरा इति। 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादावि'त्येकारः स्वरितः। 'नोदात्तस्वरितोदयमि'ति निषेधस्तु—'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित' इत्यस्यैवानन्तरस्येति न्यायात्। स्वरितपरमुदाहरति—शतचक्रमिति। अहेरित्यर्थेऽह्यः। वृत्रस्येत्यर्थः। 'छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः' इति वचनाद् गुणाभावः। 'उदात्तस्वरितयोरि'ति स्वरितः। 'उदात्तयणो हल्पूर्वादि'ति तु न, छान्दसत्वात्। यच्छब्दः 'फिषः' इत्यन्तोदात्तस्तदेकादेशश्च वा स्वरितः। स इति। उदात्तादिह्रस्वादिसञ्ज्ञक इत्यर्थः।

ह्रस्वस्वरितमुदाहरति = क्वेति। अब ह्रस्वस्वरित का उदाहरण देते हुए कह रहे हैं क्वेति। क्व पद की सिद्धि इस प्रकार होती है— किम् शब्द से "किमोऽत्" इस सूत्र से अत् प्रत्यय होता है। इसके बाद "क्वाति" इस सूत्र से किम् शब्द के स्थान पर क्व आदेश होता है। "तित्स्वरितम्" इस सूत्र से "क्व" शब्द का अकार स्वरित होता है। इसका आद्यंश उदात्त होता है और उत्तरार्ध अनुदात्त होता है। "वस्" यह आदेश "अनुदात्तं सर्वमपदादौ" सूत्र से अनुदात्त है। "अश्वाः" पद का आदि अकार अश् धातु से क्वन् प्रत्यय करने के कारण "नित्"

स्वर से उदात्त है। वस् के सकार को रुत्व, उत्व, गुण और पूर्वरूप करने पर "एकादेशं उदात्तेनोदात्तः" इस सूत्र से ओकार उदात्त होता है। इस प्रकार उदात्तपरक ह्रस्वस्वरित का यह उदाहरण है जहाँ स्वरित के उत्तरार्ध में अनुदात्तश्रुति होती है।

दीर्घं तमुदाहरति—रथानामिति। अब "रथानाम्" इस प्रयोग के माध्यम से दीर्घस्वरित का उदाहरण दे रहे हैं।

"येऽराः" इस वाक्य में आया हुआ यद् शब्द "फिषोऽन्त उदात्तः" सूत्र से अन्तोदात्त है। उसके आगे की जस् विभक्ति "अनुदात्तौ सुप्पितौ" इस सूत्र से अनुदात्त है। त्यदाद्यत्व, पररूपत्व जश् को शी आदेश और गुण करने पर "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इस सूत्र से "ये" इस पद का एकार उदात्त होता है।

"अराः" इस पद में ऋ धातु से अच् प्रत्यय करने से निष्पन्न "अर" यह शब्द "चितः" सूत्र से अन्तोदात्त है। इसके बाद शेषनिघात से "अरा" का अकार अनुदात्त होता है। "ये + अरा" इस स्थिति में पूर्वरूप करने पर "स्वरितो वानुदात्ते पदादौ" सूत्र से 'ये' इस पद का एकार स्वरित होता है। इसका पूर्वार्ध उदात्त तथा उत्तरार्ध अनुदात्त होता है, जिसका श्रवण आगे उदात्त पर में रहने के कारण स्पष्ट है। इस प्रकार यह दीर्घस्वरित का उदाहरण होता है।

यदि कहा जाय कि यहाँ "स्वरितो वानुदात्ते पदादौ" इस सूत्र से विधेय स्वरित का "नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्" (८।४।६७) सूत्र से निषेध हो जायेगा तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "अनन्तरस्य विधिर्भवति प्रतिषेधो वा" इस नियम के आधार पर उक्त सूत्र से अनन्तर स्वरितविधि "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (८।४।६६) इसी का निषेध होगा, न कि व्यवहित और दूरस्थ "स्वरितो वानुदात्ते पदादौ" (८।२।६) सूत्र से विधेय स्वरित का निषेध।

स्वरितपरमुदाहरति— शतचक्रमिति। अब "शतचक्रमि"त्यादि उदाहरण के द्वारा स्वरितपरक स्वरित का उदाहरण दे रहे हैं— "अह्यः" यह रूप अहि शब्द के षष्ठी के एकवचन का है। "अहेः" के अर्थ में यहाँ "अह्यः" का प्रयोग किया गया है। अहि का अर्थ है वृत्रासुर। इसलिए "अह्यः" का अर्थ है—वृत्रस्य। यदि कहा जाय कि "अहि" शब्द का षष्ठी के एकवचन में घि-संज्ञाप्रयुक्त गुण करने से "अहेः" रूप ही बनेगा। ऐसी स्थिति में यहाँ यण् करके "अह्यः" यह रूप कैसे बना? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "जसि च" सूत्र के ऊपर एक वार्तिक है—"छन्दसि वावचनं प्राङ् णौ चङ्युधायाः" इस वार्तिक से छन्द में गुण का वैकल्पिकत्व बोधन किया गया है। इसी के फलस्वरूप यहाँ गुण न होकर यण् हुआ है, जिससे "अह्यः" यह रूप सिद्ध हुआ है।

"योऽह्यः" इस प्रयोग में यद् शब्द फिट् स्वर से अन्तोदात्त है। उसके आगे सु विभक्ति "अनुदात्तौ सुप्पितौ" सूत्र से अनुदात्त है। सु को रुत्व, उत्व और गुण करने पर "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इस सूत्र से "यो" का ओकार उदात्त होता है।

"अह्यः" इस पद में मूल अहि शब्द "उञ्छादीनाञ्च" (६।१।१६०) सूत्र से अथवा "घृतादीनाञ्च" फिट् सूत्र १पा०.२१ से अन्तोदात्त है। शेषनिघात के द्वारा "अहि" का अकार अनुदात्त होता है। इसके आगे ङस् विभक्ति आने पर जब इकार को यण् होता है तब "उदात्तस्वरितयोर्यणः

स्वरितोऽनुदात्तस्य" (८।२।४) सूत्र से ङस् के अनुदात्त अकार को स्वरित कर दिया जाता है। "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" (६।१।१७४) यह सूत्र जो ङस् के अकार को उदात्त कर सकता था, इसकी प्रवृत्ति यहाँ छान्दसत्वात् नहीं हुई। अब "यो + अह्यः" इस स्थिति में "एङः पदान्तादति" सूत्र से पूर्वरूप करने पर "स्वरितो वानुदात्ते पदादौ" (८।२।६) सूत्र से ओकार को स्वरित कर दिया जाता है। इसका आद्यंश उदात्त है और उत्तरार्ध अनुदात्त है। इस अनुदात्त की श्रुति इसलिए यहाँ होती है कि उसके आगे "ह्यः" का अकार स्वरित पर में है। इस प्रकार स्वरितपरक स्वरित का यह उदाहरण स्पष्ट है।

कुछ लोगों का कहना है कि "अह्यः" यह पद "अह् व्याप्तौ" धातु से कर्म में ण्यत् प्रत्यय करने से बना हुआ है। इस प्रकार यहाँ "तित्स्वरितम्" सूत्र से स्वरित हुआ है। ण्यत् के णित् होने के कारण प्राप्त उपधावृद्धि संज्ञापूर्वक विधि के अनित्य होने के कारण नहीं हो सकी है। नागेश भट्ट इस बात से असहमत हैं। अपनी असहमति उन्होंने "अहेरित्यर्थे अह्यः" ऐसा कहकर व्यक्त की है।

स इति— वह ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत अच् जो उदात्त अनुदात्त और स्वरित के भेद से नव प्रकार का हो चुका है, वह अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से दो-दो प्रकार का होता है।

मुख। उच्यतेऽसौ वचनः, बाहुलकात्कर्मणि ल्युट्। 'मुखसहिता नासिके'ति विग्रहः। तया वचन इति—'साधनं कृते'ति समासस्तदाह—मुखसहितेत्यादि। मुखेति किम्? यमानुस्वाराणामेव प्रसज्येत, एवञ्चाङोऽनुनासिक इत्यनुस्वारः स्यात्। नासिकेति किम्? शक्तेत्यादौ 'अनुदात्तोपदेश' इत्यादिना कलोपो मा भूत।

"मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः" सूत्र की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि "उच्यतेऽसौ वचनः" इस विग्रह में वच् धातु से बाहुलकात् कर्म में ल्युट् प्रत्यय करने से वचन शब्द बना है। इसका अर्थ है—उच्चार्यमाण या उच्चारण का विषय। मुखनासिका शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"मुखेन सहिता मुखसहिता, मुखसहिता चासौ नासिका मुखनासिका"। यहाँ पहले तृतीयातत्पुरुष करके उसके बाद कर्मधारय समास किया जाता है और शाकपार्थिवादित्वात् सहित पद का लोप कर दिया जाता है। इसके बाद तया = मुखनासिकया वचनः = "मुखनासिकावचनः" इस पद की सिद्धि होती है। नागेशभट्ट ने यहाँ "साधनं कृता" इस वार्तिक से समास का उल्लेख किया है। यद्यपि यहाँ "कर्तृकरणे कृता बहुलम्" इस सूत्र से समास सिद्ध है तथापि वार्तिक का उल्लेख कर नागेश भट्ट ने यह सूचित किया है कि वार्तिक भी प्रयोजनान्तर के लिए आवश्यक है। इस प्रकार सूत्रघटक पदों की सिद्धि को ध्यान में रखकर इसकी वृत्ति में कहा गया है कि—"मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकः"। मुख-सहित नासिका से जिसका उच्चारण होता है वह वर्ण अनुनासिकसंज्ञक होता है।

यहाँ यह शंका होती है यहाँ "शाकपार्थिवादिगण में पाठ की परिकल्पना करके जो सहित पद का लोप किया गया है, वह लोप तो नित्य लोप है। ऐसी स्थिति में वृत्ति में सहित पद का उल्लेख क्यों किया गया है? इस शंका के उत्तर में कहा जाता है कि "मुखनासिका" शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है—"मुखं द्वितीयं यस्याः सा मुखद्वितीया, मुखद्वितीया चासौ

नासिका मुखनासिका। यहाँ शाकपार्थिवादित्वात् द्वितीय पद का नित्य ही लोप हुआ है। वृत्ति में जो सहित पद का उल्लेख किया गया है वह फलितार्थ कथन मात्र है। कुछ लोगों का कहना है कि "मुखनासिका" शब्द का शाकपार्थिवादिगण में पाठ मानने की अपेक्षा यही लाघव है कि यहाँ मुख पद मुखसहित अर्थ में लाक्षणिक है, ऐसा स्वीकार कर लिया जाय।

भाष्य में तो "उच्यते येनासौ वचनः" इस प्रकार करण में ल्युट् करके वचन शब्द की निष्पत्ति की गई है और "मुखनासिकावचनमस्य" इस विग्रह में बहुव्रीहि समास करके "मुखनासिकावचनः" की सिद्धि की गई है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सूत्रार्थ इस प्रकार होगा— "मुख के साथ नासिका है उच्चारण का साधन जिसका, उस वर्ण की अनुनासिक संज्ञा होती है"। यद्यपि इस अर्थ में और पूर्वोक्त अर्थ में तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है तथापि अन्यपदार्थ-प्रधान बहुव्रीहि की अपेक्षा वर्तिपदार्थ-प्रधान तत्पुरुष में ही लाघव है। इसलिए उपर्युक्त व्याख्यान ही श्रेष्ठ है। यहाँ "मुखञ्च नासिका च" ऐसा द्वन्द्वसमासीयविग्रह ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा करने पर "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" इस सूत्र से नपुंसकलिंग और एकवचन होने से "मुखनासिकम्" ऐसा बनने लगेगा। "मुखेति किम्? नासिकावचनोऽनुनासिकः" ऐसा ही सूत्र करना चाहिए। सूत्र में मुखग्रहण का क्या प्रयोजन है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यदि मुखग्रहण नहीं करेंगे तो "अनुस्वारयमानाञ्च नासिकास्थानमिष्यते" इस शिक्षावचन के आधार पर अनुनासिक संज्ञा केवल यम और अनुस्वार की ही होगी, क्योंकि केवल ये ही नासिकावचन हैं। इसका परिणाम यह होगा कि "आङोऽनुनासिकश्छन्दसि" इस सूत्र से विधेय अनुनासिक की जगह अनुस्वार होने लगेगा। इसलिए सूत्र में मुखग्रहण करना चाहिए। मुखग्रहण करने पर मुखसहित नासिका से उच्चार्यमाण ही अनुनासिक होता है। इस प्रकार "आङोऽनुनासिकः" से विधेय "आङ्" अनुनासिक होता है।

नासिकेति किम्? सूत्र में नासिकाग्रहण की क्या उपयोगिता है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि यदि नासिकाग्रहण नहीं किया जायेगा तो केवल मुखवचन वर्ण ही अनुनासिक होंगे। परिणाम इसका यह होगा कि "शक्ता" प्रयोग में ककार भी अनुनासिक कहा जायेगा और क्त प्रत्य के पर में रहने पर इस अनुनासिक ककार का "अनुदात्तोपदेश" सूत्र से लोप होने लग जायेगा। इसलिए ककार का लोप न होने लगे, इसलिए सूत्र में नासिकाग्रहण भी आवश्यक है। "शक्ता" यह रूप शक् धातु से क्त प्रत्यय करके पुनः टाप् करने से बना हुआ है। इसलिए कित् प्रत्यय को पर में मान कर लोप की आपत्ति की गई है।

अष्टादशेति। यद्यपीदं न व्यक्तिपक्षे, व्यक्तीनामानन्त्यात्तथाप्यष्टादश- धर्मवत्त्वमकारजातीयादेरित्यर्थः। ह्रस्वत्वादीनां तत्तत्समानाधिकरणोदात्तत्वानुनासिकत्वादीनाञ्च भेदमाश्रित्येदम्बोद्ध्यम्। एवमग्रेऽपि। लृवर्णस्येति। विवृतस्येत्यर्थः। तेन 'लृति लृ वे'ति विधेयस्येषत्स्पृष्टस्य दीर्घत्वेऽपि न क्षतिः। दीर्घाभावादिति। अत एव तुल्यास्यसूत्रे भाष्ये 'लृति सवर्णे' इत्यनेन पक्षे द्विलकारकाभावे 'अकः सवर्णे' इति दीर्घत्वे होतृकार इति ऋकारघटितप्रयोगः सङ्गच्छते।

इस प्रकार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के मध्य प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से नव-नव प्रकार के हो जाने पर उन नवों के अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से अठारह भेद हो जाते हैं। इसलिए 'अ, इ, उ, ऋ' इनके प्रत्येक के अठारह-अठारह भेद होते हैं। यह बात दीक्षितजी ने कौमुदी में कही है।

नागेश भट्ट इस अष्टादश पद को लेकर कह रहे हैं कि कौमुदीकार का यह अठारह भेद बनाना व्यक्तिपक्ष में सम्भव नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में एक ही अकार अनन्त हो जाता है। तथापि कौमुदीकार की इस भेदगणना का तात्पर्य यह समझना चाहिए कि अत्वजात्यवच्छिन्न अकार में अष्टादशधर्मवत्त्व है। अर्थात् अकार अष्टादशधर्मवत्त्व से अनतिरिक्त (अतिरिक्त नहीं) होता है। यहाँ आदि पद से इकारजातीय और उकार तथा ऋकार जातीय का ग्रहण करना चाहिए।

यह अठारह भेद ह्रस्वत्व, दीर्घत्व और प्लुतत्व समानाधिकरण, उदात्तत्व, अनुदात्तत्व और स्वरितत्व के आधार पर नव-नव भेद करके उन नवों के समानाधिकरण अनुनासिकत्व और अननुनासिकत्व के आधार पर किया जाता है। इसी प्रकार आगे लृवर्ण और एच् के बारह भेदों के विषय में भी ह्रस्वत्वादि के आधार को समझना चाहिए।

लृवर्णस्येति—लृकार के बारह भेद होते हैं, क्योंकि लृकार दीर्घ नहीं होता है, इसलिए दीर्घवाले छः भेद कम होने से लृकार के बारह भेद कहे गये हैं। यहाँ शंका होती है कि "लृति लृ वा" इस वार्तिक से लृ को जब दीर्घ विधान किया जाता है तो यह उक्त कथन कहाँ तक संगत है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि जिस लृ के दीर्घ का अभाव कहा गया वह लृकार विवृतप्रयत्न का लृवर्ण है। "लृति लृ वा" इस वार्तिक से विधेय लृकार एक विलक्षण लृकार है। इसके मध्य दो लकार हैं जिनकी एक मात्रा होती है। उन दोनों लकारों के चारों ओर अच् भाग की एक मात्रा होती है। इस प्रकार यह लृकार दो मात्रा का होता है। यहाँ हल् वर्ण की एक मात्रा होने के कारण उनकी प्रधानता के आधार पर यह लृकार ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न का होता है। इस प्रकार इस लृकार के दीर्घ होने पर भी विवृतप्रयत्न वाला लृकार तो दीर्घ नहीं होता। इसलिए इसका बारह भेद कहना संगत ही है।

दीर्घाभावादिति—जब विवृतप्रयत्न वाले लृकार को दीर्घ नहीं होता तभी "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार के द्वारा "लृति लृ वा" इस वार्तिक से विधेय द्विलकारक लृ के अभावपक्ष में "होतृ + लृकारः" इस स्थिति में ऋकार और लृकार के स्थान पर "अकः सवर्णे दीर्घः" सूत्र से दीर्घ ऋकार करके "होतॄकारः" ऐसा प्रयोग बनाना संगत होता है। क्योंकि लृकार के दीर्घ न होने के कारण उसके सवर्णी ऋकार का दीर्घ रूप उक्त प्रयोग में ऋकार और लृकार के स्थान पर हो जाता है।

ह्रस्वाभावादिति। इदमेओङित्यादौ भाष्ये स्पष्टम्। गानरोदनादौ चतुर्मात्रार्ध-मात्रादीनामुपलम्भेऽपि शास्त्रीयकार्ये उपयोगाभावाल्लोके प्रयोगेष्वप्रयोगाच्च नोक्ताः। अत एवानुदात्ततरस्यानुक्तिः। एकश्रुतेः स्वरान्तरत्वे इदमुपलक्षणं—तस्या लोकेऽपि सत्त्वात्।

एच् (ए, ओ, ऐ, औ) इन चार वर्णों के भी बारह-बारह भेद होते हैं, क्योंकि इनके ह्रस्व का अभाव होता है अर्थात् ये ह्रस्व नहीं होते हैं। यह बात "एओङ्", "ऐऔच्" सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट है। यद्यपि गान करने में और रोदन में चार मात्रा का तथा अर्धमात्रा का भी उपलम्भ होता है, तथापि शास्त्रीय कार्य में चार मात्रा अथवा अर्धमात्रा का कोई उपयोग न होने के कारण तथा लौकिक प्रयोगों में चार मात्रा का अथवा अर्धमात्रा का प्रयोग न होने के कारण यहाँ चतुर्मात्रा या अर्धमात्रा का उल्लेख नहीं किया गया।

अत एव = शास्त्रीय कार्य में उपयोग न होने के कारण तथा लौकिक प्रयोगों में प्रयुक्त न होने के कारण ही अनुदात्ततर का भी कथन नहीं किया गया है।

उदात्तादि स्वरों का यह भेदकथन एक श्रुति के स्वरान्तरत्व का उपलक्षण है। उदात्तादि स्वरों की अविभागेन स्थिति को "एकश्रुति" कहते हैं। इसका अन्तर्भाव उदात्त में नहीं किया जा सकता, क्योंकि "उच्चैस्तरां वा वषट्कारः" इस सूत्र से उदात्ततर के विकल्प में एकश्रुति का विधान किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह उदात्त से भिन्न है। इसी प्रकार "उदात्तस्वरित-परस्य सन्नतरः" सूत्र से "सरस्वति" शुतुद्रि प्रयोग में एकश्रुति न करके सन्नतर (अनुदात्ततर) का विधान करने से स्पष्ट है कि एकश्रुति अनुदात्त से भी भिन्न है। इसका प्रयोग लोक में भी होता है।

तुल्यास्य। तुल्यावास्यप्रयंत्नौ यस्येत्यर्थः। आस्ये भवमास्यं, व्याख्यानात्। तच्च—वर्णोपयोगित्वात्स्थानमेव, प्रयत्नस्य पृथगुपादानात्। प्रकृष्टो यत्न—आभ्यन्तरः। तस्य वर्णोत्पत्त्यव्यवहितप्राग्भावित्वरूपप्रकर्षवत्त्वात्। जनकत्वं षष्ठ्यर्थः। तत्तत्कार्यगतभेदं स्थानेष्वारोप्य भेदघटिततुल्यत्वस्य निर्वाहः। वस्तुतः 'सादृश्यं न भेदघटितमि'ति भाष्यसम्मतमिति न कश्चिद्दोषः। स्पष्टञ्चेदं भाष्ये। तदाह—ताल्वादीति। शिक्षायाङ्कण्ठादीनाङ्कण्ठत्वादिनैव स्थानतोक्त्या तद्रूपेणैवाऽऽस्यशब्देन ग्रहणमिति तद्भागभेदमादाय नोदात्तादिषु सावर्ण्यभङ्ग इति बोद्धव्यम्। यस्यैतदद्वयं येन यदीयेनैतदद्वयेन तुल्यमित्यर्थः।

"तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" सूत्र की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि— यहाँ "तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नम्" ऐसा बहुव्रीहि समास हुआ है। "यस्य" इस पद में स्थित षष्ठी का अर्थ जनकत्व है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ होता है—"जिस वर्णद्वय के जनक स्थान और प्रयत्न तुल्य हों, उन दोनों वर्णों की परस्पर में सवर्ण संज्ञा होती है"।

यहाँ शंका होती है कि आस्य शब्द नपुंसक है, इसलिए उसका विशेषण तुल्य शब्द भी नपुंसक ही होगा। इसी प्रकार प्रयत्न शब्द के पुंल्लिग होने के कारण उसका विशेषण तुल्य शब्द पुंल्लिग होगा। ऐसी स्थिति में "तुल्यञ्च तुल्यश्च" इस विग्रह में एकशेष करने पर "नपुंसकमनपुंसकेनैकवत्" सूत्र से नपुंसक का एकशेष होने के कारण "तुल्यौ" की जगह "तुल्ये" ऐसा एकशेष होना चाहिए। इस शंका के उत्तर में कहा जाता है कि जहाँ प्रवृत्तिनिमित्तनिष्ठ नानाप्रकारतानिरूपित नानाविशेष्यताक बोध की इच्छा होती है ऐसे शब्दतन्त्र में जब "प्रत्यर्थं

शब्दनिवेशः" इस नियम के आधार पर नाना शब्दों के उच्चारण का प्रसंग आता है तब वहाँ एकशेष किया जाता है। जैसे "अक्षा भज्यन्तां भुज्यन्तां दीव्यन्ताम्" इस वाक्यघटक "अक्षाः" इस पद में एकशेष हुआ है। ऐसा शब्दतन्त्र यहाँ नहीं है, किन्तु यहाँ तो—प्रवत्तिनिमित्त निष्ठ एकप्रकारतानिरूपित, नानाव्यक्तिनिष्ठ एकघिशेष्यताक बोध की इच्छा होने के कारण अर्थतन्त्र है। इस तन्त्र में एकशेष होने का कोई प्रश्न ही नहीं होता। यहाँ तो एक ही तुल्य शब्द का द्विवचनान्त प्रयोग "तुल्यौ" ऐसा किया गया है, न कि एकशेष हुआ है। अर्थतन्त्र की स्पष्टता यहाँ इस प्रकार है कि यहाँ तुल्यत्वनिष्ठ एकप्रकारता है, तन्निरूपित तुल्यद्वयनिष्ठ एकविशेष्यताक बोध होता है; जैसा कि उपर्युक्त सूत्रार्थ से स्पष्ट है।

"आस्ये भवम् आस्यम्" आस्य शब्द की इस व्युत्पत्ति से आस्य शब्द से यहाँ वर्णोपयोगी कण्ठादि स्थानों का ग्रहण किया जाता है। यद्यपि आस्यभवत्व तो ष्ठीवनादि में भी है, किन्तु उनमें प्राकरणिक वर्णोपयोगिता नहीं है। अतः यहाँ आस्यभव शब्द से तालु आदि स्थान ही लिये गये हैं। दूसरी बात यह है कि आस्य शब्द से यदि आस्यभव सभी का ग्रहण हो तो सूत्र में प्रयत्नग्रहण करना व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि प्रयत्न भी तो आस्यभव ही हैं। इसलिए आस्य शब्द से यहाँ वर्णोपयोगी स्थानों का ही ग्रहण किया जाता है।

यत्न की जगह प्रयत्न का उच्चारण करने से प्रकृष्ट यत्न का ग्रहण किया जाता है। यत्न का प्रकर्षत्व उसका वर्णोत्पत्ति से अव्यवहित प्राग्भावित्व रूप है। अर्थात् जो यत्न वर्ण की उत्पत्ति से अव्यवहित पहले हो वही यहाँ प्रयत्न शब्द से अभिप्रेत है। ऐसा प्रयत्न आभ्यन्तर प्रयत्न ही होता है। बाह्य प्रयत्न तो वर्णों की अभिव्यक्ति के बाद वर्णों में गलविवर के संकोच से संवारत्व और उसके विकास से विवारत्वादि गुण के सम्पादक होते हैं। इसलिए इन्हें गुण शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार वर्ण की अभिव्यक्ति के पूर्वक्षणावच्छेदेन विद्यमान न होने के कारण बाह्यप्रयत्न सवर्ण संज्ञा में अनुपयोगी हैं। यह बात ऊपर कह आये हैं कि "तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य" इस विग्रह में 'आगत यस्य' पदस्थ षष्ठी का अर्थ जनकत्व है।

अब यह शंका होती है कि ककार और खकार की जो परस्पर में सवर्ण संज्ञा होती है, वह अब नहीं होगी। कारण यह है कि प्रस्तुत सूत्र का अर्थ किया गया है कि जिस वर्ण का स्थान और प्रयत्न जिस वर्ण के स्थान और प्रयत्न के तुल्य हों वे दोनों वर्ण सवर्णसंज्ञक होते हैं। यह जो तुल्यत्व (सादृश्य) है वह तद्भिन्न होते हुए तद्गत भूयोधर्मवान् होता है। ककार और खकार के स्थान सदृश तब कहे जायेंगे जब दोनों भिन्न-भिन्न हों। किन्तु दोनों का स्थान कण्ठ होने के कारण भेदघटित सादृश्य का यहाँ सर्वथा अभाव है। ऐसी स्थिति में इनकी सवर्ण संज्ञा किस प्रकार होगी? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यद्यपि ककार और खकार का स्थान एक ही कण्ठ है तथापि उस कण्ठ के कार्य ककार और खकार तो भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में कार्यगत भेद का स्थान में आरोप कर दिया जायेगा। अर्थात ककार का कण्ठस्थान भिन्न है और खकार का कण्ठस्थान भिन्न है। इस प्रकार कार्यगत भेद का स्थान में आरोप करने से स्थान भिन्न हो जाता है। इसलिए ककार के स्थान के तुल्य खकार का स्थान होने से भेदघटित तुल्यत्व का निर्वाह हो जाता है। इसी प्रकार एक स्थान वाले दूसरे वर्णों की भी सवर्ण संज्ञा के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

वस्तुतस्तु—सादृश्य के लक्षण में "तद्भिन्नत्वे सति" यह भेदघटित अंश है ही नहीं। यही बात भाष्यसम्मत है। ऐसी स्थिति में जब कि स्थान के सादृश्य के लिए भिन्नता की आवश्यकता ही नहीं है तो कोई दोष भी नहीं है। यह बात भाष्य में स्पष्ट है। इसी बात को लेकर वृत्ति कही गई—ताल्वादि इत्यादि।

अब यह शंका होती है कि जो उदात्त अकार है वह तो कण्ठ के ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न है। जो अनुदात्त अकार है वह कण्ठ के अधोभाग में निष्पन्न है। इस प्रकार दोनों के स्थान भिन्न होने के कारण सवर्ण संज्ञा नहीं होगी। इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि भगवान् पाणिनि ने शिक्षा में कण्ठत्वेन रूपेण कण्ठ की, दन्तत्वेन रूपेण दन्त की तथा अन्य स्थानों की परिगणना तत्तद् रूपेण ही की है, न कि कण्ठोर्ध्वभागेन कण्ठाधोभागेन स्थानों का उल्लेख किया है। इसलिए उस स्थान के किसी भाग से निष्पन्न होने पर भी उस वर्ण का वही स्थान रहता है। इसलिए स्थानों के भाग के (ऊर्ध्वादि भाग के) भेद को लेकर सावर्ण्य-भंग की आपत्ति नहीं की जा सकती है।

यस्य = जिस वर्ण का एतद्द्वयम् = ताल्वादिस्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न—ये दोनों येन = यदीयेन = जिसके स्थान और प्रयत्न के तुल्य हों, वे दोनों वर्ण परस्पर सवर्णसंज्ञक होते हैं। यहाँ 'येन' का अर्थ "यदीयेन" किया गया है। यदि ऐसा नहीं किया गया होता तो जिस प्रकार "यस्य" पद से वर्ण लिया जाता है उसी प्रकार "येन" पद से भी वर्ण लिया जाता। परिणाम यह होता कि 'जिस वर्ण के स्थान-प्रयत्न जिस वर्ण के तुल्य हों' ऐसा अर्थ होता, जो सर्वथा असम्भव है। क्योंकि स्थान-प्रयत्न की तुल्यता स्थान-प्रयत्न से ही होती है, न कि वर्ण के साथ। इसलिए येन अर्थात् "यदीयेन स्थानप्रयत्नेन तुल्यम्" ऐसा अर्थ संगत होता है।

"जिस वर्ण का तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न जिस वर्ण के इन दोनों के तुल्य हो उन दोनों वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है" ऐसा सूत्रार्थ करने पर यह दोष आता है कि इकार के स्थान-प्रयत्न के तुल्य एकार का स्थान-प्रयत्न है। ऐसी स्थिति में इकार और एकार की सवर्ण संज्ञा होनी चाहिए। यदि कहा जाये कि इकार का स्थान तालु है और एकार का स्थान कण्ठतालु है तो ऐसी स्थिति में सवर्ण संज्ञा कैसे होगी? तो इसका उत्तर यह है कि एकार का स्थान कण्ठतालु है तो तालुस्थान भी तो उसका है ही। कण्ठस्थान की अधिकता उसके तालु-स्थान की व्याघातिका तो है नहीं। ऐसी स्थिति में इकार और एकार की सवर्ण संज्ञा होनी चाहिए। इस शंका को दृष्टिगत कर कह रहे हैं।

'यजुष्येकेषामि'ति निर्देशाद्यावदास्यभवतुल्यत्वं ग्राह्यम्। अत एवैचोः सावर्ण्यमाशङ्क्य–'नैतौ तुल्यस्थानौ' इति भाष्ये समाहितम्। अत एव वलयोर्न सावर्ण्यम्। तेन 'तद्वानासामि'त्यादौ 'तोर्ली'ति न। अत एव प्रयत्नशब्देन यत्नमात्रग्रहणमि'ति पक्षे यत्किञ्चित्प्रयत्नभेदे यत्किञ्चित्प्रयत्नैक्यमादाय सवर्णसञ्ज्ञेत्यर्थो 'झरो झरि सवर्णे' इति सवर्णग्रहणेन ज्ञापकेन साधितो भाष्ये। तेन स्थानांशे 'यावत्स्थानसाम्ये' इत्येव स्वारसिकोऽर्थ इति प्रतीयते।

न च यावदास्यभवतुल्यत्वविवक्षणे प्रयत्नग्रहणं व्यर्थं, प्रयत्नस्याप्यास्यभवत्वादिति वाच्यं, ह्रस्वदीर्घयोः सावर्ण्यानापत्तेः, तयोर्जनकानामास्यभवानां वायुसंयोगानामतुल्यत्वात्। तस्मादास्यभवानाङ्कण्ठादीनामेव ग्रहणमिति बोधनाय तत्सार्थक्यात्।

यदि इकार और एकार की सवर्ण संज्ञा हो जाय तो इकार से एकार पर में रहने पर पूर्वसवर्ण दीर्घ की आपत्ति होने लगेगी। परिणाम यह होगा कि यजुषि + एकेषाम् = "यजुष्येकेषाम्" यह निर्देश नहीं बन सकेगा। इस निर्देश से समझते हैं कि आस्य और प्रयत्न के मध्य आस्यभव (स्थान) की जो तुल्यता है वह यावदास्यभव के रूप में यहाँ ग्राह्य है। तात्पर्य यह है जिन दोनों वर्णों की सवर्ण संज्ञा वाञ्छित है उन दोनों के स्थान की यावत् तुल्यता होनी चाहिए। जो स्थान एक वर्ण का हो ठीक वहीं स्थान दूसरे वर्ण का भी हो तब उन दोनों की सवर्ण संज्ञा होगी, अन्यथा नहीं होगी।

इस कथन से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि सवर्ण संज्ञा में स्थान की यावत् तुल्यता ग्राह्य होने पर भी प्रयत्न के विषय में यावत्तुल्यता का कोई आग्रह नहीं है।

अत एव = यावत् स्थानतुल्य होने पर ही सवर्ण संज्ञा होती है, यह बात स्वीकार करने से ही ऐ और औ इन दोनों वर्णों की कण्ठस्थान और विवृत प्रयत्न की तुल्यता को लेकर सवर्ण संज्ञा की आशंका करके भाष्यकार ने समाधान दिया कि "नैतौ तुल्यस्थानौ" अर्थात् ये दोनों वर्ण यावत्स्थानतुल्य नहीं हैं। कण्ठस्थान की तुल्यता होने पर भी ऐकार के स्थान में तालु के होने से और औकार के स्थान में ओष्ठ के होने से दोनों की यावदास्यभवतुल्यता नहीं है। इसलिये इनकी सवर्ण संज्ञा नहीं होती है।

अत एव = यावदास्यभवतुल्यता का ग्रहण करने से ही वकार और लकार की सवर्ण संज्ञा नहीं होती। लकार का स्थान तो केवल दन्त है, जब कि वकार का स्थान दन्त और ओष्ठ हैं। इस प्रकार यावत् स्थानसाम्य न होने के कारण इनकी सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। तेन = वकार और लकार की सवर्ण संज्ञा न होने के कारण पाणिनि का "तद्वानासामुपधानः" इत्यादि निर्देश संगत होता है। अन्यथा यदि वकार और लकार की सवर्ण संज्ञा हो जाती तो "तद् + वान्" इस स्थिति में वकार को लकार मान कर उसके पर में रहने पर "तोर्लि" सूत्र से दकार को लकार हो जाता। किन्तु सवर्ण संज्ञा न होने से "तोर्लि" की प्रवृत्ति यहाँ नहीं हुई।

अत एव = यावदास्यभव की (स्थान की) तुल्यता लेने से ही "झरो झरि सवर्णे" सूत्रस्थ भाष्य की संगति होती है। वहाँ का प्रसंग इस प्रकार है—भाष्यकार ने सवर्ण संज्ञा के सन्दर्भ में यह विचार किया कि प्रयत्न शब्द से यदि यत्न मात्र (बाह्य और आभ्यन्तर) का ग्रहण किया जाय तो क्या आपत्ति है? ऐसी आशंका का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि यदि यत्न मात्र का ग्रहण करते हैं तो इस सूत्र में किये गये सवर्णग्रहण की व्यर्थता हो जायेगी। सवर्णग्रहण तो इसीलिए किया गया है कि झर् की जो स्थानिता और झर् में ही जो निमित्तता है इनका यथासंख्य न होने लगे। अर्थात् ऐसा न होने लगे कि झकार का लोप झकार पर में रहने पर और भकारादि का लोप भकारादि के पर में रहने पर ही हो। किन्तु सवर्ण झर् पर में रहने पर झर् का लोप हो, इस प्रकार की व्याख्या का परिणाम यह होता है कि "शिन् ड् + ढि" इस

स्थिति में सवर्णी झर् ढकार के पर में रहने पर डकार का लोप हो जाता है, जिससे "शिण्ढि" इस प्रयोग की सिद्धि होती है।

यदि सवर्ण संज्ञा में यत्न मात्र का ग्रहण करते है तब डकार और ढकार का आभ्यन्तरप्रयत्न साम्य होने पर भी बाह्य प्रयत्न में अल्पप्राण और महाप्राण का भेद होने के कारण इनकी सवर्ण संज्ञा होगी ही नहीं। ऐसी स्थिति में "झरो झरि सवर्णे" सूत्र में सवर्णग्रहण का क्या औचित्य रह जायेगा? इसलिए सवर्णग्रहण से ज्ञापन किया गया कि इस पक्ष में यत्-किञ्चित् प्रयत्न-भेद होने पर भी यत्किंञ्चित् प्रयत्न की एकता को लेकर सवर्ण संज्ञा हो जाती है। इसलिए डकार और ढकार की सवर्ण संज्ञा हो जाती है, क्योंकि केवल अल्पप्राण और महाप्राण के भेद होने पर भी अन्य प्रयत्नों की एकता तो इन दोनों की है ही।

इस भाष्य से स्पष्ट है कि सवर्ण संज्ञा के प्रसंग में स्थान-अंश में ही यावत्स्थानसाम्य लिया जाता है। प्रयत्न अंश में यावत्साम्य अभिप्रेत नहीं है।

अब शंका होती है कि यदि यावदास्यभवतुल्यत्व की विवक्षा सवर्ण संज्ञा में की जाती है तब प्रयत्नग्रहण की क्या आवश्यकता है? क्योंकि प्रयत्न भी तो आस्यभव ही है। इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि यहाँ "आस्यभव" शब्द से आस्य (मुख) के भीतर रहने वाले कण्ठ आदि स्थानों का ही ग्रहण किया जाता है, इस बात को बताने के लिए ही प्रयत्न-ग्रहण की सार्थकता है। यदि यह बात स्वीकार न की जाय तो ह्रस्व और दीर्घ की सवर्ण संज्ञा नहीं हो सकेगी। क्योंकि आस्यभव शब्द से यदि प्रयत्न का भी ग्रहण किया जाय तो ह्रस्व का जनक वायुसंयोग रूपी यत्न का दीर्घ के जनक वायुसंयोग रूपी यत्न से सर्वथा भिन्न होने के कारण इनकी सवर्ण संज्ञा किस प्रकार होगी? इसलिए प्रयत्नग्रहण के सामर्थ्य से यहाँ आस्यभव शब्द से केवल कण्ठ आदि स्थानों का ही ग्रहण किया जाता है। प्रयत्न आस्यभव शब्द से गृहीत नहीं होता है। इस बात को बताने के लिए ही प्रयत्नग्रहण आवश्यक है।

आस्येति किम्? तर्प्ता। 'झरो झरी'ति लोपो मा भूत्। प्रयत्नेति किम्? वाक्श्चोतति। प्रेति किम्? शचयोः श्वासाघोषविवाराख्यबाह्यप्रयत्नसाम्येन तत्रैव दोषात्।

सूत्र में आस्यग्रहण का क्या प्रयोजन है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यदि सूत्र में आस्यग्रहण नहीं किया जायेगा तो जिन वर्णों का केवल आभ्यन्तर प्रयत्न समान होगा उनकी सवर्ण संज्ञा होने लगेगी। परिणाम इसका यह होगा कि पकार और तकार का आभ्यन्तर प्रयत्न एक होने के कारण दोनों की सवर्ण संज्ञा हो जायेगी। ऐसी स्थिति में "तर्प्ता" इस प्रयोग में "झरो झरि सवर्णे" इस सूत्र से पकार का लोप होने लगेगा। इसलिए आस्यग्रहण करना आवश्यक है। उसके करने पर स्थानसाम्य न होने के कारण पकार और तकार की सवर्ण संज्ञा नहीं होती है।

अब प्रश्न होता है कि प्रस्तुत सूत्र में प्रयत्नग्रहण की क्या आवश्यकता है? उत्तर में कह रहे हैं कि प्रयत्नग्रहण के अभाव में जब केवल स्थान के साम्य पर सवर्ण संज्ञा होगी तब शकार और चकार का स्थानसाम्य होने के कारण इनकी सवर्ण संज्ञा हो जायेगी। परिणाम यह होगा कि "वाक्श्चोतति" इस प्रयोग में "झरो झरि सवर्णे" सूत्र से शकार का लोप होने लगेगा।

अतः प्रयत्नग्रहण सार्थक है। शकार और चकार का आभ्यन्तर प्रयत्न भिन्न होने के कारण इनकी सवर्ण संज्ञा नहीं होती है।

प्रयत्न शब्द में आये हुए प्र शब्द से आभ्यन्तर प्रयत्न का ग्रहण किया जाता है। यदि "प्र" शब्द का ग्रहण न किया जाय तो यत्न शब्द से बाह्य प्रयत्न का ग्रहण करके उसके आधार पर शकार और चकार की सवर्ण संज्ञा होने लगेगी, क्योंकि इन दोनों वर्णों का बाह्य प्रयत्न विवार, श्वास और अघोष समान ही हैं। जब बाह्य प्रयत्न के साम्य के आधार पर इन दोनों वर्णों की सवर्ण संज्ञा हो जाती है तब "वाक्श्चोतति" का पूर्वोक्त दोष यथावत् रह जाता है। इसलिए प्रयत्न शब्द के भीतर प्र शब्द का उल्लेख आवश्यक है।

कस्य किं स्थानमित्याशङ्कायामाह—अकुहेति। यद्यपि सर्ववर्णोच्चारणे कण्ठव्यापार आवश्यकस्तथापि चकाराद्युच्चारणे ताल्वादिव्यापारोऽपि तथा, अकारादीनामुच्चारणे तु नेति भावः। कचयोस्तु न सावर्ण्यं, यावत्स्थानसाम्याभावात्, भिन्नस्थानकथनवैयर्थ्यापत्तेश्च। अत्र कण्ठपदं कण्ठस्थानतत्समीपजिह्वामूल-स्थानोभयपरं, तेन 'कण्ठ्यावहौ' 'जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः' इति शिक्षया न विरोधः। जिह्वामूलीयपदस्य च—वर्णविशेषे रूढिरिति न व्यवहारातिप्रसङ्गः। अत एवायोगवाहेषु जिह्वामूलीयगणनं भाष्ये।

किस वर्ण का कौन स्थान है? ऐसी जिज्ञासा होने पर "अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः" आदि के द्वारा कौमुदीकार ने प्रत्येक वर्णों के स्थान का परिज्ञान कराया है।

यद्यपि सभी वर्णों के उच्चारण में कण्ठ का व्यापार आवश्यक है, क्योंकि बिना कण्ठव्यापार के किसी भी वर्ण का उच्चारण सम्भव नहीं है; तथापि चकारादि वर्णों के उच्चारण में कण्ठव्यापार के अतिरिक्त तालु आदि का व्यापार भी आवश्यक है। अकारादि वर्णों के उच्चारण में कण्ठातिरिक्त किसी अन्य स्थान का व्यापार अपेक्षित नहीं है। इसलिए अकारादि वर्णों का ही कण्ठस्थान बताया गया, न कि इकार, चकारदि वर्णों का भी कण्ठस्थान कहा गया।

यदि कहा जाय कि चकारादि वर्णों के उच्चारण में तालु के व्यापार के होने पर भी कण्ठ का भी व्यापार जब उनके उच्चारण में अपेक्षित है तो कण्ठस्थानीय साम्य लेकर ककार और चकार की सवर्ण संज्ञा क्यों नहीं होती है? इस शंका के समाधान में कह रहे हैं कि सवर्ण संज्ञा में यावत्स्थान का साम्य विवक्षित है। जितना स्थान एक वर्ण का है ठीक वहीं स्थान दूसरे का भी हो तो यावत्स्थान की तुल्यता में सवर्ण संज्ञा होती है। ऐसी स्थिति में ककार और चकार की सवर्ण संज्ञा होने का कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि ककार में चकार का तालु-स्थान कृत साम्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि ककार और चकार की सवर्ण संज्ञा हो, तो इन दोनों वर्णों का भिन्न-भिन्न स्थान कहने की क्या आवश्यकता है? ककार का कण्ठ और चकार का तालु स्थान बता कर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि दोनों के स्थान भिन्न हैं। इसलिए इनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती है।

अब शंका होती है कि शिक्षा में कहा गया है कि "जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः" अर्थात् कवर्ग का स्थान जिह्वामूल है। यहाँ कौमुदीकार कवर्ग का स्थान कण्ठ बता रहे हैं। इस प्रकार पाणिनीय

शिक्षा से कौमुदीकार का विरोध हो रहा है। दूसरी बात यह है कि उक्त शिक्षा में यह भी कहा गया है कि "कण्ठ्यावहौ" अर्थात् अकार और हकार ये दोनों वर्ण कण्ठ्य है, अर्थात् इनका कण्ठस्थान है। दीक्षितजी कह रहे हैं कि अकार, कवर्ग, हकार और विसर्ग इनका स्थान कण्ठ है। कौमुदीकार की इस उक्ति का भी उक्त शिक्षाग्रन्थ से विरोध हो रहा है। इस प्रकार के विरोध को दृष्टिगत कर शेखरकार कह रहे हैं कि कौमुदीकार ने जिस कण्ठ पद का उल्लेख किया है वह कण्ठ पद लक्षणा से कण्ठस्थान और उसके समीपवर्ती जिह्वामूल-स्थान इन दोनों स्थानों का बोधक है। इस प्रकार कण्ठ पद को दोनों स्थानों का बोधक मानने से शिक्षा से विरोध नहीं होता है।

अब एक यह शंका होती है कि जब कवर्ग का स्थान जिह्वामूल है तब कवर्ग को जिह्वामूलीय कहना चाहिए न कि कण्ठ्य वर्ण। इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि जिह्वामूलीय पद क ख इन विशेष वर्णों में रूढ है। कवर्ग को जिह्वामूलीय तो जिह्वामूल में होने के कारण कहा जा सकता था और यह जिह्वामूलीय शब्द यौगिक कहा जाता, किन्तु योगशक्ति से रूढि-शक्ति बलवती होती है। इसलिए वर्ण-विशेष में रूढ़ जिह्वामूलीय शब्द का प्रयोग जिह्वामूल स्थान में होने वाले कवर्ग के लिए नहीं किया जा सकता; किन्तु इन्हें तो कण्ठ्य ही कहा जाता है। कण्ठस्थान के समीपवर्ती जिह्वामूल स्थान में होने पर भी कण्ठस्थान के समीप स्थान में होने के कारण ये भी कण्ठ्य ही हैं। अत एव = जिह्वामूलीय शब्द को वर्ण-विशेष में रूढ़ मानने से ही भाष्यकार ने अयोगवाहों के भीतर जिह्वामूलीय वर्ण की परिगणना की है। यदि कवर्ग जिह्वामूलीय होता तो भाष्यकार की उक्त परिगणना व्यर्थ हो जाती, क्योंकि कवर्ग का पाठ तो वर्णसम्माम्नाय में किया गया है।

तत्तद्वर्णोत्पत्तेः प्राक्तत्तत्स्थानादौ जिह्वास्पर्शाद्यनुभवेन तत्तद्वर्णानां तत्तत् स्थानत्वनिर्णयेऽप्यकुहेत्यादिकथनं साधारणधर्मबोधनायानुवादकं, न त्वेतदेव कण्ठादिस्थानविधायकमिति भ्रमितव्यम्। विसर्जनीयपदेनात्र साहचर्यादकाराश्रयस्य ग्रहणम्। अत एव 'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः' इति शिक्षया न विरोधः। दन्ता इति। दन्तसंयुक्तदेशा इत्यर्थः। अतो भग्नदन्तस्याप्युच्चारणं भवत्येव। 'उश्च पश्च ध्मायेते अनेन, तत्र भव' इति योगेनोपध्मानीयस्यौष्ठ्य-त्वमित्याह—उपूपेति। रूढत्वाच्च न व्यवहारातिप्रसङ्गः। नासिका चेति। चेन स्वस्ववर्गानुकूलं ताल्वादि गृह्यते। अत एवैषां प्रातिशाख्ये 'नासिकायां भव' इत्यर्थकनासिक्यशब्देन व्यवहारः।

अब यहाँ यह विचार हो रहा है कि प्रस्तुत सूत्र "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" ककारादि वर्णों के लिए कण्ठ आदि स्थानों का अपूर्व विधान (बोधन) करता है। ऐसी स्थिति में तुल्य स्थान के आधार पर सवर्ण पद का शक्तिग्रह होने पर ही "अणुदित्" सूत्र से "कु" शब्द से ककारादि पाँच का बोध हो सकता है। ऐसी स्थिति में "अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः" इस वाक्य में कु शब्द से ककारादि पाँच का ग्रहण पहले ही कैसे किया जाता है ? इस प्रकार की आशंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः" इत्यादि वाक्य कण्ठादि स्थानों के

विधायक नहीं है, किन्तु अकारादि तत्तद्वर्णों की उत्पत्ति से पहले तत्तद्स्थानों में जिह्वा के स्पर्श आदि के अनुभव के द्वारा ही यह निर्णय हो जाता है कि किस वर्ण का स्थान कौन है? इस प्रकार अनुभव के आधार पर अकारादि वर्णों का कण्ठ आदि स्थानों के निर्णय के अनन्तर उनमें रहने वाले कण्ठ्यत्व आदि धर्मों के अनुवादक के रूप में "अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः" इत्यादि वाक्यों की उपयोगिता है, न कि ये ही कण्ठादि स्थानों के विधायक हैं—ऐसा भ्रम करना चाहिए।

अब शंका यह होती है कि यहाँ सामान्य रूप से विसर्ग मात्र का स्थान कण्ठ बताया गया है। ऐसी स्थिति में शिक्षा से पुनः विरोध हो रहा है। शिक्षा में कहा गया है कि "अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः" अर्थात् अयोगवाह अपने आश्रय के स्थान वाले होते हैं। अयोगवाह उन्हें कहा जाता है जिनका वर्णसमाम्नाय में पाठ न हो, किन्तु वे व्याकरणशास्त्रीय कार्य के निर्वाहक हों। ऐसे अयोगवाह अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और यम—ये पाँच हैं। ये पाँच जिसके साथ लगे रहें, उसी अपने आश्रय के स्थान वाले ये भी हो जाते हैं। इस प्रकार आश्रयस्थानीभागी विसर्ग का कण्ठ स्थान बताना शिक्षा से स्पष्ट विरोध है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यहाँ विसर्जनीय पद से उपक्रान्त अकार के साहचर्य से अकाराश्रय विसर्ग का ही ग्रहण किया जाता है। इसलिए अकाराश्रय विसर्ग का ही कण्ठ स्थान होता है। इकाराश्रय विसर्ग का तालु स्थान होता है। इसी प्रकार उकाराद्याश्रित बिसर्गों का तत्तत् स्थान समझना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा-ग्रन्थ से कोई विरोध नहीं होता है।

"लृतुलसानां दन्ताः" इस वाक्य में आये हुए दन्त शब्द का अर्थ दन्तसंयुक्त देश है। इसलिए भग्नदन्त व्यक्ति भी तवर्ग आदि का उच्चारण कर लेता है। दन्त को स्थान मानने पर भग्नदन्तकर्तृक तकारादि का उच्चारण असम्भव हो जाता।

उपध्मानीय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसका अर्थ बतला रहे हैं, 'उश्च पश्च उपौ, ध्मायेते = उच्चार्येते अनेनेति ध्मानः-करणे ल्युट्। उपयोर्ध्मान इति विग्रहे कर्मषष्ठ्या समासः उपध्मान शब्दः'। इस प्रकार उपध्मान शब्द बना कर उससे "वृद्धाच्छः" सूत्र से छ प्रत्यय करने से उपध्मानीय शब्द बनता है। यहाँ "वा नामधेयस्य" इस वार्तिक से वृद्ध संज्ञा होती है। इस प्रकार की योगशक्ति से सिद्ध होता है कि उपध्मानीय का ओष्ठ स्थान होता है। इसी बात को कौमुदीकार ने कहा है—"उपूपध्मानीयानामोष्ठौ"।

यदि कहा जाय कि उक्त योगार्थ पवर्ग में भी पाया जाता है इसलिए पवर्ग को भी उपध्मानीय कहना चाहिए? तो इस शंका का निराकरण करते हुए कह रहे हैं कि उपध्मानीय शब्द वर्ण-विशेष में रूढ़ है। वह वर्ण-विशेष है प और फ से पूर्व अर्धविसर्गसदृश। इस वर्ण-विशेष में उपध्मानीय शब्द के रूढ़ होने के कारण व्यवहार का अतिप्रसंग नहीं हुआ अर्थात् उकार और पकार को उपध्मानीय नहीं कहा गया।

"ञमङणनानां नासिका च" इस वाक्य में आये हुए 'च' शब्द से ञकारादि वर्णों के स्व-स्व वर्ग के अनुकूल जो तालु आदि स्थान हैं उनका भी ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि ञकारादि वर्णों का नासिका स्थान के साथ अपने-अपने वर्ग वाला स्थान भी होता है। जैसे ञकार का स्थान नासिका और तालु होता है। इसी प्रकार मकारादि का भी समझना चाहिए।

अतएव = नासिका के स्थान होने के कारण ही प्रातिशाख्य में इन्हें "नासिकायां भवः" इस व्युत्पत्ति के आधार पर नासिक्य शब्द से व्यवहृत किया गया है। नासिका यदि स्थान नहीं होता तो इन्हें नासिक्य कहना असंगत हो जाता।

यत्तु—'अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमिष्यते।' (पा०शि० २२)

इति शिक्षोक्तेरेषां नासिकाकरणम्। किञ्च—स्थानत्वे कङ्योः सावर्ण्यानापत्तिः, यावत्स्थानैक्याभावात्। यत्किञ्चित्स्थानैक्येन तत्त्वे तु—ञमामपि परस्परं सावर्ण्यापत्तिरिति, तन्न। कण्ठादीनामपि करणत्वस्यैव 'अस्यन्त्यनेन वर्णान्' इति भाष्यात्प्रतीतेः। स्थानत्वव्यवहारस्तु वर्णाभिव्यक्तिजनकताल्वादौ वर्णजनकवायु-संयोगाधारे वर्णाधारत्वाऽऽरोपेण। तत्तत्स्थानजिह्वाग्रादिसम्बन्धेन वर्णोत्पत्त्या जिह्वाग्रादौ, तत्सम्बन्धजनकप्रयत्नविशेषे स्पृष्टतादौ च करणत्वव्यवहारः। वर्णाभिव्यक्त्यनन्तरभावी सावर्ण्यानुपयुक्त आन्तरतम्यपरीक्षोपयुक्तश्च कण्ठविवरादिनिष्ठविकासादेरास्यबहिर्देशावच्छिन्नकार्यस्य जनको यत्नो गुणशब्देनोच्यते। अकारादिनिष्ठानुनासिक्यस्य 'भेदकत्वाद्गुणस्ये'त्यादौ गुणत्वेन व्यवहारस्तु कण्ठाद्यवच्छिन्नवायुसंयोगेनोत्पन्नेषु नासावच्छिन्नवायुसंयोगेन तद्रूपधर्मोत्पत्त्या। एवञ्च नासिकायास्तत्र गुणजनकत्वादनुनासिकाकारादीनां नासिकास्थानं नोक्तं मूले।

कुछ लोगों ने नासिका को "ञमङणन" का करण माना हैं स्थान नहीं माना है। उनके मत का खण्डन करते हुए "यत्तु" शब्द से कह रहे हैं कि नासिका को करण मानने वालों का कहना है कि "अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमिष्यते" इस शिक्षावचन से सिद्ध होता है कि अनुस्वार और यमों का ही स्थान नासिका है, न कि ञमङ आदि पाँच अक्षरों का। इससे स्पष्ट है नासिका इनका स्थान न होकर करण है। नासिका को करण मानने में दूसरी युक्ति यह है कि यदि इसे ञमादि का स्थान माना जाय तो ककार और ङकार की सवर्ण संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि ककार का स्थान तो केवल कण्ठ है और ङकार का स्थान कण्ठ के अतिरिक्त नासिका भी हो रहा है। ऐसी स्थिति में यावदास्यभवतुल्यत्व के अभाव में इन दोनों वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होगी। यत्-किञ्चित् स्थानसाम्य को लेकर यदि इन दोनों की सवर्ण संज्ञा की जाती है तो "ञमङणन" की भी परस्पर सवर्ण संज्ञा होने लगेगी, क्योंकि नासिका स्थान का साम्य तो सब का है ही। इसलिए यही बात स्वीकार करनी चाहिए कि नासिका ञकारादि वर्णों का करण है, स्थान नहीं है।

इस प्रकार नासिका के करणवादियों के मत का उल्लेख करके 'तत्र' आदि शब्दों के द्वारा इस मत का खण्डन कर रहे हैं। इनका कहना है कि "अस्यन्ति = प्रकाशन्ते वर्णा अनेनेति आस्यम्" आस्य शब्द की इस प्रकार करण व्युत्पत्तिपरक भाष्य से सिद्ध होता है कि कण्ठ आदि भी करण ही हैं। "इस प्रकार जब कण्ठ आदि करण हो गये तो इनमें स्थानत्व का व्यवहार कैसे होता है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि तालु और कण्ठ आदि में जो स्थानत्व का व्यवहार होता है उसका कारण यह है कि वर्णों की अभिव्यक्ति का जनक जो

वायुसंयोग है, उसका आधार कण्ठ, तालु आदि हैं। इस प्रकार वर्णाभिव्यक्ति के जनक वायु-संयोग का आधार होने के कारण तालु आदि भी वर्णाभिव्यक्ति के जनक कहे जाते हैं। इन वर्णाभिव्यक्ति के जनक के आधार तालु आदि में वर्ण के अधारत्व का आरोप करने के कारण ये वर्णों के स्थान कहे जाते हैं। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि वैयाकरणों के मत में वर्णों की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं होती।

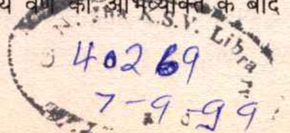
इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कण्ठादि में स्थानत्व का जो प्रयोजक है वह नासिका के स्थानत्व का भी प्रयोजक है। इसलिए कण्ठ आदि स्थानों की भाँति नासिका भी स्थान है।

कण्ठ आदि तत्तत् स्थानों में जब जिह्वा के अग्रभाग, मध्यभाग आदि का सम्बन्ध होता है तब वर्ण की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) होती है। इसलिए जिह्वाग्र आदि में तथा उनका तत्तत् स्थानों से सम्बन्ध के जनक स्पृष्टतादि प्रयत्न-विशेष में करणत्व का व्यवहार किया जाता है। व्यापारवान् असाधारण कारण ही करण कहा जाता है। जिह्वाग्रादि स्थान और स्पृष्टत्वादि आभ्यन्तर प्रयत्न से जन्य जो जिह्वाग्रादि सम्बन्ध है, उसका जनक होने के कारण जिह्वाग्रादि में और स्पृष्ट आदि प्रयत्नों में मुख्य रूप से करणत्व का व्यवहार होता है।

अब बाह्य प्रयत्न में गुणत्व का प्रतिपादन करते हुए कह रहे हैं कि बाह्य प्रयत्न वर्णों की अभिव्यक्ति के बाद होता है। यह सवर्ण संज्ञा में अनुपयोगी होते हुए भी "वाग्घरिः" इत्यादि प्रयोगों में आन्तरतम्य (सादृश्य) परीक्षा में उपयोगी है। इसके द्वारा कण्ठविवरादि का विकास आदि कार्य किया जाता है। यह कार्यआस्य बहिर्देशावच्छिन्न कार्य है। इस प्रकार के कार्य का जनक होने के कारण बाह्य प्रयत्न गुण शब्द से कहा जाता है।

प्रसंगवश यहाँ आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नों के ऊपर कुछ विचार आवश्यक है। ज्ञात अर्थ का विवक्षु पुरुष जब बोलने के लिए यत्न करता है तब उसके यत्न से कायाग्नि अभिहत होता है। वह जठराग्नि पवन को प्रेरित करता है। प्रयत्न-प्रेरित वायु नाभिप्रदेश से ऊपर की ओर वेग से जाता हुआ जब मूर्धा तक जाता है, तब वहाँ से लौट कर मुख में आता है और यहाँ आकर जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य और मूल भाग का स्पर्श करते हुए तत्तद् कण्ठादि स्थानों को आहत कर वर्णों को प्रकाशित करता है। इस प्रकार वर्णों के प्रकाशन में उपयोगी यत्न आभ्यन्तर प्रयत्न कहा जाता है।

वर्णों के प्रकाशन के बाद यत्न-विशेष से मुख् से अधो भाग में गलविवर का संवार-विवारादि कार्य किया जाता है। विवार गलविवर का विकास रूप है तथा संवार गलविवर का संकोच रूप है। ये सब कार्य मुख से बहिर्देश में होते हैं। ओष्ठ से लेकर काकलक तक का भाग मुख कहा जाता है। कण्ठ इससे बाहर है। मुख से बाहर दो प्रकार से होता है। एक तो शरीर के बाहर और दूसरा काकलक से नीचे। शरीर से बाहर तो वर्णोपयोगी कोई यत्न ही नहीं होता है। इसलिए वर्णों की अभिव्यक्ति के बाद काकलक से नीचे वर्णों के गुणोपयोगी कार्य को सम्पन्न कराने वाले यत्न बाह्य प्रयत्न कहे जाते हैं। बाह्यप्रयत्न की बाह्यता मुख से बाहर होने के कारण नहीं है अपितु मुख से नीचे गलविवर का विकास-संकोच आदि बाह्य कार्य करने के कारण है। ये सारे कार्य वर्णों की अभिव्यक्ति के बाद होते हैं, इसलिए इन्हें गुण कहा जाता है।



नैयायिकों के मतानुसार समवाय सम्बन्ध से कार्य के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य की कारणता होने से गुणोत्पत्ति से पूर्व निर्गुण द्रव्य की सत्ता अपेक्षित होती है। उसके बाद उसमें गुण की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार शब्द के द्रव्य होने के कारण आभ्यन्तर प्रयत्न से उसकी उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) के बाद बाह्य प्रयत्न से उसमें संवार आदि गुणों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार के गुणों का जनक यत्न (बाह्य प्रयत्न) गुण शब्द से कहा जाता है।

अब शंका होती है कि जब बाह्य प्रयत्न ही गुण हैं तब "गुणा भेदकाः" इस पक्ष में अनुनासिकत्व को गुण क्यों कहा गया है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि अकारादि निष्ठ अनुनासिकत्व में गुण शब्द का प्रयोग इसलिए होता है कि कण्ठावच्छिन्न वायुसंयोग से जब अकारादि उत्पन्न (अभिव्यक्त) होते हैं तब उसके बाद नासावच्छिन्न वायुसंयोग से उनमें अनुनासिकत्व की उत्पत्ति होती है। इस अनुनासिकत्व की वही स्थिति है जो आभ्यन्तर प्रयत्न से वर्णों की अभिव्यक्ति के बाद बाह्यप्रयत्न के द्वारा उनमें उत्पन्न विवारादिकों की है। नासिका आस्य से बाहर है। यह उन अकारादि में अनुनासिकत्व रूप गुण की जनिका है। इसीलिए मूल में अनुनासिक अकारादिकों का नासिका स्थान नहीं कहा गया है।

'एकोऽयमात्मोदकन्नाम तस्य गुणभेदादन्यत्वं भवति, अन्यदिदं शीतमन्यदिदमुष्णमि'ति दृष्टान्तपरभाष्येण तथैव प्रतीतेः। आत्माऽत्र द्रव्यम्। उदात्तत्वादीनां गुणत्वव्यवहारस्तु सावर्ण्यानुपयुक्तत्वाऽऽन्तरतम्यपरीक्षोपयोगित्वरूपसादृश्येनेति बोद्धव्यम्। ङादीनान्तु तद्गुणरहितस्वरूपानुपलम्भेन उभयावच्छेदेन वायुसंयोगोत्तरमेव स्वरूपोत्पत्त्या विनिगमनाविरहेणोभयोः स्थानत्वम्। 'अनुस्वारयमानाञ्चे'ति शिक्षायां चेन ङादीनामपि सङ्ग्रह इति युक्तम्। अत एव 'कण्ठ्योऽकार' इत्याद्युक्त्वा 'नासिक्यान्नासिक्ययमानुस्वारानिति स्थानानी'त्युक्तं प्रातिशाख्ये। 'नासिक्याः—ङञणनमा' इति तद्व्याख्यातारः।

बाह्यप्रयत्न के गुणत्व को दृष्टान्त के द्वारा बताते हुए कह रहे हैं कि—"एकोऽयम्" इस उक्त वाक्य में आया हुआ आत्मा द्रव्य का वाचक है। इस प्रकार उक्त वाक्य का अर्थ होता है—उदक नाम का जो एक द्रव्य है वह शीतत्व और उष्णत्व आदि गुणों के भेद से भिन्न हो जाता। शैत्यगुणविशिष्ट जल को शीतजल तथा उष्ण जल को उससे भिन्न उष्णजल कहा जाता है। इस दृष्टान्तपरक भाष्य से तथैव = सिद्ध वस्तु में पीछे से गुण उत्पन्न होता है, इस बात की प्रतीति होती है। तात्पर्य यह है कि पूर्वतः सिद्ध जल में उष्णता आदि गुण पीछे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार आभ्यन्तर प्रयत्न से निष्पन्न वर्णों में विवारादि बाह्यप्रयत्न पीछे से होते हैं। इसलिए ये भी गुण हैं।

अब शंका होती है कि उदात्तत्व आदि में गुणत्व का व्यवहार किस प्रकार होगा? क्योंकि ये वर्णोत्पत्ति से पहले हो जाते हैं तथा आस्य के अन्तर्गत हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें गुण किस प्रकार कहा जाय? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि जिस प्रकार विवार, संवार आदि बाह्य प्रयत्न सवर्ण संज्ञा में अनुपयोगी और आन्तरतम्य परीक्षा में उपयोगी होने के कारण गुण कहे जाते हैं, उसी प्रकार उदात्तत्वादि धर्म भी सवर्ण संज्ञा में अनुपयोगी और आन्तरतम्य परीक्षा में

उपयोगी होने के कारण गुण कहे जाते हैं। सवर्ण संज्ञा में अनुपयोगी होने के कारण ही उदात्तत्वादि की परिगणना बाह्य प्रयत्न में की गई है। इस प्रकार इनका भी गुणत्व असन्दिग्ध है।

अब ङकार आदि पाँच पञ्चम वर्णों के दो-दो स्थान होते हैं, इस बात का प्रतिपादन करते हुए कह रहे हैं कि ङकार आदि जो पांच पञ्चम वर्ण हैं, ये अनुनासिकत्व गुण से रहित उपलब्ध नहीं होते। इसका कारण यह है कि ये जिस-जिस वर्ग के हैं उस वर्ग के लिए निर्धारित कण्ठ आदि स्थान तथा नासिका, इस उभयावच्छेदेन (दोनों स्थानों में) वायुसंयोग होने के बाद ही इनके स्वरूप की उपलब्धि होती है, इसलिए इनके दोनों स्थान होते हैं। किसी एक को इनका स्थान मानने में विनिगमना का विरह है। यहाँ यह शंका होती है कि यदि ङकारादि अक्षरों का स्थान अपने-अपने वर्गीय स्थान के अतिरिक्त नासिका भी है तो ऐसा मानने पर शिक्षा से विरोध हो रहा है। शिक्षा में कहा गया है कि "अनुस्वारयमानाञ्च नासिकास्थानमुच्यते" अर्थात् अनुस्वार और यम वर्णों का स्थान नासिका है। यहाँ पर ङकारादि पाँच वर्णों का भी स्थान नासिका को बताया जा रहा है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ का शिक्षा से विरोध स्पष्ट ही है।

इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "अनुस्वारयमानां च" इस वाक्यघटक 'च' शब्द से ङकार आदि वर्णों का भी संग्रह कर लिया जाता है। इस प्रकार नासिका के इनका स्थान हो जाने के कारण शिक्षा से कोई विरोध नहीं रह जाता है। अत एव = ङकार आदि पञ्चम वर्णों का नासिका स्थान है, इस बात को स्वीकार करने से ही प्रातिशाख्य की संगति होती है। वहाँ पर "कण्ठ्योऽकारः" अर्थात् अकार कण्ठ्य है (कण्ठ स्थान वाला है) , ऐसा कह कर कहा कि "नासिक्यान्नासिक्ययमानुस्वारान् इति स्थानानि"। नासिक्य, यम और अनुस्वार इन नासिक्य वर्णों का स्थान नासिका है। इस पंक्ति के व्याख्याताओं ने नासिक्य शब्द का अर्थ "ङञणनम" किया है। इससे स्पष्ट है कि इन पाँच वर्णों का स्थान नासिका है।

अब शंका होती है कि ङकारादि वर्णों का स्थान जब नासिका भी है तब ककार और ङकार का यावत्स्थानसाम्य न होने के कारण परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होगी? इस शंका को दृष्टिगत कर कह रहे हैं—

कङयोः सावर्ण्यन्तु भवत्येव। 'आस्ये तुल्यदेशप्रयत्नम्' इति वार्तिके—'किमास्योपादाने प्रयोजनमि'ति प्रश्ने—'प्रयत्नविशेषणमास्योपादानमि'त्युक्त्वा—तद्व्यावर्त्यत्वेन बाह्यप्रयत्नान्प्रदर्श्य—'यथा तृतीयास्तथा पञ्चमा आनुनासिक्यमेषामधिको गुण' इति भाष्येण तस्य बाह्यप्रयत्नत्वोक्त्याऽत्र सूत्रे नासिकाया आस्यशब्देन, तत्रत्यप्रयत्नस्य च प्रयत्नशब्देनाग्रहणबोधनात्। 'नासिका आस्यबाह्ये'ति वदतां मते तद्ग्रहणाभावाच्च। अत एव बाह्यप्रयत्नानुपक्रम्य—

"अमोऽनुनासिका न ह्रौ नादिनो हझषः स्मृताः।
ईषन्नादा यणश्चैव श्वासिनस्तु खफादयः॥
ईषच्छ्वासांश्चरो विद्यात्—" इत्युक्तं शिक्षायाम्।

नादेति संवारघोषयोरुपलक्षणम्। श्वासेति विवाराघोषयोः। न ह्रावित्युपलक्षणम्—ऐचः सर्वस्य प्लुतलृकारस्य च अनुनासिकस्यादर्शनादित्यलम्।

ककार और ङकार की सवर्ण संज्ञा तो होती ही है। इन दोनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा न होने में, जो यावदास्यभवतुल्यत्व की कमी को कारण के रूप में प्रस्तुत किया गया है, वह ठीक नहीं है। कारण यह है कि "आस्ये तुल्यदेशप्रयत्नम्" इस वार्तिक के व्याख्यान के अवसर पर भाष्यकार ने विचार किया कि इस वार्तिक में आस्यग्रहण की क्या आवश्यकता है? ऐसी शंका करके उन्होंने कहा कि यहाँ का आस्यग्रहण प्रयत्न का विशेषण है। इस विशेषणता का प्रयोजन यह हुआ कि सवर्ण संज्ञा में आस्य के अन्तर्गत होने वाले आभ्यन्तर प्रयत्न की समानता ही ग्राह्य हुई। इस प्रकार आस्यग्रहण से बाह्य प्रयत्न की व्यावृत्ति हो जाती है। बाह्य प्रयत्न की इस प्रकार व्यावृत्ति करके भाष्यकार ने कहा कि वर्गों के तृतीय वर्ण जैसे हैं वैसे ही पञ्चम वर्ण भी हैं, किन्तु तृतीय की अपेक्षा पञ्चम की विशेषता यह है कि पञ्चम वर्ण में अनुनासिकत्व रूपी गुण अधिक है।

इस भाष्यव्याख्यान से स्पष्ट है कि पञ्चम वर्ण में जो अनुनासिकत्व है वह गुण अर्थात् बाह्य प्रयत्न है, जो सवर्ण संज्ञा में अपेक्षित ही नहीं है। इसी प्रकार इस गुण का जनक नासिका स्थान भी आस्य शब्द से ग्राह्य नहीं होता है। इस प्रकार नासिका जब आस्य शब्द से गृहीत ही नहीं हुई तो उसके आधिक्य को लेकर सावर्ण्याभाव की शंका का औचित्य ही नहीं है। इसलिए ककार और ङकार की सवर्ण संज्ञा होने में कोई बाधा नहीं है।

मूल में 'तस्य बाह्यप्रयत्नत्वोक्त्या' इस पंक्ति में 'तस्य' का अर्थ "आनुनासिक्यस्य" है। 'तत्रत्यप्रयत्नस्य' में आये हुए तत्रत्य शब्द का अर्थ "नासिकास्थ" है। अनुनासिक को बाह्य प्रयत्न कहने से 'अत्र सूत्रे' = सवर्णसंज्ञाविधायक सूत्र में नासिका का स्थान शब्द से ग्रहण नहीं हुआ तथा नासिकास्थ प्रयत्न का प्रयत्न शब्द से ग्रहण नहीं हुआ। इसलिए ककार और ङकार की सवर्ण संज्ञा हो जाती है। यही बात ऊपर कही गई है।

जिनके मत में नासिका आस्य से बाहर है उनके मतानुसार आस्य शब्द से नासिका का ग्रहण होता ही नहीं। इसलिए इसके आधार पर यावदास्यभवतुल्यत्व के अभाव की बात कही ही नहीं जा सकती। इस प्रकार ककार और ङकार की सवर्ण संज्ञा निराबाध है। अत एव = अनुनासिकत्व गुण होने के कारण बाह्य प्रयत्न है, ऐसा स्वीकार करने से ही अथवा नासिका का आस्य शब्द से और तत्रत्य प्रयत्न का प्रयत्न शब्द से ग्रहण न होने के कारण ही शिक्षा में बाह्य प्रयत्न का उपक्रम बनाकर "अमोऽनुनासिकाः" आदि कहा गया है। तात्पर्य यह है कि हकार और रेफ को छोड़ कर शेष अम् अनुनासिक होते हैं। हकार और झष् प्रत्याहार के अक्षर नाद प्रयत्न वाले हैं। यण् प्रत्याहार के अक्षर ईषत् नाद प्रयत्न वाले हैं। ख, फ, छ ठ, थ आदि वर्ण श्वास प्रयत्न वाले तथा चर् प्रत्याहार के वर्ण ईषत् श्वास प्रयत्न वाले हैं। इस प्रकार प्रयत्नों की परिगणना से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुनासिकत्व बाह्य प्रयत्न है।

इस शिक्षावचन में "नाद" यह शब्द संवार और घोष का उपलक्षण है। "श्वास" शब्द विवार और अघोष का उपलक्षण है। "ह्रौ" यह पद सभी ऐच् और प्लुत ऌकार का उपलक्षण है, क्योंकि प्लुत ऌकार ऐ तथा औ ये अनुनासिक नहीं होते हैं।

एदैतोरित्यादौ लोकानुभवसिद्धार्थानुवादके तपरशास्त्राप्रवृत्त्या प्लुतानामपि तत्स्थानत्वं बोध्यम्। तथा च पाणिनीयशिक्षा—

"कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः ॥
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः।
ए ऐ तु कण्ठ्यातालव्यावो औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ ॥
अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥
हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तः स्थाभिश्च संयुतम्।
उरस्यं तं विजानीयात्कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥" इति।

"एदैतोः कण्ठतालु" इत्यादि वाक्यों में "एत्, ऐत्" इस रूप से तपरकरण का निर्देश हुआ है। इसके आधार पर यदि "तपरस्तत्कालस्य" सूत्र की प्रवृत्ति यहाँ हो जाती है तो द्विमात्रिक एकार और ऐकार का ही स्थान कण्ठतालु होगा, त्रिमात्रिक (प्लुत) एकार-ऐकार का स्थान कण्ठतालु नहीं होगा। इस शंका को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि "एदैतोः कण्ठतालु" यह वाक्य लोकानुभवसिद्ध अर्थ का अनुवादक है। लोक में प्लुत एकारादि का भी कण्ठतालु स्थान अनुभवसिद्ध है। तपरसूत्र की प्रवृत्ति विधिशास्त्र में होती है। "एदैतोः कण्ठतालु" आदि विधि-शास्त्र नहीं है। इसलिए यहाँ तपर सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए प्लुत एकारादि का भी कण्ठतालु स्थान समझना चाहिए। इस बात की सम्पुष्टि में शिक्षावचन प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं—

अकार और हकार का कण्ठ स्थान है, इसलिये ये कण्ठ्य वर्ण हैं। इकार, चवर्ग, यकार और शकार का तालु स्थान है, इसलिए ये तालव्य हैं। उकार और पवर्ग का ओष्ठ स्थान है। ऋकार, टवर्ग, रकार और षकार का मूर्धा स्थान है, इसलिए ये मूर्धन्य वर्ण हैं। लृकार, तवर्ग, लकार और सकार का दन्त स्थान है, अतः ये दन्त्य कहे जाते हैं। कवर्ग का स्थान जिह्वामूल है। वकार का स्थान दन्त और ओष्ठ है। एकार और ऐकार का स्थान कण्ठ और तालु है, इसलिए इन्हें कण्ठ्यतालव्य कहा जाता है। ओकार और औकार का स्थान कण्ठ और ओष्ठ है। वर्णों के आठ स्थान हैं— उरस्, कण्ठ, शिर (मूर्धा), जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु। वर्ग के पञ्चम वर्णों से तथा अन्तःस्थ वर्ण (य, र, ल, व) से युक्त हकार का स्थान उरस् होता है। इसलिए ऐसा हकार उरस्य कहा जाता है। इससे भिन्न हकार कण्ठ्य कहा जाता है।

सिद्धान्तकौमुदी में उरस् स्थान का उल्लेख नहीं है। सम्भवतः उरस्य हकार की प्रयोगाल्पता को ध्यान में रखकर उसका उल्लेख न किया गया हो, किन्तु उसके अतिरिक्त दश स्थानों का उल्लेख वहाँ किया गया है। इससे संकेत मिलता है कि कौमुदीकार ने दन्तोष्ठ, कण्ठोष्ठ और कण्ठतालु को पृथक् स्वतन्त्र स्थान मान रखा है। शेखरकार इस बात से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कह रहे हैं—

यत्तु—'दन्तोष्ठादि, समुदितं स्थानमि'ति तन्न। शिक्षायां 'दन्त्योष्ठ्यः' 'कण्ठ्यतालव्यावि'त्यादौ तत्र भव इत्यधिकारविहितयतः प्रत्येकमनुत्पत्त्यापत्तेः। 'दन्तोष्ठ्यमि'त्यादि त्वसङ्गतमेव, स्वाङ्गसमुदायस्य स्वाङ्गत्वाभाववच्छरीरावयव-

समुदायस्य शरीरावयवत्वाभावात्। एतेन—'दन्तोष्ठरूपमतिरिक्तं स्थानमि'त्यपास्तम्। 'अष्टौ स्थानानी'ति प्रतिज्ञाविरोधाच्चेति दिक्।

जो लोग दन्तोष्ठ आदि को समुदित अतिरिक्त स्थान मानते हैं वह ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि शिक्षा में दन्त्योष्ठ्य, कण्ठ्यतालव्य शब्द का प्रयोग किया गया है। इन शब्दों की निष्पत्ति "तत्र भवः" इसके अधिकार में "शरीरावयवाद्यत्" सूत्र से विहित यत् प्रत्यय के द्वारा होती है। जिस वर्ण को दन्त्योष्ठ्य कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि उसकी निष्पत्ति दन्त और ओष्ठ दोनों स्थानों से हुई है। इसीलिए वह दन्त्य भी है और ओष्ठ्य भी है। यहाँ स्थानवाचक दोनों शब्दों से यत् प्रत्यय किया गया है। यदि "दन्तोष्ठ" एक स्थान होता तो प्रत्येक शब्द से यत् प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं होती। यदि कहा जाय कि दन्तोष्ठ एक अतिरिक्त स्थान है। तद्वाचक दन्तोष्ठ शब्द से यत् प्रत्यय करके "दन्त्योष्ठ्यम्" की जगह "दन्तोष्ठ्यम्" ऐसा पाठ स्वीकार कर लिया जाय तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार स्वाङ्ग समुदाय में स्वाङ्गत्व नहीं होता, उसी प्रकार शरीरावयवसमुदाय में शरीरावयवत्व नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि पाणि स्वतन्त्र अंग है और पाद भी स्वतन्त्र अङ्ग है, किन्तु इन दोनों का समुदाय पाणिपाद को अङ्ग नहीं कहा जाता अर्थात् पाणिपाद एक पृथक् अङ्ग नहीं है। इसी प्रकार दन्त पृथक् शरीरावयव है और ओष्ठ पृथक् शरीरावयव है, किन्तु दन्त और ओष्ठ का समुदाय शरीरावयव नहीं है। इस विवेचन से यह कथन निरस्त हो गया कि दन्तोष्ठ एक अतिरिक्त स्वतन्त्र स्थान है। दूसरी बात यह है कि यदि दन्तोष्ठ आदि को अतिरिक्त स्थान माना जाय तो पाणिनिशिक्षा की "अष्टौ स्थानानि" इस प्रतिज्ञा से विरोध भी होगा। इसलिए कौमुदीकार का दश स्थान कहना ठीक नहीं है।

सूत्रे प्रशब्देन विलक्षणार्थबोधेऽपि लोके यत्नप्रयत्नयोः पर्यायतेति ध्वनयन्नाह—प्रयत्नो द्विधेति। क्वचिद्यत्न इत्येव पाठः। चतुर्धेति। यत्तु—

'स्वराणामूष्मणाञ्चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
तेभ्योऽपिविवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च"॥

इति शिक्षावाक्याद्विवृततरविवृततमयोः प्रतीत्या 'नाज्झलावि'ति सूत्रभाष्यादूष्मणामीषद्विवृतत्वस्य च प्रतीत्या चतुर्धेत्यसङ्गतमिति, तन्न। नाज्झलाविति सूत्रेण विवृतत्वव्याप्यानामेषां सवर्णसञ्ज्ञानुपयुक्तत्वबोधनमित्याशयात्। भाष्यमते तु सन्तु सप्त प्रयत्नाः। एवञ्चैदैतोरोदौतोश्च न सावर्ण्यप्रसक्तिः, प्रयत्नभेदादिति बोद्धयम्। नाज्झलाविति सूत्रमपि प्रयत्नभेदप्राप्तसावर्ण्याभावानुवादकं सत्तस्यैव बोधकम्। अत एव भाष्ये तन्न वक्तव्यमिति नोक्तम्।

"तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" इस सूत्र में प्र शब्द के द्वारा विलक्षण अर्थ अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न का बोध (ग्रहण) किया जाता है। ऐसी स्थिति में जब प्रयत्न का अर्थ आभ्यन्तर प्रयत्न हो गया तो आगे चल कर जो कहा गया है कि "प्रयत्नो द्विधा आभ्यन्तरो बाह्यश्च" यह कहना असंगत हो रहा है, क्योंकि आभ्यन्तर के भेद आभ्यन्तर और बाह्य तो हैं नहीं। इस शंका को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि यद्यपि प्र शब्द के बल से सूत्र में आभ्यन्तर प्रयत्न का बोध होता

है, तथापि लोक में यत्न और प्रयत्न शब्द पर्यायवाची है। इसलिए "प्रयत्नो द्विधा" में आया हुआ प्रयत्न शब्द यत्न का पर्यायवाची है, जिसके आभ्यन्तर और बाह्य दो भेद सम्भव हैं। इस बात को ध्वनित करते हुए कौमुदीकार ने कहा है—"प्रयत्नो द्विधा"। किसी पुस्तक में तो "प्रयत्नो द्विधा" न कहकर "यत्नो द्विधा" यही पाठ है। इन दोनों प्रयत्नों में आभ्यन्तर प्रयत्न चार प्रकार का होता है।

कुछ लोग दीक्षित द्वारा किये गये आभ्यन्तर प्रयत्न के चतुर्धा भेद को नहीं मानते हैं। उनके मत का "यत्तु" शब्द से उल्लेख करते हुए "स्वराणामूष्मणाञ्चैव" यह शिक्षावचन प्रस्तुत किया गया है। इसका अर्थ इस प्रकार है—स्वर और ऊष्मसंज्ञक वर्णों का विवृत प्रयत्न होता है। ए तथा ऐ का विवृततर प्रयत्न है। ऐ तथा औ का विवृततम प्रयत्न है।

इस शिक्षावचन से विवृततर और विवृततम प्रयत्नों की प्रतीति होने के कारण तथा "नाज्झलौ" इस सूत्र के प्रत्याख्यानपरक भाष्य से ईषद्विवृत प्रयत्न की प्रतीति होने के कारण सात प्रयत्नों की स्थिति स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में दीक्षित द्वारा किया गया चतुर्धा भेद असंगत है। नागेश भट्ट इस प्राचीन मत का "तन्न" शब्द से खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि सूत्रकार ने "नाज्झलौ" सूत्र बनाया है। इससे स्पष्ट है कि वे ईषद्विवृतप्रयत्न नहीं मानते। अन्यथा स्वर वर्णों का विवृत प्रयत्न और ऊष्म वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न होने से प्रयत्नभेद के कारण इनकी सवर्ण संज्ञा जब प्राप्त ही नहीं रहेगी, तब उसके निषेध के लिए "नाज्झलौ" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इसलिए "नाज्झलौ" इस सूत्र से यह विदित होता है कि विवृतत्व के व्याप्य जो ईषद्विवृतत्व, विवृततरत्व, विवृततमत्व हैं ये सवर्ण संज्ञा में उपयोगी नहीं हैं। भाष्यकार के मत में सात प्रयत्न हों, किन्तु सूत्रकार के मत से तो चार ही प्रयत्न हैं।

भाष्याभिमत सात प्रयत्नों को स्वीकार करने पर एकार और ऐकार की तथा ओकार और औकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा की प्राप्ति ही नहीं होती है, क्योंकि एकार विवृततर और ऐकार विवृततम है। इसी प्रकार ओकार विवृततर और औकार विवृततम है। इस प्रकार प्रयत्नभेद होने के कारण सावर्ण्य की प्रसक्ति नहीं होती। अब प्रश्न होता है कि जब सात प्रयत्न भाष्याभिमत हैं तब इस मतानुसार "नाज्झलौ" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि प्रयत्नभेद के कारण जो सवर्ण संज्ञा की अप्राप्ति है "नाज्झलौ" सूत्र इसी बात का अनुवादक होकर तस्यैव = भाष्याभिमत प्रयत्नभेद का ही बोधक है। अत एव = अनुवादक रूप में "नाज्झलौ" सूत्र के आवश्यक होने के कारण ही भाष्यकार ने "तन्न वक्तव्यम" अर्थात् "नाज्झलौ" यह सूत्र नहीं करना चाहिए ऐसा नहीं कहा।

स्पृष्टादीनामाभ्यन्तरत्वन्त्वोष्ठप्रभृतिकाकलकपर्यन्तरूपास्यान्तर्गततत्तत्स्थानेषु जिह्वाग्रादीनां स्पर्शेषत्स्पर्शदूरावस्थानसमीपावस्थानरूपाभ्यन्तरकार्यकारित्वाद्व- र्णोत्पत्त्यव्यवहितप्राग्भावित्वाच्च बोद्धव्यम्। तत्र बहूनामेकस्थानत्वेऽपि कस्यचिदुच्चारणे सम्यक्स्पर्शः कस्यचिदीषदिति शिक्षाकारोक्तिमनुभवञ्चानुसृत्य विवेक्तव्यम्। 'प्रयतनमि'ति नपुंसके भावे ल्युट्। 'प्रयत्नमि'त्यपपाठः, नङन्तस्य पुंस्त्वात्। तथा च शिक्षा—'स्वराणामूष्मणाञ्चे'त्याद्यनन्तरम्—

"अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शलः स्मृताः।
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ताः—"इति॥

अचोऽस्पृष्टाः—स्पर्शाभावरूपविवृतत्ववन्तः। 'यणस्त्वीषदि'त्यनेन—तेषामीषत्स्पृष्टत्वमीषद्विवृतत्वञ्च बोधितम्। नेम इत्यर्थे। तेन शलामीषद्विवृतत्वं यणपेक्षयाऽधिकविवृतत्वञ्चेति बोद्धव्यम्। अत्र शिक्षोक्तव्याप्यधर्मवतां व्यापकधर्ममादाय न सावर्ण्यमिति यणां चवर्गादिभिर्न सावर्ण्यम्। तेनाञ्चित इत्यादौ न यादिः परसवर्णः।

स्पृष्ट आदि प्रयत्नों पर विचार करते हुए कह रहे हैं—स्पृष्ट आदि आभ्यन्तर प्रयत्न इसलिए हैं कि ये ओष्ठ से लेकर काकलक पर्यन्त देश, जिसे आस्य कहा जाता है, उसके अन्तर्गत जो कण्ठादि स्थान हैं, उन स्थानों में जिह्वाग्रादि के स्पर्श, ईषत्स्पर्श, दूरावस्थान और समीपावस्थान रूप आभ्यन्तर कार्य को करते हैं। आभ्यन्तर के कार्य करने से तथा वर्णों की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व में होने से ये आभ्यन्तर प्रयत्न कहे जाते हैं। यहाँ जिह्वाग्रादि में आये हुए आदि शब्द से जिह्वा के उपाग्र आदि का ग्रहण होता है।

यद्यपि बहुत से वर्णों के स्थान एक हैं; जैसे कवर्ग और हकार का स्थान कण्ठ है, चवर्ग और यकारादि का स्थान तालु है, तथापि स्थान की एकता होने पर भी इनकी सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। इसका कारण यह है कि चकारादि किसी वर्ण के उच्चारण में जिह्वा का सम्यक् स्पर्श होता है, जिससे इनका स्पृष्ट प्रयत्न होता है। यकार आदि वर्णों के उच्चारण में जिह्वा का ईषत्स्पर्श होता है, जिससे इनका प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट होता है। इस प्रकार प्रयत्नभेद के कारण इनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। इस प्रयत्नभेद का विवेचन शिक्षाकार के वचन तथा अनुभव के आधार पर करना चाहिए।

"तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्" इस कौमुदी के वचन में आये हुए "प्रयतन" शब्द में प्र-पूर्वक यत् धातु से नपुंसक और भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय हुआ है। 'प्रयतनम्' की जगह कुछ लोग "प्रयत्नम्" ऐसा पाठ मानते हैं, किन्तु यह अपपाठ (अशुद्ध) है। कारण इसका यह है कि प्रयत्न शब्द प्रपूर्वक यत्धातु से नङ् "प्रत्यय करके बनता है और नङन्त शब्द पुँल्लिङ्ग होता है। इसलिए नङन्त का नपुंसक में पाठ करना अपपाठ ही है।

ऊपर बताये हुए वर्णों के प्रयत्न के सम्बन्ध में शिक्षा (पाणिनीय शिक्षा) की सम्मति बताते हुए कह रहे हैं कि "स्वराणामूष्मणाञ्च" इस कारिका के बाद "अचोऽस्पृष्टाः" इस कारिका में बतलाया गया है कि अच् अस्पृष्ट अर्थात् स्पर्शाभाव रूप विवृतत्व वाले हैं। यण् प्रत्याहार के अक्षर ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं। "यणस्त्वीषत्" इसमें आये हुए ईषत् पद से ईषत्स्पृष्ट और ईषद्विवृत दोनों का ग्रहण होता है। इसलिए यण् का ईषत्स्पृष्ट और ईषद्विवृत ये दोनों प्रयत्न हैं। कारिका में आये हुए नेम शब्द का अर्थ आधा है। इसलिए "शल्" का नेमस्पृष्ट अर्थात् ईषद्विवृतत्व और यण् की अपेक्षा अधिकविवृतत्व (विवृततरत्व) होता है। शेष हल् वर्णों का प्रयत्न स्पृष्ट होता है।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि आभ्यन्तर प्रयत्न में व्याप्य और व्यापक दो प्रकार के प्रयत्न हैं। जैसे ककार से लेकर मकार तक के वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है। यह व्यापक प्रयत्न

है। इसकी अपेक्षा यण् का, जो ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न है, वह व्याप्य है। व्याप्य धर्मवाले वर्णों का व्यापक धर्म के आधार पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। इसलिए "अञ्चितः" इस प्रयोग में अनुस्वार का परसवर्ण यकार नहीं होता है, किन्तु ञकार ही होता है। चकार और यकार का स्थान तालु की समानता तथा स्पृष्टत्व रूप व्यापक प्रयत्न की एकता होने पर भी व्यापक धर्म के आधार पर सवर्ण संज्ञा न होने के कारण यण् का चवर्गादि से सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। यदि कहा जाय कि "अञ्चितः" इस प्रयोग में अनुस्वार का तो केवल नासिका स्थान है और यकारगत आनुनासिक्य का ही केवल नासिका स्थान है। ऐसी स्थिति में यकार का नासिकास्थान न होने के कारण अनुस्वार के साथ उसका स्थानकृत आन्तर्य नहीं है, किन्तु ञकार के साथ ही उसका स्थानकृत आन्तर्य है। इसलिए उक्त प्रयोग में अनुनासिक यकार के होने की स्थिति ही नहीं है तो "अञ्चितः" इस प्रयोग में "न यादिः परसवर्णः" कहने की क्या आवश्यकता है? इस अरुचि को ध्यान में रख कर ही "अञ्चितः" इस के आगे आदि ग्रहण किया गया है। इस आदि पद से "चतुर्मुखः" का ग्रहण करना चाहिए। "यरोऽनुनासिके" सूत्र में सवर्णग्रहण का अपकर्ष करके पदान्त यर् के स्थान पर सवर्ण अनुनासिक हो, ऐसा अर्थ करने पर यहाँ रकार के स्थान पर णकार नहीं होता। रकार और णकार का स्थान एक होने पर भी ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले रकार को स्पृष्टत्वरूप व्यापक धर्म के (प्रयत्न के) आधार पर णकार का सवर्णी नहीं बनाया जा सकता। इसलिए सावर्ण्याभाव से रकार को णकार नहीं होता है।

विवृतमेवेति। प्रक्रियादशायां विवृतत्वम्प्रतिज्ञेयमित्यर्थः। तेन दण्डाढकादौ दीर्घसिद्धिः। अन्यथा संवृतस्य ह्रस्वाकारस्य विवृतेन दीर्घेण सावर्ण्याभावात्स न स्यादिति भावः। दीर्घाकारस्य विवृततरत्वन्तु पाणिनिशिक्षायामनुक्तत्वान्नैतच्छास्त्रप्रक्रियोपयोगीति दिक्।

तस्य प्रयोगे संवृतत्वे मानमाह—अ अ। प्रयत्नभेदाद्दीर्घाभावः। अत्रोद्देश्ये सवर्णग्रहणं जातिनिर्देशो वा न, व्याखयानात्।

दीक्षित ने प्रयोगस्थ ह्रस्व अकार का संवृत प्रयत्न बतलाया है। ऐसी स्थिति में "दण्ड + आढकम्" इस स्थिति में डकारोवर्ती संवृत अकार की विवृत प्रयत्न वाले "आढकम्" के आकार के साथ सवर्ण संज्ञा न होने के कारण "अकः सवर्णे" सूत्र से दीर्घ नहीं होगा। परिणामस्वरूप "दण्डाढकम्" प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस बात को दृष्टिगत कर दीक्षितजी ने आगे कहा—"प्रक्रियादशायान्तु विवृतमेव" अर्थात् साधुत्व करने की स्थिति में संवृत अकार विवृत ही हो जाता है। फलस्वरूप दोनों का (अकार और आकार का) प्रयत्न एक होने के कारण सवर्ण संज्ञा और दीर्घ करके "दण्डाढकम्" इस प्रयोग की सिद्धि होती है। नागेश भट्ट दीक्षित के मत से सहमत नहीं है। इसलिए वे "विवृतमेवेति" इस प्रतीक को लेकर कह रहे हैं कि दीक्षित का यह कहना ठीक नहीं है कि "प्रक्रियादशायान्तु विवृतमेव"। कारण यह है कि ह्रस्व अकार के संवृतत्व की पुष्टि प्रयोग से, शिक्षान्तर से तथा "अ अ" इस सूत्र से होती है। ऐसी स्थिति में प्रक्रियादशा में विवृत ही रहता है, यह कथन असंगत है। किन्तु "दण्डाढकम्" इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि को परिलक्षित कर दीक्षित के उपर्युक्त वाक्य का

अर्थ इस प्रकार करना चाहिए कि 'प्रक्रियादशा में ह्रस्व अकार में विवृतत्व की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। बिना प्रतिज्ञा किये संवृत अकार विवृत किस प्रकार होगा? और उसके विवृत हुए बिना "दण्डाढकम्" इत्यादि प्रयोगों में विवृत दीर्घ आकार से सवर्ण संज्ञा न होने के कारण "स न स्यात्" अर्थात् दीर्घ नहीं होगा। इसलिए प्रक्रियादशा में प्रतिज्ञा के द्वारा ही विवृतत्व करना चाहिए।

अब शंका होती है कि ह्रस्व अकार में विवृतत्व की प्रतिज्ञा करने पर भी "दण्डाढकम्" प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण यह है कि शिक्षान्तर (नारदीय शिक्षा) में कहा गया है कि—"विवृतकरणाः स्वरास्तेभ्य ए ओ, ताभ्यामप्यै औ ताभ्यामप्याकारः संवृतोऽकारः"— तात्पर्य यह है कि दीर्घाकार का प्रयत्न विवृततर है। इस प्रकार ह्रस्व अकार प्रतिज्ञा के द्वारा विवृत है और दीर्घाकार विवृततर है तो प्रयत्नभेद स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रयत्नभेद के कारण सवर्ण संज्ञा न होने से उक्त प्रयोग की सिद्धि संशयापन्न ही रह गई। इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यद्यपि नारदीय शिक्षा में दीर्घ आकार का विवृततर प्रयत्न कहा गया है, किन्तु पाणिनीय शिक्षा में दीर्घ आकार का विवृततर प्रयत्न नहीं कहा गया है। नारदीय शिक्षा की बात पाणिनीय शास्त्र की प्रक्रिया में उपयोगी नहीं है। इसलिए प्रतिज्ञा के द्वारा ह्रस्व अकार को विवृत बनाकर "दण्डाढकम्" इत्यादि प्रयोगों में दीर्घ कर लेना चाहिए।

प्रक्रिया दशा में अर्थात् साधुत्व की प्रक्रिया करते समय वह संवृत अकार विवृत हो जाता है, इस बात को सन्दर्भित करते हुए "अ अ" इस सूत्र का उल्लेख कर रहे हैं। यहाँ "तस्य" इस पद का अर्थ "ह्रस्वाकारस्य" है। उस ह्रस्व अकार के प्रयोग में संवृत प्रयत्न होता है, इस बात में "अ अ" यह पाणिनि का सूत्र ही प्रमाण है। इसमें पहला अकार विवृत प्रयत्नवाला लुप्त षष्ठ्यन्त पद है और दूसरा अकार संवृत प्रयत्नवान् और लुप्त प्रथमान्त पद हैं। "सुपां सुलुक्" इस सूत्र से दोनों विभक्तियों (षष्ठी और प्रथमा) का यहाँ लुक् हो गया है। जिस षष्ठी विभक्ति (ङस्) का यहाँ लुक् हुआ है, उसका अर्थ उद्देश्यत्व है। इसलिए यह सूत्र विवृत अकार को उद्देश्य करके उसे संवृत का विधान करता है। इससे दीक्षित का यह कथन प्रामाणिक हो गया कि प्रयोग में ह्रस्व अकार का प्रयत्न संवृत होता है। ह्रस्व अकार का यह संवृतत्व सदा के लिए नहीं होता, अन्यथा "दण्डाढ़कम्" प्रयोग में दीर्ध नहीं होता। इसलिए कौमुदीकार ने कहा कि प्रकियादशा में तो वह संवृताकार पुनः विवृत हो जाता है। नागेश भट्ट प्रतिज्ञा द्वारा इस विवृतत्व की सिद्धि करते हैं। संवृत को पुनः विवृत करने में प्रमाण यही है कि यह "अ अ" सूत्र, जिसने विवृत अकार को संवृत किया है, अष्टाध्यायी का अन्तिम सूत्र है। इसलिए यह अष्टाध्यायी के सम्पूर्ण सूत्रों के प्रति असिद्ध हो जाता है। परिणाम यह होता है कि इसके द्वारा किया हुआ संवृतत्व वहाँ से हट जाता है और वहाँ विवृतत्व यथावस्थित रह जाता है। फलस्वरूप "दण्डाढकम्" इत्यादि प्रयोगों में अकारद्वय की प्रयत्न और स्थानैक्य के आधार पर सवर्ण संज्ञा करके दीर्घादि कार्य कर लिये जाते हैं।

यहाँ शंका होती है कि "अ अ" सूत्र में दोनों अकारों की सवर्ण संज्ञा करके तत्प्रयुक्त दीर्घ क्यों नहीं होता है? उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि "प्रयत्नभेदात् दीर्घाभावः"। यहाँ प्रयत्नभेद के कारण सवर्ण संज्ञा नहीं हुई, क्योंकि यहाँ पहला अकार विवृत है और दूसरा

अकार संवृत है। प्रयत्नभेद के कारण सवर्ण संज्ञा न होने से दीर्घ का अभाव हो गया। सदाशिव भट्टी प्रभृति कुछ टीकाओं के अनुसार प्रयत्नभेद का अर्थ यह है कि अक्षरसमाम्नाय का अकार विवृत प्रयत्न वाला है और "अ अ" सूत्र का दूसरा अकार संवृत प्रयत्न वाला है। इस प्रकार प्रयत्नभेद होने से अक्षरसमाम्नायस्थ अकार से "अ अ" सूत्र का दूसरा अकार गृहीत नहीं हुआ। इसलिए द्वितीय अकार अच् कहा ही नहीं गया। परिणामस्वरूप यहाँ (अ अ) सूत्र में दीर्घ नहीं हुआ। इसीलिए "आद्गुणः" सूत्र से गुण भी नहीं हुआ। इस व्याख्या के अनुसार "प्रयत्नभेदाद्दीर्घाभावः" यह एक पद है। इसमें समास इस प्रकार होगा—"अच्च दीर्घश्च अद्दीर्घौ, तयोरभावः अद्दीर्घाभावः, प्रयत्नभेदेन (हेतुना) अद्दीर्घाभावः प्रयत्नभेदाद्दीर्घाभावः"। यहाँ अत् पद से गुण का ग्रहण होता है, क्योंकि गुण के द्वारा ह्रस्व अकार ही होता।

अब शंका होती है "अ अ" सूत्र में प्रथम अकार, जो उद्देश्य है, उस उद्देश्य अकार से उसके सवर्णी अठारह अकारों का ग्रहण क्यों नहीं होता। यदि कहा जाय कि इस अकार के साथ णकार रूप इत्संज्ञक के न रहने के कारण यह अकार अण् है ही नहीं। इसलिए यहाँ सवर्णग्रहण की प्राप्ति ही नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि "अणुदित्" सूत्र, जो सवर्ण का ग्रहण कराता है, उसका अर्थ यह है कि "अण्बोधक पद स्वबोध्य सवर्णी का ग्राहक होता है"। इस अर्थ के अनुसार प्रयोगस्थ अकार रूपी अण् का बोधक पद "अ अ" का पहला अकार है, यह अकार स्वबोध्यलक्ष्यस्थ अकार के सवर्णी जो अठारह अकार हैं उनका बोध करायेगा। किन्तु यहाँ उद्देश्य अंश में सवर्ण ग्रहण नहीं होता है। यदि कहा जाय कि सवर्णग्रहण नहीं होता है तो न हो, किन्तु जातिपक्ष के द्वारा तो अत्वावच्छिन्न अठारह अकारों का तो बोध यहाँ होने में क्या बाधा है? तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि यहाँ उद्देश्य अंश में जातिपक्ष के द्वारा भी सवर्णग्रहण नहीं होता है। यहाँ सवर्णग्रहण के द्वारा या जाति निर्देश के द्वारा सवर्णग्रहण न होने का कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि "व्याख्यानात्"। अर्थात् व्याख्यान के द्वारा ही विदित होता है कि यहाँ दोनों प्रकारों से सवर्णग्रहण नहीं होता है। यदि कहा जाय कि वह व्याख्यान कौन-सा है जिसके कारण यहाँ सवर्णग्रहण नहीं होता? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि यथोद्देश पक्ष में "अणुदित्" सूत्र की दृष्टि में "अ अ" सूत्र असिद्ध है। इसलिए इसमें "अणुदित्" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। परिणामस्वरूप यहाँ सवर्णग्रहण नहीं होता। परिणामस्वरूप दीर्घाकार को संवृत नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि यथोद्देश पक्ष में सवर्णग्रहण न हो, किन्तु कार्यकाल पक्ष में जब "अणुदित्" सूत्र "अ अ" सूत्र में जाकर तद्देशीय हो जायेगा तब तो उसके प्रति "अ अ" सूत्र के असिद्ध न होने के कारण वहाँ सवर्णग्रहण होना ही चाहिए? तो इस शंका का समाधान यह है कि कार्यकाल पक्ष में भी उद्देश प्रथम अकार अपने सवर्णी का ग्राहक नहीं होता है। कारण इसका यह है कि "अ अ" सूत्र की जगह "अत् अ" इस प्रकार का लुप्तषष्ठ्यन्त तपर निर्देश स्वीकार करने से एकमात्राकालिक ह्रस्व अकार को ही संवृत का विधान किया जायेगा। परिणाम यह होगा कि दीर्घ और प्लुत अकार को संवृत नहीं होगा। यदि कहा जाय कि सूत्रकार ने जब तपरनिर्देश नहीं किया है तो दीर्घादि के संवृत की निवृत्ति के लिए तपरनिर्देश की बात

करना असंगत ही है? तो इस प्रकार की आशंका को दृष्टिगत कर दीर्घादि की व्यावृत्ति के लिए कहा गया है कि "एकशेषनिर्देशाद्वा सिद्धेः" अर्थात् "अ अ" सूत्र में षड्विध ह्रस्व अकारों का 'अश्च, अश्च, अश्च, अश्च, अश्च, अश्च इति अः' इस प्रकार एकशेष है। एकशेष में शेष रहे हुए 'अ' के आगे "सुपां सुलुक्" सूत्र से जस् के स्थान पर सु विभक्ति लाकर "अः" ऐसा रूप बना हुआ है। "अ अ" सूत्र में उद्देश्य कोटि का "अ" एकशेष वाला लुप्तषष्ठ्यन्त अकार है। यह केवल छः प्रकार के ह्रस्व अकारों का ही बोधक है। इस प्रकार केवल ह्रस्व अकार को संवृत का विधान करने से दीर्घ और प्लुत को संवृत नहीं होता है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यथोद्देश्य पक्ष हो कार्यकाल पक्ष हो, किसी भी पक्ष में उद्देश्य अकार से उसके दीर्घादि सवर्णी गृहीत नहीं होते।

इसके पहले यह बताया जा चुका है कि "अ अ" सूत्र अष्टाध्यायी का अन्तिम सूत्र होने के कारण अष्टाध्यायी के सम्पूर्ण सूत्रों के प्रति असिद्ध हो जाता है। परिणाम यह होता है कि इसके द्वारा किया गया विवृत का संवृत असिद्ध हो जाता है और उसे विवृत मान कर तत्प्रयुक्त कार्य किया जाता है। यह सूत्रों की असिद्धता किस प्रकार होती है? इस प्रसंग में "पूर्वत्रासिद्धम्" (८।२।१) सूत्र उपस्थित होता है। यहाँ 'पूर्वत्र' शब्द में "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इस सूत्र से सप्तमी करके त्रल् प्रत्यय किया गया है। यह सूत्र (पूर्वत्रासिद्धम्) सपादसप्ताध्यायी सूत्रों के बाद कहा गया त्रिपादी सूत्रों में पहला सूत्र है। पूर्व शब्द के साकांक्ष होने के कारण यहाँ पूर्व शब्द से पर का आक्षेप होता है। इसलिए इस सूत्र का अर्थ होता है कि इससे ('पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से) पूर्वशास्त्र की कर्तव्यता में परशास्त्र असिद्ध होता है। इससे पूर्व में सपादसप्ताध्यायी तथा पर में त्रिपादी सूत्र होने के कारण सपादसप्ताध्यायी सूत्रों के प्रति त्रिपादी सूत्र असिद्ध होते हैं, यह फलितार्थ होता है। यह अधिकारसूत्र है। इसे अधिकार मानने का परिणाम यह होता है कि यह त्रिपादी सूत्रों में आगे चलता हुआ कहता है कि यहाँ भी पूर्वशास्त्र की अपेक्षा पर-शास्त्र असिद्ध होता है।

यदि "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र अधिकारसूत्र न होकर स्वतन्त्र विधिसूत्र होता तो केवल इतना ही अर्थ होता कि 'सपादसप्ताध्यायी सूत्रों के प्रति त्रिपादी सूत्र असिद्ध होते हैं'। त्रिपादी सूत्रों में पूर्व के प्रति परसूत्र असिद्ध होता है, यह अर्थ नहीं होता। इसका परिणाम यह होता कि "गोधुङ्मान्" आदि प्रयोगों की सिद्धि नहीं होती। इन सारी बातों को लक्षित करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं—

अधिकारत्वे फलमाह—त्रिपाद्यामपीति। अन्यथा 'गोधुङ्मान्' इत्यत्र घत्वजश्त्वानुनासिकेषु भष्भावानापत्तिरिति भावः। वस्तुतो घत्वे कृते 'झय' इति वत्वापत्तिर्दोषः। न च ततः परत्वाज्जश्त्वानुनासिकत्वयोस्तदप्राप्तिरिति वाच्यं, 'विप्रतिषेधे परमि'त्यस्य यथोद्देशत्वेन त्रिपाद्यामप्रवृत्तेः। 'पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्ये'त्यनेन तस्या यथोद्देशत्वस्यैव बोधनात्। अन्यथा परस्यासिद्धत्वेऽपि विप्रतिषेधसूत्रस्य सिद्धत्वात् परिभाषान्तराणामिवास्या अपि कार्यकालपक्षे तेनाकर्षणापत्तेः। अत एव भाष्ये वत्वमेवापादितम्।

"पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र के अधिकारसूत्र होने का फल यह है कि त्रिपादी सूत्रों में भी पूर्वशास्त्र की अपेक्षा परशास्त्र असिद्ध होता है। इसका परिणाम यह होता है कि 'गोधुङ्मान्' प्रयोग की सिद्धि होती है—अन्यथा इस प्रयोग में घत्व, जश्त्व और अनुनासिक करने के बाद भष्भाव नहीं होगा। फलस्वरूप इस प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस बात का स्पष्टीकरण इस प्रकार है— "गोदुह् + मान्" इस अवस्था में घत्व, जश्त्व और अनुनासिक—इन तीनों को यदि कर दिया जाता है तो झषन्त के अभाव में भष्भाव की सर्वथा अप्राप्ति होने के कारण "घत्वजश्त्वानुनासिकेषु भष्भावानापत्तिः" यह कहना असंगत हो जायेगा। यदि कहा जाय कि "घत्वजश्त्वानुनासिकेषु" के आगे "प्राप्तेषु" को सन्निविष्ट करके इनकी प्राप्ति में भष्भाव की अनापत्ति होगी? तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि घत्व किये बिना हकार के यर् न होने के कारण अनुनासिक की प्राप्ति ही नहीं है। इसलिए "घत्वजश्त्वानुनासिकेषु" इस सप्तमी को निर्धारण सप्तमी मानकर उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया जाता है कि "घत्व, जश्त्व और अनुनासिक" इन तीनों में जो घत्व है वह ढत्व का अपवाद है। इसलिए अपवादत्वात् ढत्व को बाधकर जब घत्व हो जायेगा तब "घत्वे कृते" अर्थात् घत्व कर देने पर "गोदुघ् + मान्" इस स्थिति में जश्त्व, अनुनासिक और भष्भाव की एक साथ प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में जश्त्व को अपवादत्वात् बाध कर जो भष्भाव प्राप्त होता है, उसे परत्वात् और नित्यत्वात् बाधकर अनुनासिक हो जायेगा। जब अनुनासिक हो जायेगा तब वहाँ झषन्तत्व की स्थिति न रहने के कारण भष्भाव नहीं हो सकेगा। यही "घत्वजश्त्वानुनासिकेषु भष्भावो न स्यात्" इस पंक्ति का तात्पर्य है।

यहाँ कहा जा सकता है कि घत्व, जश्त्व और अनुनासिक—इन तीनों में केवल घत्व और अनुनासिक ये दो ही यहाँ किये जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में घत्व, जश्त्व और अनुनासिक इन तीनों का उल्लेख यहाँ क्यों किया गया? तो इस शंका का उत्तर यह है कि "घत्वजश्त्वानुनासिकेषु घत्वानुनासिकयोः कृतयोः भष्भावो न स्यात्" अर्थात् घत्व, जश्त्व और अनुनासिक इन तीनों में घत्व और अनुनासिक कर देने के बाद झषन्तत्व के अभाव के कारण भष्भाव नहीं हो सकेगा। इस प्रकार उक्त पंक्ति का अर्थ करने पर कोई विसंगति नहीं होती है।

"पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र को जब अधिकारसूत्र मान लिया जाता है तब यह त्रिपादी सूत्रों में भी पूर्वशास्त्र की अपेक्षा परशास्त्र के असिद्धत्व का बोधन करता है। इसका परिणाम यह होता है कि जश्विधायक सूत्र "झलां जशोऽन्ते" (८।२।३९) तथा अनुनासिकविधायक सूत्र "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिकोवा" (८।४।४५) ये दोनों सूत्र "एकाचोबशो भष्" (८।२।३७) इस भष्भावविधायक सूत्र के प्रति पर होने के कारण इसके प्रति असिद्ध हो जाते हैं। इसलिए पहले भष्भाव हो जाता है। इसके बाद अनुनासिक करके उक्त रूप (गोधुङ्मान्) की सिद्धि होती है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि इस प्रयोग में अनुनासिक का विधान "यरोऽनुनासिके" इस सूत्रस्थ वार्तिक "प्रत्यये भाषायां नित्यम्" के द्वारा किया जाता है।

वस्तुतस्तु "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र को अधिकारसूत्र न मानने पर "गोदुह् + मान्" इस स्थिति में हकार को घकार करने के बाद "झयः" (८।२।१०) सूत्र से मतुप् के मकार को वत्वापत्ति रूप दोष है। भष्भाव की अनापत्ति रूप दोष यहाँ नहीं है, क्योंकि घत्व करने के बाद अपवादत्वात्

जश्त्व को और अन्तरंगत्वात् अनुनासिक को बांधकर भष्भाव हो जायेगा। इसलिए यहाँ भष्-भावानापत्तिरूप दोष नहीं है, किन्तु घत्व करने के बाद प्रतिपदोक्तत्वात् "झयः" सूत्र से मकार को वकार होने लगेगा, जिससे उक्त रूप की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसलिए "पूर्वत्रासिद्धम्" को अधिकारसूत्र मानना चाहिए। अधिकार मानने पर पूर्व त्रिपादी के प्रति पर त्रिपादी के असिद्ध होने पर कारण "झयः" की दृष्टि में पर त्रिपादी "दादेर्धातोर्घः" (८।२।३२) सूत्र असिद्ध हो जाता है। फलस्वरूप झयन्तत्व के अभाव में वत्वापत्ति नहीं होती। "गोदुह् + मान्" इस स्थिति में घत्व के बाद प्राप्त जश्त्व को अपवादत्वात् भष्भाव बाध लेता है, क्योंकि पदान्त विषय में भष्भाव जश्त्व का अपवाद है। अनुनासिक की अपेक्षा भष्भाव पूर्व त्रिपादी है, इसलिए इसके प्रति परत्रिपादी अनुनासिक असिद्ध हो जाता है। इस प्रकार उक्त प्रयोग में पहले भष्भाव होता है। इसके बाद जश्त्व और अनुनासिक इन दोनों में पूर्वत्रिपादी जश्त्व के प्रति परत्रिपादी अनुनासिक असिद्ध हो जाता है। इसलिए पहले जश्त्व करके उसके बाद अनुनासिक किया जाता है, जिससे "गोधुङ्मान्" प्रयोग की सिद्धि होती है।

कुछ लोग जिन्हें वत्वापत्ति की स्थिति विदित नहीं हैं, उनका कहना है कि उक्त प्रयोग में घत्व होने के बाद प्राप्त वत्व को परत्वात् बाधकर पहले जश्त्व और अनुनासिक हो जायेंगे तब वहाँ झयन्तत्व के न होने के कारण वत्वापत्ति है ही नहीं। ऐसी स्थिति में यहाँ वत्व की आपत्ति देना ठीक नहीं है। इस बात का समाधान देते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि पूर्व-शास्त्र की अपेक्षा परशास्त्र की बलवत्ता का बोधन "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" (१।४।२) सूत्र से किया जाता है। यह परिभाषासूत्र सपादसप्ताध्यायी है। यद्यपि परिभाषाओं के सम्बन्ध में यथोद्देश और कार्यकाल दो पक्ष माने गये हैं, तथापि "विप्रतिषेध" सूत्र के लिए तो यथोद्देश पक्ष ही है। इसमें यथोद्देश पक्ष मानने का परिणाम यह होता है कि इसकी दृष्टि में त्रिपादी सूत्रों के असिद्ध होने के कारण त्रिपादी में इसकी प्रवृत्ति होती ही नहीं है। ऐसी स्थिति में "झयः" सूत्र का जश्त्व और अनुनासिक के द्वारा परत्वात् बाध की बात कहना सर्वथा असंगत है।

यदि कहा जाय कि "विप्रतिषेधः" सूत्र के सम्बन्ध में यथोद्देश पक्ष ही हैं, इसमें क्या प्रमाण है? तो इसके उत्तर में कह रहे हैं कि "पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य" यह भाष्य ही इस बात में प्रमाण है। इसका अर्थ है कि पूर्वत्रासिद्धे = त्रैपादिक सूत्रों में विप्रतिषेध सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि सपादसप्ताध्यायी इस सूत्र की दृष्टि से त्रिपादी सूत्रों के असिद्ध होने के कारण उत्तरस्य = त्रैपादिक सूत्र का अभाव इसकी दृष्टि में रहता है। जब उत्तर-सूत्र इसकी दृष्टि में है ही नही तो यह पूर्व के प्रति पर की बलवत्ता का बोधन वहाँ कैसे करे? यदि इस सूत्र के सम्बन्ध में कार्यकाल पक्ष होता तो "विप्रतिषेध" सूत्र के प्रति परस्य = त्रिपादी सूत्र के असिद्ध होने पर भी उसके प्रति (त्रिपादी सूत्र के प्रति) विप्रतिषेध सूत्र के सिद्ध होने के कारण कार्यकाल पक्ष में जिस प्रकार अन्य परिभाषाओं का आकर्षण त्रिपादी सूत्रों में होता है उसी प्रकार विप्रतिषेध सूत्र का भी आकर्षण त्रिपादी सूत्रों में होने लगता। ऐसी स्थिति में भाष्यकार का यह कहना कि "उत्तरस्याभावात् विप्रतिषेध सूत्र त्रिपादी में नहीं लगता है" सर्वथा असंगत हो जाता। इससे स्पष्ट है कि "विप्रतिषेध" सूत्र में यथोद्देश पक्ष ही है। इसमें कार्यकाल

पक्ष नहीं है। इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि "विप्रतिषेध" सूत्र में यथोद्देश पक्ष ही है तब इसके प्रति त्रिपादी सूत्रों के असिद्ध होने के कारण वहाँ पूर्व के प्रति पर की बलवत्ता की बात असंगत ही है। इसीलिए भाष्यकार ने "गोधुङ्मान्" प्रयोग में वत्वापत्ति रूप ही दोष दिया है। इस दोष को दूर करने के लिए "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र को अधिकारसूत्र मानना चाहिये।

अधिकारत्वादेव 'श्चुत्वं धुटि सिद्धं वाच्यमि'त्यादि चरितार्थम्। एवञ्च यत्रानुवृत्तिस्तस्यासिद्धत्वम्। पूर्वत्वञ्च क्वचित्सपादसप्ताध्याय्याः, क्वचित्सूत्रान्तर-सहितायाः। तत्रायमर्थः—'हो ढ' इत्यादावस्योपस्थितौ वाक्यभेदेनान्वयः—'हस्य ढो भवति, इदञ्च शास्त्रं पूर्वत्रासिद्धमि'ति। अत एव 'न मु ने' इत्यादिभिस्तन्निषेध उपपद्यते। 'पूर्वत्रे'ति सङ्ग्राहकमेव। शृङ्ग्ग्राहिकयैव तु तत्तच्छास्त्रं प्रति तस्यासिद्धत्वं प्रतिपाद्यते। तेनापवादस्य यं प्रत्यपवादत्वं तत्रासिद्धत्वाभावेऽप्यन्यत्रासिद्धत्वं भवत्येव। असिद्धमिति। सिद्धं = निष्पन्नं प्रवृत्तम्। 'सिद्धश्च प्रत्ययविधावि'त्यादौ तथा दर्शनात्। तद्भिन्नम्—असिद्धमनिष्पन्नमप्रवृत्तम्। यद्यपि लोकेऽनाहार्य-ज्ञानस्यैव प्रवर्तकत्वं निवर्तकत्वञ्च दृष्टं—तथापीह शास्त्रप्रामाण्यादाहार्यारोपोऽपि शास्त्रप्रवृत्तावप्रवृत्तौ च नियामक इति बोद्धव्यम्।

"पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र को अधिकारसूत्र मानने पर ही "श्चुत्वं धुटि सिद्धं वाच्यम्" इस वार्तिक की चरितार्थता होती है। इसका तात्पर्य यह है कि "अङ्श्च्योतति" इस प्रयोग में धुट् विधायक पूर्वत्रिपादी "ङः सि धुट्" (८।३।२९) सूत्र के प्रति परत्रिपादी श्चुत्वविधायक "स्तोः श्चुना श्चुः" (८।४।४०) सूत्र असिद्ध हो जाता है तो धुट् की प्राप्ति होती है। इसके निवारण के लिए वार्तिककार ने वार्तिक बनाया—"श्चुत्वं धुटि सिद्धं वाच्यम्" अर्थात् धुट् की कर्तव्यता में श्चुत्व असिद्ध नहीं होता। जब श्चुत्व असिद्ध नहीं हुआ तब धुट् भी नहीं हुआ, क्योंकि धुट् दन्त्य सकार पर में रहने पर होता है। यदि "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र अधिकारसूत्र नहीं होता तो त्रिपादी में पूर्व के प्रति परशास्त्र असिद्ध ही नहीं होता। फलस्वरूप धुट् की प्राप्ति ही नहीं होती तो उसके निवारण के लिए किया गया वार्तिक व्यर्थ ही हो जाता। इससे स्पष्ट है कि "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र अधिकारसूत्र है। इसलिए त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति पर के असिद्ध होने के कारण धुट् के प्रति श्चुत्व के असिद्ध होने से प्राप्त धुट् के निवारण के लिए किया गया उक्त वार्तिक सार्थक होता है।

इस सूत्र को अधिकार मानने से जहाँ इसकी अनुवृत्ति होती है वह सूत्र पूर्वशास्त्र (सूत्र) के प्रति असिद्ध होता है। सिद्ध परशास्त्र में असिद्ध विधान का तात्पर्य यह है कि वह असिद्धवत् हो जाता है। जैसे "सिंहो माणवकः" प्रयोग में माणवक सिंह के सदृश माना जाता है।

एवञ्च = "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र को अधिकारसूत्र मानने से उत्तरोत्तर इसका अधिकार (अनुवृत्ति) जाता है। इस प्रकार यह विधि और अधिकार दोनों सूत्र है। इसके विधि होने का फल यह होता है कि यह अपने देश अर्थात् सपादसप्ताध्यायी के बाद तथा त्रिपादी सूत्रों के पहले स्थान पर रहते हुए पूर्व शब्द से सपादसप्ताध्यायी सूत्रों का ग्रहण कर उनके प्रति परशास्त्र अर्थात् त्रिपादी सूत्रों के असिद्धत्व का विधान करता है। इस प्रकार समस्त त्रिपादी सूत्र सपाद-

सप्ताध्यायी के प्रति असिद्ध होते हैं, यह इसके विधित्व का फल है। इसको अधिकार मानने का परिणाम यह होता है कि जहाँ इसकी अनुवृत्ति होगी वह शास्त्र पूर्वशास्त्र के प्रति असिद्ध हो जायेगा। यह जो पूर्वत्व है वह कहीं तो सपादसप्ताध्यायी सूत्रों का पूर्वत्व लिया जायेगा। जैसे "पूर्वत्रासिद्धम्" (८।२।१) यह सूत्र जब अपने आगे "संयोगान्तस्य लोपः" (८।२।२३) सूत्र में अनुवृत्त हुआ तो वहाँ पूर्व शब्द से सपादसप्ताध्यायी सूत्र ही लिये जायेंगे, क्योंकि वे ही उस समय पूर्वसूत्र हैं। जब उससे आगे "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र अनुवृत्त होगा तब उस समय सपादसप्ताध्यायी सूत्रों के साथ पूर्व शब्द से वे त्रिपादी सूत्र भी लिये जायेंगे जो अग्रिम त्रिपादी से पूर्व में रहेंगे। इसलिए पूर्व शब्द से कहीं पर सूत्रान्तर (त्रिपादी सूत्र) सहित सपादसप्ताध्यायी का ग्रहण किया जायेगा। जैसे शतृ प्रत्ययान्त पचत् शब्द से सु विभक्ति लाने पर और अनुबन्ध-लोप आदि कर देने पर "पच न्-त्-स्" इस स्थिति में "स्" का "हल्ङ्यादि" लोप और तकार का "संयोगान्तस्य लोपः" (८।२।२३) से लोप करने के बाद लुप्त सु विभक्ति का प्रत्ययलक्षण करके न तो "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" (६।४।८) से उपधा को दीर्घ होता है और न ही "न-लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" (८।२।७) सूत्र से नकार का लोप ही होता है। यहाँ संयोगान्त लोप, जो परत्रिपादी है, वह पूर्वत्रिपादी नलोप के सहित सपादसप्ताध्यायी उपधादीर्घ के प्रति असिद्ध हो जाता है। फलस्वरूप यहाँ नलोप और उपधा दीर्घ नहीं होते, जिससे "पचन्" रूप की सिद्धि होती है।

अधिकारसूत्र की परिभाषा इस प्रकार की गई है— "स्वदेशे लक्ष्योपयोगिवाक्यार्थबोधाजनकत्वे सति विधिशास्त्रैकवाक्यतया लक्ष्योपयोगिबोधजनकत्वमधिकार सूत्रत्वम्"। अर्थात् विधिशास्त्र के साथ एकवाक्यता किये बिना जिसका लक्ष्योपयोगी वाक्यार्थबोध न हो वह अधिकारसूत्र कहा जाता है। "पूर्वत्रासिद्धम्" इस सूत्र का वाक्यार्थबोध विधिशास्त्र के वाक्यार्थ-बोध के साथ यदि एकवाक्यता सम्पन्न नहीं होता है तो वह लक्ष्यसंस्कारक हो ही नहीं सकता। अतः यह सूत्र विधिसूत्रों में जाकर वाक्यभेद से उनके साथ अन्वित होता है। जैसे "हो ढः" सूत्र में जब इसका अधिकार गया तब वहाँ इस प्रकार वाक्यभेद से अन्वय होता है कि हकार को ढकार हो और यह ढकार पूर्वशास्त्र की कर्तव्यता में असिद्ध हो, अथवा यह ढकारविधायक शास्त्र पूर्वशास्त्र की कर्तव्यता में असिद्ध होवे। इस प्रकार वाक्यभेदेन अन्वय इसलिए होता है कि जब विधेय-भेद होता है तब वाक्यभेद ही उचित होता है। "हो ढः" का विधेय ढत्व है और "पूर्वत्रासिद्धम्" का विधेय असिद्धत्व है। इसलिए विधेय भेद से वाक्यभेदेन यहाँ अन्वय होता है। इसी प्रकार "अदसोऽसेः" सूत्र में भी दो वाक्य होते हैं— पहला वाक्य तो होता है कि अदस् के दकार से पर में रहने वाले ह्रस्व को ह्रस्व और दीर्घ को दीर्घ उकार होता है और दकार को मकार होता है। दूसरा वाक्य होता है—यह मुत्व पूर्वशास्त्र की कर्तव्यता में असिद्ध होता है। अत एव = वाक्यभेदेन "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र का विधि सूत्रों के साथ अन्वय स्वीकार करने से ही "न मु ने" इस निषेधक सूत्र से तन्निषेध = असिद्धत्व-सम्पादक द्वितीय वाक्य का ही निषेध किया जाता है। अर्थात् "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र से वाक्यान्तर से प्रतिपादित जो मुभाव का असिद्धत्व है, वह असिद्धत्व न हो। तात्पर्य यह कि वहाँ मुभाव यथावस्थित रह जाय। इसलिए कौमुदीकार की यह वृत्ति भी संगत होती है कि "मुभावो नासिद्धः" अर्थात्

मुभाव असिद्ध नहीं होता। यदि यहाँ वाक्यभेदेन अन्वय न करके पदैकवाक्यता की गई होती तो "हो ढः" सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता कि पूर्वशास्त्र की कर्तव्यता में असिद्धत्वविशिष्ट ढकार आदेश होता है। इसी प्रकार का अर्थ "अदसोऽसेः" सूत्र का भी होता कि पूर्वशास्त्र की कर्तव्यता में असिद्धत्व-विशिष्ट मुभाव होता है। इसके पश्चात् "न मु ने" सूत्र से इस असिद्धत्व-विशिष्ट मुभाव का ही निषेध किया जाता, जिससे अभीष्ट रूप की सिद्धि नहीं हो सकती थी। इसलिये "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र की विधिसूत्रों के साथ पदैकवाक्यता नहीं होती, किन्तु वाक्यभेदेन इसका अन्वय होता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

अब शंका होती है कि सपादसप्ताध्यायी के प्रति जो त्रिपादी की असिद्धि की बात कही गई है वह असंगत है, क्योंकि सारे सपादसप्ताध्यायी के सूत्र एक साथ किसी एक प्रयोग में प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार त्रिपादी सूत्रों में सामान्यरूप से पूर्व के प्रति यदि परशास्त्र को असिद्ध कर दिया जाता है तो अपवादशास्त्र भी पूर्व उत्सर्ग के प्रति असिद्ध होने लगेगा? इन शंकाओं को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि "पूर्वत्रेति संग्राहकमेव"। "पूर्वत्रासिद्धम्" यह संग्राहक ही है। शृङ्गग्राहिका न्याय से ही यह तत्तद् शास्त्र का नाम लेकर उनके प्रति उस सूत्र के असिद्धत्व का प्रतिपादन (बोधन) करता है। शृङ्गग्राहिका न्याय का तात्पर्य यह है कि अनेक गायों को चराने वाला गोपाल "चैत्र की कौन-सी गाय है और मैत्र की कौन-कौन गायें हैं?" ऐसा प्रश्न करने पर वह शृङ्ग पकड़-पकड़ कर बताता है कि यह चैत्र की गाय है और यह मैत्र की गाय है। इसी प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में जिस सूत्र के प्रति जिस सूत्र को असिद्ध करना होता है, उनका नाम लेकर यह सूत्र कहता है कि अमुक पूर्वसूत्र के प्रति अमुक परशास्त्र असिद्ध होता है, न कि पूर्वमात्र के प्रति परमात्र असिद्ध होता है। इस प्रकार इसे संग्राहक मानने का परिणाम यह हुआ कि जो सूत्र जिस सूत्र का अपवाद है, वह भले ही पर में क्यों न हो, उसके प्रति असिद्ध नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अपवादसूत्र किसी के भी प्रति असिद्ध नहीं होता, किन्तु अपने उत्सर्ग के प्रति असिद्ध न होते हुए भी वह अन्य के प्रति असिद्ध तो होता ही है। उदाहरण के लिए "हो ढः" (८।२।३१) और "दादेर्धातोर्घः" (८।२।३२) इन दोनों सूत्रों को लिया जा सकता है। यहाँ "दादेर्धातोर्घः" यह सूत्र यद्यपि परत्रिपादी सूत्र है, "हो ढः" सूत्र के प्रति इसे असिद्ध होना चाहिए, किन्तु "हो ढः" सूत्र का अपवाद होने के कारण यह इसके प्रति असिद्ध नहीं होता है। इसलिए दकारादि धातु में अपवादत्वात् ढत्व को बाध कर घत्वविधान होता है। इसी प्रकार "मनोरथः" प्रयोग में "हशि च" (६।१।११४) इस सपादसप्ताध्यायी सूत्र के प्रति "रो रि" (८।३।१४) यह त्रिपादी सूत्र असिद्ध होता है। इस प्रकार शृङ्गग्राहिका न्याय से असिद्ध करने के कारण कोई अव्यवस्था नहीं होती।

सूत्र में आये हुए असिद्ध शब्द का अर्थ बताते हुए कह रहे हैं कि असिद्ध शब्दघटक सिद्ध शब्द का अर्थ यहाँ निष्पन्न अर्थात् प्रवृत्त है। यह बताने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" इस वार्तिक में सिद्ध का अर्थ नित्य होता है। इसलिए यहाँ नित्यार्थक सिद्ध शब्द न होकर निष्पन्न अर्थ वाला सिद्ध शब्द है, ऐसा समझना चाहिए; क्योंकि "सिद्धश्च प्रत्ययविधौ पुंवद्भावः" इस वार्तिक में सिद्ध शब्द का अर्थ प्रवृत्त देखा गया है। वहाँ पर "दरदोऽपत्यं स्त्री दरत्, तस्या अयं दारदीयः" इस प्रयोग की सिद्धि के लिए पुंवद्भाव को पहले

सिद्ध करना आवश्यक है। अन्यथा इदमर्थ में विहित अण् प्रत्यय का "अतश्च" सूत्र से स्त्रीलिंग में जब लुक् हो जायेगा तब अण् प्रत्यय के अभाव में आदिवृद्धि न होने से वृद्ध संज्ञा नहीं हो सकेगी और फलस्वरूप यहाँ छ प्रत्यय भी नहीं होगा। इसलिए कहा गया कि यहाँ प्रत्यय-विधि में पुंवद्भाव सिद्ध है अर्थात् निष्पन्न है। इसका परिणाम होता है कि अण् का लुक् न होकर आदिवृद्धि के द्वारा "दारदीयः" प्रयोग सिद्ध होता है। इस प्रसंग से स्पष्ट है कि सिद्ध शब्द का अर्थ निष्पन्न होता है।

जब सिद्ध शब्द का अर्थ निष्पन्न हुआ तो उससे भिन्न असिद्ध कहा जायेगा। असिद्ध का अर्थ होगा अनिष्पन्न अर्थात् अप्रवृत्त। "पूर्वशास्त्र की कर्तव्यता में परशास्त्र असिद्ध अर्थात् अप्रवृत्त होता है" यह "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र का निष्कर्ष है। इस प्रकार यह सूत्र सिद्ध परशास्त्र में जो असिद्धता का विधान करता है उससे यह स्पष्ट होता है कि उसे यह असिद्धवत् कर देता है। "अ अ" सूत्र से विवृत के स्थान पर किया गया संवृत असिद्धवत् हो जाता है। फल यह होता है कि उसे विवृत ही समझ कर वहाँ दीर्घादि सन्धिकार्य "दण्डानयनम्" आदि प्रयोग में कर लिये जाते हैं। इस प्रकार "पूर्वत्रासिद्धम्" का कार्य एक प्रकार से आरोप करना होता हे। यद्यपि लोक में देख जाता है कि अनाहार्य (अनारोपित) ज्ञान ही प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रयोजक होता है। आहार्यज्ञान न तो प्रवर्तक होता है और न निवर्तक। बाधकालिक इच्छाजन्य ज्ञान को आहार्य ज्ञान कहा जाता है। जैसे "सिंहो माणवकः", "गौर्वाहीकः" इत्यादि स्थलों में यह विदित है कि माणवक सिंह नहीं है अर्थात् माणवक में सिंहत्व बाधित है, तथापि उसके शौर्य को देख कर उसे सिंह कहा जाता है। इसी प्रकार गोत्वाभाववान् वाहीक में गोत्व का आरोप उसकी जड़ता के आधार पर करके उसे गो शब्द से कहा जाता है। इसे आहार्य ज्ञान या आहार्यारोप कहते हैं। यह बाधकालिक इच्छाजन्य ज्ञान लोक में प्रवर्तक या निवर्तक नहीं होता, क्योंकि माणवक में सिंहत्व का आरोप कर के सिंहबुद्ध्या उससे पलायन नहीं होता और बाहीक में गोत्व का आरोप करके गोत्वबुद्ध्याा उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। लोक में तो वास्तविक वस्तु ही प्रवृत्ति और निवृत्ति का जनक होती है, तथापि इह = व्याकरणशास्त्र में तो शास्त्र-प्रामाण्यात् = "पूर्वत्रासिद्धम्" इस सूत्र के प्रामाण्य से आहार्यारोप भी शास्त्र की प्रवृत्ति और निवृत्ति का नियामक होता है। इसीलिए "अ अ" सूत्र से विधेय संवृत में विवृतत्वबुद्ध्या "अकः सवर्णे दीर्घः" सूत्र की प्रवृत्ति होती है, जिससे "दण्डाढकम्" आदि प्रयोगों की सिद्धि होती है।

यद्यपि अचेतन सूत्रों में दृश्य-दर्शक भाव सम्भव नहीं है तथापि शास्त्रप्रक्रिया के निर्वाह के लिए आचार्य पाणिनि ने सूत्रों में चेतनत्व का आरोप कर के दृश्य-दर्शक भाव की उपपत्ति की है। अथवा शास्त्र (सूत्र) के अचेतन होने पर भी उनका प्रवर्तयिता कोई चेतन ही होता है। इसलिए वह पूर्वशास्त्र को प्रवृत्त कराता है और परशास्त्र को असिद्ध करता है।

अत्र कार्यासिद्धत्वेऽमू इत्याद्यसिद्धिः। 'अद अ औ' इति स्थिते परत्वान्मुत्वे तस्य सपादसप्ताध्यायीस्थकार्यदृष्ट्याऽसिद्धत्वेऽपि 'देवदत्तहन्तृहत'न्यायेना-काराभावेन पररूपाद्यनापत्तिः। अतिदेशस्याऽऽरोपरूपत्वान्निरधिष्ठानारोपासम्भवेन कार्यप्रवृत्तेरत्र पक्षे आवश्यकत्वात्। शास्त्रासिद्धत्वे तु—यत्राप्यन्तरङ्गत्वात् त्रैपादिकं प्रवृत्तं तत्रापि तत्तच्छास्त्रे एवाभावारोपेण तन्निवृत्तिबुद्धेरभाव, आदेशबुद्ध्यभावो

लक्ष्ये जातत्वबुद्ध्यभावश्च। जायमानं कार्यन्त्वादेशे एव स्थानिबुद्ध्या प्रवर्तते। 'न हि रजतभ्रमप्रयुक्ता प्रवृत्तिः शुक्तिं न गोचरयती'ति न दोषः। यत्र तु सहप्रसङ्गस्तत्राप्रवृत्तिरेव, अभावारोपात्।

अब विचार यह किया जा रहा है कि इस सूत्र में शास्त्रासिद्धत्व पक्ष है अथवा कार्यासिद्धत्व पक्ष है? तात्पर्य यह है कि पूर्वशास्त्र के प्रति परशास्त्र असिद्ध होता है अथवा परशास्त्र से विहित कार्य असिद्ध होता है? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर शेखरकार का कहना है कि यदि इस सूत्र में कार्यासिद्धत्व पक्ष माना जाय तो "अमू" इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसका कारण यह है कि इस पक्ष में कार्य को असिद्ध करने के लिए पहले लक्ष्य में कार्य को कर लेना आवश्यक होगा। इसके बाद पूर्वशास्त्र की दृष्टि में उस कार्य को असिद्ध किया जायेगा। ऐसी स्थिति में अदस् शब्द से औ तथा जश् विभक्ति लाने पर "त्यदादीनामः" सूत्र से अकार और जश् को शी आदेश करने पर "अद-अ-औ", "अद-अ-ई" इस अवस्था में "अतो गुणे" (६।१।९७) से पररूप और "अदसोऽसेः" (८।२।८०) सूत्र से मुत्व—इन दोनों की प्राप्ति होने पर बिना अधिष्ठान के आरोप न होने के कारण पहले परशास्त्र का कार्य मुत्व यहाँ कर लिया जायेगा। इसके बाद "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र से सपादसप्ताध्यायीस्थ कार्य पररूप की दृष्टि में उस त्रिपादी कार्य मुत्व को असिद्ध किया जायेगा। किन्तु मुत्व को असिद्ध करने पर भी वहाँ पररूप के लिए आवश्यक अकार की स्थिति उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार देवदत्त को मारने वाले यज्ञदत्त को मार देने पर भी देवदत्त का पुनः उज्जीवन नहीं होता। इस प्रकार देवदत्तहन्तृहत न्याय से जब यहाँ अकार आयेगा ही नहीं तो पररूप किस प्रकार होगा? फलस्वरूप "अमू, अमी" इत्यादि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

इस कार्यासिद्धत्व पक्ष में मुत्व पहले करना इसलिए आवश्यक है कि इस सूत्र से असिद्धत्व का अतिदेश किया जाता है। अतिदेश आरोपस्वरूप होता है और आरोप बिना अधिष्ठान (आधार) के होता नहीं। इसलिए कार्य में असिद्धत्व का आरोप करने के लिए पहले कार्य का होना आवश्यक है। जब पहले कार्य कर दिया जाता है तो ऊपर बताये गये क्रमानुसार पररूप न होने के कारण "अमू" और "अमी" प्रयोग सिद्ध नहीं हो रहे हैं।

यदि कहा जाय कि मुत्व के असिद्ध होने पर भी देवदत्तहन्तृहतन्याय से यद्यपि अकार नहीं आ रहा है, तथापि "अमु-अ-औ" इस स्थिति में अदस् शब्द के आदि अकार से सकारस्थानिक अकार, जो "त्यदादीनामः" सूत्र से निष्पादित है, उसका पररूप हो सकता है तो मूल में क्यों कहा गया कि "पररूपाद्यनापत्तिः" अर्थात् यहाँ पररूप की अनापत्ति है? इस शंका के उत्तर में विवेचकों का कहना है कि इस प्रकार के पररूप के यहाँ सम्भव होने पर भी जिस पररूप से "अमू", "अमी" प्रयोग सिद्ध हो सकते हैं वह पररूप तो यहाँ नहीं हो रहा है। इसलिए "पररूपाद्यनापत्तिः" इस शब्द का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—यहाँ इष्ट पररूप की अनापत्ति हो रही है।

इस प्रकार कार्यासिद्धत्व पक्ष के दोषयुक्त होने के कारण इस सूत्र (पूर्वत्रासिद्धम्) में शास्त्रासिद्धत्व पक्ष स्वीकार किया गया। जब शास्त्रासिद्धत्व पक्ष स्वीकार कर लिया गया तो "अतो गुणे" इस सूत्र की दृष्टि में मुत्वविधायक शास्त्र ही असिद्ध हो जाता है। परिणाम यह होता है कि मुत्व से पहले ही पररूप हो जाता है। इसके बाद "अद + औ" इस स्थिति में वृद्धि के साथ

प्राप्त मुत्व वृद्धि के प्रति त्रिपादी होने से पुनः असिद्ध होता है। इसके बाद वृद्धि करके "अदौ" बनने पर मुत्व करके "अमू" प्रयोग सिद्ध किया जाता है।

इस पक्ष में यदि सपादसप्ताध्यायी सूत्र और त्रिपादी सूत्र एक प्रयोग में साथ ही प्राप्त हों तो वहाँ त्रिपादी सूत्र पहले असिद्ध हो जाता है। इसके बाद वहाँ सपादसप्ताध्यायी सूत्र का कार्य पहले करने के बाद पीछे यदि त्रिपादी सूत्र की प्राप्ति हो तो उसकी भी प्रवृत्ति कराकर उसका कार्य किया जाता है। जैसे "अमू" प्रयोग की सिद्धि के प्रसंग में ऊपर बताया जा चुका है कि "अद-अ-औ" इस स्थिति में मुत्व और पररूप दोनों साथ ही प्राप्त हैं। पररूप के प्रति मुत्व असिद्ध होता है, इसलिए पहले पररूप करके पीछे मुत्व किया जाता है। किन्तु इस पक्ष में कभी ऐसी भी स्थिति आती है जब त्रैपादिक सूत्र अन्तरंगत्वात् पहले प्रवृत्त हो जाता है। यहाँ अन्तरंगत्वात् का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि अन्तरंग परिभाषा के द्वारा उसकी प्रवृत्ति पहले होती है, क्योंकि अन्तरंग परिभाषा त्रिपादी सूत्रों में लगती ही नहीं है। इसलिए यहाँ "अन्तरंगत्वात्" का अर्थ है "स्वनिमित्तस्यादौ सत्वात्" अर्थात् त्रिपादी सूत्र का निमित्त पहले उपस्थित हो जाता है, इसलिए त्रिपादी सूत्र वहाँ पहले प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार शास्त्रासिद्धत्व पक्ष में उपर्युक्त रीति से त्रिपादी सूत्र में त्रिपादीस्थ शास्त्र जहाँ सपादसप्ताध्यायी शास्त्र की प्रवृत्ति से पहले प्रवृत्त हो जाता है वहाँ भी सपादसप्ताध्यायी सूत्र की प्रवृत्ति के समय त्रिपादी सूत्र में अभाव का आरोप होता है। यह आरोप ही त्रिपादी सूत्र की असिद्धता है। जब त्रिपादी सूत्र में ही अभाव का आरोप कर दिया जाता है तब उससे किये गये कार्य का अभाव स्वतः हो जाता है। कार्य के अभाव का तात्पर्य है तन्निवृत्तिबुद्धि = स्थानिनिवृत्ति का अभाव। जब स्थानी की निवृत्ति ही नहीं हुई तो आदेश की बुद्धि का अभाव और लक्ष्य में उसके जातत्व बुद्धि (होने की बुद्धि) के अभाव का बोध हो जाता है। सारांश यह है कि पहले प्रवृत्त त्रिपादी सूत्र में अभाव का आरोप करने से वहाँ स्थानी की निवृत्तिबुद्धि, आदेशवुद्धि और लक्ष्य में जातत्व बुद्धि के अभाव का बोध हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वहाँ सपादसप्ताध्यायी सूत्र का कार्य उस आदेश में ही स्थानी की बुद्धि से होता है। जिस प्रकार रजतत्व के भ्रम से शुक्ति में प्रवृत्त पुरुष की प्रवृत्ति का विषय शुक्ति ही होती है उसी प्रकार त्रिपादी सूत्र से विहित आदेश में स्थानी की बुद्धि से प्रवृत्त सपादसप्ताध्यायी सूत्र की प्रवृत्ति का विषय आदेश ही होता है।

अभिनव चन्द्रिकाकार नागेश के उपर्युक्त कथन से असहमत होकर इसे चिन्त्य बताते हैं। इनका कहना है कि ऐसा कोई प्रयोग सम्भव नहीं है जहाँ त्रिपादी सूत्र पहले प्रवृत्त हो जाय और पीछे सपादसप्ताध्यायी सूत्र त्रिपादी से किये हुए कार्य में ही स्थानी की बुद्धि से प्रवृत्त होवे। यदि कहा जाय कि "पिपठिष" धातु से क्विप् प्रत्यय करके अकार का लोप करने के बाद जो "पिपठिष्" यह प्रातिपदिक बनता है, इसका प्रथमा के एकवचन में "पिपठीः" इस रूप की सिद्धि के अवसर पर अन्तरंगत्वात् पहले सन् के सकार को जो मूर्धन्य आदेश हुआ है, वह पीछे से प्रवृत्त होने वाले रुत्व के प्रति असिद्ध हो जाता है। इसलिए वहाँ स्थानी दन्त्य सकार की बुद्धि से रुत्व किया जाता है। इसलिए यह उदाहरण तो सम्भव है, तो इस सन्दर्भ में उनका कहना है कि पिपठिष धातु बनाने पर षत्व और क्विप् जब दोनों साथ प्राप्त होते हैं

तब सपादसप्ताध्यायी "क्विप् च" (३।२।७६) की दृष्टि में त्रिपादी षत्वविधायक सूत्र "आदेशप्रत्यययोः" (८।३।५९) असिद्ध हो जाता है। इसके बाद क्विप् प्रत्यय, प्रातिपदिक संज्ञा और समागत सु विभक्ति का हल्ङ्यादि लोप करने के बाद पदान्त सकार होने के कारण वहाँ षत्व की प्राप्ति ही नहीं है, क्योंकि मूर्धन्यषकार अपदान्त दन्त्य सकार को होता है। इसलिए उदाहरण सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि यहाँ पहले प्रवृत्त होने वाले जिस त्रिपादी षत्वविधायक सूत्र की असिद्धि की बात कही गई है वह भी रुत्वविधायक "ससजुषो रुः" (८।२।६६) इस पूर्वत्रिपादी के प्रति कही गई है, न कि सपादसप्ताध्यायी सूत्र के प्रति। इस प्रकार नागेश के उपर्युक्त कथन का उदाहरण "पिपठीः" यह प्रयोग नहीं हो सकता।

ज्योत्स्नाकार ने अन्तरंगत्वात् पहले त्रैपादिक की प्रवृत्ति का उदाहरण "औजढत्" यह प्रयोग बताया है। वह् धातु से क्त प्रत्यय करके ढत्व, धत्व, ष्टुत्व ढलोप और सम्प्रसारण द्वारा निष्पन्न उकार को दीर्घ करके "ऊढ" शब्द बनता है। इस ऊढ शब्द से आचष्टे अर्थ में णिच् करके लुङ् लकार लाने पर आट् का आगम, च्लि और उसे चङ् करके जब द्वित्व करने चलते हैं तब "चङि" (६।१।११) इस सपादसप्ताध्यायी सूत्र के प्रति पूर्व में प्रवृत्त ढत्वादिविधायक त्रिपादी सूत्र असिद्ध हो जाते हैं, जिससे हृत शब्द को द्वित्व करके "औजढत्" प्रयोग की सिद्धि होती है। इस प्रकार यहाँ पूर्वोपस्थितनिमित्तक त्रैपादिक सूत्र पीछे से प्रवृत्त होने वाले सपादसप्ताध्यायी के प्रति असिद्ध हो जाते हैं, इस बात का उदाहरण "औजढत्" प्रयोग कहा जा सकता है।

जहाँ पर दोनों शास्त्रों (सपादसप्ताध्यायी और त्रिपादी) की साथ ही प्राप्ति हो (जैसे— "अद-अ-औ" इस स्थिति में पररूप और मुत्व की साथ ही प्राप्ति है) ऐसे स्थलों में परशास्त्र की पहले प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि उसमें अभाव का आरोप कर दिया जाता है। परशास्त्र में अभाव का आरोप करके पूर्वशास्त्र की प्रवृत्ति के बाद परशास्त्र की प्राप्ति होती है तो वह भी पीछे वहाँ प्रवृत्त होता है। जैसे "अमू" प्रयोग में पररूप के बाद ऊत्व-मत्व होते हैं।

न च 'पूर्वत्र ने'त्येव सूत्रमस्त्विति वाच्यम्, पूर्वशास्त्रप्राप्तौ निषेध इत्यर्थे 'नलोपः सुबि'ति सूत्रासङ्गतिः, तद्धि नियमार्थम्, त्वद्रीत्या 'राजन्-अश्व' इत्यस्यां दशायाङ्क्स्यापि पूर्वशास्त्रस्याप्राप्त्यैतन्निषेधाप्रवृत्तौ नलोपे जाते 'भुक्तवन्तमि'ति न्यायेनैतदप्रवृत्तौ राजाश्वे दीर्घसिद्ध्या नियमानुपयोगात्। 'राजभ्यामि'त्यादावपि दीर्घापत्तेश्च। 'पूर्वशास्त्रविषयसम्भावनायामि'त्यर्थे राजभ्यामित्यादौ नलोपे सुब्विधि-दीर्घ विषय सम्भावनया सर्वथा नलोपानापत्तेरिति दिक्।

अब विचार हो रहा है कि पूर्वशास्त्र के प्रति परशास्त्र में असिद्धत्व के आरोप की अपेक्षा पूर्वशास्त्र की कर्तव्यता में परशास्त्र प्रवृत्त नहीं होता है, इस अर्थवाला "पूर्वत्र न" यह सूत्र "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र की जगह करना चाहिए। पूर्वशास्त्र की प्राप्ति में परशास्त्र के प्रवृत्त नहीं होने से वे सारे कार्य हो जायेंगे जो परशास्त्र में असिद्धत्व के आरोप से सम्पादित किये जाते थे। इसलिए "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र बनाकर असिद्धत्वारोप करना ठीक नहीं है। किन्तु यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि यहाँ जिज्ञासा होगी कि पूर्वशास्त्र की प्राप्ति में परशास्त्र प्रवृत्त नहीं होगा?

अथवा पूर्वशास्त्र की विषयता की सम्भावना में परशास्त्र प्रवृत्त नहीं होगा? इनमें यदि पहला पक्ष मानते हैं तो "नलोपः सुप्स्वर" यह नियमसूत्र व्यर्थ हो जायेगा। कारण यह है कि जब "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र रहता है तो इसीसे नलोप की असिद्धि हो जाने के कारण "नलोपः सुप्" व्यर्थ होकर 'सुबादि विधियों में ही नलोप असिद्ध हो', अन्यत्र न हो ऐसा नियम करता था। इस नियम का फल यह होता था कि "राज्ञः अश्वः" इस विग्रह में "राजन् + अश्वः" इस स्थिति में जब नकार का लोप होता है तब उसके बाद प्राप्त सवर्णदीर्घ के सुबादि विधियों से भिन्न होने के कारण यहाँ नलोप असिद्ध नहीं होता था। इसलिए दीर्घ करके "राजाश्वः" प्रयोग की सिद्धि की जाती थी। अब जब "पूर्वत्र न" ऐसा सूत्र स्वीकार किया जा रहा है तब "राजन् + अश्वः" इस स्थिति में किसी पूर्वसूत्र की प्राप्ति न होने के कारण "पूर्वत्र न" इस निषेध की प्रवृत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में वहाँ नलोप करके दीर्घ कर लिया जायेगा, जिससे "राजाश्वः" प्रयोग की सिद्धि हो जायेगी तो "न लोपः सुप्" सूत्र के नियम की क्या आवश्यकता रह जाती है? यदि कहा जाय कि नलोप के बाद पूर्वशास्त्र की (अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१की) प्राप्ति होने पर "पूर्वत्र न" सूत्र से उसका निषेध हो जायेगा तो इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "भुक्तवन्तं प्रति मा भुंक्थाः" इस न्याय से नलोप का निषेध नहीं हो सकता। क्योंकि जिस प्रकार भोजन किये हुए व्यक्ति से यह कहना व्यर्थ है कि तुम भोजन मत करो, उसी प्रकार जो नलोप हो गया है उसका भी निषेध करना व्यर्थ ही है। इसलिए निषेध के अभाव में दीर्घ करके "राजाश्वः" प्रयोग की सिद्धि हो जाने के कारण इस पक्ष में "नलोपः सुप्" सूत्र की व्यर्थता स्पष्ट ही है।

यदि कहा जाय कि ऐसी स्थिति में "नलोपः सुप्स्वर" सूत्र को न करने में ही लाघव है अर्थात् यह सूत्र न किया जाय तो एक प्रकार का लाघव ही है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि "नलोपः सुप्" सूत्र के न रहने पर "राजन् + भ्याम्" इस स्थिति में "सुपि च" (७।३।१०२) इस पूर्वसूत्र की अप्राप्ति के कारण "पूर्वत्र न" इसकी भी प्राप्ति नहीं होगी। इस का परिणाम यह होगा कि यहाँ नलोप करके "सुपि च" सूत्र से दीर्घ होने लगेगा, जिससे "राजाभ्याम्" इस अनिष्टरूप की आपत्ति होने लगेगी।

यदि कहा जाय कि "पूर्वत्र न" इस सूत्र के अर्थ के सम्बन्ध में द्वितीय विकल्प माना जायेगा, जिसमें कहा गया है कि पूर्वशास्त्र की विषयता की सम्भावना में परशास्त्र प्रवृत्त नहीं होता, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ ऐसी सम्भावना है कि यदि "राजन् + भ्याम्" इस स्थिति में नलोप हो जाता है तो पूर्वशास्त्र "सुपि च" सूत्र की प्राप्ति होती है। ऐसी सम्भावना में "पूर्वत्र न" इस सूत्र से परशास्त्र "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" सूत्र का निषेध कर दिया जायेगा। परिणाम यह होगा कि यहाँ नकार का लोप होगा ही नहीं। इस प्रकार "राजभ्याम्" प्रयोग की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी। इसलिए "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र करना ही युक्तियुक्त है। "पूर्वत्र न" यह न्यास उपयुक्त नहीं है।

बाह्यप्रयत्न इति। काकलकाधस्ताद्गलविवरविकास-सङ्कोच-श्वासोत्पत्ति-ध्वनिविशेष-रूपनाद-तद्विशेषरूपघोषाल्पघोष-प्राणाल्पत्वमहत्त्वरूपकार्यकरत्व-मेषाम्। तथाहि—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णान् जनयते–" इति शिक्षायामुक्तम्।

आत्मा = अन्तःकरणं, संस्काररूपेण स्वगतानर्थान् बुद्ध्या = स्ववृत्त्या, समेत्य = एकबुद्धिविषयान्कृत्वा तद्बोधनेच्छया मनो युक्तं करोति, तदिच्छावन्मनः कायाग्निञ्जाठरमग्निमभिहन्ति, सः = कायाग्निः, सोदीर्णः = स मारुतः उदीर्णः ऊर्ध्वं प्रेरित इत्यादिस्तदर्थः। एवञ्च शब्दप्रयोगेच्छयोत्पन्नयत्नाभिहताग्निना नाभिप्रदेशात्प्रेरितो वायुर्वेगान्मूर्धपर्यन्तङ्गत्वा प्रतिनिवृत्तो वक्त्रं प्राप्य उक्तयत्नसहायेन तत्तस्थानेषु जिह्वाग्रादिस्पर्शपूर्वकं तत्तत्स्थानान्याहत्य वर्णानभिव्यनक्ति। ततो यत्नविशेषेण गलविवरविकासादीन्करोति। तत्र ये तत्तत्स्थानाभिघातका यत्नास्ते आस्यान्तर्गततत्तत्कार्यकारित्वादाभ्यन्तरा इत्युच्यन्ते। गलविवरविकासादिकराश्चास्यबहिर्भूतदेशे कार्यकरत्वाद्बाह्या इति।

बाह्य प्रयत्न का बाह्यत्व क्या है? इस बात को बताते हुए कह रहे हैं कि ओष्ठ से लेकर काकलक तक का भाग मुख कहा जाता है। विवारादि ग्यारह यत्नों का बाह्यत्व मुख से बाहर होने के कारण नहीं है, किन्तु काकलक से नीचे गलविवर का विकास, संकोच, श्वास की उत्पत्ति, ध्वनि, विशेषरूप नाद और तद्विशेष = नाद का विशेष घोष, अल्पघोष तथा प्राणवायु का अल्पत्व और महत्व रूप कार्य, जो आस्यबहिर्भूत कार्य हैं, इन्हें करने के कारण इनको बाह्य प्रयत्न कहा जाता है।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि आभ्यन्तर प्रयत्न में भी विवृत और संवृत का नाम आया है और बाह्य प्रयत्न में भी विवार और संवार का नाम आया है। इसलिए इनके भेद को जान लेना आवश्यक है, क्योंकि ये आपस में एक न होकर भिन्न-भिन्न हैं। जो बाह्य प्रयत्न होता है वह वर्णों के आविर्भाव के बाद होता है। आभ्यन्तर तो वर्णाभिव्यक्ति के पहले ही होते हैं। उनमें जो विवृत और संवृत को परिगणित किया गया है वह विवृत वर्णोत्पत्ति से पहले जिह्वा के अग्रभाग, मध्य और मूल भाग का तत्तद् स्थानों के साथ दूर से स्पर्श होने के कारण होता है। इसी प्रकार तत्तत् स्थानों के समीप में अवस्थित होकर जिह्वाग्रादि का स्पर्श होने पर संवृत होता है। इस प्रकार ये विवृत-संवृत बाह्य प्रयत्न के विवार और संवार से सर्वथा पृथक् हैं।

विवार गलविवर का विकास रूप है और संवार गलविवर का संकोच रूप है। गलविवर के विकास होने पर ऊपरवर्ती जो वायु है वही श्वास कहा जाता है। गलविवर के संवृत (संकुचित) होने पर जो अव्यक्त शब्द होता है, वह नाद कहा जाता है। इस प्रकार नाद रूपी कार्य करने से नाद को यत्न कहते हैं। स्थानाभिघात से जन्य जो ध्वनि, उसका और नाद का जो संसर्ग होता है उससे घोष उत्पन्न होता है। यह घोष यत्न इसलिए कहा जाता है कि यह

घोषरूप कार्य करता है। इसी प्रकार स्थानाभिघातज ध्वनि में जब श्वास पैदा होता है तब ध्वनि और श्वास के संसर्ग से अघोष नामक गुण वर्णों में उत्पन्न होता है। इस अघोष में आये हुए नञ् को अल्पार्थक मान कर शेखर में उसे अल्पघोष कहा गया है

"अल्पा असवो येषु तेऽल्पासवः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिन वर्णों के उच्चारण में प्राणवायु में अल्पत्व की भाँति प्रतीति हो, वे वर्ण अल्पप्राण वाले वर्ण कहे जाते हैं। इस अल्पप्राणत्व का सम्पादक यत्न भी अल्पप्राण कहा जाता है। इसी प्रकार प्राणवायु में महत्त्व का सम्पादक यत्न महाप्राण शब्द से जाना जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि विवारादि आस्य से बाहर गलविवर का विकास या संकोच आदि करते हैं। इस प्रकार आस्य से बाह्य देश में होने के कारण इन्हें बाह्य प्रयत्न कहा जाता है।

आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है— गले में जो उन्नत भाग है उसे काकलक कहते हैं। ओष्ठ से लेकर काकलक पर्यन्त भाग मुख कहा जाता है। तत्तद् वर्णों के उच्चारण की जब इच्छा होती है तब वर्णों की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति के लिए मुख के भीतर जो यत्न होते हैं वे आभ्यन्तर प्रयत्न कहे जाते हैं। वर्णों की उत्पत्ति के बाद उनमें गुणत्व (विवारत्वादि) के सम्पादक यत्न बाह्य कहे जाते हैं। यत्न का प्रारम्भ मन के द्वारा जाठराग्नि की प्रेरणा से होता है। जाठराग्नि से प्रेरित वायु नाभिप्रदेश से चल कर मूर्द्धा तक आकर जब लौटता है तब वह मुख में आकर पहले से चल रहे यत्न की सहायता से तालु आदि में जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य तथा मूल भाग का स्पर्श करता हुआ तत्तद् स्थानों पर आघात करके वर्णों को उत्पन्न करता है। यह वर्णों की उत्पत्ति अभिव्यक्तिस्वरूप ही है। इस प्रकार वर्णों का जो प्रकाशन होता है, इसके लिए उपयोगी यत्न ही आभ्यन्तर प्रयत्न हैं। इसके बाद मुख के बाहर अर्थात् काकलक से नीचे गलविवर का संवार और विवारादि कार्य होते हैं। इस प्रकार के कार्य को करने वाले यत्न बाह्य कहे जाते हैं। इनका बाह्यत्व इसलिए है कि ये बाह्य कार्य करते हैं। तात्पर्य यह है कि कार्यगत बाह्यत्व का आरोप कार्यसम्पादक यत्न में कर दिया जाता है। इसलिए विवार रूप कार्य का सम्पादक यत्न भी विवार ही कहा जाता है। ईस बात को शिक्षावचन से प्रमाणित करते हुए "आत्मा बुद्ध्या" इत्यादि शिक्षावचन को उद्धृत किया गया है। इस शिक्षाकारिका में आत्मा का अर्थ अन्तःकरण है। अन्तः करण का अवस्था-विशेष ही बुद्धि है। संस्कार रूप से अन्तः करण में स्थित अर्थों को बुद्धिवृत्ति से समेत्य = एकबुद्धि का विषय बनाकर उन अर्थों को कहने की इच्छा करके अन्तःकरण मन को युक्त करता है। वर्ण-बोधनेच्छा से युक्त मन कायाग्नि = जठराग्नि को अभिहत करता है। वह जठराग्नि वायु को प्रेरित करता है। वह वायु उदीर्ण अर्थात् ऊपर की ओर प्रेरित होकर मूर्धा से टकराता है। वहाँ से टकराकर वह मुख में आता है और यहाँ आकर तत्तद् स्थानों में जिह्वाग्रादि का स्पर्श कराकर वर्णों को उत्पन्न (अभिव्यक्त) करता है। यह शिक्षावचन का अर्थ है।

उक्त शिक्षावचन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि शब्दप्रयोग की इच्छा से जो यत्न उत्पन्न होता है, उस यत्न से अभिहत जठराग्नि नाभिप्रदेश से वायु को प्रेरित करता है। यह वायु वेगपूर्वक ऊपर की ओर चल कर मूर्धा तक आता है। वहाँ से लौटकर मुख में आता

है और यहाँ आकर उक्त यत्न (शब्दप्रयोगेच्छया उत्पन्न यत्न) की सहायता से तत्तद् स्थानों मे (कण्ठादि स्थानों में) जिह्वाग्रादि का स्पर्श कराता हुआ कण्ठादि स्थानों का आघात करके वर्णों को अभिव्यक्त करता है। इसके बाद यत्न-विशेष के द्वारा गलविवर का विकास और संकोच आदि कार्य होता है। विकास करने वाला यत्न विवार तथा संकोच करने वाला यत्न संवार कहा जाता है।

इन दोनों यत्नों में जो यत्न कण्ठ आदि स्थानों के अभिघातक हैं, वे आस्य के अन्तर्गत कार्य करने के कारण आभ्यन्तर यत्न कहे जाते हैं। गलविवर का विकास आदि कार्य करने वाले यत्न आस्य से बहिर्भूत काकलक से नीचे के भाग में कार्य करते हैं, इसलिए ये बाह्य यत्न कहे जाते हैं।

मात्राकालिकत्वादिरूपह्रस्वत्वादिकन्तु वाय्वल्पत्वमहत्त्वकृतमिति—नाभिप्रदेशात्प्रेरकयत्न एव कश्चिद्विलक्षणोऽल्पं वायुं प्रेरयति कश्चिदधिकमिति—तस्य वायुप्रेरणारूपङ्कार्यमास्यबाह्यदेशमिति तदपि बाह्यमेव।

अत एव अइउण्सूत्रे भाष्ये—'ह्रस्वत्वादिजनकयत्नस्यास्यविशेषणेन सवर्णसूत्रेऽग्रहणमि'त्युक्तम्। यद्यपि—'एक एव यत्नः सर्वकार्यजनको वर्णनाशकश्चे'ति 'परः सन्निकर्ष' इति सूत्रे भाष्ये उक्तं—तथापि तत्तत्कार्येणोपाधिना एकस्मिन्नपि भेदमारोप्य तथा व्यवहार इति बोद्धव्यम्। उदात्तादिजनकयत्नस्याभ्यन्तरकार्यकरत्वेऽपि—उदात्तादिशब्दैर्विना बोधितानां तेषाम्—'अनङ्दात्त' इत्यनेनाविवक्षाबोधनात्सवर्णसञ्ज्ञानुपयुक्तत्वान्तरतम्यपरीक्षोपयुक्तत्वरूपसादृश्ये न बाह्येषु गणनम्। इदं ह्रस्वत्वादेरानुनासिक्यस्य चोपलक्षणम्।

ह्रस्वत्व आदि के बाह्यत्व का प्रतिपादन करते हुए कह रहे हैं कि मात्राकालिक, द्विमात्राकालिक और त्रिमात्राकालिक अच् क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कहा जाता है। उनमें ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि धर्म वायु की अल्पता और अधिकता से होते हैं। नाभिप्रदेश से वायु को प्रेरित करने वाला ऐसा कोई विलक्षण यत्न होता है जो अल्प वायु को प्रेरित करता है और कोई यत्न अधिक वायु को प्रेरित करता है। वायुनिष्ठ यह अल्पता ह्रस्वत्व की और अधिकता दीर्घत्व तथा प्लुतत्व की प्रयोजिका होती है। यत्न के द्वारा वायु का यह प्रेरण रूप कार्य आस्य से बाह्य देश मे अर्थात् नाभि से काकलक पर्यन्त में होता है, इसलिए तदपि = ह्रस्वत्व आदि भी बाह्य ही हैं। अत एव = ह्रस्वत्व आदि के बाह्य होने के कारण ही "अइउण्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने "तुल्यास्यप्रयत्नम्" की जगह जब "आस्ये तुल्यदेशप्रयत्नम्" ऐसा न्यास किया और आस्य को प्रयत्न का विशेषण बनाया, तब उस पक्ष में ह्रस्वत्व आदि के जनक प्रयत्न को सवर्णसूत्र = सवर्णसंज्ञाविधायक सूत्र ("तुल्यास्यप्रयत्नम्") में ग्रहण नहीं किया, क्योंकि ह्रस्वत्वादि के जनक प्रयत्न आस्य के अन्तर्गत न होकर आस्य से बाहर होते हैं। इसलिए इनका ग्रहण नहीं किया। भाष्यकार ने कहा है—"आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते सवर्णसंज्ञा भवन्ति इति बाह्यश्च पुनरास्यात् कालः"। इस भाष्य से काल की बाह्यता स्पष्ट है। यद्यपि "परः सन्निकर्षः" (१।४।१०९) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि एक ही यत्न सभी कार्य करता है।

अर्थात् वर्ण की उत्पत्ति, उनमें ह्रस्वत्वादि का निष्पादन तथा उस वर्ण का नाश—ये सभी कार्य एक ही यत्न के द्वारा किये जाते हैं। इस सन्दर्भ में भाष्य की शब्दावली इस प्रकार है— "येनैव यत्नेनैको वर्ण उच्चार्यते, तेनैव विच्छिन्ने तस्मिन् वर्णे उपसंहृत्यतं यत्नमन्ययत्नमुपादाय द्वितीयः प्रवर्तते इति"। इससे स्पष्ट होता है कि जिस यत्न से जो वर्ण उत्पन्न होता है उसमें ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि सभी कार्य उसी यत्न से होते हैं। ऐसी स्थिति में तत्तद् कार्यों के लिए विभिन्न यत्नों को स्वीकार करने पर इस भाष्य से विरोध हो रहा है। इस विरोध के परिहार के लिए ग्रन्थकार का कहना है कि तत्तद् कार्यरूपी जो उपाधि है उसकी भिन्नता का आरोप एक ही यत्न में कर देने से उस एक यत्न में भिन्नता (नानात्व) का व्यवहार हो जाता है। यहाँ कार्य शब्द से ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि कार्यों को समझना चाहिए।

अब यह शंका होती है कि उदात्तादि की परिगणना बाह्य प्रयत्न में नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कण्ठ आदि स्थानों के अग्रभाग, अधोभाग आदि स्थानों में होने वाले यत्न से इनकी निष्पत्ति होती है। इस प्रकार आस्य के अन्तर्गत यत्न से होने के कारण उदात्तादि की परिगणना आभ्यन्तर में ही करनी चहिए न कि बाह्य प्रयत्न में।

इस प्रकार की शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यदि इनकी गणना आभ्यन्तर प्रयत्न में कर ली जाय तो उदात्त और अनुदात्त तथा स्वरित अकारादि की परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं हो सकेगी, क्योंकि इन सबों का आभ्यन्तर प्रयत्न परस्पर भिन्न है। दूसरी बात यह है कि "अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः" इस सूत्र में किये गये "उदात्त" ग्रहण से यह बात ज्ञापित की गई है कि यदि यत्न न किया जाय तो स्वरूपतः उच्चारित उदात्तत्व आदि धर्म विवक्षित नहीं होते हैं। तात्पर्य यह है कि बिना उदात्त आदि शब्द का उच्चारण किये यदि उदात्तत्व धर्म से युक्त अनङ् आदि का उच्चारण किया जाता है तो वह उदात्तत्व वहाँ विवक्षित नहीं होता है। इस प्रकार उदात्तादि शब्दों के बिना (उच्चारण के बिना) जब स्वरूपतः पठित उदात्तत्वादि धर्म विवक्षित ही नहीं होते तो आभ्यन्तर प्रयत्न में इनके परिणगन का कोई औचित्य ही नहीं रह जाता है। इसलिए उदात्तादि के जनक यत्न के आभ्यन्तर कार्यकारी होने पर भी उदात्तादि शब्दों से बोधन के बिना जब इनका ग्रहण सम्भव ही नहीं है तब सवर्ण संज्ञा में उपयोगी आभ्यन्तर प्रयत्न में इनके ग्रहण की कोई उपयोगिता नहीं है। इसलिए उदात्तादि के जनक यत्न को आभ्यन्तर में परिगणित नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार बाह्य प्रयत्न सवर्ण संज्ञा में अनुपयोगी होता हुआ भी "वाग्घरिः" इत्यादि प्रयोगों में आन्तरतम्य परीक्षा में उपयोगी होता है, उसी प्रकार उदात्तत्व आदि धर्म भी उदात्त के स्थान पर उदात्त के विधान रूपी आन्तरतम्य की परीक्षा में उपयोगी हैं। इस प्रकार बाह्य प्रयत्न के सदृश होने के कारण उदात्त आदि की गणना बाह्य प्रयत्न में की गई है। इदम् = उदात्त आदि का बाह्य प्रयत्न का कथन ह्रस्वत्व आदि तथा आनुनासिक्य का उपलक्षण = बोधक है। तात्पर्य यह है कि नाभिप्रदेश से प्रेरक कोई विलक्षण यत्न ही जब अल्पवायु को प्रेरित करता है तब ह्रस्व होता है। जब किसी यत्न से अधिक वायु प्रेरित होता है तब दीर्घ होता है और यत्नान्तर से अधिकतर वायु की प्रेरणा से प्लुत होता है। यह वायु का प्रेरणारूपी कार्य आस्य से बाहरी देश में होता है, इसलिए मात्राकालिकत्वादिरूप जो ह्रस्वत्व आदि हैं वे भी बाह्य ही हैं।

अनुनासिक के सम्बन्ध में भाष्यकार का कहना है कि "यथा तृतीयास्तथा पञ्चमा आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः"। अर्थात् आनुनासिक्य पञ्चम वर्णों का गुण है। जिस प्रकार द्रव्य की निष्पत्ति के बाद उसमें गुणाधान होता है उसी प्रकार वर्णों की निष्पत्ति के बाद उसमें अनुनासिकत्व गुण आता है। इसलिए बाह्य प्रयत्न के सदृश होने के कारण आनुनसिक्य भी बाह्य प्रयत्न ही है।

वस्तुतस्तु आभ्यन्तर और बाह्य ये दोनों प्रयत्न वर्णों की अभिव्यक्ति के पहले ही होते हैं। अन्तर तो इतना ही है कि आभ्यन्तर प्रयत्न साक्षात् वर्णाभिव्यक्ति का जनक है और बाह्य प्रयत्न परम्परया है।

शर इति। शषसाः। अनुप्रदानं–बाह्यप्रयत्नः। विवृण्वते इति। तदभिव्यक्त्युत्तरञ्जायमाने कण्ठविवरविकासे तेषां कर्तृत्वविवक्षा बोध्या। विवार एषां प्रयत्न इति भावः। अन्ये त्विति। वर्गतृतीयचतुर्थपञ्चमाः, तद्यमा, हकारानुस्वारौ, यरलवा इत्यर्थः। नादभागिनः तत्प्रयत्नकाः। यद्यपि खयादिषु घोषाघोषान्यतरप्रयत्नमात्रेणापि प्रक्रियांशनिर्वाहस्तथापि शिक्षानुरोधेनान्येषामुक्तिः। अल्पासवः–अल्पप्राणाः, यत एतदुच्चारणोत्तरं प्राणानामल्पत्वमिव भवति। वर्गेष्विति। 'विद्यमानानामि'ति शेषः। चतुर्णामिति। निर्धारणे षष्ठी, 'अन्यतमादि'ति शेषः। पूर्वसदृश इति। सादृश्यंयत्नकृतम्। अत एवायोगवाहेषु यमानां गणनं भाष्ये, 'चत्वारश्च यमाः स्मृताः' इति पाणिनिशिक्षा च सङ्गच्छते। अयञ्च वेदे एव; तदाह–प्रातिशाख्ये इति।

"खयां यमाः" आदि कारिका का व्याख्यान करते हुए कह रहे हैं कि— "खयां यमाः" इस कारिका में आये हुए शर् पद से 'श, ष और स' इन तीनों सकारों का ग्रहण होता है। सन्देह होता है कि जब शर् प्रत्याहार में तीन सकार ही आते हैं तो शर् पद से वे स्वयमेव गृहीत हो जायेंगे, तो ऐसी स्थिति में यहाँ शर् से श, ष, स का ग्रहण होता है, यह कहने की क्या आवश्यकता है? इस शंका का उत्तर यह है कि अयोगवाहों (अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और यम) का पाठ शर् प्रत्याहार में किया गया है। ऐसी स्थिति में शर् पद से अयोगवाहों का भी ग्रहण न होने लगे इस बात को बताने के लिए स्पष्ट कर दिया गया है कि यहाँ शर् पद से केवल श, ष, स का ही ग्रहण करना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि "खयां यमाः" इस कारिका में अनुस्वार के अतिरिक्त सभी अयोगवाहों का उल्लेख करना सार्थक होता है। अन्यथा शर् पद से यदि इनका भी ग्रहण हो जाता तो कारिका में पृथक् से इनका उल्लेख करना व्यर्थ हो जाता। इस कारिका में अनुस्वार का उल्लेख न होने के कारण इसका विवार, श्वास और अघोष प्रयत्न नहीं होता है।

अनुप्रदान शब्द का अर्थ बाह्यप्रयत्न है। "अनु = पश्चात् प्रदीयते = जन्यते इति अनुप्रदानम्" इस व्युत्पत्ति से इसी अर्थ की सम्पुष्टि होती है। कुछ लोग अनुप्रदान शब्द को बाह्य प्रयत्न अर्थ में रूढ़ मानते हैं।

कारिका में आये हुए "विवृण्वते" इस पद का कर्त्ता कौन है? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि तदभिव्यक्त्युत्तरम् = वर्णों की अभिव्यक्ति के बाद अर्थात् खय् प्रत्याहार

के वर्ण इनके यम्, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय की अभिव्यक्ति के बाद जो कण्ठविवर का विकास होता है उस विकास में इन वर्णों की कर्तृत्वेन विवक्षा है। खयादि वर्ण जब कण्ठ को विकसित करते हैं तब विवृत कण्ठ में श्वास उत्पन्न होता है। इस प्रकार कण्ठ को विवृत करने के कारण इनका प्रयत्न विवार, श्वास तथा अघोष होता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि वर्गों के प्रथम, द्वितीय अक्षर और इनके यम, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन वर्णों का विवार, श्वास तथा अघोष प्रयत्न होता है।

अन्ये त्विति—इन उपर्युक्त वर्णों से भिन्न वर्ण अर्थात् वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण तथा इनके यम, हकार और अनुस्वार तथा यरलव—ये यहाँ अन्य शब्द से लिये जाते हैं। इन वर्णों का प्रयत्न नाद होता है। इसके अतिरिक्त संवार और घोष भी इनके प्रयत्न होते हैं। कारिका में आये हुए "नादभागिनः" शब्द का अर्थ नाद प्रयत्न वाले हैं। कण्ठ के संवृत होने पर नाद तथा विवृत होने पर श्वास होता है, यह बात तैत्तरीय प्रातिशाख्य में इस प्रकार कही गई है—"संवृते कण्ठे नादः क्रियते" (२/४) "विवृते कण्ठे श्वासः" (२/५)।

यद्यपि खय् प्रत्याहार में अघोष का तथा हश् प्रत्याहार में घोष मात्र का उल्लेख करने से प्रक्रिया का निर्वाह हो सकता है, क्योंकि वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्ण अघोष होते हैं तथा तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण घोष होते हैं। इसी प्रकार श, ष, स—ये तीन वर्ण अघोष हैं और य, व, र, ल—ये चार वर्ण घोष हैं। इस प्रकार घोष और अघोष के आधार पर वर्णविभाग करके शास्त्रीय प्रक्रिया का निर्वाह किया जा सकता है, तथापि शिक्षा (पाणिनि शिक्षा) के अनुरोध से विवारादि प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है। क्योंकि शिक्षा में विवार, संवार आदि प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है। इसलिए उनकी भी परिगणना की गई है। यहाँ 'खयादिषु' इस पद में आये हुए आदि शब्द से हश् का ग्रहण करना चाहिए।

कारिका में आये हुए "अल्पासवः" शब्द का अर्थ अल्पप्राण है, "अल्पेऽसवो येषु" इस व्युत्पत्ति के अनुसार इनके उच्चारण में अथवा उच्चारण के बाद प्राणों में अल्पता जैसी स्थिति हो जाती है, इसलिए ये अल्पप्राण कहे जाते हैं। यम वर्णों का परिचय देते हुए कौमुदी में जो कहा गया है "वर्गेष्वाद्यानाम्" इत्यादि उसकी व्याख्या करते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि यहाँ "वर्गेषु" के आगे "विद्यमानानाम्" यह पद शेष रह गया है, इसलिए "वर्गेषु" इस पद के आगे 'विद्यमानानाम्' इस पद को जोड़ करके तब उस वाक्य का अर्थ करना चाहिए। "वर्गेषु" इस पद में सप्तमी विभक्ति 'विद्यति' क्रिया का अधिकरण होने से अधिकरण सप्तमी है, ऐसा समझना चाहिए। "चतुर्णाम्" इस पद में जो षष्ठी विभक्ति हुई है वह निर्धारण अर्थ में हुई है। उसके आगे "अन्यतमात्" यह पद (शेष) है, ऐसा समझना चाहिए। जिस प्रकार निर्धारण स्थल में "नृणां ब्राह्मणः श्रेष्ठः" इस वाक्य में ब्राह्मणत्व जाति के आधार पर नृ समुदाय से ब्राह्मण में श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन किया जाता है उसी प्रकार प्रकृत स्थल में वर्गों के अन्यतम वर्णपरत्व के आधार पर यम का निर्धारण किया जाता है। वर्ग के पञ्चम वर्ण ङकारादि अन्यतम पर में रहें तब वर्गों में विद्यमान प्रथम चारों में से किसी एक से पर में रहने वाला और उसके सदृश मध्यम वर्ण यम कहा जाता है। यम का यह मध्यमत्व प्रथम के वर्णचतुष्टय में अन्यतम और पञ्चम वर्ण की अपेक्षा से होता है। यम में जो पूर्व वर्ण का सादृश्य लिया

जाता है वह सादृश्य यत्न के आधार पर लिया जाता है, न कि कत्व, खत्व आदि धर्म के आधार पर, क्योंकि यम वर्णों में कत्व, खत्व आदि धर्म होते ही नहीं है। कहा जा सकता है कि "पलिक्क्नीः" इस प्रयोग में नकार के पर में रहने पर ककार से पर में रहने वाले ककार रूपी यम में कत्वधर्म क्यों नहीं है? तो इसका उत्तर यह है कि यम वर्ण अयोगवाह में आते हैं। अयोगवाह उन्हें कहते हैं जिनका पाठ वर्णसमाम्नाय में नहीं होता और न तो वे वर्णसमाम्नायस्थ वर्णों से गृहीत ही होते हैं। यदि यमसंज्ञक ककारादि में कत्व आदि धर्म स्वीकृत किये जांय तो वे वर्णसमाम्नायस्थ ककारादि वर्णों से गृहीत होने लगेंगे। ऐसी स्थिति में यही स्वीकार करना उपयुक्त होता है कि यम वर्णों में कत्वादि धर्म नहीं होते।

दूसरी बात यह है कि यम वर्ण ककारादिरूप ही हैं तो यह शिक्षावचन कि "अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमिष्यते" असंगत हो जायेगा, क्योंकि ककारादि वर्णों का स्थान नासिका नहीं है। इसके अतिरिक्त अयोगवाहों को आश्रयस्थानभागी कहना भी व्यर्थ हो जायेगा यदि इन्हें कत्वादि धर्मयुक्त माना गया। इसलिए यम वर्णों में पूर्व का सादृश्य यत्न के आधार पर ही माना जाता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि यम एक प्रकार के वर्णान्तर हैं, जिनका प्रयोग वेदों में होता है।

यहाँ यह विषय विशेष रूप से विवेचनीय है कि यम वर्ण कितने हैं और उनका स्वरूप क्या है? क्योंकि यम वर्ण सदा से विवाद के विषय रहे हैं। इनके सम्बन्ध में कहीं तो कहा गया है "चत्वारश्च यमाः स्मृताः" अर्थात् यम चार होते हैं। कहीं कहा गया है—"विंशतिः यमाः" अर्थात् यम बीस होते हैं। कौमुदीकार ने यम वर्णों का परिचय देते हुए कहा है कि वर्ग के पञ्चम वर्ण ङकारादि के पर में रहने पर वर्ग के आदि चार वर्ण, जो पूर्ववर्ण के सदृश हैं, वे यम कहे जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ककारादिचतुष्टय में अन्यतम से पर में रहने वाले "कचटतप" ये वर्ण पञ्चम वर्ण के पर में रहने पर यम होते हैं। इनका स्थान नासिका होता है और बाह्य प्रयत्न होता है। इस प्रकार यह यम का पहला भेद है। इसी प्रकार खकारादि द्वितीय वर्ण से पर में रहने वाले ख, छ, ठ, थ, फ—ये यम होते हैं। इसी प्रकार गकारादि तृतीय वर्ण से पर में रहने वाले ग, ज, ड, द, ब—ये तृतीय वर्ण पञ्चम वर्ण के पर में रहने पर यम कहे जाते हैं। इसी प्रकार घ, झ, ढ, ध, भ—इन चार वर्णों से पर में रहने वाले नासिकास्थानक बाह्य प्रयत्नक घकारादि अन्यतम वर्ण यम होते हैं। यह यम का चौथा भेद है। इस प्रकार "चत्वारश्च यमाः स्मृताः" इस कथन की सार्थकता होती है। इन चारों भेदों में यदि एक-एक यम की परिगणना की जाय तो ये बीस हो जाते हैं, इसलिए "विंशतिर्यमाः" यह कथन भी संगत हो जाता है। इसीलिए कौमुदीकार का यह कथन भी सार्थक होता है कि "प्रथमतृतीययमौ यरलवाश्च अल्पप्राणाः।" यहाँ प्रथम, तृतीय यम शब्द के उल्लेख से प्रत्येक यम की परिगणना पृथक्-पृथक् करने की बात स्पष्ट है। इस प्रकार यमों की संख्या बीस होती है।

ये यम वर्ण नासिका स्थान वाले तथा बाह्य प्रयत्न वाले वर्णान्तर हैं। इनका प्रयोग वैदिक वाङ्मय में होता है।

यह बात ऊपर कही जा चुकी है कि यम वर्णों में जो पूर्व का सादृश्य लिया जाता है वह यत्न (बाह्य प्रयत्न) के आधार पर लिया जाता है। कत्व, खत्व आदि धर्म के आधार पर नहीं

लिया जाता है। अत एव = धर्मकृत सादृश्य न लेने से ही भाष्यकार द्वारा अयोगवाहों में यमों की परिगणना संगत होती है, क्योंकि अयोगवाह वे ही होते हैं जिनका वर्णसमाम्नाय में पाठ नहीं है और न तो वर्णसमाम्नायस्थ वर्णों से वे गृहीत होते हैं। यदि धर्म के अधार पर सादृश्य लिया गया होता तो वर्णसमाम्नायस्थ वर्णों के धर्म कत्वादि से युक्त होने के कारण उनसे यमों का ग्रहण जब होने लगता तो ये अयोगवाह कहे ही नहीं जाते। ऐसी स्थिति में अयोगवाहों के भीतर इनकी परिगणना व्यर्थ हो जाती। इसीलिए "चत्वारश्च यमाः स्मृताः" यह पाणिनीय शिक्षा भी संगत होती है। यम चार होते हैं, यह कहने से स्पष्ट है कि यम वर्णान्तर हैं, जो अयोगवाह में पढ़े गये हैं। अयञ्च = यह यम वर्ण वेद में ही प्रयुक्त होते हैं, लोक में इनका प्रयोग नहीं होता। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—"प्रातिशाख्ये प्रसिद्धाः"।

"अन्येषां तु संवारो नादो घोषश्च" इस कौमुदी की पंक्ति में अन्य शब्द से क्या लिया जाय? इस बात को सन्दर्भित करते हुए कह रहे हैं—

अन्येषामिति। अचाम्, उक्तान्यहलाञ्चेत्यर्थः। यरलवाश्चेति। चेनाचामपि ग्रहणम्। 'सुपां सुलुगि'ति सूत्रे 'इकारस्यान्तर्यतो दकार' इति भाष्यात्—घोषसंवारनादाल्पप्राणत्वमचाम्। अन्यथा तदौ पर्यायेण स्याताम्, अल्पप्राणत्वानङ्गीकारे दधौ पर्यायेण स्याताम्। अचां घोषत्वं 'परः सन्निकर्ष' इति सूत्रे भाष्येऽपि स्पष्टम्। अन्ये इति। द्वितीयचतुर्थौ, तद्यमौ, शषसहा अयोगवाहाश्चेत्यर्थः। जिह्वामूलीययमादीनां स्थानबाह्यप्रयत्नकथनन्तु—स्वरूपनिर्णयाय, न तु सावर्ण्यान्तरतम्यपरीक्षादावुपयोगीति बोद्धव्यम्। अनुपयुक्ता इति। तुल्यास्यसूत्रे प्रशब्दग्रहणात्। उपयुक्तत्वे हि श-छयोरपि सावर्ण्यं स्यादिति भावः। आन्तरतम्यपरीक्षा च—'घोषवत' इत्यादिना तत्र तत्र स्फुटीभविष्यति।

यहाँ अन्य शब्द से अच् वर्ण और उक्त हल् वर्णों से भिन्न हश् प्रत्याहार के अक्षर (वर्ग के तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण तथा हयवरल) लिये जाते हैं। इनका प्रयत्न संवार, नाद और घोष होता है।

"यरलवाश्चाल्पप्राणाः" इस वाक्य में आये हुए चकार से अच् वर्णों का ग्रहण होता है। इस प्रकार अच् का संवार, नाद, घोष और अल्पप्राण प्रयत्न होता है। इस बात में भाष्यवचन भी प्रमाण है। "सुपां सुलुक्" इत्यादि सूत्र में भाष्यकार ने विचार किया कि इस सूत्र में लुक् ग्रहण न करके सूत्र में आये हुए पूर्वसवर्ण ग्रहण से यदि कार्य चलाया जाय तो क्या आपत्ति है? ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि "आर्द्रे—चर्मन् + इ" इस स्थिति में "इकारस्यान्तर्यतो दकारः" अर्थात् इकार के स्थान पर आन्तरतम्यात् दकार होने लगेगा। भाष्य की यह उक्ति तब सार्थक होती है जब अच् वर्णों का संवार, नाद, घोष और अल्पप्राण—ये चार प्रयत्न स्वीकार किये जाँय। इकार का उक्त प्रयत्नचतुष्टय स्वीकार करने पर उक्त प्रयत्नचतुष्टयवाले दकार के साथ ही उसका आन्तरतम्य होता है, अन्य तवर्गीय वर्ण के साथ नहीं होता। इसलिए भाष्यकार ने दकार की आपत्ति की। अन्यथा यदि अच् वर्णों का केवल अल्पप्राण प्रयत्न माना जाता तो इकार का अल्पप्राणत्व-प्रयुक्त आन्तरतम्य तकार और दकार दोनों के साथ होने से

इकार के स्थान पर तकार और दकार दोनों वर्ण पर्यायतः होने लगेंगें, इस प्रकार की आपत्ति भाष्यकार को देनी चाहिए थी। यदि अच् वर्णों का अल्पप्राण प्रयत्न न मानकर केवल संवार, नाद, घोष प्रयत्न माने गये होते तो एतत् प्रयत्नप्रयुक्त इकार का आन्तरतम्य दकार और धकार दोनों के साथ होने के कारण भाष्यकार को कहना चाहिए था कि पूर्वसवर्ण पक्ष में आन्तरतम्यात् इकार के स्थान पर दकार और धकार होने लगेंगें। किन्तु भाष्यकार ने यह भी आपत्ति न देकर केवल दकार की आपत्ति की जो बात कही है, उससे विदित होता है कि अच् वर्णों के संवार, नाद, घोष और अल्पप्राण—ये चारों प्रयत्न होते हैं। ऐसी स्थिति में प्रयत्नचतुष्टय द्वारा इकार का आन्तरतम्य केवल दकार के साथ होने के कारण पूर्वसवर्ण पक्ष में इकार के स्थान पर दकार के होने की आपत्ति की है।

अच् वर्णों का घोष प्रयत्न होता है, यह बात "परः सन्निकर्षः संहिता" सूत्र के भाष्य में भी स्पष्ट है। वहाँ का प्रसंग इस प्रकार है—भाष्यकार ने "परः सन्निकर्षः" सूत्र की जगह "ह्रादाविरामः संहिता" ऐसा न्यास करना चाहिए—एक यह पक्ष प्रस्तुत किया। प्रयत्न-विशेष से उत्पन्न तथा वर्णविराम होने पर भी अनुरणन रूप और वर्णान्तर में भी अनुवर्तमान घोष (ध्वनि-विशेष) ह्राद कहा जाता है। इस पक्ष में "कुक्कुट इवायम्" इस विग्रह में निष्पन्न कन् लुबन्त "कुक्कुट" शब्द में "स्पर्श और अघोष वर्ण के संयोग में असन्निधान के कारण संहिता संज्ञा की अनापत्ति को देखकर भाष्यकार ने कहा—"एकः पूर्वपरयोः ह्रादेन प्रच्छाद्यते"। कैयट ने इसकी व्याख्या में कहा कि "द्वयोरुकारयोर्घोषवतोर्मध्ये घोषवानिव लक्ष्यते"। इससे स्पष्ट है कि अच् वर्ण घोष होते हैं। क्योंकि यहाँ उकार के घोष का उल्लेख स्पष्ट रूप में किया गया है।

अन्ये इति। यह "अन्ये तु महाप्राणाः" इस कौमुदी वाक्य का प्रतीक है। यहाँ अन्य शब्द से वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ वर्ण तथा तत्सम्बन्धी यम, शकार, षकार और सकार तथा हकार और अयोगवाह लिये जाते हैं। ये सभी महाप्राण प्रयत्न वाले हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में जिह्वामूलीय, यम, अनुस्वार और विसर्ग के स्थानों तथा बाह्य प्रयत्न का जो निरूपण किया गया है, उसका कोई प्रयोजन न होने के कारण यद्यपि वह निरूपण व्यर्थ-सा है तथापि इनके स्वरूप के प्रदर्शन या निर्णय के लिए यह निरूपण उपयुक्त है। सवर्ण संज्ञा और आन्तरतम्य परीक्षा में इसका कोई उपयोग नहीं है। यहाँ कहा जा सकता है कि जिह्वामूलीय और यमादि की भाँति उपध्मानीय के स्थान-प्रयत्न का उल्लेख भी व्यर्थ ही है तो उसकी चर्चा इस प्रसंग में क्यों नहीं की गई? तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उपध्मानीय के स्थान का कथन कथंचित् इसलिए सार्थक कहा जा सकता है कि उपध्मानीयोपध उब्ज् धातु में उपध्मानीय के स्थान पर जश्त्वेन बकार किया जा सके। सवर्ण संज्ञा में अनुपयोगी होने के कारण ही आभ्यन्तर प्रयत्न में यमादि के प्रयत्न का उल्लेख नहीं किया गया है।

यद्यपि सवर्ण संज्ञा में आभ्यन्तर प्रयत्न की ही उपयोगिता है, क्योंकि "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" इस सूत्र में प्र शब्द के आधार पर आभ्यन्तर प्रयत्न का ही ग्रहण किया जाता है। ऐसी स्थिति में बाह्य प्रयत्न का निरूपण करना अनुपयोगी ही है, क्योंकि उसे यदि सवर्ण संज्ञा में उपयोगी माना जाय तो शकार और छकार का स्थान तथा बाह्य प्रयत्न समान होने के कारण

इन दोनों की सवर्ण संज्ञा होने लगेगी। परिणाम इसका यह होगा कि "राजंश्छिन्धि" इस प्रयोग में अनुस्वार को हल् वर्ण मान कर उससे पर में रहने वाले शकार का "झरो झरि सवर्णे" सूत्र से लोप होने लग जायेगा। इसलिए बाह्य प्रयत्न को सवर्ण संज्ञा में उपयोगी नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में उसका निरूपण यद्यपि व्यर्थ-सा है तथापि "वाग्घरिः" इत्यादि प्रयोगों में संवार, नाद, घोष और महाप्राण प्रयत्न वाले हकार के स्थान पर एतत् प्रयत्नचतुष्टय वाले घकार के विधान के लिए आन्तरतम्य की परीक्षा में इसकी उपयोगिता है। यह बात घोषवत् इत्यादि शब्दों के द्वारा तत्तद् स्थलों में स्पष्ट है।

स्पर्शाः—तत्पदव्यवहार्याः। अन्तस्थाशब्द आदन्तः। स्पर्शोष्मणोरन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीति तदर्थः। ऊष्माण इति। ऊष्मा वायुस्तत्प्रधाना इत्यर्थः। एवं 'सोष्माण' इत्यस्य 'वायुना सह वर्तन्त इत्यर्थ' इति प्रातिशाख्यभाष्ये स्पष्टम्। यद्यपि वर्गद्वितीयचतुर्थयोरपि 'स्थानेऽन्तरतम'सूत्रभाष्यादूष्मत्वं, तथापि 'विवृतमूष्मणा-मि'त्यत्रैत एव गृह्यन्ते। अन्यथा कण्ठ्यादीनां सावर्ण्यानापत्तौ 'नाज्झलावि'त्यादिनि-र्देशासङ्गतिरिति भावः। अचः स्वरा इति। उदात्तादिभिः स्वयमेव राजन्त इति व्युत्पत्तेः। तद्धर्मत्वादुदात्तादयोऽपि 'स्वरा' इत्युच्यन्ते। कपाभ्यामिति—खफयोरप्युपलक्षणम्। अं अः इत्युपलक्षणमिकारादेरपि। तदाह—अचः पराविति।

"कादयो मावसानाः स्पर्शाः" इस कौमुदी के वाक्य में आये हुए स्पर्श शब्द का अर्थ स्पर्शपदव्यवहार्य है। ककार से लेकर मकार तक के वर्ण स्पर्श शब्द से व्यवहृत होते हैं। ऐसा कहने की आवश्यकता इसलिए हुई कि यदि ऐसा नहीं कहते तो जिस प्रकार "घटो घटः" इस वाक्य में विशेष्य और विशेषण के एक ही होने के कारण शाब्दबोध नहीं होता उसी प्रकार यहाँ जो ककारादि हैं, वे ही स्पर्श है; इस प्रकार का बोध असंगत होता। इसलिए ककारादि वर्णों को स्पर्शपदबोध्य कहा गया।

"यणोऽन्तःस्थाः" इस वाक्य में "अन्तःस्थाः" यह पद विवाद का विषय है। अन्तः= स्पर्शानामूष्मणाञ्च मध्ये ये तिष्ठन्ति तेऽन्तःस्थाः अर्थात् स्पर्शसंज्ञक तथा ऊष्मसंज्ञक वर्णों के मध्य में रहने के कारण 'यण्' प्रत्याहार के अक्षर अन्तःस्थ हैं। कुछ लोगों का कहना है कि अन्तः पूर्वक स्था धातु से विच् प्रत्यय करने से "अन्तःस्था" शब्द आकारान्त बनता है। शेखर की ज्योत्स्ना टीकाकार के अनुसार यह विजन्त या क्विबन्त शब्द है। क्विप् प्रत्यय करने पर आकारलोप की आशंका इसलिए नहीं करनी चाहिए कि वह अजादि कित्-ङित् प्रत्यय पर में रहने पर होता है। इसलिए यहाँ आकार का लोप नहीं हुआ है। विषमपदविवृतिकार के अनुसार "सुपि स्थः" सूत्र से क प्रत्यय, आकार का लोप करके अदन्त "अन्तःस्थ" शब्द से टाप् करके "अन्तःस्था" शब्द आकारान्त बना है। इस मत के अनुसार यह नित्य स्त्रीलिंग शब्द है। शिक्षा में "अन्तःस्थाभिश्च संयुतम्" इस प्रकार के पाठ के आधार पर इसे नित्य स्त्रीलिंग स्वीकार किया गया है। विच् प्रत्यय करके आकारान्त पुंल्लिग बनाने पर "ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्" यह निर्देश असंगत हो जायेगा, क्योंकि उस स्थिति में भसंज्ञा और आकार का लोप करके "अन्तःस्थाम्" यह रूप बनने लगेगा। शेखरकार ने इसे आदन्त कहा है, इसलिए उसके निर्वाह

के लिए यही प्रक्रिया संगत है। कहीं-कहीं "अन्तःस्थैश्चापि संयुतम्" ऐसा शिक्षावचन मिलता है। ऐसी स्थिति में इसे क प्रत्ययान्त पुंल्लिग मानना चाहिए। क प्रत्यय करने पर धातु के आकार का लोप करने से अन्तःस्थ शब्द अकारान्त बनता है, जिससे "अन्तःस्थैः" इस रूप की संगति हो जाती है।

शषसहा ऊष्माणः" इस वाक्य में आये हुए "ऊष्माणः" पद का अर्थ ऊष्मपदव्यवहार्य नहीं है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर प्रातिशाख्य से विरोध होगा। प्रातिशाख्य में ऊष्मा को वायु कहा गया है। वायु की प्रधानता जहाँ हो वे वायु प्रधान वर्ण ऊष्मा कहे जाते हैं। इसीलिए प्रातिशाख्य भाष्य में "सोष्माणः" पद का अर्थ "वायु के साथ रहने वाले" ऐसा किया गया है। यद्यपि "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र के भाष्य में वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण को भी ऊष्मा कहा गया है तथापि "विवृतमूष्मणाम्" इस वाक्य में ऊष्मा पद से श, ष, स, तथा हकार ही लिये जाते हैं। द्वितीय और चतुर्थ वर्ण के ऊष्मत्व का अभिव्यञ्जक भाष्य इस प्रकार है— "वाक् + हसति" इस स्थिति में हकार को पूर्वसवर्ण क्या हो? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने कहा कि हकार ऊष्म और नाद वर्ण है, इसलिए जो सोष्म वर्ण नादयुक्त होगा वही हकार के स्थान पर होगा। ऐसा वर्ण वर्ग का चौथा वर्ण होता है; इसलिए हकार के स्थान पर घकार किया गया जिससे "वाग्घसति" प्रयोग की सिद्धि होती है। "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र में किये गये तम ग्रहण के प्रभाव से ऊष्म और नाद प्रयत्न वाले हकार के स्थान पर ऊष्म और नाद प्रयत्न वाला घकार किया गया है। इससे स्पष्ट है कि वर्ग के चतुर्थ वर्ण ऊष्म होते हैं। यदि ऐसा न करके हकार का आन्तरतम्य केवल ऊष्मत्व के आधार पर लिया जायेगा तो हकार के स्थान पर वर्ग का द्वितीय अक्षर होने लगेगा और यदि केवल नाद के आधार पर हकार का सादृश्य लिया जायेगा तब हकार के स्थान पर कवर्ग का चौथा अक्षर होने लगेगा। इस प्रकार के भाष्यकार के व्याख्यान से द्वितीय वर्ण की भी ऊष्मता सिद्ध होती है। तथापि "विवृतमूष्मणाम्" इस वाक्य में ऊष्मा पद से 'शषसह' ये चार वर्ण ही लिये जाते हैं, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

यदि ऐसा न मानकर ऊष्म पद से वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का भी ग्रहण किया जाय और "विवृतमूष्मणाम्" इस वाक्य में ऊष्म पद से उन्हें गृहीत कर उनका (द्वितीय और चतुर्थ का) भी विवृत प्रयत्न माना जाय तो कण्ठ्य, तालव्य आदि वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं हो सकेगी। उदाहरण के लिए कवर्ग के पाँचों अक्षर परस्पर सवर्णी हैं । इसी प्रकार चवर्ग टवर्ग के भी प्रत्येक अक्षर आपस में सवर्णी होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि "वाक् + हरिः" इस स्थिति में हकार के स्थान पर "झयो होऽन्यतरस्याम्" सूत्र से पूर्वसवर्ण के रूप में ककार का सवर्णी घकार होता है, जिससे "वाग्घरिः" रूप की सिद्धि होती है। किन्तु अब यदि वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण ऊष्मा कहे जाँय और ऊष्म वर्ण होने के कारण इनका प्रयत्न विवृत हो जाय तो आभ्यन्तर प्रयत्न के यावत्साम्य न होने के कारण द्वितीय और चतुर्थ वर्ण अपने वर्ग के सवर्णी अक्षर नहीं कहे जायेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि पाणिनि का "नाज्झलौ" यह निर्देश असंगत हो जायेगा। यहाँ पर "न + अच् + हलौ" इस स्थिति में हकार के स्थान पर पूर्व चकार के सवर्ण के रूप में झकार होता है। वह अब नहीं होगा, क्योंकि

प्रयत्नभेद या यावत् प्रयत्न साम्याभाव के कारण चकार और झकार की सवर्ण संज्ञा होगी ही नहीं। ऐसी स्थिति में हकार के स्थान पर चकार का सवर्णी झकार किस प्रकार हो सकेगा? फलस्वरूप "नाज्झलौ" यह निर्देश असंगत हो जायेगा। इसलिए द्वितीय और चतुर्थ के ऊष्म होने पर भी "विवृतमूष्मणाम्" इस वाक्य में ऊष्म पद से केवल श, ष, स और हकार ही लिये जाते हैं, वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण नहीं लिये जाते हैं।

"अचः स्वराः" इस कौमुदी में कथित परिभाषा में आये हुए स्वर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कह रहे हैं कि "उदात्तादिभिः स्वयमेव राजन्ते इति स्वराः" अर्थात् उदात्तादि गुणों से जो स्वयमेव प्रकाशित होते हैं वे स्वर हैं अर्थात् स्वरपदबोध्य हैं। ये स्वरपदबोध्य वर्ण अच् हैं। इनका स्वयमेव प्रकाशन इनके स्वतन्त्रोच्चारण विषयत्व से है। हल् वर्ण की भाँति इनका उच्चारण किसी की सहायता से नहीं होता। स्वर शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार होती है— स्वपूर्वक राज् धातु से औणादिक ड प्रत्यय और टिलोप करके "स्वर" शब्द बनता है। अब शंका होती है कि अच् प्रत्याहार के अक्षर स्वर भले ही कहे जाय, परन्तु उदात्तादि को स्वर किस आधार पर कहा जाय? तो इस शंका का उत्तर देते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि तद्धर्मत्वात् = अच् का धर्म होने से अर्थात् अच् में रहने के कारण उदात्तादि भी लक्षणा से उसी प्रकार स्वर कहे जाते हैं जिस प्रकार मञ्चस्थ बालक लक्षणा से मञ्च कहे जाते हैं। इसीलिए प्रयोग किया जाता है—'मञ्चाः क्रोशन्ति'। इस प्रकार उदात्तादि को स्वर कहना संगत होता है।

जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का परिचय देते हुए कौमुदीकार ने जो "कपाभ्याम्" ऐसा निर्देश किया है वहाँ ककार और पकार खकार और फकार के भी उपलक्षण हैं। इसलिए ककार और पकार की भाँति खकार और फकार से भी पूर्व में अर्धविसर्ग के सदृश को जिह्वामूलीय और उपध्मानीय कहा जाता है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय में अर्धविसर्ग का सादृश्य लेखन और उच्चारण के आधार पर लिया जाता है।

अनुस्वार और विसर्ग के प्रसंग में जिस "अं" और "अः" का उल्लेख किया गया है, वहाँ पर आया हुआ अकार इकारादि का भी उपलक्षण है। अर्थात् अनुस्वार और विसर्ग का अस्तित्व न केवल अकार से पर में ही होता है अपितु इकारादि अचों के आगे रहने पर भी चिह्न-विशेष को अनुस्वार और विसर्ग कहा जाता है।

"अं अः" कौमुदीस्थ इस पाठ में यह शंका नहीं करनी चाहिए कि हल् पर में न रहने के कारण "अं" यह अनुस्वार युक्त पाठ असंगत है। कारण यह है कि "अं" यह अनुस्वारान्त शब्द का अनुकरण है। यहाँ का अकार स्वरमात्र का उपलक्षण है। इसीलिए कौमुदीकार ने कहा है—"अचः परावनुस्वारविसर्गौ"। अर्थात् अनुस्वार विसर्ग स्वर (अच्) से पर में होते हैं।

ऋकार और लृकार का स्थान भिन्न होने के कारण इनकी सवर्ण संज्ञा नहीं होगी। परिणामस्वरूप "होतृ + लृकारः" इस स्थिति में दीर्घ नहीं होगा और "होतृकारः" इस प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस समस्या के समाधान के लिए वार्तिककार ने वार्तिक बनाया—"ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्" अर्थात् ऋकार और लृकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है। कौमुदी में उल्लिखित इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं—

ऋलृवर्णयोरिति। आ च लृवर्णश्चेति विग्रहः, 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभावः। एतदर्थमेव वर्णोपदेशे लृकारपाठः, अन्यथा तस्यासत्त्वशङ्कयाऽस्य वचनस्यैवाशक्यत्वं स्यात्। ध्वनितश्चेदम् 'एओङि'ति सूत्रशेषे भाष्ये। तत्र हि 'सँय्यन्ते'त्यादौ 'हलोऽनन्तरा' इति सूत्रे—'प्रत्याहारघटकेष्वपि ग्रहणकशास्त्रप्रवृत्त्या मात्राकालिकस्य यद्वयादेरणुदित्सूत्रेण यादिग्रहणेन ग्रहणाद्द्विव्यञ्जनाश्रयो विधिर्न प्राप्नोति—' इत्याशङ्क्य मात्रिकव्यञ्जनानुपदेशादनुपदिष्टस्यासत्त्वादसत्प्रतिपत्तेरशक्यत्वान्नाणुदित्सूत्रेण तद्ग्रहणमित्युक्तम्।

न च क्लृ३प्तशिखेत्यादावनृत इति निषेधात्प्लुतानापत्तिः, ऋलृवर्णयोः पृथगनुबन्धत्वकरणेन क्वचित्परस्पराग्राहकत्वकल्पनेनादोषात्।

"यहाँ "ऋलृवर्णयोः" इस पद में– "आ च लृवर्णश्च" इस प्रकार द्वन्द्वसमास किया गया है। "ऋत्यकः" सूत्र से प्रकृतिभाव होने के कारण ऋकार के स्थान पर सन्धिकार्य सवर्णदीर्घ नहीं हुआ है। मनोरमाकार ने प्रस्तुत पद की सिद्धि करते हुए "आ च आ च रलौ, तौ च तौ वर्णौ "ऋलृवर्णौ तयोः" ऐसा विग्रह किया है। प्रश्न होता है कि नागेश भट्ट ने इस विग्रह की उपेक्षा क्यों की ? उत्तर में कहा जाता है कि "न पदान्ताः परेऽणः सन्ति" अर्थात् पदान्त में अण् प्रत्याहार के अक्षर नहीं रहते। लृ शब्द से यदि सुप् विभक्ति आयेगी तब षष्ठी के एकवचन में उसका "उल्" रूप बनेगा। यहाँ अण् प्रत्याहार का अक्षर लकार पर में है। यह बात उक्त भाष्य से विरुद्ध है, इसलिए लृ शब्द से सुप् का अनभिधान है। ऐसा समझ कर नागेश भट्ट ने दीक्षित के विग्रह की उपेक्षा की है। वस्तुतः विचार किया जाय तो "लृवर्ण" शब्द की सिद्धि भी तो बिना समास के नहीं हो सकती और समास करने के लिए विभक्ति का लाना आवश्यक होता है। ऐसी स्थिति में लृ शब्द से सुप् विभक्ति के अनभिधान की बात अर्थहीन हो जाती है। लृ शब्द के आगे विभक्ति लाने से ही "लृतुलसानां दन्ताः" यहाँ द्वन्द्व समास की सिद्धि होती है। दधि, मधु, कर्तृ, हरे, विष्णो आदि प्रयोगों में अन्त में अण् प्रत्याहार के अक्षर आते ही हैं। ऐसी स्थिति में "न पदान्ताः परेऽणः सन्ति" इस वचन का भाष्यसम्मतत्व भी सन्दिग्ध ही है। इस प्रकार "ऋलृवर्णयोः" इस पद में मनोरमाकार द्वारा किया गया विग्रह समीचीन ही है।

यहाँ शंका होती है कि जिस प्रकार अकार से उसके सवर्णी अठारह अकार गृहीत होते हैं उसी प्रकार ऋकार से ही उसका सवर्णी लृकार भी गृहीत हो सकता है। ऐसी स्थिति मे लृकार का वर्णसमाम्नाय में पाठ क्यों किया गया ? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि एतदर्थमेव = लृकार भी स्वयं अस्तित्वसम्पन्न एक पृथक् वर्ण है, इस बात को बताने के लिए ही वर्णोपदेश में लृकार का पाठ किया गया है। अन्यथा वर्णसमाम्नाय में यदि लृकार का पाठ नहीं होता तो उसके प्रयोग की कमी के कारण लृकार का अस्तित्व ही शंकास्पद हो जाता। लृकार नामक कोई वर्ण भी होता है, इस बात की जानकारी नहीं होती। ऐसी स्थिति में "ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्" इस वचन की भी असंगति होती। यह बात "एओङ्" सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। वहाँ का प्रसंग इस प्रकार है—"सँय्यन्ताः" इस प्रयोग में मकार को अनुस्वार और

उसे "अनुस्वारस्ययि परसवर्णः" सूत्र से परसवर्ण करके जब उक्त रूप (सँय्यन्ता) की सिद्धि होती है तब शंका होती है कि यहाँ एक अनुनासिक यकार और दूसरे निरनुनासिक यकार इन दो व्यञ्जन वर्णों के आधार पर द्विव्यञ्जनाश्रय विधि "हलोऽनन्तराः संयोगः" इस सूत्र से संयोग संज्ञा क्यों नहीं होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने कहा कि यहाँ जो यकार-द्वय हैं ये दोनों "अणुदित्सवर्णस्य" सूत्र के द्वारा यकारग्रहण से गृहीत होंगे। अर्थात् इन्हें यकार रूपी एक ही वर्ण माना जायेगा, इसलिए यहाँ द्विव्यञ्जनाश्रय विधि नहीं होगी।

यदि कहा जाय कि "उच्चारितः प्रत्यायको नानुच्चारितः" इस नियम के आधार पर अणुदित्सूत्रघटक अण् शब्द में अकार के उच्चारित होने से वही अपने सवर्णी का ग्राहक हो सकता है। यकार तो अनुच्चारित है, वह अपने सवर्णी का ग्राहक किस प्रकार होगा ? तो इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि प्रत्याहारघटक वर्णों में भी "अणुदित्" सूत्र की प्रवृत्ति होती है। इसलिए यकार भी अपने सवर्णी यकारद्वय का ग्राहक होगा। इस प्रकार दोनों यकारों को मिला कर एकमात्राकालिक जो यकारद्वय है यह "अणुदित्" सूत्र के द्वारा य-ग्रहणेन गृहीत होगा। इसलिए यहाँ द्विव्यञ्जनाश्रय विधि संयोग संज्ञा तथा "अनचि च" सूत्र से द्वित्व नहीं होगा। यदि कहा जाय कि "वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते" इस नियम के आधार पर यद्वयरूपी वर्ण का एकदेश अनुनासिक यकार वर्णग्रहणेन गृहीत हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि यहाँ दो व्यञ्जन मान कर द्विव्यञ्जनाश्रय विधि होनी चाहिए। इस प्रकार की शंका होने पर उत्तर दिया गया कि "वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्ते" अर्थात् वर्णैकदेश को वर्ण नहीं माना जाता। फलस्वरूप यहाँ दो वर्णों के न होने के कारण द्विव्यञ्जनाश्रय विधि की प्राप्ति नहीं होती है। इस प्रकार की आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि मात्रिक व्यञ्जन का उपदेश नहीं किया गया है और जो चीज अनुपदिष्ट है उसकी सत्ता नहीं रहती और असत् वस्तु की प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं होती है। अतः "अणुदित्" सूत्र से यकारादि शब्दों से यकारद्वय, वकारद्वय आदि का ग्रहण नहीं होता है।

भाष्य के इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि जो वर्ण अनुपदिष्ट होता है, उसकी सत्ता नहीं मानी जाती। यदि लृकार का पाठ वर्णसमाम्नाय में नहीं किया गया होता तो लृकार असत् हो जाता। इसलिए इसका वर्णसमाम्नाय में पाठ किया गया है।

अब शंका होती है कि ऋकार और लृकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा होने पर "हे क्लृ३प्तशिख !" इस प्रयोग में लृकार को प्लुत नहीं होना चाहिए, क्योंकि "गुरोरनृतः" इस प्लुत-विधायक सूत्र में "अनृतः" इस अंश से ऋकार के प्लुत का निषेध कर दिया जाता है। क्योंकि ऋकार और लृकार अब सवर्णी हो गये हैं, इसलिए ऋकार को किया जाने वाला निषेध लृकार पर भी लागू होगा। फलस्वरूप यहाँ प्लुत नहीं होना चाहिए। इस शंका का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि "ओणृ अपनयने" धातु में ऋकार अनुबन्ध किया गया है और "गम्लृ गतौ" धातु में लृकार अनुबन्ध किया गया है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् अनुबन्धकरण से यह बात ज्ञात होती है कि ऋकार और लृकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा होने पर भी कहीं-कहीं अनिष्ट स्थल पर इन दोनों वर्णों में परस्पर ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं होता है। इसलिए "अनृतः" के ऋत् शब्द से लृकार का ग्रहण नहीं हुआ। परिणामस्वरूप प्लुत की सिद्धि हो जाती है।

अकारहकारयोरिति। 'एकारस्य तालव्यत्वमोकारस्यौष्ठ्यत्वमि'ति मतेएकारशकारादीनामप्युपलक्षणमिदम्। एतेन 'नाक्शलौ' इत्येव सूत्रयितुमुचितमित्यपास्तम्। 'हशि चे'त्येव सिद्धे'ऽतोरोरि'त्याकारे व्यावृत्त्यर्थम्। सूत्रे द्विवचनोपपत्तये मध्यमपदलोपिसमासं दर्शयति—आकारसहित इति। अत एव 'वेलास्वि'ति निर्देश उपपद्यते। समाहारद्वन्द्वे तु टच्प्रसङ्गः, अज्झलिति समाहारद्वन्द्वं कृत्वा आपदेन द्वन्द्वे तु अज्भिरप्याकारस्य सावर्ण्यं न स्यादिति भावः। अत एव भाष्ये प्रयत्नभेदेनैषां सावर्ण्याभावः साधितः। एतेषु परेष्विति। इदमुपलक्षणम्—'एतेषु विद्यमानस्ये'त्यपि बोद्ध्यम्, तेन हकारादीनामकारादिषु परतो दीर्घादिसङ्ग्रहः। अच्त्वं स्यादिति। अच्पदबोद्ध्यत्वं स्यादित्यर्थः। इदं 'प्रत्याहारघटकेष्वपि ग्राहकशास्त्रप्रवृत्तिरि'ति मते व्यक्तिपक्षे च बोध्यम्।

"तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" इस सूत्र से समान स्थान और प्रयत्न वाले वर्णों की सवर्ण संज्ञा की जाती है। ऐसी स्थिति में समान स्थान और प्रयत्न वाले अच् वर्णों की हल् वर्णों के साथ सवर्ण संज्ञा होनी चाहिए। इसी अभिप्राय से दीक्षितजी ने कौमुदी में कहा है कि "अकारहकारयोः" इत्यादि। तात्पर्य यह है कि "अकार और हकार, इकार और शकार, ऋकार और षकार तथा लृकार और सकार"—इन वर्णों का परस्पर स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न समान हैं। इसलिए इनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा की प्राप्ति होती है। दीक्षितजी का प्रस्तुत वाक्य न केवल उक्त आठ वर्णों की ही परस्पर सवर्ण संज्ञा की आशंका से कहा गया है अपितु यह एकार और शकारादि का भी उपलक्षण (बोधक) है। कारण यह है कि बह्वृच्-प्रातिशाख्य में कहा हुआ है कि "तालव्यावेकारचवर्गाविकारैकारौ यकारः शकारः शेष औष्ठ्योपपादयितव्यः"। तात्पर्य यह है कि एकार, चवर्ग, इकार, ऐकार, यकार और शकार—ये वर्ण तालव्य हैं और इन से शेष वर्ण औष्ठ्य हैं। इसके अनुसार एकार और शकार की भी स्थान और प्रयत्न की एकता के कारण सवर्ण संज्ञा प्राप्त होती है। यदि इनकी सवर्ण संज्ञा हो जायेगी तब "पर्यङ्के शेते", "करवावहै शयनम्" इन प्रयोगों में अय् और आय् आदेश की आपत्ति हो जायेगी। इस प्रकार हकारादि वर्णों के साथ अकारादि वर्णों की सवर्ण संज्ञा की प्राप्ति होने पर उसके निवारण के लिए पाणिनि का "नाज्झलौ" यह सूत्र प्रस्तुत होता है। इसके द्वारा दीर्घ और प्लुत अकार और अच् की हल् वर्णों के साथ सवर्ण संज्ञा का निषेध कर दिया जाता है, जिससे "दधि + हरति" आदि प्रयोगों में यणादि की आपत्ति नहीं रहती है।

न्यासकार ने "नाज्झलौ" की जगह "नाक्शलौ" ऐसा न्यास करना चाहिए, ऐसा कहा था। उनका तात्पर्य यह रहा होगा कि तीनों सकार और हकार इन चार वर्णों की ही अकारादि चार वर्णों (अ, इ, ऋ, लृ) के साथ स्थान और प्रयत्न की एकता के कारण सवर्ण संज्ञा प्राप्त होती है। ये चारों वर्ण अक् प्रत्याहार में आते हैं और तीनों शकार और हकार—ये शल् प्रत्याहार में आते हैं। इसलिए "नाक्शलौ" यही न्यास उचित है। किन्तु न्यासकार का यह कथन इसलिए ठीक नहीं है कि न केवल उपर्युक्त चार स्थानों में ही सवर्ण संज्ञा की प्राप्ति होती है अपितु एकार और शकार की भी सवर्ण संज्ञा की प्राप्ति होती है, जैसा की ऊपर बताया जा चुका है।

ऐसी स्थिति में "नाक्शलौ" इस न्यास से कार्य नहीं चल सकता है, इसलिए "नाज्झलौ" यही न्यास ठीक है। यहाँ "एतेन" इस पद का अर्थ है—"पर्यङ्के शेते" इत्यादि प्रयोगों में एकार और शकार विषयक सवर्ण संज्ञा के दोष के कारण न्यासकार का कथन परास्त है। यदि कहा जाय कि अकार और हकार की सवर्ण संज्ञा यदि हो जाय तो "शिवोऽर्च्यः" इस प्रयोग में हकारग्रहणेन अकार का ग्रहण करके "हशि च" इस सूत्र से ही रु के स्थान पर उकार करके कार्य चल सकता है। ऐसी स्थिति में अतो रोः" यह सूत्र व्यर्थ होकर अच् और हल् की परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती है, ऐसा ज्ञापन कर देगा। इस प्रकार "नाज्झलौ" यह सूत्र अनावश्यक है? तो इस शंका के उत्तर में नागेश भट्ट का कहना है कि "अतो रोः" यह सूत्र व्यर्थ नहीं है, वह तो "श्व आगन्ता" इस प्रयोग में जहाँ दीर्घ आकार पर में है वहाँ रुत्व को उत्व की व्यावृत्ति के लिए सार्थक है। "अति" इस पद में तपरकरण से दीर्घ आकार पर में रहने पर इसकी प्रवृत्ति वहाँ नहीं होती है। इस प्रकार दीर्घ आकार में उत्व की व्यावृत्ति के लिए सार्थक "अतो रोः" यह सूत्र अच् और हल् के सावर्ण्याभाव का ज्ञापक नहीं हो सकता, इसलिए "नाज्झलौ" यह सूत्र आवश्यक है। इस सूत्र में "आज्झलौ" इस पद में द्विवचन की उपपत्ति के लिए कौमुदीकार ने कहा है—"आकारसहितोऽच् आच्"। यहाँ मध्यमपद "सहित" का लोप कर दिया गया है। इस प्रकार यहाँ मध्यमपदलोपी समास है। इस सूत्र में पूरी समास की प्रक्रिया इस प्रकार है—"आ२श्च आ३श्च इति औ"। दीर्घ और प्लुत आकारों को दीर्घ करके आ शब्द से औ विभक्ति लाने पर वृद्धि करने से "औ" यह रूप बनता है। इसके बाद "आभ्यां सहितः" इस विग्रह में "कर्तृकरणे कृता" इस सूत्र से समास करके "आसहितः" इस पद की सिद्धि होती है। तत्पश्चात् "आसहितश्चासौ अच् चेति आच्" यह मध्यमपदलोपी समास होता है। इसके बाद "आच् च हल् चेति आज्झलौ" इस द्विवचनान्त पद की निष्पत्ति होती है। सूत्र में "न आज्झलौ" ऐसा पदच्छेद है।

इस उपर्युक्त प्रक्रिया से स्पष्ट है कि "आज्झलौ" इस पद में दीर्घ और प्लुत आकार भी प्रश्लिष्ट हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दीर्घ और प्लुत आकार तथा अच् की हल् के साथ सवर्ण संज्ञा नहीं होती। इसका फल यह होता है कि "कालसमयवेलासु तुमुन्" इस सूत्र में "वेलासु" यह निर्देश संगत होता है। अन्यथा दीर्घ आकार की हल् के साथ सवर्ण संज्ञा का निषेध न करने पर उन दोनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा हो जाती। इसका परिणाम यह होता कि "आदेशप्रत्यययोः" सूत्र के इण् पद से हकार के सवर्णी आकार का ग्रहण करके उससे पर में "वेलासु" के सकार को मूर्धन्य षकार हो जाता। इस प्रकार आकार के प्रश्लेष का यह फल है।

यहाँ सन्देह होता है कि यदि आकार का अच् के साथ समाहार द्वन्द्व कर दिया जाय और उसके बाद हल् पद के साथ इतरेतरयोगद्वन्द्व किया जाय, तब भी "नाज्झलौ" इस सूत्र में द्विवचन की उपपत्ति हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ मध्यमपदलोपी समास क्यों किया गया? इस शंका के उत्तर में नागेश भट्ट का कहना है कि यदि यहाँ समाहारद्वन्द्व किया जायेगा तो "द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्" सूत्र से टच् प्रत्यय होने लगेगा, जिससे सूत्र का स्वरूप ही नहीं बन सकेगा। आ और अच् का इतरेतरयोग द्वन्द्व करने पर टच् की प्राप्ति नहीं होगी, किन्तु

उसके बाद जब हल् पद के साथ "आचौ च हल् च" इस विग्रह में इतरेतरयोग द्वन्द्व किया जायेगा तब बहुवचनापत्ति होगी। यद्यपि अच् और हल् का पहले समाहार द्वन्द्व करके "अज्झल्" इस पद का 'आ' पद के साथ इतरेतरयोग द्वन्द्व करके "आज्झलौ" यह निर्देश बनाया जा सकता है, तथापि यह प्रक्रिया इसलिए ठीक नहीं है कि ऐसा करने पर सूत्रार्थ इस प्रकार होगा कि "अज्झल् की आकार के साथ सवर्ण संज्ञा नहीं होती है"। इस प्रकार अच् के साथ भी आकार की सवर्ण संज्ञा नहीं हो सकेगी। इसे इष्टापत्ति नहीं कह सकते अर्थात् आकार की अच् के साथ सवर्ण संज्ञा नहीं होती है, ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि ऐसा करने से "दैत्यारिः" आदि प्रयोगों में सवर्णदीर्घ की अनापत्ति आदि अनेक दोष उपस्थित हो जायेंगे। अत एव = दीर्घ और प्लुत आकार का प्रश्लेष करके हल् के साथ उनके सावर्ण्य का निषेध करने से ही यह बात संगत होती है कि आकार-सहित अच् और हल् की परस्पर सवर्ण संज्ञा के निषेध में ही सूत्रकार का तात्पर्य है। इसीलिए भाष्यकार ने अच् प्रत्याहार के वर्णों का विवृत और शल् प्रत्याहार के वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न मान कर प्रयत्नभेद के आधार पर इनके सावर्ण्याभाव को सिद्ध किया है। यदि अकार और आकार का भी सावर्ण्याभाव सूत्रकार को अभिप्रेत होता तो भाष्यकार के द्वारा उसका भी संकेत किया गया होता।

"नाज्झलौ" इस सूत्र का उदाहरण देते हुए कौमुदीकार ने कहा है कि "दधि" के आगे "हरति", "शीतलम्" "षष्ठम्" और "सान्द्रम्" के पर में रहने पर यणादि कार्य नहीं हुए। यहाँ यणादि के आदि शब्द से सवर्णदीर्घ का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यदि इकार और शकार की सवर्ण संज्ञा हो जाती तो "दधि + शीतलम्" इस स्थिति में सवर्णदीर्घ होने लगता। कौमुदी में जो "इत्येतेषु परेषु" में "परेषु" यह पद है वह "हरति" इत्यादि पदों में विद्यमान अचों का उपलक्षण है। तात्पर्य यह है कि यदि अच् और हल् की सवर्ण संज्ञा हो जाती तो "हरति" आदि पदों में विद्यमान अचों के आधार पर भी सन्धिकार्य होने लगता। जैसे—हरति में हकार के आगे अकार को लेकर हकार और अकार का सवर्णदीर्घ होने लगता। इसी प्रकार शीतल शब्द में शकार के आगे ईकार को लेकर शकार और ईकार के स्थान पर सवर्णदीर्घ होने का प्रसंग था। इसी प्रकार "षष्ठम्" और "सान्द्रम्" पदों में यण् की आपत्ति हो सकती थी, किन्तु "नाज्झलौ" सूत्र से अच् और हल् की सवर्ण संज्ञा का निषेध होने के कारण ये सभी कार्य न हो सके।

दीक्षितजी ने कौमुदी में कहा है कि यदि "नाज्झलौ" सूत्र नहीं रहता तो जिस प्रकार ग्रहणक-सूत्र के बल से दीर्घादि में अच्त्व धर्म आ जाता है, उसी प्रकार हकारादि में भी अच्त्व आ जाता।

यहाँ प्रश्न होता है कि दीर्घ आकारादि तो स्वयं अच् हैं, इसलिए उनमें अच् का धर्म अच्त्व तो स्वयं सिद्ध है, किन्तु हकारादि हल् वर्णों में अच् का धर्म अच्त्व कैसे आयेगा? नागेश भट्ट इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि यहाँ "अच्त्वं स्यात्" इस वाक्य का अर्थ है—"अच्पदबोध्यत्वं स्यात्" अर्थात् यदि अच् और हल् की सवर्ण संज्ञा का निषेध नहीं किया गया होता तो जिस प्रकार वर्णसमाम्न्याय में अपठित दीर्घादि अच्पदबोध्य होते हैं, उसी प्रकार अकारादि के सवर्णी हकारादि भी अच्पदबोध्य हो जाते। हल् में अच्निष्ठ धर्म अच्त्व

तो यत्नसहस्र से भी नहीं लाया जा सकता, किन्तु सवर्ण संज्ञा के आधार पर हकारादि वर्णों की अच्पदबोध्यता तो हो ही जाती।

अब यहाँ एक यह विचार उपस्थित होता है कि "उच्चारितः शब्दः प्रत्यायको भवति नानुच्चारितः" यह एक नियम है। इस नियम के आधार पर अच् पद में उच्चारित अकार अपने सवर्णी का प्रत्यायक (बोधक) हो सकता है, किन्तु इकारादि वर्ण, जो अनुच्चारित हैं, वे अपने सवर्णी के प्रत्यायक किस प्रकार होंगे? ऐसी स्थिति में शकारादि वर्णों में अच्पदबोध्यत्व की आशंका से कहा गया "हकारादि" पद में आदि ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर देते हुए शेखरकार का कहना है कि इदम् = हकारादि वर्णों में 'अणुदित्' सूत्र से जो अच्पदबोध्यत्व के आपादन की बात है, वह इस आशय से कही गई है कि प्रत्याहारघटक और अनुच्चारित द्वितीयादि वर्णों में भी अणुदित् सूत्र की प्रवृत्ति होती है। प्रस्तुत में इकारादि वर्ण, जो अनुच्चारित हैं, उनमें भी "अणुदित्" सूत्र की प्रवृत्ति हो सकती है और वह भी अपने सवर्णी का बोधक हो सकता है। इसीलिए "हकारादीनाम्" इस पद में आदिग्रहण करके उससे शकारादि का ग्रहण किया जाता है। यदि "नाज्झलौ" सूत्र नहीं रहता तो दीर्घादि की भाँति शकारादि भी अच्पदबोध्य होने लगते।

यह सारा शंका-समाधान व्यक्तिपक्ष में ही है, क्योंकि जातिपक्ष में तो इत्व और शत्व जाति के भिन्न-भिन्न होने से इकार आदि वर्णों से शकार आदि के ग्रहण का प्रश्न ही नहीं होता है।

इससे पूर्व "अणुदित्" सूत्र से सवर्णग्राहकता की बात आई है। इस प्रसंग में अब इस सूत्र की व्याख्या के उद्देश्य से कहा गया है—

अणुदि। अणमुद्दिश्य सवर्णबोधकताऽत्र विधीयते। 'सवर्णस्ये'त्यस्य 'बोधक' इति शेषः। आदेशादौ सवर्णग्रहणवारणायाह—प्रतीयते इति।

परे तु—'प्रत्ययग्रहणमेकदेशानुमत्या 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं ने'ति परिभाषां ज्ञापयतीति युक्तम्। प्रत्ययपदस्य तदर्थत्वन्तु न युक्तं—वार्तिककृता टित्किन्मित्सूपसङ्ख्यानोक्तेः। भाष्यकृता चा'प्रत्ययग्रहणमेतत्परिभाषाज्ञापकमि'त्युक्तम्। 'ज्यादादीयसः' इति सूत्रे भाष्ये ध्वनितमिदम्। तत्र हि—"किमर्थमादित्युच्यते? 'ज्याद' इत्येवोच्यतां, का रूपसिद्धिः? आन्तर्यतो दीर्घस्य दीर्घो भविष्यति, एवन्तर्हीदमेव ज्ञापयति भवत्येषा परिभाषा—'भाव्यमानेन'—" इत्यादि। त्वदुक्तव्याख्याने हि पूर्वपक्षसिद्धान्तयोरुभयोरपि निर्दलत्वापत्तिः।

यह सूत्र अण् को उद्देश्य करके सवर्णबोधकता का विधान करता है। सूत्र में आये हुए "सवर्णस्य" इस पद के आगे "बोधकः" इस पद का अध्याहार कर लेना चाहिए। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ होता है कि अविधीयमान अण् और उदित्—ये अपने सवर्णी के बोधक (संज्ञा) होते हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि अविधीयमान इस अंश का सम्बन्ध केवल अण् के साथ है। उदित् के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। इसलिए उदित् चाहे विधीयमान हो या अविधीयमान हो, वह अपने सवर्णी का बोधक होता है। इसीलिए "चोः कुः" इस सूत्र से

विधीयमान "कु" इस अंश में उदित्करण किया गया सार्थक होता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि अण् प्रत्याहार के वर्ण अपने सवर्णी के बोधक होते हैं, इसलिए बोधक होने के कारण वे संज्ञा कहलाते हैं और उनके सवर्णी बोध्य होने के कारण संज्ञी कहे जाते हैं। इसीलिए दीक्षितजी ने कौमुदी में कहा है—"अ इत्यष्टादशानां संज्ञा" अर्थात् अकार अठारह प्रकार के अकारों की संज्ञा है।

कौमुदीकार ने "अप्रत्यय" पद में आये हुए प्रत्यय शब्द को प्रत्यय अर्थ में रूढ़ न मानकर उसे यौगिक माना है। यौगिक का तात्पर्य है कि प्रत्यय शब्द "प्रतीयते = विधीयते इति प्रत्ययः" इस व्युत्पत्ति में प्रति पूर्वक इण् धातु से कर्म अर्थ में अच् प्रत्यय करने से बना है। इसका अर्थ है—विधीयमान। दीक्षितजी ने इस प्रकार प्रत्यय पद को विधीयमानपरक इसलिए माना है कि यदि ऐसा नहीं माना गया होता तो केवल प्रत्यय अंश में ही सवर्णग्रहण का वारण होता, आगम और आदेश अंश मे नहीं होता। सवर्णग्रहण का वारण तो आदेशादि स्थल में भी अभीष्ट है, इसलिए प्रत्यय पद को विधीयमानपरक मान कर प्रत्यय, आगम तथा आदेश—इन तीनों स्थलों में सवर्णग्रहण का निषेध (वारण) किया गया है।

नागेश भट्ट कौमुदीकार के इस मत से सहमत नहीं हैं। अपनी बात को "परे तु" शब्द से कह रहे हैं। इनका कहना है कि यदि प्रत्यय पद यौगिक होता तो उसके योगार्थ से ही आदेश, आगम और प्रत्यय इन सभी विधीयमानों का ग्रहण हो सकता था। ऐसी स्थिति में "टित्, कित्, मित्" आदि आगमादि स्थलों में "अप्रत्यय" ग्रहण से ही सवर्ण संज्ञा का निषेध हो सकता था, तो वार्तिककार को "अप्रत्ययादेशटित्किन्मित इति वक्तव्यम्" इस वार्तिक को बनाने की क्या आवश्यक्ता थी? इसलिए यहाँ का प्रत्यय पद योगार्थक नहीं है, किन्तु वह प्रत्यय अर्थ में रुढ़ है। इस प्रकार का यह प्रत्यय पद "एकदेशानुमत्या भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न" इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। तात्पर्य यह है कि भाव्यमान तो प्रत्यय, आगम और आदेश ये तीनों ही हैं। इन तीनों में प्रत्ययांश में प्रमाण तो सूत्रकार ने "अप्रत्ययः" ऐसा कह कर स्वयं दे दिया है कि प्रत्यय से भिन्न अण् सवर्ण का ग्राहक होता है। इस प्रकार परिभाषा के एक अंश में प्रमाण मिल जाता है। जब एक अंश में प्रमाण मिल गया तो स्थालीपुलाक न्याय से भाव्यमान परिभाषा सर्वांश में प्रमाणित हो जाती है। यदि कहा जाय कि "भाव्यमान परिभाषा" के ज्ञापन के बाद प्रत्यय पद की स्वांश में चरितार्थता किस प्रकार होगी? तो इसका उत्तर यह है कि भाव्यमान प्रत्यय से भिन्न ही होता है, इस भ्रम के निवारण के लिए प्रत्यय पद स्वांश में चरितार्थ है। अर्थात् प्रत्यय भी भाव्यमान होता है, जिसकी सवर्णग्राहकता का निषेध इस परिभाषा से होता है। दूसरी बात यह है कि प्रत्ययग्रहण से ज्ञापित इस परिभाषा की प्रवृत्ति उदित् अंश में नहीं होती है, इस बात को सरलता से बताने के लिए भी सूत्र में प्रत्ययग्रहण स्वांश में चरितार्थ है। भाष्यकार ने भी कहा है कि 'अप्रत्यय' ग्रहण इस भाव्यमान परिभाषा का ज्ञापक है। वस्तुतस्तु प्रत्ययांश में सवर्णग्रहण का अनभिधान करने से, आगम अंश में "वृतो वा" इससे दीर्घविधान करने के कारण तथा आदेश अंश में "ई हल्यघोः" इस प्रकार दीर्घविधान करने से सवर्णग्रहणाभाव जब सिद्ध ही था, तब ऐसी स्थिति में "अणुदित्" सूत्र में किया गया "अप्रत्यय" ग्रहण व्यर्थ होकर

ज्ञापन करता है कि "भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न"। इस प्रकार यह परिभाषा ज्ञापित होती है।

प्रत्यय पद यहाँ यौगिक नहीं है, इस बात में भाष्य का प्रमाण देते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि "ज्यादादीयसः" इस सूत्र के भाष्य में इदम् = प्रत्यय पद का विधीयमान अर्थ करना अयुक्त हैं, यह बात ध्वनित है। वहाँ का ध्वनन-प्रकार इस तरह है- प्रशस्य शब्द से ईयसुन् प्रत्यय करने पर 'ज्य च' सूत्र से जब प्रशस्य शब्द के स्थान पर "ज्य" आदेश कर दिया जाता है तब "ज्य + ईयस्" इस स्थिति में उपर्युक्त सूत्र ज्य शब्द से पर में रहने वाले ईयस् के ईकार को आकार आदेश करता है। उक्त सूत्र का पदच्छेद इस प्रकार है—"ज्यात् + आत् ईयसः" भाष्यकार ने यहाँ शंका की कि यहाँ "आत्" ऐसा कहने की क्या आवश्यकता है? यहाँ तो "ज्याद ईयसः" ऐसा ही न्यास करना चाहिए इसका अर्थ होगा कि ज्य से पर में ईयस् के ईकार को अकार होता है। ऐसा कह कर पुनः भाष्यकार ने कहा कि ऐसा करने से किस प्रकार के रूप की सिद्धि होगी? ऐसी आशंका करके कहा कि यहाँ आन्तरतम्यात् (सादृश्यात्) दीर्घ ईकार के स्थान पर दीर्घ आकार हो जायेगा, जिससे वाञ्छित रूप "ज्यायान्" की सिद्धि हो जायेगी। इस प्रकार सूत्रस्थ "आत्" ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न"। इस परिभाषा के ज्ञापित होने पर भाव्यमान अकार दीर्घ आकार का बोधक नहीं हो सकेगा, इसलिए सूत्र में आत् ग्रहण की स्वांश में चरितार्थता होती है।

यदि प्राचीनों के अनुसार "अणुदित्" सूत्र का प्रत्यय पद विधीयमानपरक है तब "अप्रत्यय" इस अंश से सावर्ण्य का निषेध हो जाने के कारण भाष्यकार का यह कथन कि यहाँ "आत्" का विधान क्यों किया गया है? ऐसा पूर्वपक्ष तथा इस आत् ग्रहण से परिभाषा ज्ञापित होती है यह उत्तरपक्ष दोनों असंगत हो जाते। क्योंकि प्राचीनों के अनुसार जब अप्रत्यय ग्रहण से निषेध हो जाता तो अकार का सवर्णी दीर्घाकार वहाँ हो ही नहीं सकता था तो "किमर्थमात इत्युच्यते" यह कैसे कहा जा सकता था? इससे स्पष्ट है कि "अणुदित्" सूत्र का प्रत्यय पद यौगिक विधीयमान अर्थपरक नहीं है।

यहाँ "इदमेव ज्ञापयति" इस वाक्य में आये हुए 'इदम्' पद का अर्थ आत्ग्रहण है। यहाँ के एवकार से यह सूचित होता है कि यहाँ का "आत्" ग्रहण ही भाव्यमान परिभाषा का वास्तविक ज्ञापक है, क्योंकि परिभाषा के ज्ञापन के बाद इसकी स्वांश में चरितार्थता भी स्पष्ट है। "अणुदित्" सूत्र में नागेश भट्ट ने जो कहा है कि 'प्रत्ययग्रहणमेंकदेशानुमत्या परिभाषां ज्ञापयति" इसका तात्पर्य यह है कि "ज्यादादीयसः" सूत्र का "आत्" ग्रहण सामान्यापेक्ष ज्ञापक के रूप में भाव्यमान परिभाषा का ज्ञापन करता है। इस बात को "अणुदित्" सूत्र का प्रत्यय पद बोधित करता है।

जातिपक्षेऽप्यनयैव परिभाषया सवर्णग्रहणं वारणीयं, व्यक्तिपक्षे गुणाभेदकत्वप्राप्तश्च वारणीयम्, तेन 'घटवदि'त्यादौ नानुनासिको वकारः। एतेन— 'अजुदिदित्येव सिद्धेऽण्ग्रहणेन यण्सु गुणभेदकत्वं ज्ञाप्यते' इति परास्तम्—इत्याहुः।

जातिपक्ष में भी प्राप्त सवर्णग्रहण का इसी परिभाषा से वारण करना चाहिए। व्यक्तिपक्ष में "गुणा अभेदकाः" इस परिभाषा से प्राप्त सवर्णग्रहण का वारण करना चाहिए। इसलिए

"घटवत्" प्रयोग में मतुप् के मकार के स्थान पर विधीयमान वकार अनुनासिक नहीं होता है, क्योंकि भाव्यमान परिभाषा से यहाँ सवर्णग्रहण का निषेध कर दिया जाता है।

प्रस्तुत प्रकरण के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ प्राचीन वैयाकरणों के मत का जानना भी आवश्यक है। वह इस प्रकार है-

सवर्ण का ग्रहण तीन प्रकार से प्राप्त होता है—(१) अण्ग्रहण से, (२) जातिपक्ष के द्वारा तथा (३) 'गुणा अभेदका' इस परिभाषा के द्वारा। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि "अणुदित्" सूत्र में अण्ग्रहण व्यक्तिपक्ष में है। जातिपक्ष में तो यह प्रत्याख्यात है। दीक्षित का मत है कि इन तीनों प्रकारों में अण्ग्रहण के द्वारा प्राप्त सवर्णग्रहण का तथा जातिपक्ष से प्राप्त सवर्णग्रहण का निषेध "अप्रत्यय" ग्रहण से होता है। किन्तु "गुणा अभेदकाः" इस परिभाषा से व्यक्तिपक्ष में प्राप्त सवर्णग्रहण का निषेध "अप्रत्यय" ग्रहण से नहीं होता है। इसीलिए "इको यणचि" सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर वे मनोरमा में कहते हैं कि "भाव्यमानेन सवर्णाग्राहकत्वेऽपि गुणानामभेदकत्वेनानुनासिकानामपि यवलानां ग्रहणात्" अर्थात् यहाँ विधीयमान होने के कारण यण् यद्यपि अपने सवर्णी के ग्राहक नहीं हो सकते, किन्तु "गुणा अभेदकाः" इस नियम से तो यहाँ अनुनासिक यवल का ग्रहण तो होगा ही। दीक्षित के इस कथन से स्पष्ट है कि वे "गुणा अभेदकाः" इस नियम से प्राप्त सवर्णग्रहण का निषेध "अप्रत्यय" ग्रहण से नहीं करते हैं। ऐसी स्थिति में यण् में सवर्णग्रहण न हो सके इसलिए वे कहते हैं कि "अणुदित्" सूत्र में जो अण् ग्रहण किया गया है उससे यण् प्रत्याहार के लिए "गुणा भेदकाः" ऐसा ज्ञापन कर लेना चाहिए। यदि यण् में भी सवर्णग्रहण अभीष्ट होता तो उसमें "गुणा अभेदकाः" इस परिभाषा से ही सवर्णग्रहण सम्भव था। ऐसी स्थिति में केवल अच् प्रत्याहार के लिए सवर्णग्रहण कराने के लिए "अणुदित्" की जगह "अजुदित्" ऐसा पाठ करना उचित होता। किन्तु ऐसा पाठ न करके "अणुदित" इस रूप से जो पाठ किया गया है उससे यही समझते हैं कि 'यण्' में "गुणा भेदकाः" पक्ष है। इस प्रकार मनोरमाकार के मतानुसार अण्ग्रहण से तथा जातिपक्ष से प्राप्त सवर्णग्रहण का निषेध, अप्रत्यय ग्रहण से होता है किन्तु "अभेदकाः गुणाः" इस पक्ष से प्राप्त सवर्णग्रहण का निषेध अप्रत्यय ग्रहण से नहीं होता है।

नागेश भट्ट इस बात से सहमत नहीं है। इनका कहना है कि अण् ग्रहण से, जातिपक्ष में तथा व्यक्तिपक्ष में "गुणा अभेदकाः" इस परिभाषा से इन सभी प्रकारों से प्राप्त सवर्णग्रहण का निषेध विधीयमान स्थल में "भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न" इस परिभाषा से ही करना चाहिए। यण् में सवर्णग्रहणाभाव के लिए "गुणा भेदकाः" इस प्रकार के ज्ञापन की कोई आवश्यकता नहीं है।

एतेन = अवश्य स्वीकरणीय भाव्यमान परिभाषा से "घटवत्" इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि हो जाने के कारण "गुणा भेदकाः"इस प्रकार के ज्ञापन के अनावश्यक होने के कारण, अथवा व्यक्तिपक्ष में "गुणा अभेदकाः" इस नियम से प्राप्त सवर्णग्रहण का भाव्यमान परिभाषा से निषेध कर देने के कारण अथवा सिद्धान्तपक्ष में "गुणा भेदकाः" इस पक्ष का अस्तित्व न होने के कारण प्राचीनों का यह कथन परास्त समझना चाहिए कि "अजुदित्" पाठ से ही कार्य चल

सकता था तो 'अणुदित्' पाठ से यण् प्रत्याहार के लिए "गुणा भेदकाः" ऐसा ज्ञापन किया जाता है। क्योंकि उपर्युक्त रीति से इस प्रकार के ज्ञापन की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

ननु 'चोरि'त्यादावनुवादे कथमुदित्त्वमिति चेन्न, व्याकरणान्तरे एषामुदित्सञ्ज्ञकत्वेनादोषात्। उपदेशशब्दस्य करणसाधनत्वेन शास्त्रपरत्वे तस्यापि शास्त्रत्वेनेत्त्वप्रवृत्तेः सुलभत्वाच्च। चो भिन्नक्रम इत्याह—उदिच्चेति। यद्यपि समुदाय-सवर्णिनोऽप्रसिद्धास्तथापि तदवयव-चादिसवर्णा एवात्र तत्सवर्णा बोद्ध्याः। ह्रस्वाकाराद्यो[दे]रपि काल-पुरुषाद्युपाधिभेदेन स्थानेषु भेदमारोप्य तुल्यस्थानत्वं सूपपादम्।

यहाँ शंका होती है कि "चोः कुः" सूत्र में जहाँ चवर्ग को उद्देश्य बना कर कवर्ग का विधान किया जाता है वहाँ "चु" इस अनुवाद (उद्देश्य) अंश में उकार की इत्संज्ञा किस प्रकार होगी? क्योंकि इसमें आद्योच्चारणरूप उपदेशत्व का अभाव है। ऐसी स्थिति में "चु" इत्यादि अनुवाद का उदित्त्व कैसे हो सकता है? विधेयांश "कु" इस भाग के लिए यह प्रश्न नहीं है, क्योंकि चवर्ग का कवर्ग होना एक प्रकार से अज्ञातस्वरूपज्ञापकोच्चारण रूप उपदेश ही है। इसलिए इस भाग में उदित् के सम्भव होने पर भी अनुवाद भाग में उदित्त्व किस प्रकार सम्भव है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि व्याकरणान्तर में एषाम् = चादि की उदित् संज्ञा की गई है। उसी आधार पर यहाँ इन्हें उदित् कहा गया है। अथवा उपदेश शब्द जब करण-घञन्त है, तब यह (शास्त्र) धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, निपात, आगम और आदेश का वाचक होता है। इस पक्ष में प्रातिपदिक होने के कारण तस्यापि= अनुवाद का भी उपदेशत्व सुरक्षित है, इसलिए इसके उकार की इत्संज्ञा करके उसे उदित् कहने में कोई बाधा नहीं है। यहाँ "तस्यापि" इस पद में आये हुए "अपि" इस पद से विधेय का समुच्चय होता है। अर्थात् शास्त्र होने के कारण उद्देश्य और विधेय दोनों उपदेश हैं, अतः दोनों के उदित्त्व में कोई सन्देह नहीं है।

"अणुदित्" सूत्र में चकार भिन्नक्रम है। भिन्नक्रम का तात्पर्य है—"अन्यत्र पठित का अन्यत्र अन्वय"। प्रस्तुत सूत्र में चकार अप्रत्यय के साथ पढा गया है, किन्तु उसका अन्वय उदित् के साथ हुआ हैं। इसीलिए मूल में कहा गया है—"उदिच्च"। इस प्रकार उदित् भी अपने सवर्णी का ग्राहक होता है।

यहाँ उदित् के द्वारा अपने सवर्णी के ग्रहण की बात कही गई है, किन्तु सवर्ण संज्ञा तो चवर्गादि वर्ण में आये हुए अक्षरों की परस्पर में होती है। इत्संज्ञक उकार-विशिष्ट जो "कु चु" आदि समुदाय हैं, इनका तो कोई सवर्णी होता ही नहीं। ऐसी स्थिति में उदित् के द्वारा सवर्णी के ग्रहण की बात उचित नहीं प्रतीत हो रही है? इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि यद्यपि समुदाय = उकार अनुबन्ध सहित "चु" आदि समुदाय के सवर्णी अप्रसिद्ध हैं, तथापि उसके अवयव चकार आदि वर्णों के सवर्णी जो छकारादि वर्ण हैं वे ही यहाँ "चु" आदि समुदाय के सवर्णी हैं, ऐसा समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वर्ग (कवर्गादि) के पाँचों अक्षरों की परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है। इसलिए जहाँ कही कवर्गादि का विधान किया जाता है, वहाँ प्रयत्नानुकूल कवर्ग का सवर्णी या चवर्गादि का सवर्णी वर्ण

विधेय होता है। जैसे "वाग्घरिः" प्रयोग में ककार का सवर्णी घकार हकार के स्थान पर होता है।

अब विचार यह होता है कि "अणुदित्" सूत्र ग्राहक सूत्र है। जिन वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है उनका ग्रहण कराना इसका कार्य है। सवर्ण संज्ञा में स्थान और प्रयत्न की तुल्यता वाञ्छित है। ऐसी स्थिति में दो अकारों का स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न एक होने से उनकी सवर्ण संज्ञा ही नहीं होगी तो दो ह्रस्वाकारों का ग्रहण "अणुदित्" सूत्र से किस प्रकार होगा? इस प्रकार की शंका के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि काल और पुरुष के भेद से प्रत्येक वर्ण भिन्न होते हैं। एक ही अकार का उच्चारण यदि भिन्न काल में किया जाता है तो वे दोनों अकार भिन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पुरुषों के द्वारा उच्चारित अकार भी भिन्न ही हैं। इस प्रकार काल और पुरुष रूप उपाधियों में जो भेद है, उस भेद का आरोप स्थानों में करके भेदघटित जो तुल्यत्व (सादृश्य) है उसके आधार पर दो ह्रस्व अकारों के तुल्यस्थानत्व का उपपादन हो सकता है।

वर्णसमाम्नाय में णकार दो बार अनुबन्ध के रूप में आया है। एक तो "अइउण्" सूत्र में और दूसरा "लण्" सूत्र में। सन्देह होता है कि "अणुदित्" सूत्र में जो अण् का उल्लेख हुआ है उसे पूर्वणकार (अइउण्) के णकार तक माना जाय अथवा "लण्" के णकार तक माना जाय? दीक्षितजी ने इस शंका के समाधान में कहा है—"अत्रैवाण् परेण णकारेण" इसी सूत्र में अण् प्रत्याहार परणकार तक लेना चाहिए। नागेश भट्ट दीक्षित की इस उक्ति की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं।

अत्रेति। ग्राहकसूत्र एवेत्यर्थः। व्याख्यानादिति भावः। 'उपसर्गा-दृती'त्यादितपरकरणादिति तु न युक्तम्, लृकारग्रहणेन चारितार्थ्यात्। एवमिणपि—परेणैव, 'अचि श्नुधा'ति सूत्रे—'इण' इत्येव सिद्धे 'य्वोरि'ति गुरुनिर्देशाद्व्याख्यानाच्चेति लण्सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। नन्वेवम्—'अस्य च्वा'वित्यादौ सवर्णग्रहणं न प्राप्नोति, अण्ग्रहणेन वर्णसमाम्नायस्थानामेव ग्रहणेन—णकारादिचिह्नेन प्रत्याहारे तत्रत्यभिज्ञानेन तत्रत्याद्यवर्णोपस्थितेषु—उच्चारिताभेदेन गृहीतेषु सूत्रस्य चारितार्थ्येन, व्यक्तिपक्षे तत्रत्यात्रत्यव्यक्त्योर्भेदेन—प्रकृते प्रत्याहारघटकद्वितीयवर्णादौ चोच्चारितस्यैव ग्राहकत्वादप्रवृत्तेरिति चेन्न, जातिपक्षाश्रयणेनादोषात्।

अत एवानेकतकारादीनां झल्त्वादिसिद्धिः।

अत्र का अर्थ ग्राहक (अणुदित्) सूत्र है, इस सूत्र में ही अण् प्रत्याहार पर णकार से लेना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि "उरण् रपरः" इत्यादि सूत्रों में सभी जगह अण् प्रत्याहार पूर्व णकार तक ही लिया जाता है। सन्देह होता है कि ऐसा अवधारण किस आधार पर किया जाय कि "अणुदित्" सूत्र में ही पर णकार तक अण् प्रत्याहार माना जाय? इसके उत्तर में शेखरकार का कहना है कि "व्याख्यानात्" अर्थात् ज्ञापकात् = ज्ञापक प्रमाण होने के कारण इस सूत्र में अण् प्रत्याहार पर णकार तक मानना चाहिए।

इस कथन में "उर्ऋत्" सूत्र में किया गया तपरकरण ही प्रमाण है। चुरादिण्यन्त "कृत्" धातु से लुङ् लकार चङ् करके "अचीकृतत्" इस प्रयोग में दीर्घ ऋकार के स्थान पर ह्रस्व ऋकार के विधान के लिए "ऋत्" इस प्रकार का तपर उक्त सूत्र में किया गया है। यदि तपर-करण नहीं किया गया होता तो धातु के दीर्घ ऋकार के स्थान पर आन्तरतम्यात् दीर्घऋकार होने लगता। यदि "अणुदित्" सूत्र में पूर्वणकार तक ही अण् प्रत्याहार माना जाय तो ऋकार के अण् प्रत्याहार में न आने के कारण उससे अपने सवर्णी का ग्रहण होगा ही नहीं? ऐसी स्थिति में ऋकार का सवर्णी दीर्घ ऋकार यहाँ न होने लगे इस बात के लिए यहाँ तपरकरण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार यहाँ (उर्ऋत् में) किया गया तपरकरण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "अत्रैवाण् परेण णकारेण"। इस प्रकार दीर्घ ऋकार के स्थान पर आन्तरतम्यात् दीर्घ ऋकार न होने लगे इसलिए तपरकरण स्वांश में चरितार्थ होता है। इसका फल यह होता है कि "गीः", "पूः" आदि प्रयोगों में "ऋत इद्धातोः" सूत्र से विधीयमान दीर्घऋकारस्थानिक इकार भी रपर होता है, क्योंकि "उरण् रपरः" के "उः" इस पद से "अणुदित्" सूत्र के द्वारा दीर्घऋकार भी गृहीत हो जाता है।

कुछ लोगों ने "उपसर्गादृति धातौ" सूत्र के तपरकरण को "अत्रैवाण् परेण णकारेण" इस अर्थ का ज्ञापक माना है, किन्तु यह कथन उचित नहीं है; क्योंकि यहाँ का तपरकरण "उपाल्कारीयति" इत्यादि प्रयोगों में सावर्ण्यात् लृकार के ग्रहण के लिए चरितार्थ है। इसी प्रकार इण् प्रत्याहार भी सब जगह परणकार (लण् के णकार) तक मानना चाहिए। इसमें प्रमाण है "अचि श्नु" सूत्र में किया गया "य्वोः" ऐसा निर्देश। "इश्च उश्चेति यू, तयोः य्वोः" इस विग्रह के अनुसार यह "यू" शब्द का षष्ठी के द्विवचन का रूप है। इसके द्वारा इकार और उकार का ग्रहण होता है। यदि इण् प्रत्याहार पूर्वणकार तक माना जाय तो उसमें केवल "इ" और "उ" ये दो ही वर्ण आते। ऐसी स्थिति में "य्वोः" इस गुरुन्यास की अपेक्षा "इणः" इस लघुन्यास से ही इकार और उकार का ग्रहण हो जाता तो गुरुभूत "य्वोः" इस निर्देश की क्या आवश्यकता थी? इस प्रकार "य्वोः" यह निर्देश व्यर्थ होकर इण् प्रत्याहार परणकार से लेना चाहिए इस बात का ज्ञापक होता है। अब "इणः" ऐसा पाठ करने पर एकारादि वर्णों की व्यावृत्ति के लिए "य्वोः" यह निर्देश स्वांश में चरितार्थ होता है। इस प्रकार "इणः" इस पद की अपेक्षा एक मात्रा अधिक वाले "य्वोः" इस प्रकार के गुरु निर्देश के व्याख्यान से स्पष्ट होता है कि इण् प्रत्याहार सब जगह परणकार तक लेना चाहिए। यह बात "लण्" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

नन्वेवम् = "अणुदित्" सूत्र को स्वीकार करने पर एक यह समस्या उपस्थित होती है कि इस सूत्र की प्रवृत्ति वर्णसमाम्नाय के वर्णों में ही होगी। वर्णसमाम्नाय के बहिर्भूत वर्णों में इसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में "अस्य च्वौ" इत्यादि सूत्रों में अकार के सवर्णी दीर्घ आकार का ग्रहण नहीं होगा। इसका परिणाम यह होगा कि "माली भवति" इत्यादि प्रयोगों में आकार को ईत्व नहीं होगा, जिससे उक्त प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। यदि कहा जाय कि "अस्य च्वौ" का अकार वर्णसमाम्नाय का अकार नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है? तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि जहाँ कही णकारादि अनुबन्धों के साथ "अण्" आदि उच्चारण

किया गया होगा वही णकारादि चिह्नों के आधार पर यह प्रत्यभिज्ञा होगी कि यह अकार वर्ण-समाम्नाय का अकार है। इसके बाद तत्रत्य = तत्तद् प्रत्याहारस्थ जो आद्यवयव, जैसे अण् का आद्यव यव अकार है, इससे उपस्थित जो अकार है वह अक्षरसमाम्नाय में उच्चारित अकार से अभिन्न है, इस प्रकार अभेदेन गृहीत णकारादि चिह्नों से युक्त अकारादि वर्णों में ही "अणुदित्" सूत्र प्रवृत्त होकर चरितार्थ होगा। "अस्य च्वौ" इस सूत्र में प्रत्याहारबोधक णकारादि कोई चिह्न नहीं है, इसलिए यह प्रत्याहारस्थ अकार हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा यहाँ नहीं हो सकती है। ऐसी स्थिति में "अस्य च्वौ" इस सूत्र में इसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। परिणामस्वरूप "मालीभवति" इस प्रयोग की सिद्धि नहीं होगी।

दूसरी बात यह है कि व्यक्तिपक्ष में तत्रत्य = प्रत्याहार-सूत्रस्थ और अत्रत्य = "अस्य च्वौ" इस सूत्रस्थ दोनों अकार व्यक्तियों के भिन्न होने से "अस्य च्वौ" के अकार के अनण् होने के कारण प्रकृते = "अस्यच्वौ" इस सूत्र में "अणुदित्" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। परिणामतः दीर्घाकार का ग्रहण न होने से उपर्युक्त "मालीभवति" आदि दोषों की आपत्ति है।

"अणुदित्" सूत्र को स्वीकार करने पर दूसरा दोष यह है कि जहाँ प्रत्याहार का (अण्, अच् आदि का) उच्चारण किया गया है वहाँ भी "उच्चरितः शब्दः प्रत्यायको नानुच्चरितः" अर्थात् जिसका उच्चारण किया गया है वही वर्ण प्रत्यायक = अपने सवर्णी का ग्राहक होता है, अनुच्चारित वर्ण प्रत्यायक नहीं होते। इस नियम के आधार पर प्रत्याहार में उच्चारित प्रथम वर्ण जैसे अण् का अकार ही अपने सवर्णी का ग्राहक हो सकता है। अनुच्चारित द्वितीय वर्ण, इकारादि अपने सवर्णी के ग्राहक नहीं हो सकते। इस प्रकार प्रत्याहार के द्वितीयादि वर्णों में भी ग्राहक सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। इस प्रकार "अणुदित्" सूत्र को स्वीकार करने पर उपर्युक्त दो प्रकार के दोष आते हैं। शेखर के मूल में "नन्वेवम् से लेकर "प्रकृते" तक "अस्य च्वौ" सूत्र सम्बन्धी शंका है और प्रत्याहारघटक द्वितीय वर्णादौ से लेकर "अप्रवत्तेः" तक दूसरे वर्णों सम्बन्धी शंका है। नागेश भट्ट इन दोनों शंकाओं का समाधान एक ही उत्तर से करते हैं। इनका कहना है कि जातिपक्ष मान लेने से उक्त दोनों दोष दूर हो जाते हैं। "अस्य च्वौ" सूत्रस्थ अकार से अत्वावच्छिन्न सारे अकारों का बोध हो जाने से "मालीभवति" आदि प्रयोगों में दीर्घ आकार का ग्रहण सुलभ है। इसी प्रकार प्रत्याहार के द्वितीय वर्ण इकारादि में भी तत्तद्जात्यवच्छिन्न सभी इकारादिकों का बोध हो जाने से कोई अनुपपत्ति नहीं होती है। अत एव = जातिपक्ष को स्वीकार करने से ही अनेक तकारों में झल्त्व की सिद्धि होती है। इसका तात्पर्य यह है कि "वस् धातु से लुङ् लकार के प्रथमपुरुष के द्विवचन में च्लि और उसे सिच् कर देने पर तथा अडागम के पश्चात् जब "अवस्-स्-ताम्" ऐसी स्थिति बनती है तब "सः स्यार्धधातुके" इस सूत्र से धातु के सकार को तकार कर दिया जाता है। उस समय "अवत् - स् - ताम्" इस स्थिति में "झलो झलि" सूत्र से सिच् के सकार का लोप करके "अवात्ताम्" इस रूप की सिद्धि की जाती है। यहाँ यह विचारणीय है कि व्यक्तिपक्ष में झल् पद से वर्णसमाम्नाय में पठित एक ही तकार का बोध होगा, क्योंकि वही तकार व्यक्ति झल् प्रत्याहार में आ रहा है। ऐसी स्थिति में दोनों तकारों को झल् किस प्रकार माना जा सकता है? दोनों को झल् माने बिना यहाँ सकार का लोप किस प्रकार सम्भव हो सकेगा। इसलिए

यहाँ जातिपक्ष मानना ही उचित है। इस प्रकार सभी तकार तत्त्वावच्छिन्न होने के कारण झल् कहे जाते हैं, जिससे उक्त प्रयोगों की सिद्धि निर्बाध होती है।

प्रसंगवश इस सवर्णग्राहकता के सम्बन्ध में दीक्षितजी का मत जानना भी आवश्यक है, इसलिए उस पर भी थोड़ा विचार यहाँ किया जा रहा है। सवर्णग्राहकता के विषय में दीक्षित व्यक्तिपक्षवादी हैं और नागेश जातिपक्षवादी। व्यक्तिपक्ष में अण् आदि प्रत्याहारों से वर्णसमाम्नाय में पठित वर्णों का ही ग्रहण होता है। "अणुदित्" सूत्र में अण् ग्रहण भी इस व्यक्तिपक्ष में ही आवश्यक है। इस सन्दर्भ में "अस्य च्वौ" सूत्र में प्रत्याहारबोधक कोई चिह्न के न होने के कारण जब "अणुदित्" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकी तब यहाँ दीर्घ आकार का ग्रहण कैसे हो? इस प्रश्न के समाधान के लिए दीक्षितजी का कहना है कि "उच्चारितः प्रत्यायको नानुच्चारितः" इस नियम के अनुसार प्रत्याहार के द्वितीयादि वर्ण जब प्रत्यायक नहीं होते तब वहाँ "प्रत्याहारग्रहणे तद्वाच्यवाच्ये निरूढा लक्षणा" इस नियम से वहाँ प्रत्याहारवाच्यवाच्य में लक्षणा की जाती है। इसीलिए अण्, अक् आदि प्रत्याहारों के द्वितीयादि वर्ण इकारादि के सवर्णी का बोध होता है। यदि कहा जाय कि जिस प्रकार प्रत्याहार के द्वितीयादि वर्णों के सवर्णी का बोध लक्षणा से किया जा रहा है, उसी प्रकार प्रत्याहार के आदिवर्ण के सवर्णी का बोध भी लक्षणा से कर लिया जाय। ऐसी स्थिति में "अणुदित्" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में दीक्षितजी का कहना है कि "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र से तत्तद्प्रत्याहारों के वर्णों का जब ज्ञान करा दिया जाता है तब "अणुदित्" सूत्र से तद्वाच्य अष्टादश आदि का बोध कराया जाता है। इस प्रकार इक् के छासठ भेद सिद्ध होते हैं। ये छासठ तद्वाच्यवाच्य (प्रत्याहारवाच्य के वाच्य) होते हैं। इस तद्वाच्यवाच्यत्व रूप लक्ष्यतावच्छेदक का ज्ञान "अणुदित्" सूत्र से ही होता है, इसलिए यह सूत्र आवश्यक है। इस प्रकार प्रत्याहार के द्वितीयादि वर्णों के सवर्णी का बोध जिस प्रकार लक्षणा से होता है, उसी प्रकार "अस्य च्वौ" इत्यादि अनण् स्थल में भी लक्षणा से ही दीर्घादि का बोध होगा। कहा जा सकता है कि लक्षणा तो प्रत्याहार ग्रहण में होती है। "अस्य च्वौ" में प्रत्याहार नहीं है तो यहाँ लक्षणा किस प्रकार होगी? इस सन्देह के उत्तर में मनोरमाकार दीक्षित का मत है कि "प्रत्याहारग्रहणे" में जो प्रत्याहार पद है वह "अस्य च्वौ", "यस्येति च" इत्यादि सूत्रों में आये हुए अकारों का उपलक्षण है। इसी प्रकार "तद्वाच्यवाच्य" यह पद भी स्वसदृश वाच्य का उपलक्षण है। उपलक्षण वही होता है जो अपना बोध कराते हुए अपने से भिन्न का भी बोध करावे। प्रत्याहार पद अपना बोध कराते हुए अपने से भिन्न "अस्य च्वौ" इत्यादि सूत्रस्थ अकारों का बोध कराने के कारण उनका उपलक्षण होता है। इसी प्रकार तद्वाच्यवाच्य से स्वसदृश वाच्य लिया गया। यहाँ स्व पद से "अस्य च्वौ" सूत्र का अकार लिया जायेगा। इसके सदृश हुआ "अइउण्" सूत्र का अकार, इसके वाच्य हैं अठारह अकार, इन अठारह अकारों में "अस्य च्वौ" के अकार की लक्षणा हो जाती है। इस प्रकार "अस्य च्वौ" सूत्र में भी अष्टादश अकार का बोध सुलभ होने से "माली भवति" इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि सुलभ हो जाती है।

नागेश भट्ट जातिपक्षवादी है। इनका कहना है कि व्यक्तिपक्ष में प्रत्येक व्यक्ति भिन्न होता है, इसलिए एक से दूसरे का बोध कैसे हो? इसलिए लक्षणा कर रहे हैं, किन्तु झल् प्रत्याहार के

वर्णों के सवर्णी तो नाना नहीं है जिससे तद्वाच्य वाच्य में वहाँ लक्षणा की जा सके। ऐसी स्थिति में व्यक्तिपक्ष में दो तकारों को झल् किस प्रकार माना जा सकता है क्योंकि झल् प्रत्याहार में तो एक ही तकार आता है? इसलिए अगत्या यहाँ तो जातिपक्ष मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार जब झल् प्रत्याहार के लिए जातिपक्ष आवश्यक है तब अच्, अण् आदि प्रत्याहारों में भी जातिपक्ष से ही कार्य चलाना चाहिए। ऐसी स्थिति में लक्षणा का आश्रयण करना अनावश्यक ही है। जातिपक्ष मानने पर दो लाघव भी है। पहला तो यह कि "अणुदित्" सूत्र में अण् ग्रहण नहीं करना पड़ता है। दूसरा यह कि "नाज्झलौ" सूत्र में दीर्घ और प्लुत आकार का प्रश्लेष भी नहीं करना पड़ेगा, क्योंकि वहाँ भी जातिपक्ष से सभी अकारों का बोध हो जायेगा।

यदि व्यक्तिपक्ष के ऊपर ही आग्रह हो तो उस समय "अस्य च्वौ" इत्यादि स्थलों में दीर्घादि का ग्रहण किस प्रकार होगा? इस प्रश्न के उत्तर में नागेश की ओर से कहा जाता है कि "अणुदित्" सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा जिससे सर्वत्र कार्य चल सकता है। वह अर्थ इस प्रकार है—"अण्बोधकं पदं स्वबोध्यसवर्णान् गृह्णाति" अर्थात् अण् का बोधक जो पद है, वह अपने बोध्य के सवर्णी का ग्राहक होता है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि "अस्य च्वौ" इस सूत्र का अकार सभी अकारों का अनुकरण है। अनुकरण से अनुकार्य का बोध होता है। इस नियम के अनुसार "अस्य च्वौ" का अकार "अइउण्" के अकार का भी बोधक है। इससे बोध्य हुआ "अइउण्" का अकार। इसके सवर्णी अठारह अकारों का बोधक "अस्य च्वौ" का अकार होगा। इस प्रकार "अस्य च्वौ" का अकार भी दीर्घ आकार का बोधक हो जाता है, जिससे कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती है।

सूत्रेऽण्ग्रहणं च न कार्यम्। 'ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यमि'त्यनेन समानजातित्वस्यैवातिदेशेनो'पसर्गादृती'त्यादौ न दोषः, एतद्व्यतिरिक्तसवर्णे समानजातित्वसत्त्वात्। पृथगनुबन्धकरणाच्च न ऋदिल्लृदित्प्रयुक्तकार्यसङ्करः। अत्र पक्षे अइउण्सूत्रशेषोक्तभाष्यरीत्या तपरसूत्रस्य जातिग्रहणप्राप्तसवर्णग्रहणनियामकत्ववदप्रत्यय इत्यस्य योगविभागेन—तत्प्राप्तसवर्णग्रहणनिषेधकत्वात्— 'त्यदादीनामः' इत्यादौ विधेये न दोषः। एवं—गुणाभेदकत्वप्राप्तसवर्णग्रहणनिषेधकत्वमप्यस्य बोद्धव्यम्। अत एव 'घटवदि'त्यादौ मतोर्मस्य नानुनासिको वकारः।

जब जातिपक्ष मान लिया जाता है तब प्रत्याहार के आदि वर्ण में भी जातिपक्ष से ही कार्य चल सकता है, इसलिए "अणुदित्" सूत्र में अण् ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

अब शंका होती है कि जातिपक्ष से सब जगह कार्य तो चल गया, किन्तु ऋकार और लृकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा होने पर भी ऋकार से लृकार का ग्रहण नहीं हो सकेगा, क्योंकि ऋकारत्व और लृकारत्व जातियाँ भिन्न-भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में "अणुदित्" सूत्र आवश्यक है। इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्" यह वार्तिक ऋकार और लृकार की सवर्ण संज्ञा नहीं करता है, अपितु वह इन दोनों (ऋकार और लृकार) में समानजातित्व का अतिदेश करता है। "सावर्ण्यम्" इस पद में आया हुआ वर्ण शब्द जाति का वाचक

है। जिस प्रकार "वर्णाश्रमाचारवान्" यहाँ आया हुआ वर्ण शब्द जाति का वाचक है, उसी प्रकार सावर्ण्य का वर्ण शब्द भी जाति का ही वाचक है।

इसके ऊपर यह शंका होती है कि यद्यपि ऋकार और लृकार में समानजातित्व का अतिदेश कर दिया गया, किन्तु इन दोनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा तो हुई नहीं, इसलिए सवर्ण संज्ञाप्रयुक्त जो दीर्घ "अकः सवर्णे दीर्घः"सूत्र से किया जाता है, वह दीर्घ "होतृ + लृकारः" इस स्थिति में कैसे होगा? इसका उत्तर देते हुए नागेश भट्ट का कहना है कि सवर्णसंज्ञा और समानजातित्व इन दोनों में समानजातित्व व्यापक है और सवर्णसंज्ञा व्याप्य है। समान जातित्व व्यापक इसलिए है कि वह एतद्व्यतिरिक्त = ऋकार और लृकार से भिन्न जो अकारादि अच् हैं और जो परस्पर सवर्ण हैं, वहाँ भी समानजातित्व रहता है। ऋकार-लृकार जहाँ सवर्ण नहीं है वहाँ भी अतिदिष्ट समानजातित्व है। इस प्रकार समानजातित्व व्यापक का अतिदेश जब ऋकार और लृकार में कर दिया जाता है तब समानजातित्व का व्याप्य सावर्ण्य स्वयमेव अतिदिष्ट हो जाता है। इसलिए "होतृ + लृकार" का तथा "उपसर्गादृति धातौ" आदि स्थलों में जहाँ सावर्ण्यात् ऋकार से लृकार का ग्रहण होता है, उन सभी जगहों का दोष मिट जाता है।

शंका होती है कि समानजातित्वातिदेश पक्ष में ऋदित्प्रयुक्त कार्य लृदित् में तथा लृदित्-प्रयुक्त कार्य ऋदित् में क्यों नहीं हों? तो इसका उत्तर यह है कि "ओणृ अपनयने" में ऋकार अनुबन्ध तथा "गम्लृ गतौ"इस धातु में ऋकार अनुबन्ध इस प्रकार पृथक्-पृथक् अनुबन्ध किया गया है। इस पृथक् अनुबन्धकरण के कारण ऋदित् और लृदित् प्रयुक्त कार्यों का सांकर्य नहीं होता है।

जातिपक्ष में अब एक दोष आ रहा है कि "त्यदादीनामः" सूत्र में जहाँ अकार विधेय है वहाँ भी अत्वावच्छिन्न अठारह अकारों का बोध होगा। ऐसी स्थिति में "इमौ" इत्यादि प्रयोग में मकार के स्थान पर आन्तरतम्यात् अनुनासिक अकार क्यों न होवे? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि अत्र पक्षे = जातिपक्ष में जब कि अण् ग्रहण प्रत्याख्यात है और उदित् अंश में "अप्रत्यय" अंश का सम्बन्ध वाञ्छित ही नहीं है, वह "अप्रत्यय" ग्रहण, योगविभाग से ज्ञापित "भाव्यमान" परिभाषा के द्वारा जातिपक्ष से प्राप्त सवर्णग्रहण का उसी प्रकार निषेध कर देता है, जिस प्रकार जातिपक्ष से प्राप्त सवर्णग्रहण का नियमन "तपरस्तत्कालस्य" यह सूत्र करता है। यह बात स्पष्ट है कि जहाँ तपरकरण किया हुआ होता है वहाँ समकाल सवर्णी केवल छः छै ही लिये जाते हैं। इसलिए "त्यदादीनामः" इत्यादि स्थलीय विधेयों में सवर्णी के ग्रहण का दोष नहीं है। इसी प्रकार "गुणा अभेदकाः" इस परिभाषा से प्राप्त सवर्णग्रहण का भी निषेधक यह "अप्रत्यय" ग्रहण या इससे ज्ञापित "भाव्यमान" यह परिभाषा है, ऐसा समझना चाहिए। अत एव = जातिपक्ष से प्राप्त सवर्णग्रहण का तथा "गुणा अभेदकाः" इस परिभाषा से प्राप्त सवर्णग्रहण का "अप्रत्ययः" इस अंश से ज्ञापित भाव्यमान परिभाषा द्वारा निषेध कर दिये जाने के कारण ही "घटवत्" शब्द में मतुप् के मकार के स्थान पर विधेय वकार अनुनासिक नहीं हुआ।

जिन दो वर्णों का स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न ये दोनों समान होते हैं उन दोनों वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा "तुल्यास्य" सूत्र से की जाती है। इस सन्दर्भ में एकार और ऐकार का तथा

ओकार और औकार का स्थान और प्रयत्न एक होने के कारण इनकी सवर्ण संज्ञा होनी चाहिए। इस प्रकार की आशंका के उत्तर में कौमुदीकार ने कहा है कि "ऐऔच्" सूत्र के आरम्भ के सामर्थ्य से यह बात ज्ञापित होती है कि एकार और ऐकार की तथा ओकार और औकार की परस्पर सवर्णसंज्ञा नहीं होती है।

नागेश भट्ट इस प्रसंग की व्याख्या के उद्देश्य से कहते हैं-

सामर्थ्यादिति। 'एचोऽयवायावः' इत्यादौ स्थानेऽन्तरतमसूत्रेणैव निर्वाह इति वक्ष्यते। 'न य्वाभ्यामि'त्यत्र ऐऔ स्वरूपेण पाठ्यौ, 'वृद्धिरादैजि'त्यत्राप्येङित्येव पाठ्यं, तत्र गुणसूत्रे च परस्परसवर्णसञ्ज्ञावादिमते चतुर्णां ग्रहणसत्त्वात्। अत्रैतत्सूत्रवैयर्थ्योपन्यासेन तन्मूलकस्य गुणवृद्धिसञ्ज्ञाविधौ प्रत्याहारद्वयग्रहण-वैयर्थ्यस्य, 'प्लुतावैच', 'एचोऽप्रगृह्यस्ये'त्यत्र तद्ग्रहणवैयर्थ्यस्य च सङ्ग्रहो बोध्यः। प्रयत्नभेदेनाप्यसावर्ण्यमेतयोः प्रागुक्तं न विस्मर्त्तव्यम्।

सवर्णसंज्ञक स्वरों में एक का ही पाठ अक्षरसमाम्नाय में देखा जाता है। जैसे अष्टादश अकारों में केवल "अ" का पाठ किया गया है। इसी प्रकार यदि एकार और ऐकार तथा ओकार और औकार इन सभी का पाठ न करके या तो "एओङ्" सूत्र किया गया होता अथवा "ऐऔच्" सूत्र ही किया गया होता। दोनों सूत्रों को क्यों बनाया गया? इस प्रकार दोनों सूत्रों के विधानसामथ्यत् यह बात जानी जाती है कि इनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। यहाँ एक बात यह विचारणीय है कि यदि उक्त चारों वर्णों की सवर्णसंज्ञा हो जाती है तो जिस प्रकार "एओङ्" सूत्र से कार्य चल जाने के कारण "ऐऔच्" सूत्र व्यर्थ है, उसी प्रकार "ऐऔच्" से ही कार्य चल जाने के कारण "एओङ्" सूत्र भी व्यर्थ है। ऐसी स्थिति में दोनों सूत्रों के सामर्थ्य से अथवा अन्यतर के सामर्थ्य से ए-ऐ तथा ओ-औ का सावर्ण्याभाव ज्ञापित करना चाहिए, किन्तु दीक्षितजी ने ऐसा न करके "ऐऔच्" सूत्रारम्भसामर्थ्यात् जो कहा है उसका क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न का उत्तर है कि "एओङ्" और "ऐऔच्" इन दोनों में "एओङ्" सूत्र प्रथमोपस्थिति का विषय होने से अन्तरङ्ग है। अतः अन्तरङ्ग होने के कारण वह तो रहे, किन्तु उसके बाद का सूत्र "ऐऔच्" तो आवश्यक नहीं है, इसलिए उसके सामर्थ्य से सावर्ण्याभाव का ज्ञापन किया गया है।

यदि कहा जाय कि "ऐऔच्" सूत्र के अभाव में अच्, इच्, एच् आदि प्रत्याहारों की सिद्धि किस प्रकार होगी? तो इसका उत्तर यह है कि इन सभी प्रत्याहारों का निर्वाह चकारानुबन्ध की जगह ङकारानुबन्ध से कर लेना चाहिए। यदि कहा जाय कि "ऐऔच्" सूत्र के न रहने पर "एचोऽयवायावः" इस सूत्र में यथासंख्य आदेश किस प्रकार किये जायेंगे? नागेश भट्ट इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "एचोऽयवायावः" सूत्र में "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र से निर्वाह हो जायेगा, यह बात "एचोऽयवायावः" सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर कहेंगे। वह निर्वाह-प्रकार इस प्रकार है कि "ए" और "ओ" इनमें जो अकार है वह संवृत है तथा "ऐ" और "औ" इनमें जो अकार है वह विवृत है। इनमें संवृताकारघटित, कंठतालुस्थान वाले एकार के स्थान पर संवृताकारघटित कण्ठतालु स्थान वाला "अय्" आदेश होगा। इसी प्रकार

संवृताकारघटित कण्ठोष्ठस्थान वाले ओकार के स्थान पर संवृताकारघटित कण्ठोष्ठस्थान वाला "अव्" आदेश हो जायेगा। विवृताकारघटित कण्ठतालु स्थान वाले "ऐ" के स्थान पर विवृताकारघटित कण्ठतालु स्थान वाला "आय्" आदेश तथा विवृताकारक कण्ठोष्ठस्थानक औकार के स्थान पर विवृत आकार वाला तथा कण्ठोष्ठ स्थान वाला "आव्" आदेश हो जायेगा। यह बात "यथासंख्य" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने स्वयं कही है। इसी भाष्य से यह भी स्पष्ट होता है कि "ए ओ" के भीतर अकार संवृत है और "ऐ औ" के भीतर का अकार विवृत है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि "एचोऽयवायावः" सूत्र में यथासंख्य आदेश करने के लिए "ऐऔच्" सूत्र की आवश्यकता नहीं है। यदि कहा जाय कि 'ऐऔच्' सूत्र के अभाव में "न य्वाभ्याम्" सूत्र में एङ् का पाठ करने पर उसके विधेय होने के कारण वहाँ पर उनके द्वारा "ऐ" और "औ" का ग्रहण नहीं हो सकेगा। परिणामस्वरूप अभीष्ट रूप "वैयाकरणः" आदि की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस प्रश्न के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि "न य्वाभ्याम्" सूत्र में "ऐ" तथा "औ" ये दोनों वर्ण स्वरूपतः पढ़ दिये जायेंगे, जिससे किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं हो सकेगा।

शंका होती है कि इस प्रकार सब जगह निर्वाह हो जाने पर भी "ऐऔच्" सूत्र के अभाव में "वृद्धिरादैच्" इस वृद्धिसंज्ञाविधायक सूत्र से किस प्रकार वृद्धि संज्ञा का विधान किया जा सकेगा? इस प्रश्न के उत्तर में नागेश का कहना है कि "वृद्धिरादैच्" सूत्र में भी "ऐच्" की जगह "एङ्" का ही पाठ करना चाहिए। यदि कहा जाय कि इस प्रकार तो वृद्धि पद से 'ए, ओ, ऐ, औ' इन चार वर्णों का ग्रहण होने लगेगा, तो इसके उत्तर में कह रहे हैं कि "एकार तथा ऐकार और ओकार तथा औकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है" ऐसा जिनका मत है उनके अनुसार वृद्धि पद से एकारादि चारों वर्णों का ग्रहण होता है। इसी प्रकार गुणसंज्ञाविधायक सूत्र में भी गुण पद से एकारादि चारों वर्णों का ग्रहण होता है।

एकार और ऐकार की तथा ओकार और औकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा होने पर "ऐऔच्" सूत्र व्यर्थ हो जायेगा। इस प्रकार जो "ऐऔच्" सूत्र की व्यर्थता की बात की गई हैं वह उपलक्षण है। तात्पर्य यह है कि यदि यहाँ सवर्ण संज्ञा हो जाती है तब न केवल "ऐऔच्" सूत्र ही व्यर्थ होगा अपितु तन्मूलकस्य = "ऐऔच्" इस सूत्रमूलक गुण संज्ञा और वृद्धि संज्ञा के विधान में जो "एङ्" और "ऐच्" इन दो प्रत्याहारों का आश्रयण किया गया है, यह प्रत्याहारद्वय का ग्रहण भी व्यर्थ हो जायेगा। इसी प्रकार "प्लुतावैच इदुतौ" इस प्लुतविधायक सूत्र का ऐच् ग्रहण तथा "एचोऽप्रगृह्यस्य" इस प्लुतविधायक सूत्र में एच् का ग्रहण भी व्यर्थ हो जायेगा। इसके अतिरिक्त अनेक जगहों पर "ऐ, औ" का स्वरूपतः पाठ करने में गौरव भी हो रहा है, इसलिए गुण और वृद्धि के विषय-विभाग के लिए "ऐऔच्" सूत्र आवश्यक है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। किन्तु उक्त विषय-विभाग के लिए "ऐऔच्" सूत्र जब सार्थक हो गया तब यह एकार और ऐकार की तथा ओकार और औकार की सर्वण संज्ञा के अभाव का ज्ञापक नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में "ऐऔच्" सूत्र के रहने पर भी गुण और वृद्धि का विषय-विभाग नहीं हो सका। तात्पर्य यह है कि जिस कार्य के लिए "ऐऔच्" सूत्र को स्वीकार किया

गया था, वह कार्य उसके रहने पर भी न हो सका। इसलिए "ऐऔच्" सूत्र व्यर्थ है। तत्सामर्थ्यात् यह ज्ञापन किया जाता है कि " एकार की ऐकार के साथ तथा ओकार की औकार के साथ सवर्ण संज्ञा नहीं होती है।"

इसके अतिरिक्त "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर पहले यह बात कही जा चुकी है कि भाष्यकार के मतानुसार आभ्यन्तर प्रयत्न के सात भेद हैं। ऐसी स्थिति में "ए" तथा "ओ" का विवृततर तथा "ऐ" और "औ" का विवृततम प्रयत्न होने के कारण प्रयत्नभेदेन इनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती है" यह बात नहीं भूलनी चाहिए।

यद्यपीति। इदं व्यक्तिपक्षे—"वर्णानामुपदेशस्तावदुपदेशोत्तरकालेत्सञ्ज्ञा, तदुत्तरकालमादिरन्त्येनेति प्रत्याहारस्तदुत्तरकाला सवर्णसञ्ज्ञा, तदुत्तरकालमणुदिदिति एतेन सर्वेण समुदितेन वाक्येनान्यत्र सवर्णानाङ्ग्रहणं भवति, न चात्रेकारः शकारं गृह्णातीति 'नाज्झलावि'ति सूत्रभाष्योक्तवाक्यापरिसमाप्तिन्यायादित्यर्थः। अयं भावः—'आदिरन्त्येने'ति प्रत्याहारसिद्धौ 'नाज्झलावि'त्येतद्वाक्यार्थबोधे सति निर्णीतैतद्विषयपरिहारेण सवर्णसञ्ज्ञाबोध्यनिश्चये अणुदित्सूत्रेण तावतां ग्रहणं बोधनीयम्। अन्यथा बाधकसम्भावनया तुल्यास्यसूत्रजशक्तिग्रहेऽप्रामाण्यसन्देहेनाणुदिच्छास्त्रजबोधानापत्तिः—न चैतद्वाक्यार्थबोधात्प्राक् तन्निश्चय—इति।

जिन वर्णों का स्थान-प्रयत्न तुल्य होता है, उनकी सवर्ण संज्ञा होती है। ऐसी स्थिति में आकार और हकार का स्थान और प्रयत्न समान होने के कारण उनकी सवर्ण संज्ञा हो जायेगी। इसका परिणाम यह होगा कि "विश्वपाभिः" इस प्रयोग में आगत आकार को "हो ढः" सूत्र के हकार से गृहीत करके इसे ढत्व होना चाहिए। इस प्रकार उक्त प्रयोग में ढत्व की आशंका होने पर "नाज्झलौ" से निषेध कर दिया जायेगा इस समाधान को लक्षित करते हुए कौमुदीकार ने कहा है कि यद्यपि "नाज्झलौ" यह सूत्र वर्णसमाम्नाय में आये हुए वर्णों की ही सवर्ण संज्ञा का निषेध करता है और आकार तो वर्णसमाम्नाय में पढा नहीं गया है, इसलिए हकार के साथ आकार की सवर्ण संज्ञा का निषेध इससे नहीं होना चाहिए; तथापि हकार और आकार की सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। इसका कारण यह है कि "नाज्झलौ" सूत्र में दीर्घ और प्लुत आकार का भी प्रश्लेष किया गया है। इसलिए परस्पर सावर्ण्याभाव के कारण हकार से आकार गृहीत नहीं होता है। इसलिए 'विश्वपाभिः' प्रयोग में ढत्व नहीं होता है।

कौमुदी के "यद्यपि" इस प्रतीक को लेकर नागेश भट्ट कह रहे हैं कि यह आकार और हकार के सावर्ण्याभाव का जो कथन है वह व्यक्तिपक्ष में है। जातिपक्ष में तो आकार में हत्वजाति का अभाव होने के कारण ही हकार से आकार का ग्रहण नहीं हो सकेगा।

अब विचार यह करना है कि "नाज्झलौ" सूत्र अक्षरसमाम्नाय के वर्णों की ही सवर्ण संज्ञा का निषेध क्यों करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि "वाक्यापरिसमाप्ति" न्याय से "नाज्झलौ" यह सूत्र अक्षरसमाम्नाय के वर्णों की ही सवर्णसंज्ञा का निषेध करता है। वह वाक्यापरिसमाप्ति न्याय इस प्रकार है—सर्वप्रथम वर्णों का उपदेश = आद्योच्चारण "अइउण्" इत्यादि चौदह सूत्रों के रूप में हुआ। उपदेश के उत्तरकाल में इत् संज्ञा "हलन्त्यम्" सूत्र से

होती है। इत् पदार्थ के ज्ञान के बाद "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र से प्रत्याहार बनाये जाते हैं। प्रत्याहार बनने के बाद "तुल्यास्यप्रयत्नम्" सूत्र से सवर्ण संज्ञा की जाती है। इसके बाद "अणुदित्" सूत्र से सवर्णों का ग्रहण कराया जाता है। इसे पञ्चधा महावाक्य भी कहते हैं। "अणुदित्" सूत्र द्वारा यह सवर्णग्रहण, इन सभी से समुदित इस पञ्चधा वाक्य से अन्यत्र होता है। यहाँ इकार शकार का ग्राहक नहीं है, ऐसा "नाज्झलौ" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है।

भाष्यकार का यह संक्षिप्त शब्द गूढार्थक है, इसलिए इसके ऊपर प्रसंगवश विशेष विचार अपेक्षित है। यहाँ कहा जा सकता है कि जब पञ्चधा वाक्य से अन्यत्र सवर्ण का ग्रहण होता है तब "नाज्झलौ" सूत्र में भी अच् के सवर्णों का ग्रहण होना चाहिए क्योंकि "नाज्झलौ", सूत्र पञ्चधा महावाक्य से बाहर है। ऐसी स्थिति में यह सूत्र अक्षरसमाम्नाय के वर्णों का ही सावर्ण्य का निषेध करता है, यह बात कहाँ तक संगत है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि "अणुदित्" सूत्र को सवर्णग्रहण कराने के लिये अण् पदार्थ का ज्ञान अपेक्षित है। इस अण् पदार्थ के ज्ञान के लिए सर्वप्रथम "अइउण्" आदि सूत्रों का ज्ञान आवश्यक है। इसके बाद "हलन्त्यम्" सूत्र से "लण्" के णकार की इत्संज्ञा होने पर "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र से अण् प्रत्याहार की सिद्धि होती है। इसके बाद "तुल्यास्यप्रयत्नम्" सूत्र से सवर्ण संज्ञा होती है और उसके बाद "अणुदित्" सूत्र से सवर्णग्रहण कराया जाता है। यही सवर्णग्रहण का क्रम है। "तुल्यास्यप्रयत्नम्" सूत्र सवर्ण संज्ञा का विधायक सूत्र है और "नाज्झलौ" सूत्र सवर्ण संज्ञा का निषेधक है। "तुल्यास्य" सूत्र उत्सर्ग है और "नाज्झलौ" अपवाद है। उत्सर्ग के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने अपवाद के विषय को छोड़ कर अपना कार्य करें, अन्यथा सामान्यरूपेण उत्सर्ग की सार्वत्रिक प्रवृत्ति होने पर पश्चात् अपवाद के द्वारा जब उसका निषेध कर दिया जायेगा तो उत्सर्गशास्त्र का अप्रामाण्य हो जायेगा। इसलिए 'तुल्यास्य' सूत्र के द्वारा "नाज्झलौ" का क्षेत्र त्यक्तव्य है। इस कार्य के लिए यह आवश्यक है कि "नाज्झलौ" का वाक्यार्थबोध "तुल्यास्य" के पहले हो जाय। जब "तुल्यास्य" सूत्र के पहले "नाज्झलौ" का वाक्यार्थबोध हो जाता है तब "तुल्यास्य" का वाक्यार्थबोध होता है कि "अज्झल्भिन्नं यत् तुल्यास्यप्रयत्नं तत् सवर्णसंज्ञं स्यात्"। इस प्रकार "नाज्झलौ" सूत्र भी पञ्चधामहावाक्य के भीतर आ जाता है। इसके वाक्यार्थबोध के समय "अणुदित्" सूत्र की स्थिति रहती नहीं है, क्योंकि वह तो "तुल्यास्य" सूत्र से सवर्ण संज्ञा का विधान करने के बाद ही कार्यकारी हो सकता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि "नाज्झलौ" सूत्र भी पञ्चधामहावाक्य के अन्दर ही आता है और इसमें भी "अणुदित्" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए यह जो कहा गया है कि "नाज्झलौ" सूत्र "अक्षरसमाम्नाय" के वर्णों का ही सावर्ण्य-निषेधक है, यह कथन युक्त ही है।

नागेश भट्ट "अयं भावः" कह कर इन्हीं सब बातों का उल्लेख कर रहे हैं कि 'आदिरन्त्येन' सूत्र से प्रत्याहार बनने के बाद "तुल्यास्य" सूत्र से सवर्ण संज्ञा के पहले "नाज्झलौ" सूत्र का वाक्यार्थबोध हो जाने पर जब इसके विषय का निर्णय हो जाता है तब इसके विषय को ('नाज्झलौ' के विषय को) छोड़कर "तुल्यास्य" सूत्र सवर्ण संज्ञा करता है। सवर्ण संज्ञा से बोध्य कौन है, ऐसा निश्चय होने पर अर्थात् कौन वर्ण किस वर्ण का सवर्णी है ऐसा निश्चय होने

के बाद "अणुदित्" सूत्र से सवर्णी का ग्रहण कराया जाता है। अन्यथा "तुल्यास्य" सूत्र यदि "नाज्झलौ" के विषय को छोड़े बिना अविशेषेण सवर्ण संज्ञा कर देता और पीछे "नाज्झलौ" से उसका बाध कर दिया जाता तो "तुल्यास्य" सूत्र से होने वाले शक्तिग्रह में अर्थात् "तुल्यास्य" सूत्र के वाक्यार्थबोध में अप्रामाण्य का सन्देह हो जाता। तात्पर्य यह है कि इससे विधेय सवर्ण संज्ञा ही सन्दिग्ध हो जाती। इसका परिणाम यह होता है कि "अणुदित्" सूत्र का वाक्यार्थबोध ही नहीं होता। एतद्वाक्यार्थबोधात् प्राक् = "नाज्झलौ" सूत्र के वाक्यार्थबोध के पहले तन्निश्चयः = सवर्णपदबोध्य का निश्चय नहीं हो सकता है।

इस प्रकार "नाज्झलौ" का वाक्यार्थबोध "तुल्यास्य" के पहले अपेक्षित है। इससे यह भी पञ्चधामहावाक्यान्तर्वर्ती हो जाता है। परिणामतः इसमें सवर्णग्रहण न होने के कारण यह अक्षरसमाम्नाय के वर्णों का ही सावर्ण्य का निषेध करेगा, इसलिए "विश्वपाभिः" प्रयोग में आकार हकार का सवर्णी न हो जाय, इस सूत्र में आकार का प्रश्लेष सार्थक होता है।

हो ढ इति। हकारेणाऽऽकारग्रहणे सति यद्यत्प्राप्नोति तस्य सर्वस्याप्युपलक्षणमिदम्। ननु यणसवर्णिनामप्रसिद्धेरज्ग्रहणेनैव सिद्धेऽण्ग्रहणं व्यर्थमत आह—यवला इति। 'अमोऽनुनासिका न ह्रावि'ति शिक्षोक्तेर्यण इति नोक्तम्। तेन सँय्यन्तेत्यादौ परसवर्णनिष्पन्नानुनासिकयवलाना'मनचि चे'ति द्वित्वं सिद्ध्यति। 'हलो यमामि'ति लोपस्तु वैकल्पिकः। अत्रेदं बोद्धव्यम्—'व्यक्तिः पदार्थो गुणा भेदका' इत्यभिमानेनात्र सूत्रेऽण्ग्रहणमिति।

कौमुदीकार ने "नाज्झलौ" सूत्र में आकार के प्रश्लेष का फल "विश्वपाभिः" प्रयोग में "हो ढः" सूत्र से प्राप्त ढत्व का वारण बतलाया है। नागेश भट्ट का कहना है कि "हो ढः"(८।२।३१) सूत्र परत्रिपादी होने के कारण "संयोगान्तस्य लोपः" (८।२।२३) इस पूर्वत्रिपादी के प्रति असिद्ध है, इसलिए यहाँ संयोगान्तलोप की ही प्राप्ति है, ऐसा समझना चाहिए। यहाँ का ढत्वापादन उन सभी कार्यों का उपलक्षण है जो कार्य हकार से आकार का ग्रहण होने पर प्राप्त होते हैं।

इस "विश्वपाभिः" के प्रसंग से पूर्व कौमुदी में वर्णों के भेद को बताने का क्रम चल रहा था। जैसे अकार के अठारह भेद, एच् के बारह भेद आदि। इसी के मध्य में "विश्वपाभिः" का प्रसंग आ गया। इसके बाद पुनः "ननु" पद का उल्लेख करते हुए यकारादि वर्णों के विभाग के प्रसंग में कह रहे हैं कि यण् के सवर्णी अप्रसिद्ध हैं। ऐसी स्थिति में "अणुदित्" सूत्र में अण् का ग्रहण व्यर्थ है। क्योंकि यदि यण् के सवर्णी होते तो उनका ग्रहण कराने के लिए अण् प्रत्याहार का आश्रयण उपयुक्त हो सकता था, किन्तु जब यण् के सवर्णी ही अप्रसिद्ध हैं तो यण् प्रत्याहार के वर्णों के संग्रह के लिए अण् प्रत्याहार का आश्रयण व्यर्थ ही है। इसके स्थान पर अच् ग्रहण करना चाहिए? इस प्रकार की आशंका होने पर कौमुदीकार ने कहा कि अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से य, व और ल ये तीनों वर्ण दो-दो प्रकार के होते हैं। ऐसी स्थिति में सवर्णी य, व, ल के ग्रहण के लिए "अणुदित्" सूत्र में अण्ग्रहण सार्थक होता है। "अमोऽनुनासिका न ह्रौ" इस शिक्षावचन के अनुसार रेफ अनुनासिक नहीं होता है।

इसीलिए कौमुदी में "यवला द्विधा" लिखा गया है। यदि रेफ भी अनुनासिक होता तो "यवला द्विधा" की जगह "यणो द्विधा" ऐसा कहा गया होता। इसलिए "सँय्यन्ता" इस प्रयोग में "सम् + यन्ता" इस स्थिति में मकार को अनुस्वार करके "वा पदान्तस्य" सूत्र से परसवर्ण के द्वारा निष्पन्न अनुनासिक यकार को यर् मान कर "अनचि च" सूत्र से द्वित्व सिद्ध होता है। अन्यथा अनुनासिक यकारादि यर् पद से गृहीत ही नहीं होते। 'सँय्यन्ता' की भाँति उदाहरणान्तरों में वकार और लकार जो अनुनासिक हैं उन्हें भी "अनचि च" से द्वित्व होता है। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि द्वित्व होने के बाद "हलो यमां यमि लोपः" सूत्र से लोप हो जाने के कारण एक यकारादिघटित रूप ही बनता है इसलिए यहाँ द्वित्व करने का कोई फल नहीं है, क्योंकि "हलो यमाम्" सूत्र से विधेय लोप वैकल्पिक है, इसलिए लोपाभाव पक्ष में द्वित्व का फल उपलब्ध ही है।

"अणुदित्" सूत्र में अण्ग्रहण जातिपक्ष में अनावश्यक होने से प्रत्याख्यात है। इसकी उपादेयता तब होती है जब वर्णों के सम्बन्ध में व्यक्तिपक्ष मानते हैं। अथवा जब "गुणा भेदकाः" पक्ष माना जाता है तब भी सूत्र में अण्ग्रहण आवश्यक है। इसी अभिमान से सूत्र में अण्ग्रहण किया गया है। यहाँ अभिमान पद का उल्लेख करने से यह विदित होता है कि यह पक्ष भाष्याभिमत नहीं है।

'अतो भिस' इत्यादौ तपरकरणात्'सहिवहोरि'ति सूत्रस्थवर्णग्रहणाद्व्याख्यानाच्च तपरपदे बहुव्रीहिपञ्चमीतत्पुरुषावित्याह—तः पर इत्यादिना। वर्णग्रहणे तु तत्सामर्थ्यादत्वावच्छिन्नसर्ववर्णग्रहणबोधनेन तपरसूत्राप्रवृत्तिः। आद्योदाहरणम्—'अतो भिस' इति, अन्त्योदाहरणं—'वृद्धिरादैजि'ति। यद्यप्यत्र सञ्ज्ञा तात्परा, न च तत्समकालस्तत्सवर्णो वा प्रसिद्धस्तथापि तपरकरणाद्भाष्यप्रामाण्याच्च 'तात्परशब्दबोद्ध्यो वर्णः स्वसमकालग्राहक' इत्यर्थेनाऽदोषः। इदञ्च विद्ध्यर्थमेव, अण्ग्रहणाननुवृत्तेः। गुणानां भेदकतयाऽनणि विधित्वेऽपि 'वृद्धिरादैजि'त्यादावाकारांशे सावकाशेनानेन 'अतो भिस' इत्यादौ परत्वेन 'अणुदित्' सूत्रबाधः। सङ्ख्याकृतव्यवहारस्य परस्परपरिहारेणैव दृष्टतयेह विरोधस्य सत्त्वात्। गुणानामभेदकत्वे त्वनवकाशत्वाद्बाध इति बोद्ध्यम्। अत्रावध्यवधिमतोः साजात्येन वर्णस्यैव सञ्ज्ञात्वेऽपि विशिष्टाद्विभक्त्युत्पत्तिः सौत्रत्वाद्बोध्या। 'तत्कालस्ये'त्यस्य—तदुच्चारणकालसमकालस्येत्यर्थस्तदाह—समकालस्यैवेति। एवकारो—न्यायसिद्धबाध्यबाधकभावस्यानुवादक इति भावः। जातिपक्षे तु नियमार्थमेव—सवर्णग्रहणानुवृत्तेः। एवं 'गुणानामभेदकत्वमि'ति—'वृद्धिरादैजि'ति सूत्रभाष्यसम्मतसिद्धान्तपक्षेऽपि नियमार्थमेव।

"तपरस्तत्कालस्य" सूत्र की व्याख्या करते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि "तपरस्तत्कालस्य" सूत्र में जो तपर पद है इसमें "तः परो यस्मात् असौ तपरः" इस प्रकार बहुव्रीहि समास है। इससे तपर शब्द का यह अर्थ होता है कि जिस वर्ण के आगे तकार को रखा गया है वह तपर है। इस प्रकार के बहुव्रीहि समास में "अतो भिस ऐस्" सूत्र का तपरकरण ही प्रमाण है।

इस सूत्र में "अत्" यह तपरनिर्देश करके पञ्चमी विभक्ति लाई गयी है। यहाँ अकार से पर में तकार है, इसलिए बहुव्रीहि समास वाले अर्थ की यहाँ संगति होती है।

"साहिवहोरोदवर्णस्य" इस सूत्र में जो वर्णग्रहण किया गया है उस वर्णग्रहण से यह विदित होता है कि तपर शब्द में "तात्परः तपरः" इस प्रकार का पंचमी समास भी है। इस पंचमी समास से यह स्पष्ट होता हे कि जो तकार से पर में रहता है वह भी तपर कहा जाता है। इस प्रकार बहुव्रीहि और पंचमी तत्पुरुष—दोनों समास यहाँ होते हैं। इस बात को दृष्टिगत करके दीक्षितजी ने कौमुदी में कहा है कि "तः परो यस्मात् स च तात्परश्च वर्णः समकालस्य संज्ञा"। अर्थात् तकार जिससे पर में हो अथवा जो तकार से पर में हो, वह तपर वर्ण समकाल सवर्णी का ही बोधक होता है।

यदि तपर पद में पञ्चमी समास अभिप्रेत नहीं होता तो "सहिवहोः" सूत्र में वर्णग्रहण न करके "सहिवहोरोदस्य" ऐसा न्यास कर दिये होते। इसका परिणाम यह होता कि पंचमी समास के अभाव में इस सूत्र का अकार तपर नहीं कहा जाता। फलस्वरूप उससे अठारह अकारों का बोध स्वयमेव हो जाता। ऐसी स्थिति में इस सूत्र में किया गया वर्णग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "न केवलं तः परो यस्मादसौ तपरः" किन्तु "तादपि परः तपरः" अर्थात् तकार है पर में जिससे वहीं केवल तपर नहीं होता, किन्तु तकार से पर में जो होता है वह भी तपर कहा जाता है। इस प्रकार पंचमी समास स्वीकार करने पर "सहिवहोरोदस्य" इस न्यास का अकार तपर कहा जायेगा और उससे समकाल सवर्णी केवल छः का ही बोध होगा, किन्तु केवल छः प्रकार के अकारों का ही बोध यहाँ अभीष्ट नहीं है, इसलिए यहाँ वर्णग्रहण किया गया। वर्णग्रहण करने पर उसके सामर्थ्य से यहाँ तपरसूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है, इसलिए यहाँ अवर्ण शब्द से अठारह प्रकार के अकारों का बोध हो जाता है। इस प्रकार यहाँ वर्ण-ग्रहण का सार्थक्य होता है। इसका फल यह होता है कि "अवोढाम्" प्रयोग में वह् धातु के अकार की आकार-वृद्धि कर देने पर भी अवर्ण पद से आकार का ग्रहण हो जाता है और उसे ओकारादेश करके उक्त प्रयोग की सिद्धि की जाती है।

तपर शब्द में बहुव्रीहि समास का उदाहरण "अतो भिस" यह सूत्र है। यहाँ पर तपर अकार से ह्रस्व अकार का ही ग्रहण होता है। इसका परिणाम यह होता है कि "रमाभिः" प्रयोग में दीर्घ आकार से पर में भिस् को ऐस् नहीं होता है। अन्त्य अर्थात् " तात्परः तपरः" इस पंचमी समास का उदाहरण "वृद्धिरादैच्" यह सूत्र है। यहाँ "आत्" के तकार से पर में "ऐच्" तपर है। इसलिए वृद्धि संज्ञा द्विमात्रिक की ही होती है। इसका फल यह है कि "माला + एका = मालैका" इस प्रयोग में चार मात्रा वाले स्थानी के स्थान पर द्विमात्रिक ऐकार ही वृद्धि हुई। "वृद्धिरादैच्" इस सूत्र में तकार से पर में यद्यपि "ऐच्" यह संज्ञा है, यह "ऐच्" संज्ञा सार्धद्विमात्रिक है। न तो कोई एतत्कालिक होता है और न तो ऐच् इस संज्ञा का कोई सवर्णी ही प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में ऐच् के तपर होने का क्या प्रयोजन है? इस शंका का उत्तर देते हुए शेखरकार का कहना है कि तपरकरण के सामर्थ्य से तथा "इदं तर्हि प्रयोजनम्" इस प्रकार के वृद्धिसूत्रस्थ भाष्य के प्रामाण्य से "तपरः" सूत्र का इस प्रकार अर्थ किया जाता है कि "तकार से पर में जो शब्द, उससे बोध्य जो वर्ण, वे स्वसमकाल सवर्णी के ग्राहक होते

हैं"। इस अर्थ के अनुसार तात् पर "ऐच्" यह संज्ञा शब्द हुआ, उससे बोध्य "ऐ औ" ये दो वर्ण हुए। ये दोनों वर्ण अपने समकाल सवर्णी के ग्राहक होते हैं। इस प्रकार कोई दोष नहीं रहता है।

यह सूत्र विध्यर्थ है या नियमार्थ? ऐसा सन्देह होने पर यही निश्चय होता है कि यह सूत्र विध्यर्थ (विधिसूत्र) है। इसका कारण यह है कि यहाँ "अणुदित्" सूत्र से अण् पद की अनुवृत्ति नहीं होती। यदि अण् पद की अनुवृत्ति यहाँ होती तो इसका अर्थ ऐसा होता कि "तात् पर में जो अण् (तकार से पर में जो अण्), वह समकाल सवर्णी का बोधक होता है"। अर्थात् तकार से पर में रहने वाला छः का बोधक होता है किन्तु यह कार्य तो "अणुदित्" सूत्र से ही सिद्ध है, क्योंकि जो वर्ण अठारह का ग्राहक है वह छै का भी ग्राहक तो है ही। इस प्रकार "अणुदित्" सूत्र से जो कार्य सिद्ध था, उसी का अनुवाद मात्र करने से यह सूत्र नियमार्थक हो सकता था, किन्तु अण् पद, की अनुवृत्ति यहाँ नहीं होती है, ऐसी स्थिति में "वृद्धिरादैच्" इत्यादि स्थलों में "आकार" रूपी जो अनण् पद (अण्भिन्न शब्द) है वहाँ "अणुदित्" सूत्र की प्रवृत्ति न होने के कारण वहाँ स्वसमकाल छः सवर्णी के ग्रहण के लिए यह सूत्र विध्यर्थ होता है। वर्णसमाम्नाय के वर्ण ही अण् पद से गृहीत होते हैं। उनसे भिन्न वर्ण तो अनण् ही है। इसलिए वैसे स्थलों में "अणुदित्" सूत्र की प्राप्ति नहीं होती है।

अब यह शंका होती है कि इस सूत्र के द्वारा तपर से समकाल सवर्णी का बोध हो, किन्तु जहाँ पर 'अण्' से बोध्य वर्ण का उल्लेख रहेगा वहाँ "अणुदित्" सूत्र की प्रवृत्ति तो होगी ही। ऐसी स्थिति में "अतो भिस" सूत्र के अकार से अठारह अकारों का ग्रहण होना चाहिए। इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "अतो भिस" सूत्र में अण्-बुद्धि के आधार पर "अणुदित्" सूत्र की प्राप्ति होने पर तथा "अतः" पद में तपरकरण को देख कर "तपरस्तत्कालस्य" की प्राप्ति होने पर परत्वात् तपरसूत्र से "अणुदित्" सूत्र का बाध हो जाता है। इसलिए यहाँ छः अकारों का ही बोध होता है, न कि अठारह अकारों का बोध होता है। यह परत्वात् बाध किस प्रकार होता है, इस बात की उपपत्ति बता रहे हैं कि यदि "गुणा अभेदकाः" पक्ष माना जाय तो "वृद्धिरादैच्" इत्यादि स्थलों में आकार के गुणों (उदात्तत्वादि) की अविवक्षा के कारण छः आकारों का ग्रहण इसी न्याय से सिद्ध होने के कारण तपरसूत्र नियमार्थक हो सकता था, किन्तु "गुणा अभेदकाः" पक्ष को न मानकर जब "गुणा भेदकाः" पक्ष मानते हैं तब "वृद्धिरादैच्" के आकार से निरनुनासिकत्व-विशिष्ट ही आकार लिया जायेगा, इसलिए वहाँ छः प्रकार के दीर्घ आकार का ग्रहण कराने के लिए "तपरस्तत्कालस्य" सूत्र विध्यर्थक होकर चरितार्थ होता है। दूसरी ओर "अणुदित्" सूत्र "अकः सवर्णे दीर्घः" सूत्रघटक "अक्" पद में सवर्णग्रहण कराकर चरितार्थ है। इस प्रकार अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाश "अणुदित्" सूत्र तथा तपरसूत्र जब एक साथ "अतो भिस" सूत्र में प्राप्त होते हैं तब परत्वात् तपरसूत्र से "अणुदित्" सूत्र का बाध हो जाता है।

यदि कहा जाय कि "अतो भिस" सूत्र में परत्वात् बाध की जो बात कही गई है वह संगत नहीं है, क्योंकि विरोध होने पर ही परत्वान् बाध होता है। प्रस्तुत सूत्र में तपरसूत्र से छः का बोध हो और "अणुदित्" सूत्र से अठारह का बोध होवे। इसमें विरोध किस बात का है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि संख्याकृत व्यवहार परस्पर परिहारपूर्वक देखा जाता

है। जिस प्रकार तीन पुत्र वाले व्यक्ति को दो पुत्र वाला नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार अठारह संख्या वाले को छः संख्या वाला नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार संख्याकृत विरोध के कारण यहाँ परत्वात् बाध की जो बात कही गई है, वह ठीक ही है।

यदि "गुणा अभेदकाः "यह पक्ष मानते हैं तब "वृद्धिरादैच्" में भी इसी न्याय से सवर्ण-ग्रहण सिद्ध होने के कारण तपरसूत्र यहाँ चरितार्थ नहीं हो सका। ऐसी स्थिति में "अतो भिस" सूत्र में यह "अणुदित्" सूत्र का बाध किस प्रकार करेगा? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि उस समय तपरसूत्र अनवकाश होकर "अणुदित्" सूत्र का बाध करता है।

यहाँ एक बात यह ध्यातव्य है कि "गुणा अभेदकाः" पक्ष माना जाय अथवा तपरसूत्र में अण् की अनुवृत्ति की जाय, उस समय यह सूत्र नियमार्थक हो जाता है। जब अण् पद की अनुवृत्ति नहीं की जाती है अथवा "गुणा भेदकाः" पक्ष माना जाता है, उस समय "तपरस्तत्कालस्य" यह सूत्र विध्यर्थक होता है।

अवधि और अवधिमान में साजात्य का नियम है। 'काशी प्रयाग से पूर्व है' ऐसा वाक्य बोलने पर काशी और प्रयाग का दैशिक साजात्य स्पष्ट है। इसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में तकार है पर में जिससे वह तपर कहा जाता है, ऐसे अवधिसूचक वाक्य में तकार जिससे पर में है वह तो अवधि हुआ और तकार अवधिमान हुआ। इन दोनों का साजात्य वर्णत्व के आधार पर ही कहा जा सकता है। "अत्" इस तपर के प्रयोग में तकार रूपी वर्ण जब अवधिमान है तब उसकी अवधि अकार वर्ण ही तपर कहा जायेगा और वही समकाल की संज्ञा होगा। इससे स्पष्ट होता है कि "अत्" इस आनुपूर्वी में सवर्णबोधकता नहीं है, किन्तु अकार में ही समानकालिक सवर्ण की बोधकता है। इस प्रकार बोधकता रूपी शक्ति के अकार में रहने के कारण उसी में अर्थवत्ता रहेगी। फलस्वरूप उसी की प्रातिपदिक संज्ञा होकर उसी के (अकार के) आगे ही विभक्ति आनी चाहिए। ऐसी स्थिति में "अतो भिस" सूत्र में "अतः" इस पद में समुदाय (अत् शब्द) से विभक्ति किस प्रकार आई है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यद्यपि अर्थवत्ता वर्ण में ही है और वही समकाल सवर्णी की संज्ञा भी है, तथापि अत् इस विशिष्ट आनुपूर्वी से विभक्ति की उत्पत्ति सौत्रत्वात् हुई है।

यहाँ तपर को समकाल की संज्ञा बताया गया है। सूत्रस्थ तत्काल पद का अर्थ समकाल किया गया है। यहाँ तत्काल शब्द में "सः कालो यस्यासौ तत्कालः" इस प्रकार बहुव्रीहि समास है। "सः" इस पद का अर्थ तपरत्वेन उच्चार्यमाण वर्ण है। यहाँ विचारणीय यह है कि तपरत्वेन उच्चार्यमाण वर्ण किसी का काल कैसे हो सकता है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यहाँ "तत्कालस्य" इस पद का अर्थ "तदुच्चारणकालसमकालस्य" है। अर्थात् यहाँ "सः" इस पद की लक्षणा "तपरत्वेन उच्चार्यमाण वर्णाधिकरणकालसदृश" इस अर्थ में होती है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ ऐसा होता है कि तपरत्वेन उच्चार्यमाण वर्णाधिकरणकालसदृश काल हो जिस वर्णका, उस वर्ण के बोधक "अत्-इत्-उत्" आदि तपर वर्ण होते हैं। जैसे "अतो भिस" सूत्र में आगत "अत्" इस तपर से रामशब्दघटक एकमात्रिक अकार का ही बोध होता है। द्विमात्रिक आदि आकार, जो रमा आदि शब्दों में हैं, उनका ग्रहण इस अत् शब्द से नहीं होता। इसीलिए कौमुदी में कहा गया है कि "समकालस्यैव संज्ञा"।

अब यहाँ यह विचार हो रहा है कि "समकालस्यैव" इस पद में एवकार को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि यह नियमसूत्र है, क्योंकि नियमस्थल में ही एवकार का लाभ होता है। ऐसी स्थिति में इसे विधिसूत्र कहना कहाँ तक संगत है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि जब "गुणानां भेदकत्वम्" यह पक्ष अभिमत है उस समय "वृद्धिरादैच्" सूत्रस्थ अनण् अंश (आत् अंश) में सवर्णग्रहण कराने के कारण सावकाश यह विधिसूत्र "अतो भिस" सूत्र में प्राप्त "अणुदित्" सूत्र को परत्वात् बाध कर यह बताता है कि यहाँ तपर होने के कारण "षडेव बोध्याः"। अथवा जब "गुणानाम् अभेदकत्वम्" यह पक्ष अभिमत है उस समय "वृद्धिरादैच्" के लिए यह सूत्र अनावश्यक होने के कारण व्यर्थ है। इस प्रकार व्यर्थीभूत यह सूत्र "अतो भिस" स्थल में अनवकाशत्वात् "अणुदित्" सूत्र को बाधकर "अत्र षडेव बोध्याः" यह बात बताता है। इस प्रकार इस सूत्र के सम्बन्ध में न्यायसिद्ध जो बाध्यबाधकभाव है उसी के आधार पर यहाँ एवकार का उल्लेख किया गया है, न कि यह नियमलभ्य एवकार है। ये सारी बातें व्यक्तिपक्ष में हैं।

जातिपक्ष में तो यह सूत्र नियमार्थक ही है, क्योंकि उस समय अकार से अत्वावच्छिन्न सभी अकारों का जब बोध हो रहा है तब छः का बोध तो सुतरां सिद्ध ही है। इसलिए सिद्ध का अनुवादक होने के कारण यह नियमार्थक है। यदि कहा जाय कि जातिपक्ष में अत्वावच्छिन्न सभी अकारों का बोध 'अ' शब्द से होने के कारण "अत्" स्थल में छः अकारों का बोध सिद्ध है। किन्तु अकारोच्चारकालसदृश काल वाले इकार और उकारादि का भी वहाँ ग्रहण हो, इस बात के लिए इस सूत्र को विध्यर्थक क्यों न माना जाय? इस प्रकार की शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "सवर्णग्रहणानुवृत्तेः" अर्थात् जातिपक्ष में यहाँ सवर्णग्रहण की अनुवृत्ति होती है। उस समय इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि तपरो जात्याश्रयतया सर्वस्य ग्राहकश्चेत् सवर्णस्य समकालस्यैव" अर्थात् तपर वर्ण जाति के आधार पर यदि सबका ग्राहक होता है तो वह सवर्ण समकाल का ही ग्राहक होगा, अन्य का नहीं। इस प्रकार अब "अत्" इस तपर से अकार के ही समकाल सवर्णों का ग्रहण होगा, न कि अकार के समकाल इकारादिकों का भी ग्रहण होगा। इकार-उकारादि के ग्रहण के लिए इस सूत्र को विध्यर्थ नहीं माना जा सकता, किन्तु जातिपक्ष में तो यह सूत्र उपर्युक्त रीति से नियमार्थक ही है। नियमार्थता का विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है।

इसी प्रकार "गुणानामभेदकत्वम्" यह जो "वृद्धिरादैच्" सूत्रस्थ भाष्यसम्मत पक्ष है, इस पक्ष (सिद्धान्तपक्ष) में भी यह सूत्र नियमार्थ ही है। कारण यह है कि जब गुण विवक्षित ही नहीं है तो वे व्यावर्तक नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में तपरस्थल में वाञ्छित का ग्रहण उपर्युक्त न्याय से ही सिद्ध है, इसलिए सिद्ध का कथन करने के कारण यह सूत्र नियमार्थक हो जाता है। यह बात ऊपर भी कही जा चुकी है।

इदम्—'आद्गुणः' इत्यादौ विभक्तितकारे न प्रवर्तते, 'उपसर्गादृती'ति तपरकरणात्। 'ऋदोरबि'त्यादौ दकार एवेति न दोषः। स च—पञ्चमीसमासाभावे तकार इवोच्चारणार्थो, मुखसुखार्थो वा। तपरसूत्रे दकारप्रश्लेषपक्षे तु—धकारादिस्थानिको दकारो बोध्यः।

शंका होती है कि जब तपर से समकाल सवर्णी का बोध होता है तब "आद्गुणः" सूत्र से द्विमात्रिक आकार के ही आगे अच् पर में रहने पर गुण होगा। ऐसी स्थिति में "गङ्गोदकम्" प्रयोग तो सिद्ध हो सकता है, किन्तु "गणेशः" आदि प्रयोगों की सिद्धि कैसे होगी? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि इदम् = तपरसूत्र "आद्गुणः" आदि स्थलों के विभक्ति के तकार में प्रवृत्त नहीं होता है। इसकी प्रवृत्ति तो शुद्ध तपरस्थल, जैसे "अत्-इत्-उत्" इत्यादि स्थलों में ही होती है।

"आद् गुणः" इस सूत्र में "आत्" यह पंचमी का एकवचन है। यहाँ का तकार विभक्ति का तकार है। इसलिए यहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार उपर्युक्त दोष का निराकरण हो जाता है।

यदि कहा जाय कि विभक्ति के तकार में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है इसमें क्या प्रमाण है? तो इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि "उपसर्गादृति धातौ" सूत्र में जो "ऋति" पद में तपर किया गया है वही इस बात का प्रमापक है कि यह विभक्ति के तकार में नहीं लगता है। यदि विभक्ति के तकार में भी इसकी प्रवृत्ति होती तो "उपसर्गात्" इस पञ्चम्यन्त पद के तपरकरण से ही ऋकार भी तपर कहा जाता, क्योंकि 'तात् परः तपरः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ऋकार तकार से पर में होने के कारण तपर है ही। ऐसी स्थिति में दीर्घ ऋकार की व्यावृत्ति के लिए "ऋति" इस पद के तपरकरण की क्या आवश्यकता है? यही तपरकरण व्यर्थ होकर विभक्ति के तकार में इसकी अप्रवृत्ति का ज्ञापक होता है।

अब शंका होती है कि तपर शब्द में पंचमी समास के आधार पर तकार से पर में रहने वाला भी तपर कहा जाता है। ऐसी स्थिति में "ऋदोरप्" सूत्र में जहाँ ऋत् के तकार के आगे उकार है, यह भी अपने एकमात्रिक उकार सवर्णी का ही बोधक होगा। इसका परिणाम यह होगा कि ह्रस्व उकारान्त यु धातु से अप् प्रत्यय होकर "यवः" प्रयोग तो बनेगा किन्तु दीर्घ उकारान्त "लू" धातु से अप् प्रत्यय नहीं हो सकेगा। फलस्वरूप "लवः" प्रयोग की सिद्धि नहीं होगी? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "ऋदोरप्" सूत्र में तकार नहीं है किन्तु यहाँ दकार है। इसलिए "तपर" सूत्र की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है। यदि कहा जाय कि यहाँ दकारोच्चारण का क्या फल है? तो इसके प्रतिप्रश्न के रूप में यह भी कहा जा सकता है कि पञ्चमी समास के अभाव में यहाँ तकारोच्चारण का क्या फल है? यदि कहा जाय कि पञ्चमीसमासाभाव पक्ष में तकार उच्चारणार्थक या मुखसुखार्थ है। क्योंकि उसके अभाव में यहाँ सन्धिकार्य हो जाता, जिससे ऋकार का उच्चारण ही नहीं होता। इसलिए पञ्चमी समास के अभाव में यहाँ का तकारोच्चारण ऋकार के उच्चारण के लिए अथवा असन्देह के लिए अथवा मुखसुखार्थ है, तो उसी प्रकार पञ्चमी समासपक्ष में दकार भी ऋकार के उच्चारणार्थक अथवा असन्देहार्थक या मुखसुखार्थ है। यदि तपरसूत्र में दकार का भी प्रश्लेष है ऐसा माना जाय तो दकार से पर में रहने वाला वर्ण भी समकाल का ही बोधक होगा। ऐसी स्थिति में "लवः" आदि प्रयोगों की सिद्धि संशयापन्न ही हो जाती है। नागेश भट्ट इस बात को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि ऐसी स्थिति में यह मानना चाहिए कि "ऋदोरप्" का दकार धकारस्थानिक है। अर्थात् वहाँ धकार का पाठ है, जिसे सन्धि के आधार पर दकार कर दिया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त

दोष का निराकरण हो जाता है। वस्तुतस्तु "दकारप्रश्लेषपक्षे तु" इस वाक्य में आगत "तु" पद के द्वारा यह व्यक्त कर दिया गया है कि दकार का प्रश्लेष सिद्धान्तपक्ष में नहीं है, इसलिए उपर्युक्त दोष की आशंका ही नहीं है।

वृद्धिरा। वृद्धिः, आत्, ऐजिति पदत्रयमिति—न समासान्तादिप्रवृत्तिशङ्का। तपरकरणमसन्देहार्थतया पूर्वार्थम्, प्रकृतसूत्रे भाष्येऽत्र शास्त्रे गुणानामभेदकत्वं ज्ञापकादाश्रित्य सवर्णग्रहणार्थत्वाभावस्योक्तत्वात्। 'कृष्णौत्कण्ठ्यं', 'गङ्गौघ' इत्यादौ त्रिमात्रव्यावृत्तये परार्थमपि। वृद्धिशब्दोऽत्र पदपरोऽर्थपरत्वासम्भवात्। 'आदैचो वृद्धिपदाऽभिन्ना' इति वाक्यार्थः, पदपदार्थयोस्तादात्म्यस्याङ्गीकारात्। 'रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः' इत्यादौ तयोरभेदप्रतीतेरनुभवसिद्धत्वादित्यन्यत्र विस्तरः।

"वृद्धिरादैच्" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि इस सूत्र में वृद्धि, आत् और ऐच् तीन पद हैं। यहाँ तीन पदों को बताने का कारण यह है कि यहाँ आत् और ऐच् का समाहार द्वन्द्व करके "आदैच्" यह एक पद है, ऐसी भ्रान्ति न हो जाय; क्योंकि समाहारद्वन्द्व करने पर "द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्" सूत्र से टच् की आपत्ति होती, जिससे सूत्र का उक्त रूप नहीं बनता। यदि कहा जाय कि समाहारद्वन्द्व न करके यहाँ इतरेतरयोग द्वन्द्व कर दिया जाय तो क्या आपत्ति है? किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इतरेतरयोग द्वन्द्व करने पर द्विवचन की आपत्ति यहाँ होने लगती। वस्तुतस्तु "द्वित्रिभ्यां पाददन्मूर्धसु" इस सूत्र में "द्वित्रिभ्यां षो मूर्ध्नः" इस सूत्र से समासान्त ष प्रत्यय होकर "मूर्धेषु' ऐसा पाठ करना चाहिए था, किन्तु वैसा न करके "मूर्धसु" इस प्रकार के पाठ करने से यह समझा जाता है कि समासान्तविधि अनित्य होती है। ऐसी स्थिति में "आदैच्" पद में यदि समाहारद्वन्द्व भी माना जाय तो कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु अनित्यत्व के अगतिकगति होने के कारण नागेश भट्ट ने यहाँ द्वन्द्व समास नहीं माना। इसीलिए वे कहते हैं कि इस सूत्र में वृद्धिः, आत् और ऐच् ये तीन पद हैं।

इस सूत्र में "आत्" इस पद में किया गया तपरकरण बहुव्रीहि और पञ्चमीतत्पुरुष दोनों समासों का उदाहरण होने के कारण पूर्वार्थ (आकार) तथा परार्थ (ऐच्) दोनों के लिए है। तात्पर्य यह है कि बहुव्रीहि समास के द्वारा आकार तपर होता है, इसलिए वह अपने समकाल सवर्णी छै दीर्घ आकारों का ही बोधक है। इसी प्रकार पञ्चमी समास से ऐच् तपर होता है, इसलिए वृद्धि संज्ञा द्विमात्रिक 'ऐ औ' की ही होती है।

यदि कहा जाय कि इस सूत्र का "आकार" अण् नहीं है, क्योंकि अण् कहलाने के लिए णकारादि चिह्नों से युक्त होना आवश्यक होता है। ऐसी स्थिति में जब 'अणुदित्' सूत्र से आकार के सवर्णी का ग्रहण प्राप्त ही नहीं था तो उसकी निवृत्ति के लिए "आत्" का तपरकरण निरर्थक है। इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यद्यपि इस प्रकार तपरकरण अनावश्यक है, तथापि उसके अभाव में "आ + ऐच्" इस स्थिति में वृद्धि हो जाती। फलस्वरूप यहाँ स्पष्ट प्रतिपत्ति नहीं होती कि यहाँ अकार है या आकार? इसलिए इस प्रकार के सन्देह की निवृत्ति

कराकर असन्देह के लिए तपरकरण आवश्यक है। इस प्रकार असन्देहार्थक होता हुआ यह पूर्वार्थ भी है। अर्थात् आकार के समकाल सवर्णी के ग्रहणार्थ भी है।

यदि कहा जाय कि "गुणा भेदकाः" इस पक्ष में गुण के भेदक होने के कारण आकार के समकाल सवर्णी का ग्रहण सिद्ध नहीं था, इसलिए तपरकरण समकाल सवर्णी का ग्रहण कराने के लिए आवश्यक है। ऐसी स्थिति में इसे असन्देहार्थ कहना उचित नहीं है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि अत्र शास्त्रे = व्याकरणाशास्त्र में "अस्थिदधि" सूत्र के उदात्तग्रहण से "गुणा अभेदकाः" ऐसा ज्ञापन किया गया है।[1] ऐसी स्थिति में प्रकृत सूत्र = "वृद्धिरादैच्" में आकार के सवर्णी का ग्रहण इसी ज्ञापित परिभाषा से ही सम्भव है। इसलिए "आत्" का तपरकरण सवर्णग्रहण के लिए आवश्यक नहीं है किन्तु असन्देहार्थ ही है। इस प्रकार असन्देहार्थ तपरकरण प्रसंगवश पूर्ववर्ती आकार के कालावधारण के लिए भी हो जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि तपर शब्द में "तात्परः तपरः" इस प्रकार पंचमी समास भी है। इसलिए आत् का तपरकरण परार्थ = ऐच् के कालावधारण के लिए भी है। इसका फल यह होता है कि "कृष्णौत्कण्ठ्यम्" और "गङ्गौघः" जैसे स्थलों में जहाँ स्थानी त्रिमात्रिक और चतुर्मात्रिक है, वहाँ त्रिमात्रिक वृद्धि नहीं होती, क्योंकि तपर के प्रभाव से द्विमात्रिक ऐ और औ की ही वृद्धि संज्ञा होती है।

इस सूत्र में वृद्धि शब्द पदपरक है अर्थपरक नहीं है, क्योंकि यहाँ इसका अर्थपरकत्व सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि इस सूत्र के द्वारा आदैच् को उद्देश्य करके वृद्धि संज्ञा का विधान किया जाता है। वृद्धि संज्ञा है और आदैच् संज्ञी हैं। यह संज्ञा-संज्ञीभाव इसी सूत्र के द्वारा बताया जाता है। इस सूत्र के अतिरिक्त किसी अन्य सूत्र से यदि वृद्धि का संकेत आदैच् अर्थ में कर दिया गया होता तब सम्भव था कि वृद्धि शब्द यहाँ अर्थपरक हो जाता, किन्तु आदैच् अर्थ-निरूपित शक्ति 'वृद्धि' इस पद में है, ऐसा संकेतग्रह यही सूत्र कराता है। इसलिए सम्भव नहीं है कि इसे यहाँ अर्थपरक माना जाय। संज्ञासूत्र में संज्ञा शब्द तो स्वरूप परक ही होते हैं। अन्यत्र जाकर वे अर्थपरक हो जाते हैं। इस प्रकार वृद्धि शब्द यहाँ पदपरक स्वरूपपरक है। वैयाकरण सम्प्रदाय में पद और पदार्थ का तादात्म्य सम्बन्ध होता है। तादात्म्य का अर्थ है—भेदसहिष्णु अभेद। इसलिए "आदैच वृद्धि पद से अभिन्न हैं" ऐसा यहाँ वाक्यार्थबोध होता है।

"रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः" अर्थात् दो अचों वाला 'राम' यह नाम पिनाकी का मानभङ्ग है। यहाँ राम के द्वारा हुए पिनाकी के मानभङ्ग को "राम" इस दो अक्षरवाले पद से हुआ बता कर इसी बात की ओर संकेत किया गया है कि पद और पदार्थ में तादात्म्य है। इसीलिए अर्थ से किये गये कार्य को 'पद से किया गया' कहा गया है। इस प्रकार पद और पदार्थ की अभेद प्रतीति अनुभवसिद्ध है। यह बात अन्यत्र = मञ्जूषा नामक ग्रन्थ में विस्तार से कही गई है। पद-पदार्थ का यह तादात्म्य भेद सहिष्णु अभेद है। इसीलिए मधु शब्द के उच्चारण से माधुर्य की आपत्ति तथा अग्नि शब्दोंच्चारण से मुखदाह की आपत्ति नहीं होती है।

---

१. देखिए इस सम्बन्ध में "गुणा अभेदकाः" इस परिभाषा के ऊपर परिभाषेन्दुशेखर की सुबोधिनी व्याख्या

वृद्धिशब्दस्य सञ्ज्ञात्वन्तु—व्याख्यानात्। विधेयत्वेऽपि तस्य पूर्वपाठो मङ्गलार्थः। 'अपृक्त एकालि'त्यादौ तथा करणं—विधेयस्य प्रथमं प्रयोगेऽसाधुत्वभ्रमनिवारणायेति भाष्ये स्पष्टम्। सर्वशब्दानां सर्वार्थवाचकत्वेऽपि वाचकत्वस्य गृहीतस्यैव बोधजनकतया सञ्ज्ञासूत्राणामज्ञातशक्तिज्ञापकतया विधित्वम्। किञ्च 'सर्वे सर्वार्थाः' इत्यभ्युपगमो योगिदृष्ट्या नास्मद्दृष्ट्या, सर्वशब्दानामर्थानाञ्च विशिष्य ज्ञानाभावात्। सामान्यतस्तथा ज्ञानञ्च न बोधोपयोगि, शास्त्रन्त्वस्मदाद्युद्देशेनैव प्रवृत्तमिति बोद्धव्यम्। तत्रैव सङ्केतग्राहकशास्त्रकरणं स्वेच्छयैवेत्येषां 'यदृच्छा'-शब्दत्वेन व्यवहारः, 'स्वेच्छया सञ्ज्ञाः क्रियन्त' इति च। एतदुपदेशरूपसङ्केतात्प्राक् तत्र सञ्ज्ञात्वाग्रहेण तासामनित्यत्वव्यवहारः।

अत एव तत्तत्सञ्ज्ञाकरणज्ञानरूपप्रकरणादन्यार्थाग्रहणरूपनियमः 'कृत्रिमाकृत्रिम'न्यायमूलतयोक्तः सङ्ख्यासञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये। आर्थिकमेवामुं नियममादाय सञ्ज्ञासूत्रेषु नियमत्वव्यवहारो—'व्यवहाराय नियमः सञ्ज्ञायाः सञ्ज्ञिनि क्वचिदि'त्यादिना कृतः।

वाचकताबोधकत्वेऽपि तदनुत्पादकत्वान्न शब्दार्थसम्बन्धनित्यताहानिः। आसाञ्च शिष्टप्रयुक्तत्वात्साधुत्वमित्यन्यत्र विस्तरः।

इस सूत्र में वृद्धि शब्द संज्ञा है और आदैच् संज्ञी हैं। प्रश्न होता है कि यहाँ इसके विपरीत क्यों न माना जाय? अर्थात् आदैच् ही संज्ञा है और वृद्धि संज्ञी है, ऐसा क्यों न माना जाय? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि वृद्धि शब्द का जो संज्ञात्व है वह व्याख्यान के आधार पर है। वह व्याख्यान इस प्रकार है—यदि आदैच् को संज्ञा मानेंगे तो वृद्धिरूप संज्ञी की तीन संज्ञाएँ (आ, ऐ, औ) हो जाती हैं। एक की अनेक संज्ञा करने का कोई प्रयोजन नहीं है। इसके विपरीत आदैच् को संज्ञी और वृद्धि को संज्ञा मानने में लाघव है कि तीन की एक ही संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार के व्याख्यान से वृद्धि शब्द संज्ञा है। अब यह प्रश्न होता है कि यदि वृद्धि संज्ञा है और इसलिए यह विधेय है तो उद्देश्य के बाद (आदैच्) के बाद इसका पाठ होना चाहिए, क्योंकि उद्देश्य को कहे बिना विधेय का कहना उचित नहीं है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि विधेय होने पर भी इसका पहले पाठ पाणिनि ने मङ्गल के लिए किया है। ग्रन्थ के आदि में मङ्गल करना शिष्टाचार है। पाणिनि का ग्रन्थ "अष्टाध्यायी" का प्रथम सूत्र होने के नाते वृद्धि शब्द का यहाँ पूर्वपाठ मङ्गलार्थक किया गया है।

अब यह विचार हो रहा है कि यहाँ विधेय होने पर भी ग्रन्थादि में मङ्गलार्थ वृद्धि शब्द का पाठ पूर्व में कर देना उचित हो सकता है, किन्तु "अपृक्त एकाल् प्रत्ययः" इस सूत्र में जहाँ एकाल् प्रत्यय को उद्देश्य बना कर अपृक्त संज्ञा विधेय है वहाँ विधेय "अपृक्त" इस पद का पूर्वप्रयोग क्यों किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि विधेय का पूर्वप्रयोग करने पर वह असाधु प्रयोग हो जाता है इस प्रकार भ्रम के निवारण के लिए ही "अपृक्त एकाल्" आदि स्थलों में विधेय का पूर्वप्रयोग किया गया है। यहाँ आदि शब्द से "स्वं रूपम्", "तपरः", "येन विधिः" इत्यादि स्थलों को समझना चाहिए। इन सभी जगहों पर विधेय का

पूर्वप्रयोग हुआ है। "स्वं रूपम्" इस सूत्र में शब्द को उद्देश्य करके स्वरूपबोधकता विधेय है। "तपरस्तत्कालस्य" सूत्र में तत्काल तो संज्ञी है और तपर यह संज्ञा है। इस प्रकार यहाँ भी संज्ञावाचक शब्द का पूर्वप्रयोग है। इसी प्रकार "येन विधि:" इस सूत्र में भी येन विधि: = अर्थात् विशेषण यह संज्ञा है और तदन्त संज्ञी है। इस प्रकार इन जगहों पर विधेय का अथवा संज्ञा शब्द का पूर्वप्रयोग किया गया है। इन प्रयोगों से यही निष्कर्ष निकलता है कि यदि कहीं इस प्रकार का प्रयोग हो तो उसे असाधु नहीं समझना चाहिए।

अब यह विचार प्रस्तुत है कि संज्ञासूत्र नियमार्थक है या विध्यर्थक? नियमार्थक मानने वालों का कहना है कि "सर्वे सर्वार्थवाचका:" अर्थात् सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक होते हैं। ऐसी स्थिति में "आदैच्" रूपी अर्थ वृद्धि शब्द का पहले से ही है। इस पहले से सिद्ध अर्थ के सम्बन्ध में "वृद्धिरादैच्" यह सूत्र नियम करता है कि इस व्याकरणशास्त्र में वृद्धि शब्द आदैच् का ही बोधक है। इस प्रकार यह सूत्र नियमार्थक है। नागेश भट्ट इस बात से असहमत हैं। इनका कहना है कि यद्यपि "सर्वे सर्वार्थवाचका:" इस नियम से सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक होते हैं तथापि जब तक वाचकता गृहीत नहीं होती वह बोधजनिका नहीं हो सकती है। गृहीतवाचकत्व शब्द में ही बोधजनकत्व रहता है। इस शब्द में इस अर्थनिरूपित शक्ति है, इस प्रकार शक्तिज्ञान होने के पश्चात् ही उस शब्द से उस अर्थ का बोध होता है। संज्ञासूत्र यही कार्य करते हैं। ये अज्ञातशक्ति के ज्ञापक होते हैं। "वृद्धिरादैच्" सूत्र के पहले यह बात ज्ञात नहीं थी कि वृद्धि पद में आदैच् रूप अर्थ को कहने की शक्ति है। यह बात तो "वृद्धिरादैच्" सूत्र के द्वारा ही विदित होती है। इसलिए संज्ञासूत्र अज्ञातशक्तिज्ञापक होने के कारण विधिसूत्र है, न कि नियमसूत्र।

दूसरी बात यह है कि "सर्वे सर्वार्थवाचका:" यह नियम भी योगियों की दृष्टि से है, न कि हम लोगों की दृष्टि से। योगियों को ही योगज दृष्टि से शब्दार्थोभयात्मकपरा का प्रत्यक्ष होता है। हम लोगों को तो न तो सभी शब्दों का ज्ञान है और न सभी अर्थों का ज्ञान। हम लोगों के लिए तो शास्त्रकार का संकेत ही शब्दार्थावबोध का साधन है। यदि कहा जाय कि हमें विशेष ज्ञान यद्यपि नहीं है किन्तु सामान्य ज्ञान तो है ही कि सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक होते हैं। इसी ज्ञान से शास्त्र में भी कार्य चलाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में नागेश भट्ट कह रहे हैं कि सामान्य रूप से वैसा ज्ञान शास्त्रीय बोध के लिए उपयोगी नहीं है। क्योंकि सामान्य ज्ञान से शास्त्रीय प्रक्रिया का निर्वाह नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि योगियों के विशेष ज्ञान से निर्वाह कर लिया जाय, शास्त्र की क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि शास्त्र की प्रवृत्ति तो हम लोगों के उद्देश्य से होती है, क्योंकि योगियों के विशेष ज्ञान से शास्त्रीय प्रक्रिया का निर्वाह नहीं हो सकता और जिन्हें शास्त्रीय प्रक्रिया की आवश्यकता हैं उन्हें विशेष ज्ञान है नहीं, इसलिए शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। पाणिनि ने वृद्धि पद का संकेत "आदैच्" अर्थ में किया है। गुण पद का संकेत "अदेङ्" अर्थ में किया है। इस प्रकार तत्रैव = आदैच् आदि अर्थों में ही संकेतग्राहक शास्त्र "वृद्धिरादैच्" आदि का प्रणयन करने से विदित होता है कि पाणिनि ने यह सब कार्य स्वेच्छया किया है। इसलिए एतेषाम् = वृद्धि-गुण आदि संज्ञा शब्दों को यदृच्छा शब्द कहा जाता है। इसीलिए यह भी

व्यवहार होता है कि संज्ञाएँ स्वेच्छा से की जाती हैं। "वृद्धिरादैच्" आदि संज्ञासूत्रों के उपदेशरूप संकेतग्रह से पहले तत्र = वृद्धि आदि पदों में संज्ञात्व का ज्ञान नहीं होता है। वृद्धि संज्ञा है और आदैच् संज्ञी हैं, यह बात तो "वृद्धिरादैच्" सूत्र के उपदेश के बाद ही ज्ञात होती है, इसलिए संज्ञाओं में अनित्यत्व का व्यवहार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि पाणिनि के पहले ये संज्ञाएँ नहीं थीं। पाणिनि ने जब इन्हें बनाया तब ये अस्तित्व में आईं। इसलिए संज्ञाएँ अनित्य हैं, ऐसा लोकव्यवहार होता है।

अत एव = संज्ञा के विषय में अनित्यत्व का व्यवहार होने से ही यह बात भी कही जाती है कि संज्ञासूत्र नियमार्थक हैं। तात्पर्य यह है कि "सर्वे सर्वार्थवाचकाः" इस नियम के आधार पर वृद्धि शब्द अन्य अर्थों के साथ आदैच् अर्थ का भी वाचक है, किन्तु इस व्याकरणशास्त्र में जब वृद्धि संज्ञा कर दी गई, तब संज्ञाकरणज्ञानरूप प्रकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ वृद्धि शब्द से वर्धन आदि अन्य अर्थ का ग्रहण नहीं होता है, किन्तु केवल "आदैच्" का ही ग्रहण होता है। संज्ञासूत्रों की यह आर्थिक नियमार्थता (न कि वास्तविक नियमार्थता) ही "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः" इस न्याय का मूल है। आदैच् अर्थ में तिरोहित शक्ति को संज्ञा बनाकर व्यक्त करने के कारण वृद्धि शब्द से कृत्रिमत्वात् आदैच् अर्थ का ही ग्रहण होता है, न कि अकृत्रिम वर्धन रूपी अर्थ का ग्रहण। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि संज्ञासूत्रों में आर्थिक नियम की प्रतीति होती है। इस आर्थिक नियम को लेकर ही भर्तृहरि ने संज्ञासूत्रों में नियमत्व का व्यवहार करते हुए कहा है कि "व्यवहाराय नियमः संज्ञायाः संज्ञिनि क्वचित्" अर्थात् कहीं किसी संज्ञी में संज्ञा का नियम व्यवहार के लिए होता है।

"वृद्धिरादैच्" सूत्र से आदैच्निष्ठ वाच्यतानिरूपित वाचकता का वृद्धि पद में विधान करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसके पहले वृद्धि पद में आदैच् की वाचकता नहीं थी। ऐसी स्थिति में भाष्यकार का यह कथन कि "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" अर्थात् शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध नित्य है, कैसे संगत होगा? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि "वृद्धिरादैच्" सूत्र वृद्धि पद में रहने वाली वाचकता का केवल बोधक ही है, उत्पादक नहीं है। वृद्धि पद का आदैच् अर्थ के साथ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध जो नित्य है उसी का बोधन "वृद्धिरादैच्" के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्व की हानि नहीं होती है।

अब विचार यह होता है कि ये जो टि, घि, घु, भ आदि संज्ञाएँ हैं ये व्याकरणलक्षणनिष्पन्न तो हैं नहीं, ऐसी स्थिति में इन्हें साधु कैसे माना जाय? इस प्रकार की आशंका के उत्तर में कह रहे हैं कि शिष्टजन से (पाणिनि आदि के द्वारा) प्रयुक्त होने के कारण आसाम् = टि-घु-भ आदि संज्ञाओं का साधुत्व है। यह बात मञ्जूषादि ग्रन्थों में विस्तार से कही गई है।

कार्यकालपक्षे 'मृजेर्वृद्धिरि'त्यादौ वृद्धिपदार्थजिज्ञासायां 'वृद्धिरादैजि'त्युपस्थित्या तदर्थबोधरूपे शक्तिग्रहे वृत्ते विधिवाक्यार्थबोधः। अत एव 'ष्यङः सम्प्रसारणमि'ति सूत्रे भाष्ये—"कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषं", 'भस्ये'त्युपस्थितमिदं भवति—'यचि भमिती'त्युक्तम्। 'ईदूदेदि'ति सूत्रे भाष्येऽपि—'कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषं, 'प्रगृह्यः प्रकृत्ये'त्युपस्थितमिदं भवति—'ईदूदेद् द्विवचनं

प्रगृह्यमि'ति।" 'निष्ठे'ति सूत्रे कैयटोऽपि—'निष्ठे'त्युक्ते सञ्ज्ञावाक्यं—'क्तक्तवतू निष्ठे'ति स्मर्यते इत्याह। अत्र पक्षे एकत्र शक्तिग्रहे वृत्तेऽपि 'तत्प्रदेशस्थस्यैव तत्रार्थे शक्तिरि'ति सम्भावनया प्रदेशान्तरस्थे बोधो न स्यादिति सर्वप्रदेशेषु तत्तत्पदशक्तिग्रहपूर्वकं विधिवाक्यार्थबोधः। यथोद्देशे तु एकदैव शक्तिग्रहात्सर्वत्र बोध इति विशेषः। एतेन—"कार्यकालपक्षे तपरत्वं स्पष्टार्थमेव, आदैच्पदार्थस्य वृद्धिविशेषणतया विधेयत्वेन सवर्णग्रहणाप्रसक्तेः। 'यत्र वृद्धिपदं तत्रादैजित्युपतिष्ठते' इति क्रमेण सञ्ज्ञासूत्राणामर्थात्—" इत्यपास्तमित्यन्यत्र विस्तरः। अत्रातद्भावितानामपि आदैचां ग्रहणं, तेन शालीयादिसिद्धिः।

"वृद्धिरादैच्" सूत्र में आत् का तपरकरण पंचमी समास के द्वारा परार्थ (ऐच्) के लिए है। इसलिए वृद्धि संज्ञा त्रिमात्रिक को नहीं होती है। यह बात पहले कही जा चुकी है। कुछ लोगों का कहना है कि यह जो परार्थ की बात कही गई है वह यथोद्देशपक्ष में ही सम्भव है, कार्यकाल पक्ष में सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि यथोद्देश पक्ष में संज्ञासूत्र का वाक्यार्थबोध स्वदेश में होता है। उसी वाक्यार्थबोध से सभी शास्त्र में निर्वाह किया जाता है। इस यथोद्देशपक्ष में आदैच् जब उद्देश्य है, तब उसमें विधेयता का अभाव होने के कारण अण्त्वेन उसके सवर्णी का ग्रहण प्राप्त रहता है। यदि आदैच् विधेय होते तो भाव्यमान परिभाषा से उनके सवर्णी के ग्रहण का निषेध हो जाता, किन्तु यथोद्देश पक्ष में यह बात होती नहीं, इसलिए ऐच् के सवर्णी का ग्रहण न होने लगे इसलिए तपरकरण परार्थ है।

कार्यकाल पक्ष में तो संज्ञासूत्र की विधिसूत्र के साथ एकवाक्यता (पदैकवाक्यता) होती है, अर्थात् संज्ञासूत्र का अपेक्षित पद विधिसूत्र में जाता है, तब उसे मिला कर विधिसूत्र का वाक्यार्थबोध होता है। उदाहरण के लिए "वृद्धिरेचि" सूत्र में वृद्धि पदार्थ की जिज्ञासा होने पर "वृद्धिरादैच्" का "आदैच्" पद यहाँ आता है। उस समय "वृद्धिरेचि" का वाक्यार्थबोध इस प्रकार होता है कि अवर्ण से एच् के पर में रहने पर पूर्व-पर के स्थान पर "आदैच्" से अभिन्न वृद्धि आदेश होता है। इस प्रकार इस पक्ष में "आदैच्" की विधेयता स्पष्ट है। जब आदैच् विधेय हो गया तब भाव्यमान परिभाषा से ही उसके सवर्णी का ग्रहण निषिद्ध हो जायेगा। ऐसी स्थिति में इस कार्य के लिए तपरकरण अनावश्यक है।

नागेश भट्ट इस बात से अपनी असहमति बताते हुए कह रहे हैं—कार्यकाल पक्ष में "मृजेर्वृद्धिः" इत्यादि सूत्रों में जब वृद्धिपदार्थ की जिज्ञासा होती है, तब "वृद्धिरादैच्" सूत्र की वहाँ उपस्थिति होती है। इसके बाद पहले "वृद्धिरादैच्" सूत्र का वाक्यार्थबोध होता है। इस प्रकार पदार्थोपस्थिति होने से जब वृद्धि पद का शक्तिग्रह हो जाता है कि वृद्धि पद में आदैच्-निरूपित शक्ति है तब विधिसूत्र अर्थात् "मृजेर्वृद्धिः" आदि सूत्रों का वाक्यार्थबोध होता है। इस प्रकार इस पक्ष में संज्ञासूत्र और विधिसूत्र का पृथक्-पृथक् वाक्यार्थबोध होकर उनकी परस्पर में "उपजीव्योपजीवकभावापन्नविषयताप्रयोजक" वाक्यैकवाक्यता होती है। संज्ञासूत्र का वाक्यार्थबोध उपजीव्य (उपकारक) है और विधिशास्त्र का वाक्यार्थबोध उपजीवक (उपकार्य) है। इस प्रकार कार्यकाल पक्ष में भी संज्ञासूत्र का ('वृद्धिरादैच्' का) वाक्यार्थबोध पृथक् होने

के कारण "आदैच्" पद इस पक्ष में भी उद्देश्य कोटि में ही रह जाता है। परिणाम यह होता है कि "आदैच्" के उद्देश्य होने के कारण भाव्यमान परिभाषा की यहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए ऐच् के सवर्णों का ग्रहण न होने लगे इस कार्य के लिए तपरकरण की परार्थता इस पक्ष में भी सम्भव है। "तात्परः तपरः" इस विग्रह के आधार पर 'आत्' का तपरकरण "ऐच्" के समकाल का नियामक होता है।

अत एव = कार्यकाल पक्ष में सम्पूर्ण संज्ञासूत्र की विधिदेश में उपस्थितिपूर्वक पृथक् वाक्यार्थबोध स्वीकार करने से ही "ष्यङः सम्प्रसारणम्" सूत्र का भाष्य संगत होता है। भाष्यकार ने वहाँ कहा है कि जहाँ 'भस्य' का अधिकार जाता है वहाँ भपदार्थ की जिज्ञासा होने पर कार्य-काल पक्ष में "यचि भम्" की उपस्थिति होती है। "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" सूत्र के भाष्य में भी कहा गया है कि संज्ञा और परिभाषा के विषय में कार्यकाल पक्ष होता है। जहाँ पर "प्रगृह्यः प्रकृत्या" अर्थात् प्रगृह्य को प्रकृतिभाव किया जाता है वहाँ कार्यकालपक्ष में जब प्रगृह्य पदार्थ की जिज्ञासा होती है तब वहाँ "ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" सूत्र की उपस्थिति होती है । "निष्ठा" सूत्र के कैयट में भी कहा गया है कि जहाँ "निष्ठा" पद का कथन होता है वहाँ निष्ठा पदार्थ की जिज्ञासा होने पर कार्यकालपक्ष में "क्तक्तवतू निष्ठा" इस संज्ञासूत्र की स्मरणात्मक उपस्थिति होती है। उपस्थित सूत्रों के वाक्यार्थबोध होने के पश्चात् संज्ञा शब्द का शक्तिग्रह होता है और इसके बाद विधिसूत्र का वाक्यार्थबोध होता है; जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इस प्रकार कार्यकाल पक्ष में भी तपरकरण परार्थ है, यही यहाँ का निष्कर्ष है।

अब यथोद्देश और कार्यकाल पक्ष का भेद बताते हुए कह रहे हैं कि अत्र पक्षे = कार्यकालपक्ष में भी संज्ञासूत्र का एक जगह (किसी एक विधिसूत्र स्थल में) शक्तिग्रह हो जाने पर भी उन वृद्धि आदि संज्ञा शब्दों की उस विधिप्रदेश में ही तत्तद् अर्थों में शक्ति है, इस संम्भावना से दूसरे प्रदेश में गये हुए वृद्धि शब्द की शक्ति का ज्ञान नहीं होगा। जैसे "वृद्धिरेचि" सूत्र में आने पर "वृद्धिरादैच्" का शाब्दबोधपुरः सर जब वृद्धि पद का शक्तिग्रह हो गया तब "मृजेर्वृद्धिः" सूत्र में गये हुए "वृद्धिरादैच्" सूत्र का वाक्यार्थबोध नहीं होगा, क्योंकि सम्भावना इस प्रकार की बनी हुई है कि आदैज् अर्थ वृद्धिपदवाच्य है, यह अर्थ "वृद्धिरेचि" सूत्रस्थल के लिए ही है। इसलिए सभी विधिप्रदेश में जहां संज्ञासूत्र की उपस्थिति होती है वहाँ उपस्थित संज्ञासूत्र के शाब्दबोध के साथ वृद्धि आदि संज्ञा शब्दों की शक्ति गृहीत होती है। इसके बाद विधिसूत्र का वाक्यार्थबोध होता है। यथोद्देश पक्ष में तो संज्ञासूत्र का स्वदेश में एक ही जगह और एक ही बार शब्दबोध होता है। इसी शक्तिग्रह से सभी विधिसूत्रों का बोध होता है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि यथोद्देश पक्ष हो या कार्यकाल पक्ष—"दोनों पक्षों में संज्ञासूत्र का वाक्यार्थबोध पृथक् होता है। कार्यकाल पक्ष में यह वाक्यार्थबोध विधिदेश में होता है, जब कि यथोद्देश पक्ष में संज्ञासूत्र के स्वदेश में ही होता है। इस प्रकार संज्ञासूत्र के वाक्यार्थबोध के बाद विधिसूत्र के साथ उसकी वाक्यैकवाक्यता होती है। इस प्रकार दोनों पक्षों में "वृद्धिरादैच्" का ऐच् पद उद्देश कोटि में ही आता है। इस प्रकार उसके विधेय न होने के कारण भाव्यमान परिभाषा से यहाँ सवर्णग्रहणाभाव सिद्ध नहीं है, इसलिए त्रिमात्रिक ऐच् की वृद्धिसंज्ञा वे वारण के लिए "आत्" पद का तपरकरण दोनों पक्षों (यथोद्देश और

कार्यकाल) के लिए आवश्यक है।
एतेन = पक्षद्वय में उपर्युक्त रीति से तपरकरण के आवश्यक होने के कारण उन लोगों का कथन अपास्त हो गया जो लोग कहते थे कि कार्यकाल पक्ष में "वृद्धिरादैच्" सूत्र विधिदेश में जाकर अपने "आदैच्" पद को वृद्धि पद के विशेषण के रूप में समर्पित कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि वहाँ पदैकवाक्यता होती है, जिससे "मृजेर्वृद्धिः" सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि मृज् के इक् के स्थान पर आदैच् से अभिन्न वृद्धि होती है। इस प्रकार आदैच् पद इस कार्यकाल पक्ष में विधेय कोटि में आ जाता है। विधेय कोटि में आने का परिणाम यह होता है कि भाव्यमानतया ऐच् के सवर्णो का ग्रहण ही प्राप्त नहीं होता है, इसलिए इस पक्ष में तपरकरण स्पष्टार्थ है। किन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि कार्यकाल और यथोद्देश दोनों पक्षों में तपरकरण ऐच् के सवर्णग्रहणाभाव के लिए आवश्यक है, इसलिए इसे स्पष्टार्थ मानने वाले का कथन परास्त हो ही जाता है। उनका कहना है कि जहाँ वृद्धि पद होता है वहाँ आदैच् की उपस्थिति होती है। इसी प्रकार अन्य संज्ञासूत्रों का भी अर्थ होता है। किन्तु ये सारी बातें उपर्युक्त विवेचन के अनुसार परास्त हैं। यह अन्यत्र उद्योत ग्रन्थ में विस्तार से कही गई है।

अब यह विचार कर रहे हैं कि वृद्धि शब्द से जिन आकार, ऐकार और औकार का बोध होता है वे तद्भावित अर्थात् वृद्धि शब्द के द्वारा विहित होने चाहिए या अतद्भावित अर्थात् स्वतः पूर्वतः सिद्ध भी हों तो उन्हें वृद्धि कहा जाय? इस प्रकार की शंका में कह रहे हैं कि अत्र = "वृद्धिरादैच्" इस सूत्र में अतद्भावित = स्वतः सिद्ध आदैच् का भी ग्रहण होता है और अपि शब्द से तद्भावित का भी ग्रहण होता है। इसलिए शाला शब्द के आदि आकार को, जो स्वतः सिद्ध है, उसे वृद्धि माना गया और उसके आधार पर शाला शब्द की वृद्ध संज्ञा की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि शाला शब्द से "वृद्धाच्छः" सूत्र से छ प्रत्यय करके "शालीयः" प्रयोग की सिद्धि होती है।

भूवादयो। क्रियावाचिनः किम्? विकल्पार्थकवाशब्दस्य निपातस्य धातुत्वेऽप्रातिपदिकत्वात्सुबभावे पदत्वानापत्तेः तदुक्तौ तु न दोषः। वार्थस्य विकल्पस्य भूतभविष्यत्कालसम्बन्धाभावेन क्रियात्वाभावात्। अस्त्याद्यर्थस्यापि तत्त्वं भूतभविष्यत्कालसम्बन्धात्। भ्वादयः किम्? 'आणवयति' 'वट्टयती'त्यादीनां धातुत्वे शास्त्रविषयतया साधुत्वापत्तेः। सूत्रशेषे भाष्ये स्फुटमेतत्। स्तम्भ्वादीनामुदित्त्वेन धात्वधिकारविहितकार्योद्देश्यत्वादिना स्थितपाठभ्रंशानुमानान्न तेषु दोषः।

"भूवादयो धातवः" सूत्र की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि इस सूत्र की वृत्ति में "क्रियावाचिनः" इस पद की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि जब सूत्र में "क्रियावाचिनः" पद नहीं है तब यह वृत्ति में कहाँ से आया, जिसके सम्बन्ध में प्रश्न हुआ है कि इसकी क्या आवश्यकता है? इस बात को जानने के लिए इसके अर्थ पर विचार अप्रासंगिक नहीं होगा। यहाँ "भूश्च वाश्च इति भूवौ, आदिश्च आदिश्च इति

आदी, भूवौ आदी येषां ते भूवादयः" इस प्रकार का विग्रह किया जाता है। एक आदि शब्द का सम्बन्ध यहाँ भू के साथ होता है और दूसरे का सम्बन्ध वा के साथ होता है। भू शब्द से सम्बद्ध आदि शब्द प्रभृति (अवयव) वाची है और 'वा' शब्द से सम्बद्ध आदि शब्द प्रकार (सादृश्य) वाची है। इस प्रकार अन्वय करके सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि "वा के सदृश जो भू इत्यादि है उनकी धातुसंज्ञा होती हैं"। यहाँ वा का सादृश्य क्रियावाचकत्व के आधार पर कर लिया गया है, इसलिए वृत्ति में कहा गया है—"क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः"।

इस प्रकार से क्रियावाचकत्व का लाभ होने पर भी एक शंका होती है कि क्रियावाचकत्वेन जो यहाँ 'वा' का सादृश्य लिया गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि सादृश्य तो सादृश्यप्रतियोगितावच्छेदक के व्यापकीभूत धर्म के आधार पर लिया जाता है। 'वा' का सादृश्य भू आदि में लेने के कारण "वा" सादृश्य का प्रतियोगी होता है। प्रतियोगितावच्छेदक वात्व होता है। इस वात्व का व्यापकीभूत धर्म क्रियावाचकत्व नहीं है, क्योंकि अव्यय 'वा' शब्द में वात्व के रहने पर भी क्रियावाचकत्व नहीं है। इसलिए क्रियावाचकत्वेन सादृश्य नहीं लिया जा सकता। ऐसी स्थिति में क्रियावाचकत्व का लाभ यहाँ कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि यहाँ "क्रियावाची" अर्थ का लाभ परस्पर साहचर्य से होता है। वह साहचर्य इस प्रकार लिया जाता है कि भू और वा दो-दो प्रकार के मिलते हैं। एक तो पृथिवीवाची भू और दूसरा 'भू सत्तायाम्' का भू। इसी प्रकार 'वा' शब्द भी दो प्रकार का मिलता है। एक तो अव्यय वा शब्द और दूसरा "वा गतिगन्धनयोः" का वा शब्द। दोनों भू शब्दों में पृथिवीवाची भू शब्द सत्ववाची है और सत्ता अर्थवाला भू शब्द असत्ववाची है, किन्तु वा शब्द तो दोनों असत्ववाची ही हैं। इसलिए असत्ववाची वा के साहचर्य से यहाँ असत्ववाची ही भू लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि पृथिवीवाची भू की व्यावृत्ति हो गई। असत्ववाची भू, जिसका यहाँ ग्रहण किया गया है, वह क्रियावाची होता हैं। इसके साहचर्य से क्रियावाची "वा" का ही ग्रहण किया गया। इससे अव्यय वा की व्यावृत्ति हो गई। इस प्रकार परस्पर साहचर्य से यहाँ क्रियावाची रूपी अर्थ का लाभ होता है। इसीलिए इस सूत्र की वृत्ति में "क्रियावाचिनः" इस पद का उल्लेख हुआ है।

इस उपर्युक्त प्रकार से उपलब्ध "क्रियावाचिनः" पद के ऊपर आशंका करते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि इस पद की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार की शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यदि यहाँ "क्रियावाचिनः" पद को न रखा जाय तो विकल्पार्थक निपात "वा" शब्द की धातु संज्ञा होने लगेगी। परिणाम यह होगा कि "अधातुः" इस अंश से इसके प्रातिपदिकत्व का निषेध हो जायेगा और प्रातिपदिक संज्ञा के अभाव में इसके आगे विभक्ति न आने से इसकी पद संज्ञा नहीं होगी। पद संज्ञा के अभाव में "अपदं न प्रयुञ्जीत" इस नियम के आधार पर इसका प्रयोग नहीं हो सकेगा। इसलिए इसका पदत्व वाञ्छित है। सूत्र की वृत्ति में जब "क्रियावाचिनः" इस पद का उल्लेख किया जाता है, तब उक्त दोष (वा का पदत्वाभाव रूपी दोष) नहीं होता है, क्योंकि "वा" इस निपात का अर्थ जो विकल्प है वह क्रिया नहीं है। क्रिया वही होती है जिसका सम्बन्ध भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों के साथ रहे। विकल्प

का सम्बन्ध काल के साथ न होने से वह क्रिया नहीं है। वस्तुतस्तु कालत्रय में जिसकी प्रतीति साध्यत्वेन होती है वही क्रिया है। इस प्रकार का क्रियात्व "वा" के अर्थ विकल्प में न होने के कारण वह क्रिया नहीं है।

अब यह शंका होती है कि कालत्रय में जिसकी प्रतीति साध्यत्वेन होती है, वह व्यापार-समुदाय क्रिया है। पाक, गमन, ज्वलन आदि क्रियाओं में अवयवभूत व्यापारों के वैलक्षण्य से साध्यात्मक व्यापार-समूह रूप क्रियात्व की प्रतीति स्पष्ट है, किन्तु इस प्रकार का निष्पाद्यत्व रूप क्रियात्व तो अस् धात्वर्थ सत्ता में नहीं है; क्योंकि "आत्मा अस्ति", "पर्वताः सन्ति" इत्यादि स्थलों में जहाँ आत्मकर्तृक त्रैकालिक सत्ता है उसमें निष्पाद्यत्व का व्यवहार कैसे किया जा सकता है? इसी प्रकार पर्वतों की सत्ता में कालत्रयावच्छिन्न निष्पाद्यत्व का व्यवहार कैसे होगा? क्योंकि पर्वतकर्तृक सत्ता की निष्पत्ति किं-प्रयोज्य है, यह नहीं कहा जा सकता। यहाँ आये हुए 'तत्त्वम्' का अर्थ 'क्रियात्वम्' है।

नागेशभट्ट इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि अस् आदि धातुओं का अर्थ भी क्रिया है, क्योंकि उसका सम्बन्ध भी भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के साथ है।"आत्मा अस्ति" इत्यादि वाक्यों के प्रयोग के समय राजादि प्रसिद्ध व्यक्ति या किसी व्यक्तिविशेष वृत्ति क्रिया में अनुभूयमान वर्तमानत्व के साहचर्य से आत्मा और पर्वतादि की सत्ता (स्थिति) क्रिया में भी वर्तमानत्वादि का उपपादन हो सकता है। जिस प्रकार जीव के नित्य होने पर भी शरीर के अनित्य होने के कारण तदवच्छिन्न जीव का भी अनित्यत्व व्यवहार होता है, उसी प्रकार राजादि व्यक्ति वृत्ति क्रिया के वर्तमानत्वादि का आत्मकर्तृक सत्ता में भी व्यवहार होता है। प्रागभावप्रतियोगित्वे सति ध्वंसप्रतियोगीरूप अनित्यत्व राजादि क्रियाओं में हैं ही, इसलिए तत्तत् क्रियाविशिष्ट सत्ता में भी अनित्यत्व का व्यवहार सुलभ हो जाता है। भूतत्वादि भेदभिन्न राजस्थिति आत्मस्थिति की भेदिका होती है। इस प्रकार अस्त्यर्थ सत्ता में कालत्रय का योग होने से उसमें भी क्रियात्व की उपपत्ति हो जाती है।

सूत्र में भू इत्यादि शब्दों का उल्लेख करके उन्हीं की धातुसंज्ञा का विधान किया गया है। यदि ऐसा नहीं किया गया होता तो "आज्ञापयति" अर्थ वाले "आणवयति" तथा "वर्तयति" अर्थ वाले "वट्टयति" के प्रकृति भाग "आणव" और "वट्ट" की भी धातु संज्ञा हो जाती। इसका परिणाम यह होता कि ये भी शास्त्र के विषय हो जाते और साधु कहलाने लगते। प्राकृत शब्दों में अर्थबोधकता होने पर भी वे साधु नहीं कहे जाते, क्योंकि साधु तो वे ही कहे जाते हैं जो व्याकरण से निष्पन्न होते हैं। प्राकृत शब्द ऐसे नहीं होते हैं, अतः उनकी साधुत्वापत्ति के वारण के लिए सूत्र में भ्वादिग्रहण किया गया है। यह बात प्रकृत सूत्र "भूवादयो धातवः" के भाष्य में स्पष्ट है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि धातुपाठ में पठित भू आदि की ही धातु संज्ञा होती है। ऐसी स्थिति में सूत्र में पठित "स्तम्भु" आदि का धातुत्व कैसे होगा? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "स्तम्भु" आदि में जो उदित्करण किया गया वह धातु के उदित्-प्रयुक्त कार्य के लिए ही है। अन्यथा उदित्करण की क्या आवश्यकता थी? इससे स्पष्ट होता है कि ये भी धातु हैं। इसके अतिरिक्त इन्हें उद्देश्य बना कर धात्वधिकार कार्य का विधान

किया गया है। जैसे "जृस्तन्भुम्रुचुम्लुचु" सूत्र से धातु को उद्देश्य बनाकर विहित च्लि विकरण को अङ् का विधान किया गया है। यह कार्य स्तम्भु आदि के धातुत्व के बिना सम्भव नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि "स्तम्भु" आदि धातुओं का भ्वादिगण में पाठ था, जो नष्ट हो जाने के कारण आज वहाँ उपलब्ध नहीं हो रहा है। इस प्रकार के अनुमान से "स्तम्भु" आदि सूत्रपठित की भी धातु संज्ञा हो जाती है, जिससे कोई दोष नहीं रह जाता है।

प्राग्रीश्व। 'अधिरीश्वरे' इत्यभिव्याप्य प्राङ्निपाता इत्यधिकारः। 'प्राङ्निपाताः सन्तो गत्यादिसञ्ज्ञका' इत्यर्थः। तेन ताभिः समावेशः, 'अधिरीश्वरे' विभाषा कृञी'-त्यत्र निपातपदसम्बन्धश्च सिद्धः। एषां द्योतकत्वं वाचकत्वञ्च यथाकार्यं, यथाप्रयोगं बोद्धव्यमित्यन्यत्र विस्तरः।

"प्राग्रीश्वरान्निपाताः" इस सूत्र की व्याख्या कर रहे हैं। इस सूत्र में "रीश्वरात्" इस पद में जो पञ्चमी है वह "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इस वार्तिक से कर्म अर्थ में हुई है। इसलिए इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि "रीश्वरपदघटितसूत्रमभिव्याप्य प्राक् निपाताः इति पदद्वयमधिक्रियते" अर्थात् रीश्वर पद से युक्त "अधिरीश्वरे" सूत्र पर्यन्त प्राक् और निपात इन दो पदों का अधिकार जाता है। इस प्रकार दो पदों के अधिकार का फल यह होता है कि प्र, परा आदि शब्दों की तथा चादिगणपठित "च, वा" आदि शब्दों की पहले निपात संज्ञा होती है। निपातसंज्ञक होते हुए प्रादि और चादि पीछे उपसर्गसंज्ञक और गतिसंज्ञक होते हैं। इस प्रकार निपात संज्ञा, गति और उपसर्ग संज्ञा का उपजीव्य हो जाती है। इसलिए इनका परस्पर बाध्य-बाधकभाव नहीं होता है। अन्यथा यदि यह अधिकार नहीं होता तो आकडारीय होने के कारण इनमें बाध्यबाधकभाव होने लगता। यहाँ निपात संज्ञा का गति और उपसर्ग संज्ञाओं के साथ बाध्यबाधक न होने के कारण इस निपात संज्ञा की ताभिः = गत्यादि संज्ञाओं के साथ समावेश हो जाता है।

"अधिरीश्वरे" सूत्र की अनुवृत्ति "विभाषा कृञि" सूत्र में भी होती है, इसलिए वह सूत्र भी रीश्वरपदघटित हो जाता है। रीश्वरपदघटित होने से वहाँ तक "प्राक् निपाताः" इन दोनों पदों का अधिकार जाता है, इसलिए "अधिरीश्वरे" तथा "विभाषा कृञि" इन दोनों सूत्रों में निपात पद का सम्बन्ध हो जाता है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि रीश्वर शब्द के अनर्थक होने के कारण उसकी प्रातिपदिक संज्ञा ही नहीं होगी तो "रीश्वरात्" यह निर्देश कैसे किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि "अधिरीश्वरे" सूत्र के "रीश्वर" इस अंश का अनुकरण रीश्वर शब्द रख कर यहाँ अनुकरण और अनुकार्य में भेद की विवक्षा है। इस पक्ष में अनुकार्यनिष्ठ बोधकता शक्ति का अनुकरण में आरोप होता है। इस प्रकार "रीश्वर" यह अनुकरण अर्थवान् हो जाता है और उसकी प्रातिपदिक संज्ञा करके "रीश्वरात्" यह पञ्चम्यन्त रूप बनाया गया है।

यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि "प्राग्रीश्वरात्" की जगह "प्रागीश्वरात्" ऐसा निर्देश करना उचित है, क्योंकि ऐसा करने पर "अधिरीश्वरे" सूत्र को छोड़ कर "ईश्वरे तोसुन्कसुनौ" (३।४।१३) सूत्र तक यह अधिकार चला जाता, जो वाञ्छित नहीं है। इसलिए "प्राग्रीश्वरात्" ऐसा निर्देश करना ही उचित है।

निपात द्योतक हैं या वाचक? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि निपात द्योतक भी हैं और वाचक भी हैं। कार्य और प्रयोग के अनुसार इनका द्योतकत्व और वाचकत्व समझना चाहिए। उदाहरण के लिए "अनुभूयते सुखम्" इस वाक्य को लिया जा सकता है। सुख अनुभव का विषय बनाया जाता है। यहाँ अनुभव अर्थ भू धातु का ही है, अनु तो केवल उसका द्योतक है। "अहंयुः" यहाँ "अहम्" यह मान्त अव्यय (निपात) अहंकार अर्थ का वाचक है। इस प्रकार निपात कहीं द्योतक होते हैं और कहीं वाचक होते हैं। इस प्रकार नैयायिकों का यह कहना कि प्रादि द्योतक होते हैं और चादि वाचक होते हैं, यह भी निरस्त हो जाता है। कारण कि द्योतकता और वाचकता—ये दोनों चीजें प्रादि और चादि में समान है। यह बात मञ्जूषादि में विस्तार से कही गई है।

'असत्त्वे' इति पर्युदासो लाघवादित्याह—अद्रव्येति। विशेष्यतया द्रव्यभिन्नार्था इत्यर्थः। तेन क्रियाविशिष्टद्रव्यवाचिनां विप्रादिघटकप्रादीनां न। चादयः किम्? स्वरादिपठितानामसत्त्ववृत्तित्वे आद्युदात्तत्वं मा भूदिति।

"चादयोऽसत्त्वे" सूत्र की व्याख्या करते हुए इस सूत्र में आये हुए "असत्त्वे" इस पद में आगत नञ् को पर्युदास बता रहे हैं। तात्पर्य यह है कि प्रसज्य और पर्युदास ये दोनों नञ् के अर्थ हैं। "असत्त्वे" इस पद का नञ् लाघवात् पर्युदास है। यहाँ क्या लाघव है और क्या गौरव है? इस बात के ऊपर विचार करने से पूर्व असत्त्व शब्द के ऊपर कुछ जिचार करना आवश्यक है।

असत्त्व शब्द में सत्त्व शब्द अन्तःप्रविष्ट है। सत्त्व का अर्थ है "सीदन्ति = निविशन्ते विशेषणभावेन द्रव्यगुणक्रिया यत्र तत् सत्त्वम्"। अर्थात् जिसमें विशेषणतया जाति, गुण और क्रिया का अन्वय हो उसे सत्त्व कहते हैं। "सद्" धातु से औणादिक "त्व" प्रत्यय करने से सत्व शब्द बनता है। द्रव्य में ही विशेषणतया जाति-गुण-क्रिया की अवस्थिति होती है। इसलिए सत्त्व से द्रव्य का ग्रहण होता है।

ऊपर विवेचित सत्त्व शब्द का जब नञ् के साथ समास करते हैं तब असत्त्व शब्द की निष्पत्ति होती है। यहाँ का नञ् पर्युदासार्थक है। इस पक्ष में सूत्र का अर्थ होता है कि सत्त्व से भिन्न अर्थ में चादि की निपात संज्ञा होती है। पर्युदास मान कर इस प्रकार सूत्र का अर्थ करने में लाघव है। इसकी अपेक्षा यदि यहाँ प्रसज्य माना जाय तो गौरव होता है। वह गौरव इस प्रकार से है—प्रसज्य नञ् का अन्वय क्रिया में होता है, इसलिए क्रिया का अध्याहार करना पड़ता है। क्रिया के साथ अन्वित होने पर नञर्थ का अन्वय उत्तरपदार्थ में न होने के कारण तथा क्रियासापेक्ष होने के कारण वहाँ "सापेक्षमसमर्थवत्" इस नियम से असामर्थ्य हो जाता है। इस असामर्थ्य की स्थिति में भी उत्तर पद के साथ नञ् का समास किया जाता है। यह असमर्थ समास होता है। तीसरा गौरव वाक्यभेद का होता है। प्रस्तुत "असत्त्व" शब्द में इन गौरवों को इस प्रकार देखा जा सकता है—"चादयः" इस योग का—चादि की निपात संज्ञा होती है—यह अर्थ होगा। इसके बाद "असत्त्वे" इस पदघटक नञ् के अर्थ का अन्वय करने के लिए 'भवन्ति' क्रिया का अध्याहार करके अर्थ होगा कि 'द्रव्ये अर्थे चादयो निपाता न भवन्ति' अर्थात् द्रव्य अर्थ में वर्तमान चादि की निपात संज्ञा नहीं होती है। इस प्रकार "चादयः"

योग से प्राप्त निपात संज्ञा का बाध करना पड़ता है, साथ ही वाक्यभेद भी करना पड़ता है। इस प्रकार क्रियाध्याहार, प्राप्तबाध, वाक्यभेद—ये दोष यहाँ स्पष्ट हैं। इनके अतिरिक्त जब "नञ्" का अन्वय यहाँ "भवन्ति" क्रिया में हो गया तब क्रियासापेक्ष नञ् का समास सत्त्व के साथ असम्भव हो जाता है। इसलिए असमर्थ समास की परिकल्पना करनी पड़ती है। इस प्रकार प्रसज्य-प्रतिषेध पक्ष में गौरव को देखकर शेखरकार कहते हैं कि "असत्त्वे" इस पद में लाघवात् पर्युदास है। इस पक्ष में इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि सत्त्व से भिन्न अर्थ में चादि की निपात संज्ञा होती है। इस प्रकार इस पक्ष में एकवाक्यता होती है।

अब इस पर्युदासपक्ष में एक शंका होती है कि "विशेषेण जनानां मनोरथान् प्राति = पूरयति" इस विग्रह में विपूर्वक "प्रा पूरणे" धातु से "आतश्चोपसर्गे" सूत्र से "क" प्रत्यय करके जो विप्र शब्द बनता है यहाँ का "प्र" शब्द पूरणकर्तृवाचक है अर्थात् पूरण क्रिया के कर्ता का वाचक है। इस प्रकार यह शब्द कर्तृवाचक होने से द्रव्यवाची तो है, किन्तु विशुद्ध द्रव्यवाची नहीं है अपितु क्रियामिश्रित द्रव्यवाची है। ऐसी स्थिति में केवल द्रव्यवाची से क्रियाद्रव्य-समुदायपरक शब्द के भिन्न होने के कारण प्र शब्द की निपात संज्ञा क्यों नहीं होती है? निपात संज्ञा होने से इसकी स्वरादिनिपातमव्यय संज्ञा होनी चाहिए और अव्यय संज्ञा होने से विभक्ति का लुक् (विप्र शब्द के आगे विभक्ति का लुक्) होना चाहिए। इस प्रकार पर्युदास पक्ष में उपर्युक्त दोष को देखकर भाष्यकार ने गौरवग्रस्त प्रसज्य पक्ष को स्वीकार किया। उन्होंने कहा है कि "क्रियाद्रव्यवचनोऽयं सङ्घातो द्रव्यादन्यश्च इति। अथ प्रसज्यप्रतिषेधो न दोषो भवतीति"। तात्पर्य यह है कि "विप्र" शब्द क्रियाद्रव्यवाची होने के कारण द्रव्य से भिन्न है, इसलिए पर्युदास पक्ष में इसे निपात संज्ञा होनी चाहिए। ऐसी शंका करके भाष्यकार कहते हैं कि प्रसज्य-प्रतिषेध मानने से दोष नहीं रहता, क्योंकि द्रव्य अर्थ में निपात संज्ञा नहीं होती है। विप्र शब्द क्रियाविशिष्ट द्रव्यवाची होने के कारण द्रव्यवाची भी है ही, इसलिए इस पक्ष में इसकी निपात संज्ञा का निषेध हो जाता है।

वस्तुतस्तु गौरवत्रयग्रस्त होने के कारण यहाँ प्रसज्य पक्ष ठीक नहीं है, किन्तु पर्युदास मानना ही उचित है। यदि कहा जाय कि पर्युदास मानने पर "विप्र" शब्द की निपात संज्ञा की आपत्ति है तो उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि इस पक्ष में "चादयोऽसत्त्वे" सूत्र का अर्थ है कि "विशेष्यतया द्रव्यभिन्नार्थवाची चादि की निपात संज्ञा होती है"। विप्र शब्द तो विशेष्यतया द्रव्यवाची ही है। इसलिए इससे भिन्न शब्द की निपात संज्ञा तो हो जायेगी किन्तु "विप्र" शब्दघटक "प्र" की नहीं होगी। क्योंकि पूरण क्रिया का कर्तृवाचक होने के कारण "प्र" शब्द विशेष्यतया द्रव्यवाची हो जाता है। निपात संज्ञा तो विशेष्यतया द्रव्यभिन्नार्थ की ही होती है।

सूत्र में "चादयः" इतना अंश यदि न कहा जाय तो असत्त्ववाची स्वरादि की निपात संज्ञा होने लगेगी। निपात संज्ञा होने का परिणाम यह होगा कि "निपाता आद्युदात्ताः" सूत्र से इन्हें आद्युदात्त की आपत्ति होने लगेगी। अतः चादिग्रहण आवश्यक है।

उपसर्गाः। योगग्रहणं—'यदर्थे प्रादीनामन्वयस्तं प्रत्येवोपसर्गत्वादी'त्यर्थ-बोधनाय। तेन 'विगताः सेचका अस्माद्विसेचको ग्राम' इत्यादौ षत्वं न।

"उपसर्गाः क्रियायोगे" इस सूत्र की व्याख्या कर रहे हैं। क्रिया के साथ योग रहने पर प्र, परा आदि की उपसर्ग संज्ञा होती है। यहाँ शंका होती है कि इस सूत्र में "योगे" इस पद की क्या आवश्यकता है? "योगे" इस पद के उल्लेख के बिना भी उसकी प्रतीति यहाँ हो सकती है। उसका प्रकार यह है कि सूत्र में "क्रियायोगे" इस पद की जगह "क्रियया" ऐसा पाठ कर दिया गया होता और "स्तोः श्चुना" की भाँति यहाँ "योगे" इस पद का अध्याहार कर लिया जाता तो "क्रियायोगे" इस पद को रखने से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उस अर्थ की प्रतीति इस प्रकार भी हो जाती। ऐसी स्थिति में इस सूत्र में "योगे" इस अंश के ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि जिस धात्वर्थ क्रिया में प्रादि का अन्वय होता है उसी धातु के प्रति प्रादि की उपसर्ग संज्ञा होती है। तात्पर्य यह है कि यहाँ का योग शब्द सामर्थ्यवश अर्शआद्यजन्त होकर प्रादि से अन्वित धात्वर्थपरक हो जाता है। "योगे" की सप्तमी विषयसप्तमी स्वीकृत है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ ऐसा होता है कि "प्र आदि शब्द स्वार्थान्वयी क्रिया के विषय में स्वार्थान्वयी क्रियावाचक के प्रति उपसर्गसंज्ञक होते हैं"। इस प्रकार सूत्रार्थ करने का परिणाम यह होता है कि "विशेषेण गता विगताः, विगताः सेचका अस्मात् इति विसेचको ग्रामः" इस प्रयोग में "उपसर्गात् सुनोति" सूत्र से सेचक के सकार को षत्व नहीं होता है। कारण यह है कि उपर्युक्त विग्रह के अनुसार गम्धात्वर्थ क्रिया के प्रति ही "वि" यह उपसर्ग है। सिच्धात्वर्थ क्रिया के साथ उसका अन्वय न होने के कारण वह उसके प्रति तो उपसर्ग है ही नहीं। इसलिए यहाँ मूर्धन्य षकार नहीं होता है।

गतिश्चेति। 'च' उपसर्गसञ्ज्ञासमावेशार्थः। तेन 'प्रतिप्रणीतमि'त्यादौ गतित्वात् 'गतिरनन्तरः' इति स्वरः, उपसर्गत्वाण्णत्वञ्च सिद्ध्यति।

इस सूत्र से प्रादि की गति संज्ञा होती है। इस सूत्र में किये गये चकारग्रहण से उपसर्ग संज्ञा का भी समावेश होता है। इस प्रकार क्रियायोग होने पर प्रादि की उपसर्ग संज्ञा और गति संज्ञा ये दोनों संज्ञाएँ होती हैं। दोनों संज्ञाओं के होने का फल यह है कि "प्रतिप्रणीतम्" इस प्रयोग में प्र की गति संज्ञा होने से "गतिरनन्तरः" सूत्र से इसे प्रकृतिस्वर होता है। प्र की उपसर्ग संज्ञा होने का फल यह है कि "उपसर्गादसमासेऽपि" सूत्र से "नीतम्" के नकार को णकार होता है। "गतिरनन्तरः" सूत्रघटक "अनन्तर" पद के व्यावर्त्य को बताने के लिए उक्त उदाहरण में "प्रति" इसका प्रयोग किया गया है। यह अनन्तर नहीं है, किन्तु सान्तर है, इसलिए इसे उक्त स्वर नहीं हुआ।

विशेष—"उपसर्गाः क्रियायोगे गतिश्च" ऐसा एक ही सूत्र यदि कर दिया गया होता तो लाघव होता, किन्तु ऐसा न करके "गतिश्च" यह पृथक् सूत्र इसलिए किया गया कि आगे केवल गति संज्ञा ही हों, उपसर्ग संज्ञा न होने लगे। उदाहरण के लिए "ऊर्यादिच्विडाचश्च" इत्यादि सूत्रों में केवल "गतिश्च" की अनुवृत्ति होती है और वहाँ केवल गति संज्ञा ही की जाती है। गति शब्द "क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्" इस सूत्र से संज्ञा अर्थ में क्तिच् प्रत्यय करने से बनता है। "स्त्रियाँ क्तिन्" के क्तिन् प्रत्यय से "गति" शब्द की निष्पत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि उस स्थिति में "गति" शब्द स्त्रीलिंग हो जायेगा। "गतिरनन्तरः" सूत्र की वृत्ति में "अनन्तरो गतिः" ऐसा कहने से स्पष्ट है कि गति शब्द पुंल्लिग है। क्तिच् प्रत्यय करने पर

यहाँ निपातनात् मकार का लोप होता है। अन्यथा "न क्तिचि दीर्घश्च" सूत्र से मलोप का निषेध हो जाता।

प्रादयः—इति योगविभागस्तु क्रियायोगाभावेऽपि निपातत्वाय। एतत्सिद्धमेवोपसर्गप्रतिरूपकस्य निपातत्वमुक्तं चाद्यन्तर्गणसूत्रेणेति दिक्।

"प्रादयः" यह सूत्र अद्रव्यवाची प्रादि की निपात संज्ञा करता है। आगे "उपसर्गाः क्रियायोगे" (१।४।५९) में इसकी अनुवृत्ति होती है, जिससे क्रियायोग में प्रादि की उपसर्ग संज्ञा होती है। यहाँ प्रश्न होता है कि "प्रादयः" यह योगविभाग क्यों किया गया है? "उपसर्गाः क्रियायोगे" इसी सूत्र में "प्रादयः" इतना अंश और जोड़ दिया गया होता तो लाघव होता? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि उपसर्ग संज्ञा तो क्रियायोग में ही होती है, किन्तु निपात संज्ञा भी क्रियायोग में ही हो यह अपेक्षित नहीं है। इसलिए "प्रादयः" यह योग पृथक् किया गया कि क्रियायोग के अभाव में भी प्रादि की निपात संज्ञा हो। एक योग करने पर तो निपात संज्ञा भी क्रियायोग में ही होती। इसकी व्यावृत्ति के लिए "प्रादयः" यह पृथक् सूत्र किया गया है। इसका परिणाम यह होता है कि "प्रगत आचार्यः प्राचार्यः" इस प्रयोग में "तत्पुरुषे तुल्यार्थ" सूत्र से अव्यय पूर्वपद प्रकृतिस्वर की सिद्धि होती है। यहाँ "प्र" उत्तरपदार्थान्वयी होने के कारण क्रियान्वयी नहीं है। यदि कहा जाय कि "उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च" इस चादिगणस्थ सूत्र में उपसर्ग का पाठ होने के कारण "चादयोऽसत्त्वे" सूत्र से ही यहाँ निपात संज्ञा सिद्ध है, इसलिए यह इस निपात संज्ञा का फल नहीं है? तो इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि उक्त चादिगण के सूत्र के द्वारा जो उपसर्गप्रतिरूपक की निपात संज्ञा का कथन है वह कोई अपूर्व (नई) बात नहीं है, किन्तु "प्रादयः" इस योगविभाग से सिद्ध जो निपात संज्ञा है उसी का अनुवाद मात्र है।

'प्रपरे'त्यादावनुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षया सुबनुत्पत्तिः। निस्दुसिति। अत्रेदं बोद्धव्यम्—सान्तग्रहणे रान्तस्याग्रहणमेव, यत्र तु रुत्वमसिद्धं तत्र रान्तग्रहणेऽपि न सान्तग्रहणं, तद्दृष्ट्या रुत्वस्यासिद्धत्वात्।

यत्र तु रुत्वस्य सिद्धत्वं, यथा—षत्वणत्वयोः—तद्विषयोपसर्गत्वप्रतिषेधपरे—'दुरः षत्वणत्वयोरि'ति वार्तिके कृतरेफसान्तस्यापि ग्रहणम्। 'षत्वणत्वयोरित्यस्य 'तद्विधायकशास्त्रयोरि'त्यर्थात्। अत एव सुषामादिषु दुःष्ठुशब्दपाठः सार्थकः, स हि 'अपदुःसुषुस्थः कुः' इति दुस्पूर्वकस्थाधातोः कुप्रत्यये साधुः। अन्यथा दुस्पूर्वकात्कुप्रत्यये 'उपसर्गादि'त्येव षत्वे सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। न चास्य रूढत्वेनावयवार्थाभावादुपसर्गत्वाभावः, अत्यन्तरूढेषु प्रतिष्ठानिष्ठादिषु षत्वानापत्तेः। अर्थवत्त्वारोपेण चेत्—प्रकृतेऽपि। दुसः पाठस्तु 'दुरयते' इत्यादौ रुत्वासिद्ध्या लत्वाभावार्थ इति दिक्।

अब यहाँ यह विचार किया जा रहा है कि प्र-परा आदि जो गण में पढ़े गये हैं उनके आगे विभक्ति क्यों नहीं आती? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि गणपठित जो प्र-परा इत्यादि हैं वे लक्ष्यस्थ "प्र-परा" आदि के अनुकरण हैं। अनुकार्य और अनुकरण में भेद

और अभेद ये दो पक्ष माने जाते हैं। उन दोनों पक्षों में यहाँ अभेद पक्ष ही विवक्षित है। इस पक्ष में सादृश्यमूलक अभेदाध्यवसाय से अनुकरण से अनुकार्य का बोध होता है। इस प्रकार वृत्त्या अर्थबोधकत्वाभाव के कारण गणपठित प्रादि में अर्थवत्त्व ही नहीं होता। जब अर्थवत्त्व का अभाव हो जाता है तब प्रातिपदिकत्वाभाव सुतरां सिद्ध है। प्रातिपदिक संज्ञा न होने के कारण प्रादि के आगे सुप् की उत्पत्ति नहीं होती है।

यदि कहा जाय कि यहाँ अनुकार्य और अनुकरण में भेदपक्ष ही माना जाय। इस पक्ष में तो अनुकार्यनिरूपित बोधजनकताशक्ति का अनुकरण में आरोप किया जाता है। ऐसी स्थिति में शक्तिमत्त्व रूप अर्थवत्त्व जब अनुकरण में सिद्ध है तब प्रातिपदिक संज्ञा करके स्वादि विभक्तियाँ इस पक्ष में प्रादि के आगे आनी चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भेदपक्ष में अर्थवत्त्व और प्रातिपदिकत्व के कारण विभक्ति की उत्पत्ति होने पर भी "प्रकृतिवदनुकरणम्" इस नियम से गणपाठस्थ अनुकरण प्रादि भी निपात कहे जायेंगें और निपात होने के कारण इनकी अव्यय संज्ञा होगी। फलस्वरूप इनके आगे हुई विभक्तियों का "अव्ययादाप्सुपः" सूत्र से लुक् हो जायेगा। यदि कहा जाय कि विभक्ति का लुक् होने से प्रादि तो पद हो ही गये तो इन्हें पदकार्य क्यों नहीं होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि इनमें पदकार्य कर दिया जाय तो इनके वास्तविक स्वरूप का पता नहीं चलेगा। इसलिए यहाँ पदकार्य नहीं होता है।

इन उपसर्गों में निस् और दुस् ये दोनों सकारान्त के साथ रकारान्त भी हैं। "निसस्तपतावनासेवने" जैसे स्थलों में जहाँ सकारान्त का ग्रहण किया गया है वहाँ रकारान्त का ग्रहण नहीं किया जाता है। इसी प्रकार "न सुदुर्भ्याम्", "निरः कुषः", "सुदुरोरधिकरणे" इत्यादि स्थलों में जहाँ रकारान्त का पाठ किया गया है, वहाँ सकारान्त का ग्रहण नहीं होता। यद्यपि सकारान्त निस् और दुस् रुत्व करने से रकारान्त हो जाते हैं तथापि जहाँ रकारान्त का ग्रहण किया गया है वहाँ रुत्वेन रकारान्त और वास्तविक सकारान्त निस्-दुस् का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि रकारान्त निर्-दुर्पदघटित तत्तत् सूत्रों की दृष्टि में रुत्व असिद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए "निरः कुषः" (७।२।४६) इस वैकल्पिक इट्विधायक सूत्र को लिया जा सकता है। यदि सकारान्त निस् के सकार को रुत्व कर के इस सूत्रस्थ निर् पद से ग्रहण करना चाहे तो नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उक्त सपादसप्ताध्यायी सूत्र की दृष्टि में रुत्वविधायक "ससजुषो रुः" (८।२।६६) असिद्ध हो जाता है। जहाँ रुत्व असिद्ध नहीं होता किन्तु सिद्ध ही रहता है वहाँ रकारान्त तथा सकारान्त दोनों का ग्रहण होता है। जैसे षत्व और णत्व के विधान के प्रसंग में दुरः के उपसर्गत्व का प्रतिषेध "दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः" इस वार्तिक के द्वारा किया जाता है। यह वार्तिक "आनि लोट्" (८।४।१६) सूत्र के साथ पठित होने के कारण "ससजुषो रुः" सूत्र से पर में हो जाता है। इसलिए इसवार्तिक के प्रति रुत्व असिद्ध नहीं होता है। इसका परिणाम यह होता है कि यहाँ दुर् शब्द से रकारान्त और सकारान्त दोनों प्रकार के दुर् का ग्रहण किया जाता है।

उक्त वार्तिक में "षत्वणत्वयोः" पद का अर्थ षत्व तथा णत्व विधायक शास्त्र हैं। ऐसा अर्थ इसलिए किया गया कि वार्तिक का तो स्वयं कोई देश नहीं होता। ऐसी स्थिति में इस

वार्तिक की अपेक्षा रुत्व की सिद्धि की जो बात कही गई है वह कैसे संगत होगी? जब "षत्वणत्वयोः" इस पद से तद्विधायक शास्त्र लिये गये तो प्रस्तुत में णत्वविधायक शास्त्र "आनि लोट्" (८।४।१६) का देश ही इस वार्तिक का भी देश हो जाता है। इसलिए इसके प्रति पूर्वत्रिपादी रुत्व असिद्ध नहीं होता किन्तु सिद्ध ही रहता है। अत एव = "दुरः षत्वणत्वयोः" इस वार्तिक में कृतरेफान्त दुर् का भी ग्रहण करने से ही अर्थात् रेफान्त और सकारान्त दोनों प्रकार के दुस्-दुर् का भी ग्रहण करने से ही "सुषामादि" गण में दुष्ठु शब्द का पाठ करना सार्थक होता है। दुस्पूर्वक स्था धातु से "अपदुःसुषुस्थः कुः" इस सूत्र के द्वारा कु प्रत्यय करके आकार का लोप करने पर "दुष्ठु" शब्द की सिद्धि होती है। यहाँ "सुषामादिषु च" इस सूत्र से स्था धातु के सकार को मूर्धन्य षकार किया जाता है। यदि वार्तिक में केवल रेफान्त का ही ग्रहण होता तो सकारान्त दुस् के उपसर्गत्व का निषेध नहीं होता। ऐसी स्थिति में दुसपूर्वक स्था धातु से कु प्रत्यय होने पर "दुष्ठु" प्रयोग में "उपसर्गात् सुनोति" सूत्र से ही षत्व सिद्ध था तो षत्वार्थ सुषामादिगण में उसके पाठ की क्या आवश्यकता थी? इससे विदित होता है कि प्रस्तुत वार्तिक में रेफान्त और सान्त दोनों प्रकार के दुर् का ग्रहण होता है। इसलिये षत्व-विधि में दोनों के उपसर्गत्वाभाव के कारण षत्व की सिद्धि को न होते हुए देखकर सुषामादि गण में "दुष्ठु" का पाठ किया गया।

अब एक यह शंका हो रही है कि "दुष्ठु" शब्द रूढ है। रूढ में अवयवार्थ का भान नहीं होता। इसलिए दुष्ठु शब्द की उपसर्ग संज्ञा ही नहीं होगी। उपसर्ग संज्ञा के लिए क्रिया का योग आवश्यक होता है। रूढिस्थल में क्रिया प्रयोग रहता ही नहीं है। ऐसी स्थिति में षत्वार्थ सुषामादिगण में पाठ करना उचित ही है। उस पाठ से यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत उपर्युक्त वार्तिक में रेफान्त और सान्त दोनों का ग्रहण होता है? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि यदि अवयवार्थ का भान न होने से उपसर्ग संज्ञा नहीं होगी तो अत्यन्त रूढ "प्रतिष्ठा", "निष्ठा" आदि शब्दों में भी उपसर्ग संज्ञा के अभाव में षत्व नहीं होगा। यदि कहा जाय कि प्रतिष्ठा आदि शब्दों में अर्थवत्त्व का आरोप करके उपसर्गत्व को स्वीकार किया जायेगा तो प्रकृत स्थल दुष्ठु में भी अर्थवत्त्व का आरोप करके उपसर्गत्व मानने में कोई बाधा नहीं है।

प्रादि गण में सकारान्त दुस् के पाठ का फल यह है कि दुस्पूर्वक अय् धातु से जब "दुरयते" प्रयोग बनाते हैं तब "उपसर्गस्यायतौ" सूत्र की दृष्टि में रुत्व असिद्ध हो जाता है। परिणामस्वरूप "दुरयते" प्रयोग में लत्व नहीं होता है। रकारान्त दुर् के पूर्व में रहने पर तो "दुलयते" बनता ही है।

न वेति। इतिर्लोकेऽर्थपदार्थकस्य शब्दपदार्थकत्वकृत्। यथा 'गवित्ययमाहे'-त्यादावनुकरणे। इह तु 'स्वं रूपमि'ति परिभाषणाच्छब्दपदार्थकस्यार्थपदार्थ-कत्वकृत्। क्वचिदितेर्न पदार्थविपर्यासकत्वं यथाऽनुवादवाक्ये। स च नवाशब्दाभ्यां प्रत्येकं सम्बध्यते, व्याख्यानात्। तेन नवाशब्दयोरर्थौ सञ्ज्ञिनौ। 'स्वं रूपमि'त्यस्य प्रत्याख्याने त्वितिशब्दो व्यर्थ एव; अर्थे कार्यस्याबाधात्। तयोरेव सञ्ज्ञित्वे तु

'विभाषा श्वेरि'त्यादौ नवाशब्दावादेशौ स्याताम्। प्राप्तविभाषासु नास्योपयोगः, तासां पक्षे निवृत्तिमात्रफलकत्वात्। अप्राप्तविभाषास्वपि न, तासां पक्षे विधिमात्रार्थत्वात्। अप्राप्तत्वेन निषेधासम्भवाच्च, तस्मादुभयत्र विभाषार्थमिदम्। 'विभाषा श्वेरि'त्यादौ एतदभावे यदि विधिमुखेन प्रवृत्तिस्तर्हि पित्स्वेव विकल्पः स्यात्, कित्सु तु नित्यमेव सम्प्रसारणं स्यात्। निषेधमुखेन प्रवृत्तौ कित्स्वेव प्रवर्तेत न पित्सु। उभयथा प्रवृत्तिस्तु—वैरूप्याद्वाक्यभेदापत्तेश्चाशक्या। सञ्ज्ञाकरणे तु श्रुतक्रमानुरोधात्पूर्वं कित्सु निषेधस्ततः किदकिद्रूपे सर्वस्मिन् लिटि ऐकरूप्यं प्रापिते सति 'पक्षे भवती'त्येकरूपेण विधिमुखेनैव विकल्पः।

अब "न वेति विभाषा" सूत्र की व्याख्या कर रहे हैं। इस सूत्र के ऊपर शेखरग्रन्थ की व्याख्या से पूर्व इससे सम्बद्ध कुछ उपयोगी बातों को जानना आवश्यक है।

इस सूत्र में "न च वा चेति" विग्रह में द्वन्द्व समास करके "नवा" यह निर्देश किया गया है। नवा शब्द के निपात होने के कारण अव्यय संज्ञा करके उसके आगे आये हुए द्विवचन विभक्ति का लुक् हो गया है। इसीलिए इति शब्द का न और वा इन दोनों के साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि द्वन्द्वान्त में श्रूयमाण पद का प्रत्येक के साथ अन्वय होने का नियम है। साहित्याभाव से यहाँ द्वन्द्व नहीं होगा, ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि "नवा" इन दोनों शब्दों का विभाषा पदार्थ में अन्वय होने के कारण साहित्य की स्थिति यथावत् है। अतः यहाँ द्वन्द्व होने में कोई बाधा नहीं है।

लोक में शब्द से शब्दविशिष्ट अर्थ की उपस्थिति होती है। "गामानय" ऐसा कहने पर गो शब्द तथा उसका अर्थ गोव्यक्ति इन दोनों की उपस्थिति होती है, किन्तु शब्द का आनयन असम्भव होने के कारण वहाँ उपस्थित शब्द अर्थ का विशेषण होता है और अर्थ वहाँ विशेष्य होता है। इसीलिए उक्त वाक्य से गोव्यक्ति का आनयन होता है। शास्त्र में इससे विपरीत स्थिति है। यहाँ तो अर्थ के आगे शास्त्रीय कार्य सम्भव ही नहीं है। "अग्नेर्ढक्" सूत्र से विधीयमान ढक् प्रत्यय अग्नि शब्द के अर्थ के आगे तो हो नहीं सकता। इसलिए शास्त्र में "स्वं रूपम्" सूत्र के द्वारा शब्दस्वरूप की ही प्रधानता रहती है, अर्थ वहाँ विशेषण बन कर रह जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि शास्त्र में सार्थक शब्द का ग्रहण होता है, निरर्थक का नहीं। इसी बात के आधार पर यह प्रसिद्धि है कि "शास्त्रे शब्दाः शब्दपराः लोके शब्दा अर्थपराः"। किन्तु यह मान्यता उस समय बदल जाती है जब हम लोक में या शास्त्र में इति शब्द का प्रयोग करते हैं। इति शब्द का प्रयोग करने पर लोक में शब्द की जो अर्थप्रधानता रहती थी, वह बदल कर शब्दप्रधानता हो जाती है। इसी प्रकार शास्त्र में शब्द की जो शब्दपरकता (स्वरूपबोधकता) थी वह बदल कर अर्थपरकता हो जाती है। उदाहरण के लिए लोक में यदि कहा जाय कि "गो इति अयमाह" तो यहाँ यही बोध होता है कि इसने "गो" ऐसा शब्द कहा है। यहाँ स्पष्ट है कि इति शब्द के प्रभाव से गो शब्द लोक में स्वरूपपरक हो गया है। इसी प्रकार शास्त्र में जब इति शब्द का प्रयोग किया जाता है तब वह अर्थप्रकारक शब्दविशेष्यक उपस्थितिजनक शब्द को शब्दप्रकारक अर्थविशेष्यक उपस्थिति का जनक बना देता है। तात्पर्य

यह है कि शास्त्र में शब्द की प्रधानता न रहकर इति शब्द के सान्निध्य में अर्थ की प्रधानता हो जाती है। इसका उदाहरण प्रस्तुत सूत्र ही है, जहाँ इति के माहात्म्य से "न" शब्द अपनी स्वरूपपरता को छोड़ कर निषेधपरक तथा "वा" शब्द अपनी स्वरूपबोधकता को छोड़ कर विकल्प का बोधक हो गया है। इस सन्दर्भ को ध्यानस्थ करके अब इस सूत्र की व्याख्या की जा रही है–

इति शब्द लोक में प्रयुक्त होकर अर्थपदार्थक शब्द को शब्दपदार्थक बना देता है अर्थात् जहाँ अर्थ की प्रधानता रहती है वहाँ शब्द की प्रधानता बना देता है। जैसे "गवित्ययमाह" इस अनुकरण वाक्य से यह "गो" ऐसा कहता है, ऐसा बोध होता है। स्पष्ट है कि यहाँ गो इस शब्दस्वरूप का ही बोध होता है। इह तु = इस व्याकरणशास्त्र में तो "स्वं रूपम्" इस सूत्र के कारण शब्द, जो शब्द पदार्थक = स्वरूपपरक रहते हैं, इति शब्द उन्हें अर्थपदार्थक = अर्थपरक कर देता है। कहीं पर इति शब्द पदार्थ का विपर्यय नहीं करता है। जैसे– अनुवादवाक्य "मृगो धावति", "इति पश्य" में इति शब्द ने परिवर्तन नहीं कराया। अनुवादवाक्य का अर्थ उद्देश्य-वाक्य है। प्रस्तुत वाक्य में मृगकर्तृक धावन को उद्देश्य करके दर्शन विधेय है। इस प्रकार यहाँ इति शब्द अनुवादवाक्य = उद्देश्यवाक्य में आया है। यहाँ पर इसने अर्थपरक को शब्दपरक नहीं किया। यहाँ मृगधावन रूपी अर्थ का ही बोध होता है। स च = वह इति शब्द "न" और "वा" इन दोनों के साथ सम्बद्ध होता है। दोनों के साथ इति का सम्बन्ध व्याख्यान के आधार पर होता है। व्याख्यान इस प्रकार है—निषेध मात्र का वाचक "नवा" यह अखण्ड स्वतन्त्र निपात है। यदि इसमें इति का सम्बन्ध करके निषेध मात्र की विभाषा संज्ञा की जाती है तो संज्ञाविधान ही व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि सर्वत्र विभाषापदघटित सूत्रों में "न" शब्द का उच्चारण करने से कार्य चल जायेगा। इसी प्रकार इति का सम्बन्ध केवल "वा" के साथ करके यदि विकल्प मात्र की विभाषा संज्ञा की जाती है तो भी संज्ञाकरण व्यर्थ ही है, क्योंकि विकल्प मात्र से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए इति शब्द का सम्बन्ध 'न' और 'वा' दोनों के साथ होता है। इस प्रकार "न वा" इन दोनों शब्दों के अर्थ—निषेध और विकल्प—संज्ञी होते हैं और विभाषा इनकी संज्ञा होती है।

जब "स्वं रूपम्" सूत्र का प्रत्याख्यान है, तब सूत्र में इति शब्द व्यर्थ है। कारण यह है कि "स्वं रूपम्" सूत्र के रहने पर "न" और "वा" ये दोनों शब्द अपने स्वरूप के ही बोधक होते। ऐसी स्थिति में उन्हें निषेध और विकल्पार्थक बनाने के लिए इति शब्द आवश्यक था, किन्तु जब सूत्र का प्रत्याख्यान है तब अर्थे = निषेध-विकल्प रूपी अर्थ को बतलाने में "न वा" शब्द की शक्ति का कोई प्रतिबन्धक नहीं है। तात्पर्य यह है कि "न वा" शब्द से निषेध-विकल्प रूपी अर्थ का बोध होने में कोई बाधा नहीं है। ऐसी स्थिति में इस कार्य के लिए इति शब्द की क्या आवश्यकता है? यदि कहा जाय कि इति शब्द के अभाव में "न" और "वा" ही विभाषा के संज्ञी हो जायेंगे तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तयोरेव = "न वा" शब्दों के संज्ञी बनने पर तो विभाषापदघटित "विभाषाश्वेः इत्यादि सूत्रों में ''न" और "वा" ये दोनों आदेश होने लगेंगे। जब इनके अर्थ निषेध और विकल्प संज्ञी बनते हैं तब इन दोनों के अभाव रूप होने के कारण इनका आदेश नहीं होता।

प्राप्तविभाषास्थल में इस विभाषासंज्ञाविधान की उपयोगिता नहीं है। इस बात को समझने के लिए आवश्यक है कि पहले विभाषा के वैविध्य तथा उसके स्वरूप को समझा जाय। यहाँ ध्यातव्य है कि इस व्याकरणशास्त्र में दो प्रकार के विभाषा शब्द मिलते हैं। पहला तो "नवेति विभाषा" सूत्र से की गई विभाषा संज्ञावाला विभाषा शब्द और दूसरा इस संज्ञा से भिन्न विभाषा शब्द। यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि "वा", "विभाषा", "अन्यतरस्याम्"—ये शब्द समानार्थक हैं। इनका अर्थ है—विकल्प। भाव और अभाव ये दोनों विकल्प के अर्थ हैं। तात्पर्य यह है कि भाव और अभाव दोनों अर्थों में विभाषा शब्द की खण्डशः शक्ति है। ऊपर जो यह बात आई है कि प्राप्तविभाषा में इसकी उपयोगिता नहीं है, इस सन्दर्भ में यह जानना चाहिए कि विभाषा तीन प्रकार की होती है–

(१) प्राप्त विभाषा (२) अप्राप्त विभाषा (३) प्राप्ताप्राप्त विभाषा।

जहाँ कोई कार्य पहले से नित्य ही प्राप्त हो, उसे जब विकल्प से विधान किया जाय तब वह प्राप्त विभाषा कही जाती है। जैसे "अल्लोपोऽनः" इस सूत्र से अन् के अकार का नित्य लोप प्राप्त होने पर "विभाषा ङिश्योः" इस सूत्र के द्वारा ङि विभक्ति में वैकल्पिक लोप का विधान किया जाता है। जहाँ किसी सूत्र से कार्य प्राप्त न हो, उस कार्य को विकल्प से विधान करने वाली विभाषा अप्राप्त विभाषा है। जैसे जरा शब्द को अजादि विभक्ति में जरसादेश किसी भी सूत्र से प्राप्त नहीं था, ऐसी स्थिति में उसे विकल्प से विधान करने वाला "जराया जरसन्यतरस्याम्" यह सूत्र अप्राप्त विभाषा है।

जहाँ किसी सूत्र से कार्य प्राप्त भी रहे और अप्राप्त भी रहे ऐसे दोनों स्थलों पर विकल्प-विधायिका विभाषा प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। जैसे "विभाषा श्वेः" इस सूत्र की विभाषा प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। श्वि धातु से लिट् लकार लाने पर कित् लिट् में "वचिस्वपियजादीनां किति" इस सूत्र से सम्प्रसारण प्राप्त है तथा कित् से भिन्न् पित् लिट् में सम्प्रसारण प्राप्त नहीं है। ऐसे स्थल पर विकल्पविधायिका "विभाषा श्वेः" सूत्र की विभाषा प्राप्ताप्राप्त विभाषा है।

यदि "नवेति विभाषा" सूत्र से विभाषा संज्ञा नहीं की गई होती और केवल विकल्पार्थक विभाषा शब्द होता तो प्राप्त विभाषास्थल में, जहाँ भाव की प्राप्ति पहले ही से है, वहाँ विभाषा शास्त्र की अभाव (निषेध) मुखेन प्रवृत्ति करके भावानुवादपूर्वक अभावविधान से ही दो रूपों की सिद्धि सम्भव है। इसलिए प्राप्त विभाषा स्थल में इस विभाषा संज्ञा की कोई उपयोगिता नहीं है। पहले से प्राप्त कार्य की पक्ष में निवृत्ति होना ही प्राप्त विभाषा का फल है। यह कार्य उस विभाषा सूत्र की निषेधमुखेन प्रवृत्ति करने से ही हो जाता है। इसी प्रकार अप्राप्त विभाषा स्थल में भी इसकी उपयोगिता नहीं है। कारण यह है कि वहाँ अभाव तो पहले ही से सिद्ध है। वहाँ तो केवल भाव के विधान में ही तात्पर्य है। यह कार्य तो विभाषाशास्त्र की विधिमुखेन प्रवृत्ति करके अभावानुवादपूर्वक भाव के विधान से ही हो जाता है। इस प्रकार निषेध और विकल्प की विभाषा संज्ञा के अभाव में भी उक्त दोनों स्थलों में लोक तथा वेद में प्रसिद्ध विकल्पार्थक विभाषा शब्द से ही कार्य चल सकने के कारण इस "नवेति" सूत्र की उपयोगिता नहीं है, किन्तु उभयत्र (प्राप्ताप्राप्त) विभाषास्थल के लिए इसकी आवश्यकता है। उदाहरणार्थ "विभाषाश्वेः" सूत्रस्थल में जहाँ कित् प्रत्यय में सम्प्रसारण प्राप्त है, वहाँ भावानुवादपूर्वक अभाव

वाञ्छित है और पित् प्रत्ययों में जहाँ सम्प्रसारण नहीं प्राप्त है वहाँ अभावानुवादपूर्वक भाव की विधेयता वाञ्छित है। ये दोनों कार्य एक ही विभाषा शब्द से एक साथ सम्भव नहीं हैं। एक ही शब्द से एक समय में भाव और अभाव दोनों का विधान हो, यह बात सम्भव नहीं है। ऐसे उभयत्र विभाषास्थल के लिए "नवेति" सूत्रविहित विभाषा संज्ञा की आवश्यकता है। "विभाषा श्वेः" सूत्र में विभाषा पद से पहले निषेध की उपस्थिति होती है। परिणाम यह होता है कि जहाँ कित् में पहले से सम्प्रसारण प्राप्त रहता है, उसका निषेध कर दिया जाता है। इसके बाद कित् और अकित् दोनों जगह की स्थिति समान हो जाती है। इसके बाद विकल्प की उपस्थिति होती है, इस विकल्प के द्वारा सभी जगह (कित्-अकित् में) अभावानुवादपूर्वक सम्प्रसारण का विधान कर दिया जाता है। इस प्रकार वहाँ अभीष्ट रूप की सिद्धि होती है।

यदि विभाषा संज्ञा नहीं होती तो प्रस्तुत स्थल में "विभाषा श्वेः" सूत्र की यदि विधिमुखेन प्रवृत्ति की जाती तो अप्राप्त स्थल पित् प्रत्ययों में ही वैकल्पिक सम्प्रसारण होता और कित् प्रत्ययों में नित्य ही होता। यदि निषेधमुखेन सूत्र की प्रवृत्ति की जाती तो कित् प्रत्ययों में ही जहाँ सम्प्रसारण प्राप्त है, वहीं भावमुखेन पाक्षिक अभाव का विधान किया जाता अर्थात् पूर्वतः प्राप्त सम्प्रारण का पाक्षिक निषेध किया जाता। इसका परिणाम यह होता कि कित् प्रत्ययों में वैकल्पिक सम्प्रसारण तो हो जाता किन्तु पित् में नहीं होता। पित् में विधिमुखेन और कित् में निषेधमुखेन प्रवृत्ति एक ही साथ सम्भव नहीं है। एक ही साथ उभयथा प्रवृत्ति न होने का कारण बताते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि "वैरूप्यात् वाक्यभेदापत्तेश्च"। इसका तात्पर्य यह है कि एक ही वाक्य से भिन्न रूप वाले विधि और निषेध का विधान एक साथ नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि कित् प्रत्ययों में सम्प्रसारण प्राप्त होने के कारण वहाँ निषेध मात्र विधेय होगा और पित् प्रत्ययों में सम्प्रसारण की प्राप्ति न होने के कारण यहाँ सम्प्रसारण की स्थिति (भावात्मक स्थिति) विधेय होगी। इस प्रकार विधेय-भेद होने के कारण एक ही समय उभयथा प्रवृत्ति हो सकती है, तो इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि इस प्रकार विधेय का भेद करने पर वाक्यभेद करना होगा, जो एक प्रकार का गौरव ही होगा।

इस प्रकार उभयत्र विभाषास्थल में बिना विभाषा संज्ञा के कार्य नहीं चल सकता। जब "न वेति" सूत्र से विभाषा संज्ञा कर दी जाती है तब श्रुतक्रमानुरोध से पहले निषेध की वहाँ उपस्थिति होती है, जिससे कित् स्थल में प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध करके पूरे लिट् लकार में एकरूपता कर दी जाती है। इसके बाद विधिमुखेन प्रवृत्ति कराकर "पक्षे सम्प्रसारणं भवति" इस रूप में वहाँ विकल्प किया जाता है। यह बात ऊपर विस्तार से स्पष्ट की जा चुकी है।

भाष्यकृतस्तु—एवं हि 'हक्रोरन्यतरस्यामि'त्यादावनुपपत्तिर्विभाषापदाभावात्। "इतिशब्दस्य 'विभाषे'त्यत्रापि सम्बन्धाद्विभाषापदार्थः सञ्ज्ञे"ति तु न युक्तम्, अर्थे सञ्ज्ञात्वस्यादृष्टत्वात्। अर्थाक्षिप्तशब्दमात्रं सञ्ज्ञेत्यपि न युक्तम्, एकस्यार्थस्य-समानफलकानेकसञ्ज्ञाकरणस्य 'अनाकृतिः सञ्ज्ञा' इति वृद्धिसञ्ज्ञासूत्रस्थभाष्येण तिरस्कारात्। तस्मात्तत्र लक्ष्यानुसारेणैवोभयमुखेन प्रवृत्तिर्वाच्येति--विभाषापद घटितेऽपि तथैवास्तु, किं सूत्रेणेति—जातिव्यक्तिपक्षयोरुभयोरपि सूत्रं प्रत्याचख्युः।

उभयत्र विभाषा के लिए यह सूत्र आवश्यक है, यह बात उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होती है। इस सन्दर्भ में भाष्यकार का कहना है कि "ह्रक्रोरन्यतरस्याम्" इत्यादि प्राप्ताप्राप्त विभाषा में जहाँ विभाषा पद नहीं है, वहाँ कैसे निर्वाह होगा? इस सूत्र की प्रवृत्ति तो वहीं होगी जहाँ विभाषा पद होगा। फलस्वरूप यहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। यहाँ भी उभयत्र विभाषा इस प्रकार है कि जब "हृ" धातु और "कृ" धातु से णिच् प्रत्यय करते हैं तब अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा किसी सूत्र से प्राप्त नहीं है। उस अप्राप्त कर्म संज्ञा को "हारयति कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्" इस प्रयोग में विकल्प से कर्मसंज्ञाविधान करने के कारण यह "ह्रक्रोः" सूत्र अप्राप्त विभाषा है। अभि और अव पूर्वक "हृ" धातु के भक्षणार्थक होने के कारण तथा विपूर्वक "कृ" धातु के अकर्मक होने के कारण "अभ्यवहारयति सैन्धवान् सैन्धवैर्वा" "विकारयति सैन्धवान् सैन्धवैर्वा" इन प्रयोगों में "गतिबुद्धि" सूत्र से कर्म संज्ञा प्राप्त थी। इस प्राप्त कर्मसंज्ञा को इन प्रयोगों में विकल्प करने के कारण यह प्राप्त विभाषा भी है। इस प्रकार यह उभयत्र विभाषा है, किन्तु यहाँ "विभाषा" पद नहीं है। ऐसी स्थिति में यहाँ "नवेति" सूत्र की प्रवृत्ति कैसे होगी? यदि कहा जाय कि "इति" शब्द का सम्बन्ध "विभाषा" पद के साथ कर देने से यह भी अर्थपरक हो जायेगा। इसका परिणाम यह होगा कि "नवेति" सूत्र का अर्थ इस प्रकार से होगा कि विभाषा पदार्थ निषेध और विकल्प की संज्ञा है। इस प्रकार "अन्यतरस्याम्" पद भी निषेध-विकल्प की संज्ञा हो सकता है और यहाँ "न वेति" सूत्र की प्रवृत्ति हो सकती है, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि संज्ञात्व का व्यवहार शब्द में देखा जाता है। अर्थ में संज्ञात्व का व्यवहार कहीं भी नहीं देखा गया है। तात्पर्य यह है कि "विभाषा" यह शब्द निषेध-विकल्प की संज्ञा हो सकता है, न कि विभाषा का अर्थ "अन्यतरस्याम्", "उभयथा" आदि भी संज्ञा हो सकते हैं। यदि कहा जाय कि विभाषा के अर्थ "अन्यतरस्याम्" आदि संज्ञा भले ही न हों, किन्तु इन अर्थों से आक्षिप्त "अन्यतरस्याम्" आदि शब्द तो संज्ञा हो सकते हैं इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि "निषेध-विकल्प" रूपी एक अर्थ का समानफलक अनेक संज्ञा (विभाषा, अन्यतरस्याम् आदि) करना उचित नहीं है। वृद्धि संज्ञा सूत्र के भाष्य में "एका संज्ञा", "अनेके संज्ञिनः' इस अर्थ को बताने वाले वाक्य "अनाकृतिः संज्ञा" "आकृतिमन्तः संज्ञिनः" के द्वारा यह बात तिरस्कृत कर दी गई है कि एक अर्थ को बताने के लिए अनेक संज्ञाएँ की जाय।

सब जगह देखा जाता है कि संज्ञा एक होती है और उसके संज्ञी अनेक होते हैं। ऐसा नहीं होता कि संज्ञाएँ तो अनेक हो जाँय और संज्ञी एक ही रहे। इसलिए "ह्रक्रोः" इस सूत्र में जहाँ विभाषा पद नहीं है, वहाँ लक्ष्य के अनुसार अगत्या उभयमुखेन सूत्र की प्रवृत्ति करानी चाहिए। यह कार्य सूत्र की आवृत्ति करके ही सम्भव है, क्योंकि सूत्रावृत्ति से "अन्यतरस्याम्" पद भी दो हो जायेंगे। उनमें एक की प्रवृत्ति विधिमुखेन और दूसरे की प्रवृत्ति निषेधमुखेन सम्भव है। इस प्रकार जब विभाषा पद रहित सूत्रों की प्रवृत्ति उभयमुखेन सम्भव है तब विभाषा-पदघटित सूत्रों में भी तथैव = लक्ष्यानुसारेण उभयमुखप्रवृत्ति को स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसी स्थिति में "न वेति विभाषा" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इसलिए भाष्यकार ने जाति और व्यक्ति दोनों पक्षों में सूत्र का ('न वेति विभाषा' का) प्रत्याख्यान कर दिया है।

यहाँ जाति और व्यक्ति पक्ष की जो चर्चा आई है, उसका भी रहस्य समझ लेना चाहिए। व्यक्तिपक्ष में प्रत्येक लक्ष्य के लिए लक्षण का उपप्लव (आवृत्ति) होता है। उस समय प्रत्येक लक्ष्य व्यक्ति में यदि सूत्र चरितार्थ है तब उसे चरितार्थ माना जाता है। यदि किसी एक लक्ष्य व्यक्ति में सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई तो उसे अचरितार्थ या व्यर्थ समझा जाता है।

जातिपक्ष में लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न किसी भी लक्ष्य में यदि सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है तो उसे चरितार्थ माना जाता है। कैयट ने कहा था कि व्यक्तिपक्ष में "विभाषा श्वेः" यह सूत्र पित् प्रत्ययों में विधिमुखेन प्रवृत्त होगा और कित् प्रत्ययों में निषेधमुखेन होगा। पित् और कित् रूप लक्ष्यों के लिए "विभाषा श्वेः" की आवृत्ति कर दी जायेगी। इस प्रकार व्यक्तिपक्ष में अभीष्ट सिद्धि हो जाने के कारण "न वेति विभाषा" सूत्र अनावश्यक है। जातिपक्ष में तो इसकी आवश्यकता है ही, क्योंकि इस पक्ष में सूत्र का उपप्लव करके उभयमुखेन प्रवृत्ति सम्भव नहीं है।

भाष्यकार कहते हैं कि चाहे व्यक्तिपक्ष हो या जातिपक्ष हो, जिस सूत्र में विभाषा पद नहीं है वहाँ तो "न वेति विभाषा" की प्रवृत्ति होगी ही नहीं। ऐसी स्थिति में लक्ष्यानुरोध से ऐसे सूत्र "ह्क्रोरन्यतरस्याम्" इत्यादि की प्रवृत्ति जब उभयमुखेन करना आवश्यक है तब विभाषा-पदघटित सूत्रों की भी उभयमुखेन कर लेने में क्या बाधा है? इसलिए दोनों पक्षों में "न वेति विभाषा" सूत्र अनावश्यक है।

स्वं रूपं श। 'स्वं रूपमि'त्यस्य 'बोध्यमि'ति शेषो, व्याख्यानात्तदाह—सञ्ज्ञीति। 'राज्ञो यदि'त्यादौ लौकिकव्युत्पत्त्योपस्थितार्थस्य प्रत्ययेन पौर्वापर्यासम्भवात्प्रातिपदिकादित्यनेनान्वयासम्भवाच्च तदर्थकशब्दमात्रग्रहणापत्तौ नियमार्थं सूत्रम्।

तत्र स्वशब्द आत्मीयत्वेनार्थमाह—रूपशब्देन शब्दस्वरूपम्, एतदुभयं सञ्ज्ञीत्यर्थः। तत्रार्थो न विशेष्य—उक्तयुक्तेः, किन्तु शब्दविशेषणम्। एवञ्च—'अर्थविशिष्टः शब्दः सञ्ज्ञी'त्यर्थवद्ग्रहणपरिभाषा सिद्धा। अत्र चार्थः—कल्पितान्वयव्यतिरेककल्पितः, प्रकृतिप्रत्ययादिबोध्यः—शास्त्रीयोऽपि। स च मुख्यः प्रसिद्धश्चेति—'गौणमुख्यन्यायो''ऽभिव्यक्तपदार्था ये' इति न्यायश्च सिद्धः। अत एवेयं विशिष्टरूपोपादान एव, इदं सूत्रञ्च। तत्रैवार्थोपस्थितेस्तत्रैवानियमप्रसक्तेश्च, न तु वर्णग्रहणे—इत्याकरे स्पष्टम्। 'दाधा घ्वदाप्' इत्यस्य 'ई हल्यघोरि'त्यादौ चारितार्थ्येनो'पसर्गे घोरि'त्यादौ 'स्वं रूपमि'त्यनेन परत्वाद्बाधशङ्कावारणार्थम्—अशब्दसञ्ज्ञेति। नात्र षष्ठीतत्पुरुषः, कर्मसञ्ज्ञादेरर्थसञ्ज्ञात्वेन निषेधाप्रवृत्तौ 'कर्मण्यणि'त्यादौ स्वरूपग्रहणापत्तेः, किन्तु सप्तमीतत्पुरुषः। शब्दपदेन च—शब्दशास्त्रन्तदाह शब्दशास्त्रे इति।

अब "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" इस सूत्र की व्याख्या कर रहे हैं। इस सूत्र में "स्वं रूपम्" इस पद के आगे "बोध्यम्" यह पद है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि शब्द का स्व और रूप ये दोनों बोध्य (संज्ञी) होते हैं। यहाँ यह बात कहने की क्या आवश्यकता पड़ गई कि "स्वं रूपम्" के आगे "बोध्यम्" यह अंश शेष है,

इसे जोड़ कर सूत्रार्थ करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि यह संज्ञासूत्र है, किन्तु इसका संज्ञा-सूत्रत्व सम्भव नहीं हो रहा है। क्योंकि संज्ञा-संज्ञीभाव के लिए आवश्यक है कि संज्ञा और संज्ञी वाचक पदों का समानविभक्तिकत्वेन निर्देश किया गया हो। जैसे "वृद्धिरादैच्", "अदेङ् गुणः" आदि स्थलों में देखा जाता है। यहाँ तो "शब्दस्य" इस पद में षष्ठी विभक्ति है और "स्वं रूपम्" में प्रथमा विभक्ति है। इस स्थिति में इसे संज्ञासूत्र किस प्रकार कहा जाय? इस आशंका के निराकरण के लिए कह रहे हैं कि "स्वं रूपमित्यस्य बोध्यमिति शेषः"। अर्थात् "स्वं रूपम्" इसके आगे "बोध्यम्" यह पद शेष = अवशिष्ट है, जिसे सूत्रार्थ करते समय सम्मिलित कर लेना चाहिए। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि शब्द का बोध्य उसका स्वरूप ही होता है, शब्दनिष्ठ वाचकतानिरूपित वाच्यता शब्द में ही है। "शब्दस्य" इस पद में जो षष्ठी विभक्ति है, यह "कृत्यानां कर्तरि वा" इस सूत्र से कर्ता में हुई है। शब्द संज्ञा है और उसका स्वरूप संज्ञी है, यही यहाँ का फलितार्थ है।

शब्द का वाच्य अर्थ होता है, किन्तु ऐसा यहाँ न मान कर शब्द वाच्य उसका स्वरूप ही है, ऐसा कहने का क्या तात्पर्य है? इस शंका के उत्तर में यह समझना चाहिए कि लोक में "गामानय" वाक्य का उच्चारण करने पर गो शब्द और उसका अर्थ 'सास्नादिमान् गोव्यक्ति' इन दोनों की उपस्थिति होती हैं। किन्तु आनयन तो वहाँ गोव्यक्ति का ही होता है। वहाँ उपस्थित शब्द अर्थ का विशेषण बन कर रहता है। इस प्रकार लोक में शब्द जैसे अर्थ का विशेषण बन कर रहता है, उसी प्रकार "राज्ञो यत्", "अग्नेर्ढक्" इत्यादि सूत्रों में लौकिक व्युत्पत्ति के आधार पर राजा रूपी व्यक्ति और अग्नि रूपी लौकिक अर्थ की उपस्थिति होने पर उन अर्थों के आगे प्रत्ययों का आना तो सम्भव नहीं है। इस प्रकार अर्थ और प्रत्यय इन दोनों का पौर्वापर्य सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त दोनों सूत्रों में "प्रातिपदिकात्" इस पद का अधिकार आता है। शब्द से उपस्थित अर्थ तो प्रातिपदिक भी नहीं है, क्योंकि प्रातिपदिक संज्ञा तो शब्द की ही होती है। इस प्रकार अर्थ के साथ प्रातिपदिक का अन्वय भी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में "यत्" आदि प्रत्यय किसके आगे हो, यह एक समस्या हो जाती है। इस समस्या के निराकरण के लिए यह सूत्र बतलाता है कि व्याकरणशास्त्र में शब्द से उपस्थित अर्थ के आगे कार्य असम्भव है, किन्तु उपस्थित अर्थ का परित्याग भी नहीं किया जा सकता। इसलिए यहाँ उपस्थित अर्थ शब्द का विशेषण बन जाता है। लोक में जहाँ शब्दप्रकारक अर्थ विशेष्यक बोध होता है शास्त्र में उसके विपरीत अर्थप्रकारक शब्द विशेष्यक बोध करना चाहिए। इस प्रकार शास्त्रीय प्रक्रिया का निर्वाह शब्द के आगे सुलभ हो जाता है। इस व्याख्यान से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्र में सार्थक शब्द का ही ग्रहण होता है, निरर्थक का नहीं। इससे "अर्थवद्ग्रहण" परिभाषा की भी सिद्धि हो जाती है। यही यहाँ के "शब्दस्य स्वरूपं संज्ञी" इस ग्रन्थ का रहस्य है।

यह सूत्र नियमार्थक है। इसकी नियमार्थता इस प्रकार समझनी चाहिए कि "राज्ञो यत्" आदि सूत्रों में उपस्थित अर्थ के आगे जब प्रत्यय का विधान असम्भव प्रतीत हुआ तब उस अर्थ के वाचक यावत् शब्द मात्र का ग्रहण प्राप्त हुआ। उन शब्दों के भीतर राजन् शब्द भी आया। इस प्रकार राजन् शब्द से यत् प्रत्यय की सिद्धि सम्भव होने के कारण यह सूत्र व्यर्थ

होकर नियम करता है कि राजन् शब्द से ही यत् प्रत्यय होवे; नृपति, भूपति आदि शब्दों से मत होवें।

सूत्र में आया हुआ "स्व" शब्द आत्मीयवाची है। शब्द का आत्मीय अर्थ ही होता है। इसलिए यहाँ स्व शब्द से अर्थ का ग्रहण होता है और रूप शब्द से शब्द का अपना स्वरूप लिया जाता है। इस प्रकार शब्द का अपना रूप और उसका अर्थ ये दोनों शब्द के संज्ञी (बोध्य) हैं। तत्र = इन दोनों में अर्थ विशेष्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऊपर यह युक्ति दी जा चुकी है कि अर्थ के आगे यत् आदि प्रत्ययों का होना असम्भव है। इस प्रकार अर्थ प्रधान न बनकर शब्द का विशेषण होता है। इस प्रकार अर्थविशिष्ट शब्द शब्द का संज्ञी होता है। अर्थात् शास्त्र में सार्थक शब्द का ही ग्रहण होता है, न कि निरर्थक शब्द का ग्रहण। इस प्रकार "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्" यह परिभाषा भी सिद्ध हो जाती है।

अत्र च = प्रस्तुत सूत्र "स्वं रूपम्" में अर्थ के रूप में न केवल लौकिक अर्थ ही लिया जाता है अपितु कल्पित अन्वयव्यतिरेक के द्वारा कल्पित शास्त्रीय अर्थ भी लिया जाता है। शास्त्रीय अर्थ प्रकृति और प्रत्यय से बोध्य होता है। जैसे "रामं पश्य" इस वाक्य से राम-कर्मक दर्शन रूपी अर्थ की प्रतीति होती है। यहाँ राम रूपी अर्थ तो राम इस प्रकृति का है और कर्मत्व रूपी अर्थ अम् प्रत्यय का है। राम इस प्रकृति के आने पर ही राम रूपी अर्थ की प्रतीति होती है, उसके अभाव में नहीं होती है। इसी प्रकार कर्मत्व की प्रतीति अम् के आने पर ही होती है, उसके न आने पर नहीं होती है। इस अन्वयव्यतिरेक के आधार पर यहाँ शास्त्रीय अर्थ की परिकल्पना की गई है। ये अन्वय और व्यतिरेक भी कल्पित ही हैं। केवल शास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह के लिए इनकी परिकल्पना की गई है। वास्तविकता तो केवल अखण्ड वाक्य में ही होती है। उसी के परिज्ञान के लिए कल्पित शास्त्रीय प्रक्रिया होती है।

स च = वह अर्थ जो इस सूत्र में तथा अर्थवद्ग्रहण परिभाषा में लिया गया है, उसे मुख्य और प्रसिद्ध होना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि गौण और अप्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण इस शास्त्र में नहीं होता है। इस प्रकार "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः" तथा—

"अभिव्यक्तपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुताः।
शास्त्रार्थस्तेषु कर्तव्यः शब्देषु न तदुक्तिषु"॥

अर्थात् जो पदार्थ अभिव्यक्त, स्वतन्त्र तथा लोकविश्रुत हैं उन्हीं में शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। जो पदार्थ अनभिव्यक्त हैं तद्वाचक शब्दों में शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। इन दोनों न्यायों की सिद्धि होती है।

अत एव = मुख्य और प्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण करने से ही इयम् = अर्थवद्ग्रहण परिभाषा तथा इदं सूत्रञ्च = यह 'स्वं रूपम्' सूत्र और गौणमुख्य परिभाषा—ये सभी वहीं प्रवृत्त होते हैं जहाँ विशिष्ट रूप का उपादान हो। विशिष्ट रूपोपादान उसे कहते है जहाँ किसी सार्थक आनुपूर्वी का उल्लेख हो। इसकी परिभाषा इस प्रकार है—"आनुपूर्व्यवच्छिन्नविषयताप्रयोजकत्व-रूपंविशिष्टरूपोपादानत्वम्"। उदाहरण के लिए "राज्ञो यत्", "अग्नेर्ढक्" आदि स्थलों में "राज्ञः", "अग्नेः" इत्यादि पदों को विशिष्ट रूपोपादान कहा जा सकता है। ऐसे स्थलों में ही शब्द का अर्थ सम्भव है। शब्द से अर्थ की प्रतीति होने पर ही यह सन्देह हो सकता है कि यहाँ शब्द

का मुख्य अर्थ लिया जाय या गौण? "अत इञ्", "एरच्" आदि सूत्रों में जहाँ अकार और इकार वर्ण का उच्चारण किया गया है वहाँ विशिष्टरूपोपादान के न होने के कारण इन तीनों में से किसी की प्रवृत्ति वहाँ नहीं होती है। इसीलिए तदन्तविधि के द्वारा वहाँ अनर्थक अकारादि का भी ग्रहण होता है। जैसे—इञ् प्रत्यय केवल अ शब्द से भी होता है और अकारान्त दक्ष शब्द से भी होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्णग्रहण में इनकी प्रवृत्ति नहीं होती है।

अब यह शंका होती है कि "स्वं रूपम्" सूत्र के रहने पर "उपसर्गे घोः किः" इस सूत्र में भी घु पद से स्वरूपग्रहण होने लगेगा। यदि कहा जाय कि यदि यहाँ स्वरूप का ग्रहण किया जायेगा तो "दाधाघ्वदाप्" इस सूत्र से किया गया घु संज्ञा का विधान ही व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि घु संज्ञा के द्वारा वहाँ दा और धा धातु का ग्रहण अभिप्रेत है। घु पद में स्वरूप का ग्रहण करने पर दा, धा धातुओं का ग्रहण न हो सकने के कारण घु संज्ञा का विधान ही व्यर्थ हो जायेगा तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि घु संज्ञा का विधान "ई हल्यघोः" सूत्र में चरितार्थ है। इस सूत्र में "आतः" पद की अनुवृत्ति करके श्ना और अभ्यस्त के आकार को ईकार किया जाता है। यदि घु पद में स्वरूप का ग्रहण हो तो घु धातु के आकारान्त न होने के कारण वहाँ ईत्व की प्राप्ति रहेगी ही नहीं। ऐसी स्थिति में घु धातु में ईत्व के वारण के लिए "अघोः" इस निषेध की क्या आवश्यकता है? यही "अघोः" ग्रहण व्यर्थ होकर बतायेगा कि यहाँ घु पद में स्वरूप ग्रहण नहीं है, किन्तु घु पद से दा और धा धातु का ग्रहण होता है। उनके ईत्व के निषेध के लिए "अघोः" यह निषेध सार्थक है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि यह नहीं कहा जा सकता कि घुसंज्ञाविधानसामर्थ्यात् घु पद में स्वरूप का ग्रहण नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में "उपसर्गे घोः" सूत्र में "दाधाघ्वदाप्" तथा "स्वं रूपम्" इन दोनों सूत्रों की साथ ही प्राप्ति होने पर "स्वं रूपम्" सूत्र से परत्वात् "दाधाघ्वदाप्" का बाध होकर स्वरूप का ग्रहण होने लगेगा, जिससे अनिष्टापत्ति होगी। इस प्रकार की अनिष्टापत्ति के वारण के लिए सूत्र में "अशब्दसंज्ञा" इस पद का उल्लेख किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि शब्दशास्त्रीय संज्ञाओं को छोड़ कर शब्द अपने स्वरूप के बोधक होते हैं। शब्दशास्त्रीय संज्ञाएँ तो स्वरूप की बोधिका न होकर अपने अर्थ की बोधिका होती हैं।

अब यह विचार कर रहे हैं कि "अशब्दसंज्ञा" इस पद में कौन समास है? यहाँ "शब्दस्य संज्ञा शब्दसंज्ञा, न शब्दसंज्ञा अशब्दसंज्ञा" इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुषसमासोत्तर नञ् समास करना ठीक नहीं है। कारण यह हैं कि इस व्याकरणशास्त्र में दो प्रकार की संज्ञाएँ मिलती हैं। एक तो गुण-वृद्धि आदि शब्द की संज्ञाएँ और दूसरी कर्मकरणादि अर्थ की संज्ञाएँ। उक्त षष्ठीतत्पुरुष वाले विग्रह के अनुसार शब्द की संज्ञाएँ गुण-वृद्धि आदि स्वरूपबोधिका भले ही न हों, किन्तु अर्थ की बोधिका कर्म-करण आदि संज्ञाएँ तो स्वरूप की बोधिका ही होगी। इसका परिणाम यह होगा कि "कर्मण्यण्" सूत्र में "कर्म" इस स्वरूप का ग्रहण होने लगेगा, जिससे "कर्मकारः" प्रयोग तो बनेगा किन्तु "कुम्भकारः" इत्यादि प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे। इस दोष को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि यहाँ षष्ठीतत्पुरुष नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर कर्मादि अर्थ की संज्ञाओं में "अशब्दसंज्ञा" इस निषेध की प्रवृत्ति न होने से "कर्मण्यण्" सूत्र में स्वरूप-ग्रहण की आपत्ति हो जायेगी। इसलिए यहाँ शब्दे = "शब्दशास्त्रे संज्ञा शब्दसंज्ञा, न शब्दसंज्ञा अशब्दसंज्ञा" इस

प्रकार सप्तमीतत्पुरुषोत्तर नञ् समास करना चाहिए। इसका फल यह होता है कि शब्दशास्त्रीय संज्ञाएँ चाहे वे शब्द की हों या अर्थ की, वे अपने स्वरूप की बोधिका न होकर अर्थ की बोधिका होती हैं। इसलिए "कर्मण्यण्" सूत्र में कर्म पद से कर्मसंज्ञक का बोध होता है, न कि कर्म इस स्वरूप का। यहाँ शब्द पद से शब्दशास्त्र लेना चाहिए। इसलिए कौमुदी में कहा गया है कि "शब्दशास्त्रे या संज्ञा तां विना"।

भाष्ये तु—अर्थे कार्यस्य बाधेऽप्युपस्थितत्वाद्राज्ञ इत्यादौ तज्जन्यबोधे प्रकारतया भासमानस्य राजञ्शब्दस्यैव ग्रहणं भविष्यतीति व्यर्थं सूत्रम्। उपस्थितार्थत्यागे मानाभावेन तस्य विशेषणतयाऽन्वयसम्भवेन चार्थवत्परिभाषापि सिद्धा। लक्ष्यानुसारात्तत्तत्सञ्ज्ञाकरणज्ञानरूपप्रकरणाच्च षान्तसङ्ख्यावाचकषष्शब्दस्य षट्सञ्ज्ञाकरणेन शब्दशास्त्रीयसञ्ज्ञायां स्वरूपाग्रहणज्ञापनाच्च—'उपसर्गे घोरि'त्यादावदोषेणा-'ऽशब्दसञ्ज्ञे'त्यपि व्यर्थमित्युक्तम्। अत एव जनपदाऽपत्यपशु-देवतादिशब्देषु न दोषः। अत एव च वृक्षादिषु विशेषाणां ग्रहणं 'स्वे पुष' इत्यत्र—पर्यायाणां, विशेषाणां, स्वरूपस्य च ग्रहणं, 'सभा राजे'त्यत्र पर्यायाणामेव ग्रहणं, 'पक्षिमत्स्यमृगान्हन्ती'त्यादौ मृगपक्षिणोः पर्यायाणां, विशेषाणां, स्वरूपस्य च ग्रहणम्, मत्स्यपदेन स्वरूपस्य विशेषाणां मीनरूपपर्यायस्य च ग्रहणं—सिद्ध्यति। अन्यथा तदर्थं यत्नः कर्तव्यः। 'परेश्च घाङ्क्योरि'त्यत्र 'घ'शब्देन स्वरूपग्रहणं, 'नदीपौर्णमासी'त्यत्र 'नदी'पदेन च स्वरूपग्रहणं सिद्ध्यति। लक्ष्यानुसारिव्याख्यानेन च मम सर्वेष्टसिद्धिः। ज्ञापकपक्षेऽपि ज्ञापकसिद्धस्यासार्वत्रिकत्वान्न दोषः। अत एव भगवता ज्ञापकेन सिद्धं वचनं प्रत्याख्यातमिति दिक्।

भाष्यकार का कहना है कि शब्द और अर्थ में शब्द की खण्डशः शक्ति रहती है। शब्द से अर्थ की भाँति उसके स्वरूप की भी उपस्थिति होती है। ऐसी स्थिति में जहाँ शब्द से कार्य सम्भव होगा वहाँ शब्द की विशेष्यता रहेगी और अर्थ की विशेषणता। जहाँ अर्थ से कार्य सम्भव होगा वहाँ अर्थ की प्रधानता और शब्द की विशेषणता रहेगी।

"राज्ञो यत्" इस स्थल में राजा रूपी व्यक्ति से (अर्थ से) कार्य बाधित है अर्थात् व्यक्ति के आगे यत् प्रत्यय का होना असम्भव है, इसलिए यहाँ राजन् शब्द से उपस्थित तथा प्रकारतया भासमान राजन् शब्द का ही ग्रहण होगा। इस प्रकार जब राजन् शब्द से यत् प्रत्यय सम्भव है तब इस कार्य के लिए "स्वं रूपम्" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इसलिए यह सूत्र व्यर्थ है।

शब्द से उपस्थित अर्थ का ऐसे स्थल पर परित्याग कर दिया जाय इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए उपस्थित अर्थ को वहाँ शब्द का विशेषण बनाकर सार्थक शब्द का ही ग्रहण किया जायेगा, निरर्थक का ग्रहण नहीं किया जायेगा। इस प्रकार "अर्थवद्ग्रहण" परिभाषा की सिद्धि भी हो जाती है। इस प्रकार सूत्र के अभाव में भी कोई समस्या नहीं रह जाती है—

अब एक शंका यह होती है कि जब सूत्र रहता है तब "अशब्दसंज्ञा" इस अंश से "उपसर्गे घोः किः" सूत्र में स्वरूप का ग्रहण न होकर घुसंज्ञक दा और धा का ग्रहण होता था,

किन्तु सूत्राभाव में यह कार्य कैसे होगा ? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि शब्द के अर्थ के निर्णय में प्रकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भोजन के समय उच्चारित सैन्धव शब्द का अर्थ नमक होता है और यात्रा के समय उच्चारित का अर्थ अश्व होता है। यह प्रकरण की महिमा है। व्याकरणशास्त्र में तत्तद् संज्ञाकरण एक ज्ञान रूपी प्रकरण है। इस प्रकरण के आधार पर यहाँ शब्दार्थ का निर्णय किया जायेगा। प्रस्तुत में घुसंज्ञाकरण ही ज्ञानरूप प्रकरण है। इसके आधार पर घु पद से स्वरूप का बोध न होकर इसके संज्ञी दा और धा का बोध हो जायेगा।

दूसरी बात यह है कि षान्त संख्यावाचक षष् शब्द की "ष्णान्ता षट्" सूत्र से षट् संज्ञा की जाती है। इसका फल है—"षट्" प्रयोग में "षड्भ्यो लुक्" सूत्र से जश् और शस् विभक्ति का लुक् करना। यदि शब्दशास्त्रीय संज्ञा में भी स्वरूप का ग्रहण हो वे तो षट् संज्ञा से ही "षट्" प्रयोग में जश् और शस् का लुक् हो सकता है, क्योंकि षट् संज्ञा स्वरूप की बोधिका होगी और यही रूप षष् शब्द का जश्-शस् विभक्तियों में है। इस प्रकार जब कार्य चल सकता है तब षष् शब्द की षट् संज्ञा क्यों की गई ? यही षट् संज्ञा का विधान व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि शब्दशास्त्रीय जो संज्ञाएँ हैं उन्हें छोड़ कर दूसरे शब्द अपने स्वरूप के बोधक होते हैं। शब्दशास्त्रीय संज्ञाएँ तो अपने संज्ञी की बोधिका ही होती हैं। इसलिए "उपसर्गे घोः किः" सूत्र में कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ घु शब्द स्वरूप का बोधक न होकर अपने संज्ञी दा और धा इन धातुओं का ही बोध करायेगा। इस प्रकार "अशब्दसंज्ञा" यह अंश भी व्यर्थ ही है।

अत एव = "स्वं रूपम्" सूत्र के प्रत्याख्यात होने से ही "सुसर्वार्द्धाज्जनपदस्य", "तस्यापत्यम्", "विभाषा वृक्षमृग", "देवता द्वन्द्वे च" इन सूत्रों में स्वरूप का ग्रहण न होने से जनपद शब्द से देश का, अपत्य शब्द से सन्तति का, मृग शब्द से मृग-विशेष का तथा देवता शब्द से अग्नि-सोमादि देव-विशेष का ग्रहण होता है, न कि स्वरूप का बोध होता है। अत एव च = सूत्र के न रहने से ही "विभाषा वृक्ष" सूत्र में वृक्ष यह स्वरूप न लेकर वृक्षविशेष का ग्रहण किया जाता है। "स्वे पुषः" सूत्र में स्व शब्द से स्वरूप, पर्याय और विशेष इन तीनों का ग्रहण होता है। फलस्वरूप "स्वपोषम्", "धनपोषम्" और "गोपोषम्" इन रूपों की सिद्धि होती है। "सभाराजा" सूत्र में राजपर्याय ईश्वर आदि का ही ग्रहण होता है। "पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति" इस सूत्र में मृग और पक्षियों में पर्याय, विशेष और स्वरूप—इन तीनों का ग्रहण होता है। मत्स्य पद से मत्स्य इस स्वरूप का मत्स्य-विशेष और मीनरूप पर्याय का ग्रहण होता है। अन्यथा = यदि "स्वं रूपम्" यह सूत्र रहता तो अर्थ में कार्य का बाध कर देता और स्वरूप का ही ग्रहण कराता। ऐसी स्थिति में तदर्थम् = पर्याय तथा विशेष के ग्रहण के लिए यत्न करना पड़ता। इस प्रकार सूत्र के रहने पर गौरव स्पष्ट ही है।

ऊपर जितनी बात बता आये हैं उतना ही गौरव नहीं है अपितु "स्वं रूपम्" सूत्र के रहने पर "परेश्च घाङ्कयोः" इस सूत्र में घ शब्द को घसंज्ञा मान कर इसे अर्थपरक कर दिया जाता, जब कि यहाँ "घ" इस स्वरूप का ग्रहण अभिप्रेत है। घस्वरूप का ग्रहण करने से ही "परिघः", "पलिघः" इन प्रयोगों की सिद्धि होती है। इसी प्रकार "नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः" इस सूत्र

में नदी शब्द से नदीस्वरूप का ग्रहण करके "उपनदम्", "उपनदि" इन प्रयोगों की सिद्धि की जाती है। यदि "स्वं रूपम्" सूत्र रहता तो "नदी" के शब्दशास्त्रीय संज्ञा होने के कारण इसे अर्थपरक बना देता, जिससे उक्त रूपों की सिद्धि नहीं हो पाती। इस प्रकार इस सूत्र के रहने पर गौरव के अतिरिक्त दोष भी है।

अब एक यह शंका होती है कि लक्ष्यानुसारी व्याख्या के आधार पर भाष्यकार के मतानुसार "परेश्च घाङ्कयोः" तथा "नदीपौर्णमासी" सूत्र में स्वरूप का ग्रहण कर लिया गया, किन्तु जब "ई हल्यघोः" सूत्र के "अघोः" इस पद से ज्ञापन किया गया है कि शब्दशास्त्रीय संज्ञाएँ स्वरूप की बोधिका न होकर अर्थ की (संज्ञी की) बोधिका होती है, उस पक्ष में उक्त दोनों सूत्रों में स्वरूप का ग्रहण किस प्रकार किया जायेगा ? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि ज्ञापक पक्ष में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि ज्ञापकसिद्ध वचन असार्वत्रिक होता है अर्थात् सभी जगह के लिए नहीं होता है। वह तो अनित्य होता है। इस प्रकार उक्त दोनों सूत्रों में स्वरूप के ग्रहण में कोई बाधा नहीं है। अत एव = ज्ञापकसिद्ध के असार्वत्रिक होने के कारण ही भगवान् भाष्यकार ने ज्ञापकसिद्ध वचन "अशब्दसंज्ञा" का प्रत्याख्यान कर दिया है।

येन वि। 'येने'ति करणे तृतीया, 'विधिरि'ति भावे किः। कर्मात्र विधेयं, कर्ता चाचार्यः प्रसिद्धत्वाल्लभ्यत एव। यत्तु 'करणं कर्तृपरतन्त्रमिति तृतीयया पारतन्त्र्यं लक्ष्यते, तच्च शब्दानां विशेषणत्वेनेति विशेषणमिति लब्धमि'ति, तन्न। 'सुब्विभक्तौ न लक्षणे'त्यस्य सर्वसम्मतत्वात्। किं बहुना—येषां प्रत्ययानामन्येषां वा शब्दानामर्थे विधानं कृतं शास्त्रेण—तेषामन्यत्रार्थे, तदर्थे चान्येषां—लक्षणयाऽपि साधुत्वाभावस्य 'प्रत्ययः', 'पुंयोगादि'त्यादिभाष्यतो लाभात्। करणस्य व्यापार वत्त्वनियमादन्येषाञ्च व्यापाराभावाद्विशेषणमेवात्र करणतृतीयान्तेनोच्यते। तस्य चेतरव्यावृत्तिकरणमेव—व्यापारः। तदुक्तं भाष्ये—"येनेति करणे एषा तृतीयाऽन्येन चान्यस्य विधिर्भवति। यथा चैत्रस्य सङ्ग्रामं हस्त्यश्वादिभिर्विधत्ते, एवम्—'अचो यदि'ति—अचा धातोर्यतं विधत्ते" इति। 'अन्येन चान्यस्ये'त्यनेन यस्य कार्यं यस्मिन्परतश्च तयोरकरणत्वं दर्शितम्। 'अन्यस्ये'त्य'न्यस्मिन्नि'त्यस्याप्युपलक्षणम्। तत्र शब्दोपस्थितविशेष्यस्य तादृशं विशेषणमेव तदन्तग्राहकम्। क्वचित्सति गमकेऽतादृशं शब्दरूपं विशेष्यमादायापि तदन्तविधिः। तच्चान्तरङ्गत्वात्समाना-धिकरणमेव। तत्र तदन्तविधौ सति तथा विशेषणत्वयोग्यताप्येतत्प्रवृत्तौ निमित्तम्। अत एव 'इन्हन्नि'त्यादौ इनंशे तदन्तविधि। न हि 'इन्-अङ्गमि'त्यन्वयो भवति। 'तदन्तस्ये'त्यस्य—तदन्तशब्दस्येत्यर्थः। नन्वेवम् 'एरजि'ति 'अय' इत्यत्र न स्यादत आह—स्वस्य चेति। 'स्वमि'त्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते इति भावः। 'स्वं रूपमि'त्यस्य प्रत्याख्याने तु—'तस्य तदन्तस्य चे'ति पाठ्यमिति बोध्यम्।

"येन विधिस्तदन्तस्य" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि यहाँ "येन" इस पद में जो तृतीया विभक्ति है वह करण में है और विधि शब्द में "विधानं विधिः" इस विग्रह

में भाव में 'कि' प्रत्यय हुआ है। शंका होती है कि यह कहने की क्या आवश्यकता हुई कि "येन" पद की तृतीया करण में है? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि "येन" इस पद में कर्ता में तृतीया नहीं मान सकते, क्योंकि 'विधि' इस कृदन्त शब्द के योग में "कर्तृकर्मणोः" सूत्र से विहित षष्ठी से कर्ता में प्राप्त तृतीया का बाध हो जायेगा। इसे हेतु में तृतीया भी नहीं मान सकते, क्योंकि करण-तृतीया के कारक विभक्ति होने के कारण हेतु-तृतीया की अपेक्षा उसका होना न्याय्य है। इसी बात को द्योतित करते हुए कह रहे हैं कि "येन" की तृतीया करण अर्थ में हुई है।

जहाँ पर यत्किञ्चित् करणक विधान किया जाता है वहाँ विधान करने वाला कोई कर्ता होता है और कोई विधान का कर्म (विधेय) होता है। इस शास्त्र में ये दोनों कौन हैं? इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि अत्र = इस शास्त्र में जो विधि का कर्म होगा वही विधेय होगा और विधान करने वाले कर्ता प्रसिद्धि के आधार पर आकांक्षा के द्वारा आचार्य पाणिनि ही ग्राह्य हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आचार्यकर्तृक यत्करणक कुछ विधान किया जाय, वहाँ वह करणवाचक पद तदन्त का बोधक होता है। उदाहरण के लिए "अचो यत्" सूत्र को लिया जा सकता है। यहाँ धातु से यत् प्रत्यय का विधान आचार्य कर रहे हैं। प्रश्न होता है कि धातु मात्र से यत् तो अपेक्षित नहीं है; ऐसी स्थिति में वह कौन सा साधन है जो यत् प्रत्यय के लिए धातु को परिच्छिन्न कर दे। ऐसी स्थिति में अच् यह पद करण या साधन के रूप में उपस्थित होता है, इसलिए इसमें तदन्तविधि होती है, जिससे 'अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो' ऐसा सूत्रार्थ होता है।

सिद्धान्तकौमुदी में इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार कही गई है कि "विशेषणं तदन्तस्य संज्ञा स्यात् स्वस्य च रूपस्य"; यहाँ यह सन्देह होता है कि सूत्र में तो विशेषण का उल्लेख नहीं है तो वृत्ति में विशेषण पद का प्रयोग कैसे किया गया है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए किसी का कहना है कि "येन" इस पद की तृतीया करण अर्थ में है। करण कर्ता के परतन्त्र रहता है, इसलिए "येन" पद की तृतीया की पारन्तन्त्र्य में लक्षणा कर दी जायेगी। शब्द का वह पारतन्त्र्य विशेषण रूप ही है, क्योंकि विशेषण सदा विशेष्य पर अवलम्बित रहता है। इस प्रकार पारतन्त्र्य में लक्षणा करने से "विशेषण" का लाभ होता है। नागेश भट्ट इस बात से सहमत नहीं है। इन्होंने 'यत्तु' शब्द से इस मत को प्रस्तुत करके 'तन्न' शब्द के द्वारा इस मत का खण्डन कर दिया है।

लक्षणावादी के मत का खण्डन करते हुए शेखरकार का कहना है कि यह बात सर्वसम्मत है कि सुप् विभक्ति में लक्षणा नहीं होती है। इसीलिए "सुपां सुलुक्" (६।१।३९) सूत्र में "सु" का ग्रहण सार्थक होता है। अन्यथा "ऋजवः सन्तु पन्थाः" इस प्रयोग में जहाँ जस् विभक्ति को सु का विधान किया गया है, यह सुविधान व्यर्थ हो जाता; क्योंकि पथिन् शब्द से सु विभक्ति लाकर उसकी बहुत्व अर्थ में लक्षणा करने से ही कार्य हो सकता था। ऐसी स्थिति में "पथिन्" शब्द से पहले जस् विभक्ति लाना और उसे सु आदेश करना—ये सभी कार्य व्यर्थ हो जाते। इससे सिद्ध होता है कि सुप् विभक्ति में लक्षणा नहीं होती है। दूसरी बात यह है कि यदि करण-तृतीया की लक्षणा पारतन्त्र्य में करेंगे तो इस लक्षित अर्थ का अन्वय

विधिपदार्थ में नहीं हो सकेगा, क्योंकि विधान की पारतन्त्र्य के साथ अन्वय की आकांक्षा ही नहीं है। इसके अतिरिक्त "प्रत्ययः" और "पुंयोगात्" सूत्र के भाष्य से यह विदित होता है कि जिन प्रत्ययों का जिस अर्थ में विधान शास्त्र में कर दिया गया है, उससे भिन्न अर्थ में यदि उसका प्रयोग किया जा रहा है तो वह असाधु हो जायेगा। इसी प्रकार जिस अर्थ में जिस शब्द का विधान किया गया है, उससे भिन्न अर्थ में प्रयोग करने पर उस शब्द की असाधुता हो जायेगी।

"प्रत्ययः" सूत्र के भाष्य में यह बात इस प्रकार कही गई है कि बभ्रु के अपत्य को यदि कहना है तो अपत्य अर्थ में यञ् प्रत्यय करके "बाभ्रव्यः" यह रूप बना कर ही कहा जा सकता है। बभ्रु की लक्षणा अपत्य अर्थ में करके अपत्य का बोध नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार "पुंयोगात्" सूत्र के भाष्य में भी कहा गया है कि प्रष्ठादि जो शब्द हैं उनका स्त्रीलिंग में प्रयोग करने की अपेक्षा होने पर स्त्रीवाचक प्रत्यय करके ही वहाँ प्रयोग किया जा सकता है, न कि लक्षणा द्वारा। इन भाष्यवचनों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि न केवल सुप् प्रत्ययों में ही लक्षणा का निषेध किया गया है, अपितु प्रत्यय मात्र के अर्थ को लक्षणा द्वारा न कहने की बात कही गई है।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि जिन प्राचीन आचार्यों ने "येन" इस करण-तृतीया का पारतन्त्र्य अर्थ में लक्षणा करके यहाँ विशेषण अर्थ का लाभ करने की बात कही है वह संगत नहीं है। इस प्रकार जब विशेषण अर्थ का लाभ नहीं हो सकता तो कौमुदीकार की वृत्ति में विशेषण शब्द के प्रयोग की संगति कैसे होगी ? इस आशंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "येन" इस पद की तृतीया करण अर्थ में है। व्यापारवत् असाधारण कारण ही करण होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि करण वही होता है जो व्यापारवान् हो। अन्य कारकों में व्यापार का अभाव होता है। शब्द में जो व्यापार होता है वह इतरव्यावृत्ति रूप होता है और जो इतर का व्यावर्तक होता है वह विशेषण होता है। जैसे नीलकमल कहने से नीलेतर सभी कमल की व्यावृत्ति हो जाती हैं। इसलिए नील विशेषण है। इस प्रकार यहाँ विषेषण अर्थ का लाभ होता है। इस प्रकार यहाँ करण-तृतीयान्त पद से विशेषण अर्थ कहा जाता है। भाष्यकार ने भी कहा है— एषा = येन पद की तृतीया करण अर्थ में हुई है। करण साधन होता है। उसके द्वारा किसी का कार्य किया जाता है। इसी अभिप्राय से आगे कहते हैं कि अन्य से अन्य की विधि (कार्य) होती है। जैसे चैत्र के संग्राम को सेनापति, हस्ती और अश्वादि रूप साधन से करता है। उसी प्रकार आचार्य "अचो यत्" सूत्र में अच् के द्वारा धातु से यत् प्रत्यय का विधान कर रहे हैं। यहाँ चैत्र के स्थान पर धातु है, हस्ती आदि के स्थान पर अच् है और सेनापति के स्थान पर आचार्य हैं। जिस प्रकार चैत्र के संग्राम में हस्ती आदि करण हैं, उसी प्रकार धातु से यत् प्रत्यय करने में अच् करण है। इस प्रकार करण होने के कारण अच् विशेषण होता है, जिससे तदन्तविधि होकर अजन्त धातु से ही यत् प्रत्यय होता है। यहाँ "अन्येन अन्यस्य कार्यम्" इस कथन से यह बात बताई गई है कि जिसका कार्य हो रहा है तथा जिसके पर में रहने पर वह कार्य हो रहा है वे दोनों करण नहीं है। यहाँ "अन्यस्य" यह पद "अन्यस्मिन्" इस पद का भी उपलक्षण (बोधक) है।

प्रस्तुत सूत्र से की जाने वाली तदन्तविधि तत्र= उन स्थलों में जहाँ विशेष्य स्ववाचक शब्द के द्वारा उपस्थित है वहाँ तादृशम्=शब्दोपस्थित विशेषण के द्वारा ही होती है। जैसे– "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" यहाँ द्विवचन यह विशेष्य तथा ईदूदेत्" यह विशेषण दोनों शब्दतः उपस्थित हैं। इसलिए यहाँ तदन्तविधि करके "ईदूदेदन्त द्विवचन" ऐसा अर्थ किया जाता है। किन्तु यह बात प्रायिक है, इसलिए जहाँ कहीं कोई गमक हो वहाँ अतादृशम्=शब्द से अनुपस्थित "शब्दस्वरूप" इस विशेष्य को लेकर भी तदन्तविधि की जाती है। जैसे– "सर्वादीनि सर्वनामानि" इस सूत्र से विहित सर्वनाम संज्ञा सर्वादिगणपठित शब्दों की तथा सर्वाद्यन्त शब्द की भी होती है। यहाँ यद्यपि विशेष्य का उल्लेख शब्दतः नहीं है तथापि "द्वन्द्वे च" यह सूत्र जो "वर्णाश्रमेतर" आदि द्वन्द्व समास में सर्वनाम संज्ञा का निषेध करता है, इसी को गमक मान कर "शब्दस्वरूप" को विशेष्य बनाकर तदन्तविधि की जाती है, जिससे सर्वाद्यन्त जो शब्दस्वरूप उसे सर्वनाम संज्ञा हो, ऐसा सूत्रार्थ होता है। यहाँ "शब्दस्वरूप" यह विशेष्य शब्दोपस्थापित नहीं है। तच्च= वह विशेष्य जो तदन्तविधि का प्रयोजक होता है उसे अन्तरंगत्वात् समानाधिकरण ही रहना चाहिए। समानाधिकरण का तात्पर्य यहाँ समानविभक्तिकत्व से है। तात्पर्य यह है कि विशेष्य और विशेषण दोनों में समान विभक्ति होनी चाहिए, जिससे दोनों में अभेद की प्रतीति हो सके।

अब यह सन्देह होता है कि ऐसी स्थिति में "इन्हन्पूषार्यम्णां" सूत्र के इन् अंश में तदन्तविधि कैसे होगी? क्योंकि अधिकाररूप में यहाँ आये हुए अंग के साथ इन् का अभेदान्वय रूपी समानाधिकरण नहीं है, क्योंकि इन् तो स्वयं में अंग नहीं है। अंग तो "यशस्विन्" यह इन्नन्त शब्द ही होता है। ऐसी स्थिति में इन् अंश में तदन्तविधि कैसे हो? इस शंका का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि तत्र=समानाधिकरण स्थल में तदन्तविधि स्वीकार करने पर भी यदि कोई विशेषण न बनता हो, किन्तु उसमें विशेषण की यदि योग्यता रहती है तो उस योग्यता के आधार पर ही वहाँ तदन्तविधि हो जाती है। इन् यद्यपि अंग का विशेषण नहीं है तथापि उसमें विशेषणत्व की योग्यता तो है ही। इसीलिए तदन्तविधि इस अंश में भी हो जाती है। इसके बाद "इन्नन्त अंग" ऐसा अर्थ करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि "इन्" यह अंश अंग का विशेषण हो गया है।

विशेषण तदन्त की संज्ञा होता है, यहाँ "तदन्तस्य" इस पद का अर्थ है "तदन्तशब्दस्य"। तात्पर्य यह है कि विशेषण जिसके अन्त में रहता है उस तदन्त शब्द का वह बोधक होता है। जैसे "अचो यत्" सूत्र में "अच्" यह विशेषण "चि" इस अजन्त धातु का बोधक होता है। अब एक यह समस्या सामने आती है कि ऐसी स्थिति में "एरच्" इस सूत्र में आया हुआ "ई" रूपी विशेषण इवर्णान्त चि, जि धातुओं का बोधक होगा, अपना बोधक तो नहीं होगा। ऐसी स्थिति में "चयः", "जयः" ये प्रयोग तो बन जायेंगे किन्तु वह जब स्वयं अपने "इ" इस रूप का बोधक नहीं होगा तब "अयः" यह प्रयोग कैसे बनेगा? इस बात के उत्तर में कहा गया है—"स्वस्य च रूपस्य संज्ञा"। विशेषण तदन्त की संज्ञा के साथ स्वस्वरूप की भी संज्ञा (बोधक) होता है। इस "स्वस्य" अंश की सिद्धि के लिए 'स्वं रूपम्" सूत्र से "स्वम्" इस पद की अनुवृति करके उसका विपरिणाम (परिवर्तन) "स्वस्य" इस षष्ठ्यन्त रूप में कर दिया जाता

है। जब "स्वं रूपम्" सूत्र का प्रत्याख्यान है उस समय तो "येन विधिस्तस्य तदन्तस्य च" ऐसा पाठ समझना चाहिए।

विशेष—विशेषण के आधार पर की जाने वाली यह तदन्तविधि तीन प्रकार की होती है। प्रथम तो शब्दोपात्त विशेष्य को लेकर; जैसे "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" इस सूत्र में विशेषण के साथ विशेष्य का भी शब्दतः उपादान किया गया है।

द्वितीय- अधिकारलब्ध विशेष्य के द्वारा। जैसे "अचो यत्" सूत्र में "धातोः" का अधिकार आता है। इस अधिकृत "धातु" रूप विशेष्य को लेकर यहाँ तदन्तविधि होती है। इसी प्रकार "अतो दीर्घो यञि" सूत्र में "अङ्गस्य" इस पद का अधिकार आता है। यह अधिकृत "अङ्गस्य" विशेष्य होता है और "अतः" यह पद उसका विशेषण होता है और वहाँ तदन्तविधि होती है।

तीसरा प्रकार तदन्तविधि का वह है जहाँ विशेष्य का आक्षेप करके तदन्तविधि की जाती है। जैसे "सर्वादीनि सर्वनामानि" सूत्र में "प्रयोजनं च सर्वनामाव्ययसंज्ञायाम्" इस भाष्यप्रामाण्य के आधार पर "शब्दस्वरूप" इस विशेष्य का अध्याहार या आक्षेप करके तदन्तविधि की जाती है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि जब विशेषण तदन्त की संज्ञा होता है तब "द्वितीयाश्रितातीत" इस सूत्र में पठित श्रितादि शब्द, इस सूत्र में "समर्थः पदविधिः" सूत्र से आये तथा तृतीया बहुवचन रूप में परिवर्तित "समर्थैः" इस पद के विशेषण होंगे। परिणामस्वरूप "येन विधिः" सूत्र से तदन्तविधि होने से ऐसा सूत्रार्थ होगा कि द्वितीयान्त पद का श्रिताद्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है। इस अर्थ का परिणाम यह होगा कि "कृष्णं परमश्रितः यहाँ पर भी "कृष्णश्रितः" की भाँति समास होने लगेगा। इसी प्रकार "नडादिभ्यः फक्" सूत्र में "प्रातिपदिकात्" पद का अधिकार आता है। इसका बहुवचनान्तत्वेन परिवर्तन करने पर "नडादिभ्यः" यह पद उसका विशेषण बनेगा। फलस्वरूप तदन्तविधि होने पर सूत्रार्थ इस प्रकार का होगा कि नडाद्यन्त प्रातिपदिक से फक् प्रत्यय होता है। परिणाम यह होगा "सूत्रनडस्य अपत्यं" इस विग्रह में नडान्त सूत्रनड शब्द से इञ् प्रत्यय न होकर 'फक्' प्रत्यय होने लगेगा, जिससे अनभीष्ट प्रयोग बनने लगेगा। इन शंकाओं को दृष्टिगत करते हुए वार्तिककार ने वार्तिक बनाया "समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः"। इसका अर्थ है कि "समासविधि और प्रत्ययविधि में तदन्तविधि नहीं होती है।

नागेश भट्ट इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं—

समासप्रेति। विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासे तात्पर्यग्राहकमिदम्। एवञ्च 'द्वितीयाश्रित' इत्यादौ श्रितादयोऽधिकारप्राप्त'समर्थैरि'त्यस्य विशेष्यभूता इति न तदन्तविधिः। तस्य तत्प्रकृतिके लक्षणया 'सुपे'त्यनेनान्वयः। तेन 'कृष्णं परमश्रित' इत्यत्र न समासः। 'नडादिभ्यः फगि'त्यादावपि नडादि—विशेष्यं, प्रातिपदिकं—विशेषणमिति 'सौत्रनाडिरि'त्यत्र न फक्। उगिदिति। तेनातिभवती'त्यत्र 'उगितश्चे'ति ङीप्, 'दाक्षिरि'त्यत्र 'अत इञ्' च सिद्धः। एवञ्चोक्तनिषेधः प्रत्ययांशे गृह्यमाणप्रातिपदिकविषये, प्रत्ययविधिविषयेण'गृह्यमाणप्रातिपदिकेन तदन्तविधि-

र्नास्ती'-त्यनेनैकवाक्यत्वलाभात्। 'उगिद्वर्णे'ति त्वेकदेशानुवाद इति बोध्यम्। अत एव 'वनो र चे'त्यादौ 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमि'त्यस्य नायं निषेध इति दिक्।

समास और प्रत्यय विधि में तदन्तविधि नहीं होती है। इस तदन्तविधि के निषेध का तात्पर्य यह है कि जहाँ तदन्तविधि अनभीष्ट है वहाँ विशेषण और विशेष्य भाव का व्यत्यास कर दिया जाता है। व्यत्यास का तात्पर्य यह है कि विशेषण को विशेष्य और विशेष्य को विशेषण बना दिया जाता है। उदाहरण के लिए "द्वितीया श्रितातीत" सूत्र को ही लिया जा सकता है। यहाँ अधिकृत समर्थ पद को विशेषण बना दिया गया और श्रितादि को विशेष्य बनाया गया। अब यदि तदन्तविधि होती भी है तो सूत्रार्थ होगा कि समर्थान्त जो श्रितादि, उनका द्वितीयान्त के साथ समास हो। किन्तु ऐसा कोई उदाहरण मिलेगा ही नहीं जहाँ श्रितादि के अन्त में समर्थ सुबन्त रहे। इसलिए ऐसे स्थलों पर अगत्या तदन्तविधि नहीं होती है।

"द्वितीया श्रितातीत" सूत्र में "सुपा" इस तृतीयान्त पद की अनुवृत्ति होती है। इस एकवचनान्त का विपरिणमन बहुवचनान्त में कर दिया जाता है, क्योंकि "श्रितातीत" इत्यादि पद बहुवचनान्त है। इसके बाद श्रितादि पद का तत्प्रकृतिक में लक्षणा करके उसका सुबन्त के साथ अभेदान्वय किया जाता है। ऐसा करने से सूत्रार्थ इस प्रकार होता है कि श्रितादिशब्दप्रकृतिक सुबन्त के साथ द्वितीयान्त का समास होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि 'कृष्णं परमश्रितः' जैसे प्रयोगों में समास के वारण के लिए यहाँ (द्वितीयाश्रित में) तदन्तविधि अनभीष्ट है। तदन्तविधि को रोकने के लिए विशेष्य और विशेषण भाव का व्यत्यास किया गया है। तेन= उस व्यत्यास के कारण जब तदन्तविधि नहीं हुई तो उसका फल यह हुआ कि "कृष्णं परमश्रितः" इस जगह "द्वितीया श्रितातीत" सूत्र से समास नहीं हुआ। इसी प्रकार "नडादिभ्यः फक्" सूत्र में भी अधिकृत प्रातिपदिक को विशेषण और नडादि को विशेष्य बना दिया जाता है। प्रातिपदिकान्त नडादि के न मिलने के कारण यहाँ भी तदन्तविधि नहीं होती। इसलिए केवल नड शब्द से ही फक् होता है। सूत्रनड शब्द से फक् होने का कोई प्रश्न ही नहीं होता, क्योंकि यहाँ तदन्तविधि का निषेध हो जाने के कारण नडान्त से फक् की प्राप्ति ही नहीं होती। इसलिए यहाँ "अत इञ्" सूत्र से इञ् प्रत्यय होकर "सौत्रनाडिः" यही प्रयोग बनता है।

इस प्रस्तुत वार्तिक के स्वीकार से जहाँ उपर्युक्त दोषों का निराकरण होता है वहीं एक यह भी समस्या उपस्थित हो जाती है कि प्रत्ययविधि में तदन्तविधि का निषेध करने का परिणाम यह होगा कि "उगितश्च" सूत्र, जो ङीप् प्रत्यय का विधान करता है, यहाँ तदन्तविधि का निषेध हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि इस सूत्र से विहित ङीप् प्रत्यय केवल "भवत्" इस उगित् प्रातिपदिक से ही होगा, "अतिभवत्" इस उगिदन्त प्रातिपदिक से नहीं होगा। ऐसी स्थिति में "अतिभवती" यह प्रयोग कैसे सिद्ध होगा? इसी प्रकार "अत इञ्" सूत्र से विहित "इञ्" प्रत्यय केवल "अ" शब्द से करके 'इः' प्रयोग तो बनाया जा सकता है, किन्तु अकारान्त "दक्ष" शब्द से इञ् प्रत्यय न हो सकेगा, जिससे "दाक्षिः" इस प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इन समस्याओं को दृष्टिगत कर वार्तिककार ने "उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्" यह वार्तिक बनाया। इसका तात्पर्य यह है कि "समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः" उगिद्ग्रहण और वर्णग्रहण को छोड़ कर तदन्त-

विधि का निषेध करता है। इन दोनों स्थलों में तो तदन्तविधि होती ही है। इसका फल यह हुआ कि "अतिभवती" प्रयोग में "उगितश्च" सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो गया। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यह भवत् शब्द भू धातु से शतृ प्रत्यय करके बनाया हुआ नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर यहाँ नुम् होकर "अतिभवन्ती" ऐसा रूप बनता। यह तो सर्वादिगण में पठित "भवतु" इस अव्युत्पन्न प्रातिपदिक का "भवत्" शब्द है।

वर्णग्रहण में तदन्तविधि का निषेध न होने से "अत इञ्" का इञ् प्रत्यय अकारान्त दक्ष से भी हो जाता है, जिससे 'दाक्षि' रूप की सिद्धि होती है। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त निषेध = "समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः" यह निषेध प्रत्यय अंश में वहीं प्रवृत्त होता है जहाँ गृह्यमाण प्रातिपदिक का उल्लेख हो। जैसे– "नडादिभ्यः फक्", यहाँ "नड" इस रूप में प्रातिपदिक की आनुपूर्वी पढ़ी गई है। ग्रहणवत् प्रातिपदिक उसी को कहते हैं जहाँ प्रातिपदिक अपनी आनुपूर्वी रूप से पढ़ा गया हो। ग्रहणवत् प्रातिपदिक जहाँ रहता है वहाँ "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति" इस परिभाषा से तदन्तविधि का निषेध होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि "समासप्रत्ययविधौ" का प्रत्ययांश में निषेध करना उक्त परिभाषा के साथ एकवाक्यता करके इस प्रकार होता है कि जहाँ प्रत्ययविधि की विषयता हो वहाँ गृह्यमाण प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होती है।

वस्तुतस्तु "उगिद्वर्णग्रहणभिन्नत्वे सति प्रत्ययभिन्नत्वं ग्रहणवत् प्रातिपदिकम्" अर्थात् उगिद्-ग्रहणभिन्न, वर्णग्रहणभिन्न तथा प्रत्ययग्रहणभिन्न को ही ग्रहणवत् प्रातिपदिक कहते हैं। इसलिए उक्त स्थलत्रय से अतिरिक्त स्थल में ही तदन्तविधि का निषेध होता है। इन स्थलों में तो तदन्तविधि होती ही है।

अब ऐसी स्थिति में एक यह शंका होती है कि "समासप्रत्ययविधौ" यह निषेध प्रत्ययांश में जब "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन" इस परिभाषा के साथ एकवाक्यता करके तदन्तविधि का निषेध करता है तब तो उगित् स्थल और वर्णग्रहण में ग्रहणवत् प्रातिपदिक से भिन्न होने के कारण स्वयमेव तदन्तविधि सिद्ध है, तो ऐसी स्थिति में "उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्" इस वार्तिक की क्या आवश्यकता है? इस शंका के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि "उगिद्वर्ण" यह वार्तिक एकदेश का अनुवादक है। एकदेश से तात्पर्य अगृह्यमाण प्रातिपदिकघटित सूत्रसमूह से है, क्योंकि ऐसे स्थल पर तदन्तविधि होती ही है।

अत एव = ग्रहणवत् परिभाषा के साथ 'प्रत्ययविधौ' इस निषेधक अंश की एकवाक्यता होने से इस निषेध के ग्रहणवत् प्रातिपदिक विषय होने के कारण "वनो र च" इस सूत्र में "प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स" इस परिभाषा से प्राप्त तदन्तग्रहण का नायम् = "प्रत्ययविधौ प्रतिषेधः" यह निषेध नहीं करता है। इसलिए वहाँ तदन्तविधि हो जाती है।

अवसान और संहिता इन दोनों संज्ञाओं के पारस्परिक संश्लेष को दृष्टिगत कर नागेश भट्ट दोनों संज्ञाओं के विधायक सूत्रों की सम्मिलित व्याख्या करते हुए कह रहे हैं–

विरामः। भावे घञ्। शब्दानुशासनप्रस्तावादाह–वर्णानामिति। उच्चारणाभाव इत्यर्थः। स च व्याख्यानात्किञ्चिद्वर्णोच्चारणान्तरकालिक एव गृह्यते। प्रदेशाः– "वाऽवसाने" इत्यादयः। अभावस्यापि बुद्धिकृतं पौर्वापर्यं–वर्णवत्।

परशब्दो नान्यार्थोऽन्यत्वस्याव्यभिचरितत्वादत आह—अतिशयित इति। स्वभावसिद्धार्धमात्रातिरिक्तकालव्यवायेन रहितः। तेन तद्व्यवायेन वाक्योच्चारणे सञ्ज्ञा न। सन्निकर्षश्च प्रायः परेण। क्वचित्पूर्वेणापि। अत एवावसानकार्याणां संहिताधिकारे पाठः। न चावसानसञ्ज्ञया परसत्त्वे सावकाशायाः संहितासञ्ज्ञायाः 'सत्यपि सम्भवे बाधनं भवती'ति न्यायेन विषयभेदेऽपि बाधः स्यादिति तदसङ्गतिरेवेति वाच्यं, तदधिकारे तेषां पाठेनाकडारसूत्रस्य स्वशास्त्रीयसञ्ज्ञामात्रविषयत्वकल्पनात्। एते तु न तथा, लोकेऽपि सत्त्वात्। तदुक्तं वार्तिककृता—'संहितावसानयोर्लोकविदितत्वात्' इति। न चावसानकार्येषु संहिताधिकारासम्बन्ध एवास्तु, अग्रे च मण्डूकप्लुतिरस्त्विति वाच्यं, सत्यामुपपत्तौ मण्डूकानुवृत्तेरयुक्तत्वात्। ध्वनितञ्चेदं—'विसर्जनीयस्य सः' इति सूत्रे भाष्ये। सन्निकर्षः सामीप्यम्।

विराम शब्द में "विरमणं विरामः" इस व्युत्पत्ति के आधार पर विपूर्वक रम् धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय हुआ है। इस प्रकार विराम शब्द का अर्थ अभाव है। वह अभाव किसका लिया जाय? इस प्रकार प्रतियोगी की आकांक्षा होने पर कह रहे हैं कि शब्दानुशासन का प्रकरण होने के कारण यहाँ वर्णों का ही अभाव लिया जायेगा। वस्तुतस्तु वैयाकरणसिद्धान्त के अनुसार शब्द के नित्य होने के कारण वर्णों का अभाव लेना सम्भव नहीं है, इसलिए यहाँ अभाव पद से क्रिया का अभाव ही ग्राह्य है। वह क्रिया यहाँ शब्दानुशासन के प्रस्ताव के कारण वर्णों का उच्चारण रूपी क्रिया ही सम्भव है। इसी तात्पर्य से कह रहे हैं—उच्चारणाभाव इत्यर्थः। इस प्रकार दीक्षितजी जहाँ वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा करते हैं वहाँ नागेश भट्ट वर्णों के उच्चारणाभाव की अवसान कर रहे हैं।

स च = वह उच्चारणाभाव किञ्चित् वर्णोच्चारणपूर्वक ही लेना चाहिए। उस उच्चारणाभाव के पूर्व में कुछ उच्चारण का होना आवश्यक है। यह बात भाष्यव्याख्यान पर आधारित है। भाष्यकार ने कहा है कि "आरम्भपूर्वको मम विरामः"—विराम आरम्भपूर्वक होता है अर्थात् विराम से पूर्व में कुछ अवश्य होता है। इससे स्पष्ट है कि अभाव के पूर्व में कुछ उच्चारण होना चाहिए। "र्वोरुपधाया दीर्घ इकः" यह निर्देश भी इसमें प्रमाण है। अन्यथा बिना उच्चारण-पूर्वक के वर्णों के उच्चारणाभाव को अवसान मानने पर रकार से पूर्व में उच्चारणाभाव के कारण यहाँ अवसान संज्ञा हो जाती और अवसान में इस पदान्त रेफ को विसर्ग की आपत्ति हो जाती। इससे उच्चारणाभाव का यत्किञ्चित् उच्चारणपूर्वकत्व की बात स्पष्ट होती है।

इस अवसान संज्ञा के प्रदेश = स्थल "वावसाने" इत्यादि हैं। अब प्रश्न यह होता है कि "वाऽवसाने" सूत्र का जो यह अर्थ किया जाता है कि "अवसान के पर में रहने पर झल् को चर् हो" यह अर्थ कैसे संगत होगा? क्योंकि अवधि और अवधिमान् में साजात्य अपेक्षित होता है। अवसान संज्ञा तो अभाव की की गई है, इस अभाव का भाव के साथ पौर्वापर्य कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि यहाँ अभाव का भी पौर्वापर्य वर्ण के पौर्वापर्य की भाँति बुद्धिकृत ही लिया जायेगा। जिस प्रकार नित्यविभु अथवा उच्चरितप्रध्वंसी वर्णों का सजातीय वर्णों के साथ पौर्वापर्य सम्भव न होने पर भी उनका बौद्धिक पौर्वापर्य,

शास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह के लिए माना जाता है, उसी प्रकार बुद्धिपरिकल्पित अवसानपरत्व, वर्ण में माना जायेगा। इस प्रकार शास्त्रीय प्रक्रिया का निर्वाह सम्भव है।

विशेष—ऊपर विराम शब्द में भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय बताया गया है। यह विराम शब्द बाहुलकात् करण या अधिकरण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके भी बनाया जा सकता है। उस समय ऐसा विग्रह होगा कि "विरम्यते अनेन अस्मिन् वेति विरामः"। जिस वर्ण पर या जिस वर्ण के द्वारा विराम किया वह वर्ण ही अवसानसंज्ञक होता है। भाष्यकार ने भी कहा है कि "वर्णों वान्त्यो वावसानम्" अर्थात् अन्तिम वर्ण ही अवसान है। इस पक्ष में "खरवसानयोः" इस पद की एक ही सप्तमी विषयभेदात् भिन्न होती है। खर् अंश में यह परसप्तमी है तथा अवसान अंश में सति सप्तमी है। इसलिए सूत्रार्थ होता है—खर् पर में रहने पर पदान्त रेफ को विसर्ग होता है और अवसानसंज्ञक रकार के स्थानी रहने पर उपस्थितत्वात् उस रेफ को विसर्ग होता है। इस प्रकार अवसान संज्ञा अभाव तथा वर्ण दोनों की होती है।

"परः सन्निकर्षः संहिता" इस सूत्र में पर शब्द का अर्थ अन्य नहीं है, क्योंकि अन्यत्व (भेद) केवलान्वयी है। केवलान्वयी का अर्थ सब जगह रहने वाला है। इस प्रकार अन्यत्व का व्यभिचार (अभाव) कहीं नहीं मिल सकता। विशेषण वही उपयुक्त होता है जहाँ सम्भव और व्यभिचार दोनों हों। यहाँ व्यभिचार सम्भव न होने से पर का अर्थ अन्य नहीं लिया गया, किन्तु संहिता इस महासंज्ञा के कारण पर शब्द यहाँ श्रेष्ठार्थक लिया गया। सन्निकर्ष में श्रेष्ठत्व अतिशय रूप ही हो सकता है, इसलिए कौमुदीकार ने वृत्ति में कहा है—"अतिशयितः सन्निधिः संहिता"। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि एक वर्ण के उच्चारण के बाद द्वितीय वर्ण के उच्चारण में अर्धमात्रा काल का व्यवधान होना अनिवार्य है। इस स्थिति को ध्यान में रखकर कह रहे हैं कि स्वभावसिद्ध जो अर्धमात्राकालिक व्यवधान है, उससे अतिरिक्त काल के व्यवधान न रहने पर ही संहिता संज्ञा होती है। इसलिए अर्धमात्रा से अधिक काल के व्यवधान से किये गये वाक्योच्चारण में संहिता नहीं रहती है। जिस सन्निकर्ष की यह संहिता संज्ञा की जा रही है वह सन्निकर्ष प्रायः पर वर्ण से लिया जाता है। जैसे "इको यणचि" इस सूत्र में "अचि" इस निमित्त का उपादान करने के कारण अच्निरूपित इक्निष्ठ पूर्वत्व ही संहिता है। प्रायः पर वर्ण से सन्निकर्ष लिया जाता है, यह कहने का यहाँ तात्पर्य यह है कि निमित्त के रूप में सप्तमी का निर्देश बाहुल्येन मिलता है। इसीलिए "प्रायः परेण" ऐसा वहा गया है। कहीं-कहीं यह सन्निकर्ष पूर्व वर्ण से भी लिया जाता है, जहाँ निमित्त के रूप में पञ्चम्यन्त पद का उल्लेख होता है। उदाहरण के लिए "डःसि धुट्" सूत्र को लिया जा सकता है। यहाँ "डः" इस पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने के कारण सूत्रार्थ इस प्रकार होता है कि "डकाराव्यवहितोत्तरत्वविशिष्ट सकार को धुट् का आगम होता है"। यहाँ सकार का सन्निकर्ष पूर्ववर्ण डकार से लिया जाता है। "इकोयणचि" में इक् का सन्निकर्ष पर वर्ण अच् से लिया जाता है। इसी प्रकार अवसान-कार्य "खरवसानयोः" में भी पूर्ववर्ण से ही सन्निकर्ष लिया जाता है, क्योंकि वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा करने पर अवसान से पूर्व में ही रकार की उपलब्धि होगी। इसलिए अवसान कार्य में भी पूर्व वर्ण से ही सन्निकर्ष लिया जाता है। इसलिए अवसान-कार्य "वावसाने" आदि का संहिताधिकार में पाठ किया गया है, क्योंकि यहाँ संहिता का मिलना सम्भव है।

अब यह शंका हो रही है कि जहाँ पर में वर्ण की सत्ता है; जैसे "सुध्युपास्यः" इस प्रयोग में ईकार के उत्तर में उकार की सत्ता है, ऐसे "परसत्व" में अर्थात् उत्तरभाग में वर्ण की सत्ता रहने पर संहिता संज्ञा चरितार्थ है। "रामात्" इस प्रयोग में जहाँ पर में किसी की (वर्ण की) सत्ता नहीं है, ऐसे स्थल पर संहिता संज्ञा और अवसान संज्ञा—इन दोनों की साथ ही प्राप्ति होने पर परसत्वस्थल में चरितार्थ संहिता संज्ञा का "आकडारीय" नियम से अनवकाश अवसान संज्ञा से बाध हो जाना चाहिए। यदि कहा जाय कि अवसान संज्ञा का उद्देश्यतावच्छेदक वर्णोच्चारणाभावत्व है और संहिता संज्ञा का उद्देश्यतावच्छेदक वर्णों की अर्धाधिक मात्राव्यवधानशून्यत्व है। ऐसी स्थिति में दोनों संज्ञायें जब अपने-अपने देश में सम्भव हैं तो इनका बाध्य-बाधक भाव कैसे होगा? तो इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "सत्यपि-सम्भवे बाधनं भवतीति" अर्थात् चरितार्थता सम्भव होने पर भी बाध्यबाधकभाव होता ही है। उदाहरण के लिए "उर्णुनाव" इस प्रयोग को लिया जा सकता है। यहाँ "एकाचो द्वे प्रथमस्य" इस सूत्र से प्राप्त प्रथम एकाच् के द्वित्व का बाध द्वितीय एकाच् के द्वित्व से हो जाता है। यहाँ "अजादेर्द्वितीयस्य" का उद्देश्यतावच्छेदक अजादिधातुत्व है और "एकाचो द्वे प्रथमस्य" का उद्देश्यतावच्छेदक धातुत्व मात्र है। यहाँ यदि प्रथम एकाच् को द्वित्व कर दिया जाता है तो भी उसके बाद द्वितीय एकाच् को द्वित्व हो सकता है। इस प्रकार यद्यपि द्वितीय एकाच् का द्वित्व सावकाश हो सकता है तथापि उसके द्वारा यहाँ प्रथम एकाच् के द्वित्व का बाध कर दिया जाता है। इसी प्रकार यहाँ अवसान संज्ञा के सम्भव होने पर भी उससे संहिता संज्ञा का बाध होना चाहिए।

यदि कहा जाय कि वासुदेववाचक "अ" शब्द के सम्बोधन में "हे अ" इस प्रयोग में जहाँ वर्णों की असन्निधि के कारण संहिता संज्ञा की प्राप्ति नहीं है वहाँ अवसान संज्ञा करके "अणोऽप्रगृह्यस्य" सूत्र से अनुनासिक-विधान कराने के लिए अवसान संज्ञा भी चरितार्थ है। इसलिए अनवकाशत्वात् यहाँ बाध्यबाधकभाव सम्भव नहीं है, तो ऐसी स्थिति में परत्वात् यहाँ अवसान संज्ञा से संहिता संज्ञा का बाध होना चाहिए। ऐसी स्थिति में अवसान कार्यों का संहिताधिकार में पाठ करना असंगत है। यहाँ "तदसङ्गतिः" इस पद का यही अर्थ है कि अवसान-कार्यों का संहिताधिकारपाठासंगति है।

इस उपर्युक्त आशंका का उत्तर देते हुए शेखरकार का कहना है कि तदधिकारे = संहिताधिकार में तेषाम् = अवसान-कार्यों का पाठ करने के सामर्थ्य से यह कल्पना की जायेगी कि "अकडारात्" सूत्र की प्रवृत्ति स्वशास्त्रीय संज्ञामात्र में होती है। स्वशास्त्रीय संज्ञा का तात्पर्य शब्दशास्त्रीय संज्ञा समझना चाहिए। एते तु = संहिता और अवसान ये दोनों संज्ञाएँ तो न तथा = न केवल शब्दशास्त्रीय संज्ञाएँ ही हैं अपितु लोकविदित भी हैं। अतः यहाँ अवसान संज्ञा से संहिता संज्ञा का बाध नहीं होता है। वार्तिककार ने भी कहा है कि संहिता और अवसान संज्ञाएँ लोकविदित हैं।

यदि कहा जाय कि अवसान-कार्यों में संहिता का अधिकार न किया जाय। आगे जहाँ संहिता की आवश्यकता हो वहाँ उसकी मण्डूकप्लुति कर ली जाय। जैसे "तोर्लि" इत्यादि सूत्रों की प्रवृत्ति संहिता के अभाव में न होने लगे, इसीलिए "अग्निचित् लुनाति" प्रयोग में

संहिता के अभाव में परसवर्ण नहीं होता है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त रीति से जब यह सिद्ध कर दिया गया कि संहिता और अवसान संज्ञा का परस्पर बाध्यबाधक भाव नहीं होता तो सभी कार्य उपपन्न हो ही जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में अवसान-कार्यों को संहिताधिकार में न पढना तथा "संहिता" की मण्डूकानुवृत्ति करना—ये सभी बातें अयुक्त ही हैं। "विसर्जनीयस्य सः" इस सूत्र के भाष्य से यह बात ध्वनित होती है।

संहितासंज्ञा में वर्णों का सन्निकर्ष अपेक्षित है। सन्निकर्ष का अर्थ सम्बन्ध होता है। वर्णों का यह सम्बन्ध संयोग या समवाय सम्भव नहीं है, क्योंकि वर्ण गुण होते हैं। गुणों के ये दोनों सम्बन्ध संभव नहीं है, इसीलिए कहा गया है– 'सन्निकर्षः सामीप्यम्'। वर्णों का सामीप्य तो सम्भव है ही।

सुप्तिङ्। सुबिति—सुपः पकारेण प्रत्याहारो व्याख्यानात्। यद्यपि 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमि'त्युक्तेः शब्दरूपं विशेष्यमादाय तदन्तग्रहणं सिद्धम्। 'प्रत्ययेन स्वप्रकृत्यवयवकसमुदायस्याक्षेपात्तद्विशेषणत्वेन तदन्तविधिरि'ति न युक्तम्। 'इयानि'त्यादौ तस्य तादृशसमुदायेन व्यभिचारेणाक्षेपासम्भवात्, आक्षिप्तस्य शाब्देऽनन्वयाच्च। तथापि सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणाभावज्ञापनार्थ-मन्तग्रहणम्। तेन घसञ्ज्ञा तरप्तमपोरेव न तदन्तस्य। तेन 'गौरीब्राह्मणितरे'त्यत्र न ह्रस्वः। एतन्निषेधसामर्थ्यादेव प्रदेशेष्वपि न तदन्तविधिः।

"सुप्तिङन्तं पदम्" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि इस सूत्र में जो "सुप्" यह पद आया है वह प्रथमा के एकवचन "सु" प्रत्यय से लेकर सप्तमी के बहुवचन "सुप्" प्रत्यय के पकार तक "सुप्" एक प्रत्याहार के रूप में है, जिसमें इक्कीस विभक्तियाँ आ जाती हैं। प्रश्न होता है कि सुप् पद से यहाँ उपर्युक्त सुप् प्रत्याहार ही लिया जाय, इसमें क्या प्रमाण है? इसका उत्तर ग्रन्थकार दे रहे हैं कि "व्याख्यानात्" अर्थात् व्याख्यान के आधार पर ही यहाँ सुप् प्रत्याहार लिया जाता है। यदि इस प्रकार सुप् प्रत्याहार न लेकर प्रतिपदोक्तत्वात् सप्तमी का बहुवचन सुप् प्रत्यय लिया जाय तब केवल तदन्त की ही पद संज्ञा होगी। ऐसी स्थिति में ङि और सम्बुद्धि में पद संज्ञा न हो सकेगी और जब वहाँ पद संज्ञा ही नहीं होगी तब "हे राजन्" इस प्रयोग में तथा "परमे व्योमन्" इस वैदिक सप्तम्यन्त प्रयोग में नकार का लोप प्राप्त ही नहीं होगा। ऐसी स्थिति में उक्त दोनों प्रयोगों में नकार के लोप का निषेध करने के लिए "न ङिसम्बुद्ध्योः" इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? इससे समझते हैं कि यह सुप् सप्तमी का बहुवचन न होकर सुप् प्रत्याहार है। दूसरी बात यह है कि तिङ् यह पद तिशब्द-आद्यवयवक और ङकार-अन्त्यावयवक तिङ् प्रत्याहार का बोधक है। उसके साहचर्य से भी यहाँ सुप् यह पद उपर्युक्त प्रकार से कथित प्रत्याहार का बोधक है।

यहाँ 'सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ, तौ अन्तौ यस्य' इस विग्रह में द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहि करके अन्त शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध किया जाता है, जिससे सुबन्त और तिङन्त की पद संज्ञा होती है। अब यहाँ यह शंका कर रहे हैं कि यहाँ तदादि शब्दस्वरूप इस विशेष्य को लेकर तथा सुप्तिङ् को उसका विशेषण बनाकर "प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितः" इस परिभाषा से

तदन्तविधि करके सुबन्त और तिङन्त तदादि की पदसंज्ञा जब स्वतः सिद्ध है तो उसके लिए सूत्र में अन्तग्रहण की क्या आवश्यकता है? कुछ प्राचीन आचार्य यहाँ प्रत्यय से स्वप्रकृत्यवयवक समुदाय का आक्षेप करके सुप्तिङ् को उसका विशेषण बनाकर तदन्तविधि करते हैं, किन्तु उनका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यय के द्वारा स्वप्रकृत्यवयवक समुदाय का आक्षेप तब सम्भव है जब जहाँ-जहाँ प्रत्यय रहे वहाँ सब जगह उसकी प्रकृति भी साथ में लगी रहे। ऐसी स्थिति में प्रत्यय से स्वप्रकृत्यवयवक समुदाय का आक्षेप हो सकता है, किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। क्योंकि "इयान्" इस प्रयोग में तस्य = प्रत्यय का तादृशसमुदाय से = स्वप्रकृत्यवयवक समुदाय से व्यभिचार देखा जाता है। यहाँ तो केवल प्रत्ययमात्र है, उसकी प्रकृति यहाँ नहीं है। इसलिए नहीं कहा जा सकता कि जहाँ-जहाँ प्रत्यय रहता है वहाँ सब जगह उसकी प्रकृति साथ में रहती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए "इयान्" प्रयोग की सिद्धि को समझ लेना चाहिए। इदम् शब्द से "इदं परिमाणं यस्य" इस विग्रह में "किमिदम्भ्यां वो घः" सूत्र से वतुप् प्रत्यय और उसके वकार को घकार कर दिया जाता है। इस घ को इय् आदेश होता है। इसके बाद "इदं किमोरीश्की" सूत्र से इदम् को "ईश्" आदेश करने पर "ई + इयत्" इस स्थिति में भसंज्ञा करके रूपान्तर में परिणत प्रकृति "ई" का "यस्येति च"सूत्र से लोप हो जाता है। इस प्रकार यहाँ केवल तद्धित प्रत्ययमात्र "इयत्" यह अंश अवशिष्ट रहता है, जिसकी व्यपदेशिवद्-भाव से तद्धितान्त मान कर प्रातिपादिक संज्ञा होती है और उसका प्रथमा के एकवचन में "इयान्" यह रूप बनता है। स्पष्ट है कि यहाँ केवल प्रत्ययमात्र है। इसलिए प्रत्यय से स्वप्रकृत्यवयवक समुदाय के आक्षेप की बात करना असंगत है। यदि कहा जाय कि प्रत्यय के साथ प्रकृति यहाँ भले न हो किन्तु "इयान्" की प्रक्रियादशा में उसकी प्रकृति तो साथ में थी, इसलिए उसके आक्षेप में कोई बाधा नहीं है; तो इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि आक्षिप्त का शाब्दबोध में अन्वय ही नहीं होता, क्योंकि शाब्दी आकांक्षा की पूर्ति शब्द के द्वारा होती है, आक्षेप के द्वारा नहीं होती। इसलिए सुप्तिङ् के प्रत्यय होने के कारण उनके द्वारा तदादि की उपस्थिति और तद्विशेष्यक तदन्तविधि "येन विधिः" सूत्र से सिद्ध है तो सूत्र में अन्तग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार यहाँ की शंका ठीक है।

इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि उपर्युक्त प्रकार से अन्तग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" अर्थात् संज्ञाविधि में प्रत्ययमात्र बोधक पद तदादिविशेष्यक तदन्तोपस्थापक नहीं होता है। इस परिभाषा के ज्ञापन का फल यह होता है कि "तरप्तमपौ घः" इस सूत्र से विधेय घसंज्ञा तरप् और तमप् प्रत्ययों की ही होती है, न कि तरबन्त और तमबन्त की। इसका परिणाम यह होता है कि "गौरी ब्राह्मणितरा" इस प्रयोग में तरबन्त "ब्राह्मणितरा" के पर में रहने पर गौरीशब्दावयव ईकार को ह्रस्व नहीं होता, क्योंकि "ब्राह्मणितरा" यह तरबन्त घसंज्ञक नहीं है। ब्राह्मणितरा में तो ह्रस्व होता ही है, क्योंकि यहाँ घसंज्ञक तर प्रत्यय पर में है।

अब यहाँ एक यह आशंका हो रही है कि घसंज्ञा में उपर्युक्त ज्ञापित परिभाषा के कारण यद्यपि तदन्तविधि नहीं हुई किन्तु "घरूपकल्प" इत्यादि जो विधिप्रदेश हैं वहाँ तो तदन्तविधि हो ही जायेगी, जिससे अनिष्ट रूप की आपत्ति यथावत् रह जाती है? इस शंका का उत्तर देते

हुए कह रहे हैं कि एतन्निषेध= संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे" इस निषेध के सामर्थ्य से प्रदेशेषु = घरूपकल्प इत्यादि विधिप्रदेशों में भी तदन्तविधि नहीं होती है; इसलिए कोई दोष नहीं होता है।

वस्तुतस्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि "हृदयस्य हृल्लेखः" सूत्र में किये गये "अण्" ग्रहण से यह ज्ञापन किया जाता है कि सप्तम्यन्त प्रत्ययग्रहण में तदन्तविधि नहीं होती है। घरूपकल्प इत्यादि सप्तम्यन्त पद है ही, अतः यहाँ तदन्तविधि का प्रश्न ही नहीं है।

न च ज्ञापितेऽपि व्यर्थं, पदप्रदेशे प्रत्यग्रहणे तदन्तग्रहणेनैव सिद्धेरिति वाच्यं, पदत्वस्य प्रकृतिसाधारणतया पदग्रहणे प्रत्ययग्रहणस्यैवाभावात्। 'यस्मात्प्रत्ययविधिरि'त्याद्यनुवृत्तेः पदसमुदायस्य न पदत्वम्। 'इयानि'त्यादौ यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादितद्धितान्तत्वं व्यपदेशिवद्भावेन बोद्धयम्। तेनाशास्त्रीयस्याप्येकाच्त्वादेरतिदेशात्। 'विशिष्टनिष्ठव्यवहारनिमित्तकार्याणि असहायेऽपि कर्तव्यानी'ति तदर्थात्। अत एव 'इयन्मात्रमि'त्यादौ वत्वन्तात्स्वार्थे इति मात्रच्सिद्धिः। 'हरिषु' इत्यादौ सोस्तु नैवं पदत्वं, 'हलि सर्वेषामि'ति निर्देशेन ससहाये तदप्रवृत्तेः। 'निजौ चत्वार एकाचः' इति भाष्यन्त्वभ्युपेत्यवादेन। ध्वनितञ्चेदम्—'आदेच उपदेशे', 'तास्यनुदात्तेदि'त्यादौ भाष्ये। तत्र हि—'ढौकते' इत्यौकारस्य 'हतः' इत्यादावकारस्यैजन्तोपदेशत्वमकारान्तोपदेशत्वं व्यपदेशिवद्भावेनाशङ्क्य 'अर्थवता व्यपदेशिवद्भाव' इत्युक्तम्। 'यो वर्णोऽर्थवांस्तेन व्यपदेशिवद्भावः, वर्णस्यार्थवत्त्वञ्चेयायेत्यादावसहाये एव, न तु प्रकृते—इति तदर्थः। एवञ्चैकस्मिन्नित्यस्यार्थोऽर्थवतेत्यनेनोक्त इति दिक्।

अब यहाँ यह शंका हो रही है कि "सुप्तिङन्तं पदम्" इस सूत्र के अन्तग्रहण से "संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" इस परिभाषा को ज्ञापित करने पर भी अन्तग्रहण व्यर्थ ही है, क्योंकि उसके अभाव में भी सुबन्त और तिङन्त की पदसंज्ञा सिद्ध है। यदि कहा जाय कि इस परिभाषा से निषेध की स्थिति में बिना अन्तग्रहण के सुबन्न और तिङन्त की पदसंज्ञा कैसे सिद्ध है? तो इसका उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं कि अन्तग्रहण के अभाव में सुप् और तिङ् इन दोनों प्रत्ययों की पद संज्ञा होगी। ऐसी स्थिति में पद शब्द से घटित जो "पदस्य" "पदव्यवायेऽपि" इत्यादि पद प्रदेश (पदघटित सूत्र) हैं, उन सभी में पद शब्द से सुप् और तिङ् इन दोनों का ग्रहण होगा और इन दोनों के प्रत्ययमात्र-बोधक होने के कारण "प्रत्ययग्रहणे" परिभाषा से तदादिविशेष्यक तदन्तविधि करके सुबन्त और तिङन्त तदादि का बोध हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि सुप् और तिङ् की पद संज्ञा करने पर भी पद शब्द से सुबन्त और तिङन्त ही लिए जायेंगे। इस प्रकार अन्तग्रहण की आवश्यकता नहीं रह जाती है। यहाँ एक बात अवश्य ध्यातव्य है कि शेखर के मूल में इस प्रसंग में जो "पदप्रदेशे" यह पद कहा गया है उसके पहले "प्रत्यययोरेव पदसंज्ञायामपि" इतना पाठ जोड़ कर तब शेखर की व्याख्या करनी चाहिए क्योंकि अन्तग्रहण के अभाव में सुप् और तिङ् इन प्रत्ययों की ही पद संज्ञा होगी।

इस शंका का उत्तर देते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि यह शंका तब उचित होती जब पद शब्द से सब जगह सुप् और तिङ् ये दो प्रत्यय ही लिये जाते। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" इस सूत्र से जो पद संज्ञा होती है वह सर्वनामस्थानभिन्न हलादि स्वादि प्रत्यय पर में रहने पर प्रकृतिमात्र की होती है। इस प्रकार पद संज्ञा के प्रकृति-निष्ठ होने के कारण पद शब्द से सब जगह प्रत्यय (सुप्-तिङ्) का ही ग्रहण हो यह बात सम्भव नहीं है। अतः पद शब्द से सुप् और तिङ् का ग्रहण कर उनसे तदादि की उपस्थिति कराकर तद्विशेष्यक तदन्तविधि सम्भव न होने के कारण सुबन्त और तिङन्त की पदसंज्ञा करने के लिए अन्तग्रहण की आवश्यकता (चरितार्थता) होती है।

"सुप्तिङन्तं पदम्" इस सूत्र में "यस्मात् प्रत्ययविधिः" इस सूत्र की अनुवृत्ति होती है। परिणाम यह होता है कि यह पदसंज्ञा सुबन्ततदादि और तिङन्ततदादि की होती है, इसलिए "गौर्गच्छति" इस पदसमुदाय की पदसंज्ञा नहीं होती, क्योंकि प्रस्तुत पद तिङन्ततदादि नहीं है।

अब यह सन्देह करते हैं कि इसी प्रकार "कृत्तद्धितसमासाश्च" इस सूत्र में भी "यस्मात् प्रत्ययविधिः" सूत्र की उपस्थिति होगी, क्योंकि यहाँ भी कृत् और तद्धित प्रत्ययों का ग्रहण किया गया है। ऐसी स्थिति में कृदन्त और तद्धितान्त तदादि की प्रातिपदिक संज्ञा होगी तो "इयान्" की प्रकृति "इयत्" की प्रातिपदिक संज्ञा कैसे होगी, क्योंकि यह तो केवल तद्धित का प्रत्यय मात्र है न कि तद्धितान्ततदादि? इस शंका का उत्तर दे रहे हैं कि "इयान्" प्रयोग में तद्धितान्ततदादित्व व्यपदेशिवद्भाव से समझना चाहिए। यद्यपि तद्धितान्त तदादित्व अशास्त्रीय (किसी सूत्र द्वारा किया हुआ धर्म नहीं है) धर्म है, तथापि तेन = "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" इस परिभाषा से अशास्त्रीय धर्म का भी अतिदेश होता है। जैसे अच्त्व धर्म के "आदिरन्त्येन" सूत्र से बोधित होने के कारण शास्त्रीय होने पर भी "एकाच्त्व" धर्म किसी भी शास्त्र से बोधित न होने के कारण अशास्त्रीय धर्म है, तथापि "इयाय" इस प्रयोग में केवल "इ" इस धातु को व्यपदेशिवद्भाव से एकाच् माना जाता है, उसी प्रकार "इयत्" यह प्रत्यय मात्र भी तद्धितान्त तदादि व्यपदेशिवद्भाव से है ही। "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" इस परिभाषा का अर्थ ही है कि विशिष्टवृत्ति जो एकाच्त्वादि व्यवहार, उस व्यवहारनिमित्तक कार्य ससहाय की भाँति असहाय में भी करना चाहिए। यह व्यपदेशिवद्भाव असहाय में ही होता है, ससहाय में नहीं। "हलि सर्वेषाम्" सूत्रघटक "सर्वेषाम् यह निर्देश ही इसमें प्रमाण है। यदि ससहाय में भी व्यपदेशिवद्भाव होता तो "सर्वेषाम्" इस सुबन्ततदादिघटक केवल "साम्" यह प्रत्ययांश भी सुबन्ततदादि हो जाता और इसका परिणाम यह होता कि "साम्" यह अंश पद कहा जाता और इसके आदि सकार के षत्व का निषेध "सात्पदाद्योः" सूत्र से हो जाता। इस प्रकार "सर्वेषाम्" यह निर्देश असंगत हो जाता। इसी प्रकार "हरिषु" इत्यादि पदों में 'सु' को व्यपदेशिवद्भाव से सुबन्ततदादि मानकर पदसंज्ञा नहीं होती, क्योंकि यहाँ भी "सु" यह असहाय नहीं है किन्तु ससहाय है।

अत एव = "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" इस परिभाषा से तदादित्व आदि अशास्त्रीय धर्म का अतिदेश होने के कारण ही "इयत्" शब्द को वत्वन्ततदादि मान कर उससे "वत्वन्तात् स्वार्थे द्वयसज्मात्रचौ बहुलम्" इस वार्तिक से मात्रच् प्रत्यय होता है, जिससे "इयन्मात्रम्" प्रयोग की सिद्धि होती है।

असहाय में व्यपदेशिवद्भाव मानने पर एक समस्या यह आती है कि भाष्यकार ने कहा है कि "निजौ चत्वार एकाचः" अर्थात् निज् धातु में चार एकाच् हैं। ये चार उनके अनुसार "निज्, इज्, नि और इ" इस रूप में हैं। उन्होंने यहाँ केवल इकार को भी एकाच् माना है, किन्तु इकार के असहाय न होने के कारण जब व्यपदेशिवद्भाव होगा ही नहीं तब भाष्यकार ने उसके आधार पर यहाँ चार एकाच् क्यों कहा है? इसके उत्तर में नागेश का कहना है कि "एकस्मिन्" का अर्थ असहाय होता है, ऐसी पर्यालोचना किये बिना ही ससहाय में व्यपदेशिवद्भाव की प्रवृत्ति को स्वीकार कर भाष्यकार ने "निजौ चत्वार एकाचः" का प्रयोग किया है। "ध्वनितञ्चेदम् = ससहाय में व्यपदेशिवद्भाव की अप्रवृत्ति होती है यह बात "आदेच उपदेशे" तथा "तास्यनुदात्तेत्" इन दोनों सूत्रों के भाष्य में ध्वनित है। वहाँ "आदेच उपदेशे" के भाष्य में "ढौकते" इस प्रयोगघटक औकार में व्यपदेशिवद्भाव से एजन्तोपदेशत्व लाकर "आदेच उपदेशे" सूत्र से उसे आत्व क्यों नहीं होता? इसी प्रकार "हतः" प्रयोगघटक हकारोत्तर अकार में अकारान्तोपदेशत्व व्यपदेशिवद्भाव से लाकर उसके आगे लसार्वधातुक तस् के अनुदात्त की आशंका की गई और इन आशंकाओं के उत्तर में कहा गया कि "अर्थवता व्यपदेशिवद्भावः" अर्थात् व्यपदेशिवद्भाव अर्थवान् से ही होता है। उपर्युक्त दोनों वर्ण अर्थवान् नहीं हैं, क्योंकि ये दोनों समुदाय के घटक (अवयव) हैं। वर्णों की अर्थवत्ता तो वहीं होती है जहाँ वर्ण एकाकी हो अर्थात् असहाय हो। जैसे "इयाय" इस प्रयोग में आया हुआ "इ" धातु अर्थवान् होते हुए भी एकाच् की दृष्टि से वह असहाय है, इसलिए व्यपदेशिवद्भाव से इसे एकाच् मान कर द्वित्व किया जाता है। इस प्रकार असहाय में ही वर्ण की अर्थवत्ता होती है, न कि प्रकृते = "ढौकते" और "हतः" जैसे ससहाय स्थल में। इस प्रकार "अर्थवता" इस पद के द्वारा "एकस्मिन्" इस पद का अर्थ असहाय ही सिद्ध होता है।

हलोऽनन्तराः। 'गर्गाः शतं दण्ड्यन्तामि'त्यत्र समुदाये शतदण्डनवदत्र समुदायस्यैव सञ्ज्ञा, न प्रत्येकम्। 'अनन्तरा' इत्युक्तेश्च। तस्य विशेषणताया एवौचित्यात्।

यत्तु 'संयुज्यन्ते वर्णा यत्रेत्यन्वर्थसञ्ज्ञाबलान्न प्रत्येकं संज्ञा' इति, तन्न। 'घटपटौ संयुज्येते यत्रे'त्यादौ संयुज्यमानपदार्थातिरिक्तस्यैवान्यपदार्थतया प्रतीतेर्व्युत्पन्नत्वेन तदतिरिक्ततद्घटितपदवाक्यरूपसमुदायस्य सञ्ज्ञापत्तावनिष्टापत्तेः। महासञ्ज्ञा तु प्राचामनुरोधादेव। तेन 'सुद्दृषद्भाती'त्यत्र संयोगान्तलोपो नेत्यन्यत्र विस्तरः।

"हलोऽनन्तराः संयोगः" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यह विचार कर रहे हैं कि जिन हल् वर्णों के मध्य में अच् वर्ण नहीं है, अच्कृत व्यवधान से रहित उन हल् वर्णों की विधेय जो संयोग संज्ञा है, वह गुण और वृद्धि संज्ञा की भाँति प्रत्येक हल् वर्ण की होती है अथवा हल्-समुदाय की संयोग संज्ञा होती है? इस सन्देह का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि "गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्" इस दृष्टान्त के आधार पर वाक्यपरिसमाप्ति समुदाय में ही देखी जाती है। तात्पर्य यह है कि यहाँ दण्ड के रूप में सौ रुपया गर्गसमुदाय से लिया जाता है, न

कि प्रत्येक गर्ग से सौ-सौ रुपया लिया जाता है। उसी प्रकार यहाँ भी संयोग संज्ञा प्रत्येक हल् वर्ण की न होकर समुदाय की ही होती है। यदि कहा जाय कि ब्राह्मणभोजन न्याय से प्रत्येक में भी वाक्यपरिसमाप्ति देखी जाती है। इस स्थिति में यहाँ प्रत्येक की संयोग संज्ञा क्यों न हो जाय? इस बात के उत्तर में कह रहे हैं कि "अनन्तरा इत्युक्तेश्च" अर्थात् "व्यवधानरहिताः" इस अर्थवाला "अनन्तराः" यह बहुवचनान्त पद "हलः" इस बहुवचनान्त पदार्थ का विशेषण ही है। इसलिए बहुत हल् अर्थात् हल्-समुदाय की ही संयोग संज्ञा होती है। यहाँ "अनन्तराः" इस पद की व्याख्या दो प्रकार से होती है। पहला प्रकार यह है कि "अविद्यमानमन्तरं = वर्णशून्यकालो मध्ये येषां ते" अर्थात् जिन हल् वर्णों के मध्य में वर्णशून्य काल नहीं है। एक वर्ण के उच्चारण के बाद दूसरे वर्ण के उच्चारण में अर्धमात्रा काल का व्यवधान अनिवार्य है। इसलिए "अनन्तराः" का अर्थ है—अर्धमात्राधिक काल के व्यवधान से शून्य। हल् वर्णों के मध्य में यदि अच् वर्ण आ जाता है तब वहाँ यह स्थिति न रहने के कारण संयोग संज्ञा नहीं होती है। अथवा "अविद्यमाना अन्तरा मध्ये येषां ते अनन्तराः" जिन हल् वर्णों के मध्य में व्यवधान न हो वे अनन्तर कहे जाते हैं। व्यवधान विजातीय के द्वारा ही होता है, इसलिए हल् के विजातीय अच् वर्णों का ही व्यवधान यहाँ सम्भव होने से अच् के व्यवधान से रहित हल् वर्णों की संयोग संज्ञा होती है। उपर्युक्त पहले विग्रह के अनुसार जहाँ एक हल् के उच्चारण के बाद दूसरे हल् वर्ण के उच्चारण में एकमात्रा काल का व्यवधान हो, उस अवग्रह स्थल में संयोग संज्ञा कैसे होगी? यह शंका हो सकती है, किन्तु इस शंका का कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि ऐसे स्थल के लिए भाष्यकार ने कहा है कि "नैव दोषो न प्रयोजनम्" अर्थात् अवग्रह में संयोग संज्ञा करने का कोई प्रयोजन नहीं है, इसलिए कोई दोष नहीं है।

प्रत्येक हल् की संयोग संज्ञा के वारण के लिए कैयट आदि आचार्य संयोग शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं—"संयुज्यन्ते वर्णा यत्रासौ संयोगः" अर्थात् जहाँ वर्ण आपस में मिलते हैं वह समुदाय ही संयोग है। इस अन्वर्थ संज्ञा के बल से प्रत्येक की संयोग संज्ञा नहीं होगी। नागेश भट्ट इस कथन का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि यह कहना इसलिए ठीक नहीं है कि "घटौपटौसंयुज्येते यत्र" इस वाक्य से संयुज्यमान घट-पट पदार्थ से अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की प्रतीति होती है। उसी प्रकार कैयट की व्याख्या के अनुसार संयुज्यमान वर्णों से अतिरिक्त और उनसे घटित = युक्त पद और वाक्य रूप समुदाय की संयोग संज्ञा होने लगेगी, जिससे अनिष्टापत्ति होगी। किन्तु विषमी टीकाकार के अनुसार नागेश का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सब जगह संयुज्यमान पदार्थ से अन्य का ही ग्रहण हो यह कोई आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए "व्रीहयः संयुज्यन्ते यत्र राशौ" इस स्थल पर उस राशि से व्रीहि का ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार यहाँ हल् के विशेष्य होने के कारण अन्य पदार्थ के रूप में अज्रहित हल् समूह का ही ग्रहण होगा, न कि पद और वाक्य का। इसलिए कैयट की व्याख्या में कोई दोष नहीं है। यद्यपि संज्ञा लघु (अल्पाक्षर वाली) करनी चाहिए तथापि यहाँ संयोग नामक जो महती संज्ञा की गई हैं वह प्राचीनों के अनुरोध पर की गई है। प्राचीन आचार्यों ने संयोग यह महासंज्ञा ही की है, उसी आधार पर यहाँ भी संयोग संज्ञा की गई है।

तेन = अच् रहित प्रत्येक हल् की संयोग संज्ञा न करके अच् रहित हल्-समुदाय की संयोग संज्ञा करने से "सुदृषद् भाति" इस वाक्यघटक हल्रहित दकार की संयोग संज्ञा नहीं होती है। इसलिए उसका संयोगान्त लोप नहीं होता है। यह बात अन्यत्र = भाष्यादि में विस्तार से कही गई है।

'हल' इति बहुवचनं सौत्रम्। यद्वा—हलौ च हलश्चेत्येकशेषः—'स्वरितात्संहितायामि'ति सूत्रे'ऽनुदात्तानामि'ति पदे तथैकशेषस्य भाष्ये करणात्। तेन द्वयोरपीति—'शिक्षे'त्यादौ' 'गुरोश्च हलः' इति अप्रत्ययः सिद्ध्यति। यत्रापि बहवः श्लिष्टास्तत्रापि द्वयोर्द्वयोरेव न बहूनाम्, झलि परे संयोगादिलोपविधानात्। 'बहूनामपी'ति चिन्त्यमेव, फलाभावात्। तत्र-तत्राङ्गपदधात्ववयवसंयोगस्यैवाश्रयणेन तादृशस्य च त्रयाणां संयोगस्याभावादिति भाष्ये स्पष्टम्। आनन्तर्यं—व्यवधानाभावो, व्यवधानञ्च विजातीयेनैवेत्याशयेनाह—अज्भिरिति। अत्र कुत्वं न्याय्यम्। अत एव हयवरट्सूत्रे—'अचोऽक्षु' इति भाष्यप्रयोगे कुत्वं दृश्यते। 'स्वरैरव्यवहिता' इति तूचिता वृत्तिः। हलः किम्? तितउ देव। अत्र 'गुरोरि'ति प्लुतः स्यात्। अनन्तराः किम्? द्रप्सम्? अत्र सकारमकारयोः संयोगत्वे 'स्कोरि'ति लोपः स्यात्।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि अच् रहित एक हल् की संयोग संज्ञा नहीं होती है, किन्तु "हलः" इस बहुवचन के आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि बहुत हलों की ही संयोग संज्ञा होती है। ऐसी स्थिति में दो हल् वर्ण की संयोग संज्ञा नहीं हो सकेगी। इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "हलः" इस पद में बहुवचन सौत्र है। यदि प्रकारान्तर से "हलः" पद में बहुवचन की उपपत्ति हो सकती है तो गौरवग्रस्त उसकी सौत्रत्व कल्पना उचित नहीं है, इस बात को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि यद्वा = अथवा यहाँ "हलौ च हलश्च इति हलः" इस रूप में एकशेष हुआ है। यहाँ यह सन्देह होता है कि एकशेष द्वन्द्व का अपवाद है। द्वन्द्व समास समान विभक्तिकों का ही होता है। ऐसी स्थिति में यहाँ द्विवचन और बहुवचन का एकशेष किस प्रकार हुआ है? अपवाद का भी देश वही होता है जो उत्सर्ग का होता है। इसलिए यहाँ एकशेष की संगति नहीं हो रही है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्" (१।२।३९) इस सूत्र में आये हुए "अनुदात्तानाम्" इस पद के सन्दर्भ में भाष्यकार ने कहा है कि "एकशेषनिर्देशोऽयम्" यहाँ "अनुदात्तानाम्" यह पद एकशेषनिर्दिष्ट है। इसका विग्रह इस प्रकार है—"अनुदात्तस्य च अनुदात्तयोश्च अनुदात्तानाञ्चेति अनुदात्तानाम्"। इस भाष्य से स्पष्ट होता है कि भिन्न वचनकत्व के उपादान में भी एकशेष होता है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में "हलः" यह पद एकशेषसम्पन्न सिद्ध होता है। इस प्रकार एकशेष करने का परिणाम यह होता है कि जहाँ बहुत हलों का आनन्तर्य होगा वहाँ बहुत की संयोग संज्ञा होगी और जहाँ दो हल् वर्णों का आनन्तर्य होगा वहाँ दो की संयोग संज्ञा होगी।

यहाँ एक बात यह भी समझ लेनी चाहिए कि जिस प्रकार "हलः" पद में एकशेष है उसी प्रकार "अनन्तराः" पद में भी एकशेष है। अन्यथा द्विवचनान्त "हलौ" इस पद का अनन्तर

पदार्थ में अन्वय कैसे हो सकेगा? इसलिए "अनन्तरौ च अनन्तराश्च इति अनन्तरा:" इस रूप में इस पद में भी एकशेष समझना चाहिए। इस प्रकार "हलौ" इस द्विवचनान्त पद का "अनन्तरौ" इस द्विवचनान्त पद के साथ सम्बन्ध होने में कोई कठिनाई नहीं होती है।

तेन = "हल:" इस पद में द्विवचनान्त और बहुवचनान्त का एकशेष होने के कारण दो हलों की भी संयोग संज्ञा हो जाती है। इसीलिए "शिक्षा" इस पद की निष्पत्ति में शिक्ष् धातु से "गुरोश्च हल:" सूत्र से शकारोत्तरवर्ती इकार को संयोगादि में रहने के कारण गुरु मान कर अ प्रत्यय की सिद्धि होती है।

वस्तुतस्तु "तेन द्वयोरपि" इस शेखर के "द्वयोरपि" इस पद के पहले शुद्ध शब्द को जोड़ कर शुद्ध दो हल् वर्णों की संयोग संज्ञा होती है और अपि शब्द से जहाँ बहुत हल् हों वहाँ भी दो हलों की संयोग संज्ञा होती है। निष्कर्ष यह है कि नागेश भट्ट का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि अच् रहित दो हल् हों या बहुत हल् हों, संयोग संज्ञा दो-दो हलों की ही होती है। इसीलिए कह रहे हैं कि जहाँ भी बहुत हल् श्लिष्ट हैं अर्थात् अच् रहित हैं वहाँ भी संयोग संज्ञा दो-दो हलों की ही होती है, न कि बहुत हलों की होती है। ऐसा स्वीकार करने का कारण बतांते हुए शेखरकार का कहना है कि "स्को:" सूत्र से झल् पर में रहने पर संयोगादि सकार और ककार का लोपविधान करना ही इस बात में प्रमाण है कि बहुत हलों के संश्लेष में भी संयोग संज्ञा दो-दो की ही होती है। जैसे वव्रष्ठ प्रयोग में "वव्रश् च् थ" इस स्थिति में श्चुत्व के असिद्ध हो जाने से सकार और चकार के संयोग के आदि में सकार का लोप थकार को झल् पर में मान कर होता है। यदि बहुत हलों की संयोग संज्ञा होती है, ऐसा स्वीकार किया जाय तो यहाँ सकार-चकार और थकार इन तीनों की संयोग संज्ञा होने पर यहाँ झल् पर में नहीं मिलेगा। ऐसी स्थिति में "वव्रष्ठ", "व्रष्टा" आदि प्रयोगों में सकार का लोप नहीं हो सकेगा। इसलिए "बहूनामपि संयोगसंज्ञा" यह पक्ष चिन्त्य है, क्योंकि इसका कोई फल नहीं है। जहाँ-जहाँ संयोगादि या संयोगान्त शब्द आये हैं; जैसे "ऋतश्च संयोगादेर्गुण:" "संयोगान्तस्य लोप:", "संयोगादेरातोधातोर्यण्वत:", "वान्यस्य संयोगादे:"—वहाँ सभी जगह अङ्ग पद और धात्ववयव संयोग का ही आश्रयण किया गया है। इससे स्पष्ट है कि तीन हल् वर्ण जो अच् रहित हैं, उनका संयोग नहीं होता है, किन्तु वहाँ भी दो-दो की ही संयोग संज्ञा होती है। यह बात भाष्य में स्पष्ट है।

आनन्तर्य का अर्थ व्यवधान का अभाव है। व्यवधान विजातीय से ही होता है। इसीलिए दीक्षितजी इस सूत्र की वृत्ति में कहे हैं– "अज्भिरव्यवहिता हल:" अर्थात् अच् से अव्यवहित हल् संयोगसंज्ञक होते हैं। यहाँ "अज्भि:" इस पद में "चो: कु:" सूत्र से कुत्व करना न्याय्य = उचित है। इसीलिए "हयवरट्" सूत्र के भाष्य में "अचोऽक्षु" इस प्रयोग में कुत्व देखा जाता है। वस्तुतस्तु "उपदेशेऽज्", "अजादे: सनुम:", "अजन्त:", "आदैच्", "ऐच्" इत्यादि स्थलों में कुत्व नहीं देखा जाता और "अचोऽक्षु" इस प्रयोग में कुत्व देखा जाता है। अत: उभयविध प्रयोगों के निर्वाह के लिए यह नियम स्वीकार करना चाहिए कि सुप् के सकार के पर में न रहने पर प्रत्याहारघटक चकार को कुत्व नहीं होता है। अक्षु प्रयोग में सुप् का सकार पर में है, इसलिए यहाँ कुत्व हो गया। उपर्युक्त सभी उदाहरणों में सुप्-सकार पर में नहीं है, अत: वहाँ कुत्व

नहीं हुआ है। इसी प्रकार "अज्भिः" इस प्रयोग में भी सुप् विभक्ति के सकार के पर में न रहने के कारण कुत्व नहीं हुआ। किन्तु शेखरकार के अनुसार तो यहाँ कुत्व होना ही चाहिए। ऐसी स्थिति में "अग्भिरव्यवहिता हलः" ऐसी वृत्ति बनानी पड़ती, जिससे यहाँ अक् प्रत्याहार का संशय होता, इसलिए "अज्भिरव्यवहिता हलः" की जगह "स्वरैरव्यवहिता हलः" इस प्रकार की वृत्ति बनाना उचित था।

इस सूत्र में यदि हल् ग्रहण न किया जाय तो "तितउना दिव्यतीति तितउदेवः, तत्सुम्बुद्धौ हे तितउदेव!" इस प्रयोग में अकारयुक्त "त" इस समुदाय की संयोग संज्ञा हो जाती। इसका परिणाम यह होता कि "संयोगे गुरुः" सूत्र से "ति" घटक इकार गुरु हो जाता और "गुरोरनृतः" सूत्र से उसे प्लुत की आपत्ति हो जाती। इसलिए सूत्र में "हल्" ग्रहण करना आवश्यक है।

इसी प्रकार "अनन्तराः" इस पद के अभाव में "द्राप्सम्" इस प्रयोग में अकार के व्यवधान में भी सकार और मकार की संयोग संज्ञा हो जाती और फलस्वरूप "स्कोः" सूत्र से संयोगादि सकार का लोप होने लगता। इसलिए सूत्र में "अनन्तराः" पद भी सार्थक है।

संयोगे गुरु। 'भेत्ते'त्यादौ गुणस्तु क्नोः कित्त्वसामर्थ्येन भूतपूर्वलघूपधग्रहणाद्बोध्यः। इति सञ्ज्ञेति। प्रथमाध्यायस्थानां सन्धिकार्योपयोगिनीनां सञ्ज्ञानां प्रकरणमिति = समाप्तमित्यर्थः। तेनाम्रेडितप्रगृह्यभसञ्ज्ञालोपसञ्ज्ञाद्यनुपन्यासेऽपि न क्षतिः। 'अ अ' इत्याद्युपन्यासस्तु प्रासङ्गिकः।

इति संज्ञाप्रकरणम्।

"संयोगे गुरु" सूत्र के प्रसंग में कह रहे हैं कि संयोग के पर में रहने पर ह्रस्व को जब गुरु संज्ञा हो जाती है तब "भिद् + त्-आ" इस स्थिति में दकार और तकार के संयोग के कारण भकारोत्तरवर्ती इकार गुरु हो जायेगा। ऐसी स्थिति में यहाँ लघूपध गुण कैसे होगा? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "क्षिप्नुः" प्रयोग में लघूपध गुण के कित्त्वात् निषेध हो जाने के लिए "क्नु" प्रत्यय में कित्त्व किया गया है। प्रस्तुत प्रयोग में पकार और नकार के संयोग के पर में रहने के कारण क्षकारोत्तरवर्ती इकार जब गुरु हो जायेगा तब लघूपध के अभाव में गुण की स्वयमेव प्राप्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में क्नु प्रत्यय के कित्करण की क्या आवश्यकता है? यही कित्करण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि भूतपूर्व लघूपधत्व का आश्रयण करके भी गुण होता है। इसलिए "क्षिप्नुः" में प्राप्त गुण का निषेध क्नु प्रत्यय के कित्करण से हो जाता है और "भेत्ता" प्रयोग में भूतपूर्व लघूपधत्व को लेकर गुण हो जाता है।

अब "इति संज्ञाप्रकरणम्" का अर्थ बतला रहे हैं कि यहाँ प्रथमाध्यायस्थ और सन्धि-कार्योपयोगिनी संज्ञाओं का प्रकरण समाप्त हुआ है, न कि समस्त संज्ञाओं का। इसलिए आम्रेडित, प्रगृह्य, भ, लोप आदि संज्ञाओं के अनुपन्यास करने से भी कोई क्षति नहीं होती है। "इति संज्ञाप्रकरणम्" में आये हुए "इति" इस पद का अर्थ समाप्त है।

यद्यपि टि संज्ञा सन्धिकार्योपयोगिनी है, इसलिए उसका यहाँ उपादान न करने से न्यूनता प्रतीत हो रही है, तथापि सन्धिकार्य से सूत्रविहित कार्यों का ही ग्रहण किया गया है। टिसंज्ञा तो वार्तिककार्योपयोगिनी है, इसलिए उसके अनुपादान से कोई न्यूनता नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि लघुसंज्ञा सन्धिकार्योपयोगिनी नहीं है, इसलिए उसका यहाँ उल्लेख अनावश्यक ही है; तथापि गुरुसंज्ञा से वह बाध्य है इसलिए बाध्यत्वेन उसका यहाँ उल्लेख कर दिया गया है।

वस्तुतस्तु "इति संज्ञाप्रकरणम्" का अर्थ यहाँ यह समझना चाहिए कि प्रायः करके सन्धिकार्योपयोगिनी संज्ञाओं का प्रकरण समाप्त हो गया।

इस संज्ञाप्रकरण में "अ अ" एवं "पूर्वत्रासिद्धम" इन सूत्रों के उपन्यास की आवश्यकता नहीं थी, तथापि विवृत और संवृत प्रयत्नों के प्रसङ्ग में "अ अ" का उल्लेख कर दिया गया। यह सूत्र सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के प्रति असिद्ध होता है, इस असिद्ध के प्रसंग में "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र का उल्लेख कर दिया गया। इस प्रकार दोनों का उल्लेख प्रासङ्गिक है।

इस प्रकार नागेशभट्ट विरचित शब्देन्दुशेखर में संज्ञाप्रकरण पूर्ण हुआ।
विश्वनाथ मिश्र कृत शब्देन्दुशेखर के संज्ञाप्रकरण की
'सुबोधिनी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

अथ परिभाषाप्रकरणम्

इको गुण। परिभाषेयं—व्याख्यानात्। गुणवृद्धिशब्दाभ्यामिति। गुणवृद्धि-ग्रहणानुवृत्त्यैव सिद्धे पुनर्गुणवृद्धिग्रहणसामर्थ्यादिति भावः। अनुवर्तमानञ्च सञ्ज्ञि-परमेव स्यात् सञ्ज्ञाकरणेनान्यत्र सञ्ज्ञिपरत्वात्। यद्वा—तदप्यनुवर्त्य गुणो वृद्धिरिति योजनयैतल्लाभः। 'स्वादिषु' इति सूत्रेऽनुवृत्त'पद'पदस्य सञ्ज्ञापरताया एव दृष्टत्वात्। 'ष्णान्ते'ति सूत्रे सङ्ख्यापदस्य तदन्तत्वासम्भवादर्थपरतेति बोद्धव्यम्। लक्षणप्रति-पदोक्तपरिभाषया तु नात्र निर्वाहः। तत्र 'प्रतिपदोक्तस्ये'त्यस्य—साक्षादुच्चारित-स्येति, साक्षात्तत्तच्छब्दानुवादेन विहितस्येति वाऽर्थात्। ध्वनितञ्चेदमत्रैव भाष्ये।

"इको गुणवृद्धी" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए इसके परिभाषात्व का प्रतिपादन कर रहे हैं कि इस सूत्र के ऊपर किये गये भाष्यकार के व्याख्यान के आधार पर यह परिभाषासूत्र है। कारण यह है कि इसे संज्ञासूत्र तो मान नहीं सकते, क्योंकि गुण और वृद्धि संज्ञाओं का विधान संज्ञाप्रकरण में किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि इक् की गुण-वृद्धि संज्ञा का विधान असम्भव भी है। इसे विधिसूत्र भी नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर इक् को गुण और वृद्धि का विधान करने वाले तत्तद् सूत्रों का वैयर्थ्य हो जायेगा। इसे नियमसूत्र इसलिए नहीं मान सकते कि नियम्य सूत्र के प्रकरण में इसका पाठ नहीं है। इसी प्रकार इसे अतिदेश और अधिकार सूत्र भी असम्भव होने के कारण नहीं मान सकते। "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र के साथ एकवाक्यता करके इसे तच्छेष भी नहीं मान सकते, क्योंकि भाष्यकार ने कहा है कि "नायं तच्छेषो नापि तदपवादोऽन्यदेवेदं परिभाषान्तरमसम्बद्धमनया परिभाषया।" यह "अलोऽन्त्यस्य" का शेष 'अङ्ग' नहीं है और उसका अपवाद भी नहीं है, किन्तु उससे असम्बन्ध यह परिभाषान्तर है। इस भाष्यवचन से सिद्ध होता है कि यह परिभाषासूत्र है।

इस सूत्र की वृत्ति में दीक्षितजी ने कहा है कि "गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्रेकः इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते"। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि सूत्र में तो एक बार "गुणवृद्धि" पद का उल्लेख है तो वृत्ति में दो बार उनका उल्लेख किस प्रकार हुआ है? इसका उत्तर देते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि "अदेङ् गुणः" सूत्र से यहाँ गुण पद की तथा "वृद्धिरादैच्" सूत्र से वृद्धि पद की अनुवृत्ति करने से ही जब गुणवृद्धि का लाभ सम्भव है तो पुनः यहाँ "गुणवृद्धी" इस पद की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार सूत्रस्थ गुणवृद्धी ग्रहण व्यर्थ होकर गुण पद की "अदेङ्निष्ठ विधेयताप्रयोजकगुणपद में और वृद्धि पद की 'आदैच्निष्ठ विधेयताप्रयोजक' वृद्धि-पद में लक्षणाग्रह करता है। इसलिए इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि "अदेङ्निष्ठ

विधेयता का प्रयोजक गुण पद तथा आदैच्निष्ठ विधेयता का प्रयोजक वृद्धि पद जिस सूत्र में हों वहाँ "इकः" इस षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है। इस लाक्षणिक अर्थ को दृष्टिगत करते हुए दीक्षितजी नें इस सूत्र की वृत्ति कही है। इसका परिणाम यह होता है कि जहाँ गुणपद का उच्चारण करके गुण (अदेङ्) का विधान किया जाय और वृद्धि पद का उच्चारण करके "वृद्धि" का विधान किया जाय वहाँ "इकः" इस षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है।

इस प्रकार के सूत्रार्थ करने का परिणाम यह होता है कि गुण और वृद्धि संज्ञाओं के विधायक सूत्रों में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। कारण यह है कि उन सूत्रों में जो विधेयता है वह गुण और वृद्धि संज्ञानिष्ठ है, न कि अदेङ् और आदैच् निष्ठ विधेयता वहाँ है। उपर्युक्त सूत्रार्थ में विधेयता का निवेश किया गया है। इसका फल यह होता है कि जहाँ अदेङ् और आदैच् में विधेयता रहेगी वहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी। इसका परिणाम यह होता है कि "अतो गुणे" और "वृद्धिर्यस्याचामादेः" इन दोनों सूत्रों में गुण और वृद्धि पद के रहने पर भी प्रस्तुत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि इन दोनों सूत्रों में आये हुए गुण और वृद्धि पद उद्देश्य-कोटिप्रविष्ट हैं, विधेय नहीं हैं। "त्यदादीनामः" और "पथिमथ्यृ" सूत्रों से यद्यपि गुण-वृद्धि का विधान किया जाता है, तथापि गुण और वृद्धि पद का उच्चारण करके नहीं किया जाता है। इसलिए वहाँ भी इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि प्रस्तुत सूत्र में जो गुण और वृद्धि पद पढ़े गये हैं ये तो अर्थपरक (संज्ञी के बोधक) हैं, किन्तु "अदेङ् गुणः" और "वृद्धिरादैच्" से जिन गुण और वृद्धि पदों को यहाँ लाकर उनसे कार्य चलाने की बात ऊपर की गई है, वे दोनों पद तो वहाँ स्वरूपपरक (संज्ञा के बोधक) हैं। संज्ञाबोधक पद वहाँ से आकर यहाँ संज्ञी के बोधक हो जाय यह तो सम्भव नहीं है, क्योंकि नहि सर्पन्ती गोधा सर्पणादहिर्भवति" अर्थात् सर्प की तरह चलने से गोधा सर्पिणी नहीं हो सकती है। ऐसी स्थिति में गुणवृद्धिग्रहणानुवृत्ति से ही कार्य सिद्ध है तो पुनर्गुणवृद्धिग्रहण के सामर्थ्य से उपर्युक्त अर्थ करना कहाँ तक संगत है? इस शंका के उत्तर में नागेश भट्ट कह रहे हैं कि यहाँ अनुवर्तमान जो गुणवृद्धि पद हैं वे संज्ञीपरक ही होंगे, संज्ञापरक नहीं होंगे। क्योंकि ऐसा नियम है कि जिस सूत्र से संज्ञावाचक पद अन्यत्र अनुवृत्त होते हैं, वह सूत्र यदि संज्ञाविधायक सूत्रीयविधेयतावच्छेदक से इतररूपावच्छिन्नविधेयताक होता है तो वहाँ आया हुआ संज्ञाबोधक पद संज्ञीपरक हो जाता है। जैसे "बहुगणवतु" सूत्र, जो संख्या संज्ञा का विधान करता है, से संख्या पद की अनुवृत्ति "ष्णान्ता षट्" इस षट्संज्ञा-विधायक सूत्र में होती है। यह सूत्र संख्या संज्ञा से भिन्न षट् संज्ञा का विधान करता है, इसलिए यहाँ आया हुआ "संख्या" यह पद स्वरूपपरक न होकर पञ्चन्, षट् इत्यादि प्रसिद्ध संख्याबोधक शब्दों का बोध कराता है। दूसरी बात यह है कि "ष्णान्ता षट्" सूत्र में यदि संख्या पद स्वरूपपरक हो जाय तो "ष्णान्ता" पद से उसका अन्वय ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि संख्या पद में तदन्तत्व = षान्तत्व और नान्तत्व का अभाव है। इसलिए भी यहाँ संख्या पद अर्थपरक हो जाता है।

"सुप्तिङन्तं पदम्" सूत्र से "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" इस सूत्र में आगत "पदम्" यह पद स्वरूपपरक (संज्ञावाचक) ही रहता है, क्योंकि दोनों सूत्रों द्वारा पद संज्ञा का ही विधान किया

जाता है। यदि अनुवृत्त स्थल में भिन्न कार्य किया जाता तो उसकी अर्थपरता हो सकती थी।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उपर्युक्त अर्थ लक्षणा के द्वारा किया गया है, किन्तु लक्षणादि का आश्रयण गौरवग्रस्त होने के कारण तथा स्पष्ट प्रतिपत्ति को दृष्टिगत कर "यद्वा" शब्द से पक्षान्तर को प्रस्तुत कर रहे हैं कि "तदप्यनुवर्त्य" अर्थात् "इको गुणवृद्धी" इस सूत्र का अर्थ करने के लिए तदप्यनुवर्त्य = गुण और वृद्धि पद की अनुवृत्ति भी करेंगे और सूत्रस्थ "गुणवृद्धी" इस पद को भी रखेंगे। पहले पक्ष से इस पक्ष की यही विशेषता है कि पहले पक्ष में केवल गुण और वृद्धि पद की अनुवृत्ति करके उससे ही कार्य चला कर सूत्रस्थ गुणवृद्धी पद को व्यर्थ करके लक्षणा करते थे। इस पक्ष में सूत्रस्थ "गुणवृद्धी" पद को रखते हुए गुण और वृद्धि पद की अनुवृत्ति कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त "इति", "उच्चार्य" और "विधीयते" इन तीन पदों का अध्याहार करते हैं। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि अनुवृत्त गुण और वृद्धि पद यहाँ स्वरूपपरक हैं। इसमें दृष्टान्त देते हुए कहते हैं—"स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" सूत्र में अनुवृत्त "पदम्" यह पद स्वरूपपरक ही देखा गया है। उसी प्रकार यहाँ आये हुए गुण-वृद्धि पद स्वरूपपरक ही हैं। पुनः शंका हुई कि तब "ष्णान्ता षट्" सूत्र में समागत संख्या पद स्वरूपपरक क्यों नहीं होता? तो इसका उत्तर देते हैं कि यहाँ संख्या पद का स्वरूपपरकत्व इसलिए नहीं होता कि उसमें षान्तत्व या नान्तत्व सम्भव नहीं हैं। अतः यहाँ अर्थपरकत्व हो गया है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में स्वरूपपरक गुण-वृद्धि पद की अनुवृत्ति करके तथा उपर्युक्त तीन पदों का अध्याहार करके सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि "गुण इति उच्चार्य यत्र गुणो विधीयते" तथा "वृद्धिः इति उच्चार्य यत्र वृद्धिः विधीयते तत्रेकः इति षष्ठ्यन्त पदमुपतिष्ठते"। इस प्रकार की योजना से सूत्रार्थ इस प्रकार हुआ कि गुण इस शब्द का उच्चारण करके जहाँ गुण (अदेङ्) का तथा वृद्धि इस शब्द का उच्चारण करके जहाँ वृद्धि (आदैच्) का विधान किया जाय, उस सूत्र में "इकः" इस षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है। इस योजना लभ्य अर्थ के आधार पर ही दीक्षित ने कौमुदी में इस सूत्र की वृत्ति कही है। इसका फल यह होता है कि "त्यदादीनामः" तथा "पथिमथ्यृ" सूत्र में "इकः" पद की उपस्थिति नहीं होती है, क्योंकि उक्त सूत्रद्वय में गुण और वृद्धि शब्द का उच्चारण करके अकार और आकार का विधान नहीं किया जाता है।

कुछ प्राचीन आचार्यों का कहना है कि "त्यदादीनामः" इत्यादि स्थलों में इस परिभाषा की प्रवृत्ति न होने के लिए जो योजना का आश्रयण किया गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि यह कार्य तो लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से ही हो सकता है। इस परिभाषा के द्वारा "इकोगुणवृद्धी" सूत्रस्थ गुण और वृद्धि पद से प्रतिपदोक्त गुण और वृद्धि का ग्रहण किया जायेगा। प्रतिपदोक्त गुणवृद्धि वहीं होंगे जहाँ गुण और वृद्धि पद का उच्चारण किया गया होगा। ऐसा स्थल "मिदेर्गुणः", "मृजेर्वृद्धिः" इत्यादि तो हो सकते हैं। इसलिए ऐसी ही जगहों पर "इकः" इस षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होगी। "त्यदादीनामः" इत्यादि स्थलों में तो "इकः" इस पद की उपस्थिति का प्रश्न ही नहीं होता है। इसलिए योजनया अर्थलाभ करना ठीक नहीं है। नागेश भट्ट इस बात का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से नात्र = "इको गुणवृद्धी" इस सूत्र में निर्वाह नहीं हो सकता है। कारण यह है कि प्रतिपदोक्त शब्द से "साक्षात्

उच्चारित" और "साक्षात् तत्तद् शब्दानुवादेन विहित" इन दोनों का ही ग्रहण होता है। इस बात का स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रकार से है—

साक्षादुच्चारितस्य का अर्थ है = "साक्षात् उच्चारण-प्रयोज्यबोधीय विषयताश्रयस्य"। विषयता शब्द से यहाँ विधेयताख्या विषयता अभिप्रेत है। वह विधेयता उच्चार्यमाण धर्म से साक्षात् अवच्छिन्न होनी चाहिए। "साक्षात् तत्तद् शब्दानुवादेन विहितस्य" का अर्थ है—"उच्चार्यमाणवृत्तिधर्मावच्छिन्ना या उद्देश्यता तन्निरूपितविधेयताश्रयत्व"। इस प्रकार प्रतिपदोक्तत्व का स्वरूप ऐसा होता है कि "यत्र शास्त्रे लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा सञ्चारणीया तदीयोद्देश्यतावच्छेदकज्ञानायोपयुज्यमाना या आनुपूर्वी तद्विशिष्टत्वं प्रतिपदोक्तत्वम्"। वै॰ "स्वेन साक्षादवच्छिन्नविधेयताश्रयत्वस्वावच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयत्व इत्येतदन्यतर- सम्बन्धेन"। तात्पर्य यह है कि जिस शास्त्र में लक्षणप्रतिदोक्त परिभाषा की प्रवृत्ति करानी हो उसकी उद्देश्यतावच्छेदकीभूत जो आनुपूर्वी, उस आनुपूर्वी से साक्षादवच्छिन्न विधेयता हो अथवा उस आनुपूर्वी से अवच्छिन्न उद्देश्यतानिरूपित विधेयता हो। इसमें प्रथम सम्बन्ध का उदाहरण "गातिस्था" सूत्र है और दूसरे सम्बन्ध का उदाहरण "विभाषा दिक्समासे" "सूत्र में 'दिङ्नामान्यन्तराले" सूत्र का ग्रहण करना है।

"गातिस्था" सूत्र में पा शब्द से "पा पाने" का ग्रहण हो या "पै शोषणे" का कृतात्व का ग्रहण हो? इस संशय में लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा की यहाँ प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में "गातिस्था" इस सूत्रीय उद्देश्यतावच्देदक ज्ञान के लिए उपयुज्यमान आनुपूर्वी पकारोत्तर आकारत्व अर्थात् "पात्व" रूपानुपूर्वी है। इस आनुपूर्वी से साक्षादवच्छिन्ना विधेयता "पा पाने" इस शास्त्र से की गई विधेयता ही है, न कि "पै शोषणे" की विधेयता है। "पा पाने" के द्वारा जहाँ पान अर्थ में पात्वावच्छिन्न विधेय है वहीं "पै शोषणे" के द्वारा पैत्वावच्छिन्न की विधेयता होने से यह प्रतिपदोक्त नहीं कहा जाता, किन्तु "पा पाने" ही प्रतिपदोक्त माना जाता है। इसी प्रकार "विभाषा दिक्" सूत्र के उद्देश्यतावच्छेदक के ज्ञान के लिए उपयुज्यमान आनुपूर्वी है— "दिक्त्व" रूप आनुपूर्वी, तदवच्छिन्न उद्देश्यतानिरूपित विधेयताश्रयत्व "दिङ्नामान्यन्तराले" इस सूत्र से विहित समास में ही है, न कि "अनेकमन्यपदार्थे" सूत्र से विहित दिग्वाचकों के समास में।

प्रस्तुत स्थल में "इको गुणवृद्धी" इस शास्त्र के उद्देश्यतावच्छेदक के ज्ञान के लिए उपयुज्यमान जो गुणत्वरूपा और वृद्धित्वरूपा आनुपूर्वी है, उससे साक्षात् अवच्छिन्न विधेयता "त्यदादीनामः" के अकार में नहीं है। यहाँ अकारनिष्ठ विधेयता अत्वावच्छिन्ना है, गुणत्वावच्छिन्न नहीं है। इस प्रकार लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा से यहाँ कार्य नहीं चल सकता है। इसलिए योजना के द्वारा "इको गुणवृद्धी" का यथोक्त अर्थ करके ही "त्यदादीनामः" इत्यादि स्थलों के दोष का उद्धार करना चाहिए। यह बात इसी सूत्र के भाष्य से भी ध्वनित है।

अस्याश्च विधेयसमर्पक गुणवृद्धिपदश्रुतिर्लिङ्गं, तदाह—विधीयेते इति। अत एव 'अतो गुणे' 'वृद्धिर्यस्ये'त्यादौ न दोषः। एतेन—"शब्दपरयोः पूर्वयोर्गुणवृद्धिपयोरनुवृत्त्या यत्र ते पदे तत्रेदमुपतिष्ठते इत्यर्थेन 'त्यदानीनामः' इत्यादिव्यावृत्तौ सिद्धायामिह गुणवृद्धीति व्यर्थम्" इत्यपास्तम्।

अस्याश्च = "इको गुणवृद्धी" इस परिभाषा की प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ विधेयसमर्पकत्वेन गुण और वृद्धि पद का ग्रहण किया गया होता है। विधेय के रूप में गृहीत गुण और वृद्धि पद का श्रवण होना ही इस परिभाषा का लिंग है। जहाँ पर गुण और वृद्धि पद विधेय रूप में गृहीत नहीं होंगे वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसी तात्पर्य से इस सूत्र की वृत्ति में "विधीयेते" इस पद का प्रयोग किया गया है। यह "विधीयेते" पद वृत्ति में अध्याहार करके कहा गया है। इसका परिणाम यह होता है कि "अतो गुणे" और "वृद्धिर्यस्याचाम्" इन सूत्रों में इस परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है। कारण यह है कि "अतो गुणे" सूत्र में 'गुणे' यह पद निमित्त के रूप में आया है और 'वृद्धिर्यस्य" इस सूत्र में वृद्धिपद उद्देश्य के रूप में आया है। विधेय के रूप में कहीं भी नहीं आया है। इसलिए इन दोनों जगहों पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है।

एतेन = अनुवाद (उद्देश्य) स्थल में इस सूत्र की प्रवृत्ति न हो जाय इसलिए विधेयत्वेन गुण-वृद्धि पद को इस परिभाषा का लिंग मानने के कारण यह आवश्यक है कि सूत्र में अर्थपरक गुण-वृद्धि पद रहें, जिनके आधार पर "विधीयेते" इस पद का अध्याहार हो सके। ऐसा स्वीकार करने से प्राचीनों का यह कथन परास्त हो जाता है कि पूर्वयोः = "अदेङ् गुणः" और "वृद्धिरादैच्" इन पूर्वसूत्रों में पठित और शब्दपरक (स्वरूपबोधक्) गुण और वृद्धि पदों की अनुवृत्ति करके प्रस्तुत सूत्र (इको गुणवृद्धी) का अर्थ ऐसा किया जायेगा कि जहाँ गुण और वृद्धि पद हैं वहाँ इस परिभाषा की उपस्थिति होती है। इस अर्थ से "त्यदादीनामः" "पथिमथ्यृ" आदि का दोष वारित हो जायेगा। ऐसी स्थिति में "इह" इको "गुणवृद्धी" इस सूत्र में गुणवृद्धि पद व्यर्थ है। इस मत के परास्त होने का कारण जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि सूत्र में अर्थ परक गुणवृद्धि पद को रख कर "विधीयेते" पद का आध्याहार करने से ही यह बात सिद्ध होती है कि विधेय समर्पकगुणवृद्धि पद ही इस परिभाषा का लिंग है। यदि सूत्र में गुणवृद्धि पद नहीं रहेंगे तब यह बात सिद्ध नहीं हो सकेगी। इसलिए सूत्रस्थ गुणवृद्धि पद का खण्डन करना अपास्त ही समझना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि प्राचीनों के इस कथन के अनुसार "अतो गुणे" "वृद्धिर्यस्य" इत्यादि सूत्रस्थलीय दोषों का उद्धार भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि यहाँ गुणवृद्धि पद पढ़े हुए हैं। इसलिए प्राचीन मत हेय है।

एतन्मूलक एव 'विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे' इत्युद्घोषः। एवञ्च पदोपस्थापकपरिभाषाविषये 'विधीयते' इत्यस्यैवाध्याहारो बोद्धव्यः। एवञ्च 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे' 'षष्ठीस्थाने' इत्यादेरनुवादेऽपि प्रवृत्तिः। तेन 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्य' 'उदात्तस्वरितयोर्यणः' इत्यादौ न दोषः। 'उदीचामातः स्थाने' इति स्थानेग्रहणन्तु स्पष्टार्थ- मेव। तत्र विधिवाक्ये प्रथमाया विधेयविभक्तित्वेन तदन्तस्य विधेयसमर्पकत्वनिर्णयः। अत एव गुणादिपदानामिक्पदोपस्थापनेन चरितार्थानामपि वाक्यार्थान्वयिता। तदर्थस्य तदनन्वयित्वे विधेयत्वाभावेन उपस्थापकत्वस्यैव भङ्गापत्तेः। इयञ्चैधितेत्यादौ व्यञ्जनानां गुणव्यावृत्त्यर्थं, 'भिन्नमि'त्यादौ निषेधप्रवृत्तये इग्लक्षणत्वसम्पत्त्यर्थञ्चेति दिक्।

एतन्मूलक एव = "विधीयेते" इस पद का अध्याहार करके "इको गुणवृद्धी" सूत्र का सूत्रार्थ करने का ही फलितार्थ है—"विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे" यह परिभाषा। तात्पर्य यह है कि पदोपस्थापक परिभाषाएँ दो हैं, एक तो "इको गुणवृद्धी" और दूसरी "अचश्च"। इन दोनों सूत्रों में क्रमशः "विधीयेते" और विधीयते" इन पदों का अध्याहार होता है। इस अध्याहारमूलक ही यह प्रवाद (उद्घोष) चल पड़ा कि "विधौ परिभाषोपतिष्ठते" अर्थात् परिभाषोपस्थाप्य का अन्वय विधेय = विधेय विशेषण में होता है, अनुवाद में नहीं होता है। "विधौ परिभाषोपतिष्ठते" को उद्घोष कहने से यह भी संकेत मिलता है कि यह परिभाषा उद्घोषमात्र है, इसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है। "उदीचामातः स्थाने" सूत्र के 'स्थाने' ग्रहण को, जो इस परिभाषा का ज्ञापक बताया गया है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि वहाँ स्थान पदार्थ की उपस्थिति "षष्ठी स्थाने योगा" इस सूत्र से नहीं हो सकती है। कारण यह है कि "षष्ठी स्थाने योगा" यह परिभाषा "निर्दिश्यमानस्य" इस परिभाषा के ज्ञापन के लिए आवश्यक है। ऐसी स्थिति में जब "स्थाने" ग्रहण आवश्यक हो जाता है तब उससे "विधौ परिभाषोपतिष्ठते" इस परिभाषा का ज्ञापन नहीं हो सकता है। इसलिए यही कहना ठीक है कि "विधौ परिभाषोपतिष्ठते" यह उद्घोष 'विधीयेते' और 'विधीयते' इन पदों का अध्याहारमूलक ही है।

एवञ्च = "विधौ परिभाषोपतिष्ठते" इस परिभाषा के "विधीयेते" पद के अध्याहारमूलक होने के कारण अनतिरिक्त होने से यह निष्कर्ष निकलता है कि पदोपस्थापक परिभाषा के विषय में "विधीयते" इस पद का ही अध्याहार करना चाहिए और "विधौ परिभाषोपतिष्ठते" को उसका प्रवाद या उद्घोष मानना चाहिए। यदि कहा जाय कि "विधीयेते" और "विधीयते" इन पदों का अध्याहार भी इसी परिभाषा के कारण होता है तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि "इको गुणवृद्धी" सूत्र में "अदेङ्गुणः" और "वृद्धिरादैच्" सूत्रों से ही गुण-वृद्धि पदों की अनुवृत्ति से कार्य चल सकता है।

इसी प्रकार "अचश्च" सूत्र में भी "ऊकालोऽच्" सूत्र से अच् की अनुवृत्ति लाकर और उसकी आवृत्ति करके इष्टसिद्धि हो सकती थी। ऐसी स्थिति में पूर्वसूत्र में गुण और वृद्धि का ग्रहण तथा "अचश्च" में "अच्" ग्रहण अनावश्यक हो जाते हैं। तत्सामर्थ्यात् उक्त दोनों सूत्रों में क्रमशः "विधीयेते" और "विधीयते" का अध्याहार होता है। इसलिए यही कहना ठीक है कि "विधौ परिभाषोपतिष्ठते" यह परिभाषा ही अध्याहारमूलक है, न कि अध्याहार परिभाषा-मूलक। इससे स्पष्ट होता है कि विधेय को परिभाषा का लिंग मानना केवल "इको गुणवृद्धी" और "अचश्च" इन दो सूत्रों के लिए ही है। इन सूत्रों से उपस्थाप्य का अन्वय विधेय के विशेषण में होता है। उदाहरण के लिए "मृजेर्वृद्धिः" सूत्र में उपस्थित "इकः" इस षष्ठ्यन्त पद का अन्वय विधेय वृद्धि के विशेषण "मृज्" में ही होता है। इस प्रकार इन सूत्रों की प्रवृत्ति विधेयस्थल में होने का परिणाम यह होता है कि "वृद्धिर्यस्याचाम्" सूत्र में जहाँ वृद्धिपद अनूद्यमान (उद्देश्य) का विशेषण है वहाँ "इको गुणवृद्धी" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है, किन्तु "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" "षष्ठी स्थाने योगा" इन परिभाषाओं की प्रवृत्ति तो अनुवाद अंश में भी हो ही जाती है। अनुवाद का अर्थ है उद्देश्य या उद्देश्य का विशेषण। उदाहरण के लिए "इको यणचि" इस सूत्र को लिया जा सकता है। यहाँ यण् विधेय है, उसमें विशेषण है इक्। इसी

इक् पदार्थ में "तस्मिन्निति" सूत्र से उपस्थित अव्यवहितांश और पूर्वांश का अन्वय होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि इक् उद्देश्य है।

तेन = पदोपस्थापक "इको गुणवृद्धी" और "अचश्च" इन दोनों परिभाषाओं के अतिरिक्त परिभाषाओं की अनुवाद में प्रवृत्ति को स्वीकार करने से ही "प्रत्ययस्थात् कात्" तथा "उदात्तस्वरितयोर्यणः" आदि सूत्रों में दोष नहीं होता है। इन दोनों सूत्रों में क्या दोष था और "तस्मिन्निति" सूत्र के अनुवाद में प्रवृत्ति होने से वह दोष कैसे हट गया—इन सब बातों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—"प्रत्ययस्थात्" यह सूत्र प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अकार को इकार करता है, आप् पर में रहने पर। यहाँ इत्व विधेय है और अकार उद्देश्य है। उस अकार में विशेषण है ककार और उस ककार का विशेषण है आप्। इस प्रकार आप् प्रत्यय अनुवाद के विशेषण का विशेषण है। "आपि" यह अनूद्यमान के विशेषण का विशेषण सप्तम्यन्त पद है। इस सप्तम्यन्त पद के आधार पर यहाँ "तस्मिन्निति" परिभाषा की प्रवृत्ति अनूद्यमान के विशेषण के विशेषण में होती है। परिणामस्वरूप सूत्रार्थ होता है कि आप् से अव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट जो ककार, उससे अव्यवहित पूर्व अकार को इकार होता है। ऐसा अर्थ करने का परिणाम यह होता है कि "सर्विका" इस प्रयोग में ककार से अव्यवहित पूर्व वकारोत्तरवर्ती अकार को ही इकार होता है, सकारोत्तरवर्ती अकार को नहीं होता है। यदि "आपि" और "कात्" जैसे अनुवाद (उद्देश्य) के विशेषण तथा उसके विशेषण में "तस्मिन्निति" और "तस्मादित्युत्तरस्य" इन परिभाषाओं की प्रवृत्ति नहीं होती तो उक्त अर्थ नहीं होता, किन्तु 'आप् पर में रहने पर प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अकार को इकार हो इतना मात्र अर्थ होता। परिणाम यह होता कि "सर्विका" में सकारोत्तरवर्ती अकार को भी इत्वापत्ति हो जाती। अनुवाद में "तस्मिन्निति" आदि की प्रवृत्ति स्वीकार करने से यह दोष नहीं होता है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।

इसी प्रकार "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य" इस सूत्र में विधेय के परम्परया विशेषण में भी "षष्ठी स्थाने योगा" इस परिभाषा की प्रवृत्ति कराई गई है। "उदात्त के स्थान पर और स्वरित के स्थान पर जो यण्, उससे पर में जो अनुदात्त, उस अनुदात्त को स्वरित होता है"। इस प्रकार वहाँ सूत्रार्थ होने से स्पष्ट है कि वहाँ विधेय स्वरित है। उसका विशेषण और उद्देश अनुदात्त है, उसका विशेषण यण् है और यण् का विशेषण उदात्त और स्वरित हैं। इससे स्पष्ट है कि उदात्तस्वरितस्थानिक यण्परक अनुदात्त जो यह उद्देश्यदल है, जिसे उद्देश्य करके यहाँ स्वरित का विधान किया जा रहा है, उस उद्देश्य दल में अत्यन्त अप्रधान जो "उदात्तस्वरितयोः" यह पद है, उसमें भी "षष्ठी स्थानेयोगा" इस परिभाषा की प्रवृत्ति कराकर प्रस्तुत सूत्र का उपर्युक्त अर्थ किया गया है। इससे स्पष्ट है कि "इको गुणवृद्धी" और "अचश्च" इन दोनों पदोपस्थापक परिभाषाओं को छोड़कर "तस्मिन्निति", "षष्ठी स्थाने" आदि परिभाषाओं की प्रवृत्ति अनुवाद में भी होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि "षष्ठी स्थाने" इस परिभाषा की प्रवृत्ति अनुवाद में भी होती है। ऐसी स्थिति में "उदीचामातः स्थाने" सूत्र में किया गया "स्थाने" ग्रहण स्पष्टार्थ ही है, क्योंकि "आतः" इस अनूद्यमान के विशेषण में भी "षष्ठी स्थाने" की प्रवृति हो जायेगी, जिससे "स्थाने" इस अर्थ का लाभ हो जायेगा। "उदीचाम्" सूत्रस्थ "स्थाने" पद को "विधौ

परिभाषोपतिष्ठते" इस परिभाषा के ज्ञापन के लिए आवश्यक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह परिभाषा "विधीयते" पद के अध्याहारमूलक उद्‌घोष (प्रवाद) मात्र है। इसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है।

अब यह विचार हो रहा है कि "इको गुणवृद्धी" सूत्र से जो षष्ठ्यन्त 'इकः' पद की उपस्थिति कराई जायेगी, वह विधेयसमर्पक गुणवृद्धि पद के निर्णय के बाद ही होगी। गुण-वृद्धि पद का विधेयसमर्पकत्व तो तत्तद् सूत्रों के वाक्यार्थबोध के बाद ही प्रतीत हो सकेगा। ऐसी स्थिति में वहाँ "मिदेर्गुणः" इत्यादि सूत्रों में "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र की प्रवृत्ति क्यों न होवे ? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि तत्र = "मिदेर्गुणः" इत्यादि सूत्रों में वाक्यार्थबोध की पर्यालोचना की अपेक्षा होने पर भी "प्रथमा" के विधेय विभक्ति होने के कारण तदन्तस्य = प्रथमान्त "गुणः" इत्यादि पदों की विधेयसमर्पकता (विधेयबोधकता) में कोई बाधा नहीं है। अत एव = "गुणः" आदि पदों के विधेय होने के कारण ही उनके द्वारा "इकः" इस षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है। इस प्रकार यद्यपि "इकः" इस षष्ठ्यन्त पद को उपस्थापित करके प्रथमान्त "गुणः" आदि पद चरितार्थ हो चुके हैं तथापि उनकी विधेयता को ख्यापित करने के लिए उनका वाक्यार्थ में अन्वय होता है। यदि वाक्यार्थ में प्रथमान्तार्थ का अन्वय नहीं होगा तो प्रथमान्तार्थ में विधेयता नहीं होगी। ऐसी स्थिति में उनका "इकः" इस षष्ठ्यन्त पद का उपस्थापकत्व ही भङ्ग हो जायेगा।

इस परिभाषा का फल बतलाते हुए कह रहे हैं—इयञ्च = "इको गुणवृद्धी" यह परिभाषा "एधिता" इत्यादि प्रयोगों में व्यञ्जन वर्णों के गुण की व्यावृत्ति के लिए है। यदि यह परिभाषा नहीं होती तो "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इस सूत्र का ऐसा अर्थ होता कि सार्वधातुक और आर्धधातुक पर में रहने पर अंग को गुण होता है। यह गुण "अलोऽन्त्यस्य" के सहयोग से व्यञ्जन वर्ण "ध्" के स्थान पर होने लगता। प्रस्तुत परिभाषा से इक् पद की उपस्थिति कराने से व्यञ्जन वर्णों को गुण नहीं होता है, किन्तु अंगावयव इक् को ही गुण होता है।

इस परिभाषा का दूसरा प्रयोजन यह है कि जिस-जिस गुण या वृद्धि विधायक सूत्र में इसके द्वारा "इकः" इस षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति कराई जाती है वह गुण और वृद्धि इग्लक्षण अर्थात् इक्निमित्तक या इक्स्थानिक कहे जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि "भिन्नम्" इस प्रयोग में जहाँ भिद् धातु से क्त प्रत्यय करने पर "पुगन्तलघूपधस्य च" इस सूत्र से गुण की प्राप्ति होती है और उस गुण के इग्लक्षण गुण होने के कारण "क्क्ङिति च" सूत्र से निषेध कर दिया जाता है, जिससे "भिन्नम्" इस प्रयोग की सिद्धि होती है। "पुगन्तलघूपधस्य च" सूत्र से विधेय गुण इग्लक्षण गुण इसलिए है कि इस सूत्र में "मिदेर्गुणः" सूत्र से गुण की अनुवृत्ति आती है। यह गुण पद विधेयता का प्रयोजक है, इसलिए उसके आधार पर "इको गुणवृद्धी" परिभाषा से षष्ठ्यन्त "इकः" पद की उपस्थिति होती है। इस प्रकार यह गुण इग्लक्षण गुण कहा जाता है। इस प्रकार "क्क्ङिति च" इस निषेधशास्त्र की प्रवृत्ति के लिए गुण का इग्लक्षणत्व सम्पादन करने के लिए भी यह सूत्र आवश्यक है।

विशेष—इस सूत्र की वृत्ति में कौमुदीकार ने कहा है कि "गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुण-वृद्धी विधीयेते तत्र 'इकः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते"। स्पष्ट है कि इस वृत्ति में "उपतिष्ठते"

इस क्रिया का कर्ता "इकः" इस षष्ठ्यन्तपद को बनाया गया है, किन्तु षष्ठ्यन्त पद "उपतिष्ठते" क्रिया का कर्ता कैसे बन सकता है? कर्तृवाच्य की क्रिया होने के कारण आवश्यक है कि इस क्रिया का कर्ता प्रथमान्त हो। इसलिए प्रकृतसूत्रस्थ "इकः" यह पद षष्ठयन्त न होकर षष्ठ्यन्तानुकरण लुप्तप्रथमान्त है, ऐसा मानना चाहिए। इक् शब्द से षष्ठी का एकवचन लाने पर "इकस्" जो षष्ठ्यन्त बनता है उसका अनुकरण यहाँ इकस् शब्द रख कर उसे नपुंसकलिंग मान कर उसके आगे सु विभक्ति लाई गई है और उस सु विभक्ति का "नपुंसकत्वात् लुक् हो गया है। इकस् शब्दघटक सकार का रुत्व-विसर्ग करके "इकः" यह लुप्तप्रथमान्त कर्तृवाचक पद बनता है, जो "उपतिष्ठते" क्रिया का कर्ता बनता है। इकस् शब्द को यदि नपुंसकलिंग में न मान कर पुल्लिंग माना जाता और सु विभक्ति का हल्ङ्यादिलोप किया गया होता तो उस लोप का प्रत्ययलक्षण करके "अत्वसन्तस्य" सूत्र से दीर्घ होने लगता। परिणाम यह होता कि "इकः" की जगह "इकाः" ऐसा रूप बनने लगता। नपुंसक में लुक् करने से लुमता लुप्त होने के कारण प्रत्ययलक्षण नहीं होता, जिससे पाणिनि का निर्देश संगत होता है।

प्लुतशब्दैरिति। 'ऊकाल' इति सूत्राद्ध्रस्वदीर्घप्लुत इति अजिति चानुवर्तते। ह्रस्वेत्यादिपदञ्च तृतीयया विपरिणतमिति भावः। तेन 'दिव उत्' 'अष्टन आ विभक्तावि'त्यादावेतदनुपस्थितिः। शेषं प्राग्वत्।

"अचश्च" सूत्र का व्याख्यान कर रहे हैं। इस सूत्र में "ऊकालः" सूत्र से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और अच् की अनुवृत्ति होती है। प्रथमान्त "ह्रस्वदीर्घप्लुतः" इस पद का तृतीया बहुवचनान्तत्वेन विपरिणाम किया जाता है। इसके अतिरिक्त "इति, यत्र, विधीयते" इन तीन पदों का अध्याहार किया जाता है। सूत्रस्थ "अचः" यह पद षष्ठ्यन्तानुकरण लुप्तप्रथमान्त वैसे ही समझना चाहिए जैसे "इको गुणवृद्धी" सूत्र में "इकः" इस पद को समझा गया है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ ऐसा होता है कि अच्निष्ठ विधेयताप्रयोजक ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत में से कोई पद जिस सूत्र में रहे वहाँ "अचः" इस षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त अर्थ करने का परिणाम यह होता है कि "दिव उत्" और "अष्टन आ विभक्तौ" सूत्र में इस सूत्र की उपस्थति नहीं होती है। कारण यह है कि यद्यपि उक्त दोनों सूत्रों से अच् का विधान किया जाता है, किन्तु ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत शब्दों के द्वारा वह विधान नहीं किया जाता है। अतः वहाँ "अचः" इस षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति नहीं होती है। इसी प्रकार "पथिमथ्यृ" सूत्र में भी इस परिभाषा की अनुपस्थिति समझनी चाहिये।

विधेयता में अच्निष्ठत्व की बात ऊपर कही गई है। इसका परिणाम यह होता है कि "ऊकालोऽच्" सूत्र में इस परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है, क्योंकि इस सूत्र में अच् में विधेयता न होकर उद्देश्यता है।

नागेश भट्ट कहते हैं कि इस सूत्र में शेष बात पूर्वसूत्र "इको गुणवृद्धी" के समान समझना चाहिए। शेष से उनका तात्पर्य इस सूत्र में "विधीयते" पद का अध्याहार "अचः" इस षष्ठ्यन्त पद की उपपत्ति तथा इस परिभाषा के "पदोपस्थापकत्व" इन सब बातों में है। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि इस परिभाषा के द्वारा उपस्थापित षष्ठ्यन्त "अचः" पद का जहाँ समानाधिकरणेन अन्वय सम्भव हो वहाँ वैयधिकरण्येन अन्वय नहीं करना चाहिए। जैसे "ह्रस्वो

नपुंसके" सूत्र में "प्रातिपदिकस्य" इस षष्ठ्यन्त पद के साथ "अचः" इस उपस्थित षष्ठ्यन्त का सामानाधिकरण्येन अन्वय सम्भव है, इसलिए तदन्तविधि करके वहाँ ऐसा अर्थ किया जाता है कि अजन्त जो प्रातिपदिक उसे ह्रस्व हो। परिणाम यह होता है कि "श्रीपम्" में तो ह्रस्व होता है किन्तु "सुवाक् ब्राह्मणकुलम्" में ह्रस्व नहीं हुआ, क्योंकि "सुवाच्'' शब्द अजन्त न होकर हलन्त प्रातिपदिक है। नपुंसक में प्रातिपदिकावयव अच् को ह्रस्व हो, "इस प्रकार वैयधिकरणान्वय करने पर तो यहाँ भी ह्रस्व होने लगता। "शमामष्टानां दीर्घः श्यनि" इस सूत्र में उपस्थित अच् का शमादि के साथ समानाधिकरणान्वय सम्भव नहीं होने के कारण वहाँ वैयधिकरणान्वय किया गया है कि शमादि के अवयव अच् को श्यन् पर में रहने पर दीर्घ होता है। इन सब बातों का शेष पद से संग्रह करना चाहिए।

आद्यन्तौ। यद्यप्यत्र मिलितस्य नैकत्रान्वय इति द्वन्द्वो न प्राप्नोति तथापि समूहयोरन्वयबोधोत्तरं 'यथासङ्ख्यमि'ति सूत्रारम्भसामर्थ्यात्पुनः प्रत्येकान्वयः। लोके त्वेवंरीत्या प्रयोगोऽसाधुरेवेति भाष्ये स्पष्टम्। अत्रैव यथासङ्ख्यसूत्रोपन्यासो युक्तः। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्येच्छब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धः। 'पुरस्तादपवाद'न्यायेन स्थानेयोगत्वस्यायमपवादः। प्रत्ययपरत्वन्तु परत्वादमुं बाधते। तेन चरेष्टादयः परा एव भवन्ति। अत एव यत्रैतदभावे स्थानषष्ठीसम्भावना तत्रैवेदं प्रवर्तते; तदाह— यस्योक्ताविति। आद्यन्ताक्षिप्तोऽवयवी यच्छब्दार्थः। यथासङ्ख्यसिद्धमर्थमाह— क्रमादिति। इताविति किम्? टुक् पर्यायेणाद्यन्तयोर्मा भूत्।

"आद्यन्तौ टकितौ" सूत्र की व्याख्या कर रहे हैं। इस सूत्र में "आदिश्च अन्तश्च इति आद्यन्तौ" इस प्रकार द्वन्द्व समास हुआ है। "टश्च कश्चेति टकौ" यहाँ भी द्वन्द्व समास तथा "इतश्च इतश्च इति इतौ" इस प्रकार एकशेष हुआ है। टकार और ककार के आगे जो अकार है वह उच्चारणार्थक है। इसके बाद "टकौ इतौ ययोस्तौ टकितौ" इस प्रकार बहुव्रीहि समास हुआ है। "टकौ" इस द्वन्द्व के अन्त में श्रूयमाण "इत्" शब्द का अन्वय प्रत्येक के साथ होता है। इसलिए "टकितौ" इस पद का अर्थ "टित्कितौ" होता है। इस "टित्कितौ" पद में से टित् का अन्वय आदि में तथा कित् का अन्वय अन्त में होता है। इसी आधार पर कौमुदी में इस सूत्र की वृत्ति कही गई है।

शेखरकार यहाँ द्वन्द्व समास के सम्बन्ध में आशंका कर रहे हैं। उनका तात्पर्य यह है कि द्वन्द्व समास साहित्य में होता है। साहित्य की परिभाषा इस प्रकार है—"एकरूपावच्छिन्नस्य एकरूपावच्छिन्नसंसर्गेण एकधर्मावच्छिन्नेऽन्वयः साहित्यम्"। अर्थात् एक धर्म से अवच्छिन्न का एक-धर्मावच्छिन्न सम्बन्ध से एकधर्मावच्छिन्न में अन्वय का नाम साहित्य है। उदाहरण के लिए "घटपटौ पश्य" इस वाक्य को लिया जा सकता है। यहाँ घट पटसमुदायत्वावच्छिन्न का द्वितीयार्थ कर्मत्व रूपी एक सम्बन्ध से दर्शन-क्रिया में अन्वय होता है। इसलिए यहाँ द्वन्द्व साधु है। प्रस्तुत सूत्र में जहाँ टित् का अन्वय आदि में तथा कित् का अन्वय अन्त में होता है, इस प्रकार स्पष्ट है कि टित् का अन्वयितावच्छेदक आदित्व तथा कित् का अन्वयितावच्छेदक अन्तत्व है। ऐसी स्थिति में जब अन्वयितावच्छेदक एक नहीं है तब यहाँ द्वन्द्व समास कैसे

होगा? नागेश भट्ट कह रहे हैं कि यद्यपि यहाँ मिलित पदार्थों का एकत्र अन्वय नहीं होने के कारण द्वन्द्व की प्राप्ति नहीं है, तथापि पहले "समूहयोः" = "आद्यन्तौ" इस समुदाय का "टकितौ" इस समुदाय में अन्वय करके "टकितौ आद्यन्तौ भवतः" ऐसा अर्थ किया जाता है। इस प्रकार एकधर्म समुदायत्व को मानकर उससे अवच्छिन्न का परस्पर अन्वय कर देने से साहित्य की उपपत्ति और परिणामस्वरूप द्वन्द्व की साधुता हो जाती है। इसके बाद यथासंख्य सूत्र के आरम्भसामर्थ्यात् पुनः प्रत्येक का अन्वय होता है। अर्थात् टित् का अन्वय आदि में तथा कित् का अन्वय अन्त में होता है। लोक में इस प्रकार समुदायत्वावच्छिन्न का समुदायत्वावच्छिन्न में अन्वय करके पुनः प्रत्येक में अन्वय की विवक्षा से यदि कोई प्रयोग किया जाता है तो ऐसा प्रयोग असाधु ही है, ऐसा समझना चाहिए। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है—

"अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ न ज्ञायते कस्याजाधनं कस्यावयः" ॥

देवदत्त और यज्ञदत्त अजाविधन है, परन्तु यह ज्ञात नहीं है कि अजा किसका धन है और अवि किसका धन है? इस भाष्य से उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है कि द्वन्द्व समास की उपपत्ति के लिए यद्यपि समुदायत्वावच्छिन्न का समुदायत्वावच्छिन्न में अन्वय कर लिया जाता है, किन्तु लोक में इस प्रकार के अन्वय के पश्चात् पुनः पृथक् प्रत्येक का प्रत्येक में अन्वय नहीं होता है। यदि ऐसा अन्वय सम्भव होता तो भाष्यकार यह नहीं कहते कि यह ज्ञात नहीं है कि अजा किसका धन है और अवि किसका धन है?

उपर्युक्त भाष्यप्रमाण के आधार पर यह निष्कर्ष निकला कि लोक में दो समुदायों का अन्वय करने के बाद पुनः दुबारा प्रत्येक का अन्वय नहीं होता है, किन्तु शास्त्र में तो यह अन्वय होता ही है। जैसे "आद्यन्तौ टकितौ" सूत्र में किया गया है। शास्त्र में इस प्रकार अन्वय करने में नागेश भट्ट ने प्रमाण के रूप में "यथासंख्य" सूत्र का उल्लेख किया है। यथासंख्य सूत्र के आरम्भसामर्थ्यात् पीछे दुबारा पृथक्-पृथक् अन्वय हो जाता है। यहाँ शेखरकार का यथासंख्य सूत्रारम्भसामर्थ्यात् कहने का तात्पर्य यह है कि इस सूत्र की आवश्यकता ही क्या है? एक लौकिक न्याय है।—

"क्रमिकाणां क्रमेणैवान्वयः समुदाहृतः।
शत्रुं मित्रं विपत्तिञ्च जय रञ्जय भञ्जय" ॥

जिस प्रकार यहाँ क्रमशः "शत्रुं जय, मित्रं रञ्जय, विपत्तिं भञ्जय" इस प्रकार का अन्वय हो जाता है, उसी प्रकार अयादि स्थलों में भी इस लौकिक न्याय से ही कार्य चल सकता था तो "यथासंख्य" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार "यथासंख्य" सूत्र की व्यर्थता की स्थिति आने पर कहा जाता है कि यह सूत्र उस शास्त्रीय स्थल के लिए आवश्यक है जहाँ समुदायत्वावच्छिन्न का समुदायत्वावच्छिन्न में अन्वय करके द्वन्द्व को साधु बना लिया जाता है, किन्तु प्रत्येक में पृथक्-पृथक् अन्वय के न होने के कारण वहाँ सफल वाक्यार्थबोध नहीं हो रहा है। इस प्रकार "आद्यन्तौ टकितौ" इत्यादि स्थलों में पुनः प्रत्येक में अन्वय "यथासंख्य" सूत्र के आरम्भसामर्थ्य से होता है।

"आद्यन्तौ टकितौ" सूत्र १।१।४६ क्रमांक का है और "यथासंख्य" सूत्र १।३।९० क्रमाङ्क का है। "आद्यन्तौ टकितौ" सूत्र में इसकी उपयोगिता है। इस बात को दृष्टिगत कर नागेश

भट्ट कह रहे हैं कि यथासंख्य सूत्र का उपन्यास जो प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में किया गया है, उसकी अपेक्षा यह युक्त होता कि "अत्रैव" = "आद्यन्तौ टकितौ" सूत्र से पहले ही इसका पाठ कर दिया गया होता। "टकितौ" इस द्वन्द्व के अन्त में श्रूयमाण इत् शब्द का ट और क इन दोनों के साथ अन्वय होता है। इसीलिए वृत्ति में "टित्कितौ" ऐसा उल्लेख किया गया है।

"आद्यन्तौ टकितौ" की प्राप्तिस्थल में कहीं तो "षष्ठी स्थानेयोगा" इस सूत्र की प्राप्ति होती है। जैसे "ङ्णोः कुक्टुक् शरि" यहाँ "षष्ठी स्थाने" सूत्र प्राप्त है। इसी प्रकार "चरेष्टः" सूत्र में "प्रत्ययः, परश्च" सूत्र की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उपर्युक्त दो सूत्रों की अवश्य-प्राप्ति में आरभ्यमाण "आद्यन्तौ टकितौ" सूत्र अपवाद होता है। अपवाद की स्थिति में यह जिज्ञासा होती है कि यहाँ किस सूत्र का बाध किया जाय जिससे यह चरितार्थ हो सके? ऐसी स्थिति में पुरस्तादपवाद न्याय की उपस्थिति होती है। इस न्याय के द्वारा यह "षष्ठी स्थाने योगा" इस सूत्र से विधेय "स्थानेयोगत्व" का अपवाद होता है अर्थात् उसे ही बाधता है। कारण यह है कि यहाँ सूत्रों का क्रम इस प्रकार है—"आद्यन्तौ टकितौ" (१।१।४६), "षष्ठी स्थाने योगा" (१।१।४९) "प्रत्ययः" (३।१।१) "परश्च" (३।१।२)। इस प्रकार स्पष्ट है कि बाध्यशास्त्रों में इसके अनन्तर षष्ठी स्थाने योगा" ही है। इस अनन्तर बाध्यशास्त्र को बाध करके चरितार्थ यह सूत्र जब "चरेष्टः" सूत्र में जाता है तब वहाँ "प्रत्ययः परश्च" इस सूत्र से परत्वात् बाधा जाता है। इसलिए "चरेष्टः" सूत्र से विहित ट प्रत्यय तथा ल्युट् आदि जितने टित् प्रत्यय हैं वे सभी पर में ही होते हैं। अत एव = स्थानेयोगत्व मात्र का अपवाद होने के कारण ही यत्र = जिस सूत्र में एतदभावे = प्रत्यय-परत्व के अभाव में स्थानषष्ठी की सम्भावना रहती है वहीं पर इदम् = "आद्यन्तौ टकितौ" सूत्र की प्रवृत्ति होती है। इसी अभिप्राय से दीक्षितजी ने इस सूत्र की वृत्ति में "यस्योक्तौ" ऐसा कहा है। तात्पर्य यह है कि सूत्र में किसी अवयवी का उल्लेख न होने के कारण यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि टित्-कित् किसके आद्यन्तावयव हों? ऐसी स्थिति में "यस्योक्तौ" पद का सार्थक्य होता है। आद्यन्त शब्द से अवयवी समुदाय का आक्षेप होता है। वही अवयवी यहाँ यत् शब्द का अर्थ है। टित् उसी अवयवी (समुदाय) का आद्यवयव तथा कित् अन्त्यावयव होता है। कौमुदी में इस सूत्र की वृत्ति में क्रमात् पद का भी उल्लेख है। इस क्रमात् पद से यह व्यक्त होता है कि "यथासंख्य" सूत्र से जिस क्रम का यहाँ लाभ हुआ है "क्रमात्" पद उसी को व्यक्त कर रहा है।

अब यह प्रश्न कर रहे हैं कि "टकितौ" इस पद में जो "इतौ" ऐसा कहा गया है वह क्यों किया गया है? इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि टक शब्द से मत्वर्थीय इन् प्रत्यय करके "टकिन्" शब्द बना कर "आद्यन्तौ टकिनौ" ऐसा सूत्र करना चाहिए। इसका अर्थ यह होगा कि टकार और ककार वाले आदि और अन्त में होते हैं। ऐसा करने से एक लाघव यह भी है कि "कुक्" में ककार अनुबन्ध लगाने की आवश्यकता नहीं रह जाती है, क्योंकि "कु" यह आगम अपने आद्यवयव से ही ककारवान् है। इस प्रकार "आद्यन्तौ टकिनौ" इस लाघवमूलक न्याय से ही जब कार्य सम्पन्न हो रहा है तब सूत्र में "इतौ" इस पद की क्या आवश्यकता है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "टुक्" में टकार और ककार दोनों हैं। "इतौ" ग्रहण

के अभाव में टुक् पर्यायेण आदि और अन्त दोनों जगह होने लगेगा। इस दोष के निराकरण के लिए सूत्र में "इतौ" पद का उल्लेख किया गया है। टकार और ककार जहाँ इत् हों वहाँ टित् आद्यवयव और कित् अन्त्यावयव होता है। ऐसा करने से टुक् का दोष मिट जाता है, क्योंकि "टुक्" केवल कित् ही है, अतः इसका इसका पर्यायेण आद्यन्त में होना सम्भव नहीं होता।

मिदचो। अयं बाध्यसामान्यचिन्तया स्थानेयोगत्वप्रत्ययपरत्वयोरपवादः। 'तृणह' इति निर्देशात्। निर्धारणे इति। 'यस्य समुदायस्य मिद्विहितस्तस्याचां मध्ये' इत्यर्थः। सौत्रमेकवचनमिति भावः। तस्यैवेति। यस्य विहितस्तस्यैवेत्यर्थः। अत एव 'समुदायभक्तो नोत्सहतेऽवयवस्येगन्ततां विहन्तुमि'ति भाष्यं सङ्गच्छते। अन्तावयव इति। पूर्वसूत्रात्समस्तमप्यन्तपदमेकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलादनुवर्तते इति भावः। 'मुञ्चती'त्यादिविषये तु फलाभावादयोग्यत्वाच्चान्तावयव इत्यंशाप्रवृत्तिः।

"मिदचोऽन्त्यात् परः" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि यह सूत्र "बाध्यसामान्य चिन्तापक्ष के आधार पर "षष्ठी स्थानेयोगा" तथा "प्रत्ययः परश्च" इन दोनों का अपवाद है। तात्पर्य यह है कि इसके उदाहरण "नपुंसकस्य झलचः" इत्यादि स्थलों में "षष्ठी स्थानेयोगा" की प्राप्ति है और कहीं पर "रुधादिभ्यः श्नम्" इत्यादि स्थलों में "प्रत्ययः परश्च" की प्राप्ति है। यदि ऐसे स्थलों पर उक्त दोनों सूत्र लग जाँय तो यह सूत्र व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए यह व्यर्थ होने की स्थिति में अपवाद होता है और अपवाद होकर बाध्य सामान्य चिन्तापक्ष के द्वारा "मद्विषये यत् यत् प्राप्तं तत् सर्वं मया बाध्यम्" इस प्रकार सामान्य रूप से "स्थानेयोगत्व" और "प्रत्ययपरत्व" इन दोनों को बाध लेता है। परिणाम यह होता है कि नुम् आदि आगम और "श्नम्" यह विकरण ये दोनों अन्त्य अच् से पर में ही होते हैं।

इस सूत्र में बाध्यसामान्य चिन्तापक्ष है इस बात में क्या प्रमाण है? इस शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं कि "तृणह इम्" इस सूत्र में किया गया "तृणह" यह निर्देश ही इस बात में प्रमाण है। यह निर्देश "श्नम्" इस विकरण (प्रत्यय) से बनता है। यदि इस सूत्र में बाध्य सामान्य चिन्तापक्ष न मानकर बाध्यविशेष चिन्तापक्ष माना जाय तब इस पक्ष में यह सूत्र पुरस्तादपवाद न्याय से स्थानेयोगत्व का ही बाधक हो सकता है। श्नम् के विषय में यह "प्रत्ययः परश्च" से परत्वात् बाधा जायेगा। परिणाम यह होगा कि जब धातु से पर में श्नम् का विधान किया जायेगा तब "तृणह" यह निर्देश बन ही नहीं सकता। इससे समझते हैं कि यहाँ बाध्यसामान्य चिन्तापक्ष है।

कौमुदीकार ने प्रस्तुत सूत्रघटक "अचः" इस पद में निर्धारण षष्ठी को स्वीकार किया है। इसलिए यहाँ ऐसा अर्थ किया जाता है कि जिस समुदाय को मित् का विधान किया गया है, उस समुदाय के अचों के मध्य में जो अन्त्य अच्, उससे पर में तथा उस समुदाय का अवयव मित्कार्य होता है। निर्धारण में जो विभक्ति होती है उसमें बहुवचन का प्रयोग होना चाहिए क्योंकि जहाँ निर्धारण होता है वहाँ अनेक में से एक का निर्धारण किया जाता है। इसीलिए

"कारके" इस अधिकारसूत्र के ऊपर विचार करते हुए भाष्यकार ने कहा कि जब यह पद निर्धारण सप्तम्यन्त अभिप्रेत हो तो वहाँ "कारकेषु" ऐसा बोलना चाहिए। इस भाष्य से स्पष्ट होता है कि निर्धारणार्थक विभक्ति बहुवचन में होती है। इसलिए "अचः" इस एकवचनान्त पद की जगह "अचाम्" इस बहुवचनान्त पद का प्रयोग करना चाहिए था। इस प्रकार के विचार के उपस्थित होने पर नागेश भट्ट कहते हैं कि "अचः" जो यहाँ एकवचनान्त का प्रयोग किया गया है वहाँ सौत्रत्वात् एकवचन हुआ है, किन्तु अर्थ करते समय तो इसका प्रयोग बहुवचन में ही होगा। इसलिए कौमुदीकार ने कहा है—"अचां मध्ये योऽन्त्यः"। नागेशभट्ट इस बात को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जिस समुदाय को मित् विहित है उस समुदाय के अचों के मध्य में जो अन्त्य अच्, उससे पर में तथा उस समुदाय का अवयव मित् होता है।

कौमुदी की वृत्ति में "तस्मात्परः तस्यैवान्तावयवः" ऐसा कहा हुआ है। यहाँ "तस्मात् परः" इस पद का अर्थ है—उस अन्त्य अच् से पर में मित् बैठता है, किन्तु वह उस अन्त्य अच् का अवयव न होकर "तस्यैव = जिस समुदाय को वह मित् विहित है, उस समुदाय का ही अन्त्यावयव मित् होता है। यहाँ "तस्यैव" में जो तत् शब्द है उससे समुदाय का ही परामर्श होता है, अन्त्य अच् का नहीं होता है। कारण यह है कि मित् का अन्त्य अच् से परत्व और तदवयवत्व ये दोनों बातें एक साथ होना सम्भव नहीं है। मित् अन्त्य अच् से पर में हो और समुदाय का अन्त्यावयव हो" यह बात तो सम्भव है।

अत एव = परग्रहण करने वाले सूत्रकार को यही अभिमत है कि मित्-समुदाय का ही अवयव होता है, ऐसा स्वीकार करने से ही "पञ्चारत्नीनि" इस प्रयोग में इगन्त उत्तरपद पर में रहने पर पूर्वपद का प्रकृति स्वर विधान के अवसर पर भाष्यकार का यह कथनं कि "समुदाय-भक्त मित् अवयव की इगन्तता का विघातक नहीं हो सकता है" सङ्गत होता है। यहाँ का तात्पर्य यह है कि "पञ्च अरत्नयः येषां तानि पञ्चारत्नीनि" इस विग्रह में निष्पन्न मूल शब्द पञ्चारत्नि से जश् विभक्ति लाने पर उसे शि आदेश, सर्वनामस्थान संज्ञा और नुम् तथा उपधा में दीर्घ करके "पञ्चारत्नीनि" यह प्रयोग बनाया जाता है। यहाँ पर "इगन्तकाल" आदि सूत्र से इगन्त के पर में रहने पर पूर्वपद का प्रकृति स्वर किया जाता है। प्रश्न होता है कि जब नुम् का विधान कर दिया गया तब उत्तरपद नकारान्त हो गया। ऐसी स्थिति में इगन्तत्व के अभाव में वाञ्छित स्वर की सिद्धि कैसे होगी? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि नुम् मित् होने के कारण समुदाय का भक्त (अवयव) हो गया है, इसलिए यह अवयव (उत्तरपद) "अरत्नि" की इगन्तता का विघात नहीं कर सकता। समुदाय के नकारान्त होने पर भी उत्तरपद इगन्त ही है, यही भाष्य का तात्पर्य है। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है—"समुदायभक्तो मित्"। अर्थात् मित्-समुदाय का भक्त (अवयव) होता है।

मित् को समुदाय का अवयव मानने पर ही "वारीणि" इत्यादि प्रयोगों में नान्त अंग के उपधा को दीर्घ सम्भव होता है। यदि अन्त्य अच् का अवयव मित् होता तो "इन्" इतने अंश के नान्त होने पर भी अंग तो नकारान्त नहीं ही कहा जाता। ऐसी स्थिति में उपधादीर्घ असम्भव हो जाता।

इस सूत्र की वृत्ति में "तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्" ऐसा कहा हुआ है। इसमें "अन्तावयव"

इस पद की उपलब्धि कैसे होती है? इस बात को बताते हुए कह रहे हैं कि इससे पूर्वसूत्र "आद्यन्तौ टकितौ" में जो अन्त शब्द आया है वह यद्यपि आदि शब्द के साथ समस्त है, जिससे "आद्यन्तौ" यह पद बना हुआ है। उस अन्त पद के समासघटक होने पर भी एकदेश में (अन्त शब्द मात्र में) स्वरितत्व की प्रतिज्ञा से अन्त मात्र की अनुवृत्ति इस सूत्र में होती है। इसी आधार पर वृत्ति में "अन्तावयवः" इस पद का प्रयोग किया गया है।

अब प्रश्न यह होता है कि मित् जो समुदाय का अन्तावयव होता है वह "मुञ्चति" इस प्रयोग में अन्तावयव क्यों नहीं हुआ? यहाँ "शे मुचादीनाम्" सूत्र से नुम् हुआ है और यह मित् है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि फलाभाव तथा अयोग्यता के कारण प्रस्तुत प्रयोग में "अन्तावयव" इस अंश की प्रवृत्ति नहीं होती है। "मुञ्चति" प्रयोग में नकार को समुदाय का अन्तावयव मानने का कोई फल नहीं है। यदि कहा जाय कि नकार को समुदाय का अन्तावयव बनाना ही फल है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि फलाभावात् अन्तावयव इस अंश की अप्रवृत्ति होती है? इस प्रकार की आशंका होने पर कह रहे हैं कि "अयोग्यत्वात्" यहाँ अन्तावयव इस अंश की उपस्थिति नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि "मुच्" धातु में नुम् अन्त्य अच् उकार से पर में होवे तथा वह मुच् का अन्तावयव भी हो—ये दोनों बातें एक साथ यहाँ होना सम्भव नहीं है। यही यहाँ नकार की अयोग्यता है। जिस प्रकार "वारि" शब्द में विधेय नुम् अन्त्य अच् इकार से पर में है और वह "वारिन्" इस समुदाय का अन्तावयव भी होता है, वह स्थिति मुच् धातु में नहीं है। वारि शब्द अजन्त है, जब कि मुच् धातु हलन्त है। इसलिये अयोग्यत्वात् यहाँ "अन्तावयव" इस अंश की उपस्थति नही होती है।

परिभाषाणामनियमे नियमकारिणीत्वादाह—अनिर्धारितेति। तेन 'ऊदुपधाया गोहः' इत्यत्र स्थानेयोगत्वं न, उपधापदसन्निधानेनावयवषष्ठीत्वनिर्णयात्। 'स्थानेयोगे'त्यस्य स्थानपदार्थनिरूपितसम्बन्धार्थिकेत्यर्थः। स्थानेन योगो यस्या इति विग्रहे निपातनात् साधुत्वस्य भाष्ये उक्तत्वात् 'अस्तेरनन्तरे' इत्यादेरपि अनन्तरादिनिरूपितसम्बन्धे इत्येवार्थः। षष्ठीमात्रोच्चारणे स्थानपदाद्यध्याहार इत्यन्यत्र विस्तरः।

"षष्ठी स्थानेयोगा" सूत्र की वृत्ति में कौमुदीकार ने कहा है कि "अनिर्धारितसम्बन्धविशेषा षष्ठी स्थाने योगा बोध्या"। यहाँ जिज्ञासा होती है कि षष्ठी का अर्थ "अनिर्धारित सम्बन्ध-विशेषा षष्ठी" ऐसा किस आधार पर किया गया है? नागेश भट्ट इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि परिभाषासूत्र का लक्षण ही है "अनियमे नियमकारित्वं परिभाषात्वम्" अर्थात् जो अनियम में नियम करे वह परिभाषा है। "षष्ठी स्थानेयोगा", "सूत्र परिभाषासूत्र है। इसका परिभाषात्व तभी उपपन्न होगा जब यह अनियम स्थल में नियम करे। परिभाषासूत्र के इस लक्षण के समन्वय की दृष्टि से ही दीक्षितजी ने वृत्ति में "अनिर्धारितसम्बन्धविशेषा षष्ठी" का उल्लेख किया है। जहाँ सम्बन्ध-विशेष का निर्धारण न हो, वह षष्ठी स्थानपदार्थ-निरूपित सम्बन्धबोधिका होती है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि षष्ठी का अर्थ सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध के दो सम्बन्धी होते हैं—एक तो प्रतियोगी और दूसरा अनुयोगी। इनमें से प्रतियोगी वाचक शब्द से ही षष्ठी विभक्ति आती है। यदि वहाँ अनुयोगी वाचक पद नहीं है तब यह परिभाषा वहाँ पर स्थान पदार्थ को उपस्थित कराती है। वह स्थान पदार्थ वहाँ सम्बन्ध का अनुयोगी होता है। उदाहरण के लिए "इको यणचि" सूत्र को लिया जा सकता है। यहाँ प्रतियोगिवाचक इक् पद के आगे षष्ठी विभक्ति आई है। इस प्रकार प्रतियोगी के निर्णय के रहने पर भी यहाँ षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध का अनुयोगी कौन है? इस प्रकार के अनिर्धारण (अनिश्चय) की स्थिति होने पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। इसके द्वारा स्थान पदार्थ की उपस्थिति हो जाने पर इक् पदार्थप्रतियोगिक षष्ठी स्थानपदार्थानुयोगिक होती है। इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत सूत्र की जो वृत्ति कौमुदी में कही गई है वह परिभाषासूत्र के स्वरूप पर ही आधारित है।

तेन = 'अनिर्धारित सम्बन्धविशेषा षष्ठी ही स्थान पदार्थ से सम्बद्ध होती है' यह स्वीकार करने से ही यह बात स्पष्ट होती है कि जहाँ सम्बन्ध निर्धारित होता है, वहाँ स्थाने इस पद की उपस्थिति नहीं होती है। इसलिए "ऊदुपधाया गोहः" इस सूत्र में इस परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है। फलस्वरूप यहाँ "गोहः" इस पदघटक षष्ठी का स्थानेयोगत्व नही होता है। अर्थात् यह षष्ठी गुहप्रतियोगिक स्थानपदार्थानुयोगिक नहीं है, किन्तु उपधा पद के सान्निध्य से यह बात निर्णीत है कि "गोहः" इस पद में जो षष्ठी है वह अवयवावयवीभाव रूप सम्बन्ध में है। गुह् धातु का उसकी उपधा के साथ यही सम्बन्ध होना निश्चित है। इसलिए निर्धारण की स्थिति में यहाँ "स्थाने" पद की उपस्थिति का प्रश्न ही नहीं होता। "उपधायाः" इस पद में जो षष्ठी है वह तो स्थानेयोगा होती ही है, क्योंकि वहाँ सम्बन्ध का निर्धारण नहीं है। इसलिए उपधा के स्थान पर "ऊत्" आदेश होता है।

"स्थानेयोगा" इस पद का अर्थ है—स्थानपदार्थनिरूपित सम्बन्धार्थिका। तात्पर्य यह है कि जिस षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध का अनुयोगी रूपी सम्बन्धी निश्चित नहीं रहता वह षष्ठी स्थानपदार्थानुयोगिक सम्बन्ध अर्थवाली होती है।

"स्थानेयोगा" इस पद का साधुत्व कैसे होता है, "इस बात को बताते हुए कह रहे हैं कि "स्थानेन योगो यस्याः" इस विग्रह में व्यधिकरण बहुव्रीहि करके विभक्ति के लोप के बाद निपातन से स्थान शब्द के अकार को एकार करने से "स्थानेयोगा" इस पद की सिद्धि होती है। इसीलिए अनिर्धारित सम्बन्धविशेषा षष्ठी का स्थानपदार्थ के साथ योग होता है, ऐसा सूत्रार्थ किया जाता है। अथवा "स्थाने = स्थानपदार्थे योगः सम्बन्धो यस्याः" इस विग्रह में व्यधिकरण बहुव्रीहि करके सप्तमी का अलुक् कर देने से भी उक्त रूप की सिद्धि हो सकती है। दोनों विग्रहों के अर्थ में अन्तर नहीं है।

अब यह शंका होती है कि "अस्तेर्भूः" इस सूत्र के सम्बन्ध में विचार करते हुए भाष्यकार ने मतुप् सूत्र के भाष्य में कहा कि "अस्तेरनन्तरे समीपे वा भूः" = अस् के अनन्तर या समीप में भू आदेश होवे। "अस्तेर्भूः" इस सूत्र की षष्ठी भी अनिर्धारितसम्बन्धविशेषा ही है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन किया जा चुका है कि अनिर्धारित सम्बन्धविशेषा षष्ठी स्थानपदार्थ-

निरूपित सम्बन्धार्थिका होती है। किन्तु इस भाष्य से तो यह भी विदित होता है कि अनिर्धारित सम्बन्ध वाली षष्ठी अनन्तर और सामीप्यादि निरूपित सम्बन्धार्थिका भी होती है। इस प्रकार प्रस्तुत विवेचन और भाष्य से विरोध व्यक्त हो रहा है? इस शंका के उत्तर में नागेश भट्ट का कहना है कि "अस्तेरनन्तरे" इत्यादि भाष्य का भी यही तात्पर्य है कि "अस्तेः" इस पद में जो षष्ठी है क्या वह अनन्तरादि अर्थनिरूपित सम्बन्धबोधिका है? इस प्रकार वहाँ सामीप्यादि निरूपित अनेक सम्बन्धों की सम्भावना करके अन्त में भाष्यकार ने उस षष्ठी को भी स्थान-पदार्थनिरूपित सम्बन्धबोधिका ही माना। परिणामस्वरूप अस् के स्थान पर "भू" आदेश होता है। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ से भाष्य का कोई विरोध नहीं है।

जहाँ पर अनिर्धारित सम्बन्धविशेषा षष्ठी मात्र का उपादान होता है वहाँ स्थानपद अनन्तरादि पद का अध्याहार होता है। उदाहरण के लिए "इको यणचि" सूत्र को लिया जा सकता है। यहाँ षष्ठी अनिर्धारित सम्बन्धविशेषा है, अतः वहाँ स्थान पद का अध्याहार करके इस सूत्र के द्वारा उस षष्ठी को स्थानपदार्थानुयोगिक सम्बन्धबोधिका बोधित किया जाता है। स्थानादि पदों के अध्याहार में यह प्रस्तुत सूत्र तात्पर्यग्राहक है। यह बात अन्यत्र = उद्योत ग्रन्थ में विस्तार से कही गई है।

यहाँ एक बात यह ध्यातव्य है कि "स्थानेयोगा" इस पद में जब ऐसा विग्रह करते हैं कि "स्थाने" इति सप्तम्यन्तपदेन योगो यस्याः" तब इसका तात्पर्य यह समझना चाहिए कि जहाँ अनिर्धारित सम्बन्धविशेषा षष्ठी होती है वहाँ "स्थाने" यह सप्तम्यन्त पद उपस्थित होता है और षष्ठी तदर्थनिरूपित सम्बन्धबोधिका होती है। जब "स्थानेन = स्थानपदार्थेन योगो यस्याः" ऐसा विग्रह करते हैं तब षष्ठी अध्याहृत स्थानपदार्थनिरूपित सम्बन्धबोधिका होती है।

प्रसङ्ग इति। 'दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यमि'त्यादौ तथा दर्शनात्। भावे ल्युट् स्थानशब्दे। प्रसङ्गश्च सति सम्भवेऽर्थवत एव, अर्थप्रत्यायनार्थं शब्दप्रयोगात्। 'इको यणि'त्यादेरच्परेकारघटितशब्दस्यार्थबोधनाय प्रसङ्गे तत्परयकारघटितः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः। 'एरुरि'त्यादेश्च 'तेस्तुरि'ति, अतो न शब्दनित्यताहानिः।

किञ्चेकारबुद्धिप्रसङ्गे यकारबुद्धिरित्यर्थः। अत 'एवाचः परस्मिन्नि'त्यादि सङ्गच्छते। स्पष्टञ्चेदं 'दाधा घ्वि'ति सूत्र-स्थानिवत्सूत्रयोर्भाष्ये।

"षष्ठी स्थानेयोगा" सूत्र में कह आये हैं कि "स्थानं च प्रसङ्गः"। उस प्रसङ्ग के ऊपर विचार करते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि स्थान का अर्थ प्रसङ्ग होता है, यह बात अन्यत्र भी देखी गई है। जैसे "दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्" = दर्भों के स्थान पर शरकर्तृक प्रस्तरण होना चाहिए। इस इष्टि के वाक्य से यह सूचित होता है कि जहाँ दर्भ का प्रसङ्ग हो वहाँ शर का प्रस्तरण होता है। इसी प्रकार जहाँ अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट इक् का प्रसंग हो वहाँ अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट यण् का प्रयोग करना चाहिए। जैसे शर से दर्भ की निवृत्ति होती है वेसे ही यण् से इक् की निवृत्ति।

यहाँ यह बात कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि स्थान का अर्थ अधिकरण होता है।'तिष्ठन्ति यत्र तत् स्थानम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर "इको यणचि" सूत्र में उपस्थित

स्थान पद का अर्थ यदि अधिकरण कर दिया जाता है तब तो इसका तात्पर्य यह होगा कि इक् के अधिकरण में यण् होता है। इस अर्थ का परिणाम यह होगा कि यण् के द्वारा इक् की निवृत्ति नहीं होगी। यहाँ तो यण् के द्वारा इक् की निवृत्ति वाञ्छित है, इसलिये लिखे हैं कि "स्थानञ्च प्रसङ्गः"। तात्पर्य यह है कि स्थान शब्द अधिकरण-साधन नहीं है किन्तु यह भाव-साधन है। स्थान शब्द में जो ल्युट् प्रत्यय हुआ है वह भाव में हुआ है। इसका विग्रह इस प्रकार होता है—"स्थितिः स्थानम्"। स्थिति अर्थात् प्राप्ति अर्थात् प्रसङ्ग ही स्थान है। वह प्रसंग इस शास्त्र में यथासम्भव अर्थवान् का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अर्थबोधन के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस सन्दर्भ में "इको यणचि" सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा कि "अर्थबोधन के लिए अच्परक इकारघटित के प्रसङ्ग (प्राप्ति) में अच्परक यकारघटित का प्रयोग करना चाहिए।" इसी प्रकार "एरुः" सूत्र का अर्थ होता है कि "लोट् लकार में इकार के उच्चारण के प्रसङ्ग में उकार का उच्चारण करना चाहिए"।

स्थान का अर्थ प्रसङ्ग करने का फल बताते हुए कह रहे हैं कि अतः = स्थान शब्द का अर्थ प्रसङ्ग करके उपर्युक्त प्रकार से "इको यणाचि" आदि सूत्रों का अर्थ करने से वैयाकरण सिद्धान्त जो शब्द नित्यत्ववाद है, उसका व्याघात नहीं होता है। यदि स्थान का अर्थ प्रसंग न करके सीधे इकार के स्थान पर यकार का, ति के स्थान पर तु का विधान कर देते तो शब्द के नित्यत्व की हानि होती।

वस्तुतस्तु "इकार के उच्चारण के प्रसङ्ग में यकार का उच्चारण करना चाहिए" इस अर्थ की अपेक्षा यह अर्थ युक्त होगा कि "अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट इकार की बुद्धि के प्रसङ्ग में अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट यकार-बुद्धि करनी चाहिए। इससे स्पष्ट होता हैं कि यणादि जो कुछ विकृतियाँ है वे सब केवल बौद्धिक परिर्वतन मात्र है, न कि इकार को हटाकर यकार आता है और न इकार को हटाकर उकार आता है। इससे शब्द-नित्यत्व की सम्पुष्टि होती है।

ऊपर कह आये हैं कि इस शास्त्र में यथासम्भव अर्थवान् का ही प्रसंग लेना चाहिए। किन्तु "एरुः" सूत्र में जो इकार और उकार वर्ण हैं वे तो अर्थवान् नहीं हैं। अर्थवान् तो वहाँ "भवति" और "भवतु" हैं। इसलिए वहाँ इकार और उकार की तदन्त में लक्षणा करके यह अर्थ किया जाता है कि इकारान्त बुद्धि के प्रसंग में उकारान्त बुद्धि करनी चाहिए। ऐसा करने से यह बात तो हो गई कि प्रसंग यहाँ अर्थवान् का उपलब्ध हो जाता है, किन्तु ऐसा करने पर "अचः परस्मिन्" आदि सूत्रों का संगति नहीं बैठती है, क्योंकि इस प्रकार तो समुदाय के स्थान पर समुदाय आदेश होंगे, अच् के स्थान पर तो आदेश मिलेगा ही नहीं। ऐसी स्थिति में "अचः परस्मिन्" सूत्र की संगति कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तदन्त में लक्षणा करने पर भी लक्ष्यार्थबोध से पूर्वभावी शक्यार्थबोध जिसमें इकार के स्थान पर उकार को होने की बात है, उसका परित्याग नहीं है। इसलिए अजादेश की उपलब्धि हो जाने के कारण "अचः परस्मिन्" इत्यादि सूत्र भी संगत हो जाते हैं। यह बात "दाधाध्वदाप्" तथा "स्थानिवत्" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

स्थानेऽन्त। 'षष्ठी'त्यनुवृत्त्या 'यत्र स्थानषष्ठी तत्रेदमुपतिष्ठते' इति विध्येकवाक्यतयैवास्य नियामकत्वं, न तु विहितानां नियमः, 'भुक्तवन्तमि'ति

न्यायविरोधात्। फलितमाह—प्रसङ्गे इति। सदृशतम इति। अर्थात्प्राप्यमाणानां मध्ये एव। अत एव 'गङ्गोदकमि'त्यादौ त्रिमात्रो न। तत्किम्? 'वाग्घरिरि'त्यादौ महाप्राणत्वसाम्येन जायमानः पूर्वसवर्णो—वर्गद्वितीयो मा भूत्, किन्तु नादवान्महाप्राणश्चतुर्थो 'घ' एव यथा स्यादिति। 'स्थानेऽन्तरतमे' इति सप्तम्यन्तपाठस्तु—दीर्घेषु यणसिद्ध्या दुष्ट इति भाष्ये स्पष्टम्।

"स्थानेऽन्तरतमः" इस सूत्र में पूर्वसूत्र "षष्ठी स्थानेयोगा" (१।१।४९) से षष्ठी पद की अनुवृत्ति आती है। यह परिभाषासूत्र है, इसलिए जहां स्थानषष्ठी = अर्थात् स्थान पदार्थनिरूपित सम्बन्धबोधिका षष्ठी रहती है वहाँ इदम् = अन्तरतम यह पद उपस्थित होता है। इस प्रकार विधिसूत्र के साथ एकवाक्यतापन्न होकर ही यह नियामक होता है। इस उपर्युक्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जहाँ स्थानषष्ठी होती है; वैसे "इको यणचि" जैसे स्थलों में इसकी उपस्थिति होती है, क्योंकि यहाँ "इकः" इस पद की षष्ठी स्थानषष्ठी है। इस प्रस्तुत सूत्र में जो "स्थाने" पद है, उसका अर्थ है "प्रसङ्ग"। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ होता है कि स्थाने = प्रसङ्ग अर्थात् एक के स्थान पर अनेक की प्राप्ति रूपी प्रसंग के रहने पर सदृशतम आदेश होता है। इस सूत्र के ऐसा अर्थ करने के पश्चात् "इको यणचि" सूत्र का अर्थ होता है कि अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट इक् के स्थान पर सदृशतम यण् आदेश होता है। इस प्रकार की एकवाक्यता वाक्यैकवाक्यता कही जाती है। वाक्यैकवाक्यता का तात्पर्य है "उपजीव्योपजीवकभावापन्नविषयता"। जहाँ परिभाषासूत्र उपजीव्य = उपकारक हो और विधिसूत्र उपजीवक = उपकार्य होवे। "स्थानेऽन्तरतमः" के वाक्यार्थबोध के बाद ही "इको यणचि" सूत्र का उक्त वाक्यार्थबोध सम्भव हो सकता है, इसलिए यहाँ वाक्यैकवाक्यतया अन्वयबोध होता है।

परिभाषासूत्र नियामक होते हैं। "स्थानेऽन्तरतमः" भी नियामक है। इसका नियामकत्व उपर्युक्त प्रकार से वाक्यैकवाक्यतया होता है। इक् के स्थान पर "सुधी + उपास्यः" इस प्रयोग में चारों यण् प्राप्त रहते हैं, किन्तु जब इस सूत्र ने बता दिया कि सदृशतम यण् आदेश होगा तब यकार ही आदेश हुआ, शेष यण् वहाँ आदिष्ट नहीं हो सके। इस प्रकार इसके वाक्यैक-वाक्यतया नियामकत्व की सिद्धि होती है। दूसरी बात यहाँ यह भी स्पष्ट होती है कि यहाँ "नियम्य विधानम्" यही पक्ष अभिमत है। परिभाषासूत्र की सहायता से जहाँ विधिसूत्र कार्य का विधान करते हैं वहाँ दो पक्ष होते हैं—पहला तो "नियम्य विधानम्" = नियमित करके विधान करना। दूसरा पक्ष है "विहितानां नियमः" = लक्ष्य में विधान करके पीछे से नियमन करना। "स्थानेऽन्तरतमः" की सहायता से "इको यणचि" सूत्र द्वारा जो विधान किया जाता है वह "नियम्य विधानम्" है। तात्पर्य यह है कि पहले ही निश्चय कर लिया गया कि इकार के स्थान पर अत्यन्त सादृश्य के आधार पर किसका विधान करना है? इसके बाद यकार का विधान वहाँ कर दिया जाता है।

"विहितानां नियमः" यहाँ इसलिए अभिमत नहीं है कि पहले सभी यण् का विधान इकार के साथ पर करके पीछे से सदृशतम के आधार पर उनको वहाँ से हटाना उसी प्रकार दुष्कर है जिस प्रकार कृतभोजन व्यक्ति को कहा जाय कि 'तुम मत खाओ'। इसलिए "भुक्तवन्तं

प्रति" इस न्याय से विरोध होने के कारण यहाँ "विहितानां नियमः" नहीं होता है अपितु "नियम्य विधानम्" होता है, यही यहाँ के ग्रन्थ का रहस्य है।

इस उपर्युक्त विवेचन का जो निष्कर्ष है, उसी का फलितार्थ दीक्षितजी ने कौमुदी में इस सूत्र की वृत्ति में कहा है कि प्रसङ्ग होने पर सदृशतम आदेश होता है। यह सदृशतम आदेश प्राप्यमाणों अर्थात् जितनों की वहाँ प्राप्ति है उन्हीं के मध्य में से होता है। अत एव = प्राप्त आदेशों के मध्य में से ही सदृशतम का चयन करने के कारण ही "गङ्गोदकम्" इस प्रयोग में त्रिमात्रिक स्थानी के सादृश्य के आधार पर त्रिमात्र आदेश नहीं होता है, क्योंकि गुणों के मध्य कोई गुण त्रिमात्र है ही नहीं।

अब "अन्तरतम" शब्दघटक तमप् ग्रहण के ऊपर विचार करते हुए पूछ रहे हैं कि यहाँ तमप् ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि यहाँ अन्तर शब्द सदृश का पर्याय है। "अतिशयतोऽन्तरः अन्तरतमः" इस व्युत्पत्ति में यहाँ तमप् प्रत्यय हुआ है। अन्तरतम का अर्थ है—अत्यन्त सदृश। सादृश्य केवलान्वयी होता है। प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक वस्तु के साथ कुछ-न-कुछ सादृश्य सब जगह रहता ही है। ऐसी स्थिति में सादृश्यमूलक कार्य जब स्वयं सिद्ध हो सकते हैं तब इस सूत्र में अन्तरग्रहण की क्या आवश्यकता है? ऐसी स्थिति में अन्तरग्रहण ही अन्तरतमार्थ हो जायेगा, तब पुनः इस सूत्र में तमप् ग्रहण की क्या आवश्यकता है? यह प्रश्नकर्ता का तात्पर्य है।

इस प्रश्न के उत्तरदाता का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार तमप् ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि सादृश्य अनेक प्रकार का होता है। जैसे स्थानकृत, अर्थकृत, गुणकृत और प्रमाणकृत। यदि इस सूत्र में तमप् ग्रहण नहीं किया जायेगा तब "वाग्घरिः" इत्यादि प्रयोगों में "झयो होऽन्यतरस्याम्" इस सूत्र से हकार के स्थान पर विधीयमान पूर्वसवर्ण केवल महाप्राणत्व रूप सादृश्य के आधार पर वर्ग का द्वितीय अक्षर खकार भी होने लग जायेगा। इसलिए तमप् ग्रहण करना आवश्यक है। तमप् ग्रहण करने पर नाद और महाप्राण तथा घोष और संवार इन चार प्रयत्नों के आधार पर अत्यन्त सदृश वर्ण वर्ग का चौथा अक्षर घकार ही होता है।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि तमप् ग्रहण के द्वारा चार प्रकार के सादृश्य का ज्ञापन करने पर भी स्वांश में उसकी चरितार्थता के लिए चतुर्विध सादृश्य की क्या उपयोगिता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि जैसे "अणुदित्" सूत्र का अप्रत्यय ग्रहण ज्ञापन के बाद चरितार्थ न होने पर भी "भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न भवति" इस परिभाषा का ज्ञापक होता है, उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र का तमप् ग्रहण भी अनेकविध आन्तर्य की सत्ता का बोधक होता है।

अष्टाध्यायी का संहितापाठ इस प्रकार है—"स्थानेऽन्तरतम उरण रपरः"। यहाँ सन्देह होता है कि यहाँ "अन्तरतमे" यह सप्तम्यन्त पाठ माना जाय या "अन्तरतमः" यह प्रथमान्त पाठ माना जाय। इन दोनों पाठों की विशेषता यह है कि सप्तम्यन्त "अन्तरतमे" यह पाठ स्थानी का विशेषण बनेगा और प्रथमान्त "अन्तरतमः" यह पाठ आदेश का विशेषण बनेगा, क्योंकि आदेश सदा प्रथमान्त ही होता है। यदि यहाँ "अन्तरतमे" इस सप्तम्यन्त पाठ को स्वीकार

किया जाय तो यह अर्थ होगा कि "अन्तरतमे स्थानिनि आदेशो भवति"। तात्पर्य यह कि स्थानी को आदेश के अन्तरतम होना चाहिए। किन्तु ऐसा करने पर "सुद्ध्युपास्यः" इत्यादि दीर्घ ईकार स्थल में यण् की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि यण् का अन्तरतम स्थानी ईकार नहीं है। क़ारण यह है कि यण् तो आधे मात्रा का है और स्थानी ईकार दो मात्रा का है। इस स्थिति में यहाँ यण् नहीं होगा। इसलिए दीर्घस्थल में यण् की असिद्धि के कारण सप्तम्यन्त पाठ को भाष्य में दूषित बताया गया है।

प्रथमान्त पाठ इसलिए अच्छा माना गया है कि इस पक्ष में "अन्तरतम आदेशो भवति" ऐसा अर्थ करने पर आदेश को स्थानी का अन्तरतम होना चाहिए। इस पक्ष में दीर्घ ईकार के स्थान पर भी यण् इसलिए सिद्ध हो जाता है कि मात्राद्वयाधिकन्यूनकालिकत्व जो दीर्घ ईकार में है वह यण् में भी मिल जाता है, क्योंकि यण् जो आधे मात्रा का होता हैं वह मात्राद्वयाधिक न्यूनकालिक है ही। इसलिए इस सूत्र में सप्तम्यन्त पाठ को दूषित कर प्रथमान्त पाठ ही स्वीकृत किया गया। यह बात भाष्य में स्पष्ट है।

यत्रानेकेति। स्थानेग्रहणे एकदेशानुवृत्त्याऽनुवर्तमाने पुनः स्थानेग्रहणं तृतीयया विपरिणामेन वाक्यभेदमाश्रित्य प्रसङ्गे—सति सम्भवे—स्थानत एवान्तरतम इत्यर्थमिति भावः। स्थानत इति। स्थानेनेत्यर्थः। तत्र स्थानतः—'इको यणचि' इति। अर्थतः—'तृज्वत्क्रोष्टुरि'ति। इह क्रोष्टुशब्दस्थाने पक्तृशब्दो नादेशः। गुणतस्तु—'वाग्घरिरि'त्यादौ। प्रमाणतः 'अदसोऽसेरि'त्यादौ।

"यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः" आदेश के नियामक के रूप में जहाँ अनेक प्रकार का आन्तर्य (सादृश्य) उपस्थित हो वहाँ स्थानकृत आन्तर्य (सादृश्य) बलवान् होता है। इस परिभाषा के आधार पर ही "सुद्ध्युपास्यः" इस प्रयोग में ईकार के स्थान पर यकार यण् होता है।

इस परिभाषा में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि "स्थानेऽन्तरतमः" इस सूत्र में वाक्यभेद किया जायेगा। उसमें पहला वाक्य होगा "अन्तरतमः" और दूसरा वाक्य होगा "स्थाने"। "अन्तरतमः' इस वाक्य में 'षष्ठी स्थानेयोगा' इस सूत्र से 'स्थाने' इस अंश की अनुवृत्ति की जायेगी। यदि कहा जाय कि "स्थानेयोगा" इतना एक पद है तो उसमें से "स्थाने" इतना अंश कैसे आयेगा? तो इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "एकदेशानुवृत्त्या" अर्थात् यहाँ एकदेश की अनुवृत्ति की जायेगी, क्योंकि कहीं पर एकदेश की भी अनुवृत्ति की जाती है। इस प्रकार "अन्तरतम" इस पहले वाक्य में "स्थाने" की अनुवृत्ति हुई। इस "स्थाने" का अर्थ प्रसंग है। इसलिए "प्रसंग होने पर सदृशतम आदेश हो" यह पहले योग का अर्थ होता है। दूसरे "स्थाने" इस इस वाक्य में "स्थाने" और "अन्तरतमः" ये दोनों पद लाये जायेंगे। इस प्रकार एकदेशानुवृत्त्या अनुवर्तमान "स्थाने" पद जब उपलब्ध हो ही रहा है तब "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्रघटक "स्थाने" पद की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार वह 'स्थाने' पद तृतीयान्त रूप में परिवर्तित होकर "स्थानेन" इस अर्थ का बोधक हो जाता है। इस प्रकार इसका अर्थ ऐसा होता है कि "प्रसङ्गे सति सम्भवे स्थानेन = स्थानत एव अन्तरतम = सदृशतमो

भवति" अर्थात् प्रसङ्ग होने पर यथासम्भव स्थानकृत आन्तर्य के आधार पर सदृशतम आदेश होता है। किन्तु इस अर्थ की उपलब्धि तो "अन्तरतमः" इस पूर्वसूत्र से ही सम्भव है, क्योंकि किसी विशेष सादृश्य का उल्लेख न होने के कारण वहाँ सादृश्य मात्र का ग्रहण होने से स्थानकृत सादृश्य भी वहाँ गृहीत ही है। ऐसी स्थिति में "स्थाने" यह दूसरा योग व्यर्थ होकर नियम करता है कि स्थान के द्वारा ही अन्तरतम लिया जाता है, किसी दूसरे प्रकार से नहीं लिया जाता है।

इसी का फलितार्थ है—"यत्रानेकविधमान्तर्यम्" यह परिभाषा। मूल में जो "स्थानतः" पाठ है उसका अर्थ है स्थानेन। 'स्थानेन' का अर्थ है स्थानकृत सादृश्य के आधार पर। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है—आन्तर्य = सादृश्य स्थान, अर्थ, गुण और प्रमाण के आधार पर लिया जाता है। उनमें स्थानकृत का उदाहरण "इको यणचि" है। यहाँ स्थानकृत आन्तर्य से इकार के स्थान पर यकार होता है। अर्थकृत आन्तर्य का उदाहरण "तृज्वत् क्रोष्टुः" है। यहाँ अर्थकृत आन्तर्य से "क्रोष्टु" शब्द के स्थान पर "क्रोष्टृ" ही आदेश होता है। गुणतः आन्तर्य "वाग्घरिः" इत्यादि प्रयोगों में लिया जाता है। गुण बाह्य प्रयत्न को कहते हैं। इसके द्वारा यहाँ हकार के स्थान पर कवर्ग का चतुर्थ अक्षर घकार ही होता है।

प्रमाणकृत आन्तर्य का उदाहरण "अदसोऽसेर्दादुदोमः" इस सूत्र में मिलता है। प्रमाणकृत का अर्थ कालकृत आन्तर्य है। इसी के आधार पर यह सूत्र अदस् के दकार से पर में रहने वाले ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व उकार और दीर्घ के स्थान पर दीर्घ ऊकार आदेश करता है। "अमुमुयङ्" और "अमू" इसके उदाहरण हैं।

तस्मिन्निति। अत्र 'तस्मिन्नि'ति उत्तरत्र 'तस्मादि'ति च सप्तम्यन्तपदपञ्चम्यन्तपदार्थकः स्वतन्त्रस्य सर्वनाम्नो–निर्देशो व्याख्यानात्, बहुलक्ष्यसंस्कारानुरोधाच्च; न तु तत्तत्पदपरम्। अन्यथा 'तस्मिन्नणि च', 'तस्मान्नुडचि', 'तस्माच्छसो न' इत्यत्रैव प्रवर्त्तेयाताम्। सप्तमी तु 'सप्तम्यन्तानामेव तच्छब्दार्थत्वमि'ति बोधनाय, तद्बोध्यार्थस्य 'निर्दिष्टे' इत्यनेन सामानाधिकरण्याय च। 'इति'शब्दः पुनस्तस्य तदर्थपरत्वं बोधयति। निःशब्दो नैरन्तर्ये, दिशिरुच्चारणे। एवञ्च 'सप्तम्यन्तार्थेऽव्यवहितोच्चारिते उपश्लिष्टस्य पूर्वस्य कार्यमि'ति वाच्योऽर्थः। एवञ्चैतत्परिभाषाद्वयोपस्थितौ सप्तम्यन्तपदस्य पञ्चम्यन्तपदस्य चार्थौ लिङ्गम्। अत्र सूत्रे उपश्लिष्टपदाध्याहारेण 'निर्दिष्टे' इति औपश्लेषिकेऽधिकरणे सप्तम्येवोचिता–'उपपदविभक्तेरि'ति न्यायात्, न तु सतिसप्तमीति 'तत्र च दीयते' इति सूत्रे कैयटे स्पष्टम्। 'स्नुक्रमोरि'ति सूत्रे च कैयट आह–'तस्मिन्निति परिभाषायां सत्यां सत्सप्तम्याश्रयणमशक्यमि'ति। उपश्लेषः–समीपवृत्तित्वं, तच्च वर्णयोर्बौद्धं द्रष्टव्यम्। एवम्–'इको यणची'त्यादावपीयमेवेति 'संहितायामि'ति सूत्रे भाष्ये।

"तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" इस सूत्र की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि इस सूत्र में "तस्मिन्" यह पद तथा उत्तरसूत्र "तस्मादित्युत्तरस्य" में "तस्मात्" यह पद क्रमशः सप्तम्यन्त पद और पञ्चम्यन्त पद के बोधक हैं। इनकी यह बोधकता अनुकरणत्वेन

सम्पन्न होती है। तात्पर्य यह है कि "तस्मिन्" यह पद अष्टाध्यायी में आगत सभी सप्तम्यन्त पदों का अनुकरण है। इसी प्रकार "तस्मादित्युत्तरस्य" सूत्र में आया हुआ "तस्मात्" यह पद सभी पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण है। अनुकरण से अनुकार्य का बोध होता हे। इसलिए इन दोनों पदों से सप्तम्यन्त और पञ्चम्यन्त पदों का बोध होता है। इसलिए "इको यणचि" के "अचि" इस सप्तम्यन्त पद में "तस्मिन्निति" सूत्र की प्रवृत्ति होती है तथा "ङः सि धुट्" के "ङः" इस पञ्चम्यन्त पद में "तस्मादित्युत्तरस्य" सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

"तस्मिन्" और "तस्मात्" ये दोनों अपने-अपने स्वरूप के बोधक सप्तम्यन्त और पञ्चम्यन्त पद हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिये; क्योंकि ऐसा मानने पर इन दोनों सूत्रों की प्रवृत्ति वहीं होगी जहाँ "तस्मिन्" और "तस्मात्" ये दोनों पद पठित होंगे। उदाहरण के लिए "तस्मिन्नणि च" तथा "तस्मान्नुडचि" इन सूत्रों में ही इन दोनों सूत्रों की प्रवृत्ति होगी, न कि "इको यणचि" आदि सूत्रों में भी हो सकेगी। इसलिए "तस्मिन्" पद सभी सप्तम्यन्त पदों का तथा "तस्मात्" यह पद सभी पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। इसीलिए शेखरकार कह रहे हैं कि "तस्मिन्" और "तस्मात्" ये दोनों सप्तम्यन्त और पञ्चम्यन्त पदार्थक हैं। अर्थात् सभी पञ्चम्यन्त पद इनके अर्थ हैं, क्योंकि अनुकरण से अनुकार्य का बोध होता ही है। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि "तस्मिन्" को सप्तम्यन्त पदों का अनुकरण तथा "तस्मात्" को पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण मानना—यह दीक्षितजी का मत है। नागेश भट्ट अपना मत प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि "स्वतन्त्रस्य सर्वनाम्नो निर्देशः" अर्थात् "तस्मिन्" पद में सर्वनाम जो तत् शब्द है वही सप्तम्यन्त पदों का अनुकरण है। इसी प्रकार "तस्मात्" पद में जो सर्वनाम "तत्" शब्द है वह पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण है। यदि कहा जाय कि अनुकरण की पहचान तो "इति" शब्द से होती है। जैसे "गवित्ययमाह" इस वाक्य में इतिपरक गो यह अनुकरण है। यहाँ पर तो "तत्" शब्द के आगे "इति" का प्रयोग न होने के कारण कैसे माना जाय कि यहाँ पर "तत्" यह सर्वनाम अनुकरण है? तो इसका उत्तर देते हुए नागेशभट्ट कह रहे हैं कि यहाँ स्वतन्त्र सर्वनाम "तत्" यह अनुकरण है। इसका स्वातन्त्र्य यही है कि यह "इति" शब्दनिरपेक्ष अनुकरण है।

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब तत् शब्द ही सप्तम्यन्त पदों का अनुकरण है तब उसके आगे सप्तमी विभक्ति पुनः क्यों लाई गई है? इसका उत्तर शेखरकार यह दे रहे हैं कि यहाँ "तत्" शब्द सप्तम्यन्त पदों का ही अनुकरण है और सप्तम्यन्त पद ही "तत्" शब्द का अर्थ है। इसी बात को बताने के लिए "तस्मिन्" इस पद में तत् शब्द के आगे सप्तमी विभक्ति आई है। दूसरी बात यह है कि "निर्दिष्टे" जो सप्तम्यन्त पद है उसके साथ समानाधिकरणान्वय के लिए भी सप्तमी विभक्ति आई है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि "तस्मिन्निति" सूत्र का "तस्मिन्" यह पद समस्त सप्तम्यन्त पदों का तथा "तस्मात्" यह पद समस्त पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण है। यह प्राचीन दीक्षितादि का मत है। नागेश भट्ट के मतानुसार दोनों जगहों पर "तत्" शब्द ही सप्तम्यन्त और पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण हैं। "तस्मिन्" पदघटक "तत्" शब्द सप्तम्यन्त पदों का तथा "तस्मात्" पदघटक "तत्" शब्द पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण है, यही बात बताने

के लिए एक जगह सप्तमी तथा दूसरी जगह "पंचमी" विभक्ति आई है। इन दोनों जगहों पर अनुकरण मानने में कोई मतभेद नहीं है। अब प्रश्न यह होता है कि इन्हें अनुकरण माना ही क्यों गया है? इन्हें क्रमशः सप्तम्यन्त और पंचम्यन्त पद तथा स्वरूप का बोधक ही क्यों नहीं माना जाय? इस प्रश्न के उत्तर में नागेश भट्ट का कहना है कि "बहुलक्ष्यसंस्कारानुरोधात्, व्याख्यानात् च"। तात्पर्य यह है कि इन्हें तत्तत्पद-परक स्वरूपबोधक ही माना जाय तो "तस्मिन्" यह पद जिस सूत्र में होगा वहीं पर "तस्मिन्निति" सूत्र की प्रवृत्ति हो सकेगी। इसी प्रकार "तस्मात्" यह पद जिस सूत्र में होगा वही "तस्मादित्युत्तरस्य" सूत्र की प्रवृत्ति हो सकेगी। परिणाम यह होगा कि इस प्रकार कतिपय प्रयोगों की ही सिद्धि हो सकेगी। इसलिए "सुद्ध्युपास्यः" इत्यादि बहुत से लक्ष्यों को दृष्टिगत कर तथा भाष्यादि के व्याख्यान के आधार पर इन्हें अनुकरण मानना ही ठीक है। इसलिए "इको यणचि", "रायो हलि", "अमि पूर्वः" इत्यादि सूत्रों में "तस्मिन्निति" की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार "तस्मादित्युत्तरस्य" के लिए भी समझना चाहिए।

"तस्मिन्" इस अनुकरण के आगे जो "इति" शब्द है वह इसकी (तस्मिन् इस पद की) अर्थपरता को बताता है। इस प्रकार "तस्मिन्" का अर्थ हो जाता है "सप्तम्यन्तार्थे"। इसके आगे "निर्दिष्टे" पद है। इसमें "निर्" शब्द नैरन्तर्य अर्थ का बोधक है और "दिश्" धातु उच्चारणक्रिया का बोधक है। तस्मिन् पदार्थ का "निर्दिष्टे" पदार्थ में समानाधिकरणान्वय करने पर "तस्मिन्निति" सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है—"सप्तम्यन्तार्थ = सप्तमीप्रकृत्यर्थ के अव्यवहित उच्चारित होने पर जो कार्य कर्तव्य है वह समीपवर्ती (अव्यवहित) पूर्व के स्थान पर होता है"। इस प्रकार प्रस्तुत इन दो परिभाषाओं "तस्मिन्निति" और "तस्मादित्युत्तरस्य" इनकी उपस्थिति वहीं होती है जहाँ सप्तम्यन्त और पञ्चम्यन्त पदों के अर्थ का उल्लेख या उच्चारण हो। सप्तम्यन्त और पञ्चम्यन्त पदों का अर्थ ही इन परिभाषाओं का लिङ्ग है। जैसे "इको यणचि" इस सूत्र में सप्तमी विभक्ति "इ" है। उसकी प्रकृति "अच्" है, इसका अर्थ अकारादि वर्ण है। उनका उच्चारण अच् शब्द के द्वारा हो रहा है, इसलिए यहाँ "तस्मिन्निति" सूत्र की उपस्थिति हो जाती है। "जनपदे लुप्" इस सूत्र में इस परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है, क्योंकि सप्तम्यन्तार्थ जो देश-विशेष है, उसका उच्चारण सम्भव नहीं है।

अब यह विचार कर रहे हैं कि इस सूत्र का जो वाच्य अर्थ किया गया है उसमें जो "उपश्लिष्टस्य" इस पद का प्रयोग किया गया है वह कैसे किया गया है, क्योंकि सूत्र में तो यह पद आया नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि अत्र सूत्रे = "तस्मिन्निति" सूत्र में उपश्लिष्ट पद का अध्याहार करके उसके आधार पर "निर्दिष्टे" पद की सप्तमी को औषश्लेषिकाधिकरण में सप्तमी मानना ही ठीक है। कारण यह है कि औपश्लेषिक अधिकरण में जो सप्तमी होगी वह कारक विभक्ति कही जायेगी। यदि इसे कारक विभक्ति न मान कर सति-सप्तमी माना जाय तो यह कारक विभक्ति नहीं कही जायेगी, क्योंकि सति-सप्तमी शेषषष्ठी का अपवाद है। इसलिए "उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी" इस न्याय के आधार पर यहाँ औपश्लेषिकाधिकरण में सप्तमी मानना उचित है। यह बात "तत्र च दीयते" इस सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। "स्नुक्रमोः" सूत्र के कैयट में कहा गया है कि "तस्मिन्निति" इस परिभाषा

के रहने पर सत्सप्तमी का आश्रयण असम्भव है। कैयट के इस कथन का तात्पर्य यही है कि सप्तम्यन्तार्थ के अव्यवहितोच्चारित होने पर पूर्व को जो क्रियमाण कार्य है वह तो समीपवर्ती को ही होगा, क्योंकि व्यवधानराहित्य समीपवर्ती में ही हो सकता है। उपश्लेष का अर्थ समीपवृत्तित्व है। दो वर्णों का समीपवृत्तित्व बौद्ध समझना चाहिए। कारण यह है कि वर्णों की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति क्रमिक होती है। जिस यत्न से कोई वर्ण उत्पन्न होता है वह अपनी उत्पत्ति के तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। उसके बाद यत्नान्तर से द्वितीय वर्ण की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि दो वर्ण एक साथ अवस्थित नहीं रह सकते। एक नष्ट और दूसरा विद्यमान है। ऐसी स्थिति में उनका उपश्लेष केवल बौद्धिक ही होगा। एवम् = जिस प्रकार "निर्दिष्टे" पद की सप्तमी औपश्लेषिकाधिकरण में है उसी प्रकार "इको यणचि" सूत्रघटक "अचि" इस पद में भी इयमेव = औपश्लेषिकाधिकरण सप्तमी ही है। यह बात "संहितायाम्" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। इसीलिए "इको यणचि" का अर्थ इस प्रकार होता है कि "अव्यवहितोच्चारिते अचि उपश्लिष्टस्य पूर्वस्य इको यण् भवतीति" अर्थात् अव्यवहित उच्चारित अच् से समीपवर्ती पूर्व में रहने वाले इक् को यण् होता है।

तत्रोपश्लेषः पूर्वस्येव परस्याव्यवहितस्येव व्यवहितस्य चेति—पूर्वस्यैवेति नियमार्थमिदम्, अव्यवहितस्यैवेति च। अत एव लक्ष्यानुसारात्क्वचित्सतीत्यध्याहारात्सत्सप्तम्याश्रयणे नास्याः प्रवृत्तिरिति—'श्नान्नलोप' इत्यत्र भाष्ये उक्तम्।

अत एव 'कर्तृकर्मणोः कृती'त्यत्र नास्याः प्रवृत्तिः, 'कृति सति प्रत्यासत्त्या तत्प्रकृत्यर्थकर्तृकर्मणोः षष्ठी'ति तदर्थात्। 'तस्मादि'ति सूत्रे—'निर्दिष्टे' इति निर्दिष्टादित्यर्थकं विभक्तिविपरिणामात्। सा चोत्तरस्येति दिग्योगलक्षणा इति—दिग्योगलक्षणपञ्चम्यामेव तत्प्रवृत्तिः। 'उदः स्था' इत्यादौ च 'उद' इति दिग्योगलक्षणा पञ्चमी। तत्रानियतदिक्शब्दाध्याहारे प्रसक्ते परशब्दस्यैवाऽध्याहार इति—'तस्मा दित्यनेन नियम्यते। 'अव्यवहितोच्चारितात्पञ्चम्यन्तात्परस्ये'ति तदर्थः। तत्फलितमाह—सप्तमीनिर्देशेनेत्यादि।

यदि तु अर्धमात्राधिककालेन वर्णान्तरेण वा व्यवधाने उपश्लेष एव नेत्युच्यते तदा निर्दिष्टपदं संहिताधिकारश्च विफल इति 'संहितायामि'ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

'अवग्रहे च सम्प्रदाय एव शरणमि'ति आनङादिविषये आदेशोत्तरमेवावग्रहोऽन्यत्र ततः प्राक्। अकृतव्यूहपरिभाषा त्वनित्या, नास्त्येव वा। 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यमि'ति भाष्येण—तदनुरोधेन शास्त्रासङ्कोचस्य शास्त्रकरणाभावस्य च स्पष्टमुक्तत्वाच्च। एतेन संहिताधिकारस्तद्बहिर्भूतानामर्धमात्राधिककालव्यवाये प्रवृत्तिज्ञापनार्थः, तेनाग्नाविष्णू इत्यादाववग्रहे आनङादिसिद्धिरित्यपास्तम्।

ऊपर कह आये हैं कि "इको यणचि" में भी औपश्लेषिकाधिकरण में सप्तमी है। अब इस बात पर विचार करते हुए कह रहे हैं कि तत्र = ऐसा स्वीकार करने पर "इको यणचि" का

तो यही अर्थ होगा कि अच् से उपश्लिष्ट इक् को यण् हो। यह उपश्लेष तो अच् का जिस प्रकार अपने से पूर्ववर्ती इक् के साथ हो सकता है, वैसे ही अच् से परवर्ती इक् के साथ भी हो सकता है। जिस प्रकार समीपवर्तिता अव्यवहित इक् के साथ है उसी प्रकार व्यवहित इक् के साथ भी है। इस प्रकार के अनियम की स्थिति में यह "तस्मिन्निति" परिभाषा वहाँ नियम करती है कि समीपवर्ती पूर्व के ही स्थान पर यण् रूपी कार्य हो और समीपवर्ती अव्यवहित इक् के स्थान पर ही यण् हो। अतएव व्यवहित और उत्तरवर्ती इक् के स्थान पर यण् नहीं होता है।

अतएव = औपश्लेषिकाधिकरण सप्तमी स्वीकार करने से ही कहीं पर लक्ष्य के अनुसार "सति" पद का अध्याहार करके वहाँ यदि सतिसप्तमी का आश्रयण किया जाय तो वहाँ पर नास्याः = "तस्मिन्निति" इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। यह बात "श्नान्नलोपः" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। इसीलिए "कर्तृकर्मणोः कृति" इस सूत्र में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए इस सूत्र का "कृत् प्रत्यय पर में रहने पर प्रत्यासत्त्या कृत् प्रत्यय की प्रकृति के अर्थ कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है" ऐसा अर्थ किया जाता है। यदि यह परिभाषा यहाँ लग गई होती तो ऐसा अर्थ नहीं होता, किन्तु कृत् प्रत्यय पर में रहने पर अव्यवहितपूर्वत्व विशिष्ट तत्प्रकृत्यर्थ कर्ता और कर्म में षष्ठी हो ऐसा अर्थ होता। इसका परिणाम यह होता कि "जगतोऽस्ति कृष्णः कर्ता" यहाँ "जगतः" इस प्रयोग में षष्ठी नहीं होती। यहाँ जगत् कर्म, कृत् प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व में नहीं है। "तस्मादित्युत्तरस्य" सूत्र में पूर्वसूत्र "तस्मिन्निति" से "निर्दिष्टे" पद की अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ "तस्मात्" पद के अनुरोध से "निर्दिष्टे" पद की विभक्ति का विपरिणाम करके उसे पञ्चम्यन्त कर दिया जाता है, जिससे "निर्दिष्टे" का अर्थ "निर्दिष्टात्" हो जाता है। सा च = वह "निर्दिष्टात्" पदघटक पञ्चमी सूत्रस्थ "उत्तरस्य" इस के योग में "अन्यारात्" सूत्र से दिग्योग में हुई है। इसका परिणाम यह होता है कि "तस्मादित्युत्तरस्य" सूत्र की प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ दिग्योगलक्षणा पञ्चमी रहती है। "उदः स्थास्तम्भोः" सूत्र में "उदः" पदघटक पञ्चमी दिग्योगलक्षणा पञ्चमी है। इसके दिग्योगत्व-सम्पादन के लिए दिग्वाची शब्द का अध्याहार करना आवश्यक है। वहाँ किस दिग्वाची का अध्याहार किया जाय इस जिज्ञासा में अनियत दिक् शब्द के अध्याहार की प्राप्ति होने पर दिग्योग पञ्चमी होने के कारण वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्त होकर यह परिभाषा नियमन करती है कि यहाँ पर शब्द का ही अध्याहार करना चाहिए। इसलिए इस सूत्र का अर्थ होता है कि "अव्यवहितोच्चारित पञ्चम्यन्त से पर में रहने वाले को पूर्वसवर्ण होता है"।

ऊपर "तस्मिन्निति" सूत्र की जो व्याख्या की गई है उसी का फलितार्थकथन दीक्षितजी ने कौमुदी में उक्त सूत्र की वृत्ति कहते हुए किया है कि "सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानम्" इत्यादि। ऊपर "इको यणचि" सूत्र में औपश्लेषिक अधिकरण की बात आई है। उपश्लेष सामीप्य को कहते हैं। दो वर्णों का यह सामीप्य कालकृत और वर्णकृत व्यवधानाभाव में ही सम्भव है। "इको यणचि" सूत्र में संहिता का अधिकार आता है। अर्धमात्रा से अधिक काल के व्यवधानराहित्य को ही संहिता कहते हैं। रत्नकार और दण्डी प्रभृति कुछ आचार्यों का कहना है कि जब संहिता का अधिकार यहाँ आता है तब उसी से कालकृत व्यवधान की व्यावृत्ति हो जायेगी। ऐसी

स्थिति में "इको यणचि" इस सूत्र में "तस्मिन्निति" सूत्र के द्वारा केवल वर्णकृत व्यवधान का ही वारण किया जाता है। इसीलिए इसकी वृत्ति में कहा है कि "वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्"।

नागेश भट्ट इस बात से अपनी असहमति बताते हुए कहते हैं कि यदि 'अर्द्धमात्रा से अधिक काल के व्यवधान में अथवा वर्णान्तर के व्यवधान में उपश्लेष (सामीप्य) नहीं रहता है' ऐसा कहते हैं तब "तस्मिन्निति" सूत्र का "निर्दिष्टे" यह पद तथा "संहिता" का अधिकार व्यर्थ है। कारण यह है कि "निर्दिष्टे" इस पद के द्वारा वर्णकृत व्यवधानराहित्य की स्थिति बताई जाती थी और संहिताधिकार से कालकृत व्यवधानराहित्य की स्थिति बताई जाती थी, किन्तु "इको यणचि" के "अचि" पद की सप्तमी जब औपश्लेषिकाधिकरण की सप्तमी मान ली गई और उपश्लेष कालकृत और वर्णकृत व्यवधान में होता ही नहीं, तो ऐसे स्थल पर यण् की व्यावृत्ति के लिए निर्दिष्ट पद और संहिताधिकार अनावश्यक ही हैं। यह बात "संहितायाम्" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

अब प्रश्न यह होता है कि ज़ब संहिताधिकार को व्यर्थ बताया जा रहा है तब अवग्रह-स्थलीय व्यवस्था का निर्वाह कैसे होगा? अवग्रह की परिभाषा है—"समस्तस्य पदद्वयस्य विच्छिद्य पाठः" अर्थात् समस्त पदों का विच्छेद करके पढ़ना अवग्रह कहा जाता है। इसमें अर्धमात्रा से अधिक काल का व्यवधान होता है। जैसे "पुरोहितम्" इस पद को अवग्रह करके पढने में "पुरः हितम्" ऐसा करके पढा जाता है। इसीलिए अवग्रह में संहिताधिकारस्थ सूत्रों की अप्रवृति तथा तद्‌भिन्न की प्रवृत्ति का नियम है, किन्तु जब संहिताधिकार व्यर्थ है तब अवग्रहस्थल की व्यवस्था कैसे होगी? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि अवग्रह के बिषय में सम्प्रदाय ही प्रमाण है। उसी के अनुसार वहाँ कार्य करना चाहिए। इसलिए आनङ् आदि जो संहिताधिकार से बहिर्भूत हैं उनके विषय में यही निश्चय करना चाहिए कि वहाँ आनङ् आदेश के बाद ही अवग्रह होता है। उदाहरण के लिए "अग्नामरुतौ" इस प्रयोग में आनङ् आदेश के बाद ही अवग्रह होता है। अन्यत्र = संहिताधिकारीय कार्यों में तो ततः प्राक् = आदेश से पहले ही अवग्रह होता है।

अवग्रह सम्बन्धी जो ये दो व्यवस्थाएँ हैं उनमें पहली बात जो कही गई है कि आदेश के बाद अवग्रह होता है, इस पक्ष में यह शंका होती है कि जब आदेश के बाद अवग्रह करके पुनः पदों को पृथक्-पृथक् पढ़ना है तब "अकृतव्यूह" परिभाषा के कारण वहाँ आदेश पहले होगा ही नहीं, क्योंकि अवग्रह के द्वारा उपश्लेष नष्ट हो रहा है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "अल्लोपोऽनः" सूत्र के तपरकरण से यह बात ज्ञापित है कि "अकृतव्यूह" परिभाषा अनित्य है, इसलिए अनित्यत्वात् उसकी प्रवृत्ति यहाँ नहीं होगी। वस्तुतस्तु "अकृतव्यूह" परिभाषा है ही नहीं? इसलिए उसके आधार पर यहाँ किसी शंका का अवसर नहीं है। भाष्यकार ने कहा है कि "न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः" अर्थात् लक्षण पदकार का अनुवर्तन नहीं करते अपितु पदकार ही लक्षण का अनुवर्तन करते हैं। अवग्रह करने वाले पदकार हैं, उन्हें चाहिए कि लक्षण (सूत्र) जैसा कहे वैसा करें। तदनुरोधेन = पदकारों के अनुरोध से शास्त्र में संकोच नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि पदकारों के अनुरोध पर किसी शास्त्र में संकोच या

किसी शास्त्र का अभाव नहीं किया जा सकता, किन्तु लक्षण जैसा कहे पदकार उसी का अनुवर्तन करें।

एतेन = अवग्रहस्थल में उपर्युक्त रीति से निर्वाह हो जाने से तथा संहिताधिकार का भाष्यकार के द्वारा निराकरण कर देने से वे लोग परास्त हो गये जो कहते थे कि संहिताधिकार इसलिए आवश्यक है कि जो कार्य उस अधिकार से बहिर्भूत हैं वे अर्धमात्रा से अधिककाल के व्यवधान में भी प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए "अग्नाविष्णू" इस प्रयोग में अवग्रह में आनङ् की सिद्धि होती है। क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि आनङ् के विषय में पहले आदेश होता है, पीछे से अवग्रह होता है।

'प्रत्ययः' 'परश्च' इत्यादौ तूत्तरांशविकला तस्मादिति परिभाषा प्रवर्तते। तेन न प्रत्यया व्यवहिताः। अत एव 'छन्दसि परेऽपि, व्यवहिताश्चे'ति सूत्रं सार्थकम्। आगमविधावपि 'आने मुक्' इत्यादौ तस्मिन्निति परिभाषया पूर्वसम्बन्धित्वनिर्णयः। अत एवात्र 'पूर्वस्ये'त्यादि न स्थानषष्ठी। तत्तद्विधिभिरेव सम्बन्धस्य निर्णीतत्वेन 'षष्ठी स्थाने' इत्यस्याप्रवृत्तेः। 'गाङ्कुटादिभ्य' इत्यादावपि षष्ठ्यंशविकलैतत्परिभाषाप्रवृत्तिर्बोद्धव्या। परिभाषाणां नियमत्वन्तु—यदि परिभाषासूत्रं न स्यात्तदा व्यवहितादावपि प्रवृत्तिः स्यादित्येतावतेति दिक्।

"तस्मिन्निति" यह परिभाषा अंशत्रयोपस्थापिका है। वे तीन अंश हैं—अव्यवहितांश, पूर्वांश और षष्ठ्यर्थत्व। जहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है वहाँ ये तीन चीजें इस परिभाषा के द्वारा उपस्थापित की जाती हैं। जैसे "शि तुक्" इस सूत्र में "नश्च" इस सूत्र से पञ्चम्यन्त "नः" इस पद की अनुवृत्ति आने पर "शि" पदघटक औपश्लेषिक सप्तमी के आधार पर "तस्मिन्निति" सूत्र की वहाँ प्रवृत्ति होने पर "शकाराव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टस्य नस्य तुक् भवति" ऐसा अर्थ होता है। यहाँ तीनों अंशों की उपस्थिति स्पष्ट है। इसी प्रकार "तस्मात्" यह परिभाषा भी अव्यवहितांश, परांश और षष्ठ्यर्थत्व—इन तीनों अंशों की उपस्थापिका परिभाषा है। "ङमो ह्रस्वादचि" इस सूत्र में इसके द्वारा तीनों अंशों की उपस्थिति कराई जाती है।

इन दोनों परिभाषाओं के द्वारा उपस्थाप्य अंशों में जितना अंश सिद्ध या बाधित रहता है वह अंश परिभाषा के द्वारा उपस्थापित नहीं किया जाता है, अपितु उतने अंश को छोड़ कर शेष अंश की उपस्थिति परिभाषा द्वारा कराई जाती है। इसीलिए "प्रत्ययः, परश्च" सूत्र में पर शब्द का उल्लेख होने से यहाँ उत्तरांश की सिद्धि है और षष्ठ्यर्थत्व बाधित है। इसलिए यहाँ केवल अव्यवहितांश की उपस्थिति "तस्मादित्युत्तरस्य" इस परिभाषा के द्वारा होती है। इसलिए प्रत्यय प्रकृति से अव्यवहित पर में ही होते हैं। अत एव = परादि शब्दों के उल्लेख होने पर तदंश रहित की उपस्थिति स्वीकार करने से ही "ते प्राग्धातोः" सूत्र से जिन गति और उपसर्ग संज्ञक प्र आदि शब्दों का धातु से पूर्व में प्रयोग प्राप्त रहता है उन्हें पर में तथा व्यवहित में विधान करने के लिए "छन्दसि परेऽपि" "व्यवहिताश्च" इन सूत्रों का सार्थक्य होता है।

आगमविधायक शास्त्र में भी इन परिभाषाओं की प्रवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ "आने मुक्" इस सूत्र में "तस्मिन्निति" परिभाषा की प्रवृत्ति होती है, जिससे "आन" से अव्यवहित-

पूर्वत्वविशिष्ट अदन्त अंग के यहाँ मुक् का आगम होता है। यहाँ इस परिभाषा के द्वारा मुक् के पूर्वसम्बन्धित्व का निर्णय होता है। मुक् यह आगम पूर्व में जो अदन्त अंग है उसका सम्बन्धी है, यह निर्णय यहाँ "तस्मिन्निति" परिभाषा के द्वारा कराया जाता है। अत एव = आगम स्थल में आगम के लिए पूर्वसम्बन्धित्व तथा परसम्बन्धित्व का निर्णय अभीष्ट होने के कारण ही अत्र = "तस्मिन्निति" सूत्र में "पूर्वस्य" इस पदघटक षष्ठी स्थानषष्ठी नहीं है। ऐसा मानने पर तो पूर्व के स्थान पर कार्य के विधान का ही बोध परिभाषा द्वारा कराया जाता, न कि पूर्वसम्बन्धित्व का निर्णय कराया जाता। "पूर्वस्येत्यादि" इस पद में आये हुए आदि शब्द से "तस्मादित्युत्तरस्य" इस सूत्र के "उत्तरस्य" इस पद का ग्रहण होता है। इस प्रकार 'पूर्वस्य' और 'उत्तरस्य' इन दोनों पदों में षष्ठी स्थानषष्ठी नहीं है। यदि कहा जाय कि "षष्ठी स्थानेयोगा "सूत्र की प्रवृत्ति होने पर तो उक्त दोनों पदों में स्थाने-योगत्व की तो आपत्ति है ही, तो इसके उत्तर में कह रहे हैं कि "षष्ठी स्थाने योगा" की प्रवृत्ति वहाँ होती है जहाँ सम्बन्ध का निर्धारण नहीं होता है। यहाँ तो तत्तद् विधियों के द्वारा ही षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध का निर्णय हो जाता है, इसलिए "षष्ठी स्थानेयोगा" की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है।

"गाङ्कुटादिभ्यः" इस सूत्र में षष्ठ्यंश रहित परत्व और अव्यवहितत्व—इन दोनों अंशों की उपस्थिति "तस्मात्" परिभाषा से होती है। अब यह शंका हो रही है कि परिभाषासूत्र जब विधिसूत्र के साथ एकवाक्यता करके लक्ष्यसंस्कारक होते हैं, तब अनियमे नियमकारित्वरूप परिभाषात्व का लक्षण इनमें कैसे समन्वित होगा? क्योंकि इस रूप में कार्य करने पर तो अनियम की स्थिति उपस्थित ही नहीं होती है? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि यदि परिभाषासूत्र नहीं होता तो विधिसूत्र की प्रवृत्ति व्यवहित में भी होने लगती। इसी प्रकार पूर्व की भाँति पर में भी होने लगती। ऐसी स्थिति में "अव्यवहितस्यैव, न व्यवहितस्य, पूर्वस्यैव न परस्य" इस प्रकार का नियमन करने के कारण इनमें परिभाषासूत्र का लक्षण संगत होता है।

अलोऽन्त्यस्य। 'षष्ठी स्थाने' इत्यनुवर्तते, तदाह—षष्ठीत्यादि। स्थाने विधीयमानः स्थानषष्ठीनिर्दिष्टान्त्यस्येत्यर्थः। स्थान इत्यादि किम्? इट् तृच ऋकारात्पूर्वो मा भूदिति। अन्त्यस्येति साहचर्यादल इति षष्ठ्यन्तम्, अन्त्यस्याल इत्यर्थः। अल इति किम्? 'पदस्ये'ति विधीयमानं 'वसुस्रंसु' इति दत्वं—स्वनडुद्भ्यामित्यादावन्त्यस्य पदस्य मा भूत्। 'स्थाने विधीयमान' इति प्रत्यासत्तिलब्धम्; एवञ्चाल एवेति, अन्त्यस्यैवेति नियमद्वयमत्र। अल्समुदायबोधकपदोत्तरं स्थानषष्ठी अस्या लिङ्गम्। अत एव 'इतोऽदि'त्यादौ-नास्याः प्रवृत्तिः। 'पथ्यादीनामि'त्यस्यावयवषष्ठीत्वादित इत्यस्याल्समुदायोत्तरत्वा-भावाच्च।

अलोऽन्त्यस्य इस सूत्र में "षष्ठी स्थानेयोगा" इस सूत्र से "षष्ठी" तथा "स्थाने" इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है। यदि कहा जाय कि "षष्ठी स्थानेयोगा" इस सूत्र का "स्थाने" यह अंश समास-घटक है, इसलिए उसकी अनुवृत्ति यहाँ असम्भव है तो ऐसी स्थिति में इस सूत्र

से केवल "षष्ठी" इस पद की तथा "स्थानेऽन्तरतमः" इस सूत्र से "स्थाने" पद की यहाँ अनुवृत्ति आती है, ऐसा समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त "निर्दिष्टस्य" इस षष्ठ्यन्त पद का अध्याहार होता है। अनुवृत्त "षष्ठी" इस प्रथमान्त का षष्ठ्यन्तत्वेन विपरिणमन कर दिया जाता है। "षष्ठ्या निर्दिष्टः षष्ठीनिर्दिष्टस्तस्य" इस प्रकार समास करके जो सूत्र की वृत्ति बनती है उसे दीक्षितजी ने कौमुदी में कहा है—'षष्ठीनिर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः'। इसका अर्थ करते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि स्थान में विधीयमान कार्य स्थानषष्ठी से निर्दिष्ट के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए "विसर्जनीयस्य सः" इस सूत्र को लिया जा सकता है। यहाँ विसर्गान्त पद को जब सकार आदेश की प्राप्ति होती है, तब इस सूत्र द्वारा यह सकारादेश रूपी कार्य षष्ठी- निर्दिष्ट "विसर्जनीयस्य" इस पद से बोध्य विसर्गान्त पद के अन्त्य अल् विसर्ग के स्थान पर ही होता है।

यहाँ जो "स्थाने" पद की अनुवृत्ति की गई है उसके सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए कह रहे हैं कि "स्थान इत्यादि किम्?" इस प्रश्न का तात्पर्य है कि यहाँ "स्थाने" इस पद की अनुवृत्ति की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि यदि "स्थाने" पद की अनुवृत्ति नहीं की जायेगी तब भू धातु से तृच् प्रत्यय करने पर " "भू + तृ" इस अवस्था में "आर्धधातुकस्य" सूत्र से किया जाने वाला इट् तृच् के ऋकार से पूर्व में होने लगेगा, क्योंकि इस सूत्र की प्रवृत्ति होने पर आगम भी अन्त्य अल् के आधार पर ही होगा। जब "स्थाने" पद की अनुवृत्ति की जाती है तब यह दोष नहीं होता है, क्योंकि उस समय तो इस सूत्र की प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ स्थान पर कार्य का विधान किया जाता हो। यहाँ "आर्धधातुकस्य" इस पद में जो षष्ठी है वह अवयवावयवीभाव सम्बन्ध में है। इस प्रकार स्थान में कार्य का विधान यहाँ न होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए उपर्युक्त दोष की आपत्ति नहीं होती। सूत्रस्थ "अलः" इस पद में जसन्तत्व की आशंका करके उसका निराकरण करते हुए कह रहे हैं कि "अन्त्यस्य" इस षष्ठ्यन्त पद के साहचर्य से "अलः" यह पद भी षष्ठ्यन्त ही है। इसका अर्थ होता है—"अन्त्य अल् के स्थान पर कार्य हो"।

अब यह विचार कर रहे हैं कि सूत्र में "अलः" यह पद क्यों किया गया है? उत्तर में कह रहे हैं कि यदि "अलः" यह पद नहीं रहेगा तो षष्ठीनिर्दिष्ट कार्य अन्त्य अल् की भाँति अन्त्य पद के स्थान पर भी होने लगेगा। परिणाम यह होगा कि "शोभनौ अनड्वाहौ ताभ्यां स्वनडुद्भ्याम्" यहाँ पर जहाँ सु और अनुडुह् ये दो पद हैं, यहाँ "पदस्य" का अधिकार करके "वसुस्रंसु" सूत्र से विधीयमान दत्व अन्त्य पद "अनडुह्" के स्थान पर होने लगेगा। इसलिए सूत्र में अल्ग्रहण करना आवश्यक है।

यहाँ अब यह शंका कर रहे हैं कि अनुवृत्ति के द्वारा "स्थाने" का लाभ होने पर भी शेखर के मूल में जो कहा गया है कि "स्थाने विधीयमानः" इस अंश की उपलब्धि कैसे हुई है? उत्तर में कह रहे हैं कि यह अंश प्रत्यासत्ति से लब्ध है। प्रत्यासत्ति का अर्थ है उपस्थिति। जब "स्थाने" पद की अनुवृत्ति की जा रही है तब स्पष्ट है कि कार्य अन्त्य अल् के स्थान पर होगा। इसी का तात्पर्य है—"स्थाने विधीयमानः"। क्योंकि अन्त्य अल् के स्थान पर ही कार्य करने की बात इस सूत्र से कही जा रही है।

यह परिभाषासूत्र है। अनियम में नियम करने वाले को परिभाषा कहते हैं। "विसर्जनीयस्य सः" जैसे स्थलों पर जहाँ "पदस्य" जैसे अन्य किसी विशेष्य की अनुवृत्ति या अध्याहार किया जाता है, वहाँ तदन्तविधि के द्वारा विसर्गान्त पद तथा विसर्ग (दोनों) को सकार आदेश की प्राप्ति रहती है। किसे हो, किसे न हो? इस अनियम की स्थिति में यह सूत्र नियम करता है कि अल् के स्थान पर ही कार्य हो तथा अन्त्य के स्थान पर ही हो। इस प्रकार "अल एव" "अन्त्यस्यैव" ये दो नियम यहाँ होते हैं। अल्-समुदायबोधक पद के उत्तर स्थानषष्ठी का रहना इस परिभाषा का लिंग है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अल्समुदायबोधक पदोत्तर जहाँ स्थानषष्ठी होती है वहाँ "अन्त्यस्य अलः" इन पदों की उपस्थिति होती है। अत एव = अल्समुदाय-बोधक पदोत्तर स्थानषष्ठी के रहने पर ही इस सूत्र की प्रवृत्ति स्वीकार करने से "इतोऽत् सर्वनामस्थाने" सूत्र में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। वहाँ "पथ्यादीनाम्" इस पद की षष्ठी अवयवावयवीभाव सम्बन्ध में है; इसलिए यहाँ स्थानषष्ठी का अभाव है। दूसरी बात यह है कि "इतः" इस पदघटक जो षष्ठी विभक्ति है वह अल्-समुदायबोधक पद के उत्तर में भी नहीं है, किन्तु वह तो वर्णबोधक पद के उत्तर में है। इत् शब्द इकार वर्ण का बोधक है।

ङिच्च। अनेकालर्थमिदम्। आदेरिति। आदेरल इत्यर्थः। तेन 'द्वीपमि'त्यादौ पान्तसमुदायस्य नेत्त्वम्। अत्र 'परस्ये'त्यावर्तते, तेन परबोधकशब्देन यत्र परस्य स्थाने विधानं तत्रैवेदम्। तेन 'नित्यं ङित्त' इत्यादौ न दोषः। तत्र विकरणव्यवधाने प्रवृत्तये—'धातोरि'त्यस्य विहितविशेषणत्वात्।

ङित् आदेश अन्त्य के स्थान पर होते हैं। प्रश्न होता है कि जहाँ पर ङित् आदेश विधीयमान होगा वहाँ भी षष्ठ्यन्त पद का उच्चारण किया गया रहेगा ही। ऐसी स्थिति में वहाँ भी "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र से ही अन्त्य अल् के स्थान पर ङित् आदेश हो सकते हैं तो "ङिच्च" सूत्र की क्या आवश्यकता है? उत्तर में कहा गया है कि जहाँ अनङ्, अवङ् आदि ङित् आदेश होते हैं वहाँ "अलोऽन्त्यस्य" को अपवादत्वात् बाध कर "अनेकाल्शित्सर्वस्य" सूत्र से सर्वादेश प्राप्त रहता है। इस सर्वादेश को बाधने के लिए यह "ङिच्च" सूत्र है। यह अपवादत्वात् सर्वादेश को बाध लेता है। इसीलिए शेखरकार कह रहे हैं कि "अनेकालर्थमिदम्"। अर्थात् जहाँ अनेकाल् ङित् आदेश होगा, वहाँ के लिए यह सूत्र आवश्यक है। वस्तुतस्तु यह अपूर्व-विधायक न होकर अनुवादक मात्र ही है। कारण यह है कि यदि अनङादि की अनेकालता बनानी है तो वह 'अन' उच्चारण से भी हो सकती थी। ऐसी स्थिति में अनङादि का ङित्करण ही ज्ञापन कर देता है कि जो अनेकाल् आदेश ङित् होगा वह सर्वादेश न होकर अन्त्यादेश होगा। इसी बात का अनुवाद "ङिच्च" यह सूत्र करता है। अतः यह अनुवादक है।

"आदेः परस्य" इस सूत्र में "अलः" इस पद की अनुवृत्ति आती है। पर-समुदाय को विहित कार्य उसके अवयव आदि अल् के स्थान पर होता है। परिणामस्वरूप "द्वीपम्" इस प्रयोग में "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः" सूत्र से समासान्तविशिष्ट अप् के स्थान में विधीयमान ईत्व अप् इस पान्त समुदाय को न होकर उसके आद्यवयव अल् अकार के स्थान पर होता है।

इस सूत्र में "परस्य" की आवृत्ति की जाती है। इसका फल यह होता है कि परबोधक शब्द के द्वारा जहाँ पर के स्थान पर कार्य का विधान किया जाता है वहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति

होती है। इसका फल यह होता है कि "नित्यं ङितः" सूत्र में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। यहाँ पर शब्द या तद्‌बोधक किसी शब्द का उल्लेख नहीं है। यदि कहा जाय कि इस सूत्र में "धातोः" का अधिकार आता है। "धातोः" इस पञ्चम्यन्त पद के आधार पर यहाँ परत्व का लाभ हो सकता है? किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "धातोः" के आधार पर परत्व का जो लाभ होगा वह अव्यवहितपरत्व का बोधक होगा। ऐसी स्थिति में "भवाव" आदि प्रयोगों में जहाँ शप् आदि विकरण का व्यवधान है वहाँ सकार का लोप नहीं होगा। इसलिए "धातोः" इस पद को विहित का विशेषण स्वीकार किया गया। धातु से विहित जो सकारान्त उत्तमपुरुष, उसके सकार का लोप होता है। इस प्रकार यहाँ "भवाव" आदि में सकार का लोप सिद्ध होता है। साथ ही पर शब्द के अभाव में "आदेः परस्य" की प्रवृत्ति भी नहीं होती है।

अनेकाल्शित्। शित उदाहरणम्—'इदम इश्'। ननु शकारोच्चारण-सामर्थ्याद्भूतपूर्वानेकाल्त्वमादाय सर्वादेशत्वे सिद्धे शिदिति व्यर्थं, किञ्च सानुबन्धकनिर्देशे यथा नालः स्थानित्वं 'भोभगो' इति सूत्रे भाष्ये उक्तं, तथाऽऽदेशत्वमपि सूत्रोपात्तस्यैवेति तद्व्यर्थम्। 'विधौ निर्दिष्टो योऽनेकाल्स सर्वस्ये'ति सूत्रार्थः। उद्देश्यत्वविधेयत्वाख्यविषयतया बोधविषयता तु अनुबन्धविनिर्मुक्तस्येति नाणुदित्सूत्रभाष्यविरोधः। 'घ्वसोरि'ति लोपस्य—'लोपो यी'ति प्रकृते पुनर्लोपग्रहणसामर्थ्यात्सर्वादेशत्वसिद्धिः। 'अनुबन्धानामनेकान्तत्वमेव न्याय्यमित्युक्तमि'ति चेन्न; 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वमि'ति ज्ञापनेन चारितार्थ्यात्। तेन 'दिव औदि'त्यादीनां न सर्वादेशत्वम्। अस्य च यथेत्सञ्ज्ञा तथा वक्ष्यते।

"अनेकाल् शित् सर्वस्य" इस सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में इस सूत्रघटक शित् ग्रहण का उदाहरण देते हुए कह रहे हैं कि शित् का उदाहरण "इदम इश्" है। इदम् शब्द से ह प्रत्यय करने पर "इदम् ह" इस स्थिति में "इदम इश्" सूत्र से सम्पूर्ण "इदम्" शब्द के स्थान पर इश् आदेश होता है। यह सर्वादेश शित्त्वात् होता है, क्योंकि शकारेत्संज्ञक वर्ण वाला इश् शित् है।

अब "अनेकाल्" सूत्र में शिद्ग्रहण के वैयर्थ्य की शंका करते हुए कह रहे हैं कि इश् आदेश जब शकारघटित है तब शकार के कारण वह अनेकाल् है। ऐसी स्थिति में यहाँ अनेकालत्वात् ही सर्वादेश सिद्ध है तो प्रस्तुत सूत्र में शिद्ग्रहण की क्या आवश्यकता है? यदि कहा जाय कि "इश्" के शकार की इत् संज्ञा और लोप हो जाने के कारण बचा हुआ "इकारमात्र" अनेकाल् नहीं है? तो इसके उत्तर में कह रहे हैं कि यदि "इश्" को अनेकाल् नहीं बनाना था तो यहाँ शकारोच्चारण ही क्यों किया गया? इस प्रकार शकारोच्चारण के सामर्थ्य से यहाँ भूतपूर्व अनेकाल्त्व का ग्रहण करके सर्वादेश सिद्ध है, अतः प्रस्तुत सूत्र में शिद्ग्रहण व्यर्थ है। इस प्रकार यहाँ यह बात सूचित की गई कि "इदम्" शब्द के स्थान पर इश् आदेश करने से पूर्व ही शकार की इत् संज्ञा और लोप हो गया है। इसी स्थिति में भूतपूर्व अनेकाल्त्व के आश्रयण की बात संगत होती है। यदि कहा जाय की शकारोच्चारणसामर्थ्यात् भूतपूर्व अनेकाल्त्व लेने की अपेक्षा है तो यह कहना ठीक होगा कि शकारोच्चारणसामर्थ्यात् यहाँ शकार की इत् संज्ञा

और लोप नहीं होते। जब अनेकालत्वात् सर्वादेश हो जाता है तब शकारोच्चारण सार्थक हो जाता है। इसके बाद उसकी इत् संज्ञा और लोप होता है। इस प्रकार यहाँ दो पक्ष सामने आते हैं—पहला तो यह कि शकार की इत् संज्ञा और लोप करने के बाद शकारोच्चारण-सामर्थ्यात् भूतपूर्वगत्या अनेकाल्त्व का आश्रयण करना। दूसरा पक्ष यह कि शकारोच्चारण-सामर्थ्यात् इत् संज्ञा और लोप को पहले न करना।

विचार करने पर ये दोनों पक्ष गौरवग्रस्त प्रतीत होते हैं, क्योंकि पहले पक्ष में भूतपूर्व गति का आश्रयण करना पड़ता है और दूसरे पक्ष में शकारोच्चारणसामर्थ्य से इत् संज्ञा और लोप विधायक शास्त्र का बाध करना पड़ता है। इस प्रकार इन गौरवग्रस्त पक्षों के आधार पर शित् ग्रहण का खण्डन करना उचित नहीं है। इस बात को दृष्टिगत कर 'किञ्च' के द्वारा शिद्ग्रहण का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि "भोभगो" सूत्र के भाष्य के अनुसार जिस प्रकार सानुबन्धक निर्देश करने पर अर्थात् अनुबन्ध सहित स्थानी के निर्देश करने पर स्थानिता अल् में नहीं होती किन्तु अनुबन्ध-सहित में रहती है। उदाहरण के लिए इसी सूत्र से विधीयमान यकारनिष्ठ विधेयतानिरूपित स्थानिता "रु" इस अनुबन्धविशिष्ट में ही है। यद्यपि यहाँ उकार की इत् संज्ञा और लोप करके रकारमात्र को ही यकार का विधान किया जाता है, किन्तु षष्ठी-प्रकृत्यर्थतावच्छेदक रूप स्थानितावच्छेदक तो "रुत्व" ही होता है। इसी प्रकार सानुबन्धक आदेश का निर्देश करने पर आदेशता भी अल् में न होकर सूत्रोपात्त अनुबन्ध सहित में ही होती है। इस स्थिति में "इदम्" के स्थान पर विधीयमान "इश्" में ही विधेयता है, न कि इकार मात्र में। इस प्रकार विधीयमान इश् स्वयमेव अनेकाल् हो जाता है। ऐसी स्थिति में अनेकालत्वात् ही इश् का सर्वादेशत्व सिद्ध होने के कारण तद्व्यर्थम् = "अनेकाल्" सूत्र में शिद्ग्रहण व्यर्थ है। यदि कहा जाय कि इश् को अनेकाल् मान कर सर्वादेश तो कर दिया गया, किन्तु प्रयोग में तो अनेकाल् दृष्टिगोचर नहीं होता? इस आशंका के उत्तर में कह रहे हैं कि विधिसूत्र में निर्दिष्ट जो अनेकाल् है, वह सम्पूर्ण के स्थान पर होता है—यह "अनेकाल्" सूत्र का अर्थ है। इस अर्थ के अनुसार यही द्रष्टव्य है कि विधिसूत्र द्वारा जो विधेय है वह अनेकाल्त्वेन निर्दिष्ट है या नहीं? इस प्रकार प्रयोग में उसका अनेकाल्त्वेन दृष्टिगोचर होना अपेक्षित नहीं है।

अब यह विचार कर रहे हैं कि शकार अनुबन्धविशिष्ट "इश्" में विधेयता मानने पर "अणुदित्" सूत्र के भाष्य से विरोध हो रहा है। वहाँ का प्रसंग इस प्रकार है—उक्त सूत्र में "अप्रत्यय" इस निषेध को लक्षित कर के भाष्यकार ने कहा कि "अत्यल्पमिदमुच्यते अप्रत्यय इति। "अप्रत्ययादेशटित्किन्मित इति वक्तव्यम्"। प्रत्ययमात्र का निषेध करना बहुत थोड़ा है। इसकी जगह अप्रत्यय आदेश टित्, कित् और मित् स्थलों में भी सवर्णग्राहकता का निषेध करना चाहिए। ऐसा कह कर भाष्यकार ने आदेश का उदाहरण "इदम इश्" दिया। विचार यह करना है कि जिस "इश्" में पर्याप्ति सम्बन्ध से विधेयता है वह अण् नहीं है और जो इकार अण् है उसमें विधेयता नहीं है। इस प्रकार जब "इश्" अण् ही नहीं है तब वहाँ सवर्ण-ग्राहकता की प्राप्ति स्वयमेव नहीं है। ऐसी स्थिति में वहाँ सवर्णग्रहणाभाव के लिए आदेश के उदाहरण के रूप में "इदम इश्" का उल्लेख करना असंगत हो रहा है? इस शंका के उत्तर

में कह रहे हैं कि उद्देश्यताख्य तथा विधेयताख्य विषयता रूप से बोधविषयता तो अनुबन्ध-विनिर्मुक्त में ही रहती है। इसलिए इश् के विधेय होने पर भी विधेयताख्य विषयता तो इकार मात्र में रहेगी और इकार अण् है, इसलिए वहाँ सवर्णग्राहकता की बात भाष्यकार ने उठाई थी। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इदम् के स्थान पर इश् आदेश होने पर ही उसमें आदेशत्व-प्रयुक्त उपदेशत्व मान कर शकार की इत्संज्ञा और लोप होता है। इस प्रकार वहाँ इकार मात्र में विधेयता रहती है, अतः यहाँ भाष्यविरोध नहीं होता है।

अब यह शंका हो रही है कि "अनेकाल्" सूत्र में जो शिद्ग्रहण का खण्डन किया गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि "देहि" इस प्रयोग में "घ्वसोरेत्" सूत्र से सम्पूर्ण अभ्यास का लोप करने के लिए इस सूत्र में द्विशकारक निर्देश किया गया है, जिससे लोप शित् कहा जाय और सम्पूर्ण के स्थान पर होवे। अनेकाल् सूत्र में शिद्ग्रहण के अभाव में यह बात कैसे सम्भव हो सकेगी? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "घ्वसोरेत्" सूत्र में "लोपो यि" सूत्र से लोप की अनुवृत्ति करके कार्य चल सकता था, तो ऐसी स्थिति में इस सूत्र में जो लोपग्रहण किया गया है उसके सामर्थ्य से लोप का सर्वादेशत्व सिद्ध हो सकता है, इसलिए "अनेकाल्" सूत्र में शिद्ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। यदि कहा जाय कि "अनेकान्ता अनुबन्धाः" अर्थात् अनुबन्ध अवयव नहीं होते हैं; ऐसी स्थिति में "इश्" अनेकाल् नहीं कहा जा सकता, अतः वहाँ सर्वादेश के लिए सूत्र में शिद्ग्रहण आवश्यक है? तो इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "अनुबन्धा एकान्ताः" अर्थात् अनुबन्ध अवयव होते हैं, यही बात न्याय्य है, ऐसा कहा जा चुका है। इस प्रकार इश् का सर्वादेशत्व सिद्ध होने के कारण अनेकाल् सूत्र में शित् का ग्रहण व्यर्थ ही है? इस प्रकार शिद्ग्रहण के वैयर्थ्य की उद्‌भावना करके नागेश भट्ट कह रहे हैं कि शिद्ग्रहण व्यर्थ होकर "नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्" इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। परिणाम यह होता है कि "इह" इस प्रयोग में "अनेकाल्त्वात्" सर्वादेश अब सम्भव नहीं होगा, इसलिए शिद्ग्रहण वहाँ सर्वादेश करने के लिए सार्थक है।

प्रस्तुत परिभाषा के ज्ञापन का फल यह हुआ कि "दिव औत्" सूत्र से विहित औत् अनेकाल् मान कर सर्वादेश नहीं हो सका। यदि कहा जाय कि "औत्" का तकार उच्चारणार्थक है, इसलिए उसकी इत्संज्ञा ही नहीं होती है। ऐसी स्थिति में औत् का सर्वादेशत्व तो दुर्वार है? तो इस बात का उत्तर देते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि उच्चारणार्थक वर्ण की भी निवृत्ति इत् संज्ञा के बिना नहीं होती है, यह बात "दिव औत्" सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर कहेंगे। इस प्रकार औत् का तकार अनुबन्ध हो जाता है और तत्प्रयुक्त अनेकाल्त्व लिया नहीं जाता, इसलिए औत् सर्वादेश नहीं होता।

'नानेकाल्शिदि'ति तु नोक्तम्, 'अनन्तरस्ये'ति न्यायेन 'आदेः परस्ये'त्यस्यैव निषेधापत्तेः। परत्वादिति। आदेः परस्येत्यस्यावकाशः—'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यो'—द्वीपम्। 'शित्सर्वस्य'—'इदम इश्'। एवम् 'अतो भिस' इत्यादिविषये 'अनेकालि'त्यनेनादेः परस्येति परत्वाद्बाध्यते। एतेन 'ङिच्चे'त्यत्र 'ङिदेवानेकालन्त्यस्ये'ति नियमेन सिद्धेऽनेकाल्ग्रहणं व्यर्थमित्यपास्तम्।

पद के लाघव न होने पर भी मात्रा के लाघव को ध्यान में रख कर नारायण गुरु नामक किसी प्राचीन आचार्य ने "ङिच्च" और "आदेः परस्य" इन दोनों सूत्रों के निषेधक के रूप में इसकी जगह "नानेकालशित्" इस प्रकार का न्यास किया है। नागेश भट्ट इस बात का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि "नानेकाल्शित्" ऐसा न्यास नहीं किया जा सकता है, क्योंकि "अनन्तरस्य विधिर्भवति प्रतिषेधो वा" इस न्याय से उक्त न्यास "आदेः परस्य" का ही बाधक हो सकता है, न कि "ङिच्च" का भी निषेधक। परिणाम यह होगा कि अनेकाल् और शित् आदेश आदि के स्थान पर तो नहीं होंगे, किन्तु अन्त्य के स्थान पर होने लगेंगे। उदाहरण के लिए "अतो भिस ऐस्" सूत्र से विधेय अनेकाल् आदेश ऐस् भिस् के सकार के स्थान पर होने लगेगा। इसलिए उपर्युक्त न्यास अयुक्त है।

सिद्धान्तकौमुदी में दीक्षितजी ने कहा है कि "अष्टाभ्य औश्" सूत्र में "अनेकाल्" सूत्र "आदेः परस्य" का परत्वात् बाधक होता है। परत्वात् बाध का बीज अन्यत्रान्यत्रलब्धावकाशत्व को दिखाते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" इस सूत्र में "अप" के अकार को ईकार करके "द्वीपम्" इस प्रयोग में "आदेः परस्य" यह सूत्र चरितार्थ है। "इदम इश्" में "शित्सर्वस्य" सूत्र चरितार्थ है, क्योंकि शित् पद का अर्थ है—इत्संज्ञायोग्यशकारवत्व। इस प्रकार अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाश दोनों सूत्र "अष्टाभ्य औश्" सूत्र में साथ ही प्राप्त होते हैं। इस स्थिति में "शित् सर्वस्य" यह "आदेः परस्य" को परत्वात् बाध लेता है।

इसी प्रकार "उदः स्थास्तम्भोः" सूत्र में "आदेः परस्य" सूत्र चरितार्थ है और "हनो वध" सूत्र में "अनेकाल् सर्वस्य" चरितार्थ है। "अतो भिस ऐस्" सूत्र में दोनों की प्राप्ति साथ ही होने पर "अनेकाल्" सूत्र से "आदेः परस्य" का परत्वात् बाध होता है।

एतेन = "आदेः परस्य" को परत्वात् बाधने के लिए "अनेकाल्" सूत्र के आवश्यक होने के कारण जो लोग ऐसा कहते थे कि "ङिच्च" सूत्र से "अनेकाल् ङित् ही अन्त्य के स्थान पर होता है" ऐसा नियम करने से सर्वत्र इष्टसिद्धि सम्भव होने के कारण "अनेकाल्" सूत्र में अनेकाल् ग्रहण व्यर्थ है, ऐसा कहने वाले परास्त हो गये। क्योंकि "आदेः परस्य" को बाधने के लिए अनेकाल् ग्रहण आवश्यक है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

स्वरितेन। इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया। स्वरितत्वज्ञाप्योऽधिकारो विनियोग इत्यर्थः। स्वरितत्वञ्चेदं दोषविशेषरूपमज्झल्साधारणं स्वरूपमधिक्रियमाणपदघटकाज्निष्ठं वा। तच्चानुनासिक्यवत्प्रतिज्ञागम्यम्। विनियोगश्च प्रायेणोत्तरत्रोपस्थितिः, क्वचित्पूर्वत्रापि। 'कियद्दूरमधिकार' इत्यत्रासति गमके व्याख्यानमेव शरणम्। किञ्च स्वरितेनाधिकारगतिः। तेन 'गोस्त्रियोरि'त्यादौ स्त्र्यधिकारस्थप्रत्ययग्रहणमित्याद्याकरादवसेयम्। एतेन 'व्याख्यानादेव निवृत्तिवदनुवृत्तिरपि भविष्यति, आकाङ्क्षायान्तु सत्यामश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्छ्रुतापेक्षणस्य न्याय्यत्वाच्च किं सूत्रेणे'त्यपास्तम्। स्पष्टञ्चेदं भाष्ये।

"स्वरितेनाधिकारः" इस सूत्रघटक "स्वरितेन" इस पद में जो तृतीया विभक्ति है वह "इत्थम्भूतलक्षणे" सूत्र से हुई है। तृतीया का अर्थ वैशिष्ट्य है। इसलिए "स्वरितत्वविशिष्ट

का अधिकार जाता है" ऐसा इस सूत्र का अर्थ होता है। स्वरितत्व का यह वैशिष्ट्य ज्ञाप्यत्वसम्बन्ध से लिया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि अधिकार स्वरितत्व से ज्ञाप्य होता है और स्वरितत्व उसका ज्ञापक होता है।

अधिकार शब्द का अर्थ विनियोग है। विनियोग का अर्थ है—व्यापृति। जैसे लोक में कहा जाता है कि वह "व्यक्ति ग्राम में अधिकृत है"। इसका तात्पर्य है कि वह ग्राम में व्यापृत है। यहाँ शास्त्र में किसी पद का उत्तरसूत्र में अनुवृत्ति होना ही उसकी व्यापृति या विनियोग है। स्वरितत्व क्या है? इस बात को स्पष्ट करते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि यह स्वरितत्व अच् और हल् दोनों में रहने वाला एक विशेष प्रकार का दोष है। इसका उभयनिष्ठत्व ही दोष है। अथवा स्वरितत्व अच् का धर्म है। अधिक्रियमाण जो पद है तद्घटक अच्निष्ठ स्वरितत्व होता है। इस बात का निश्चय कैसे किया जाय कि यहाँ स्वरितत्व है? तो इस आशंका के उत्तर में नागेश भट्ट का कहना है कि "तच्च = वह स्वरितत्व आनुनासिक्य के समान प्रतिज्ञा से जाना जाता है। प्रायः करके उत्तरसूत्रों में उपस्थिति ही विनियोग शब्द का अर्थ है। स्वकीय सूत्र से जो उत्तर सूत्र है, उसके साथ एकवाक्यता करके विवक्षित वाक्यार्थ का सम्पादन करना ही विनियोग है। उदाहरण के लिए "इको यणचि" (६।१।७७) सूत्र के "अचि" पद में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा के आधार पर ही "अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) इस उत्तर सूत्र में "अचि" पद का अधिकार आता है।

विनियोग शब्द की व्याख्या में नागेश भट्ट ने "प्रायेण" पद का उल्लेख किया है। इसका तात्पर्य है कि कहीं-कहीं पूर्व में भी अधिकार जाता है, जिसे अपकर्ष कहा जाता है। इसलिए वे स्वयं कह रहे हैं कि "क्वचित् पूर्वत्रापि" अर्थात् कहीं पूर्व में भी पदों का विनियोग होता है। उदाहरण के लिए "रायो हलि" (७।२।८५) इस परसूत्र में पठित "हलि" इस पद में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा मान कर इसका "अष्टन आ विभक्तौ" (७।२।८४) इस पूर्वसूत्र में अपकर्ष होता है।

किस पद का अधिकर कहाँ तक जाता है, इस बात के लिए यदि कोई प्रमाण मिले तब वहाँ तक उस पद का अधिकार ले जाना चाहिए। जैसे "प्राग् दिव्यतोऽण्" इस सूत्र में पठित "'दिव्यतः प्राक्" इस वचन रूपी प्रमाण के आधार पर यहाँ पठित "अण्" इस पद का अधिकार "तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" इस सूत्र तक जाता है। जहाँ कोई प्रमाण न हो वहाँ असति गमक स्थल में व्याख्यान से अधिकार की अवधि का निर्णय किया जाता है। जैसे "अङ्गस्य" इस सूत्र का अधिकार सप्तमाध्याय की समाप्ति पर्यन्त भाष्यादि के व्याख्यान के आधार पर ही जाता है।

अधिकार शब्द का अर्थान्तर करके सूत्र का मुख्य प्रयोजन बताते हुए कह रहे हैं कि स्वरित से अधिकार की गति होती है। अधिकार शब्द का अर्थ है—"अधिकः कारः कार्यम् = अधिकारः"। स्वरितत्व के द्वारा अधिक कार्य का ज्ञान होता है। जैसे पूर्वशास्त्र भी स्वरितत्व की प्रतिज्ञा के बल से परशास्त्र को बाध लेते हैं। इस प्रकार सभी पूर्वविप्रतिषेध शास्त्रों का संग्रह हो जाता है, जो स्वरितत्व की प्रतिज्ञा के आधार पर अपने से परशास्त्रों के बाधक बन जाते हैं। इसी प्रकार "आधारोऽधिकरणम्" इस सूत्रघटक आधार पद में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा

के कारण मुख्य आधार की भाँति गौण आधार का भी ग्रहण कर लिया जाता है, जिससे "गङ्गायां घोषः" इत्यादि पदों की सिद्धि होती है।

नागेश भट्ट अधिक कार्य के ज्ञान का उदाहरण देते हुए कह रहे हैं कि "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" इस सूत्र में स्त्रीग्रहण से "स्त्रियाम्" इस अधिकार में पठित टाप् आदि प्रत्ययों का ग्रहण करके उन्हें ह्रस्व किया जाता है। ये समस्त बातें आकरग्रन्थ से जाननी चाहिए। "एतेन = किञ्च" शब्द द्वारा अधिकार शब्द का अर्थान्तर करने से प्राचीनों का यह कथन परास्त हो गया कि "निवृत्ति के समान अनुवृत्ति भी व्याख्यान से ही सिद्ध है"। आकांक्षा होने पर अश्रुत की कल्पना करना अनुचित है तथा श्रुत की अपेक्षा ही वहाँ न्याय्य है। इस प्रकार जब समस्त कार्य सम्पन्न हो सकते हैं तब "स्वरितेनाधिकारः" इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? यह कथन इसलिए परास्त हो गया कि यह सूत्र केवल अनुवृत्ति और निवृत्ति के लिए ही न होकर अधिक कार्य के लिए भी है। अधिक कार्यों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ये सभी कार्य व्याख्यान से सम्भव नहीं है, अतः यह सूत्र आवश्यक है। यह बात भाष्य में स्पष्ट है।

परनित्येति। परं विप्रतिषेधसूत्राद्बलवत्। नित्यं = कृताकृतप्रसङ्गि, तद्विपरीतमनित्यम्। तत्राक्लृप्ताभावकस्याभावकल्पनापेक्षया क्लृप्ताभावकस्यैव तत्कल्पनं युक्तमिति तस्य बलवत्त्वे बीजम्।

अन्तर्मध्ये—बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायमध्येऽन्तर्भूतान्यङ्गानि—निमित्तानि यस्य तदन्तरङ्गम्। तदीयनिमित्तसमुदायाद्बहिर्भूताङ्गकं—बहिरङ्गम्। तस्य बलवत्त्वेबीजमाह—असिद्धमिति। इयञ्च—'वाह ऊठि'ति सूत्रेण ज्ञापिता। यद्यपि 'प्रत्यङ्गवर्ती लोको दृश्यते, मनुष्योऽयं प्रातरुत्थाय प्रथमं शरीरकार्याणि करोति, ततः सुहृदां, ततः सम्बन्धिनामि'ति न्यायमूलकत्वमस्या 'अचः परस्मिन्नि'ति भाष्ये उक्तं, तथापि तेन न्यायेन युगपत्प्राप्तिविषयतैव स्यात्; ज्ञापकेन तु सर्वविषयता बोद्ध्यत इति 'वाह ऊठ्' इति सूत्रे कैयटे स्पष्टम्। अन्यथा वाहः सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते ण्याश्रये गुणे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ प्रष्ठौह इत्यादिसिद्धावूठ्विधानं व्यर्थं स्यात्। नाजानन्तर्यपरिभाषा तु नास्त्येवेति—न 'अयजे इन्द्रमि'त्यादौ दोष इति परिभाषेन्दुशेखरे विस्तरः। अपवादस्तु वचनप्रामाण्याद्बलवान्।

"परनित्यान्तरङ्गापवादानाम्" इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि विप्रतिषेध सूत्र के बल से परशास्त्र पूर्वशास्त्र की अपेक्षा बलवान् होता है। यहाँ इस प्रकार अनुमान किया जाता है कि "परशास्त्रं पूर्वशास्त्रावधिकबलवत्, विप्रतिषेधशास्त्रात्"। इसका उदाहरण "वृक्षेभ्यः" यह प्रयोग है। यहाँ परशास्त्र "बहुवचने झल्येत्" से पूर्वशास्त्र "सुपि च" का बाध करके एत्व का विधान किया जाता है। नित्य शब्द से कृताकृत प्रसंगी विधि का ग्रहण होता है। इससे भिन्न विधि अनित्य कही जाती है। परशास्त्र से नित्यशास्त्र बलवान् होता है। इसका उदाहरण "तुदति" यह प्रयोग है। यहाँ श प्रत्यय और लघूपध गुण दोनों साथ-साथ प्राप्त होते हैं। इनमें लघूपध गुण श प्रत्यय होने के बाद इसलिए नहीं हो सकता कि श प्रत्यय ङित् है। किन्तु श प्रत्यय तो लघूपध गुण होने और न होने दोनों स्थितियों में प्राप्त है। इस प्रकार कृताकृत

प्रसंगी विधि होने से श प्रत्यय नित्य है। यह नित्य श प्रत्यय पर लधूपध गुण को बाध लेता है। परशास्त्र की अपेक्षा नित्यशास्त्र की बलवत्ता का बीज यह है कि जिसका अभाव क्लृप्त नहीं है उसके अभाव की कल्पना की अपेक्षा जिसका अभाव क्लृप्त है, उसके अभाव की ही कल्पना करना ठीक है। यही बात नित्यशास्त्र की बलवत्ता का बीज है। प्रस्तुत स्थल में परशास्त्र लघूपध गुण विधायक शास्त्र का अभाव तो क्लृप्त है, क्योंकि श प्रत्यय होने के बाद वह प्रवृत्त नहीं हो सकता है। नित्य शास्त्र श प्रत्ययविधायक की प्रवृत्ति तो परशास्त्र की प्रवृत्ति के पहले तथा बाद में भी हो सकती है। इसलिए इसका अभाव अक्लृप्त है। ऐसी स्थिति में क्लृप्ताभावक परशास्त्र की अभावकल्पना ही उचित है।

पर तथा नित्य शास्त्र से अन्तरङ्गशास्त्र बलवान् होता है। अन्तरङ्ग की परिभाषा बताते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि अन्तरङ्ग शब्द के भीतर दो शब्द हैं– अन्तर् और अङ्ग। इनमें अन्तर् का अर्थ है मध्य में। मध्य कहने से तत्काल जिज्ञासा होती है कि किसके मध्य में? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि बहिरङ्गशास्त्रीय जो निमित्तसमुदाय, उसके मध्य में अन्तर्भूत हैं अङ्ग अर्थात् निमित्त जिस शास्त्र का, वह शास्त्र अन्तरङ्ग कहा जाता है। इसी प्रकार तदीय = अन्तरङ्गशास्त्रीय निमित्तसमुदाय के बहिर्भूत = बाहर जिसके अङ्ग = निमित्त हों, वह शास्त्र बहिरङ्ग कहा जाता है। तस्य = अन्तरङ्गशास्त्र की बलवत्ता का बीज बताते हुए कह रहे हैं कि "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" अर्थात् अन्तरङ्गशास्त्र की कर्त्तव्यता में बहिरङ्गशास्त्र असिद्ध हो जाता है। यह परिभाषा ही अन्तरङ्गशास्त्र की बलवत्ता में बीज है।

यह परिभाषा "वाह ऊठ्" सूत्र के ऊठ् ग्रहण से ज्ञापित है। इसके ज्ञापन का प्रकार यह है– "वाह ऊठ्" सूत्र की जगह यदि केवल "वाहः" इतना मात्र ही सूत्र करके इसके द्वारा सम्प्रसारण का विधान कर दिया जाय तो "विश्ववाह् + अस्" इस स्थिति में सम्प्रसारण के द्वारा वकार को उकार करके पूर्वरूप करने के बाद प्रत्ययलक्षण करके पूर्व में किये गये ण्विप्रत्ययनिमित्तक लघूपध गुण करने पर "विश्व ओ-ह्-अस्" इस स्थिति में "वृद्धिरेचि" सूत्र से वृद्धि करके "विश्वौहः" इस प्रयोग की सिद्धि सम्भव है। ऐसी स्थिति में "वाह ऊठ्" सूत्र में ऊठ्ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार ऊठ्ग्रहण व्यर्थ होकर परिभाषा का ज्ञापक होता है। परिभाषा के ज्ञापन के बाद अन्तरङ्ग लघूपध गुण की दृष्टि में बहिरङ्ग सम्प्रसारण असिद्ध हो जाता है, इसलिए लघूपध गुण नहीं हो सकता है। परिणामस्वरूप "विश्वौहः" प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए ऊठ्ग्रहण की स्वांश में चरितार्थता होती है।

अब "यद्यपि" इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इस परिभाषा के लोकन्याय-मूलकत्व का प्रतिपादन करते हुए कह रहे हैं कि "लोक प्रत्यङ्गवर्ती देखा जाता है"। प्रत्यङ्गवर्ती का अर्थ है—प्रत्यासन्नवर्ती या समीपवर्ती। प्रत्यङ्गवर्ती का अर्थ प्रत्यासन्नवर्ती इसलिए होता है कि अङ्ग प्रत्यासन्न होते हैं, इसलिए प्रत्यासत्ति रूप सम्बन्ध से अङ्ग शब्द की प्रत्यासन्न अर्थ में लक्षणा होती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि मनुष्य प्रत्यासन्न कार्य में प्रवृत्त होता है। प्रातःकाल उठ कर वह पहले अपने शरीर का कार्य करता है, इसके बाद मित्र का कार्य करता है, तदनन्तर सम्बन्धियों का कार्य करता है। इससे विदित होता है कि अन्तरङ्ग कार्य पहले होता है और बहिरङ्ग कार्य बाद में होता है। इस प्रकार यह परिभाषा लोकन्यायसिद्ध है तो

इसमें ज्ञापक की क्या आवश्यकता है? यह बात "अचः परस्मिन्" सूत्र के भाष्य में कही गई है, तथापि इसमें ज्ञापक देने की आवश्यकता इसलिए है कि यदि इसे लोकन्यायसिद्ध माना जाय तो उस न्याय के आधार पर यह परिभाषा युगपत्प्राप्तिविषया ही होती। तात्पर्य यह है कि उस समय इस परिभाषा से समकाल प्राप्त बहिरङ्ग की ही असिद्धि होती। जब इसे ज्ञापक-सिद्ध माना जाता है तो अन्तरङ्ग की कर्तव्यता में जात और समकाल प्राप्त दोनों प्रकार के बहिरङ्गशास्त्रों की असिद्धि होती है। इस प्रकार ज्ञापक द्वारा इस परिभाषा की सर्वविषयता होती है। यह बात "वाह ऊठ्" सूत्र के कैयट में स्पष्ट है।

अन्यथा = यदि "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" यह परिभाषा नहीं होती तो जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है वाह् को सम्प्रसारण, पूर्वरूप तथा ण्याश्रय लघूपध गुण और "वृद्धिरेचि" सूत्र से वृद्धि करने से "प्रष्ठौहः" इत्यादि रूपों की सिद्धि हो ही जाती तो ऊठ् का विधान व्यर्थ हो जाता। यदि कहा जाय कि "नाजानन्तर्ये" इस परिभाषा से "प्रष्ठ-उ-ह्-अस्" इस स्थिति में अन्तरङ्ग परिभाषा का निषेध हो जाने के कारण सम्प्रसारण असिद्ध नहीं होगा। ऐसी स्थिति में लघूपध गुण और उसके बाद वृद्धि कर देने से "प्रष्ठौहः" आदि की सिद्धि हो सकती है, तब ऊठ्ग्रहण की स्वांश में चरितार्थता कैसे सम्भव है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि "नाजानन्तर्ये" यह परिभाषा ही नहीं है। जब यह परिभाषा ही नहीं है तब सम्प्रसारण के असिद्ध हो जाने के कारण "प्रष्ठौहः" प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकती है, इसलिए ऊठ्विधान की स्वांश में चरितार्थता होती है। यदि कहा जाय कि "षत्वतुकोरसिद्धः" सूत्र का तुक्ग्रहण "नाजानन्तर्ये" परिभाषा में ज्ञापक है, इसलिए यह परिभाषा तो है ही? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि उस तुक् ग्रहण से "नाजानन्तर्ये" परिभाषा के ज्ञापन की अपेक्षा यही ज्ञापन करना चाहिए कि अन्तरङ्ग परिभाषा अनित्य है।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अन्तरङ्ग परिभाषा है और वह अनित्य है। इसलिए 'अक्षद्यूः' इस प्रयोग में अनित्यत्वात् उसकी प्रवृत्ति न होने से बहिरङ्ग ऊठ् यहाँ असिद्ध नहीं हुआ, जिससे "अक्षद्यूः" की सिद्ध हो जाती है। "अयज + इ + इन्द्रम्" इस स्थिति में गुण और सवर्ण दीर्घ की समकाल प्राप्ति होने पर अन्तरङ्ग परिभाषा के द्वारा बहिरङ्ग दीर्घ असिद्ध हो जाता है, जिससे गुण करके "अयजे इन्द्रम्" प्रयोग की सिद्धि होती है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि "नाजानन्तर्ये" परिभाषा नहीं है। यह बात परिभाषेन्दुशेखर में विस्तार से कही गई है।

अपवादसूत्र तो वचन के प्रामाण्य से पर, नित्य और अन्तरङ्ग—इन तीनों की अपेक्षा बलवान् होते हैं। यहाँ "वचनप्रामाण्यात्" का अर्थ है—सूत्र के आरम्भसामर्थ्य से अपवाद बलवान् होता है।

"तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्यम्" अर्थात् बाध्यशास्त्र के अप्राप्तियोग्य स्थल में बाधकशास्त्र की अचरितार्थता ही उसके बाधकत्व का बीज है। इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी हेतु परिभाषेन्दु-शेखर के "येन नाप्राप्ति" न्याय का अवलोकन करें।

अकृतेति। न कृतो विशिष्ट ऊहस्तर्को—निमित्तविनाशेऽपि कार्यस्थितिरूपः, —यथा दण्डविनाशेऽपि—घटस्थितिः—स यैस्ते इत्यर्थस्तदाह—

निमित्तमित्यादि। तत्प्रयुक्तं कार्यं जातमपि न कुर्वन्ति=नोच्चारयन्तीत्यर्थ इति कैयटादयः।

अन्ये तु व्यूहोऽन्तरङ्गशास्त्रं, बहिरङ्गापोहनरूपत्वात्, तत्—निमित्तविनाशं दृष्ट्वा पूर्वमपि न कुर्वन्तीत्यर्थ इत्याहुः। इयं परिभाषा निष्फला निर्मूलेति परिभाषेन्दुशेखरे निरूपितम्।

इति परिभाषा प्रकरणम्

"अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः" इस परिभाषा के व्याख्यान के प्रसंग में पहले कैयटसम्मत व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं कि नहीं किया है विशिष्ट ऊह अर्थात् तर्क जिन्होंने, वे अकृतव्यूह कहे जाते हैं। ऊह शब्द यद्यपि अन्यत्र ज्ञान का वाचक है तथापि यहाँ पर निश्चीयमान कार्य विशेष की स्थिति ही ऊह पद से विवक्षित है। पाणिनिव्याकरण के ज्ञाता या अध्येता ऐसा ऊह नहीं करते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दण्डरूपी निमित्तकारण के नाश होने पर भी घट रूप कार्य की स्थिति रहती है, उसी प्रकार इस शास्त्र में निमित्तकारण के नष्ट हो जाने पर कार्य की स्थिति रूप ऊह पाणिनीय लोग नहीं करते हैं।

कैयट की इस व्याख्या का अनुसरण करते हुए दीक्षितजी ने कौमुदी में कहा है कि "निमित्तं विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्तीत्यर्थः"। अर्थात् पाणिनीय शास्त्र के ज्ञाता निमित्त-कारण को विनाशोन्मुख देखकर उस निमित्त के आधार पर होने वाला कार्य पहले ही नहीं करते हैं। जैसे "प्रतीचः" इस प्रयोग में "अच्" के अकार के भावी विनाश को देखते हुए तत्प्रयुक्त कार्य यण् पहले ही नहीं करते हैं।

यहाँ पर "कार्यं न कुर्वन्ति" इस वाक्य का अर्थ "कार्यं नोच्चारयन्ति" किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि किये गये कार्य का उच्चारण नहीं करते हैं अर्थात् किये गये कार्य की निवृत्ति कर देते हैं। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि निमित्त के नष्ट हो जाने पर नैमित्तिक (कार्य) भी नष्ट हो जाता है। "निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः" इस बात में इस कथन का पर्यवसान होता है। इस प्रकार यहाँ दो बातें सामने आती हैं—पहली बात तो यह कि निमित्त को विनाशोन्मुख देख कर तत्प्रयुक्त कार्य पहले ही नहीं किया जाता है। यह व्याख्या कौमुदीकार के अनुसार है। दूसरी बात यह है कि यदि कार्य पहले हो गया है और उसके बाद उसके निमित्त का विनाश हो रहा है तो वहाँ किया हुआ कार्य भी निवृत्त हो जाता है। वहाँ उसकी स्थिति नहीं रहती है। यह कैयटसम्मत व्याख्या है। अन्य आचार्यों का कहना है कि यहाँ व्यूह पद का अर्थ अन्तरङ्गशास्त्र है। अन्तरङ्गशास्त्र को व्यूह कहने का तात्पर्य यह है कि बहिरङ्गशास्त्र से अन्तरङ्गशास्त्र का अपोहन होता है। अपोहन का अभिप्राय यह है कि बहिरङ्गशास्त्र अन्तरङ्ग के निमित्त का विनाश करके उसे दूर कर देता है। जैसे उपर्युक्त "प्रतीचः" इसी उदाहरण में यदि अन्तरङ्ग यण् पहले हो जाता है तो पीछे बहिरङ्ग "अचः" सूत्र यण् के निमित्त अकार का विनाश कर देगा। यही बहिरंग के द्वारा अन्तरङ्ग का अपोहन है। इस व्याख्यान में "भाविनिमित्तविनाशे सति" इस पद का अध्याहार करके इस परिभाषा का अर्थ इस प्रकार

किया जाता है कि "बहिरङ्गशास्त्र के द्वारा अन्तरङ्ग के निमित्त के भावी विनाश को देख कर अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति पहले ही नहीं करते हैं।

नागेश के मतानुसार यह परिभाषा निष्फल और निर्मूल है। इसलिए यह परिभाषा है ही नहीं, यह बात परिभाषेन्दुशेखर में निरूपित है।

इस प्रकार नागेश भट्ट विरचित शब्देन्दुशेखर में प्राधान्येन सूत्रात्मक परिभाषाओं का प्रकरण समाप्त हुआ। पर-नित्य इत्यादि परिभाषाएँ तो यहाँ प्रसंगवश कह दी गई हैं।

इस प्रकार विश्वनाथ मिश्र कृत शब्देन्दुशेखर के परिभाषाप्रकरण की सुबोधिनी व्याख्या पूर्ण हुई।

अथ स्वरसन्धिप्रकरणम्

स्यादिति। कार्यशब्दवादे इदम्। संहितायां विषये इति। इदं कार्यिनिमित्तयोः संहितायां विषयभूतायामित्यर्थः। स्थानत इति। इदं यथासंख्यसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। 'जातिपक्षे यथासङ्ख्येनापि निर्वाह' इति स्थानेऽन्तरतमसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

अनुनासिकस्थानेऽपि निरनुनासिक एव, विधीयमानत्वेन सवर्णाग्राहकत्वात्। गुणाभेदकत्वपक्षोऽपि न विधेयाण्विषये। दीर्घादीनामिगादिपदैरुपस्थितये प्रत्याहारेषु जातिपक्ष एवेत्यणुदित्सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। अत एव सर्वतकारादीनां झल्त्वादिसिद्धिः। 'त्वादय' इत्यादिनिर्देशादयश्च जात्याश्रयणे मानमिति दिक्।

"इक् के स्थान में यण् हो अच् पर में रहने पर संहिता के विषय में"—यह अर्थ है "इको यणचि" सूत्र का। इस प्रकार के व्याख्यान से "इक्स्थानिक यण्कर्तृक भवन" की प्रतीति होती है, किन्तु यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि शब्द नित्य होते हैं, अतः इक् के स्थान पर यण् का होना कैसे सम्भव है? इस बात को लक्षित कर कह रहे हैं कि यह कथन कार्यशब्दवाद में है। कार्यशब्दवाद का अर्थ है—शब्दों का अनित्यत्व पक्ष। इसी पक्ष में यह कथन संगत हो सकता है कि इक् के स्थान पर यण् हो। शब्दनित्यत्ववाद में यह सम्भव नहीं है।

"संहितायाम्" इस पद में वैषयिक आधार में सप्तमी है। ऐसी स्थिति में यहाँ सप्तमी विभक्ति से ही विषय अर्थ की जब प्रतीति हो रही है तब "संहितायां विषये" ऐसा कह कर विषय अर्थ की पुनरुक्ति क्यों की गई है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "संहितायाम्" इस सप्तम्यन्त पद से प्रतीयमान जो अर्थ है, उसी की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए "संहितायां विषये" कहा गया है। इस बात को और स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि कार्यी और निमित्त की संहिता के विषयभूत होने पर इक् को यण् होता है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि कौमुदीकार की उक्ति "संहितायां विषये" में 'संहितायाम्' इस स्त्रीलिङ्ग पद का विशेषण "विषये" यह सप्तम्यन्त पद पुंलिंग में इसीलिए प्रयुक्त हुआ है कि यहाँ विषय शब्द अजहल्लिङ्ग नित्य पुल्लिंग है। इसीलिए नागेश भट्ट उसकी व्याख्या करते हुए कहा हैं कि "संहितायां विषयभूतायाम्"। यहाँ "संहितायाम्" इस स्त्रीलिंग का विशेषण बनाने के लिए ही 'विषये' की व्याख्या "विषयभूतायाम्" इस रूप में की गई है।

अब यह विचार कर रहे हैं कि इक् और यण्, स्थानी और आदेश दोनों समसंख्याक है। ऐसी स्थिति में "यथासंख्य" सूत्र से ही यहाँ कार्य चल सकता है तो "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जहाँ प्रत्याहार का ग्रहण

होता है वहाँ तद्वाच्यवाच्य में लक्षणा होती है। लक्षणा होने से इक् पद से छासठ तथा यण् पद से सात का बोध होता है। ऐसी स्थिति में यथासंख्य सूत्र से कार्य नहीं चल सकता है, इसलिए "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र से स्थानकृत आन्तर्य के द्वारा ईकार के स्थान पर यकार होता है। यह बात "यथासंख्य" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

अब यह शंका हो रही है कि "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र के भाष्य में कहा हुआ है कि इक् और यण् का स्थान्यादेश का क्रम यथासंख्य सूत्र से भी हो सकता है, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि यथासंख्य सूत्र से यहाँ कार्य नहीं चल सकता है। ऐसी स्थिति में "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्रस्थ भाष्य की संगति कैसे होगी? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि जातिपक्ष में यथासंख्य सूत्र से निर्वाह हो सकता है, क्योंकि इत्वादि चार जात्यवच्छिन्न के स्थान पर यत्वादि चार जात्यवच्छिन्न का आदेश क्रमशः हो जायेगा। इसी बात में "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्रस्थ भाष्य का तात्पर्य है।

"स्थानेऽन्तरतमः" इस परिभाषा की प्रवृत्ति "इको यणचि" सूत्र के विषय में स्वीकार करने पर यह शंका होती है कि "स्वौजस्" सूत्रघटक सु का उकार, जो अनुनासिक है, उसके स्थान पर स्थानकृत आन्तर्य के द्वारा अनुनासिक वकार क्यों नहीं होता? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि अनुनासिक के स्थान पर भी निरनुनासिक ही आदेश होगा, क्योंकि उसके (वकार के) विधीयमान होने के कारण भाव्यमान परिभाषा से सवर्णग्रहण का निषेध हो जायेगा। इसी प्रकार "गुणा अभेदकाः" इस परिभाषा के द्वारा भी यहाँ सवर्ण का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि विधेय अण् के विषय में उसकी भी प्रवृत्ति नहीं होती है। कारण यह है 'अणुदित्' सूत्रस्थ अप्रत्ययग्रहण या उससे ज्ञापित भाव्यमानपरिभाषा विधेय अण् के विषय में "गुणा अभेदकाः" का निषेध कर देते हैं। इस प्रकार अनुनासिक उकार के स्थान पर अनुनासिक वकार नहीं होता है।

कौमुदीकार ने इक् इत्यादि पदों से दीर्घादि के ग्रहण के लिए तद्वाच्यवाच्य में लक्षणा को स्वीकार किया है। नागेशभट्ट इस बात से असहमत हैं, इसीलिए कह रहे हैं कि इक् आदि पदों से दीर्घ आदि की उपस्थिति के लिए प्रत्याहारों में जातिपक्ष का ही अवलम्बन करना चाहिए। यह बात "अणुदित्" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। अत एव = प्रत्याहार में जातिपक्ष का आश्रयण करने से ही सभी तकारादि का झलादि प्रत्याहार में ग्रहण होता है। इसलिए "अवात्ताम्" प्रयोग की प्रक्रियादशा "अवात्-स्-ताम्" इस स्थिति में "झलो झलि" सूत्र के पञ्चम्यन्त "झलः" पद से तथा सप्तम्यन्त "झलि" पद से सकार के पूर्वोत्तरवर्ती दोनों तकार झल्त्वजात्याश्रयत्वेन गृहीत होते हैं और फलस्वरूप वहाँ सकार का लोप होता है। व्यक्तिपक्ष में यह बात सम्भव नहीं थी, क्योंकि वहाँ तो प्रत्येक व्यक्ति भिन्न होता है। प्रत्याहार में जातिपक्ष के आश्रयण में पाणिनि का "ल्वादिभ्यः" यह निर्देश भी प्रमाण है। अन्यथा दीर्घ ऊकार के इक् प्रत्याहार में न आने के कारण उसके स्थान पर यण् वकार कैसे होता? जातिपक्ष में तो उत्वावच्छिन्नत्वेन दीर्घ ऊकार भी ले लिया जाता है, जिसे यण् करके "ल्वादिभ्यः" यह निर्देश बनता है। इसलिए यहाँ जातिपक्ष ही उचित है, न कि लक्षणा।

व्याकरणस्य साध्वनुशासनत्वन्तु शब्दनित्यतापक्षे शब्दानां सिद्धत्वेन शास्त्रवैयर्थ्यापत्त्या 'मृजिप्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवती'त्यादिवृद्धिसञ्ज्ञासूत्रस्थ-

भाष्यप्रामाण्येन 'यदिह परिनिष्ठितत्वेन ज्ञाप्यं तत्साध्वि'त्यर्थापत्तिकल्प्यवाक्येन बोद्धव्यम्। कार्यशब्दवादे तु पूर्वभाष्योन्नीताऽनादितात्पर्यवशात्तत्कल्पनं बोद्धव्यम्। एतेन—स्थानत आन्तर्यादिति कथनेन स्थानप्रमाणोभयान्तरतमे ह्रस्वेकारे चरितार्थो यण् दीर्घे कथं स्यादित्यपास्तम्। स्थानत आन्तर्यस्य सर्वतो बलवत्त्वात्; 'स्थानेऽन्तरतमे' इति सप्तम्यन्तपाठस्य चैतद्दूषणेनैव भाष्ये दूषितत्वादिति भावः।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि "इको यणचि" इत्यादि विधायक सूत्र यत्किञ्चित् को उद्देश्य बनाकर किसी कार्य का विधान करते हैं। उदाहरण के लिए "इको यणचि" इक् के स्थान पर यण् का विधान करता है। ऐसी स्थिति में इस बात की संगति कैसे होगी कि "व्याकरणं साध्वनुशासनम्" अर्थात् व्याकरण साधुत्व का अनुशासन करता है। व्याकरण शब्द में करण में ल्युट् होने के कारण व्याकरण शब्द यहाँ सूत्र का वाचक है। सूत्र के द्वारा साधुत्व का अनुशासन होना चाहिए। यहाँ तो "इको यणचि" से यण् का अनुशासन किया जा रहा है। यण् कोई साधुत्व तो है नहीं। इसलिए "साध्वनुशासनं व्याकरणम्'' इस बात की संगति नहीं हो रही है? इस आशंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि व्याकरण के (सूत्रों के) साध्वनुशासनत्व का तात्पर्य यह है कि शब्द के सम्बन्ध में शब्दनित्यत्वाद और कार्यशब्दवाद ये दो मत चलते हैं। इनमें जब शब्दनित्यत्ववाद वाला पक्ष है तब तो शब्द नित्यसिद्ध हैं। ऐसी स्थिति में शास्त्र (सूत्र) की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार शास्त्र के वैयर्थ्य की आपत्ति होती है। इस आपत्ति के वारण के लिए अर्थापत्तिमूलक एक वाक्य की कल्पना की जाती है कि "इह = इस शास्त्र में परिनिष्ठितत्वेन अर्थात् अप्रवृत्त नित्यविधि के उद्देश्यतावच्छेदक से जो अनाक्रान्त है, वह साधु है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रयोग में किसी नित्यविधिशास्त्र की प्राप्ति नहीं है वह साधु है। जैसे "सुद्ध्युपास्यः" आदि प्रयोग परिनिष्ठित हैं, अतः साधु हैं। इस प्रकार शब्दनित्यतावाद में "इको यणचि" का सार्थक्य इस प्रकार होता है—अजव्यवहितपूर्वत्व-विशिष्ट इक् सहित "सुधी + उपास्यः" के उच्चारण के प्रसंग में यण्घटित "सुद्ध्युपास्यः" ऐसा उच्चारण करना चाहिए ऐसा बता कर "इको यणचि" सुधी + उपास्यः की निवृत्ति करा देता है और "सुद्ध्युपास्यः" का प्रयोग करवाता है। इस प्रकार असाधु प्रयोग के निवर्तन के लिए शास्त्र सार्थक होता है और उसका साध्वनुशासनत्व उपपन्न होता है।

यह उपर्युक्त कथन निराधार नहीं है, किन्तु इसमें भाष्य का प्रमाण भी है। भाष्यकार ने वृद्धिसंज्ञा सूत्र के भाष्य में कहा है कि "अकित्सु प्रत्ययेषु मृजेः प्रसंङ्गे मार्जिः साधुर्भवति" अर्थात् किद्भिन्न प्रत्यय पर में रहने पर मृज् की जगह 'मार्ज्' साधु होता है। यहाँ पर मार्ज् के द्वारा मृज् की व्यावृत्ति कराकर मार्ज् का साधुत्व बताया गया है। इस प्रकार व्याकरण (सूत्रों) का साध्वनुशासनत्व विधिवत् संगत होता है।

अब यह विचार हो रहा है कि शब्दनित्यत्ववाद में शास्त्र के वैयर्थ्य के वारण के लिए उपर्युक्त प्रकार से उसके सार्थक्य तथा साध्वनुशासनत्व का उपपादन किया गया, किन्तु मूलोक्त जो कार्यशब्दवाद है, उस समय तो यण् रूपी अपूर्व कार्य को करके जब सूत्र सार्थक है तब तो शब्दनित्यत्ववाद की भाँति इस पक्ष में अर्थापत्तिमूलक वाक्य की कल्पना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में इस पक्ष में साध्वनुशासनत्व का उपपादन कैसे होगा? इस शंका के उत्तर में

कह रहे हैं कि कार्यशब्दवाद में पूर्वभाष्य ('मृजि प्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवतीति'—वृद्धिसंज्ञासूत्रस्थ भाष्य) से साधुत्वविषयक अनादितात्पर्य की कल्पना की जाती है। भाव यह है कि उक्त भाष्य से यह कल्पना की जाती है कि शब्दों के साधुत्व को बताने में शास्त्र का अनादितात्पर्य है। उसी तात्पर्य के बल से तत्कल्पनम् = साध्वनुशासनत्व की कल्पना कर ली जाती है।

इस सूत्र में इक् पद से दीर्घादि के ग्रहण के लिए तथा सभी तकारादि वर्णों के झल्त्व की सिद्धि के लिए यहाँ सभी प्रत्याहारों में जातिपक्ष का ही आश्रयण किया गया है। एतेन = जातिपक्ष का आश्रयण करने से वे लोग परास्त हो गये, जो यह कहते थे कि तालुस्थान तथा मात्राद्वयन्यून-कालिकत्व रूप प्रमाणकृत आन्तरतम्य से "इको यणचि" सूत्र से विधेय यण् ह्रस्व इकार में चरितार्थ हो चुका है तो वह दीर्घ ईकार में कैसे प्रवृत्त होगा? उनके ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि "स्थानेऽन्तरतम उरण्रपरः" इस संहितापाठ में दो प्रकार का सन्धिविच्छेद होता है। एक प्रकार में तो "अन्तरतमः" यह प्रथमान्त पाठ रहता है और दूसरे प्रकार में "अन्तरतमे" यह सप्तम्यन्त पाठ रहता है। प्रथमान्त पाठ आदेश का तथा सप्तम्यन्त पाठ स्थानी का विशेषण होता है, इसलिए प्रथमान्त पाठ में स्थानी के अनुरोध से आदेश में संकोच किया जाता है। फलस्वरूप स्थानी का अन्तरतम आदेश होता है। सप्तम्यन्त पाठ में "अन्तरतमे" यह पद स्थानी का विशेषण होता है। इस पक्ष में आदेश के अनुसार स्थानी में संकोच होता है। इस पक्ष में यण् रूपी आदेश उसी स्थानी के स्थान पर होगा जो उसका अन्तरतम हो। ऐसी स्थिति में स्थान तथा मात्राद्वयन्यूनकालिकत्व रूप प्रमाणकृत आन्तर्य के बल से यण् ह्रस्व इकार के स्थान पर ही होगा, दीर्घ ईकार के स्थान पर नहीं होगा। यह है पूर्वपक्षी का तात्पर्य, जो जातिपक्ष को नहीं मानता। किन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि सर्वविध प्रत्याहारों के लिए यहाँ जातिपक्ष का मानना ही उचित है तो इत्वावच्छिन्न चाहे ह्रस्व हो या दीर्घ, सबके स्थान पर यत्वावच्छिन्न का होना निर्बाध है। इसलिए दीर्घ ईकार के स्थान पर यण् की अनापत्ति की आशंका करने वाले परास्त हैं। दूसरी बात यह है कि स्थानकृत आन्तर्य ही सभी आन्तर्यों में बलवान् है। इसका परिणाम यह है कि दीर्घ ईकार के स्थान पर केवल स्थानकृत आन्तर्य के आधार पर यण् की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है। दूसरी बात यह है कि "अन्तरतमे स्थानिनि" इस रूप में जो सप्तम्यन्त पाठ है, जिसमें आदेश के अनुरूप स्थानी की अपेक्षा होती है, वह सप्तम्यन्त पाठ दीर्घ ईकारादि में यण् की सिद्धि नहीं होने से भाष्यकार के द्वारा दूषित कर दिया गया है। इसलिए इस दूषित पक्ष के आधार पर दीर्घ ईकार में यण् के अभाव की आशंका करने वाले परास्त ही हैं।

चो विध्यर्थः। ध्वनितञ्चेदमेओङ्सूत्रे भाष्ये, तदाह—द्वे वा स्त इति। सूत्रकृता शाकल्यमते सर्वत्र द्वित्वाभावोक्तेरिति भावः। अवसाने द्वित्वसिद्धयेऽनचीति प्रसज्यप्रतिषेधस्तदाह--न त्वचीति। इदं द्वित्वं षाष्ठद्वित्ववद्द्विःप्रयोग एव। यर इत्यादेरध्याहृतोच्चारणक्रियानिरूपितकर्मषष्ठीत्वस्यौचित्यात्। इति धस्येति। न तु द्वित्वे पूर्वधस्थाने जश्त्वनिष्पन्नदस्यापि, 'लक्ष्ये लक्षणमि'ति न्यायात्। विकारान्यत्वेन न लक्ष्यभेद इत्यन्यत्र प्रपञ्चितम्।

"अनचि च" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि इस सूत्र में जो चकार है वह विध्यर्थक है। चकार इस अंश के द्वारा यह विधिसूत्र है। इसका विधित्व इस प्रकार होता है कि "यरोऽनुनासिके" इस सूत्र से "यरः" इस षष्ठ्यन्त पद की तथा "वा" इस अव्यय पद की यहाँ अनुवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त "अचो रहाभ्याम्" इस सूत्र से "अचः" इस पञ्चम्यन्त पद की तथा "द्वे" इस पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार अच् से पर में रहने वाले यर् को वैकल्पिक द्वित्वविधान करने के कारण यह विधिसूत्र है, इस बात को सूत्रघटक चकार बतलाता है। इदम् = यह आष्टमिक वर्णद्वित्व की बात "एओङ्" सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। किन्तु "एओङ्" सूत्र के भाष्य में "अनचि च" सूत्र की विध्यर्थता के विषय में भाष्यकार ने कुछ न कहकर 'हयवरट्' सूत्र के भाष्य में कहा है कि अयोगवाहों का वर्णसमाम्नाय में पाठ करना चाहिए। इस पाठ का प्रयोजन क्या है? इस बात का उत्तर देते हुए भाष्यकार ने कहा कि "संयोगोपधासंज्ञाऽलोन्त्यविधिद्विर्वचनस्थानिवद्भाव प्रतिषेधाः" इस प्रकार कह कर द्विर्वचन का प्रयोजन बताते हुए भाष्यकार ने कहा कि "द्विर्वचनं प्रयोजनम्—उर कः, उरः पः "अनचि च" "अच उत्तरस्य यरो द्वे भवतः" इति द्विर्वचनं सिद्धं भवति"। इस प्रकार इस सूत्र का विधित्व स्पष्ट है, किन्तु यह बात "एओङ्" सूत्र के भाष्य में न होने के कारण यह नागेशोक्ति कैसे संगत होगी कि यह बात "एओङ्" सूत्र के भाष्य में ध्वनित है? इस शंका के उत्तर में विवेचकों का कहना है कि "एओङ् सूत्रं यस्मिन् आह्निके तद्घटक 'हयवरट्' सूत्रभाष्ये" अर्थात् "एओङ्" सूत्र के आह्निक वाले "हयवरट्" सूत्र के भाष्य में यह बात ध्वनित है।

इस सूत्र में "यरोऽनुनासिके" इस सूत्र से "वा" पद की अनुवृत्ति आती है, इस बात में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि सूत्रकार ने "सर्वत्र शाकल्यस्य" इस सूत्र के द्वारा शाकल्य के मतानुसार सभी जगह द्वित्वाभाव को कहा है। अर्थात् सभी द्वित्व शाकल्य के मत से नहीं होते हैं। इस प्रकार द्वित्व का वैकल्पिक निषेध किया गया है। निषेध-विकल्प का पर्यवसान विधि-विकल्प में ही होता है। इसी उद्देश्य से वैकल्पिक द्वित्वविधान के लिए "अनचि च" इस सूत्र में "वा" पद की अनुवृत्ति करके वैकल्पिक द्वित्वविधान किया जाता है।

सूत्रघटक "अनचि" इस पद पर विचार करते हुए कह रहे हैं कि अवसान में द्वित्व की सिद्धि के लिए "अनचि " यह पर्युदास न होकर प्रसज्यप्रतिषेध है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि यहाँ "न अच् अनच्, तस्मिन् अनचि" इस प्रकार की व्युत्पत्ति करके नञ् को पर्युदास मानते हैं तब तो अर्थ होगा कि "अच्भिन्न अच्सदृश = हल् वर्ण पर में रहने पर अच् से पर में यर् को द्वित्व विकल्प हो। ऐसा अर्थ करने पर अवसान में जहाँ यर् से पर में हल् वर्ण नहीं है, ऐसे "वाक्" इस प्रयोग में ककार को द्वित्व-विकल्प नहीं हो सकेगा। परिणाम-स्वरूप "वाक्क्" इस ककारद्वयघटित रूप की निष्पत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिए यहाँ पर्युदास न मान कर "अचि सति द्वित्वं न भवति" इस रूप में असमर्थसमासपुरःसर प्रसज्यप्रतिषेध माना गया है। इसीलिए कौमुदी में कहा गया है कि "न त्वचि" अर्थात् अच् पर में रहने पर यर् को द्वित्व नहीं होता है।

अब यह विचार हो रहा है कि जिस प्रकार "एकाचो द्वे प्रथमस्य"(६ ।१ ।१) इस छठे अध्याय के अधिकार में "लिटि धातोः"(६ ।१ ।८) से विहित द्वित्व द्विः प्रयोग रूप होता है, न

कि आदेश रूप होता है; उसी प्रकार "अनचि च" इत्यादि सूत्रों (८।४।४६) से विहित आष्टमिक द्वित्व भी द्विः प्रयोग रूप ही होना चाहिए। षाष्ठद्वित्व को आदेश रूप इसलिए नहीं मान सकते कि वस्, नस् जो षष्ठी के बहुवचन में युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर आदेश होतें हैं वहाँ जिस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय के विभाग का विलीनीकरण हो जाता है उसी प्रकार छठे अध्याय के द्वित्व को आदेश रूप मानने पर "चङि" (६।१।११) सूत्र से द्वित्व करने पर "आटिटत्" प्रयोग में प्रकृति-प्रत्यय विभाग का स्पष्टीकरण न हो सकेगा। परिणाम यह होगा कि इस प्रयोग में णिलोप की अनापत्ति हो जायेगी। इसलिए छठे अध्याय का द्वित्व आदेश रूप न होकर उसे द्विः प्रयोग रूप माना गया है। इसी प्रकार क्या प्रस्तुत स्थल में आष्टमिक द्वित्व भी द्विः प्रयोगरूप है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि आष्टमिक द्वित्व भी षाष्ठद्वित्व की भाँति द्विः प्रयोग रूप ही है। इसका कारण बताते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि यहाँ "यरः" इस पद में जो षष्ठी है उसके सम्बन्ध में दो विकल्प हो सकते हैं। पहला तो यह कि यहाँ स्थान पद का अध्याहार करके स्थानपदार्थनिरूपित सम्बन्धबोधिका षष्ठी मानी जाय अथवा उच्चारण क्रिया का अध्याहार करके उच्चारण शब्द में भाव में ल्युट् होने से कर्म के अनुक्त होने के कारण कर्मषष्ठी मानी जाय? इस प्रकार के विकल्प होने पर "उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी" इस नियम से यहाँ कर्म में ही षष्ठी का औचित्य सिद्ध होता है। इस प्रकार 'यर्कर्मक द्विरुच्चारण' ऐसा बोध होने से इस आष्टमिक द्वित्व का द्विः प्रयोगरूपत्व सिद्ध होता है।

आष्टमिक द्वित्व को आदेश रूप मानने पर यह दोष भी है कि "दधिस्यति" इस प्रयोग में क्यच् प्रत्यय करने पर तथा "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्यचि लालसायाम्" इस वार्तिक से सुक् का आगम हो जाने पर "अनचि च" सूत्र से सकार को जब द्वित्व आदेश कर दिया जायेगा तब आदिष्ट सकार को "आदेशप्रत्यययोः" सूत्र से षत्व की आपत्ति होने लगेगी।

"सुध्य् + उपास्यः" इस स्थिति में "अनचि च" सूत्र से धकार को द्वित्व होता है। इसके बाद पूर्वधकार को जश्त्वेन दकार किया जाता है। इस जश्त्वनिष्पन्न दकार के स्थान पर "अनचि च" सूत्र से पुनः द्वित्व नहीं होता है, क्योंकि "लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते" इस परिभाषा से यहाँ पुनर्द्वित्व की प्रवृत्ति नहीं होती।

यदि कहा जाय कि पहले धकार को द्वित्व हुआ था और अब दकार को द्वित्व की प्राप्ति है, इसलिए लक्ष्यभेद होने से पुनः द्वित्व होना चाहिए, तो इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि विकारकृत अन्यत्व के आधार पर लक्ष्यभेद नहीं माना जाता है। यह बात अन्यत्र = शब्दरत्न आदि में विस्तार से कही गई है।

स्थान्यादेशयोर्भेदात्स्वं रूपमित्युक्तेश्च—'तत्स्थानापन्नस्तद्धर्मं लभते, यथा गुरोः स्थाने शिष्यो याज्यकुलानि गत्वाऽग्रासनादीनि लभते' इति लोकन्यायेन स्थानिकार्यमादेशे न स्यादतः स्थानिवत्सूत्रम्। न तु स्थान्यलेति। प्रत्यासत्तिन्यायलब्धमिदम्।

"स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" इस सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में पहले इस सूत्र की आवश्यकता बताते हुए कह रहे हैं कि यह सूत्र आदेश को स्थानी के तुल्य बनाता है। स्थानिवृत्तिधर्म के आधार पर जो कार्य किया जाता है वह कार्य आदेश होने पर उसमें तद्धर्म के आरोप से (स्थानी

के धर्म के आरोप से) कर लेना चाहिए। यही इस सूत्र का अर्थ है। अब यहाँ यह शंका होती है कि एक लौकिक न्याय है–"तत्स्थानापन्नस्तद्धर्मं लभते" अर्थात् जिसके स्थान पर जो जाता है वह उसके धर्म को प्राप्त करता है। जैसे गुरु के स्थान पर याज्य कुल में गया हुआ शिष्य गुरु-निष्ठ धर्म अग्रासन लाभ कर्तृत्वादि को प्राप्त करता है, उसी प्रकार इस न्याय से आदेश भी स्थानी के धर्म को प्राप्त कर सकता है। ऐसी स्थिति में इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार सूत्र के वैयर्थ्य के सम्बन्ध में किये गये प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि लौकिक न्याय से तत्स्थानापन्न यद्यपि तद्धर्म का लाभ कर लेता है तथापि जिसके स्थान पर वह नियुक्त है उसके स्वरूपाश्रित कार्य वह नहीं कर सकता है। याजनार्थ गुरु के स्थान पर नियुक्त शिष्य याज्यकुल में जाकर केवल अग्रासन आदि का ही लाभ प्राप्त करता है। वह गुरु के स्वरूपाश्रित कार्य उच्छिष्ट भोजन करने के लिए शिष्य को प्रेरित करना, पादसंवाहन आदि का लाभ नहीं करता है। इससे स्पष्ट होता है कि लौकिक न्याय से स्वरूपाश्रित कार्य—नहीं होते हैं। इस शास्त्र में "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" नामक एक सूत्र है। इसके द्वारा शब्द अपने स्वरूप का ही बोधक होता है। ऐसी स्थिति में "आङोयमहनः" इस सूत्र से विहित आत्मनेपद 'हन्' इस स्वरूप से होगा न कि "अवधिष्ट" इस प्रयोग में वध इस आदेश से भी हो सकेगा। लौकिक न्याय से यहाँ कार्य नहीं चलेगा। क्योंकि स्वरूपाश्रित कार्य कराने में उसकी गति नहीं है। इसलिए स्वरूपाश्रित कार्य भी आदेश में हो सके इसके लिए "स्थानिवत्" सूत्र आवश्यक है।

मूल शेखर में कहा गया है कि "स्थान्यादेशयोर्भेदात्, स्वं रूपम् इत्युक्तेश्च" यहाँ पर चकार का प्रयोग हेतु में किया गया है। तात्पर्य यह है कि यतः "स्वं रूपम्" यह उक्ति है इसलिए स्थानी और आदेश में भेद है, इसलिए स्थानी का कार्य आदेश में कराने के लिए स्थानिवत् सूत्र की सार्थकता होती है।

दीक्षितजी ने कौमुदी में "अनल्विधौ" का अर्थ "न तु स्थान्यलाश्रयविधौ" किया है। स्थानी सम्बन्धी जो अल् है, तदाश्रय विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है। इस प्रकार के व्याख्यान से स्पष्ट है कि "अनल्विधौ" इस पदघटक अल् से कौमुदीकार ने स्थानी सम्बन्धी अल् का ग्रहण किया है। प्रश्न होता है कि यहाँ स्थानी सम्बन्धी अल् का ग्रहण कैसे किया गया है? शेखरकार इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "प्रत्यासत्तिन्यायलब्धमिदम्" अर्थात् कौमुदीकार का यह कथन प्रत्यासत्ति न्याय से लब्ध है। प्रत्यासत्ति का अर्थ है—सामीप्य। पूर्ववाक्य में श्रूयमाण पद यदि उत्तरवाक्य में आकांक्षा का पूरक होता है तो वहाँ उसी समीपस्थ पद का अनुषंग करना चाहिए। अनुषंग का अर्थ परामर्श है। इसी न्याय के आधार पर यहाँ पूर्ववाक्य "स्थानिवदादेशः" से स्थानी का अनुषंग करके कौमुदीकार ने कहा है—"न तु स्थान्यलाश्रयविधौ"। यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि सूत्र में "अनल्विधौ" इस पद के समीप में तो आदेश पद है। ऐसी स्थिति में आदेश का अनुषंग न करके स्थानी का अनुषंग क्यों किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि "पाठक्रमादार्थक्रमो बलीयान्" अर्थात् पाठक्रम से आर्थक्रम बलवान् होता है। जैसे वैदिक विधान में प्रयोग आता है—"अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति"। यहाँ पाठक्रम में अग्निहोत्र का प्रथम विधान किया गया है और यवागू पाक का पश्चात् विधान किया गया है, किन्तु बिना यवागू पाक के अग्निहोत्र कैसे होगा? इसलिए

यहाँ पाठक्रम की अपेक्षा आर्थक्रम की बलवत्ता के आधार पर पहले यवागू पाक होता है और पीछे अग्निहोत्र होता है। इसी प्रकार प्रस्तुत में यद्यपि "स्थानिवदादेशः" इस पाठक्रम में आदेश के साथ ही अल् की प्रत्यासत्ति है, तथापि "आदेशः स्थानिवत्" इस आर्थक्रम में स्थानी के साथ अल् की प्रत्यासत्ति होती है। इसी प्रत्यासत्ति के आधार पर दीक्षितजी ने कौमुदी में कहा है—"न तु स्थान्यलाश्रयविधौ"

आदेशस्य स्थानिभूतो योऽल्—तत्स्थानिसम्बन्धी च योऽल्—तद्वृत्तिधर्माश्रये नेत्यर्थः।

अत एव रेफस्थानिकविसर्गस्य रुशब्दत्वं न स्थानिवत्त्वेनेति 'भोभगो' इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्। ऋधातोर्द्वित्वेऽभ्यासस्योरदत्त्वेऽरित्यस्य हलादिःशेषस्तु—अरित्यस्य पुनः 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यनेनाभ्यासत्वात्। तस्यापि द्विरुक्तधातुपूर्वभागत्वात्। प्रक्रियाज्ञानवतां तथा ज्ञानस्य सुलभत्वात्।

अत एव धिन्वन्तीत्यादाविण्न, उकारवृत्त्यार्धधातुकत्वस्य वकारेऽनतिदेशात्।

यत्त्वत्रेण्निवृत्तये स्वविधावपि स्थानिवत्त्वमपरविधाविति न्यासेन साधितं भाष्ये, सा त्वेकदेश्युक्तिः, असिद्धवत्सूत्रेण सिद्धस्याऽऽयन्नासन्नित्यादेस्तत्फलत्वेनोपन्यासात्। अस्यापि 'अचः पूर्वत्वविज्ञानादि'ति वार्तिके पञ्चमीसमासेन सिद्धेः कैयटेनोक्तत्वाच्च।

सूत्र में आये हुए "अनल्विधौ" इस पद का अर्थ करते हुए कह रहे हैं कि आदेश का स्थानिभूत (स्थानिरूप) जो अल् अथवा आदेश का स्थानिसम्बन्धी जो अल्, तद्वृत्ति जो धर्म, तदाश्रय विधि अर्थात् तन्निमित्तक विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

इन दोनों प्रकार के अर्थों में पहला अर्थ नागेशभट्ट के अनुसार है और दूसरा अर्थ प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार है। इन दोनों अर्थों में मुख्य भेद यह है कि पहले अर्थ के अनुसार स्थानिवद्भाव का निषेध वहीं होगा जहाँ अल्रूपी स्थानी होगा। उस अल्रूपी स्थानी में रहने वाला जो धर्म वह धर्म अल्वृत्ति है या अनल्वृत्ति है, इस बात पर विचार नहीं किया जाता है। स्थानी रूपी अल् वृत्ति धर्म चाहे जैसा भी हो तन्निमित्तक विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है। उदाहरण के लिए "धिन्वन्ति" इस प्रयोग को लिया जा सकता है। यहाँ "धिन्-उअन्ति" इस स्थिति में उकार को वकार यण् करने पर उकारवृत्ति आर्धधातकत्व स्थानिवद्भाव से वकार में लाकर इट् का आगम नहीं किया जा सकता है। कारण यह है कि स्थानीरूप अल् उकार वृत्ति धर्म आर्धधातुकत्व जो तास्-स्य आदि अनल्वृत्ति धर्म भी है, तन्निमित्तक इट्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। परिणामस्वरूप यहाँ इट् का आगम नहीं होता है।

दूसरा अर्थ जिसमें स्थानी पद की स्थान्यवयव में लक्षणा करके स्थान्यवयवाल्वृत्तिधर्मनिमित्तक विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया गया है, इस प्राचीनाभिमत अर्थ के अनुसार स्थान्यवयवाल्वृत्तिधर्म का अल्मात्रवृत्ति होना आवश्यक है। इस मत के अनुसार "धिन्वन्ति" प्रयोग में स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं हो सकेगा, क्योंकि उकारवृत्ति आर्धधातुकत्व अल्-

मात्र वृत्तिधर्म नहीं है। परिणाम यह होगा कि "धिन्वन्ति" प्रयोग में इट् की आपत्ति हो जायेगी।

नागेश भट्ट इस प्राचीनाभिमत अर्थ को नहीं मानते हों ऐसी बात नहीं है। वे इस अर्थ को मानते हुए भी इसमें आई हुई कमी को देखकर इस अर्थ के अतिरिक्त पहले अर्थ को भी मानते हैं। इस प्रकार नागेश के अनुसार "अनल्विधौ" इस पद के दो अर्थ होते हैं। इन दोनों अर्थों के ऊपर विचार इस पुस्तक की भूमिका में भी किया गया है।

अत एव = "आदेश का स्थानीरूपी जो अल्, तद्वृत्तिधर्मनिमित्तक विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है" इस प्रथम अर्थ को स्वीकार करने से ही रेफस्थानिक विसर्ग को स्थानिवद्भाव से रु शब्द नहीं माना जा सका। अर्थात् विसर्ग में स्थानिवद्भाव से रुत्व नहीं आ सका। यह बात "भोभगो" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ का प्रसंग इस प्रकार है—भाष्यकार ने वहाँ विचार किया कि "अशि किम्?" = "भोभगो" इस सूत्र में "अशि" पद का क्या फल है? इस शंका के उत्तर में कहा कि "देवाः सन्ति" इस प्रयोग में सकार को रुत्व, अनुबन्धलोप और रकार को विसर्ग करने के बाद विसर्ग में स्थानिवद्भाव से रुत्व लाकर उसे यत्व नहीं होता है, क्योंकि "अनल्विधौ" से यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। यहाँ स्थानी रूप अल् रकार है, तद्वृत्तिधर्म रुत्व है, क्योंकि बोधकवृत्तिधर्म का बोध्य में आरोप होता है। रुत्वेन बोध्य जो रकार है उसमें बोधक रुकार के धर्म रुत्व का आरोप करके रकार को रुत्व-बुद्धि से ही यत्व किया जाता है। इस प्रकार स्थानिरूप अल् रकारवृत्तिधर्म रुत्वनिमित्तक यत्वविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने के कारण यहाँ यत्व नहीं होता। अन्यथा केवल प्राचीना-भिमत अर्थ के रहने पर स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता, क्योंकि रुत्वधर्म अल्मात्रवृत्ति-धर्म नहीं है। ऐसी स्थिति में अश्ग्रहण न करने पर यत्वापत्ति दुर्वार हो जाती। वस्तुतस्तु प्रथम अर्थ के आधार पर वहाँ अश्ग्रहण व्यर्थ ही है।

नवीनाभिमत प्रथम अर्थ को स्वीकार करने पर एक समस्या यह आती है कि "ऋ धातु से लिट् लकार, णल्, द्वित्व, अभ्यास में उरदत्व करने पर "अर्-ऋ-अ" इस स्थिति में स्थानिरूप अल् ऋकारवृत्ति अभ्यासत्व स्थानिवद्भाव से अर् में नहीं आ सकेगा, क्योंकि "अनल्विधौ" से निषेध हो जायेगा। प्राचीनाभिमत अर्थ के अनुसार तो स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होगा, क्योंकि उनके अनुसार स्थान्यवयवाल्वृत्तिधर्म को अल्मात्र वृत्ति होना आवश्यक है। अभ्यासत्व अल्मात्र वृत्तिधर्म नहीं है। इस प्रकार इस मत के अनुसार अभ्यासत्व आ जायेगा, इसीलिए यही मत युक्त प्रतीत होता है। नागेश भट्ट इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि संज्ञा किसी कार्य के लिए की जाती है। कार्य के भिन्न होने पर तत्प्रयोजक संज्ञा भी भिन्न हो जाती है, क्योंकि जो प्रधान कार्य है तदनुरोधेन संज्ञा को भिन्न होना पड़ता है। प्रस्तुत स्थल में "अर्-ऋ-अ" इस स्थिति को बनाने के लिए एक बार अभ्यास संज्ञा की जा चुकी है, अब दूसरी बार "हलादिः शेषः" सूत्र से आदि हल् को शेष करने के लिए पुनः अभ्यास संज्ञा करनी है। यह अभ्यास संज्ञा हलादि शेष रूपी कार्य के कारण भिन्न है। इसलिए "अर्-ऋ-अ" इस स्थिति में "अर्" इस अंश की पुनः अभ्यास संज्ञा कर ली जाती है। "पूर्वोऽभ्यासः" सूत्र का अर्थ है—"द्वित्वशास्त्रीयविधेयताश्रय-द्वित्वशास्त्रीयोद्देश्यताश्रयैतदुभयमात्रारब्धसमुदायघटको यो द्वित्वशास्त्रीयविधेयताश्रयावधिकपूर्वत्वविशिष्टः सोऽभ्याससंज्ञको भवति"। यहाँ यह बात ध्यातव्य

है कि द्वित्वशास्त्र की विधेयता उत्तरखण्ड में रहती है। इस प्रकार की विधेयता यहाँ "ऋ" इस अंश में है, उससे पूर्वत्वविशिष्टत्व "अर्" इस अंश में है ही। इस प्रकार "तस्य" = अर् इस भाग को द्विरुक्त धातु का पूर्वभाग होने के कारण इसकी अभ्याससंज्ञा हो जाती है, जिससे हलादि शेष हो जाता है। प्रक्रियाज्ञान वालों को "अर्" में द्विरुक्त धातु के पूर्वभागत्व का ज्ञान सुलभ ही है। यहाँ लक्ष्यभेद होने के कारण "लक्ष्ये लक्षण" न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। अत एव = नव्यसम्मत प्रथम अर्थ को स्वीकार करने से ही "धिन्वन्ति" इस प्रयोग में उप्रत्ययवृत्ति आर्धधातुकत्व के स्थानिवद्भाव से न आ सकने के कारण वलादि आर्धधातुकनिमित्तक इट् नहीं होता है। आर्धधातुकत्व स्थानिभूत उकारवृत्ति अल्वृत्तिधर्म है, इसलिए स्थानिवत्त्वेन उसका अतिदेश नहीं होता है।

इस प्रकार के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नवीन के मत को स्वीकार करने का असाधारण फल "धिन्वन्ति" प्रयोग है। इस प्रयोग में इट् का वारण करना ही है। यदि यह कार्य किसी प्रकार हो जाय तो नव्य मत अनावश्यक हो सकता है। वह प्रकारान्तर इस प्रकार है कि "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" की जगह "अचः परस्मिन्नपरविधौ" ऐसा न्यास भाष्यकार ने किया है। इस न्यास से परविधि में "स्थानिवद्भाव नहीं होता है" यह बात विदित होती है। इससे फलितार्थ यह निकलता है कि स्थानीभूत अच् से पूर्व की विधि हो या स्वविधि (स्थानीभूत अच्निमित्तक विधि) हो वहाँ स्थानिवद्भाव होता है। "धिन्वन्ति" प्रयोग में परनिमित्तक अजादेश यणादेश है, वह स्वविधि = स्थानिभूत अच्वृत्तिधर्म आर्धधातुकत्वनिमित्तक इट्विधि में स्थानिवद्भाव को प्राप्त कर लेगा अर्थात् वकार उकारवत् हो जायेगा। ऐसी स्थिति में वलादित्व के अभाव के कारण ही यहाँ इट् की प्राप्ति नहीं है। इसलिए "धिन्वन्ति" प्रयोग बनाने के लिए नवीन मत (प्रथम मत) की क्या आवश्यकता है?

नागेश भट्ट इस बात का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि "अपरविधौ" इस न्यास के द्वारा "धिन्वन्ति" प्रयोग में जो इट् की निवृत्ति की बात भाष्य में कही गई है, वह भाष्य एकदेशी भाष्य है, सिद्धान्ती भाष्य नहीं है। वह भाष्य कैसे एकदेशी है? इस बात को स्पष्ट करते हुए नागेश कह रहे हैं कि "आयन्" और "आसन्" इन दोनों प्रयोगों में स्वविधौ स्थानिवद्भाव के द्वारा आट् का आगम करने के लिए "अपरविधौ" ऐसा न्यास किया गया है। इन दोनों प्रयोगों में "आयन्" यह प्रयोग इण् धातु के लङ् लकार प्रथमपुरुष के बहुवचन में बनता है। 'आसन्' यह प्रयोग अस् धातु के लुङ् लकार प्रथमपुरुष बहुवचन का रूप है। इनमें पहले प्रयोग में आट् के आगम से पहले "इणो यण्" सूत्र से इकार को यण् हो जाता है। "आसन्" इस प्रयोग में आट् के आगम से पूर्व "श्नसोरल्लोपः" सूत्र से अस् के अकार का लोप हो जाता है। दोनों जगह जब अकार रहता ही नहीं तब अजादि धातु के अभाव में आट् कैसे हो? इस शंका को दूर करने के लिए स्वविधि में स्थानिवद्भाव किया गया है। यण् और लोप रूप आदेश का स्थानीभूत जो अकारद्वय हैं उन दोनों में रहने वाला धर्म अच्त्वधर्म है, एतादृश अच्त्वनिमित्तक अजादि धातुप्रयुक्त आट् का आगम यहाँ स्वविधि में स्थानिवद्भाव के द्वारा किया जाता है। किन्तु यह बात इसलिये ठीक नहीं है कि "आडजादीनाम्" यह आट्-विधायक सूत्र पूर्व-आभीय है और यण् और लोप विधायक सूत्र पर-आभीय हैं। इनका क्रम

इस प्रकार है—"आडजादीनाम्" (६।४।७२) "इणो यण्" (६।४।८१) "श्नसोरल्लोपः" (६।४।१११) इस प्रकार पूर्व-आभीय आडागम की दृष्टि में पर-आभीय "असिद्धवत्" सूत्र से असिद्ध हो जायेंगे तब उक्त दोनों प्रयोगों में धातु का अजादित्व स्वयं सिद्ध होने के कारण आट् का आगम भी निर्बाध है। इस प्रकार आट् का आगम जब सुतरां सिद्ध है तब इसके लिए "स्वविधौ स्थानिवद्भाव" करने की क्या आवश्यकता है? इससे स्पष्ट हो जाता है कि "अपरविधौ" यह न्यास एकदेशी की उक्ति है। इस प्रकार के एकदेशी भाष्य से "धिन्वन्ति" प्रयोग में इट् का निवारण करना उचित नहीं है। इसलिए यहाँ इट् की निवृत्ति के लिए नवीन मत (प्रथम मत) ही आवश्यक है।

यदि कहा जाय कि "आयन्" और "आसन्" ये दोनों प्रयोग "स्वविधौ स्थानिवद्भावः" के उदाहरण भले ही न हों किन्तु "धिन्वन्ति" प्रयोग तो उसका उदाहरण हो ही सकता है। ऐसी स्थिति में नवीन मत की क्या आवश्यकता है? इस शंका के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि "अचः पूर्वत्वविज्ञानात्" इस वार्तिक के व्याख्यान के अवसर पर "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" इस सूत्रघटक "पूर्वविधौ" इस पद में "पूर्वस्मात् विधिः पूर्वविधिः" इस प्रकार पञ्चमी समास करके परनिमित्तक अजादेश को उस स्थिति में स्थानिवद्भाव किया गया है जब उस स्थानिभूत अच् से पूर्वत्वेन दृष्ट से पर को यदि विधि करनी हो। "धिन्वन्ति" प्रयोग में स्थानिभूत अच् उकार से पूर्वत्वेन दृष्ट "धिन्" यह अंश होता है, इससे पर वकार को इडागम करने में स्थानिवद्भाव हो जायेगा। फलस्वरूप वलादित्वाभावात् इट् की प्राप्ति न होने से अस्यापि = "धिन्वन्ति" इस प्रयोग की भी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार "धिन्वन्ति" प्रयोग भी "स्वविधौ स्थानिवद्भावः" का उदाहरण नहीं बन सकता है। यह बात कैयट ने कही है। इस प्रकार "धिन्वन्ति" प्रयोग के लिए नवीन का मत आवश्यक है।

प्रदीव्येत्यादौ च वलादिलक्षण इण्न। 'स्थान्यलि'त्युक्तेर्बभूविवेत्यादौ वलादिलक्षणेट्सद्धिः। न हि तत्र वलादित्वं स्थानितो लभ्यं, किन्तु स्वाश्रयमेव। यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तावतिदेशो मृग्यते तस्य निमित्तस्य स्थान्यल्साधारणधर्मत्व एव निषेधप्रवृत्तेः। प्रकृते चाऽऽर्द्धधातुकत्ववैकल्य-प्रयुक्ताऽप्राप्तिर्न तत्स्थान्यल्साधारणं, यच्च तादृशवल्त्वघटितं वलादित्वं न तद्वैकल्यप्रयुक्ताऽप्राप्तिरिति बोद्धव्यम्।

प्रत्यासत्त्या च शास्त्रीयकार्ये एव स्थानिवत्त्वं, तेन—नायकसिद्धिः।

"अनल्विधौ" इस पद के प्रथम अर्थ का प्रयोजन "धिन्वन्ति" इस प्रयोग को बता कर अब उसके द्वितीय अर्थ (स्थानिसम्बन्धी जो अल्) का प्रयोजन बताते हुए कह रहे हैं कि इस दूसरे अर्थ को स्वीकार करने से "प्रदीव्य" इस प्रयोग में वलादित्वनिमित्तक इट् का आगम नहीं होता है। कारण यह है कि इस प्रयोग में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् हुआ है। ऐसी स्थिति में स्थान्यवयव अल् (स्थानिसम्बन्धी अल्) क्त्वाघटक तकार है, तद्वृत्ति और अल्मात्र वृत्ति धर्म वल्त्व धर्म है, तद्घटित धर्म वलादि आर्धधातुकत्व है, तन्निमित्तक विधि इट्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है।

अब यह शंका होती है कि जिस प्रकार स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से "प्रदीव्य" प्रयोग में वलादि आर्धधातुक के अभाव के कारण इट् का आगम नहीं होता, उसी प्रकार "बभूविव" इस प्रयोग में वस् के स्थान पर "व" आदेश करने पर यहाँ भी वस् वृत्ति वलादि आर्धधातुकत्व के स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने के कारण वकार वलादि आर्धधातुक नहीं कहा जायेगा, तो यहाँ इट् का आगम कैसे होगा? इसका उत्तर देते हुए शेखरकार का कहना है कि यहाँ अल् में स्थान्यवयवत्व या स्थानिसम्बन्धित्व इस विशेषण के कारण "बभूविव" इस प्रयोग में वलादिलक्षण इट् की सिद्धि हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि स्थान्यवयव अल्वृत्ति जो धर्म है, उसका यदि अतिदेश करना हो और वह धर्म यदि अल्मात्र वृत्तिधर्म है तब वहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। अतिदिश्यमान धर्म के अल्मात्र वृत्ति होने पर ही निषेध होता है, अन्यथा नहीं। "प्रदीव्य" प्रयोग में यकार में वल्त्व नहीं है। इसलिए वहाँ स्थान्यवयव अल् तकारवृत्ति और अल्मात्र वृत्ति धर्म वल्त्व धर्म अतिदेष्टव्य है। इसीलिए वहाँ अतिदिश्यमान धर्म के अल्मात्रवृत्ति होने के कारण तद्घटित वलादि आर्धधातुकत्व को लाने में स्थानिवद्भाव का निषेध हो गया है। "बभूविव" इस प्रयोग की स्थिति वहाँ से भिन्न है। यहाँ तो वकार में वल्त्व स्वतः सिद्ध है। इसके लिए स्थानिवद्भाव की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यहाँ वकार में केवल आर्धधातुकत्व ही अतिदेष्टव्य है और यह आर्धधातुकत्व अल्मात्रवृत्ति-धर्म नहीं है। इस प्रकार यहाँ जो अल्मात्रवृत्ति धर्म है वह अतिदेष्टव्य नहीं है और जो अतिदेष्टव्य है वह अल्मात्र वृत्ति धर्म नहीं है, इसलिए यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता है। नागेशभट्ट इसी बात को कह रहे हैं कि तत्र = "बभूविव" इस प्रयोग में वलादित्व स्थानिवद्भाव से लभ्य नहीं है, किन्तु स्वाश्रय है अर्थात् वकाररूपी आदेश में स्वतः सिद्ध है। इसलिए यहाँ इट् की सिद्धि हो जाती है। इसी बात को शेखरकार मूल में कह रहे हैं कि जिस निमित्त के अभाव के कारण शास्त्र की अप्रवृत्ति होने पर अतिदेश का आश्रयण किया जाता है, उस निमित्त के स्थान्यवयव अल्मात्रवृत्ति होने पर ही निषेध की प्रवृत्ति होती है। प्रकृते = "बभूविव" इस प्रयोग में आर्धधातुकत्व के अभाव के कारण इड्विधायक शास्त्र "आर्धधातुकस्येट्" सूत्र की अप्रवृत्ति होती है। वह आर्धधातुकत्व स्थान्यवयव अल् वकारमात्र वृत्ति असाधारण धर्म नहीं है और जो तादृशम्—स्थान्यवयवाल्वृत्ति अल्मात्रवृत्तिधर्म वल्त्व से घटित वलादित्व है, उसके अभाव के कारण यहाँ इट्विधायक की अप्रवृत्ति नहीं हो रही है, क्योंकि वहाँ वल्त्व स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार "बभूविव" प्रयोग में आर्धधातुकत्व का स्थानिवत्त्वेन आनयन करके इट् की सिद्धि हो जाती है।

स्थानिवत् सूत्र के शास्त्र होने के कारण शास्त्रीय कार्य करने के लिए ही स्थानिवद्भाव होता है। जहाँ पर अतिदेश के द्वारा धर्म विशेष को लाकर किसी सूत्र की प्रवृत्ति करानी हो वहीं पर इस सूत्र से स्थानिवद्भाव होता है। यदि स्थानिवद्भाव से किसी सूत्र की अप्रवृत्ति होती हो तो वहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होगा। इसका परिणाम यह होता है कि 'नी' धातु से ण्वुल् प्रत्यय करके अनुबन्धलोप और वु को अक करके जो "नायकः" प्रयोग सिद्ध होता है, यहाँ स्थानिवद्भाव से अक में यदि वुत्वधर्म चला आवे तो अच् पर में न रहने के कारण यहाँ आयादेश नहीं हो सकेगा। किन्तु "आयादेशाभाव" शास्त्रीय कार्य नहीं है, इसलिए यहाँ स्थानिवत्

सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। फलस्वरूप "नायकः" प्रयोग की सिद्धि हो जाती है।

प्राधान्यात्कार्यातिदेशोऽयम्। 'शास्त्रातिदेशस्तु कार्यातिदेशादभिन्नरूपः', तस्यापि कार्यफलकत्वादि'ति तृज्वत्सूत्रे कैयटः। भाष्येऽपि 'तत्राऽऽङ्ग-शास्त्रातिदेशात्सिद्धम्, आङ्गं यत्कार्यं तदतिदिश्यते' इत्युक्त्या तयोरभिन्नरूपत्वं सूचितम्। तत्रानपेक्षितार्थसन्निधानस्तत्तन्निमित्तरूपकार्यव्यवहार एवानेन, कार्यं तु स्वशास्त्रेणैवेति।

अत एव रामायेत्यादौ 'स्थानिवत्त्वेन सुप्त्वात्सुपि चेति दीर्घ' इति सङ्गच्छते। 'परिवीरि'त्यादौ 'परत्वाद्दीर्घ' इति च सङ्गच्छते।

यद्वा किञ्चिन्निमित्तवैकल्येऽपि दीर्घादिकार्यमनेन क्रियते। तच्च कार्यं किमित्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपनिर्णयस्य विधिशास्त्रमूलकत्वेन तद्देशेनैव परशास्त्रविहितत्वरूपं परत्वं तेषां बोद्धव्यम्। एतदेवाभिप्रेत्या'ऽतिदिश्यमानकार्याणा-मुपदेशदेश एव देश' इत्यभियुक्ताः।

अत्राऽऽद्यपक्ष एव भाष्यसम्मतः। अत्रैव 'स्थान्यल्विधिप्रतिषेधे कुरुवधपिबां प्रतिषेधो वक्तव्य' इत्येतदुपपादनावसरे—'स्थानिवद्भावादङ्गसञ्ज्ञा' स्वाश्रयं च लघूपधत्वादि, तत्र लघूपधगुणादिः प्राप्नोती'त्यादिभाष्योक्तेरिति बोद्धव्यम्।

एवं यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तिस्तन्निमित्तातिरिक्तसर्वनिमित्तकत्व-मतिदेशस्यापि। अत एवेष्ठवद्भावेनातिदिष्टभत्वस्य 'वर्णाश्रयत्वमि'त्यादिव्यवहारः। सर्वातिदेशेष्विदं तुल्यम्। यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तिस्तन्निमित्तं—शास्त्रीयमेव, प्रत्यासत्तेः।

यद्यपि निमित्त, व्यपदेश, तादात्म्य, शास्त्र, कार्य और रूप—ये छः प्रकार के अतिदेश होते हैं, तथापि सभी अतिदेशों का तात्पर्य कार्य कराने में होता है। इसलिए कार्यातिदेश ही प्रधान है। इस सूत्र के द्वारा प्रधान कार्यातिदेश ही किया जाता है। उदाहरण के लिए "रामाय" इस प्रयोग में यकारादेश में सुप्त्व के अभाव के कारण "सुपि च" इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। वहाँ पर इस सूत्र से सुप्त्वाभाव में भी दीर्घरूपी कार्य का अतिदेश कर दिया जाता है अर्थात् दीर्घकार्य कर दिया जाता है।

शास्त्रातिदेश पक्ष में सुप्त्वाभाव से प्रवृत्त न होने वाले "सुपि च" इस सूत्र को यह अतिदेश सूत्र आदिष्ट करता है कि सुप्त्वाभाव में भी तुम्हें यहाँ दीर्घकार्य कर देना चाहिए। यही यहाँ शास्त्रातिदेश पक्ष है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कार्यातिदेश पक्ष में अतिदेशशास्त्र स्वयं कार्य का अतिदेश करता है और शास्त्रातिदेश पक्ष में विधिसूत्र से करवाता है। ऐसी स्थिति में नागेश का यह कहना कि "शास्त्रातिदेशस्तु कार्यातिदेशादभिन्नरूपः" अर्थात् शास्त्रातिदेश और कार्यातिदेश का स्वरूप समान ही है, कहाँ तक संगत है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि "अभिन्नरूपः" इस पद का अर्थ है—"अभिन्नं रूपं फलं यस्य असौ अभिन्नरूपः" अर्थात् समान फल वाले को अभिन्नरूप कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रातिदेश और कार्यातिदेश

का फल समान है, इसलिए दोनों समान रूप हैं। तस्यापि = शास्त्रातिदेश का भी फल कार्य ही है, यह बात "तृज्वत्" सूत्र के कैयट में कही गई है। शास्त्रातिदेश का कार्यातिदेश से अभिन्नरूपता में भाष्यप्रमाण प्रस्तुत करते हुए नागेश का कहना है कि भाष्यकार ने भी कहा है कि "आङ्गशास्त्रातिदेशात् सिद्धम्" "आङ्गं यत् कार्यं तदतिदिश्यते"। भाष्यकार के ये दो वचन हैं। पहले वाक्य में शास्त्र के अतिदेश की बात कही गई है और दूसरे वाक्य में आङ्ग कार्य के अतिदेश की बात कही गई है। "रामाय" इत्यादि प्रयोगों में आङ्गशास्त्र का अतिदेश करें या आङ्गकार्य का अतिदेश करें, दोनों का फल यही है कि लक्ष्य में कार्य की सिद्धि होती है। इस प्रकार दोनों पक्षों की अभिन्नरूपता स्पष्ट होती है।

अब यह प्रश्न होता है कि कार्यातिदेश का तात्पर्य यह है कि यही सूत्र कार्य का विधान करता है। ऐसी स्थिति में "यादेशस्य सुप्त्वात् सुपि चेति दीर्घः" अर्थात् स्थानिवद्भाव से यादेश में सुप्त्व का अतिदेश करके "सुपि च" सूत्र से दीर्घ होता है। इस कौमुदी-ग्रन्थ की संगति कैसे होगी? इस प्रश्न के उत्तर के निमित्तातिदेश को प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि तत्र = षड्विध अतिदेशों के मध्य में यह निमित्त का ही अतिदेश करता है। "रामाय" इस प्रयोगघटक यकार में सुप्त्वाभाव में भी यह सुप्त्व का अतिदेश करता है। इसी बात को कह रहे हैं कि "अनपेक्षित है अर्थ का = सुप्त्व आदि सामग्री का सन्निधान जिस व्यवहार में" अर्थात् "यादेशः सुप्त्ववान्" इस व्यवहार में यह आवश्यक नहीं है कि यकार में सुप्त्व रहता हो, किन्तु वहाँ सुप्त्वाभाव में भी सुप्त्ववत् व्यवहार करना चाहिए। तद्धर्माभाववान् में तद्धर्म का व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार तत्तत् निमित्तरूप कार्य का व्यवहार कराने के कारण यह सूत्र निमित्तादेश है। जब निमित्त का अतिदेश हो जाता है, तब वहाँ करणीय कार्य स्वशास्त्र से अर्थात् कार्यविधायक शास्त्र के द्वारा कर लिया जाता है। इसीलिए कौमुदीकार का यह कहना भी संगत हो जाता है कि "रामाय" इस प्रयोग में स्थानिवत्त्वेन सुप्त्वात् "सुपि च" सूत्र से दीर्घ होता है। इस प्रकार यह निमित्तातिदेश है यह बात स्पष्ट होती है।

निमित्तातिदेश पक्ष में ही "परिवीः" इस प्रयोग में परत्वात् दीर्घ होता है—यह कथन भी संगत होता है। इसका तात्पर्य यह है परिपूर्वक व्येञ् धातु से क्विप् प्रत्यय और सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप करने पर इस सूत्र से अङ्गत्व रूप निमित्त का अतिदेश करने के कारण तुक् की और "हलश्च" सूत्र से दीर्घ की एक साथ प्राप्ति होने पर परत्वात् दीर्घ होता है। यह "परत्वात् दीर्घः" ऐसा कथन कार्यातिदेश पक्ष में संगत नहीं हो सकता था। क्योंकि इस पक्ष में स्थानिवत् सूत्र ही दोनों कार्यों का विधायक होगा। ऐसी स्थिति में एक ही सूत्र में पूर्वत्व और परत्व भाव कैसे बनेगा? जब यह सूत्र निमित्त का अतिदेश करता है। तब निमित्त के मिलने पर दोनों विधिसूत्र साथ ही प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थिति में परत्वात् दीर्घ की बात संगत हो जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि निमित्तातिदेशपक्ष ही ठीक है।

अथवा किसी निमित्त की कमी रहने पर भी दीर्घ आदि कार्य यह सूत्र करता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि यह सूत्र कार्यातिदेश है। किन्तु इसे कार्यातिदेश मानने पर जब सारे कार्य अतिदेशसूत्र से ही सम्पन्न होंगे तब "परिवीः" प्रयोग में परत्वात् दीर्घ होता है, यह कथन कैसे सम्भव होगा? इसका उत्तर देते हुए नागेशभट्ट का कहना है कि अतिदेशसूत्र यह

विचार करेगा कि वह कौन कार्य है जिसे मुझे करना है ? इस जिज्ञासा में अतिदेशशास्त्र विधिदेश में जायेगा, क्योंकि कार्य के स्वरूप का निर्णय विधिशास्त्रमूलक है। इस प्रकार "परिवीः" प्रयोग में अतिदेश सूत्र दोनों विधिसूत्रों ('हलः' और 'ह्रस्वस्य पिति') में जायेगा और तद्देशीय परत्व जिसमें होगा, उसी का कार्य करेगा। इस प्रकार "परिवीः" में जो "परत्वात् दीर्घः" की बात कही गई है वह कार्यतिदेश पक्ष में संगत हो जाती है। एतदेव = अतिदेशसूत्र विधि-देश में जाकर पूर्वत्व, परत्व और कार्य का निर्णय करता है, इसी बात को ध्यान में रखकर अभियुक्तों ने कहा है कि अतिदिश्यमान कार्यों का देश उपदेश देश ही है। उपदेश देश का अर्थ है—कार्य-विधायक विधिसूत्रीय देश।

अत्र = निमित्तातिदेश और कार्यातिदेश इन दोनों पक्षों के मध्य में आद्यपक्ष = निमित्तातिदेश पक्ष ही भाष्यसम्मत पक्ष है। कारण यह है कि "रामाय" इस प्रयोग में "सुप्त्वात् दीर्घः" और "परिवीः" इस प्रयोग में "परत्वात् दीर्घः" इन दोनों स्थलों की संगति शास्त्रातिदेश पक्ष में भी इस प्रकार की जा सकती है कि "सुप्त्वात्" की पञ्चमी को ल्यब्लोपे पञ्चमी मान लिया जाय और उसका अर्थ किया जाय कि "सुप्त्वम् अनपेक्ष्य" = सुप्त्व की अपेक्षा न करके "सुपि च" सूत्र से दीर्घ हो जाता है। शास्त्रातिदेश पक्ष में "परिवीः" प्रयोग में "परत्वात् दीर्घः" यह बात अनायास ही सिद्ध है, क्योंकि जो शास्त्र पर में होगा उससे परत्वात् दीर्घ हो ही जायेगा। इस प्रकार शास्त्रातिदेश पक्ष में भी उक्त दोनों स्थलों की संगति बैठ जाती है, किन्तु "स्थान्यल्विधि-प्रतिषेधे" इत्यादि भाष्य की संगति न तो कार्यातिदेश में हो सकती है और न शास्त्रातिदेश पक्ष में ही हो सकती है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—भाष्यकार ने इस सूत्र के भाष्य में विचार किया कि स्थानिभूत अल्विधिरूप कार्य में "अनल्विधौ" यह निषेध लगता है अथवा "अल्मात्राश्रय" कार्य में निषेध करता है ? ऐसा प्रश्न करके भाष्यकार ने कहा कि "स्थान्यल्विधिप्रतिषेधे कुरुवधपिबां प्रतिषेधो वक्तव्यः" अर्थात् "स्थान्यल्विधि का प्रतिषेध यदि "अनल्विधौ" करता है तब कुरु, वध और पिब इन स्थलों में प्रतिषेध कहना चाहिए। यहाँ पर स्थानिवत्वेन कृ, हन् और पा वृत्ति अङ्गत्व कुरु वध और पिब इन आदेशों में चला आयेगा और लघूपधत्व तो यहाँ स्वतः सिद्ध है। ऐसी स्थिति में यहाँ लघूपध गुण की प्राप्ति होती है। इन तीनों स्थलों में स्थानिभूत अल् न होने के कारण "अनल्विधौ" की प्राप्ति न होने के कारण प्रतिषेध की बात कही गई है कि यहाँ स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध करना चाहिए जिससे गुण का निमित्त अङ्गत्व यहाँ न आने पावे।

भाष्यकार के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि इस सूत्र से निमित्त का ही अतिदेश होता है, न कि कार्य का अथवा शास्त्र का अतिदेश होता है। शास्त्र और कार्यातिदेश पक्ष में तो यह कहना ही असंगत हो जाता है कि स्थानिवद्भाव से अङ्ग संज्ञा हो जाती है और इसके बाद गुण की प्राप्ति होती है, क्योंकि इन दोनों पक्षों में तो निमित्त के बिना ही कार्य किया जाता है। इस प्रकार इन दोनों पक्षों में प्रस्तुत भाष्य की संगति नहीं होती है। इसलिए यही मानना चाहिए कि "निमित्तातिदेश पक्ष" ही भाष्यसम्मत पक्ष है।

इसी प्रकार जिस निमित्त के वैकल्य = अभाव के कारण विधिशास्त्र की किसी लक्ष्य में अप्रवृत्ति हो रही है (प्रवृत्ति नहीं हो रही है) उस निमित्त को छोड़ कर और सभी निमित्त अतिदेश-

शास्त्र के लिए भी आवश्यक होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस निमित्त के न रहने के कारण विधिसूत्र की प्रवृत्ति यदि किसी प्रयोग में नहीं हो रही है तो अतिदेशसूत्र से उस निमित्त का अतिदेश तो कर दिया जायेगा, किन्तु इस कार्य के लिए अतिदेशशास्त्र भी वहाँ तभी प्रवृत्त होगा जब उस निमित्त के अतिरिक्त अन्य निमित्त वहाँ रहें।

अत एव = अतिदेशशास्त्र के तादृश सर्वनिमित्तकत्व होने के कारण ही "प्रातिपदिकात् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च" इस गणसूत्र से विधेय णिच् का जो इष्ठवद्भाव है, उस इष्ठवद्भाव से अतिदिष्ट जो भसंज्ञा है, उसे वर्णाश्रय कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि "अजादि कप्रत्ययावधिक स्वादि प्रत्यय पर में रहने पर भ संज्ञा होती है"। णिच् में अजादित्व तो है किन्तु उसमें कप्रत्ययावधिक स्वादित्व नहीं है। इसी कप्रत्ययावधिकस्वादित्वाभाव के कारण णिच् प्रत्यय में "यचि भम्" की प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसी स्थिति में जहाँ 'णिच्' का लोप हो गया है, जैसे "पटुमाचष्टे" इस विग्रह में पटु शब्द से णिच् प्रत्यय करके इष्ठवद्भाव के कारण "टेः" सूत्र से टिलोप करके बने हुए 'पटि' धातु से क्विप् प्रत्यय और उसका लोप करके तथा "णेरनिटि" सूत्र से णि प्रत्यय का लोप करने से निष्पन्न "पट्" शब्द से "भ्याम्" विभक्ति लाने पर "पट् + भ्याम्" इस स्थिति में भ्याम्निमित्तक पद संज्ञा करके जश्त्वेन टकार को डकार कर दिया जाता है, जिससे "पड्भ्याम्" जो यह रूप बनता है, यहाँ भसंज्ञा करने के लिए "प्रातिपदिकात् बहुलम्" इस शास्त्र में यदि शास्त्रातिदेश पक्ष माना जाय तो यह अतिदेश-शास्त्र भसंज्ञाविधायक शास्त्र "यचि भम्" को यही आदेशित करेगा कि निमित्त के अभाव में भी भसंज्ञा कर ली जाय, किन्तु उसी निमित्त के अभाव में यहाँ भसंज्ञा की जा सकती है, जिस निमित्त के अभावप्रयुक्त "यचि भम्" की यहाँ अप्रवृत्ति हो रही हो। उस निमित्त के अतिरिक्त निमित्त तो वहाँ "यचि भम्" के लिए रहना ही चाहिए। णिच् प्रत्यय में भसंज्ञाविधायक शास्त्र की अप्रवृत्ति इसलिए होती है कि वहाँ कप्रत्ययावधिक स्वादित्व नहीं है। इतने अंश की अनपेक्षा रहने पर भी भसंज्ञा के लिए इस निमित्त से अतिरक्त "अजादित्व" रूप निमित्त तो यहाँ अपेक्षित होगा ही। उस अजादित्व को स्थानिवत्त्वेन लाने में "अनल्विधौ" निषेध लग जाता है। परिणाम यह होता है कि अजादित्व के न आने के कारण यहाँ भसंज्ञा नहीं होती है। इसीलिए "इष्ठवद्भाव" से अतिदिष्ट भसंज्ञा को वर्णाश्रय कहा गया है।

यदि कहा जाय कि शास्त्रातिदेश पक्ष में यहाँ भसंज्ञा न होवे, किन्तु कार्यातिदेश पक्ष में तो जब कि अतिदेशशास्त्र ही निमित्त के बिना कार्य कर देता है, उस पक्ष में तो इष्ठवद्भाव-प्रयुक्त भसंज्ञा वर्णाश्रय नहीं कही जा सकती। इसलिए इस पक्ष में तो "पड्-भ्याम्" में भसंज्ञा होनी चाहिए? नागेश भट्ट इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "सर्वातिदेशेष्विवदंतुल्यम्" अर्थात् इदम् = यन्निमित्त वैकल्यप्रयुक्त शास्त्र की अप्रवृत्ति हो रही है उस निमित्त से अतिरिक्त सर्वनिमित्तकत्व अतिदेशशास्त्र का भी होता है, यह बात सभी अतिदेशों में समान ही है। तात्पर्य यह है कि यह बात केवल शास्त्रातिदेश पक्ष में ही नहीं लागू होती है अपितु कार्यातिदेश पक्ष में भी यह बात वैसे ही लागू है। इसका परिणाम यह होता है कार्यातिदेश पक्ष में भी "पड्भ्याम्" इत्यादि स्थलों में जहाँ णिच् का लोप हो गया है, वहाँ भी भसंज्ञा करने के लिए अजादित्व की अपेक्षा है ही। इसलिए इस पक्ष में भी भसंज्ञा वर्णाश्रय ही है। इस प्रकार दोनों पक्षों में

इष्ठवद्भावेन अतिदिष्ट भसंज्ञा का वर्णाश्रयत्व सिद्ध होता है। इस वर्णाश्रयत्व का फल यह होता है कि "पड्भ्याम्" में भसंज्ञा से पदसंज्ञा का बाध नहीं होता, क्योंकि वर्णाश्रय कार्य अजादिप्रयुक्त भसंज्ञा के कर्तव्य में "अनल्विधौ" से निषेध हो जाता है। यन्निमित्त वैकल्य-प्रयुक्त शास्त्र की अप्रवृत्ति होती है, वह निमित्त प्रत्यासत्त्या शास्त्रीय ही होना चाहिए। इसका फल यह है कि अद्धातु के स्थान पर "घस्लृ" आदेश करने पर "जघसिथ" इस प्रयोग में स्थानी का अशास्त्रीय धर्म "तासौ नित्यानिट्त्व" का इस सूत्र से अतिदेश नहीं होता है। इसलिए "उपदेशेऽ-त्वतः" सूत्र से इट् का निषेध न होने के कारण क्रादिनियम से नित्य ही इट् हो जाता है।

स्थानिवदित्युक्तेः सम्बन्धिशब्दमहिम्नैवाऽऽदेशलाभे आदेशग्रहणं—श्रौत-स्थान्यादेशभावस्यैव ग्रहणमिति शङ्कावारणद्वारा 'एरुरि'त्यादौ शब्दानित्यत्ववारणाय 'सर्वे सर्वपदादेशा' इति न्यायेन कल्प्यमानस्य 'तेस्तुरि'त्यानुमानिकादेशस्यापि सङ्ग्रहार्थम्। तेन 'पचत्वि'त्यादेः पदत्वसिद्धिरिति भाष्ये स्पष्टम्।

ननु तोस्तित्वमपि छिन्नपुच्छे शुनि श्वत्वव्यवहारवल्लोकन्यायेनैव सिद्धम्। तदुक्तं 'प्राग्दीव्यतोऽणि'ति सूत्रे भाष्ये—'दीव्यतिशब्दैकदेशदीव्यच्छब्दा-नुकरणमिदमि'त्युक्त्वा—किमर्थं विकृतनिर्देशः? एतदेव ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा एकदेशविकृतमनन्यवदि'ति। अत एवात्र विकारोऽशास्त्रीयोऽपि। अत एव श्रायसशब्दादणन्ताद्द्विवचने श्रायसावित्यत्र वृद्धौ कृतायां सान्तस्योगित्त्वेनानेन न्यायेनाङ्गतया प्राप्तो नुम्—पूर्वसम्बन्धिविधित्वेनाचः परस्मिन्निति स्थानिवत्त्वेन वारितो'ऽचः परस्मिन्नि'ति सूत्रे भाष्ये। एतन्न्यायानाश्रयणे त्वङ्गत्वमेव दुर्लभम्।

"स्थानिवत्" पद में स्थानी शब्द आया है। स्थानी में स्थानिता रहती है। यह स्थानिता किसी से निरूपित ही होती, क्योंकि यह साकांक्ष और सम्बन्धी शब्द है। स्थानिता-यत्-किञ्चित्-निष्ठ आदेशता निरूपित होती है। इस प्रकार "स्थानी" इस सम्बन्धी शब्द के द्वारा ही आदेश का लाभ हो सकता है तो इस सूत्र में आदेशग्रहण क्यों किया गया है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि आदेश दो प्रकार का होता है। एक तो श्रौतस्थान्यादेश और दूसरा आनुमानिक स्थान्यादेश। इनमें श्रौतस्थान्यादेश में स्थानी श्रुत रहता है। वहाँ वह पढ़ा गया होता है। "इको यणचि" इस सूत्र में इक् रूपी स्थानी श्रुत है, सूत्र में पठित है। आनुमानिक स्थान्यादेश में स्थानी का उल्लेख नहीं होता है। उसका अनुमान किया जाता है।

यदि इस सूत्र में आदेशग्रहण नहीं किया गया होता और स्थानी पद की साकांक्षता से आदेश का लाभ किया जाता तो सद्यः स्फुरित होने वाले श्रौतस्थान्यादेश का ही यहाँ ग्रहण होता। यह न होने लगे किन्तु सर्वविध आदेश का यहाँ ग्रहण हो, इसके लिए आदेशग्रहण किया गया है। इस प्रकार आदेशग्रहण श्रौतस्थान्यादेश भाव का ही यहाँ ग्रहण होता है—इस शंका के वारण के लिए तथा शब्दानित्यत्व के वारण के लिए "सर्वे सर्वपदादेशाः" इस न्याय से "एरुः" इत्यादि स्थलों में कल्प्यमान जो "ति" के स्थान पर "तु" आदेश, जो आनुमानिक आदेश है, इसके संग्रह के लिए है। इसलिए तिवृत्ति तिङ्त्व स्थानिवद्भाव से "तु" में चला आता है, जिससे "पचतु" में पदत्व की सिद्धि होती है। यह बात भाष्य में स्पष्ट है।

अब यहाँ यह शंका हो रही है कि सर्वविध आदेश का ग्रहण करने के लिए यहाँ आदेश-ग्रहण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सर्वविध आदेश के ग्रहण के प्रसंग में आनुमानिक आदेश का ग्रहण करके "पचतु" प्रयोग में जिस पदत्व की सिद्धि की बात कही गई है वह तो "एकदेशविकृतमनन्यवत्" इस लौकिक न्याय से ही सिद्ध है। जिस प्रकार छिन्नपुच्छ कुत्ता कुत्ता ही रहता है, वह घोड़ा या गदहा नहीं होता है; उसी प्रकार "पचतु" प्रयोग में एकदेश इकार के विकृत होकर उकार हो जाने से जो "तु" है वह "ति" से भिन्न नहीं कहा जायेगा। परिणाम यह होगा कि "तु" में तित्व ही माना जायेगा, जिससे पदत्व की सिद्धि यहाँ निर्बाध है। इसलिए यहाँ आदेशग्रहण की आवश्यकता नहीं है।

यदि कहा जाय कि इस लौकिक न्याय का आश्रयण इस शब्दशास्त्र में क्यों किया जाय? तो इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "प्राग्दीव्यतोऽण्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने इस न्याय की चर्चा की है। उन्होंने वहाँ कहा है कि इस सूत्र में "दिव्यतः" यह जो पद है यह "तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" इस सूत्र के "दिव्यति" पद के एकदेश "दिव्यत्" के अनुकरण से बना है। यद्यपि यह एकदेश का अनुकरण है तथापि यह "दिव्यति" इस रूप का बोधक है। ऐसा कह कर भाष्यकार ने कहा कि जब इस अनुकरण से "दिव्यति" का बोध कराना अभीष्ट है तो उसी का अनुकरण करना चाहिए। यह विकृत निर्देश क्यों किया गया? ऐसी स्थिति में यह विकृत निर्देश व्यर्थ होकर इस परिभाषा (एकदेशविकृत न्याय) का ज्ञापन करता है।

इस उपर्युक्त भाष्य से यह बात स्पष्ट होती है कि "दिव्यति" शब्द के अन्त्य इकार का लोप रूपी विकार तथा उस लुप्त इकार वाले का अनुकरण करना—ये दोनों ऐच्छिक हैं, शास्त्रीय नहीं हैं। इकार का लोप करना और लुप्त इकार वाले का अनुकरण करना—ये दोनों बातें किसी शास्त्र (सूत्र) द्वारा बोधित नहीं है। इसलिए यह परिभाषा शास्त्रीय कार्य और शास्त्रीय विकार में ही लगे, ऐसा कोई नियम नहीं है। अत एव = एकदेशविकृतन्याय के लौकिक होने के कारण ही अत्र = इस परिभाषा में विकार शब्द से अशास्त्रीय विकार भी लिया जाता है। अत एव = इस परिभाषा में अशास्त्रीय विकार का भी ग्रहण करने से ही "अचः परस्मिन्" सूत्र के भाष्य में "श्रायसौ" प्रयोग में प्राप्त नुम् का वारण स्थानिवद्भाव के द्वारा किया गया है। वहाँ का प्रसंग इस प्रकार है—प्रशस्य शब्द से अतिशय अर्थ में ईयसुन् प्रत्यय और प्रशस्य को "श्र" आदेश कर 'श्रेयस्' शब्द बनता है। इस "श्रेयस्" शब्द से भव अर्थ में अण् प्रत्यय तथा आदि-वृद्धि को बाधकर "देविकाशिंशपा" इत्यादि सूत्र से एकार को आकार करके प्रथमा के द्विवचन में "श्रायसौ" यह रूप बनाया जाता है। यहाँ "वृद्धि के पश्चात्" सकारान्त श्रायस् में स्वतः सिद्ध उगित्त्व तथा एकदेशविकृतन्याय से अङ्गत्व लाकर "उगिदचाम्" सूत्र से नुम् की प्राप्ति होती है। यह नुम् "अचः परस्मिन्" सूत्र के द्वारा स्थानिवद्भाव करने के कारण नहीं होता है। परनिमित्तक अजादेश अकार के स्थान पर वृद्धि रूप एकादेश है, वह अजादेश अपने से पूर्वत्वेन दृष्ट "श्रायस्" को नुम् का आगम होने की स्थिति में स्थानी अकार के तुल्य हो जाता है। परिणामस्वरूप यहाँ नुम् नहीं होता है।

यहाँ पर वृद्धि यद्यपि शास्त्रीय कार्य है, तथापि अकार की निवृत्ति अशास्त्रीय विकार है। श्रायस इस अणन्त से औ विभक्ति लाने पर अणन्तनिष्ठ सुप् प्रत्ययनिरूपित अंगत्व को यहाँ

एकदेशविकृत न्याय से हलन्त श्रायस् शब्द में लाकर नुम् की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट होता है कि यह "एकदेशविकृतमनन्यवत्" परिभाषा अशास्त्रीय विकार में भी लगती है। अन्यथा यहाँ "श्रायस्" इस सान्त में अङ्गत्व आता ही नहीं। ऐसी स्थिति में नुम् की आशंकापरक शंका-समाधान करना भाष्यकार का असंगत ही हो जाता।

अन्तादिवत्सूत्रे भाष्यकैयटयोरपि–'गुडोदकमि'त्यादावेकादेशे कृते दक-शब्दस्यानेन न्यायेनोदकशब्दत्वमाश्रित्य 'उदके केवले' इति पूर्वपदान्तोदात्तत्व-मुक्तम्। शब्दानित्यत्वन्तु रेखागवयन्यायेन समाधेयम्। 'अनन्यवदि'त्यस्य–अन्यवन्नेत्यर्थः। तत्रान्यसादृश्यनिषेधेऽन्यत्वाभावः सुतरामिति चेन्न, अर्द्धस्यान्यत्वे जातिव्यञ्जकभूयोऽवयवदर्शनाभावेन तौ तित्त्वप्रतीतेर्न्यायेनानुपपादनात्। किञ्च तिङ्सञ्ज्ञायास्तिबादिसूत्रोपात्तपरिच्छिन्नपरिमाणनिष्ठतया परिच्छिन्नपरिमाणार्थ-वाचकशब्दानां न्यूनेऽधिके वा शास्त्रव्यापारं विनाऽप्रवृत्तेर्येन विधिरिति सूत्रेऽङ्गसञ्ज्ञासूत्रे च भाष्ये उक्ततया तदभावात्। न्यूनाधिकत्वञ्च–वैरूप्यस्योपलक्षणम्।

यह परिभाषा (एकदेशविकृतमनन्यवत्) अशास्त्रीय विकार में भी लगती है। इस बात में दूसरा प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि "अन्तादिवच्च" सूत्र के भाष्य और कैयट में भी "गुडोदकम्" इत्यादि प्रयोगों में गुण एकादेश हो जाने पर "दक" शब्द में इस न्याय से उदक शब्दत्व को लाकर "उदके केवले" सूत्र से पूर्वपद का अन्तोदात्तत्व कहा गया है। यहाँ पर एकदेश उकार का विकार होने पर भी "दक" शब्द उदक से भिन्न नहीं होता है। यहाँ भी गुण तो शास्त्रीय कार्य है, किन्तु उकार की निवृत्ति अशास्त्रीय विकार है। इस अशास्त्रीय विकार में भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति कराकर उकार रहित दक को ही उदक माना गया और तत्प्रयुक्त स्वर किया गया।

इस पक्ष में जब कि गुण के द्वारा उकार की निवृत्ति हो गई है, तब यह बात स्पष्ट होती है कि शब्द अनित्य हैं। ऐसी स्थिति में शब्दनित्यत्ववाद का जो सिद्धान्त वैयाकरणों को मान्य है, उसकी हानि हो रही है। इस बात का समाधान करते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि शब्दानित्यत्व का जो यहाँ आक्षेप किया गया है उसका समाधान रेखागवयन्याय से कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि विकार आदि की कल्पना रेखागवय की भाँति अवास्तविक है। वास्तविकता तो यही है कि शब्द नित्य होते हैं। गवय पदार्थ से अनभिज्ञ किसी व्यक्ति को गवय का चित्र बनाकर उससे परिचित कराया जाता है। वहाँ चित्रित गवय जिस प्रकार वास्तविक नहीं है उसी प्रकार "पचतु" प्रयोग में इकार को उकार होना, "गुडोदकम्" में गुण के द्वारा उकार की निवृत्ति—ये समस्त बातें वास्तविक नहीं हैं। "पचतु" "गुडोदकम्" आदि शब्द स्वतः सिद्ध नित्य हैं। प्रक्रिया तो इनकी जानकारी का उपाय है, वास्तविक नहीं है।

परिभाषा में आये हुए "अनन्यवत्" शब्द का "अन्य-सदृश नहीं है" यह अर्थ है। इससे स्पष्ट होता है कि जो एकदेश के विकार होने पर अन्यसदृश नहीं होता है, वह अन्य कैसे हो सकता है? इस प्रकार "एकदेशविकृतमनन्यवत्" इस न्याय से ही जब "पचतु" में पदत्व की

सिद्धि हो रही है तो सर्वविध आदेश के ग्रहण के लिए सूत्र में आदेशग्रहण की क्या आवश्यकता है? नागेश भट्ट इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि जहाँ पर आधे अंश का विकार हो जाता है, वहाँ जाति के अभिव्यञ्जक भूयो अवयव का दर्शन नहीं होता है अर्थात् वहाँ विकृत और अविकृत की अभिन्नता का सूचक धर्म उपलब्ध नहीं होता है। प्रस्तुत में "ति" यह प्रत्यय सार्धैकमात्रिक है। इसमें आधा से अधिक एकमात्रिक इकार का विकार हुआ है। इसलिए यहाँ "तु" इस रूप को "ति" नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार "तु" में तित्व की प्रतीति लौकिक न्याय से न हो सकने के कारण सर्वविध आदेश के ग्रहण के लिए सूत्र में आदेश ग्रहण की आवश्यकता है। लोक में भी देखा जाता है कि जिस कुत्ते का अधिक अवयव कट जाता है उसमें कुत्ते की प्रतीति नहीं होती है। दूसरी बात यह है कि "तिप्तस्झि" इत्यादि जो तिबादि सूत्र हैं उस सूत्र में उपात्त प्रत्ययों की जो तिङ् संज्ञा होती है वह परिच्छिन्न परिमाण वाले की होती है। परिच्छिन्न परिमाण का अर्थ है—संख्यात्वव्याप्य धर्म और परिमाणत्वव्याप्य धर्म। जैसे शतसंख्या परिच्छिन्न परिमाणवृत्ति कही जा सकती है। इसी प्रकार "तित्व" तकारोत्तरवर्ती इत्व ही कहा जायेगा। इन परिच्छिनार्थवाचक शब्दों का प्रयोग न्यून अथवा अधिक में शास्त्रव्यापार के बिना नहीं हो सकता है। यह बात "येन विधिः" तथा अङ्गसंज्ञाविधायक सूत्र के भाष्य में कही गई है। ऐसी स्थिति में एकदेशविकृतन्याय की प्रवृत्ति परिच्छिन्न परिमाण में नहीं हो सकेगी। इसलिए "भवतु" प्रयोग में स्थानिवत् शास्त्र के व्यापार के अभाव में तिङ्त्व का आना असम्भव है। यहाँ "तदभावात्" इस पद का अर्थ है—"शास्त्रव्यापाराभावे तिङ्त्वा-भावात्"। तात्पर्य यह है कि परिच्छिन्न परिमाण में एकदेशविकृतन्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है, इसलिए "भवतु" जैसे जगहों में पदत्वादि की सिद्धि के लिए सर्वविध आदेश का ग्रहण हो सके इसके लिए "स्थानिवत्" सूत्र में आदेश ग्रहण करना चाहिए। उक्त भाष्य में न्यूनाधिक शब्द वैरूप्य का उपलक्षण है। परिच्छिन्न परिमाण में न्यूनता, अधिकता तथा विरूपता, ये सारी चीजें शास्त्रों के द्वारा ही लायी जा सकती हैं; एकदेशविकृतन्याय से ये नहीं आ सकती हैं।

न च 'तण्डुलानि'त्यादौ स्थानिवद्भावेन प्रत्ययान्तत्वेऽपि स्वतः प्रत्ययान्तभिन्नत्वात्प्रातिपदिकत्वापत्तिरिति वाच्यम्, अतिदेशस्वभावेनातिदिश्यमान-धर्मविरुद्धस्वाश्रयकार्याभावात्। अत एव 'जही'त्यादौ जादेशस्यासिद्धत्वे स्वाश्रयो हेर्लुग्न, सिद्धत्वासिद्धत्वयोर्विरोधात्। असिद्धवत्सूत्रं तु 'शाधी'त्यादौ स्थानिप्रयुक्त-धिभावसम्पादनेन चरितार्थम्।

न चाप्रत्यय इत्यस्य पर्युदासत्वे—शास्त्रीयकार्याभावात्स्थानिवत्त्वं दुर्लभमिति वाच्यं, 'वेः स्कन्देरनिष्ठायामि'ति षत्वविधायके तिङन्तेषु षत्वाभावायाऽऽवश्यकेन, न्याय्येन चानिष्ठायामिति पर्युदासेन वृत्त्यादिसम्मतेन—पर्युदासलभ्याशास्त्रीयेऽपि शास्त्रतात्पर्यविषये शास्त्रीयवदतिदेशबोधनात्। 'विस्कन्न' इत्यादौ हि निष्ठानत्वस्य नित्यतया स्थानिवत्त्वेनैव निष्ठात्वस्य वक्तव्यत्वात्। तस्य प्रसज्यप्रतिषेधत्वे तु लक्ष्यानुसारिव्याख्यानादेवोक्तार्थसिद्धिरिति बोद्धव्यम्।

"अब" तण्डुलान् " इस पद के उपक्रम से स्थानिवद्भाव के विषय में विशेष बात कह रहे हैं। यहाँ के प्रसंग के स्पष्टीकरण के लिए पहले इसकी पृष्ठभूमि पर ध्यान देना आवश्यक है। "अर्थवत्" सूत्र में आये हुए "अप्रत्यय" पद में जो नञ् है वह प्रसज्यार्थक है अथवा पर्युदासार्थक ? इस विचार में नञ् को यदि प्रसज्य माना जाय तो वाक्यभेद, क्रियाध्याहार और असमर्थ समास—ये तीन दोष उपस्थित होते हैं। इसलिए वहाँ प्रसज्य न मान कर नञ् को पर्युदासार्थक माना गया है। इसलिए "अप्रत्यय" पद का अर्थ होता है कि "प्रत्ययान्तभिन्न की प्रातिपदिक संज्ञा होती है"। प्रत्ययान्त तदादि की प्रातिपदिक संज्ञा न हो, यह बात यद्यपि पर्युदास का फलितार्थ है तथापि वह "अप्रत्यय" का अक्षरार्थ नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्ययान्तभिन्न की प्रातिपदिक संज्ञा का विधान शास्त्रीय कार्य हैं। प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध यह न तो शास्त्रबोध्य है और न शास्त्रीय कार्य ही है। इसलिए प्रत्ययान्ततदादि की प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध रूपी अशास्त्रीय कार्य के लिए स्थानिवद्भाव नहीं होगा। वह तो किसी शास्त्रीय कार्य के लिए ही होगा।

इस उपर्युक्त तथ्य को दृष्टिगत कर "तण्डुलान्" इस प्रयोग में तण्डुल-शस् के स्थान पर "तण्डुलान्" यह आदेश हुआ है, ऐसा मान कर आनुमानिक स्थानिवद्भाव से प्रत्ययान्तत्व के लाने पर भी उसमें स्वतः सिद्ध जो प्रत्ययान्त तदादिभिन्नत्व है, उसके आधार पर "तण्डुलान्" इस पद की प्रातिपदिक संज्ञा होकर यहाँ नकार का लोप होना चाहिए। यदि यहाँ पर्युदास न मान कर प्रसज्य माना गया होता तो यह आपत्ति नहीं होती, क्योंकि स्थानिवत्त्वेन प्रत्ययान्तत्व लाकर प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध कर दिया जाता। उस समय प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध शास्त्रीय कार्य होता, जिसके लिए स्थानिवद्भाव हो जाता और निषेध हो जाता, किन्तु पर्युदास पक्ष में तो प्रातिपदिक संज्ञा का विधान ही शास्त्रीय कार्य है और स्थानिवत्त्वेन प्रत्ययान्तत्व लाने पर वह होती नहीं है, इसलिए स्वतः सिद्ध प्रत्ययान्तभिन्नत्वेन प्रातिपदिक संज्ञा होकर न-लोप की आपत्ति यहाँ होती है।

इस शंका का उत्तर देते हुए शेखरकार का कहना है कि अतिदिश्यमान धर्म से विरुद्ध स्वाश्रय धर्मप्रयुक्त कार्य का अभाव कराना अतिदेशशास्त्र का स्वभाव है। प्रस्तुत में अतिदिश्यमान धर्म प्रत्ययान्ततदादित्व है और उससे विरुद्ध स्वाश्रय धर्म प्रत्ययान्ततदादिभिन्नत्व है। इस स्वाश्रय धर्म के कारण जो प्रातिपदिक संज्ञा की प्राप्ति है वह प्रातिपदिक संज्ञा यहाँ नहीं हो सकेगी, क्योंकि अतिदेश का यह स्वभाव ही है कि वह अतिदिश्यमान धर्म से विरुद्ध धर्म के कार्य को होने नहीं देता। इसलिए यहाँ प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है और नकार का लोप नहीं होता है।

अत एव = अतिदिश्यमानधर्मविरुद्ध स्वाश्रयधर्मप्रयुक्त कार्य का अभाव अतिदेश का स्वभाव है, इस बात को स्वीकार करने से ही "जहि" इस प्रयोग में स्वाश्रय अदन्तत्वप्रयुक्त 'हि' का लुक् नहीं होता है। यहाँ "असिद्धवदत्राभात्" सूत्र से जादेश का असिद्धवद्भाव किया जाता है, जिसके द्वारा यहाँ हलन्तत्व आ जाता है। इसलिए तद्विरुद्ध स्वाश्रय अदन्तत्वप्रयुक्त लुक् नहीं होता है। यदि कहा जाय कि "असिद्धवद्भाव करने पर भी यदि स्वाश्रयधर्मप्रयुक्त कार्य होने लगे तो "असिद्धवत्" सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा, इसलिए तत्सामर्थ्यात् ही स्वाश्रय धर्म-

प्रयुक्त कार्य नहीं होगा। ऐसी स्थिति में इस नियम की क्या आवश्यकता है कि "अतिदिश्यमान धर्म से विरुद्ध स्वाश्रयधर्मप्रयुक्त कार्याभाव होता है ?" इस शंका का उत्तर देते हुए शेखरकार का कहना है कि "शाधि" उस प्रयोग में जहाँ स्वाश्रय आकारान्तत्वप्रयुक्त किसी कार्य की प्राप्ति नहीं है वहाँ असिद्धवद्भाव के द्वारा झलन्तत्व लाकर "हि" के स्थान पर "धि" करा कर "असिद्धवत्" सूत्र चरितार्थ है। इसलिए इस सूत्र के सामर्थ्यात् स्वाश्रय कार्याभाव नहीं कहा जा सकता। इसीलिए अतिदिश्यमान इत्यादि उपर्युक्त नियम की आवश्यकता है। "शाधि" यह प्रयोग शास् धातु से लोट् लकार लाने पर मध्यमपुरुष के एकवचन में बनता है। यहाँ "शा हौ" सूत्र से शास् को "शा" आदेश होता है।

अब यह विचार कर रहे हैं कि जैसा कि ऊपर विवेचन किया जा चुका है कि "स्थानिवत्" सूत्र की प्रवृत्ति वहीं होगी जहां स्थानिवद्भाव करने से किसी शास्त्र की प्रवृत्ति होती हो। यदि स्थानिवद्भाव से किसी शास्त्र की प्रवृत्ति को रोकना हो तो इस अशास्त्रीय कार्य में स्थानिवद्-भाव नहीं होगा। "तण्डुलान्" प्रयोग में यदि स्थानिवद्भाव होता है तब प्रत्ययान्ततदादि के आ जाने के कारण 'अर्थवत्' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। "अर्थवत्" सूत्र की यह अप्रवृत्ति अशास्त्रीय कार्य है। इस अशास्त्रीय कार्य के लिए स्थानिवद्भाव तो होगा नहीं अर्थात् स्थानिवत्त्वेन प्रत्ययान्तत्व नहीं आयेगा। इन सारी बातों का मूल "अप्रत्ययः" इस पद में पर्युदास का स्वीकार करना है। इस पक्ष में प्रत्ययान्ततदादि से भिन्न की प्रातिपदिक संज्ञा का विधान करना ही शास्त्रीय कार्य है। प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध करना शास्त्रीय कार्य नहीं है। इस प्रकार अप्रत्यय के पर्युदास होने के कारण प्रातिपदिक संज्ञा के निषेध के लिए जब स्थानिवद्भाव दुर्लभ है तब स्वतः सिद्ध प्रत्ययान्तभिन्नत्व के आधार पर "तण्डुलान्" की प्रातिपदिक संज्ञा होनी चाहिए। इस शंका के उत्तर में नागेश भट्ट का कहना है कि पर्युदास से लभ्य अशास्त्रीय में भी शास्त्रीय का अतिदेश होता है। "अप्रत्ययः" इस पर्युदास से यही प्रतीति होती है कि प्रत्ययान्तदादि से भिन्न की प्रातिपदिक संज्ञा होती है, किन्तु साथ ही यह भी व्यक्त होता है कि प्रत्ययान्ततदादि की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है। प्रत्ययान्ततदादि की प्रातिपदिक संज्ञा का न होना—यह अंश पर्युदास से लभ्य अर्थात् उसका फलितार्थ है। इस पर्युदासलभ्य अशास्त्रीय कार्य में शास्त्रीयत्व का अतिदेश होता है अर्थात् वह भी शास्त्रीय होता है। ऐसा स्वीकार करने का परिणाम यह होता है कि प्रत्ययान्त तदादि की प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध करना भी शास्त्रीय कार्य हो गया। इसलिए प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध करने के लिए भी स्थानिवद्भाव हो जाता है, जिससे प्रत्ययान्ततदादित्व के आ जाने के कारण प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है।

शंका होती है कि पर्युदासलभ्य अशास्त्रीय में भी शास्त्रीयवद् व्यवहार होने में क्या प्रमाण है ? तो उसका उत्तर देते हुए नागेश भट्ट का कहना है कि विपूर्वक स्कन्द् धातु से क्त प्रत्यय करने पर "अनिदिताम्" सूत्र से नकार का लोप करने के बाद नित्यत्वात् धातु के दकार और निष्ठा के तकार को नकार करके "विस्कन्नः" प्रयोग बनता है। यहाँ पर "वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्" सूत्र से सकार को मूर्धन्य षकार न होने लगे, इसलिए सूत्र में "अनिष्ठायाम्" यह पद है। इस पद में भी नञ् पर्युदासार्थक है। निष्ठा से भिन्न और निष्ठा सदृश कृत् प्रत्यय में ही षत्व

होता है। तिङ् प्रत्यय में नहीं होता है। यदि स्थानिवद्भाव यहाँ होता है तो नकार में निष्ठात्व का आगमन होगा। परिणाम यह होगा कि "वेः स्कन्देः" सूत्र की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए निष्ठात्व का लाना अशास्त्रीय कार्य है। अशास्त्रीय कार्य में स्थानिवद्भाव नहीं होता है, इसलिए स्थानिवद्भाव नहीं होगा। ऐसी स्थिति में स्वतः सिद्ध नकारनिष्ठ निष्ठात्वाभाव के आधार पर यहाँ षत्व होने लगेगा, तब जिस षत्वाभाव के लिए यहाँ "अनिष्ठायाम्" यह पर्युदास किया गया है उसकी क्या आवश्यकता है? यही "अनिष्ठायाम्" यह पद व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि पर्युदासलभ्य अशास्त्रीय में भी शास्त्रीय का व्यवहार होता है। प्रस्तुत स्थल में पर्युदास से लभ्य है कि निष्ठा प्रत्यय पर में रहने पर षत्व न हो। यह पर्युदासलभ्य अर्थ भी शास्त्रीय कहा गया, इसलिए षत्वाभाव के लिए भी स्थानिवद्भाव हो जाता है। परिणामस्वरूप नकार में निष्ठात्व आ जाने के कारण "विस्कन्नः" प्रयोग में मूर्धन्य षकार नहीं होता है।

"अनिष्ठायाम्" इस पद में पर्युदास को वृत्त्यादिसम्मत कहा गया है। इससे सूचित होता है कि यह मत भाष्यसम्मत नहीं है। इसी बात को लक्षित करते हुए कह रहे हैं कि तस्य = "अनिष्ठायाम्" इस पद के प्रसज्यप्रतिषेधपरक होने पर निष्ठा प्रत्यय पर में रहने पर स्कन्द् के सकार को मूर्धन्य षकार नहीं होता है, ऐसा सूत्रार्थ होगा। इसका परिणाम यह होगा कि षत्व का निषेध शास्त्रीय कार्य कहा जायेगा और उसके लिए स्थानिवद्भाव हो जायेगा। स्थानिवद्भाव होने से षत्व का निषेध हो जाने से इष्टसिद्धि हो जायेगी। ऐसी स्थिति में पर्युदासलभ्य अशास्त्रीय में शास्त्रीय व्यवहार कराने में प्रमाण क्या होगा? नागेश भट्ट इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि ऐसी स्थिति में लक्ष्यानुसारि व्याख्यान से ही उक्त अर्थ = पर्युदासलभ्य अशास्त्रीय में शास्त्रीयत्व का व्यवहार रूपी अर्थ की सिद्धि होती है, ऐसा समझना चाहिए।

केचित्तु भाष्ये 'तत्स्थानापन्ने तद्धर्मलाभस्य तत्कार्यस्य च लोकन्यायेनैव सिद्धेरयमतिदेशः स्वं रूपमित्येतच्छास्त्रसत्त्वाद्धन्तेः कार्यं वधौ न स्यादिती'त्युक्तम्। एवञ्च 'स्वं रूपमि'ति शास्त्राविषये तेन सिद्धिरिति सूचितम्। एवञ्चाशास्त्रीयस्यापि धर्मस्यातिदेशो भवत्येव। अतिप्रसङ्गस्तु लक्ष्यानुसारेण क्वचिल्लोकन्यायानाश्रयणेन परिहरणीयो यदि प्राप्नोति। एवञ्च न कश्चिद्दोषः। 'न पदान्ते'ति सूत्रे 'ब्राह्मणकण्डूतिरि'त्युदाहरणाच्च क्वचित्तदनाश्रयणम्। तत्र हि कण्डूयतेः क्तिचि तत्राल्लोपे तस्य स्थानिवत्त्वादुवङि यणि वाऽनादिष्टादचः पूर्वत्वे स्थानिद्वारके गृह्यमाणे ऊठ् न स्यादित्याहुः।

कुछ लोगों का कहना है कि "तत्स्थानापन्नस्तद्धर्मं लभते" इस लोकन्याय से तत्स्थानापन्न में तद्धर्म का और तत्कार्य का लाभ होता है, किन्तु इस न्याय से स्वरूपाश्रित कार्य नहीं होते हैं। इस शास्त्र में "स्वं रूपम्" सूत्र के कारण हन् स्वरूप को विहित "आङो यमहनः" सूत्र से आत्मनेपद रूपी कार्य वध इस आदेश में नहीं हो सकेगा। इसलिए जहाँ "स्वं रूपं" सूत्र का विषय हो, जैसे कि उपर्युक्त हन् धातु के स्थल में, ऐसे स्थलों के लिए "स्थानिवत्" सूत्र की उपादेयता है और जहाँ "स्वं रूपम्" इस सूत्र का विषय नहीं है वहाँ लौकिक न्याय से कार्य

कर लेना चाहिए। यही "स्वं रूपम्" सूत्र तथा लौकिक न्याय का विषयविभाग है। यह बात भाष्य में कही गई है।

इस प्रकार के विषयविभाग करने का परिणाम यह होता है कि लौकिकन्याय से अशास्त्रीय धर्म का भी अतिदेश होता ही है। जहाँ पर लौकिकन्याय की प्रवृत्ति से अतिप्रसंग (दोष) होता हो वहाँ लक्ष्यानुसार लौकिकन्याय का आश्रयण नहीं करना चाहिए। एवञ्च = ऐसा स्वीकार करने पर "तण्डुलान्" प्रयोग जैसे प्रयोगों में "कश्चिद् दोषो न" = कोई दोष नहीं होता है। कारण यह है कि तण्डुल—शस् वृत्ति प्रत्ययान्ततदादित्व लौकिकन्याय से "तण्डुलान्" में चला आयेगा। फलस्वरूप उसकी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी और नलोप नहीं होगा। यहाँ प्रत्ययान्ततदादित्व लाकर प्रातिपदिक संज्ञा को रोकना अशास्त्रीय कार्य है, किन्तु इस कार्य में भी लौकिक न्याय की प्रवृत्ति हो जाती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि जहाँ लौकिक न्याय के आश्रयण करने से कोई दोष पड़ता हो वहाँ उस न्याय का आश्रयण नहीं करना चाहिए। उदाहरण के लिए "न पदान्त" सूत्र में "ब्राह्मणकण्डूतिः" इस भाष्यकारीय प्रयोग को लिया जा सकता है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि कण्ड्वादि दो प्रकार के होते हैं—धातु और प्रातिपदिक। यदि "कण्डू" को धातु मानते हैं तब इससे "कण्ड्वादिभ्यो यक्" से यक् करके कण्डूय धातु बनाकर तथा प्रातिपदिक वाले पक्ष में "सुप आत्मनः क्यच्" से क्यच् प्रत्यय करके कण्डूय धातु बनाकर यगन्त तथा क्यजन्त "कण्डूय" धातु से क्तिच् प्रत्यय करके अकार का लोप तथा यकार का लोप करने के बाद अल्लोप का स्थानिवद्भाव करके धातुपक्ष में ऊकार को उवङ् और प्रातिपदिक पक्ष में ऊकार को यण् करने के बाद "कण्डुव्-ति" "कण्ड्व्-ति" इस स्थिति में "च्छ्वोः शूड्" से ऊठ् और दीर्घ करके "कण्डूतिः" यह प्रयोग बनता है। यहाँ यदि अकारलोप का स्थानिवद्भाव हो जाय तो ति प्रत्यय और वकार के मध्य अकार का व्यवधान हो जाने से वकार को ऊठ् नहीं होगा। किन्तु स्थानिवद्भाव यहाँ नहीं होता है, क्योंकि जिस वकार को ऊठ् करना है वह लोप के स्थानीभूत अकार से पूर्वत्वेन दृष्ट ही नहीं है। कारण यह है कि वकार के आने से पहले ही अकार का लोप हो गया था। यदि कहा जाय कि वकार स्थानीभूत अच् (अकार) से पूर्वत्वेन दृष्ट भले न हो किन्तु वकार का स्थानीभूत ऊकार तो अकार से पूर्वत्वेन दृष्ट है ही। लौकिकन्याय से अशास्त्रीय धर्म के आने की बात स्वीकार्य ही है। ऐसी स्थिति में "ऊकारवृत्ति स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टत्व" जो अशास्त्रीय धर्म है, वह यदि लौकिकन्याय से वकार में चला आवे तो अकार का स्थानिवद्भाव हो जायेगा। इसका परिणाम यह होगा कि अकार से व्यवधान होने के कारण वकार को ऊठ् नहीं होगा। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि लौकिकन्याय के आश्रयण करने से यहाँ दोष आता है, इसलिए यहाँ लौकिकन्याय का आश्रयण नहीं किया जाता है।

अत एवार्थवत्सूत्रशेषेऽप्रत्यय इत्यस्य पर्युदासत्वमेवोक्तं भाष्ये। तत्र पक्षे च 'काण्डे' इत्यत्र पूर्वान्तवद्भावेन प्रत्ययान्तभिन्नत्वाद्दोषः शङ्कितो, न तु स्वाश्रयाप्रत्ययान्तत्वेन। 'क्षियो दीर्घादि'ति सूत्रे भाष्येऽपि अतिदिश्यमान-धर्मविरुद्धस्वाश्रयकार्याभाव इति स्फुटम्। तत्र हि क्षिय इत्यत्रेयङर्थं प्रकृतिवदतिदेशे स्वाद्यनुत्पत्तिमाशङ्क्य—'एवं तर्हि आतिदेशिकानां स्वाश्रयाणि न निवर्तन्ते' इति

समाधायातिदिश्यमानधर्मविरुद्धस्वाश्रयनिवृत्तेरावश्यकत्वाभिप्रायेण 'अथाप्येतन्ने'त्याशङ्क्य 'निर्देशसामर्थ्याद्विभक्तिरि'त्युक्तम्। असिद्धवत्सूत्रे च कैयटे स्फुटमेतत्।

यत्तु गाङ्कुटादिसूत्रे भाष्ये—'सृजिदृशोरि'त्यत्राकितीति पर्युदासात्सिसृक्षतीत्यत्र 'हलन्ताच्चे'ति कित्त्वातिदेशेऽपि अमागममाशङ्क्य—प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणेन समाहितं, तत्तु वार्तिककृदुक्तमुपायान्तरं बोद्धव्यम्।

पहले जिस पर्युदास की चर्चा हो चुकी है उस पर्युदास से बोध्य अर्थ को दृढ़ करने के लिए प्रस्तुत पंक्तियाँ कह रहे हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि उपर्युक्त विवेचन से तीन बातें सामने आई हैं। पहली बात तो यह है कि अतिदिश्यमान धर्म से विरुद्ध स्वाश्रय धर्मप्रयुक्त कार्य नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि पर्युदासलभ्य अशास्त्रीय में भी शास्त्रीयत्व का अतिदेश होता है और तीसरी बात यह है कि "स्वं रूपम्" इस शास्त्र का जहाँ विषय नहीं है वहाँ लौकिक न्याय की प्रवृत्ति होती है। इन तीनों बातों को सन्दर्भित करते हुए प्रस्तुत स्थल की व्याख्या इस प्रकार है—

अत एव = उपर्युक्त तीनों तथ्यों को स्वीकार करने से ही "अर्थवत्" सूत्रशेष में "अप्रत्ययः" इस पद में भाष्यकार ने "पर्युदासत्व" ही कहा। वहाँ पर उन्होंने "काण्डे" इस प्रयोग में पूर्वान्तवद्-भाव से काण्डनिष्ठ प्रत्ययान्तभिन्नत्व को लाकर प्रातिपदिकत्व की शंका की है। यद्यपि "काण्डे" में स्वतः सिद्ध प्रत्ययान्तभिन्नत्व है तथापि उसके आधार पर प्रातिपदिकत्व की आशंका नहीं की। इससे स्पष्ट होता है कि भाष्यकार इस बात से सहमत है कि "काण्ड + इ" वृत्ति, जो प्रत्ययान्ततदादित्व है, वह आनुमानिक स्थान्यादेशभाव से "काण्डे" में चला आयेगा तो तद्-विरुद्ध स्वाश्रयधर्म जो प्रत्ययान्तभिन्नत्व है, तत्प्रयुक्त प्रातिपदिकत्व नहीं हो सकता है। इसलिए स्वाश्रयप्रत्ययान्तभिन्नत्वेन शंका न करके पूर्वान्तवत्वेन प्रत्ययान्तभिन्न लाकर शंका किये हैं। इस प्रकार अतिदिश्यमानधर्मविरुद्ध स्वाश्रयधर्मप्रयुक्त कार्याभाव को भाष्यकार स्वीकार करते हैं, यह बात स्पष्ट होती है।

यदि कहा जाय कि स्थानिवत्त्वेन प्रत्ययान्तत्व को लाकर शास्त्र की अप्रवृत्ति अशास्त्रीय कार्य है, इसलिए वहाँ स्थानिवद्भाव होगा ही नहीं। ऐसी स्थिति में स्वाश्रयप्रत्ययान्तभिन्नत्वेन ही यहाँ प्रातिपदिकत्व की शंका करनी चाहिए थी? तो इस शंका का उत्तर यह है कि "अप्रत्ययः" इस पद में पर्युदास का यह फलितार्थ निकलता है कि "प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा न होवे"। इस पर्युदासलभ्य अशास्त्रीय में भी शास्त्रीयत्व का अतिदेश होता है, इसलिए इस कार्य के लिए भी स्थानिवद्भाव होने में कोई बाधा न होने से यहाँ स्थानिवत्त्वेन प्रत्ययान्ततदादित्व अवश्य आ जायेगा, इसीलिए भाष्यकार ने स्वतः सिद्ध स्वाश्रयप्रत्ययान्तभिन्नत्वेन शंका न करके पूर्वान्तवत्वेन प्रत्ययान्तभिन्नत्व लाकर शंका की है। इस प्रकार इस दूसरे तथ्य की भी पुष्टि होती है कि पर्युदासलभ्य अशास्त्रीय में शास्त्रीयातिदेश होता है।

इसी प्रकार "स्वं रूपम्" सूत्र की प्रवृत्ति विशिष्टरूपोपादान स्थल में होने के कारण "अर्थवत्" सूत्र में जहाँ किसी विशिष्ट रूप का उपादान न करके अर्थवत् इस सामान्यार्थक पद का उल्लेख किया गया है, वहाँ नहीं होती है। ऊपर बताया जा चुका है कि जहाँ "स्वं रूपम्" सूत्र की

प्रवृत्ति नहीं होती है, वहाँ लौकिकन्याय की प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में "तण्डुलान्" इस प्रयोग में लौकिकन्याय से "तण्डुल-शस्" वृत्ति प्रत्ययान्ततदादित्व चला आयेगा। परिणाम यह होगा कि लौकिकन्याय से अतिदिश्यमान धर्म प्रत्ययान्ततदादित्व के विरुद्ध स्वाश्रय धर्म प्रत्ययान्ततदादिभिन्नत्वप्रयुक्त कार्य प्रातिपदिकत्व रूपी कार्य "तण्डुलान्" इस प्रयोग में नहीं होगा। इस प्रकार यहाँ प्रातिपदिकत्व का अभाव सुतराम् सिद्ध हो जाता है। इसीलिए "अप्रत्ययः" इस पद में गौरवग्रस्त प्रसज्य को न मान कर लाघवमूलक पर्युदास माना गया है। इस प्रकार इस तीसरी बात की भी पुष्टि हो जाती है कि "स्वं रूपम्" इस शास्त्र के अविषयस्थल में लौकिकन्याय की प्रवृत्ति होती है और यह बात भाष्यसम्मत है।

"क्षियो दीर्घात्" इस सूत्र के भाष्य में भी अतिदिश्यमान धर्म से विरुद्ध स्वाश्रय धर्म-प्रयुक्त कार्य का अभाव स्पष्ट रूप में कहा गया है। इस सूत्र में आया हुआ "क्षि" यह "क्षि धातु" का अनुकरण है। अनुकरण अनुकार्य से भिन्न होता है। ऐसी स्थिति में सूत्रस्थ "क्षि" यह धातु नहीं है। सूत्रस्थ अनुकरण "क्षि" जब धातु नहीं है तब यहाँ "अचि श्नु" सूत्र से इयङ् कैसे होगा? इस दोष को दूर करने के लिए "प्रकृतिवदनुकरणं भवति" यह नियम स्वीकार करके अनुकरण में धातुत्व का अतिदेश किया जाता है। इस प्रकार धातुत्व के आधार पर वहाँ इयङ् की सिद्धि होने पर भी "अधातु" इस पर्युदास के कारण "क्षि" की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकेगी और प्रातिपदिकत्वाभाव में विभक्ति की उत्पत्ति कैसे होगी? ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि "आतिदेशिकानां स्वाश्रयाणि न निवर्तन्ते" अर्थात् आतिदेशिक शब्दों के स्वाश्रय कार्य निवृत्त नहीं होते हैं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सूत्रस्थ "क्षि" में धातुत्व का अतिदेश हुआ है तथापि उसमें स्वतःसिद्ध जो धातुभिन्नत्व है वह निवृत्त नहीं हुआ है। इसलिए स्वतः सिद्ध धातुभिन्नत्व के आधार पर इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हो जायेगी। ऐसा समाधान देकर भाष्यकार पुनः कहते हैं—"यद्येवं न स्याद् 'क्षियः' इति निर्देशादेव विभक्त्युत्पत्तिरिति"। इसका तात्पर्य यह है कि यदि इस प्रकार "क्षि" की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है तब "क्षियः"इस निर्देश के आधार पर इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हो जायेगी, क्योंकि बिना प्रातिपदिक संज्ञा के विभक्ति नहीं आयेगी और इयङ् नहीं होगा तो "क्षियः" यह निर्देश कैसे बनेगा? इसलिए निर्देशसामर्थ्यात् यहाँ प्रातिपदिक संज्ञा और विभक्ति की उत्पत्ति होगी। यहाँ विचार यह करना है कि भाष्यकार ने पहले तो यह कह कर समाधान दिया कि आतिदेशिक शब्दों के स्वाश्रय कार्य निवृत्त नहीं होते हैं, तो पुनः यह क्यों कहा कि यदि इस प्रकार यहाँ विभक्ति नहीं आती है तो "क्षियः" इस निर्देश के सामर्थ्य से विभक्ति की उत्पत्ति होगी? इस भाष्यकथन से यह व्यक्त होता है कि यह बात भाष्यकार को भी अभिमत है कि अतिदिश्यमान धर्म से विरुद्ध स्वाश्रयधर्मप्रयुक्त कार्य नहीं होता है। प्रस्तुत स्थल में "क्षि" इस सूत्रस्थ शब्द में जब धातुत्व का अतिदेश कर दिया गया है तब उससे विरुद्ध स्वाश्रय धर्म धातुत्वाभावप्रयुक्त प्रातिपदिकत्व नहीं हो सकेगा। इसलिए "क्षियः" इस निर्देश के आधार पर प्रातिपदिक संज्ञा और विभक्ति की उत्पत्ति की बात भाष्यकार ने कही। "असिद्धवत्" सूत्र के कैयट में भी अतिदिश्यमान धर्मविरुद्ध स्वाश्रयधर्मप्रयुक्त कार्य के अभाव का प्रतिपादन किया गया है।

कुछ लोगों का कहना है कि "सृजिदृशोः" इस सूत्र में जो "अकिति" यह पद है, इसमें

पर्युदास स्वीकार करने पर "सिसृक्षति" इस प्रयोग में "हलन्ताच्च" सूत्र से सन् में कित्त्वातिदेश करने पर भी स्वाश्रय किद्भिन्नत्व को लेकर जो अम् का आगम प्राप्त होता है उसका वारण भाष्यकार ने "अकिति" इस प्रयोग में प्रसज्यप्रतिषेध मान कर किया है। कित् प्रत्यय पर में रहने पर अमागम न हो, इस प्रकार प्रसज्य के द्वारा निषेध किया है। इससे स्पष्ट होता है कि अतिदिश्यमान धर्मविरुद्ध वाला नियम भाष्यकार को अभिप्रेत नहीं है। अन्यथा यदि यह नियम भाष्यकार को अभिमत होता तो अतिदिश्यमान धर्म कित्त्वधर्म, तद्विरुद्ध स्वाश्रय धर्म किद्भिन्नत्वधर्म तत् प्रयुक्त अम् का आगम तो स्वयमेव नहीं होता। ऐसी स्थिति में भाष्यकार ने यह समाधान न देकर जो प्रसज्यप्रतिषेध के द्वारा समाधान दिया है इससे विदित होता है कि अतिदिश्यमान आदि नियम भाष्यकार को मान्य नहीं है। ऐसा जो कुछ लोगों का कहना है वह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रसज्यप्रतिषेध के द्वारा जो भाष्यकार ने समाधान दिया है, वह एक उपायान्तर (दूसरे उपाय) का प्रदर्शन मात्र है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अतिदिश्यमान इत्यादि नियम भाष्यकार को मान्य नहीं है। एक कार्य के लिए अनेक उपाय हो सकते हैं। इसी में भाष्य का तात्पर्य है।

'अनल्विधावि'ति विधिग्रहणादलाश्रये विधावित्यर्थाद्यत्र विधौ शब्दतः स्थानि-स्थान्यवयवान्यतराल्वृत्तिधर्मवतस्तेन तस्मात्तस्य तस्मिंस्तदादेरित्यादिप्रकारेण विशेष्यतया विशेषणतया वा अलाश्रयणं तत्र निषेधः। "व्यूढोरस्केन, द्यौः, द्युभ्यां, क इष्टः, प्रपठ्ये"त्युदाहरणानि। 'शब्दत' इत्युक्तेरग्रहीदित्यादौ 'इट ईटी'ति सिद्ध्यति। दीर्घविधावत्र च 'इट' इति समुदायाश्रयणात्। अन्यथा टस्यानुबन्धत्वादिकारस्यैवोभयत्राश्रयणमित्यल्विधित्वं स्यात्।

"अनल्विधौ" इस पद में जो विधि ग्रहण किया गया है वह यदि न भी किया गया होता तो आक्षेप से विधि का लाभ हो सकता था। ऐसी स्थिति में विधिग्रहण के सामर्थ्य से यह बात स्पष्ट होती है कि जिस विधि में शब्दतः स्थानी रूपीअल्वृत्तिधर्म का ग्रहण किया गया हो अथवा स्थान्यवयव अल्वृत्ति-अल्मात्रवृत्तिधर्म का ग्रहण किया गया हो, वहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता है। इसका फल यह होता है कि "अग्रहीत्" प्रयोग में "अग्रह्-इ-स्-ई-त्" इस स्थिति में "ग्रहोऽलिटि" सूत्र से इट् के इकार को दीर्घ करने के बाद उसी दीर्घ ईकार में स्थानिवद्भाव से इट्त्व धर्म लाकर "इट ईटि" सूत्र से सकार का लोप होता है। स्थानिवद्भाव करने में यहाँ "अनल्विधौ" यह निषेध नहीं लगता है, क्योंकि दीर्घविधि में तथा अत्र च = "इट ईटि" इस सूत्र में इट्-समुदाय का आश्रयण किया गया है, जो अल् नहीं है और इट्त्वधर्म अल्मात्रवृत्ति-धर्म नहीं है। अन्यथा = "शब्दतः" इस पद को नहीं कहने पर यहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता क्योंकि इट् में टकार तो अनुबन्ध है, इसलिए दीर्घ तथा लोप विधि इन दोनों जगहों पर इकार का ही आश्रयण करने से उक्त दोनों विधियाँ अल्विधि कही जातीं और परिणामस्वरूप स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता। "शब्दतः" इस पद का उल्लेख करने से इकार का कहीं भी (उक्त दोनों जगहों में) शब्दतः आश्रयण न करने के कारण "अनल्विधौ" से निषेध नहीं होता है।

यहाँ विधिग्रहण का दूसरा फल बताते हुए कह रहे हैं कि यदि यहाँ विधिग्रहण नहीं किया गया होता, किन्तु उसका आक्षेप किया जाता तो अनल् शब्द को पद बनाने के लिए तृतीयान्त, पञ्चम्यन्त, षष्ठ्यन्त और सप्तम्यन्त में से किसी एक ही विभक्त्यन्त में उसका प्रयोग किया जाता। परिणाम यह होता कि विधिग्रहण करने पर जिस प्रकार 'अला विधिः अल्विधिः, अलः परस्य विधिः अल्विधिः, अलः स्थाने विधिः अल्विधिः तथा अलि विधिः, अल्विधिः" इन चार प्रकार के समासों के द्वारा चार प्रकार की विधियाँ अल्विधि कही जाती हैं। यह बात विधिग्रहण न करने पर नहीं होती, क्योंकि "अनल्" शब्द के आगे एक साथ चारों विभक्तियाँ तो आ सकती नहीं, आयेगी तो कोई एक ही विभक्ति। इस प्रकार उपर्युक्त चार प्रकार के अर्थों की उपलब्धि नहीं हो सकती थी। इसलिए सूत्र में विधिग्रहण किया गया है। इसका अल् शब्द से उक्त विभक्तिचतुष्टय को लाकर चार प्रकार का समास करके उन सभी विधियों को अल्विधि कहा जाता है।

यदि कहा जाय कि सूत्र में "अनल्" शब्द को निर्विभक्तिक ही रख कर और विधि शब्द का आक्षेप करके उस निर्विभक्तिक अनल् शब्द का विधि शब्द के साथ चारों प्रकार का समास हो सकता है, तो ऐसी स्थिति में विधिग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि विधिग्रहणसामर्थ्यात् यह बात ज्ञापित की जाती है कि विशेष्यतया या विशेषणतया किसी रूप में यदि अल् का आश्रयण किया जाता है तो वहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होगा। इस प्रकार सूत्र में विधिग्रहण विशेष्य रूप में अथवा विशेषण रूप में किसी भी रूप में अल् का आश्रयण करने पर समासचतुष्टय के द्वारा चारों जगहों पर स्थानिवद्भाव का निषेध करने के लिए आवश्यक होता है।

उक्त चारों प्रकार के समासों का क्रमशः उदाहरण दे रहे हैं। उनमें "अला विधिः अल्विधिः" इस तृतीया समास का उदाहरण "व्यूढोरस्केन" यह पद है। "व्यूढम् उरः यस्यासौ व्यूढोरस्कः, तेन" इस विग्रह से निष्पन्न इस पद में विसर्ग के स्थान पर निष्पन्न सकार में स्थानिवद्भाव से विसर्गत्व अथवा विसर्गवृत्ति अट्त्व लाकर "अट्कुप्वाङ्" सूत्र से नकार को णकार करने में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि विसर्ग का पाठ अकार के बाद वर्णसमाम्नाय में माना गया है, इसलिए विसर्ग अट् है। "अट्कुप्वाङ्" सूत्र के द्वारा अट् के व्यवधान में नकार को णकार का विधान करने के कारण यहाँ अल् का प्राधान्येन आश्रयण किया गया है। अट् की जगह यदि ऐसा कहा गया होता कि "अट् आदिर्यस्य तस्य अडादेः" अर्थात् अडादि शब्द के व्यवधान में नकार को णकार हो, तब यह णत्वविधि अप्राधान्येन अलाश्रय विधि कही जाती। ऐसा न होने से यहाँ विशेष्यतया अलाश्रय विधि समझना चाहिए।

"अलः परस्य विधिः" इस पञ्चमी समास का उदाहरण "द्यौः" यह पद है। यहाँ वकारवृत्ति हल्त्व धर्म स्थानिवद्भाव से औकार में लाकर उससे पर में सु विभक्ति का हल्ङ्यादि लोप नहीं होता है। हलन्त से पर में सु के अपृक्त हल् का लोप करने के कारण हल् रूपी अल् का यहाँ विशेषणतया आश्रयण किया गया है।

षष्ठी समास का उदाहरण "द्युभ्याम्" यह पद है। यहाँ "दिव् + भ्याम्" इस स्थिति में "दिव उत्" सूत्र से वकार को उकार किया गया है। स्थानिवद्भाव से वकारवृत्ति वत्व उकार

में लाकर "लोपो व्योर्वलि" सूत्र से यहाँ लोप नहीं होता, क्योंकि अल्स्थानिक विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। यहाँ भी अल् का आश्रयण विशेष्यतया ही हुआ है, क्योंकि लोपविधि में वकार और यकार का ही आश्रयण किया गया है।

सप्तमी समास का उदाहरण "क इष्टः" यह प्रयोग है। यज् धातु से क्त प्रत्यय और यकार को सम्प्रसारण इकार करके "इष्टः" प्रयोग बनता है। यहाँ यकारस्थानिक इकार को स्थानिवद्भाव से हश् मान कर ककारोत्तर रुकार को "हशि च" सूत्र से उत्व नहीं होता है, क्योंकि अल्परक विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। यहाँ भी अल् का आश्रयण विशेष्य रूप में ही हुआ है।

विशेषणतया अलाश्रय विधि का उदाहरण "प्रपठ्य" यह प्रयोग है। यहाँ क्त्वावृत्ति वलादित्व स्थानिवद्भाव से ल्यप् में लाकर "आर्धधातुकस्य" सूत्र से इट् नहीं होता, क्योंकि यहाँ स्थानिवद्-भाव का निषेध हो जाता है। वलादि आर्धधातुक को इट् का विधान करने के कारण वल् रूपी अल् का विशेषणतया यहाँ आश्रयण किया गया है।

स्थानीभूत अल् का या स्थान्यवयव अल् का जहाँ शब्दतः उल्लेख हो वहीं पर 'अनल्विधौ यह निषेध लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि "अग्रहीत्" प्रयोग में "इट ईटि" सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है। इस बात का विधिवत् विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

अत्र सूत्रे विशेषातिदेशोऽपि। अन्यथा इडादेरपि क्त्वः सत्त्वाद्वलादित्वस्य तद्विशेषधर्मत्वादुपस्थितधर्मैस्तद्व्यापकधर्मैश्च विध्याकाङ्क्षापूरणे सति तदतिरिक्त-विशेषग्रहणे मानाभाव इत्येतन्न्यायमूलकेन सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशेन सिद्धौ—विशेषणतयाऽलाश्रयणे निषेध—इत्येतत्प्रतिपादकस्यानलित्येव सिद्धे कृतस्य विधिग्रहणस्य वैयर्थ्यं स्यात्। हलादिक्ङिन्निमित्तकेत्वप्रतिषेधका'न ल्यपी'ति लिङ्गाच्च।

ऊपर बताया जा चुका है कि इस सूत्र में विधिग्रहण चार प्रकार के समास के द्वारा चार प्रकार की अल्विधियों के लिए आवश्यक है। इन विधियों में अल् का आश्रयण विशेष्य रूप में हो या विशेषण रूप में हो, इसके ऊपर कोई आग्रह नहीं है। इस पृष्ठभूमि के ऊपर पुनः शंका होती है कि लोक में जब कहा जाता है कि "ब्राह्मणवत् अस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यम्" अर्थात् इस क्षत्रिय में ब्राह्मण के समान व्यवहार करना चाहिए, तो ऐसा कहने पर उस क्षत्रिय में ब्राह्मण के सामान्य धर्म अग्रासनलाभकर्तृत्व आदि का ही अतिदेश होता है। ब्राह्मण के विशेष धर्म अध्यापन, प्रतिग्रह आदि का उसमें अतिदेश नहीं होता है। "सर्वे ब्राह्मणा भोज्यन्ताम् माठरकौण्डिन्यौ परिवेविषाताम्"—यहाँ भोजनकर्तृत्व सामान्य धर्म तथा परिवेणकर्तृत्व विशेष धर्म है। इनमें से क्षत्रिय में भोजनकर्तृत्व का तो अतिदेश हो सकता है, किन्तु परिवेषणकर्तृत्व का अतिदेश नहीं हो सकता; क्योंकि वह ब्राह्मण का विशेष धर्म है।

उपर्युक्त लोकव्यवहार के आधार पर परिभाषा सिद्ध होती है कि "सामान्यातिदेशे विशेषातिदेशो न" अर्थात् सामान्य धर्म का अतिदेश सम्भव होने पर विशेषधर्म का अतिदेश नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा जहाँ आदेश का स्थानिवद्भाव करते हैं, वहाँ स्थानी में

कोई-न-कोई धर्म तो रहता ही है। साथ ही स्थानिवृत्तिधर्म का व्यापक धर्म भी वहाँ रहता है। उदाहरंण के लिए "ङेर्यः" सूत्र को लिया जा सकता है। यहाँ ङे के स्थान पर 'य' आदेश किया जाता है। इसके बाद यादेश को "स्थानिवत्" सूत्र से ङे के तुल्य किया जाता है। यहाँ ङे में ङेत्व और सुप्त्व ये दो धर्म हैं। ङेत्व स्थानितावच्देदक धर्म तथा सुप्त्व उसका व्यापक धर्म है। स्थानिवद्भाव के द्वारा यहाँ स्थानितावच्छेदक तथा उसके व्यापकीभूत धर्म का तो अतिदेश किया जा सकता है, किन्तु इन दोनों की अपेक्षा स्थानितावच्छेदक के व्याप्य (विशेष) धर्म का अतिदेश नहीं किया जा सकता है। यहाँ पर ङेत्व के व्यापक धर्म सुप्त्व को लाकर "सुपि च" सूत्र से दीर्घ किया जाता है। ङेत्व के व्याप्य किसी धर्म की उपस्थिति न होने के कारण उसके अतिदेश का यहाँ प्रश्न ही नहीं होता।

इस पृष्ठभूमि में "प्रदीव्य" इस प्रयोग में जहाँ क्त्वा प्रत्यय हुआ है वहाँ क्त्वात्व के व्याप्य (विशेष) धर्म वलादित्व का अतिदेश नहीं हो सकता, क्योंकि विशेष धर्म का अतिदेश नहीं होता है। वलादित्व धर्म क्त्वात्व का विशेष धर्म इसलिए है कि "पठित्वा" आदि प्रयोगों में क्त्वा प्रत्यय को जहाँ इट् होता है वहाँ यदागमन्याय से इडादि में भी क्त्वात्व रहता ही है। इस प्रकार क्त्वात्व धर्म व्यापक है तथा वलादित्व धर्म उसका व्याप्य या विशेष धर्म होता है। ऐसी स्थिति में "सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः" इस परिभाषा के द्वारा उपस्थित धर्म (स्थानितावच्छेदक धर्म) और उसके व्यापकीभूत धर्म के अतिदेश से ही सर्वत्र जब विधिशास्त्र की आकांक्षापूर्ति हो जाती है, जैसे कि "ङेर्यः" में हुई है, तो स्थानितावच्छेदक के व्याप्य धर्म प्रस्तुत (प्रदीव्य) में क्त्वात्व के व्याप्य धर्म वलादित्व का अतिदेश नहीं होगा। ऐसी स्थिति में जब कि "प्रदीव्य" इस प्रयोग में वलादित्व का आगमन स्वतः नहीं हो रहा है तो यहाँ स्थानिवद्भाव के निषेध के लिए विशेषणतया जहाँ अल् का आश्रयण हो, ऐसे अल्मात्रवृत्तिधर्मघटित धर्म-निमित्तक विधि में स्थानिवद्भाव के निषेध के लिए किये गये विधिग्रहण की सूत्र में क्या आवश्यकता है? वहाँ पर तो "अनल्" इस प्रातिपदिक मात्र का निर्देश करके तथा विधि का आक्षेप करके कार्य चल सकता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इस प्रकार विधिग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अत्र सूत्रे = इस सूत्र में विशेषातिदेश भी होता है। अन्यत्र विशेषातिदेश नहीं होता। यहाँ 'अपि' शब्द दिया हुआ है, उससे यह समझना चाहिए कि सामान्यातिदेश तो होता ही है। इस प्रकार जब विशेषातिदेश होने लगा तब क्त्वात्व का व्याप्य धर्म वलादित्व का अतिदेश "प्रदीव्य" प्रयोग में होने लगेगा। इसके वारण के लिए विशेषणतया अलाश्रय विधि में स्थानिवद्भाव के वारण के लिए सूत्र में विधिग्रहण की सार्थकता होती है।

इस स्थानिवत् सूत्र के द्वारा विशेषातिदेश भी होता है, इस बात में "न ल्यपि" यह सूत्र भी प्रमाण है। यह सूत्र "प्रमाय", "प्रगाय" इत्यादि प्रयोगों में स्थानिवद्भाव के द्वारा हलादिकित्त्व लाकर "घुमास्था" सूत्र से प्राप्त इत्व के वारण के लिए किया गया है। यदि विशेष धर्म का अतिदेश न हो तो क्त्वात्व का व्याप्य (विशेष) धर्म कित्त्व का अतिदेश ही नहीं होगा; ऐसी स्थिति में उक्त प्रयोगों में कित्त्वातिदेश के अभाव में इत्व की स्वयमेव प्राप्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में इत्व के निषेध के लिए किये गये "न ल्यपि" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार यह सूत्र भी व्यर्थ होकर यहाँ विशेषातिदेश होता है, इस बात का ज्ञापन करता है। यहाँ

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कित्त्व धर्म क्त्वात्व का व्याप्य धर्म इसलिए है कि जहाँ "शयित्वा" आदि प्रयोगों में क्त्वा को इट् का आगम होता है वहाँ "न क्त्वा सेट्" सूत्र से क्त्वा प्रत्यय के कित्त्व का निषेध कर दिया जाता है। इस प्रकार वहाँ क्त्वा त्व धर्म तो रहता है पर कित्त्व वहाँ नहीं रहता। इसलिए कित्त्व धर्म क्त्वात्व का व्याप्य धर्म है।

अनुबन्धकार्ये त्वनल्विधाविति निषेधो न, अनुबन्धानामनेकान्तत्वात्। एकान्तत्वेऽपि शिद्ग्रहणेन तेषामल्व्यवहाराभावज्ञापनात्। "नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वमि'ति ज्ञापयती"ति भाष्ये'ऽल्त्वव्यवहाराभावबोधनद्वारे'ति शेषः।

ध्वनितञ्चेदं—'क्ङिति च' 'गाङ् लिटि' 'हलः श्न' इति सूत्रेषु भाष्ये। तत्राऽऽद्ये—'यासुटो ङिद्वचनान्ङिदादेशा ङितो न इति ज्ञाप्यते'इत्युक्तम्। द्वितीये—गाङो ङित्त्वस्य सानुबन्धकादेशे इत्कार्याभावज्ञापकतोक्ता, तिबाद्यादेशेषु पित्त्वासिद्ध्या दूषितञ्च ज्ञापकम्। अन्त्ये—शानचः शित्त्वस्य सार्वधातुकादेशेऽनुबन्धास्थानिवत्त्वज्ञापकत्वमुक्तम्, उक्तदूषणैरेव दूषितञ्च। अन्यथाऽनल्विधाविति निषेधेन तत्त्वाप्राप्त्या ज्ञापकत्वासङ्गतिः, तिबाद्यादेशेषु पित्त्वाद्यसिद्धिश्चेति बोद्धयम्।

अब शंका यह हो रही है कि इस सूत्र में विशेषातिदेश को स्वीकार करने पर भी "न ल्यपि" यह सूत्र व्यर्थ ही है, क्योंकि जो कित्त्व धर्म है वह स्थान्यवयव ककारवृत्ति कत्व धर्म से घटित है और स्थान्यवयवाल्वृत्तिधर्मघटित जो धर्म तन्निमित्तक विधि में "अनल्विधौ" से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। इस प्रकार जब यहाँ स्थानिवद्भाव से कित्व आयेगा ही नहीं तो इत्व की प्राप्ति न होने के कारण उसके निषेध के लिए किया गया "न ल्यपि" यह सूत्र व्यर्थ ही है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि अनुबन्ध कार्य में "अनल्विधौ" यह निषेध नहीं लगता है। कारण यह है कि अनुबन्ध अनेकान्त होते हैं। अनेकान्त का अर्थ अनवयव है। इस प्रकार जब अनुबन्ध अनवयव हैं तो कित्त्व स्थान्यवयव अल्वृत्तिधर्म ही नहीं कहा जायेगा, इसलिए 'अनल्विधौ' यह निषेध नहीं लगेगा। इस प्रकार स्थानिवद्भाव के हो जाने से प्राप्त इत्व के वारण के लिए "न ल्यपि" सूत्र सार्थक होता है।

यदि कहा जाय कि अनुबन्ध तो वस्तुतः अवयव होते ही हैं, तो इस पक्ष में तो स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने के कारण "न ल्यपि" का सार्थक्य कैसे होगा? इस प्रश्न के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि अनुबन्धों के एकान्तत्व पक्ष में भी "अनेकाल् शित् सर्वस्य" सूत्र में किये गये शित्करण से यह ज्ञापन करेंगे कि अनुबन्धों में अल्त्व का व्यवहार नहीं होता है। अन्यथा औश् का शकार भी अवयव कहा जाता तो औश् आदेश अनेकाल्त्वात् ही सर्वादेश हो जाता, तो पुनः उसे सर्वादेश के लिए उक्त सूत्र में शित् ग्रहण क्यों किया गया? इस शित् ग्रहण से अनुबन्ध में जब अल्त्वाभाव का ज्ञापन कर दिया गया तब कित्त्व स्थान्यवयवाल्वृत्तिधर्म नहीं कहा जायेगा, इसलिए निषेध की प्रवृत्ति न होने के कारण स्थानिवत्त्वेन प्राप्त इत्व के वारण के लिए "न ल्यपि" यह सूत्र सार्थक होता है। यदि कहा जाय कि "अनेकाल्" सूत्र का शित् ग्रहण तो "नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्" इस परिभाषा के ज्ञापन के लिए सार्थक है,

तो उससे यह ज्ञापन कैसे करेंगे कि अनुबन्ध में अल्त्व व्यवहार का अभाव होता है ? नागेश भट्ट इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दे रहे हैं कि भाष्यकार ने यह जो कहा है कि "अनेकाल् सूत्र का शित् ग्रहण "नानुबन्धकृत" इस परिभाषा का ज्ञापन करता है", इस भाष्य का तात्पर्य यह है कि शित् ग्रहण अनुबन्ध में अल्त्व व्यवहार के अभाव का ज्ञापन करते हुए उसके द्वारा ही उक्त परिभाषा का ज्ञापक होता है। कारण यह है कि जब अनुबन्ध में अल्त्व व्यवहार का अभाव हो गया तो नानुबन्धकृत अनेकाल्त्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

एकान्तत्व पक्ष में अनुबन्धों में अल्त्व व्यवहार का अभाव होता है, यह बात "क्ङिति च", "गाङ् लिटि" और "हलः श्नः" इन सूत्रों के भाष्यों में ध्वनित है। इनमें पहले सूत्र के भाष्य में कहा है कि लिङ् लकार में जो यासुट् होता है उसका ङित्करण जो किया गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि लिङ्वृत्ति ङित्त्व स्थानिवद्भाव से तिबादि प्रत्ययों में आ जायेगा और यदागम परिभाषा से वह यासुट् में चला जायेगा। ऐसी स्थिति में यासुट् का ङित्करण उचित नहीं है ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने कहा कि इस ङित्करण से यह ज्ञापन किया जाता है कि ङित् के स्थान पर जो आदेश होता है वह ङित् नहीं होता है। इसलिए ङित्करण सार्थक है। अब इसके ऊपर यह विचार करना है कि यदि अनुबन्धों में अल्त्व का व्यवहार होता तब ङित्त्वधर्म अल्वृत्तिधर्मघटित धर्म कहा जाता। ऐसी स्थिति में "अनल्विधौ" से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने के कारण लिङ्वृत्ति ङित्त्व तिबादि में आता ही नहीं तो यासुट् भी ङित् नहीं होता, इसलिए उसका ङित्करण तो सार्थक ही था, तो भाष्यकार ने उसके द्वारा उक्त ज्ञापन कैसे किया ? इससे समझते हैं कि अनुबन्धों में अल्त्वव्यवहार नहीं होता है। इसलिए ङित्त्व के अल्त्वव्याप्यधर्मघटित धर्म न होने के कारण स्थानिवद्भाव सुलभ था। इस प्रकार भाष्यकारीय ज्ञापन संगत होता है।

दूसरे सूत्र में इस प्रकार कहा गया है कि इङ् धातु को जो गाङ् आदेश किया जाता है उसका ङित्करण अनावश्यक है, क्योंकि इङ् का ङित्त्व स्थानिवद्भाव से गाङ् में चला ही आयेगा। इस प्रकार गाङ् आदेश का ङित्करण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि सानुबन्धक आदेश में स्थानीवृत्ति अनुबन्धत्वप्रयुक्त कार्य नहीं होता है। यद्यपि यह ज्ञापन इसलिए दूषित किया गया कि ऐसी स्थिति में तिप् का पित्त्वधर्म णल् आदेश में नहीं आयेगा तो "असंयोगाल्लिट् कित्" सूत्र से णल् कित् हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि उसे पर में रहने पर 'जुगोप' प्रयोग में गुण तथा 'जगाद' आदि प्रयोगों में वृद्धि नहीं हो सकेगी। इस प्रकार यह ज्ञापन यद्यपि दूषित है तथापि प्रश्न यह है कि भाष्यकार ने उक्त ज्ञापन किया ही कैसे ? जब अनुबन्ध में अल्त्व का व्यवहार होगा तो ङित् धर्म, अल्वृत्तिधर्मघटित धर्म होने के कारण स्थानिवद्भाव से गाङ् में आयेगा ही नहीं। ऐसी स्थिति में इङ् के ङित्त्व को स्थानिवत्त्वेन गाङ् में लाना और आदेशस्थ ङित्त्व से ज्ञापन करना देखकर यह समझते हैं कि अनुबन्धों में अल्त्वव्यवहार नहीं होता है।

अन्तिम सूत्र में कहा है कि श्ना के स्थान पर विधीयमान शानच् का शित्करण व्यर्थ है, क्योंकि स्थानिवद्भाव से श्नावृत्ति शित्त्व शानच् में चला आयेगा। ऐसी स्थिति में शानच् के शित्करण से ज्ञापन किया गया कि जहाँ सार्वधातुकादेश होता है वहाँ अनुबन्ध में स्थानिवत्व

का अभाव होता है। तात्पर्य यह है कि अनुबन्ध घटित धर्म का स्थानिवत्त्वेन आश्रयण नहीं होता है। यह ज्ञापन भी तिप् के स्थान पर होने वाले आदेशों में पित्त्व की असिद्धि के कारण दूषित भी कर दिया गया है। किन्तु विचारणीय यह है कि यदि एकान्तपक्ष में अनुबन्ध, अल् कहे जाँय तो शकार रूपी अनुबन्ध भी अल् कहा जायेगा। ऐसी स्थिति में शकारवृत्ति शत्वघटित शित्त्वधर्म का आनयन तो स्थानिवत्त्वेन सम्भव ही नहीं है, क्योंकि अनल्विधौ से वहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा। ऐसी स्थिति में श्ना के शित्त्व को शानच् में लाना और शानच् के शित्करण को व्यर्थ करके उससे उक्त ज्ञापन करना—ये सभी बातें असंगत हो जायेगी। इससे विदित होता है कि अनुबन्धों में अल्त्वव्यवहार का अभाव होता है। अन्यथा = अनुबन्ध में भी अल्त्व का व्यवहार होने पर "ङित्, शित्" आदि धर्म को लाने में "अनल्विधौ" इस निषेध की प्रवृत्ति हो जायेगी। परिणाम स्वरूप तत्त्वाप्राप्त्या = तिबादि आदेशों में ङित्त्वादि धर्मों की सिद्धि न हो सकने के कारण उपर्युक्त ज्ञापनों की असंगति हो जायेगी। तिबादि के आदेशों में पित्त्वादि धर्मों की असिद्धि भी होगी। इस सम्बध में ऊपर विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

अचः पर। आदेशग्रहणमनुवर्तते, तदनुरोधादच इति स्थानषष्ठी, परस्मिन्नित्यादेशविशेषणन्तदाह—परनिमित्त इत्यादि। अच एवादेश इत्यर्थः। तेन मरुतमाचष्टे मारयतीत्यादौ वृद्धिः। अत्र सूत्रे प्रयोगे योऽच् तत्स्थानिक इत्यर्थः। न तु सूत्रे स्थानित्वेनोपात्ताच्स्थानिक इत्यर्थस्तेन णिलोपादेरनेन स्थानिवत्त्वं सिद्ध्यति। अत एव चङ्परनिर्ह्रासे ण्यन्ताण्णिचि—'अवीवददि'त्यादिसिद्ध्यर्थो निषेधः सार्थकः।

"अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि इस सूत्र में पूर्वसूत्र से (स्थानिवत् सूत्र से) आदेश ग्रहण की अनुवृत्ति आती है। इसके अतिरिक्त स्थानिवत् पद की भी अनुवृत्ति वहाँ से आती है। आदेश के अनुरोध से "अचः" इस पद में जो षष्ठी है वह स्थानषष्ठी है, क्योंकि आदेश तो किसी के स्थान पर ही होता है। "परस्मिन्" यह आदेश का विशेषण है। यहाँ की सप्तमी सतिसप्तमी है। पर के रहने पर जो आदेश अर्थात् 'परनिमित्तक जो आदेश' ऐसा इसका अर्थ होता है। सूत्र में आया हुआ विधि शब्द "विधीयते इति विधिः" इस प्रकार कर्म साधन होने से कार्य का वाचक है। इन सब बातों को ध्यान में रख कर दीक्षित जी ने कौमुदी में इस सूत्र की व्याख्या की है कि "पर को निमित्त मान कर जो अच् के स्थान पर आदेश हुआ है वह स्थानी के तुल्य होवे"। उसकी यह स्थानी की तुल्यता तब होगी जब स्थानीभूत अच् से पूर्व में देखे गये को कोई विधि = कार्य करना हो।

यहाँ जिस अजादेश के स्थानिवद्भाव की बात हो रही है वह अजादेश कैसा हो, इस सम्बन्ध में नागेश भट्ट का कहना है कि वह आदेश अच् मात्र के स्थान पर हुआ होना चाहिए। वही आदेश अजादेश कहा जायेगा। जो आदेश अच् और हल् इन दोनों के स्थान पर हुआ हो वह अजादेश नहीं कहा जायेगा। इसका परिणाम यह होता है कि "मरुतम् आचष्टे" इस विग्रह में मरुत् शब्द से "प्रातिपदिकात् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च" इस वार्तिक से णिच् प्रत्यय और इष्ठवद्भाव करके "उत्" इस टिभाग का लोप कर दिया जाता है, तब "मर्-इ" इस स्थिति

में "अत उपधायाः" सूत्र से वृद्धि हो जाती है। यहाँ लुप्त टिलोप का इस सूत्र से स्थानिवद्भाव नहीं होता है, क्योंकि यह टिलोप अच् मात्र के स्थान पर नहीं हुआ है, अपितु अच् और हल् दोनों के स्थान पर हुआ है। इस प्रकार "मारयति" प्रयोग की सिद्धि होती है।

इस सूत्र में प्रयोग में जो अच् है तत्स्थानिक आदेश लिया जाता है। सूत्र में स्थानी रूप में उपात्त जो अच् तत्स्थानिक आदेश नहीं लिया जाता है। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि सूत्र में तो अनुबन्ध सहित अच् का उल्लेख रहता है और प्रयोग में अनुबन्ध रहित अच् उपस्थित रहता है। उदाहरण के लिए "णेरनिटि" सूत्र को लिया जा सकता है। यहाँ लोप का स्थानी "णि" इस स्वरूप को रखा गया है, किन्तु यह अच् नहीं है। यह तो अच् और हल् का सम्मिलित रूप है। किन्तु प्रयोग में तो णकार रूपी अनुबन्ध से रहित इकारमात्र रहता है जो अच् मात्र है, उसी का णिबुद्धि से लोप होता है। इस प्रयोगस्थ अच् को लेने पर णिलोप का स्थानिवद्भाव हो जाता है। क्योंकि प्रयोग में अच् मात्र के स्थान पर जायमान है "णेरनिटि" सूत्र से विधेय लोप। अत एव = प्रयोग में आये हुए अच् का ग्रहण करने से ही जहाँ चङ् को पर में मानकर निर्ह्रास = उपधा को ह्रस्व करना है ऐसे "अवीवदत्" इस प्रयोग की सिद्धि के लिए "क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासः" इत्यादि निषेध सार्थक होता है। यहाँ की स्थिति का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—"वाद्यम् अवदत् तत् देवदत्तः प्रैरिरत् इति देवदत्तो वाद्यम् अवीवदत्। तं वादितवन्तं देवदत्तं यज्ञदत्तः प्रयोजितवान् इति यज्ञदत्तो देवदत्तेन वाद्यम् अवीवदत्" यज्ञदत्त ने "देवदत्त से वाद्य को बजवाया" इस अर्थ को करने के लिए पहले यहाँ वद् धातु से णिच् करके "वादि" धातु बनाया जाता है, इसके बाद दूसरी प्रेरणा में वादि धातु से पुनः णिच् होता है। पूर्व णि का लोप करके लुङ् लकार में च्लि और उसे चङ् आदेश करने पर "अवाद्-इ-अ-त्" इस स्थिति में "णौ चङि" सूत्र से जब उपधा को ह्रस्व करने चलते हैं तब लुप्त णि का स्थानिवद्भाव करके ह्रस्व के न होने की स्थिति आ जाती है। उस समय "क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासः" इत्यादि वार्तिक से णिलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि उपधाह्रस्व करके "अवीवदत्" इस प्रयोग की सिद्धि हो जाती है।

यहाँ विचारणीय यह है कि यदि अजादेश शब्द से प्रयोग में जो अच् तत्स्थानिक आदेश को न लेकर सूत्रस्थ अजादेश को लेंगें तो "णेरनिटि" सूत्र से तो णि का लोप होता है और यह णि अच् है ही नहीं। ऐसी स्थिति में स्थानिवद्भाव की प्राप्ति ही नहीं है तो उपधाह्रस्व के कर्तव्य में स्थानिवद्भाव नहीं होता है, इस निषेध की क्या आवश्यकता है जो "क्विलुगुपधात्व" इस वार्तिक के द्वारा किया जाता है? इससे स्पष्ट है कि सूत्रस्थ अच् के स्थान पर जायमान आदेश यहाँ अजादेशत्वेन मान्य नहीं है, किन्तु प्रयोग में जो अच् तत्स्थानिक आदेश ही यहाँ अजादेश शब्द से ग्राह्य है। "अवीवदत्" प्रयोग में णि के नाम पर प्रयोग में अनुबन्धविनिर्मुक्त इकार का लोप होता है। इस प्रकार लोपादेश अजादेश कहा जाता है, जिसका स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है; उसके निषेध के लिए "क्विलुगुपधात्व" यह निषेध सार्थक होता है।

अच इति किम्? आगत्य। मलोपस्य स्थानिवत्त्वात् 'ह्रस्वस्ये'ति तुग्न स्यात्। परस्मिन्निति किम्? युवजानिः। निङः स्थानिवत्त्वेन यलोपो न स्यादिति।

पूर्वविधाविति किम्? नैधेयः। निपूर्वाद्धात्रः किप्रत्यये आतो लोपे तस्य स्थानिवद्भावात्त्र्यच्त्वव्यपदेशविरोधात्स्वाश्रयद्व्यच्त्वनिवृत्तौ ढगनापत्तेरिति दिक्।

इस सूत्र में यदि अच् ग्रहण नहीं किया जाय तो आदेश मात्र का स्थानिवद्भाव होगा, वह आदेश अजादेश हो या हलादेश। इसका परिणाम यह होगा कि "आगत्य" इस प्रयोग में मकार के लोप का स्थानिवद्भाव हो जायेगा, जिससे मकार का व्यवधान हो जाने के कारण पित् कित् प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व ह्रस्व वर्ण नहीं मिलेगा। फलस्वरूप "ह्रस्वस्य पिति कृति" सूत्र से विधेय तुक् का आगम यहाँ नहीं होगा। अच् ग्रहण करने पर लोप के मकार रूपी हल्स्थानिक होने के कारण स्थानिवद्भाव नहीं होता है। अच् ग्रहण करने पर अजादेश का ही स्थानिवद्भाव होता है, हलादेश का नहीं होता।

सूत्र में "परस्मिन्" इस पद का प्रयोजन "युवजानिः" यह प्रयोग बताया गया है। परस्मिन् का अर्थ है परनिमित्तक, अर्थात् जो आदेश पर को निमित्त मान कर होता है, उसी का स्थानिवद्भाव होता है। सूत्र में यदि "परस्मिन्" पद न किया जाय तो आदेश मात्र चाहे किसी प्रकार हुआ हो, उसका स्थानिवद्भाव होने लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि "युवतिर्जाया यस्य सः" इस विग्रह में बहुव्रीहि समास करने के बाद "जायाया निङ्" सूत्र से अनैमित्तिक जो आकार को निङ् आदेश करके यकार का लोप किया जाता है वह यलोप अब नहीं होगा, क्योंकि निङ् आदेश का स्थानिवद्भाव हो जाने से वहां वल् प्रत्याहार का अक्षर पर में नहीं मिलेगा। जब 'परस्मिन्' ग्रहण कर देते हैं तब निङादेश का स्थानिवद्भाव नहीं होता है, क्योंकि निङादेश परनिमित्तक नहीं है।

इस सूत्र में जो "पूर्वविधौ" पद है, उसका फल "नैधेयः" यह प्रयोग दिया गया है। "नैधेयः" प्रयोग की सिद्धि इस प्रकार होती है—नि पूर्वक धा धातु से "उपसर्गे घोः किः" इस सूत्र से कि प्रत्यय होता है। इसके बाद "आतो लोपः" सूत्र से धा धातु के आकार का लोप करके निधि शब्द बनता है। यह निधि शब्द दो अचों वाला है। 'निधेरपत्यम्' इस विग्रह में "इतश्चानिञः" सूत्र से इसे द्व्यच्क मान कर ढक् प्रत्यय होता है। ढ को एयादेश, इकार का लोप, आदिवृद्धि और विभक्तिकार्य करने के बाद "नैधेयः" यह रूप सिद्ध होता है। सूत्र में जब पूर्वविधि पद का ग्रहण रहता है तब परनिमित्तक अजादेश का स्थानिवद्भाव तभी होता है जब उस स्थानीभूत अच् से पूर्व को कोई कार्य करना हो, किन्तु जब पूर्वविधि ग्रहण नहीं करेंगे तब तो परनिमित्तक अजादेश का सामान्यतया सब जगह स्थानिवद्भाव होने लगेगा। ऐसी स्थिति में यहाँ कि प्रत्यय निमित्तक आकारलोप का स्थानिवद्भाव हो जायेगा। स्थानिवद्भाव होने से निधि शब्द तीन अच् वाला हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि त्र्यच्त्व का व्यपदेश होने पर उसके विरोधी द्व्यच्कत्व की वहाँ से निवृत्ति हो जायेगी, इसलिए निधि शब्द को दो अच् वाला मान कर जो ढक् होता है वह अब नहीं हो सकेगा। इसलिए पूर्वविधि ग्रहण आवश्यक हो जाता है। पूर्वविधि ग्रहण करने पर स्थानिवद्भाव नहीं होता है, क्योंकि ढक्विधि पूर्वविधि नहीं है, किन्तु प्रत्यय होने के कारण "प्रत्यय" "परश्च" के द्वारा यह परविधि है।

अत्र स्थानिनि सति यद्भवति तदादेशेऽपि भवति, स्थानिनि यन्न भवति तदादेशेऽपि नेति भावाभावयोरुभयोरप्यतिदेशः। तत्र भावोदाहरणं—निगाल्यते

इति। अन्त्योदाहरणं—पटयतीत्यादि। स्थानिनिमित्तकं भवत्यादेशनिमित्तकं नेति च तदर्थः। लघूपधत्वसम्पादनद्वारा लोपनिमित्तिका वृद्धिरित्याहुः।

स्थानिवत् सूत्र से इस सूत्र के भेद को बताते हुए कह रहे हैं कि "स्थानिवत्" सूत्र के द्वारा स्थानिवद्भाव करने पर वही कार्य होता है जो स्थानी के रहने पर होता है। तात्पर्य यह है कि स्थानी के रहने पर जो कार्य होता है वह कार्य आदेश के होने पर भी हो, यही कार्य स्थानिवत् सूत्र से होता है। किन्तु इस सूत्र में उससे भिन्नता है। यहाँ "स्थानिवत्" इस शब्द मात्र का अधिकार आता है, उसके अर्थ का अधिकार यहाँ नहीं आता है। इसलिए "स्थानिवत्" पद से यहाँ भाव और अभाव दोनों का अतिदेश किया जाता है। स्थानी के रहने पर जो कार्य होता है, वह कार्य आदेश के होने पर भी हो और स्थानी के रहने पर जो कार्य नहीं होता है वह कार्य आदेश के होने पर भी न हो। इस प्रकार यह सूत्र भावातिदेश और अभावातिदेश "दोनों" प्रकार का अतिदेश करता है। इनमें भावातिदेश का उदाहरण "निगाल्यते" यह प्रयोग है। निपूर्वक गृ धातु से णिच्, ऋकार के वृद्धि करके निगारि धातु का कर्मवाच्य प्रथमपुरुष एकवचन में "निगाल्यते" यह रूप बनता है। यहाँ कर्मवाच्य में जब यक् होता है तब उसे पर में मानकर णिच् का लोप हो जाता है। उस लुप्त णिच् (इकार) का स्थानिवद्भाव इस सूत्र से करके "अचि विभाषा" सूत्र से रकार को लकार किया जाता है। स्थानी णिच् के इकार के रहने पर लत्व होता है। वह लत्व लोप रूप आदेश के होने पर भी होता है। यह भावातिदेश है।

अभावातिदेश का उदाहरण "पटयति" यह प्रयोग है। यहाँ पटु शब्द से 'आचष्टे' अर्थ में णिच् करके इष्ठवद्भाव से टिलोप (उकार का लोप) करने पर "पट्-इ" इस अवस्था में उपधा वृद्धि नहीं होती है। कारण यह है कि स्थानी उकार के रहने पर उपधावृद्धि नहीं होती है, तो वह उपधावृद्धि उकार का लोप होने पर भी नहीं होती है। यह अभावातिदेश है। निष्कर्ष यह निकला कि स्थानिनिमित्तक कार्य तो होता है, किन्तु आदेशनिमित्तक कार्य नहीं होता है।

यहाँ शंका होती है कि "पटयति" प्रयोग में वृद्धि को आदेश (लोप) निमित्तक कहा गया है तो वह लोप वृद्धि का निमित्त कैसे बनता है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि जब उकाररूपी टि का लोप होता है तब "पट्" यह अकारोपध शब्द लघूपध होता है। यहाँ लघूपध का अर्थ अदुपध समझना चाहिए। इस प्रकार अदुपधत्व के होने पर ही "अत उपधायाः" की वृद्धि प्राप्त होती है, इसलिए अदुपधत्व का सम्पादक लोप रूपी आदेशनिमित्तक वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार लोप वृद्धि का निमित्त होता है।

स्थानिभूतादच इति। सूत्रे श्रवणाद्व्याख्यानाच्च तस्यैव पूर्वत्वेऽवधित्वमिति भावः। 'पूर्वविधावि'त्यस्य—पूर्वसम्बन्धिन्येव शास्त्रविधेये कर्तव्ये इत्यर्थः, तेन पूर्वपरयोर्विधौ न। तेनाऽऽरतुरित्यादौ 'ऋच्छत्यृतामि'ति गुणस्य सवर्णदीर्घे न स्थानिवत्त्वम्। वस्तुतोऽत्र पूर्वविधिशब्दे तन्त्रम्। एकस्योक्तोऽर्थः। द्वितीये भावे किः। सम्बन्धसामान्यषष्ठ्यन्तपूर्वशब्देन समासः। विधिर्भावः, पूर्वसम्बन्धिभावे= तत्स्थितौ स्थानिवदित्यर्थः। अत एवैनेय इत्यादौ 'यस्येति चे'ति लोपे तस्य स्थानिवत्त्वात्सन्नियोगशिष्टन्यायप्राप्तनिवृत्तिप्रतिबन्धेन नकारस्थितिः।

इस सूत्र की वृत्ति में कौमुदी में "स्थानिभूतादचः" इस पद का उल्लेख है। प्रश्न होता है कि किस अभिप्राय से कौमुदी में ऐसा कहा गया है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए मनोरमा में दीक्षितजी द्वारा इस सम्बन्ध में किया गया विवेचन द्रष्टव्य है। इस सूत्र में जो "पूर्वविधि" पद आया है, उसमें पूर्व शब्द सापेक्ष शब्द है। 'पूर्व की विधि में स्थानिवद् हो' ऐसा कहने पर जिज्ञासा होती है कि किस से पूर्व की विधि में स्थानिवद्भाव किया जाय? इस प्रश्न के उत्तर में मनोरमा में कहा गया है कि पूर्वत्व की अवधि—स्थानी, आदेश और निमित्त—ये तीन हो सकते हैं। किन्तु इन तीनों में स्थानी इसलिए अवधि नहीं बन सकता कि आदेश के द्वारा उसका अपहार हो गया है। अब बचे आदेश और निमित्त। ये दोनों भी पूर्वत्व की अवधि नहीं हो सकते। कारण यह है कि इन्हें पूर्वत्व की अवधि मानने पर अर्थात् इनसे पूर्व को जहाँ कोई कार्य हो वहाँ स्थानिवद्भाव होता है, ऐसा स्वीकार करने पर "वैयाकरणः" इस प्रयोग में आय् आदेश होने लगेगा। "वि + आ करण" इस स्थिति में यणादेश से बने हुए व्याकरण शब्द से अण् प्रत्यय करने पर "न य्वाभ्याम्" सूत्र से ऐजागम करके वैयाकरण शब्द बनता है। यहाँ आदेशभूत यकार और उसके निमित्त आकार इन दोनों से पूर्व में जो ऐकार है, उसे आयादेश करने में आदेश यण् स्थानी इकार के तुल्य हो जायेगा तो ऐकार को आयादेश होने लगेगा। इसलिए आदेश और निमित्त भी पूर्वत्व की अवधि नहीं बन सकते। ऐसी स्थिति में पूर्वत्व की अवधि क्या बने? इस प्रश्न के उत्तर में कौमुदीकार ने कहा कि "स्थानिभूतादचः" अर्थात् स्थानीभूत जो अच् उससे पूर्वत्वेन दृष्ट को जहाँ कोई कार्य करना हो वहाँ स्थानिवद्भाव होता है। इस प्रकार स्थानी रूप अच् को पूर्वत्व की अवधि माना गया। कहा जा सकता है कि जब आदेश के द्वारा स्थानी का अपहार हो गया है तब वह पूर्वत्व की अवधि कैसे बनेगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भूतपूर्व गति से स्थानी को पूर्वत्व की अवधि मान लिया जायेगा। जब स्थानी को पूर्वत्व की अवधि मान लिया गया तब "वैयाकरणः" का दोष मिट जाता है। क्योंकि स्थानीभूत अच् इकार से पूर्वत्वेन दृष्ट ऐकार नहीं है। इकार को यण् करने के बाद ही ऐकार की यहाँ स्थिति होती है। इस प्रकार स्थानीभूत अच् को पूर्वत्व की अवधि मानने पर "वैयाकरण" प्रयोग में स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

नागेश भट्ट इसी बात को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि "अचः परस्मिन्" सूत्र में अच् श्रूयमाण है और उपर्युक्त रीति से जो व्याख्यान किया गया है, उस व्याख्यान के आधार पर भी तस्यैव = स्थानीभूत अच् ही पूर्वत्व की अवधि है। "पूर्वविधौ" इस पद का तात्पर्य है कि जहाँ पूर्वमात्र के स्थान पर ही शास्त्र से कुछ विधेय हो वहीं स्थानिवद्भाव होता है। इसलिए जहाँ पूर्व और पर दोनों के स्थान पर कोई विधि हो वहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता है। इसलिए "आरतुः" प्रयोग में "ऋ + ऋ + अतुस्" स्थिति में, "ऋच्छत्यृताम्" सूत्र से गुण करने पर "ऋ-अर्-अतुस्" इस स्थिति में गुण का स्थानिवद्भाव करके यदि दीर्घ करना चाहे तो स्थानिवद्भाव नहीं होगा, क्योंकि दीर्घविधि पूर्वमात्र की विधि नहीं है, किन्तु यह सवर्णदीर्घ-विधि पूर्व और पर दोनों के स्थान पर होने वाली विधि है। इसलिए यहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

पूर्वविधि शब्द में कुछ विशेषता बताते हुए शेखरकार का कहना है कि "पूर्वविधि" इस शब्द में तन्त्र है। तन्त्र का तात्पर्य है कि एक बार उच्चारित शब्द से जहाँ अनेक अर्थ का बोध हो। अनेक अर्थों के बोध के लिए उस शब्द की आवृत्ति की जाती है। इस प्रकार यहाँ दो पूर्वविधि शब्द हो जाते हैं। उनमें पहले का तो अर्थ पूर्वोक्त ही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि पूर्व को कोई विधि (कार्य) करना हो तो वहाँ परनिमित्तक अजादेश का स्थानिवद्भाव होता है। यहाँ विधि शब्द में कर्म में कि प्रत्यय हुआ है।

दूसरे पूर्वविधि शब्दघटक विधि शब्द में कि प्रत्यय भाव अर्थ में हुआ है। इस विधि शब्द का षष्ठ्यन्त पूर्व शब्द के साथ षष्ठी समास हुआ है। यहाँ षष्ठी का अर्थ सम्बन्धसामान्य है। विधि शब्द का अर्थ भाव है। भाव कहते हैं स्थिति को। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होता है कि "पूर्वसम्बन्धी स्थिति कर्तव्य में अजादेश का स्थानिवद्भाव होता है"। अत एव = इस प्रकार के द्वितीय अर्थ को स्वीकार करने से ही "ऐनेयः" प्रयोग में नकार की स्थिति रह जाती है। इस बात का स्पष्टीकरण इस प्रकार है— एत शब्द वर्णवाची है। "एतत्ववर्णविशिष्टा स्त्री" इस विग्रह में एत शब्द से "वर्णादनुदात्तात्" सूत्र से ङीप् और उसके साथ ही तकार को नकार होता है। यहाँ ङीप् और नकार संनियोगशिष्ट हैं। इस एनी शब्द से अपत्य अर्थ में "स्त्रीभ्यो ढक्" सूत्र से ढक् प्रत्यय और "यस्येति च" सूत्र से ईकार का लोप आदिवृद्धि करने पर 'ऐनेयः' यह रूप बनता है। यहां शंका होती है कि जब 'यस्येति च' सूत्र से ईकार का लोप हो जाता है तब तत्सन्नियोगशिष्ट नकार भी क्यों नहीं चला जाता है? इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि "पूर्वविधौ" के दूसरे अर्थ के अनुसार नकार की स्थिति को कायम रखने के लिए परनिमित्तक अजादेश ईकार के लोपादेश का स्थानिवद्भाव हो जाता है। इस प्रकार ईकार के आ जाने से सन्नियोगशिष्ट न्याय से प्राप्त जो नकार की निवृत्ति, उसका प्रतिबन्ध हो जाता है और नकार की स्थिति वहाँ बनी रहती है।

अत एव नपदान्तसूत्रे पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चेन्द्र इति लुकि न स्थानिवदित्यस्योदाहरणं दत्तं भाष्ये। अन्यथा तत्र पूर्वत्वेन दृष्टस्य सम्बन्धिनः कस्यचिद्विधेयस्याभावात्स्थानिवत्त्वाप्राप्तिरेवेति तदसङ्गतिः स्पष्टैव।

प्रकृतसूत्रेऽपि भाष्ये 'कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने न सर्वमिष्टं सङ्गृहीतमिति भावसाधनो विज्ञास्यते, पूर्वस्य विधानं प्रति = पूर्वस्य भावं प्रति—स्थानिवदि'त्युक्तम्।

तत्र 'भावसाधन' इत्यस्य—सोऽपीत्यर्थः। पूर्वत्वञ्च—व्यवहिताऽव्यवहित-साधारणम्, अव्यवहितग्रहणे मानाभावात्, स्वरे निषेधाच्च। तेन 'पटयती'ति सिद्धम्। प्रकृते च द्वित्वनिषेधे स्थानिवत्त्वप्राप्तिः।

अत एव = द्वितीय अर्थ को स्वीकारने से ही "न पदान्त" सूत्र के भाष्य में "लुकि न स्थानिवत्" का उदाहरण "पञ्चेन्द्रः" दिया जाना संगत होता है। "पञ्च इन्द्राण्यो देवता यस्य" इस विग्रह में "सास्य देवता" सूत्र से अण् प्रत्यय होता है। इसके बाद तद्धितान्तप्रयुक्त प्रातिपदिक संज्ञा करके विभक्ति का लुक् होता है। विभक्तिलुक् के बाद "द्विगोर्लुगनपत्ये" सूत्र से अण्

का लुक्, तत्पश्चात् "लुक्तद्धितलुकि" से ङीप् का लुक् करने पर सन्नियोगशिष्टन्याय से आनुक् की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार "पञ्चेन्द्रः" प्रयोग बनता है। यहाँ पर स्थानिवद्भाव से ङीप् को लाकर आनुक् की स्थिति बनाये रखने की बात जब आई तब भाष्यकार ने कहा कि "लुकि न स्थानिवत्" अर्थात् लुक् होने पर स्थानिवद्भाव नहीं होता है। इस प्रकार ङीप् के स्थानिवद्भाव को रोक कर आनुक् की निवृत्ति की गई है। यह बात "पूर्वविधौ" पद के द्वितीय अर्थ को स्वीकारने पर ही संगत होती है। अन्यथा यदि द्वितीय अर्थ को नहीं माना जाय तो "पूर्वविधौ" पद का पहला ही एकमात्र अर्थ होता। उस अर्थ के अनुसार स्थानिवद्भाव तो वहीं होगा जहाँ स्थानिभूत अच् से पूर्वत्वेन दृष्ट को कोई विधि (कार्य) करनी हो। "पञ्चेन्द्रः" प्रयोग में स्थानिभूत अच् ई (ङीप्) से पूर्वत्वेन दृष्ट आनुक् को कोई विधेय कार्य तो करना ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यहाँ स्थानिवद्भाव की प्राप्ति रहेगी ही नहीं तो "लुकि न स्थानिवत्" इस निषेधक वाक्य का क्या औचित्य रह जाता है?

जब 'पूर्वविधौ' पद का द्वितीय अर्थ मानते हैं तब पूर्व की स्थिति को बनाये रखने के लिए भी स्थानिवद्भाव होता है। प्रस्तुत स्थल में आनुक् की स्थिति को बनाये रखने के लिए स्थानिवद्भाव हो रहा था, तब "लुकि न स्थानिवत्" इस निषेध के द्वारा उसका निषेध कर दिया गया। इस प्रकार यह भाष्यप्रसंग "पूर्वविधौ" पद के दूसरे अर्थ को स्वीकार करने पर ही संगत होता है। द्वितीय अर्थ को स्वीकार न करने पर तदसंगति = "लुकि न स्थानिवत्" इस भाष्य की असंगति स्पष्ट ही है। प्रकृत सूत्र "अचः परस्मिन्" के भाष्य में भी कहा गया है कि कर्मसाधन विधि शब्द का उपादान (केवल कर्मसाधन विधि शब्द का ग्रहण) करने पर सभी इष्ट का संग्रह नहीं होता है, इसलिए विधि शब्द भावसाधन भी है, ऐसा स्वीकार किया जाता है। पूर्व के विधान के प्रति अर्थात् भाव = स्थिति के लिए भी स्थानिवद्भाव होता है। भाष्य में जो "भावसाधनो विज्ञास्यते" कहा गया है वहाँ 'अपि' शब्द का सन्निवेश करके विधि शब्द में भावसाधन भी है, ऐसा उस भाष्य का अर्थ करना चाहिए।

स्थानिभूत अच् से पूर्वत्वेन दृष्ट का जो ग्रहण करना है वहाँ पर पूर्वत्व व्यवहित और अव्यवहित साधारण लिया जाता है। स्थानिभूत अच् से व्यवहित पूर्व की विधि हो या अव्यवहित पूर्व की विधि हो, दोनों जगह स्थानिवद्भाव होता है। स्थानिभूत अच् से अव्यवहित पूर्व की विधि में ही स्थानिवद्भाव होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि "न पदान्त" सूत्र से स्वरविधि में स्थानिवद् का निषेध किया जाता है। इस निषेध के आधार पर भी यह बात सिद्ध होती है कि पूर्वत्व, व्यवहिताव्यवहित साधारण लेना चाहिए। स्वरविधि में स्थानिवद्भाव के निषेध का उदाहरण "चिकीर्षकः" यह प्रयोग है। "चिकीर्ष" इस सन्नन्त धातु से ण्वुल् प्रत्यय होता है। "वु" को अक करने पर सन के अकार का "अतो लोपः" से लोप होता है। यहाँ ककारोत्तरवर्ती ईकार को "लिति" सूत्र से उदात्तस्वर जब करने चलते हैं तब लुप्त अकार का स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है, तब "न पदान्त" सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध किया जाता है। यहाँ पर लुप्त सन् के अकार से अव्यवहित पूर्वत्वेन दृष्ट ईकार नहीं है। यदि अव्यवहित पूर्व का ही ग्रहण किया जाता तो यहाँ ईकार के लुप्ताकार से अव्यवहित पूर्व में न होने के कारण स्थानिवद्भाव प्राप्त ही नहीं है, तो उसका निषेध क्यों किया गया? इससे

समझते हैं कि पूर्वत्व न केवल अव्यवहित ही लिया जाता है, किन्तु व्यवहित भी लिया जाता है। इसलिए यहाँ स्थानिवद्भाव की प्राप्ति होती है जिसका निषेध कर दिया जाता है। तेन = पूर्व शब्द से व्यवहित पूर्व का भी ग्रहण करने से ही "पटयति" इस प्रयोग की सिद्धि होती है। यहाँ पर पकारोत्तरवर्ती अकार, जिसे उपधावृद्धि प्राप्त होती है, वह अकार लुप्त स्थानिभूत उकार से अव्यवहित पूर्व न होकर व्यवहित पूर्व में है। इसलिए यहाँ स्थानिवद्भाव हो जाता है। इससे पकारोत्तरवर्ती अकार उपधा में नहीं होता है। इसलिए उसे वृद्धि नहीं होती है।

प्रकृते च = "सुद्ध्युपास्यः" इस प्रयोग में आदेश यकार के स्थानिभूत ईकार से अव्यवहित पूर्वत्वेन दृष्ट धकार को द्वित्व निषेध करने के लिए स्थानिवद्भाव की प्राप्ति होती है। इस स्थानिवद्भाव का "न पदान्त" सूत्र से निषेध कर दिया जाता है, जिससे धकार को द्वित्व करके "सुद्ध्युपास्यः" इत्यादि रूपों की सिद्धि होती है।

न पदान्त। अत्र द्विर्वचनसवर्णादिग्रहणं–'वतिघटितान्यातिदेशानां त्रिपाद्यामपि प्रवृत्तिबोधनार्थम्। तेन 'राम' इत्यादौ विसर्गादिसिद्धिः। अत्र–विधिशब्दो भावसाधनः। पदान्तेत्यत्रान्तशब्दश्चरमावयववाची। कर्मषष्ठ्या समासः। तेन 'एषो यन्हसती'त्यादा'वेतत्तदोरि'ति सुलोपो न। इणः शतरि यन्निति रूपम्। तत्र यणः स्थानिवत्त्वात्। उत्वे च न स्थानिवत्, अनेन निषेधात्। स्पष्टश्चेदं भाष्ये इति–भाष्यप्रदीपोद्योते निरूपितम्।

अब "न पदान्त" इत्यादि सूत्र विवेचनीयत्वेन प्रस्तुत है। यह सूत्र द्विर्वचन आदि की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव का निषेध करता है। यहाँ शंका होती है कि इस सूत्र में जिन विधियों का उल्लेख किया गया है उनमें "पदान्त, वरे, यलोप तथा स्वर विधि"—ये विधियाँ सापादिक हैं, अतः इन्हें करने में स्थानिवद्भाव प्राप्त होगा, जिसके निषेध के लिए सूत्र में उपर्युक्त चारों का ग्रहण तो ठीक है, किन्तु द्विर्वचन, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश् और चर् विधियाँ तो त्रैपादिक हैं, इसलिए "अचः परस्मिन्" की दृष्टि में ये सभी विधियाँ असिद्ध हैं तो वहाँ स्थानिवद्भाव स्वयमेव प्राप्त नहीं है। ऐसी स्थिति में इन विधियों में स्थानिवद्भाव के निषेध के लिए सूत्र में द्विर्वचनादि ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार द्विर्वचनादिग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि वतिघटितातिदेश त्रिपादी में भी प्रवृत्त होते हैं। द्विर्वचनादि ग्रहण से इस प्रकार का ज्ञापन करने के बाद शंका होती है कि यदि सामान्यतया वतिघटित अतिदेशों की त्रिपादी में प्रवृत्ति का ज्ञापन किया जाता है तब तो "अचः परस्मिन्" सूत्र में "स्थानिवत्" पद की अनुवृत्ति आने के कारण यह भी वतिघटित अतिदेश हो जाता है और ऐसी स्थिति में इसकी भी त्रैपादिक में प्रवृत्ति होने लगेगी। परिणाम यह होगा कि जो द्विर्वचनादि ग्रहण स्थानिवद्भाव के निषेध के लिए किया गया है, उसके द्वारा विपरीत कार्य स्थानिवद्भाव कराये जाने की स्थिति हो जायेगी?

इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए ज्ञापन में अन्य पद का निवेश कर दिया गया है। अर्थात् "अचः परस्मिन्" से अन्य जो वतिघटित अतिदेश है; जैसे "स्थानिवत्", "अन्तादिवच्च", "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" इत्यादि अतिदेश, इन अतिदेशों की प्रवृत्ति त्रिपादी में होती है, किन्तु

"अचः परस्मिन्" की प्रवृत्ति त्रिपादी में नहीं होती है। तेन = वतिघटित अन्यातिदेशों की त्रिपादी में प्रवृत्ति स्वीकार करने से ही "रामः" इस प्रयोग में विसर्ग की सिद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि "खरवसानयोः" सूत्र से पदान्त रेफ को विसर्ग होता है। "राम-र्" इस अवस्था में यदि पदत्व रहे तब रेफ पदान्त कहा जा सकता है, किन्तु "राम र्" इस आनुपूर्वी की पदसंज्ञा नहीं है, ऐसी स्थिति में रेफ का विसर्ग होना असम्भव है। किन्तु जब स्थानिवत् सूत्र की प्रवृत्ति त्रिपादी में स्वीकार कर ली गई तब "राम-स्" का सुबन्तत्व स्थानिवद्भाव से "राम + र्" में चला आता है और रेफ को विसर्ग हो जाता है। "अन्तादिवच्च" सूत्र की त्रिपादी में प्रवृत्ति का उदाहरण "अमी" प्रयोग है। अदस् शब्द के प्रथमा के बहुवचन इस रूप में त्यदाद्यत्व, पररूपत्व, शीभाव और गुण करके "अदे" इस प्रकार बन जाने पर "अन्तादिवच्च" सूत्र से पूर्वान्तवद्-भाव से "अदे" इस रूप में अदस् शब्दत्व लाकर "एत ईद्बहुवचने" सूत्र से ईत्व और मत्व किया जाता है।

"व्यपदेशिवदेकस्मिन्" की त्रिपादी में प्रवृत्ति का फल "अचैषीत्" यह प्रयोग है। यहाँ सिच् के सकार में व्यपदेशिवद्भाव से प्रत्ययावयवत्व लाकर "आदेशप्रत्यययोः" सूत्र से सकार को मूर्धन्य षकार किया जाता है।

इस सूत्र में जो विधि शब्द है, वह भावसाधन है। भावसाधन का तात्पर्य है—"विधानं विधिः" इस विग्रह में विपूर्वक धा धातु से भाव में कि प्रत्यय करके विधि शब्द बना है। इसका अर्थ है कार्य। पदान्त शब्द में जो अन्त शब्द आया है वह चरमावयव (अन्त्यावयव) का वाचक है। विधि शब्द के भावप्रत्ययान्त होने के कारण कर्म (पदान्त रूपी कर्म) अनुक्त है, इसलिए अनुक्त कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई है। इस प्रकार यहाँ "पदान्तस्य विधिः पदान्त-विधिः" पद षष्ठी समास के द्वारा निष्पन्न होता है। पदान्तविधि शब्द की इस प्रकार निष्पत्ति करने से इसका अर्थ इस प्रकार होता है कि "पदचरमावयवकर्मक जो विधि उसके कर्तव्य में स्थानिवद्भाव नहीं होता है"।

तेन = भावसाधन विधि शब्द को स्वीकार करने से ही "एषो यन् हसति" इस प्रयोग में "एतत्तदोः" सूत्र से सुलोप नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ जो "यन्" यह पद है वह इण् धातु से शतृ प्रत्यय करके बना हुआ है। "एष-सु-यन्" इस स्थिति में जब "एतत्तदोः" सूत्र से सुलोप करने चलते हैं तब यण् का स्थानिवद्भाव हो जाता है। फलस्वरूप वहाँ इकार दिखाई पड़ने के कारण हल् पर में न मिलने से सुलोप नहीं होता है। यहाँ "न पदान्त" सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता है, क्योंकि यह निषेध तो वहाँ होता है जहाँ पदचरमावयव-कर्मक विधि हो। अर्थात् जहाँ किसी विधि के द्वारा कोई पद का अन्त्यावयव बनता हो वहीं पर "न पदान्त" निषेध की प्रवृत्ति होती है। यह बात विधि शब्द को भावसाधन मान कर स्वीकृत की जा चुकी है। यहाँ जो सुलोप रूपी कार्य है वह तो अभाव रूप है। इसके द्वारा पदचरमावयव कोई नहीं बन रहा है अपितु पदचरमावयव का लोपात्मक अभाव करने की बात है। इसलिए यहाँ निषेध नहीं लगता और स्थानिवद्भाव हो जाता है, जिससे सुलोप नहीं होता है।

इसी प्रयोग में जब सकार को रु करके "एष-रु-यन्" इस स्थिति में "यन्" के यकार को हश् पर में मान कर "हशि च" इस सूत्र से "रु" को उकार करने चलते हैं तब यहाँ स्थानिवद्-

भाव नहीं होता है, क्योंकि उत्वविधि पदचरमावयवक विधि है। पदचरमावयवक विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। यदि स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता तो इकार-बुद्धि हो जाने के कारण हश् पर में न मिलने पर रु को उत्व ही नहीं होता, किन्तु उकार क्योंकि पद का अन्त्यावयव हो रहा है अतः उत्वविधि में इस सूत्र के द्वारा स्थानिवद्भाव का निषेध कर दिया जाता है। विधि शब्द को भावसाधन मानने का यह फल है।

विधि शब्द को यदि यहाँ भावसाधन न मान कर "विधीयते योऽसौ विधिः" इस रूप में कर्मसाधन माना जाय तो पदान्त रूपी कर्म के उक्त होने के कारण उसमें षष्ठी सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में "पदान्तस्य विधिः पदान्तविधिः" इस प्रकार षष्ठी समास कैसे किया जाय? इसलिए 'स्थाने' पद का अध्याहार करके उसके योग में पदान्त शब्द के आगे षष्ठी विभक्ति की जा सकती है। ऐसा करने पर सूत्रार्थ इस प्रकार होगा कि पदचरमावयव के स्थान पर जो विधि वह भाव रूप हो या अभाव रूप हो, उसकी कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव न होवे। ऐसी स्थिति में "एषो यन् हसति" इस प्रयोग में सुलोप करने में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा। परिणामस्वरूप सुलोप होने लगेगा। इसलिए इस सूत्र में विधि शब्द को कर्मसाधन न मान कर भावसाधन माना गया है। यदि कर्मसाधन पक्ष में "स्थाने" पद का अध्याहार न करके पदान्त शब्द से प्रथमा विभक्ति करके प्रथमान्त विधि शब्द के साथ "पदान्तश्चासौ विधिः पदान्तविधिः" इस प्रकार कर्मधारय समास किया जाय और "पदचरमावयव रूप विधेय जहाँ कर्तव्य हो वहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता है, ऐसा सूत्रार्थ किया जाय तो "एषो यन् हसति" में कोई दोष नहीं रह जाता है, क्योंकि सुलोप तो पदचरमावयवरूप विधि नहीं है, अतः वहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होगा और उत्व जो है वह तो पदचरमावयवकर्मक विधि है, अतः उत्व कर्तव्य में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा, जिससे हश्परत्व मिल जाने के कारण उत्व हो जायेगा। इस प्रकार विधि शब्द का कर्मसाधन पक्ष भी युक्तियुक्त ही है।

इदम् = विधि शब्द में भावसाधन का प्रतिपादन भाष्य तथा उसके प्रदीप तथा उद्द्योत में स्पष्ट है।

अत्र पदेऽन्त इति सप्तमीसमासो भाष्ये उक्तस्तेन प्रत्यासत्त्या पदे परतः चरमावयवे कार्ये कर्तव्ये परपदस्थाजादेशस्यैवानेन स्थानिवत्त्वनिषेध इति 'वेतस्वानि'त्यादौ न दोषः। न चैवमपि 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवदि'ति निषेधोऽत्र दुर्वारः। 'पदेऽन्त' इत्यर्थेन तत्र स्थानिवत्त्वनिषेधव्यावृत्तिपरभाष्यप्रामाण्येन पूर्वत्रासिद्धे इत्यत्र पदचरमावयवविधायकातिरिक्तस्यैव त्रैपादिकस्य ग्रहणात्। अत एव 'महिष्मानि'त्यत्र जश्त्वं न। सूत्रे जश्पदेन 'झलां जश् झशी'त्यस्यैव ग्रहणं, चरसन्निहितस्यैव ग्रहणौचित्यात्। 'कार्यकालपक्षेऽपि त्रिपाद्यामन्तरङ्गपरिभाषा न प्रवर्तत' इति वक्ष्यते इति—न तयाऽस्य सिद्धिः। 'गोचे'त्यादौ 'गतिकारकोपपदाना-मि'त्यस्यानित्यत्वेन सुबुत्पत्त्यनन्तरमेव समासः। 'उत्तरपदत्वे चे'ति प्रत्ययलक्षण-प्रतिषेधश्च प्रत्यासत्त्योत्तरपदस्य कार्यित्वे एवेति न दोषः। 'पदे' इति पदत्वयोग्योपलक्षणं वा। अत्रेदं भाष्यममपि मानम्:

अब यहाँ यह शंका होती है कि भावसाधन विधि शब्द को मानने से स्थानिवद्भाव का निषेध वहीं होता है जहाँ पदचरमावयवकर्मक विधि हो। ऐसी स्थिति में "वेतस्वान्" प्रयोग में टिलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से सकार को रुत्व होना चाहिए। वेतस् शब्द से "कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्" से ड्मतुम प्रत्यय, डित्त्वात् टिलोप तथा विभक्तिकार्य करने पर "वेतस्वान्" पद की सिद्धि होती है। ड्मतुप् प्रत्यय के पर में रहने पर "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" इस सूत्र से सकारान्त वेतस् की पद संज्ञा करके "ससजुषो रुः" सूत्र से सकार को रुत्व होना चाहिए? यही यहाँ की शंका है। यदि कहा जाय कि टिलोपेन लुप्त अकार का "अचः परस्मिन्" सूत्र से स्थानिवद्भाव कर दिया जायेगा तो सकारान्त की पदसंज्ञा नहीं होगी, इसलिए रुत्वापत्ति का दोष नहीं है, तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि पदचरमावयवकर्मक विधि में "न पदान्त" सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध कर दिया जाता है। यदि कहा जाय कि यहाँ तो पदसंज्ञा करनी है और पद संज्ञा पदचरमावयवकर्मक विधि नहीं है, इसलिए यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होगा, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि पदसंज्ञा के द्वारा ही सकार को रुत्व होगा, जो पद का चरमावयव होगा। इसलिए पदचरमावयव की सम्पादिका पद संज्ञा भी पदचरमावयव ही है, इसलिए पदसंज्ञा करने में भी "न पदान्त" सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि सकारान्त की पदसंज्ञा करके सकार को रुत्व होना चाहिए।

भाष्यकार ने इस शंका के समाधान के लिए "पदान्त" शब्द में "पदेऽन्तः पदान्तः" इस प्रकार सप्तमीतत्पुरुष का आश्रयण किया है। इसका तात्पर्य यह है कि पद के पर में रहने पर जहाँ पदचरमावयवकर्मक कार्य कर्त्तव्य हो वहाँ प्रत्यासत्त्या = परपद के उपस्थित होने के कारण परपदस्थ अजादेश के ही स्थानिवद्भाव का यह सूत्र निषेध करता है। जैसे "कानि सन्ति" इस उदाहरण में पर पद "सन्ति" के अवयव लुप्त अकार के स्थानिवद्भाव का इसके द्वारा निषेध कर दिया जाता है जिससे "कानि" घटक इकार को यण् नहीं होता है। "वेतस्वान्" प्रयोग में पर में जो "वान्" है वह प्रत्यय है, पद नहीं है; साथ ही यहाँ उसके अवयव अच् के स्थान पर कोई आदेश भी नहीं हुआ है। इसलिए यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता है। परिणाम यह होता है कि अकार के आ जाने से सकारान्त की पदसंज्ञा नहीं होती है और सकार को रुत्व नहीं होता है।

यहाँ कहा जा सकता है कि "वेतस् + वान्" इस स्थिति में "तसौ मत्वर्थे" सूत्र से "वेतस्" की भसंज्ञा हो जायेगी। फलस्वरूप सकारान्त की पदसंज्ञा नहीं होगी तो सकार के रुत्व की आपत्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में "वेतस्वान्" के दोष को दूर करने के लिए भाष्यकार द्वारा किया हुआ उपर्युक्त उपाय अनावश्यक ही है? किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भसंज्ञा की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होगा तो अकारान्त की भसंज्ञा होगी, न कि सकारान्त की। इस प्रकार अकारान्त की भसंज्ञा सकारान्त वेतस् की पदसंज्ञा की साधिका हो जायेगी। तात्पर्य यह है कि पदसंज्ञा करने के समय तो स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा किन्तु भसंज्ञा करने के समय नहीं होगा। इस प्रकार यह स्थानिवद्भाव सकारान्त की भसंज्ञा का प्रतिबन्धन करते हुए तथा उसकी पदसंज्ञा का सम्पादन करते हुए रुत्व का सम्पादक होने के कारण परम्परया पदचरमावयव का सम्पादक हो रहा है। भाष्यकार ने "पदेऽन्तः" ऐसा

समास करके जो "वेतस्वान्" का दोषवारण किया है, इस भाष्यप्रामाण्य के आधार पर यह निश्चय किया जाता है कि परम्परया पदचरमावयव के साधक स्थानिवद्भाव का निषेध यह सूत्र नहीं करता है। परिणाम यह होता है कि जब भसंज्ञा करने चलते हैं तब स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता है, किन्तु स्थानिवद्भाव के द्वारा वहाँ अकार आ जाता है। परिणाम यह होता है कि सकारान्त की भसंज्ञा नहीं होती है। ऐसी स्थिति में सकारान्त की भसंज्ञा करके "वेतस्वान्" प्रयोग में रुत्वापत्ति के निराकरण की बात करना असंगत ही है। इसीलिए "पदेऽन्तः" इस प्रकार सप्तमी समास करके भाष्यकार ने यहाँ रुत्वापत्ति का वारण किया है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि ऐसी इच्छा हो कि स्थानिवद्भाव से अकार को लाकर सकारान्त "वेतस्" की पदसंज्ञा का प्रतिबन्धन कर दिया जाय तो ऐसा स्थानिवद्भाव नहीं हो सकेगा, क्योंकि "पदेऽन्तः" वाले भाष्य के प्रामाण्य से परम्परया पदचरमावयव के प्रतिबन्धक स्थानिवद्भाव का "न पदान्त" सूत्र से निषेध कर दिया जाता है। यह स्थानिवद्भाव पदसंज्ञा के प्रतिबन्धन के द्वारा रुत्व का प्रतिबन्धक होने के कारण परम्परया पदचरमावयव का प्रतिबन्धक है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि भाष्यकार ने "पदेऽन्तः पदान्तः" ऐसा सप्तमी समास करके जो "वेतस्वान्" के दोष को दूर किया है वह ठीक ही है। "न पदान्त" सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध न होने के कारण यहाँ स्थानिवद् हो जाता है, जिससे सकार को रुत्व नहीं होता है। भसंज्ञा के द्वारा यहाँ रुत्वापत्ति का निराकरण नहीं हो सकता, यह बात ऊपर विवेचित है।

"वेतस्वान्" प्रयोग में पुनः रुत्वापत्ति की आशंका करते हुए कह रहे हैं कि "न चैवमपि" = "पदेऽन्तः" ऐसा समास करके "वेतस्वान्" इस प्रयोग में "न पदान्त" इस निषेध की प्रवृत्ति न होने पर भी यहाँ स्थानिवद्भाव दुर्लभ ही है, क्योंकि "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" इस वार्तिक से त्रैपादिक रुत्व की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा। फलस्वरूप "वेतस्वान्" में रुत्वापत्ति तदवस्थ ही है। इस शंका का उत्तर देते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि "पदेऽन्तः" इस सप्तमी समास का आश्रयण करके भाष्यकार ने जो "न पदान्त" सूत्र से स्थानिवत्त्व के निषेध की व्यावृत्ति करके अर्थात् स्थानिवद्भाव करके रुत्व का वारण किया है, इस भाष्यप्रामाण्य से "पूर्वत्रासिद्धीये" इस वार्तिक में उस त्रैपादिक का ग्रहण करते हैं जो पदचरमावयवातिरिक्त कार्य का विधायक है। यहाँ पर जो रुत्वविधि है वह तो पदचरमावयवकर्मक विधि ही है। अतः यहाँ उक्त निषेध की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए स्थानिवद्भाव हो जाने से "वेतस्वान्" में रुत्व की आपत्ति नहीं है। अत एव = वार्तिक में पदचरमावयवविधायकातिरिक्त त्रैपादिक का ग्रहण करने से ही "महिष्मान्" प्रयोग में जश्त्व नहीं होता है। महिष शब्द से "महिषाच्चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिक से ड्मतुप् प्रत्यय और टिलोप करके "महिष्मान्" प्रयोग बनता है। यहाँ "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" सूत्र से "महिष्" की पद संज्ञा करके जब "झलां जशोऽन्ते" सूत्र से जश् की प्राप्ति होती है तब टिलोप का स्थानिवद्भाव हो जाता है, जिससे षकार को जश्त्व नहीं होता। "पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्" से यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता है, क्योंकि यह उस त्रैपादिक में स्थानिवद्भाव का निषेध करता है, जो

पदचरमावयवातिरिक्त कार्य का विधायक हो। यहाँ तो "झलां जशोऽन्ते" पदचरमावयव का ही विधायक है, अतः स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता है।

अब पुनः यह शंका हो रही है कि "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" इस वार्तिक से "महिष्मान्" प्रयोग में स्थानिवद्भाव का निषेध न होने पर भी "न पदान्त" सूत्र से जश्विधि में स्थानिवद्-भाव का निषेध हो जायेगा, इसलिए उक्त प्रयोग में जश्त्व की आपत्ति दुर्वार ही है? इस शंका के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि "न पदान्त" सूत्र में जश् पद से उसी जश् का ग्रहण होता है जो चर् के सन्निहित है। जश् और चर् का सन्निधान अष्टाध्यायी पाठ के आधार पर लेने से चर्विधायक "खरि च" (८।४।५५) का सन्निधान "झलां जश् झशि" (८।४।५३) के साथ ही है। इसलिए इस सूत्र द्वारा उसी जश्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध होता है, जो "झलां जश् झशि" सूत्र से प्राप्त होता है। प्रस्तुत स्थल "महिष्मान्" में "झलां जशोऽन्ते" से जश् की प्राप्ति है, इसलिए यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होगा। इस प्रकार "महिष्मान्" में जश्त्वापत्ति का दोष नहीं होता।

महिष् शब्द मात्र की अपेक्षा रखने के कारण जश् अन्तरंग है और प्रकृति-प्रत्यय दोनों की अपेक्षा रखने वाला टिलोप बहिरंग है। इसलिए अन्तरंग परिभाषा से टिलोप के असिद्ध हो जाने के कारण जश्त्व का वारण हो सकता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तरंग परिभाषा यथोद्देश पक्ष में तो त्रिपादी में प्रवृत्त तो होती ही नहीं। कार्यकालपक्ष में भी त्रिपादी में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। यह बात "प्रार्च्छति" प्रयोग के विवेचन के अवसर पर कही जायेगी। इसलिए "अन्तरंग" परिभाषा से यहाँ जश्त्व का वारण नहीं हो सकता है। इसलिए 'पदेऽन्तः' समास के द्वारा ही "वेतस्वान्" आदि के दोषों का उपर्युक्त रीति से वारण करना चाहिए।

अब इस बात के ऊपर यह शंका हो रही है कि "गतिकारकोपपदानाम्" इस नियम से सुबुत्पत्ति से पूर्व जब समास होता है तब ऐसे स्थल; जैसे "गोचा" इस पद के मूल शब्द "गवाञ्च्" में उत्तरपद "अञ्च्" के पद न होने के कारण "गोचा" इस प्रयोग में "अचः" सूत्र से लुप्त अकार का "अचः परस्मिन्" सूत्र से स्थानिवद्भाव होना चाहिए। "न पदान्त" सूत्र से यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि यह निषेध तो वहाँ प्रवृत्त होगा जहाँ पद पर में रहने पर पूर्व के चरमावयव को कार्य करना हो। यहाँ तो पर में पद ही नहीं है। इसलिए निषेध की प्रवृत्ति न होने से स्थानिवद्भाव तथा तत्प्रयुक्त गोशब्दघटक ओकार को अवङ् होना चाहिए? इस शंका का समाधान करते हुए शेखरकार का कहना है कि "गतिकारकोपपदानाम्" यह परिभाषा अनित्य है, इसलिए सुबुत्पत्ति के अनन्तर समास होने के कारण उत्तरभाग "अञ्च्" भी पद हो जाता है। इस प्रकार उत्तरभाग के पद होने के कारण यहाँ "न पदान्त" इस निषेध की प्रवृत्ति हो जाती है, जिससे उक्त दोष का निराकरण हो जाता है।

"गतिकारकोपपदानाम्" इस परिभाषा के अनित्यत्व में "अम्बाम्बगोभूमि" इत्यादि सूत्र में किया गया "गोभूमि" ग्रहण प्रमाण है। यदि यह परिभाषा नित्य होती तो गोभूमि आदि शब्दों का "सुपि स्थः" इस सूत्र से विहित कप्रत्ययान्त स्थ शब्द के साथ "उपपदमतिङ्" सूत्र से सुबुत्पत्ति से पहले ही समास हो जाता। परिणाम यह होता कि "स्थ" यह पद नहीं कहा जाता।

फलस्वरूप "सात्पदाद्योः" सूत्र की प्राप्ति न होने के कारण "आदेशप्रत्यययोः" सूत्र से ही "गोष्ठः", "भूमिष्ठः" इत्यादि शब्दों की सिद्धि हो सकती थी। ऐसी स्थिति में षत्व के लिए उक्त सूत्र में किया गया गो और भूमि ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन करता है।

सुबुत्पत्ति के बाद समास करने पर भी "गोचा" प्रयोग का दोष तदवस्थ ही है, क्योंकि यहाँ उत्तरभाग के पदत्व के लिए जब प्रत्ययलक्षण करने चलेंगे तब "उत्तरपदत्वे चापदादि-विधौ" से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायेगा। इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "उत्तरपदत्वे च" यह निषेध प्रत्यासत्त्या वहीं प्रवृत्त होता है जहाँ उत्तरपद में ही कार्यिता हो। प्रस्तुत उदाहरण "गोचा" में तो गो इस पूर्वपदावयव ओकार को अवादेश की प्राप्ति के कारण कार्यिता पूर्वपद में हैं, इसलिए यह निषेध यहाँ प्रवृत्त नहीं होगा। निषेध की प्रवृत्ति न होने से प्रत्ययलक्षण हो जाता है जिससे उत्तर का पदत्व सुलभ हो जाता है और "न पदान्त" निषेध की प्रवृत्ति हो जाती है, इसलिए स्थानिवद्भाव नहीं होता है। इस प्रकार "गोचा" प्रयोग में आये हुए दोष का निराकरण हो जाता है।

यदि कथञ्चित् किसी का यही आग्रह हो कि "उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ" यह निषेध अनित्य नहीं है, किन्तु नित्य ही है, उस स्थिति में "गोचा" प्रयोग का दोष कैसे दूर होगा? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "पदेऽन्तः" इस सप्तमी समास में जो "पदे" यह पद आया है उसका तात्पर्य यह है कि जो पदत्व के योग्य है, वह भी पद है। अर्थात् "पदे" की लक्षणा पदत्व योग्य में है। "गोचा" प्रयोग में उत्तर में जो अच् है उसमें पदत्व की योग्यता तो है हीं। यदि यहाँ प्रत्ययलक्षण का निषेध न हो तो "अच्" की पदसंज्ञा हो सकती है। इस प्रकार यहाँ पदत्व की योग्यता वाले पद (अच्) के पर में रहने पर चरमावयव कार्य गोशब्दावयव ओकार को अवादेश करने मे परपदस्थ अजादेश (अञ्च् धातु के लुप्त अकार) के स्थानिवद्भाव का "न पदान्त" सूत्र से निषेध कर दिया जाता है, जिससे "गोचा" प्रयोग के दोष का निराकरण हो जाता है।

अत्र = पद शब्द पदयोग्य का उपलक्षण है, इस बात में इदं भाष्यम् = "पदेऽन्तः" इस सप्तमीतत्पुरुष वाला भाष्य भी प्रमाण है। कारण कि पद के पर में रहने पर चरमावयव कार्य करने में परपदस्थ अजादेश को रोकने के लिए यह सप्तमी समास स्वीकृत किया गया है। इस बात को स्वीकार करने पर भी "गोचा" का दोष बना ही रह जाता है। इसलिए पद शब्द को पदयोग्य का उपलक्षण मान लेना चाहिए। यही यहाँ के भाष्य का तात्पर्य है।

अत्र पदचरमावयवादिसाधकः प्रतिबन्धकश्च स्थानिवद्भावो निषिद्ध्यते, विनिगमनाविरहात्। एतत्सूत्रभाष्य-कमेर्णिङित्यादिसूत्रभाष्यैः 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदि'त्यवष्टभ्य वरे-यलोप-स्वर-दीर्घग्रहणवर्जं द्विर्वचनादि प्रत्याख्यातमिति लभ्यते।

यह सूत्र पदचरमावयव आदि (द्विर्वचनादि) के साधक तथा प्रतिबन्धक दोनों प्रकार के स्थानिवद्भाव का निषेध करता है। ऐसा इसलिए करता है कि किसी एक प्रकार के स्थानिवद् भाव का निषेध करने में कोई विनिगमक नहीं है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि "स्थानिवद्भाव

चार प्रकार का यहाँ प्राप्त होता है—साक्षात् पदचरमावयव का साधक, परम्परया पदचरमावयव का साधक, साक्षात् पदचरमावयव का प्रतिबन्धक और परम्परया पदचरमावयव का प्रतिबन्धक। इनमें परम्परया पदचरमावयव के साधक स्थानिवद्भाव को छोड़कर शेष तीनों प्रकार के स्थानिवद्भाव का निषेध "न पदान्त" सूत्र करता है।

इनमें साक्षात् पदचरमावयवसाधक स्थानिवत्त्व के निषेध का उदाहरण "कानि सन्ति, कौ स्तः" ये प्रयोग हैं। "सन्ति" यह रूप आदादिक अस् धातु के लट् लकार प्रथमपुरुष के बहुवचन का तथा "स्तः" यह रूप द्विवचन का है। दोनों रूपों में "श्नसोरल्लोपः" सूत्र से अस् धातु के अकार का लोप हुआ है। इस लुप्त अकार का "अचः परस्मिन्" सूत्र से यदि स्थानिवद्भाव हो जाय तो यह स्थानिवद्भाव उक्त दोनों प्रयोगों में पदान्तभूत इकार को यण् तथा औकार को आवादेश कराकर साक्षात्पदचरमावयव का साधक हो सकता है। किन्तु "न पदान्त" सूत्र से इसका निषेध कर देने के कारण यहाँ यण् तथा आवादेश नहीं होते हैं।

साक्षात् पदचरमावयव के प्रतिबन्धक स्थानिवद्भाव का उदाहरण "एषो यन् हसति" यह प्रयोग है। यहाँ पर यन् के यकार को हश् पर में मान कर "हशि च" सूत्र से एतत् शब्दोत्तर सु विभक्ति के सकार को रुत्व करने के बाद उत्व किया जाता है। "यन्" यह रूप इण् धातु से शतृ प्रत्यय करके बना हुआ है। यदि यहाँ यणादेश का स्थानिवद्भाव हो जाय तो इकार-बुद्धि हो जाने से वहाँ "हशि च" सूत्र से उत्व नहीं हो सकेगा। इस प्रकार यह स्थानिवद्भाव साक्षात् पदचरमावयव उत्व का प्रतिबन्धक है। "न पदान्त" सूत्र से इसका भी निषेध कर दिया जाता है, जिससे उत्व की सिद्धि हो जाती है।

परम्परया पदचरमावयव प्रतिबन्धक स्थानिवद् के निषेध का उदाहरण "दध्यारः" यह प्रयोग है। "दधि ऋच्छति" इस विग्रह में दधि पूर्वक ऋ धातु से "कर्मण्यण्" सूत्र से अण् प्रत्यय, वृद्धि और यण् करने से इस प्रयोग की सिद्धि होती है। यदि यहाँ ऋ के स्थान पर की गई वृद्धि का स्थानिवद्भाव हो जाय तो "ऋत्यकः" सूत्र से दधिशब्दावयव इकार, जो पदान्त अक् है, उसका प्रकृतिभाव हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि इकार को यणादेश नहीं हो सकेगा। इस प्रकार यह स्थानिवद्भाव प्रकृतिभाव के द्वारा पदचरमावयव यण् का परम्परया प्रतिबन्धक होता है, किन्तु "न पदान्त" सूत्र से इसका निषेध कर दिया जाता है, जिससे यहाँ यणादेश की सिद्धि हो जाती है।

ऊपर कहा गया है कि परम्परया पदचरमावयवसाधक स्थानिवद्भाव का निषेध यह सूत्र नहीं करता है। इसीलिए "षडिकः" इस प्रयोग की सिद्धि होती है। यहाँ षडङ्गुलिदत्त शब्द से "बह्वचो मनुष्यनाम्नः" सूत्र से ठच् प्रत्यय, इकादेश करके "ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः" इस सूत्र से "ङ्गुलिदत्त" इस अंश का लोप हो जाता है। इसके बाद भसंज्ञा करके अकार का लोप होता है। यहाँ पर "षष्" यह आनुपूर्वी अन्तर्वर्ती विभक्ति के द्वारा पद है। यदि कहा जाय कि इसकी भसंज्ञा करके पदत्व का बाध हो जाने से यहाँ जश्त्व नहीं होना चाहिए तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भसंज्ञा करने के समय टिलोपेन अपहृत अकार का स्थानिवद्भाव हो जायेगा। इसका परिणाम यह होगा कि भसंज्ञा अकारान्त की होगी। षष् जो यह षकारान्त है, उसकी तो भसंज्ञा नहीं होगी। इस प्रकार अकारलोप का स्थानिवद्भाव षकारान्त की पदसंज्ञा

के सम्पादन द्वारा जश्त्व का साधक होने के कारण परम्परया पदचरमावयव का साधक होता है। इसलिए इसका निषेध "न पदान्त" सूत्र से नहीं होता है। इस प्रकार स्थानिवद्भाव हो जाने से षकारान्त की भसंज्ञा नहीं होती है, किन्तु अन्तर्वर्तीपदत्व उसका सुस्थिर रहता है, जिससे जश्त्व की सिद्धि होती है। यहाँ षष् इस आनुपूर्वी की पदसंज्ञा का प्रतिबन्धन करने के लिए स्थानिवद्भाव नहीं होता, क्योंकि ऐसा स्थानिवद्भाव पदसंज्ञा का प्रतिबन्धन करता हुआ जश् का प्रतिबन्धक हो रहा है। इस प्रकार यह परम्परया पदचरमावयव का प्रतिबन्धक हो रहा है। परम्परया पदचरमावयव के प्रतिबन्धक स्थानिवद्भाव का निषेध तो "न पदान्त" सूत्र से होता ही है। इस प्रकार यहाँ कोई दोष नहीं रह जाता है।

इस सूत्र के भाष्य तथा "कमेर्णिङ्" सूत्र के भाष्य से यह व्यक्त होता है कि भाष्यकार ने "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" को स्वीकार कर के "वरे यलोप", स्वर और दीर्घ ग्रहण को छोड़ कर द्विर्वचनादि ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया है। यद्यपि भाष्यकार ने इस सूत्र के भाष्य में "वरेयलोपस्वरवर्जम्" ऐसा ही कहा है, तथापि यह भाष्योक्ति दीर्घ का भी उपलक्षण है, ऐसा समझना चाहिए। भाष्यकार ने जितने का प्रत्याख्यान किया है, वे सब त्रैपादिक हैं। सापादिक स्थानिवद्भाव की दृष्टि में ये सारी विधियाँ असिद्ध हो जाती हैं, इसलिए वहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता है। इसलिए भाष्यकार ने कहा "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदिति वक्तव्यम्" अर्थात् त्रैपादिक कार्य में स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

निषेध इति। द्विर्वचनग्रहणात्पूर्वत्रासिद्धे इति निषेधाद्वेति भावः।

कौमुदीकार ने "सुध्य् + उपास्यः" इस स्थिति में "अचः परस्मिन्" सूत्र से स्थानिवद्भाव द्वारा यकार में ईकार-बुद्धि करने के कारण "अनचि च" सूत्र से धकार के द्वित्वाभाव की स्थिति आने पर कहा है कि "इति स्थानिवद्भावनिषेधः" तात्पर्य यह है कि "अचः परस्मिन्" से प्राप्त स्थानिवद्भाव का "न पदान्त" सूत्र से निषेध कर दिया जाता है। यह निषेध सूत्र में किये गये "द्विर्वचन" ग्रहण के आधार पर किया जाता है। यदि भाष्यसम्मत द्विर्वचनादि ग्रहण का प्रत्याख्यान पक्ष सम्मत है तब "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" इस वार्तिक द्वारा यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध करना चाहिए। "अनचि च" की द्वित्वविधि त्रैपादिक कार्य है, इसलिए उसके कर्तव्य में स्थानिवद्भाव नहीं होगा।

दकार इति। स्थानत आन्तर्यादिति भावः।

"सु-ध्-ध्-य्-उपास्यः" इस स्थिति में "झलां जश् झशि" सूत्र से पूर्व धकार रूपी झल् को जश्त्वेन दकार किया गया है। जिज्ञासा होती है कि धकार के स्थान पर प्रमाणकृत आन्तर्य के आधार पर जकारादि जश् क्यों नहीं होते हैं? इसका उत्तर देते हुए शेखरकार का कहना है कि यहाँ स्थानकृत आन्तर्य के आधार पर धकार के स्थान पर दन्तस्थानिक जश् दकार होता है, क्योंकि "यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः" इस परिभाषा से स्थानकृत आन्तर्य का ही बलवत्व बोधित है।

अदर्शनम्। 'स्थाने' इति वर्तते, प्रसङ्गे सतीति तदर्थस्तदाह—प्रसक्तस्येति। शास्त्रतोऽर्थतो वेति भावः । अत्र दृशिर्ज्ञानसामान्ये। तत्र ज्ञानस्यावर्जनीयत्वेन

तत्सामग्र्यन्तर्गता उच्चारणकृता सत्ता निषिद्ध्यते। तत्र प्रत्ययलोपे शास्त्रतोऽर्थतश्च प्रसक्तोच्चारणस्य लोपविधानेन तस्य तस्मिन्विषयेऽनुत्पत्तेरेवान्वाख्यानं प्रत्ययलक्षणार्थमिति बोद्ध्यम्। अर्थस्यैषा सञ्ज्ञा—व्याख्यानात्।

"अदर्शनं लोपः" इस सूत्र में "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र से "स्थाने" इस पद की अनुवृत्ति आती है। स्थान का अर्थ प्रसंग होता है। इस प्रकार "प्रसंगे सति यद् अदर्शनं तत् लोपसंज्ञं स्यात्" ऐसा सूत्रार्थ होता है। दीक्षित ने इस सूत्र की वृत्ति में "प्रसंगे सति" का फलितार्थ कहा है कि "प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञम्"।

यहाँ पर "अदर्शन" शब्द में जो दृश् धातु है उसका अर्थ यद्यपि चाक्षुष ज्ञान है तथापि इस शब्दशास्त्र में जहाँ शब्द का ही प्रसंग सम्भव है, उस शब्द में चाक्षुषत्व के बाधित होने के कारण उसके अदर्शन की लोप संज्ञा कैसे सम्भव है? इस शंका को दृष्टिगत कर नागेश कह रहे हैं कि अत्र=इस सूत्र में जो दृश् धातु आया है उसका अर्थ ज्ञानसामान्य है। इसलिए शब्द के ज्ञानसामान्याभाव की लोप संज्ञा होती है, यह निष्कर्ष फलित होता है।

शब्द की जिस प्रसक्ति की बात ऊपर कही गई है वह शब्द की प्रसक्ति कहीं तो शास्त्र के द्वारा होती है और कहीं अर्थतः होती है। शास्त्र द्वारा शब्द की प्रसक्तता का उदाहरण "लिट्", "धुक्" आदि प्रयोग हैं। इन प्रयोगों में "स्वौजस्" सूत्र से सु विभक्ति प्रसक्त है। इस सु विभक्ति का "हल्ङ्याब्भ्यः" सूत्र से लोप अर्थात् श्रवणाभाव कर दिया जाता है। अर्थतः प्रसक्त का उदाहरण "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" यह वार्तिक है। ल्यप् प्रत्यय के लोप का विधायक कोई सूत्र नहीं है। ऐसी स्थिति में 'ल्यब्लोपे' कहने का क्या औचित्य है? किन्तु लोप का अर्थ जब ज्ञानसामान्याभाव करते हैं तब यह शंका भी समाहित हो जाती है। "प्रासादात् प्रेक्षते" इस प्रयोग में यद्यपि शब्दतः ल्यप् की प्रसक्ति नहीं है, किन्तु 'प्रासाद पर चढ़ कर देखता है' ऐसा इस वाक्य का अर्थ होने के कारण यहाँ अर्थतः ल्य प्रसक्त है, जिसका श्रावण प्रत्यक्ष न होने के कारण यहाँ ल्यब्लोप शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यहाँ अर्थतः प्रसक्त ल्यप् का लोप समझना चाहिए।

अब यह शंका होती है कि ऊपर कहा जा चुका है कि "अदर्शन" शब्द में जो दृश् धातु है उसका अर्थ ज्ञानसामान्य है। ऐसी स्थिति में लोप का अर्थ हुआ ज्ञानसामान्याभाव। किन्तु यह ज्ञानसामान्याभाव तो बाधित है, क्योंकि लोपविधायक शास्त्र को उद्देश्यत्वेन रूपेण जब तक तत्तद् शब्दों का ज्ञान नहीं होगा तो वह लोप किसका करेगा? इस शंका का उत्तर देते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि तत्र = लोपविधायक शास्त्र में ज्ञान तो अवर्जनीय है अर्थात् वहाँ तत्तद् शब्दों का ज्ञान तो होगा ही, किन्तु उस ज्ञान की सामग्री में जो उच्चारण क्रिया आती है उस उच्चारणकृत सत्ता का निषेध अदर्शन पद से किया जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि तत्तद् शास्त्रों से जिसका-जिसका लोप किया जाता है उनका उच्चारणाभाव ही उनका लोप है। उच्चारण के द्वारा ही शब्द का ज्ञान होता है, इसलिए उच्चारण शब्दज्ञान की सामग्री के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार उच्चारणकृत शब्द की सत्ता के निषेध का पर्यवसान सत्ता की सामग्री के निषेध में होता है। मानस स्मरणात्मक शब्द का ज्ञान तो इष्ट ही है।

यहाँ पर यह शंका हो रही है कि लिट् आदि प्रयोगों में "स्वौजस्" इत्यादि शास्त्र से जिस प्रत्यय की प्रसक्ति है अर्थात् वह लक्ष्यस्थल में आ गया है, इसी प्रकार अर्थतः जहाँ ल्यप् के लोप की बात कही गई है—इन दोनों स्थलों पर जो प्रत्ययलोप की बात कही जा रही है वह तो सर्वथा असंगत है, क्योंकि पहली बात तो यह है कि "भुक्तवन्तं प्रति" इस न्याय से उसकी निवृत्ति ही नहीं होनी चाहिए क्योंकि जो लक्ष्य में आकर बैठ गया वह जायेगा कैसे? दूसरी बात यह है कि यदि किसी प्रकार जात की निवृत्ति की जाती है, तब शब्दानित्यत्व का दोष आता है। ऐसी स्थिति में लोपविधान का क्या औचित्य है? इस शंका के उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि प्रत्ययलोपस्थल में शास्त्रतः और अर्थतः प्रसक्तोच्चारण के लोप का जो विधान किया गया है, वह तो प्रत्ययलक्षण के लिए है, क्योंकि प्रत्ययलक्षण वहीं होता है जहाँ प्रत्यय का लोप होता है। वस्तुतस्तु तस्य = प्रसक्तोच्चारण वाले प्रत्यय का तस्मिन् विषये = लोप के विषय में अनुत्पत्ति का ही अन्वाख्यान है। जहाँ किसी प्रत्यय के लोप की बात कही गई है वहाँ यही समझना चाहिए कि उस प्रत्यय की वहाँ उत्पत्ति ही नहीं हुई है। इस प्रकार शब्दानित्यत्व का दोष नहीं होता है। प्रत्यय की अनुत्पत्ति को ही प्रत्यय का लोप मान कर वहाँ प्रत्ययलक्षण होता है।

अब यह विचार प्रस्तुत है कि यह लोप संज्ञा "अदर्शन" इस शब्द की होती है अथवा उच्चारणाभाव रूपी अर्थ की होती है? यद्यपि "स्वं रूपम्" इस शास्त्र के द्वारा यह लोपसंज्ञा "अदर्शन" इस शब्द की ही होनी चाहिये, तथापि "लोप" यह जो महती संज्ञा की गई है, तन्मूलक व्याख्यान के आधार पर लोपसंज्ञा उच्चारणाभावरूप अर्थ की ही होती है, शब्द की नहीं होती। "लोपनं लोपः" इस व्युत्पत्ति के आधार पर लोपन क्रिया ही लोप है। अदर्शन शब्द की लोप संज्ञा करने पर यह व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ उसमें संगत नहीं हो सकेगा, क्योंकि अदर्शन शब्द लोपन क्रिया नहीं है। इसलिए यह अर्थ की संज्ञा है।

यत्तु—"प्रसक्तस्येति किं? ग्रामे तिष्ठतीत्यादौ 'ल्यब्लोपे' इति पञ्चम्यापत्तेः। अस्ति चात्र ल्यपोऽदर्शनम्। शास्त्रतोऽर्थतश्च न तत्प्रसक्तिरिति न दोष"इति, तन्न। तेन प्रत्यासत्त्या ल्यबन्तार्थकर्माधिकरणयोरेव पञ्चमीविधानेन तस्यात्राप्राप्तेः। तत्त्वे तु अस्त्येवार्थतो ल्यबन्तस्य प्रसक्तिः। तस्मात् त्रपु इत्यत्र क्विपोऽदर्शनसत्त्वेन प्रत्ययलक्षणेन तुगापत्तिर्दोषः। कृत्प्रत्येन प्रकृत्याक्षेपस्तु न, अत्रैव प्रकृतिं विनाऽतिदेशतः प्रत्ययज्ञानसत्त्वेन व्यभिचारात्तदाक्षेपासम्भवात्।

किसी प्राचीन आचार्य का कहना है कि इस सूत्र की व्याख्या में यदि "प्रसक्तस्य" इस पद का ग्रहण नहीं किया जाता तो "ग्रामे तिष्ठति" इस वाक्य में जहाँ ल्यप् का अदर्शन (लोप) है वहाँ "ल्यब्लोपे" इस वार्तिक से पञ्चमी विभक्ति होने लगती। जब प्रसक्त ग्रहण कर दिया गया है तब यह दोष नहीं होता है, क्योंकि ल्यप् की प्रसक्ति यहाँ न तो शास्त्र से है और न अर्थतः ही है।

नागेश भट्ट प्राचीन के इस कथन से असहमत हैं, इसलिए कह रहे हैं कि यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि "ल्यब्लोपे" इस वार्तिक से प्रत्यासत्त्या ल्यबन्तार्थ के कर्म और अधिकरण में

ही पञ्चमी का विधान किया जाता है। "ग्रामे तिष्ठति" इस वाक्य में ग्राम ल्यबन्तार्थ का अधिकरण नहीं है, अतः यहाँ पञ्चमी की प्राप्ति नहीं है। यदि कहा जाय कि दर्शननिरूपित अधिकरणत्व तो ग्राम में है ही; क्योंकि "प्रेक्ष्य ग्रामे तिष्ठति" इस अर्थ की विवक्षा में ग्राम, दर्शन क्रिया का अधिकरण बन जाता है। नागेश कहते हैं कि "तत्त्वे तु = ग्राम में यदि अधिकरणत्व हो जाता है तब तो अर्थतः ल्यबन्त की प्रसक्ति है ही। ऐसी स्थिति में "प्रसक्त" ग्रहण करने पर भी "ग्रामे तिष्ठति" में पञ्चमी की आपत्ति का वारण नहीं हो सकेगा। इस परिस्थिति में "प्रसक्त" ग्रहण का प्रत्युदाहरण क्या हो सकता है? इस बात को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि तस्मात् = प्रसक्तग्रहण के अभाव में "त्रपु" इस प्रयोग में क्विप् का अदर्शन होने के कारण, उसका अदर्शन लोप कहा जायेगा और उस लोप का जब प्रत्ययलक्षण होगा तब "त्रपु" प्रयोग में "ह्रस्वस्यपिति" सूत्र से तुक् की आपत्ति हो जायेगी। यदि प्रसक्त ग्रहण कर दिया जाता है तो शास्त्रतः या अर्थतः किसी प्रकार से क्विप् की प्रसक्ति न होने के कारण यहाँ कोई दोष नहीं होता।

यदि कहा जाय कि पित् कृत् प्रत्यय है। प्रत्यय से प्रकृति का आक्षेप होता है। पित् कृत् प्रत्यय पर में रहने पर उसी ह्रस्व को तुक् होता है जो उस प्रत्यय की प्रकृति का अवयव हो। "त्रपु" में तो यह बात नहीं है, क्योंकि त्रपु में क्विप् हुआ ही नहीं है, इसलिए प्रसक्तग्रहणाभाव में भी यहाँ कोई दोष नहीं है? इस बात के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि कृत् प्रत्यय से प्रकृति का आक्षेप नहीं होगा, क्योंकि येन विना "यदनुपपन्नम्" इस न्याय से जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है उस अनुपपन्न से उसके उपपादक का आक्षेप होता है। यदि प्रकृति के बिना पित् प्रत्यय अनुपपन्न होता तो उससे प्रकृति का आक्षेप हो सकता था, किन्तु यहाँ वैसी बात नहीं है, क्योंकि यहाँ "त्रपु" के प्रकृति न होने पर भी अतिदेशतः = प्रत्ययलोप शास्त्र के द्वारा स्थानिद्भाव के द्वारा वा पित्कृत् प्रत्यय का ज्ञान कर लिया जाता है। इसलिए "येन विना यदनुपपन्नम्" यह न्याय व्यभिचरित है। इस व्यभिचरित न्याय के आधार पर यहाँ कृत् प्रत्यय से प्रकृति का आक्षेप सम्भव नहीं है।

इति पक्षे इति। विनिगमनाविरहादिति भावः। द्वित्वस्य त्रैपादिकत्वात्तत्र न यणो बहिरङ्गासिद्धत्वम्। अत एव दद्ध्यत्रेति भाष्ये उदाहृतम्। धकारयकारयोरिति। तेन विसर्गादिद्वित्वेनाधिक्येऽपि न क्षतिः। द्विधमिति। द्विधत्वं प्रक्रियायां बोद्धव्यम्। 'एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो न द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च भविष्यती'ति 'कृञ्चानुप्रयुज्यते' इति सूत्रभाष्योक्तन्यायेनैकस्य द्वित्वे परस्य तदभावोऽनुचित इति न वाच्यम्। सार्थकानेकविषये तन्न्यायाङ्गीकारात्। यत्रान्याकृतिकरणे भिन्नार्थत्वसम्भावना तद्विषयत्वाच्च। 'हलो यमामि'ति लोपे द्वित्वाभावे चैकधमेव रूपम्।

"सुधी + उपास्यः" इस स्थिति में ईकार को यण् और धकार को "अनचि च" सूत्र से द्वित्व करने के बाद "सु-ध्-ध्-य् + उपास्यः" इस स्थिति में "यणो मयो द्वे वाच्ये" इस वार्तिक से यकार को द्वित्व किया जाता है। यह यकार का द्वित्व "मयः" इस पद को पञ्चम्यन्त तथा

"यणः" इस पद को षष्ठ्यन्त मानने वाले पक्ष में होता है। "मयः" और "यणः" ये दोनों पद पञ्चम्यन्त और षष्ठ्यन्त दोनों हो सकते हैं, क्योंकि इस बात का कोई विनिगमक नहीं है कि दोनों पदों में यह पञ्चम्यन्त है और यह षष्ठ्यन्त है। इसलिए जहाँ मय् के आगे यण् रहेगा, जैसे इस प्रस्तुत उदाहरण में ही है; ऐसे स्थलों पर "मयः" पद को पञ्चम्यन्त तथा 'यणः' पद को षष्ठ्यन्त माना जाता है। 'तवल्कारः' प्रयोग में जहां लकार रूपी यण् से पर में ककार् रूपी मय् है, वहां के लिए 'यणः' यह पद पञ्चम्यन्त तथा "मयः" यह पद षष्ठ्यन्त माना जाता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि "यणः" और "मयः" ये दोनों पद पञ्चम्यन्त और षष्ठ्यन्त दोनों हैं।

इस उपर्युक्त सन्दर्भ के अनुसार "सु ध्-ध्-य् + उपास्यः" इस स्थिति में धकार रूप मय् से पर में यकार को दृष्टिगत कर दीक्षित ने कौमुदी में कहा है कि "यणो मयः" इस वार्तिक में "मयः" इति पञ्चमी "यणः" इति षष्ठी इस पक्ष में यकार को भी द्वित्व होता है।

यहाँ शंका होती है कि यण् परनिमित्तक होने से बहिरङ्ग है और 'यणो मयः' वार्तिक से विधेय द्वित्व अपरनिमित्तक होने से अन्तरङ्ग है। ऐसी स्थिति में अन्तरंग द्वित्व की कर्तव्यता में बहिरङ्ग यण् अन्तरङ्ग परिभाषा से असिद्ध हो जायेगा तो यकार के द्वित्व की बात करना ठीक नहीं है? इस शंका के उत्तर में नागेशभट्ट का कहना है कि "यणो मयः" का द्वित्व त्रैपादिक द्वित्व के मध्य में पठित होने के कारण त्रैपादिक है और त्रैपादिक अन्तरङ्ग में अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति न तो यथोद्देश पक्ष में होती है और न कार्यकाल पक्ष में ही होती है। क्योंकि सापादिक अन्तरङ्ग परिभाषा की दृष्टि से त्रैपादिक अन्तरङ्गशास्त्र स्वयमेव असिद्ध हो जाता है। इसलिए प्रस्तुत स्थल में द्वित्व की कर्तव्यता में बहिरङ्ग यण् असिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार यहाँ यकार को द्वित्व हो जाता है। अत एव = त्रैपादिक शास्त्र में अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति न होने से ही "द ध्-य् + अत्र" इस स्थिति में "यणो मयः" इस वार्तिक से मय से पर में यण् यकार को द्वित्व करके "दध्य्यत्र" ऐसा द्वियकारक उदाहरण भाष्यकार ने दिया है।

धकारयकारयोरिति। इस प्रकार "अनचि च" सूत्र से धकार को तथा "यणो मयः" वार्तिक से यकार को द्वित्व करने से "सुद्ध्युपास्यः" इस प्रयोग में चार रूप बनते हैं, ऐसा कौमुदीकार ने कहा है। यहाँ यह कहा जाता है कि अयोगवाहों का पाठ अच् और शर् दोनों प्रत्याहारों में माना गया है। शर् में पठित होने से अयोगवाह यर् प्रत्याहार में भी आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में "अनचि च" सूत्र से विसर्ग को द्वित्व विकल्प करने से तो "सुद्ध्युपास्यः" प्रयोग में चार से अधिक रूप बनेंगे तो कौमुदी में चार ही रूपों की बात क्यों की गई है? शेखरकार कहते हैं कि विसर्ग को द्वित्व करने से रूपाधिक्य भले हो किन्तु धकार और यकार को द्वित्व करने पर तो चार ही रूप बनेंगे। इसी बात में कौमुदी का तात्पर्य है।

द्विधमिति। "सुद्ध्युपास्यः" इस प्रयोग में धकार को द्वित्व करने के बाद पूर्वधकार को तो जश्त्वेन दकार हो जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ रूपों की परिगणना के अवसर पर दीक्षित जी ने "द्विधम्" का प्रयोग कैसे किया है? नागेश भट्ट इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि यह द्विधत्व = धकारद्वयवत्ता का प्रयोग प्रक्रिया दशा के आधार पर किया गया है।

कौमुदीकार ने धकार का द्वित्व और यकार का द्वित्वाभाव करके "द्धिधम्" और "एकयम्" रूप अर्थात् दो धकारक और एक यकारक रूप की बात कौमुदी में कही है, किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि एक परिभाषा है "एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भविष्यति" जहाँ एक आकृति का प्रयोग कर दिया जाता है वहाँ उससे भिन्न द्वितीय अथवा तृतीय आकृति का प्रयोग नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए "स्वामीश्वराधिपति" इस सूत्र से स्वामी आदि शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियों का विधान किया गया है। जहाँ गो और अश्व इन दोनों के साथ स्वामी शब्द का योग रहता है वहाँ गो शब्द के आगे यदि षष्ठी विभक्ति आती है तब अश्व के आगे भी षष्ठी विभक्ति ही आती है। इसलिए वहाँ "गवामश्वानां च स्वामी" यही प्रयोग होता है। वहाँ ऐसा नहीं कर सकते कि गो शब्द के आगे षष्ठी विभक्ति लावें और अश्व के आगे सप्तमी विभक्ति, क्योंकि उक्त परिभाषा से दोनों शब्दों के आगे भिन्न-भिन्न विभक्तियों के प्रयोग का निराकरण कर दिया जाता है। गोशब्द के आगे जब षष्ठी की आकृति का प्रयोग हो गया तब उससे भिन्न सप्तमी की आकृति का प्रयोग अश्व के आगे नहीं हो सकता है।

उक्त परिभाषा के द्वारा द्वित्व के विषय में भी यही बात होगी। अर्थात् यदि धकार को द्वित्व किया जाता है तब यकार को भी द्वित्व करना ही पड़ेगा। ऐसा नहीं कि धकार को द्वित्व हो और यकार को न हो। ऐसी स्थिति में "द्धिधम्" और "एकयम्" की कौमुदी की बात असंगत ही है?

इस शंका के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि जहाँ सार्थक अनेक शब्द हों वही उक्त परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। जैसे गो और अश्व ये दोनों शब्द सार्थक हैं। ऐसे स्थल पर यदि दोनों शब्दों के आगे भिन्न आकृति का प्रयोग करते हैं तो वहाँ वाञ्छित अर्थ से विपरीत अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। जैसे यह व्यक्ति गायों और अश्वों का स्वामी है इस अर्थ की प्रतीति के लिए यदि 'गवामश्वानाञ्च स्वामी अयम्' ऐसा प्रयोग करते हैं, तब अभीष्ट अर्थ की प्रतीति होती है। यदि उसके स्थान पर "गवां स्वामी अश्वेषु" ऐसा प्रयोग करते हैं, तब अर्थ होगा कि गायों का स्वामी अश्वों में है। इसलिए ऐसे स्थलों पर उक्त परिभाषा की प्रवृत्ति होती है और दोनों जगह समान विभक्तियों का प्रयोग होता है।

"सुद्ध्युपास्यः" प्रयोग में धकार और यकार दोनों वर्ण निरर्थक है, अतः यहाँ उक्त न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार कौमुदी की उक्ति संगत होती है। प्रस्तुत उदाहरण "सुद्ध्युपास्यः" में यकार को द्वित्व करके "हलो यमां यमि लोपः" सूत्र से लोप कर दें, अथवा यकार को द्वित्व ही न करें, तो इन दोनों स्थितियों में एकयकारक ही रूप बनता है।

नादिन्या। 'यरोऽनुनासिके' इत्यतो 'यर' इति वर्तते। 'पुत्रशब्दस्ये'त्यवयवषष्ठी। 'आदिनीशब्दे परे' इति च प्राधान्याद्यर एव विशेषणम्। सूत्रे 'आदिनी'ति ङ्यन्तानुकरणं लुप्तसप्तमीकम्। अत एव 'तत्परे चे'त्यस्या'ऽऽदिनीशब्दो यस्मात्परस्तत्र परे' इत्यर्थं हरदत्तो व्याख्यत्। अद्धातौ माधवोऽप्येवमेव-'। ईदृशाक्रोशस्य स्त्रीष्वेव दर्शनाच्च। आक्रोशो निन्दा, तदाह—पुत्रादिनीति।

तादृशाक्रोशस्य स्त्रीष्वेव दर्शनादाह—पुत्रहतीति। 'अनचि चे'ति सिद्धे—'पुत्रस्य क्तान्ते चेद्धतजग्धयोरेव, आक्रोशे एवे'ति नियमार्थमिदम्।

"नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य" इस सूत्र में "यरोऽनुनासिके" सूत्र से "यरः" इस षष्ठ्यन्त पद की अनुवृत्ति आती है। "पुत्रस्य" इस पद में अवयव अर्थ में षष्ठी है। सूत्रस्थ "आदिनी" यह ङीबन्त का अनुकरण है। तात्पर्य यह है कि "आदिन्" शब्द से ङीप् करने से जो "आदिनी" शब्द बनता है, उसी का अनुकरण आदिनी शब्द सूत्र में प्रयुक्त हुआ है और यह लुप्त सप्तम्यन्त है। इसके आगे जो सप्तमी विभक्ति आई है उसका "सुपां सुलुक्" सूत्र से लुक् हो गया है। जो शेष बचता है वही लुप्यमान के अर्थ को भी कहता है, इसलिए आदिनी शब्द लुप्त सप्तमी के अर्थ को भी कहता है। इसीलिए कौमुदीकार ने कहा है कि "आदिनी शब्दे परे"।

यहाँ "प्रधानाप्रधानयोः प्रधानेनान्वयः" इस नियम से षष्ठ्यर्थ अवयव तथा "आदिनीशब्दे परे" ये दोनों प्रधान पदार्थ यर् में ही अन्वित होते हैं। अर्थात् यर् का विशेषण बनते हैं। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होता है कि "आदिनी शब्द पर में रहने पर पुत्रशब्दावयव यर् को द्वित्व नहीं होता है। अत एव = आदिनी शब्द ङीबन्त का अनुकरण है तथा उसके आगे सप्तमी का लुक् हुआ है, इस बात को स्वीकार करने से ही "तत्परे च" इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए हरदत्त ने कहा कि "आदिनी शब्द है पर में जिससे, ऐसे पुत्रादिनी शब्द के पर में रहने पर पुत्रशब्दावयव यर् का द्वित्व नहीं होता है। यदि ऐसी बात नहीं होती तो वे कहते कि 'आदिन् शब्द है पर में' जिससे, न कि 'आदिनी शब्द है पर में जिससे' ऐसा कहते। इससे स्पष्ट होता है कि आदिनी यह ङीबन्त का अनुकरण लुप्तसप्तम्यन्त पद है। "माधवीया धातुवृत्ति में अद् धातु के विवेचन के अवसर पर माधव ने भी ऐसा ही कहा है।

आक्रोश का अर्थ निन्दा है। ऐसा आक्रोश स्त्रियों में ही देखा जाता है। इसीलिए इसके अनुरूप उदाहरण दिया कि "पुत्रो हतो यया सा पुत्रहती त्वमसि पापे"। पुत्रहती और "पुत्रजग्धी" इन दोनों प्रयोगों में पुत्रशब्दावयव यर् तकार के द्वित्व विकल्प के लिए वार्तिक बनाया गया है। "वा हतजग्ध्योः"। यहाँ प्रश्न होता है कि इस वार्तिक की क्या आवश्यकता है? वार्तिक के लक्ष्य में तो "अनचि च" सूत्र से ही द्वित्व विकल्प सिद्ध है? ऐसी स्थिति में यह प्रस्तुत वार्तिक व्यर्थ होकर नियमार्थक होता है। नियम का आकार यह है कि "क्तप्रत्ययान्त शब्द पर में रहने पर पुत्रशब्दावयव यर् को यदि द्वित्व होवे तो वह हत और जग्ध शब्द पर में रहने पर ही हो तथा आक्रोश में ही हो"। इसका परिणाम यह होता है कि "पुत्रगता" "पुत्रदृष्टा" इत्यादि प्रयोगों में पुत्रशब्दावयव यर् को द्वित्व नहीं होता है।

संयुक्तेष्विति। 'त्रिप्रभृतिष्वि'ति सूत्रे वर्णानां सजातीयानामेव ग्रहणं, परस्परसाहचर्यात्। न च तथाचः सम्भवन्ति। अत एव 'अचो रहाभ्यामि'ति सार्थकम्। निर्धारणे सप्तमी, 'अच' इत्यनुवर्तते, 'त्रिप्रभृतिसंयुक्तवर्णमध्येऽचः परस्य यरो द्वे वा न स्त' इत्यर्थः। तेनेन्द्रः राष्ट्रमित्यत्र नकारषकारयोः प्राप्तद्वित्वस्यैव निषेधविकल्पः। 'अनचि च' 'सर्वत्र शाकल्यस्ये'त्येव सिद्धे इदं सूत्रद्वयं विकल्पस्य

मतभेदप्राप्तव्यवस्थाबोधनार्थमिति बोद्धयम्। 'यरोऽनुनासिके' इत्यतो 'वे'त्यनुवृत्त्या'ऽनची'त्येव सिद्धे तु सूत्रत्रयमपि तथेति बोद्धयम्।

"त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य" इस सूत्र की वृत्ति में "संयुक्तेषु" इस पद का उल्लेख किया गया है। इसका लाभ कैसे होता है? इस शंका का समाधान करते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि यहाँ "संयुक्तेषु" इस पद का लाभ परस्पर साहचर्य से होता है। सजातीयारब्ध समुदाय और विजातीयारब्ध के प्रसंग में सजातीयारब्ध समुदाय का ही ग्रहण किया जाता है। अव्यवहित रूप से तीन, चार अच् वर्णों का रहना सम्भव नहीं है, क्योंकि वैसी स्थिति में वहाँ सन्धिकार्य अवश्यमेव हो जायेगा। इसलिए तीन-चार हल् वर्णों का ही संयोग यहाँ ग्राह्य होता है, क्योंकि वही संयोग सजातीय हल्वर्णों द्वारा आरब्ध होता है। इसी आशय से वृत्ति में कहा गया है कि "त्र्यादिषु संयुक्तेषु"। अत एव = सजातीय हल् वर्णों का ग्रहण करने से ही "अचोरहाभ्याम्" इस सूत्र की सार्थकता होती है। अन्यथा "हर्य्यनुभवः" इत्यादि प्रयोगों में जहाँ अकार, रकार और यकार इन तीनों वर्णों का अच्-हल् मिश्रित संयोग है, वहाँ "त्रिप्रभृतिषु" सूत्र से ही द्वित्व की सिद्धि हो जाती तो "अचो रहाभ्याम्" सूत्र व्यर्थ ही हो जाता।

इस सूत्रघटक "त्रिप्रभृतिषु" इस पद में "यतश्च निर्धारणम्" इससे निर्धारण अर्थ में सप्तमी हुई है। "अचो रहाभ्याम्" इस सूत्र से "अचः" और "द्वे" पद की तथा "यरोऽनुनासिके" सूत्र से "यरः" इस षष्ठ्यन्त पद की और "नादिन्याक्रोशे" सूत्र से "न" पद की यहाँ अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार अनुवृत्त पदों के आधार पर इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि त्रिप्रभृति संयुक्त वर्णों के मध्य में अच् से पर में रहने वाले यर् का शाकटायन के मत से द्वित्वविकल्प नहीं होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि इस सूत्र के उदाहरण "इन्द्रः" इत्यादि प्रयोगों में "अनचि च" सूत्र से द्वित्व विकल्प प्राप्त रहता है, जिसका निषेध इस सूत्र के द्वारा कर दिया जाता है। शाकटायन के अनुसार द्वित्वविकल्प का निषेध होने के कारण उसका पर्यवसान द्वित्वविकल्प में ही होता है। इस प्रकार "इन्द्रः" और "राष्ट्रम्" इन प्रयोगों में नकार और षकार का "अनचि च" सूत्र से प्राप्त द्वित्वविकल्प का इस सूत्र से शाकटायन के अनुसार निषेध कर दिया जाता है। इस सूत्र द्वारा क्रियमाण निषेध में शाकटायन का उल्लेख होने से यह निषेध द्वित्वविकल्प में ही पर्यवसित होता है। इसीलिए कौमुदीकार ने वृत्ति में कहा है—"त्र्यादिषु संयुक्तेषु वा द्वित्वम्"।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत सूत्र के उदाहरण में "अनचि च" सूत्र से द्वित्वविकल्प प्राप्त रहता है, जिसका "त्रिप्रभृतिषु" सूत्र से वैकल्पिक निषेध किया जाता है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि यहाँ द्वित्वविकल्प होता है। अब प्रश्न यह होता है कि इस कार्य के लिए "त्रिप्रभृतिषु" इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस द्वित्व के प्रकरण में जब वैकल्पिक द्वित्व ही वाञ्छित है तो यह कार्य "अनचि च" तथा "सर्वत्र शाकल्यस्य" इन दोनों सूत्रों से ही सिद्ध है। क्योंकि "अनचि च" सूत्र से सब जगह अच् से पर में रहने वाले यर् को द्वित्व प्राप्त रहेगा, जो शाकल्य के मतानुसार सब जगह निषिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार शाकल्य के मतानुसार निषेध तथा अन्य के मतानुसार द्वित्व का विधान—इन दोनों बातों के कारण द्वित्वविकल्प सिद्ध ही है, तो ऐसी स्थिति में इदं सूत्रद्वयम् = "त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य"

तथा "दीर्घादाचार्याणाम्" इन दोनों सूत्रों की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि ये दोनों सूत्र मतभेद से (शाकल्यमत तथा आचार्यमत) प्राप्त जो विकल्प, उसकी व्यवस्था के लिए हैं। यह बात "अनचि च" सूत्र में "यरोऽनुनासिके" सूत्र से "वा" की अनुवृत्ति न लाने की स्थिति में कही गई है। यदि "यरोऽनुनासिके" सूत्र से "वा" की अनुवृत्ति "अनचि च" सूत्र में करते हैं तब सब जगह अच् से पर में रहने वाले यर् को द्वित्वविकल्प की सिद्धि होने के कारण सूत्रत्रयमपि = "सर्वत्र शाकल्यस्य" के साथ उपर्युक्त दोनों "सूत्र" इस प्रकार तीनों सूत्र तथेति = मतभेद से व्यवस्था के लिए अर्थात् द्वित्वविकल्प के सम्बन्ध में क्या मतभेद है, इस बात को बताने के लिए हैं।

वस्तुतस्तु "अनचि च" सूत्र से ही द्वित्वविकल्प की सिद्धि हो जाने के कारण "त्रिप्रभृतिषु" इत्यादि तीनों सूत्र अनावश्यक हैं।

अचो र। 'अच' इति श्रुतत्वाद्व्याख्यानाच्च रहाभ्यां सम्बध्यते। 'तस्मादित्युत्तरस्ये'त्येतल्लभ्यमाह—अचः पराभ्यामिति।

"अचो रहाभ्यां द्वे" इस सूत्र में "यरोऽनुनासिके" सूत्र से "यरः" इस षष्ठ्यन्त पद की तथा "वा" इस अव्यय पद की अनुवृत्ति होती है। विचार यह प्रस्तुत हुआ कि सूत्रस्थ "अचः" यह जो दिग्योगलक्षण पञ्चम्यन्त पद है, वह किसका विशेषण है? "रहाभ्याम्" का विशेषण है अथवा "यरः" का विशेषण है? इस आशंका के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि "श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्" इस न्याय के आधार पर "अचः" यह पद "रहाभ्याम्" के साथ सम्बद्ध होता है अर्थात् उसी का विशेषण बनता है, क्योंकि "रहाभ्याम्" यह पद सूत्र में श्रुत (पठित) है और "यरः" यह पद तो बाहर से आने के कारण अनुमित है।

यदि कहा जाय कि उत्तरसूत्र "अनचि च" में "अचः" यह पद "यरः" पद का ही विशेषण बना है, इसलिए उसके अनुरोध पर यहाँ भी "अचः" पद "यरः" का ही विशेषण होना चाहिए तो इस बात को लक्षित कर शेखर में कहा गया कि "व्याख्यानाच्च" अर्थात् व्याख्यान के आधार पर भी इस पद का अन्वय "रहाभ्याम्" के साथ ही होगा, क्योंकि "अनचि च" सूत्र में तो "अचः" पद का अन्वय तो "यरः" के साथ करना ही है, क्योंकि वहाँ "रहाभ्याम्" पद या उसके सदृश दूसरा कोई पद सूत्र में उच्चारित तो है नहीं। इसलिए वहाँ तो "यरः" के साथ अन्वय के अतिरिक्त दूसरी कोई गति नहीं है। यहाँ तो जब "रहाभ्याम्" यह पद सूत्र में श्रुत है तब उसके साथ अन्वय न करने में कोई कारण तो है नहीं, इसलिए प्रत्यासत्ति के त्याग में प्रमाणाभाव के कारण "अचः" इस पद का अन्वय "रहाभ्याम्" इस श्रुत पद के साथ ही होता है।

"अचः" यह पद पञ्चम्यन्त है इसलिए यहाँ "तस्मादित्युत्तरस्य" की उपस्थिति होती है। उसके द्वारा लभ्य अर्थ है—अच् से पर में जो रेफ या हकार, उससे पर में रहने वाले यर् का द्वित्व विकल्प से होता है।

वा यमीति। 'झयो ह' इत्यतो'ऽन्यतरस्यामि'त्यनुवृत्तेरिति भावः। 'दीर्घादाचार्याणामि'त्युत्तरम्—'अनुस्वारस्य ययि' 'वा पदान्तस्य' 'तोर्लि' 'उदःस्था' 'झयो हो'

'शश्छोऽटी'ति षट्सूत्रीपाठोत्तरं—'झलां जश् झशि' 'अभ्यासे चर्च' 'खरि च' 'वाऽवसाने' 'अणो प्रगृह्यस्ये'ति पञ्चसूत्र्याः पाठ इति— भाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठे तु—वाऽवसाने इत्यतोऽनुवृत्तिर्बोद्धया। स्पष्टञ्चास्य वैकल्पिकत्वं लण्सूत्रे भाष्ये।

"हलो यमां यमि लोपः" (८।४।६४) इस सूत्र में "झयो होऽन्यतरस्याम्" (८।४।६२) सूत्र से "अन्यतरस्याम्" इस विकल्पार्थक अव्यय पद की अनुवृत्ति आती है। "हलः" यह दिग्योगलक्षण पञ्चम्यन्त पद है। इस प्रकार सूत्रार्थ होता है कि "हल् से पर में रहने वाले यम् का विकल्प से लोप होता है यम् पर में रहने पर"।

इस सूत्र में विकल्पार्थक "अन्यतरस्याम्" पद की अनुवृत्ति के ऊपर विचार करते हुए कह रहे हैं कि प्रसिद्ध अष्टाध्यायी पाठ के अनुसार "झयो होऽन्यतरस्याम्" (८।४।६२) से इस सूत्र में "अन्यतरस्याम्" पद की अनुवृत्ति की बात कही गई है, उसके अनुसार एक यह समस्या उपस्थित हो जाती है कि इस पाठ के अनुसार "उदः स्थास्तम्भोः" सूत्र (८।४।६१) "खरि च" (८।४।५५) के प्रति परत्रिपादी हो जाता है। इसके परत्रिपादी होने का परिणाम यह होगा कि भाष्यकार ने "उदः स्थास्तम्भोः" सूत्र के भाष्य में "उत्पूर्वस्कन्देश्छन्दस्युपसंख्यानम्" इस वार्तिक का "अध्न्ये दूरमुत्कन्द" जो उदाहरण दिया है तथा "रोगे चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिक का उदाहरण "उत्कन्दको रोगः" जो दिया है, ये तकारघटित उदाहरण असंगत हो जायेंगें। इन दोनों उदाहरणों में उपर्युक्त दोनों वार्तिकों से स्कन्द् धातु के सकार को पूर्वसवर्ण थकार करने के बाद "खरि च" सूत्र से तकार किया जाता है। किन्तु वर्तमान अष्टाध्यायी पाठ के अनुसार "खरि च" इस पूर्वत्रिपादी के प्रति परत्रिपादी पूर्वसवर्णविधायक "उदः स्थास्तम्भोः" सूत्र असिद्ध हो जायेगा, जिससे उक्त प्रयोगों में तकार का श्रवण नहीं हो सकेगा। इस विप्रतिपत्ति को देखकर भाष्यकार ने अष्टाध्यायी पाठ का व्यत्यास कर दिया, जो शेखर के मूल में कहा हुआ है। इसके अनुसार "उदः स्थास्तम्भोः" (८।४।५६) तथा "खारि च"(८।४।६१) का देश ऐसा हो जाता है, इसलिए "खरि च" की दृष्टि से पूर्वसवर्ण असिद्ध नहीं होता है और परिणाम-स्वरूप वहाँ तकार हो जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त भाष्य की संगति हो जाने पर इस भाष्य-सम्मत अष्टाध्यायी पाठ के अनुसार एक नई समस्या यह पैदा हो जाती है कि इसके अनुसार "हलो यमां यमि लोपः" (८।४।६४) की अपेक्षा "झयो हः" (४।८।५७) का सूत्र बहुत पूर्व का हो जायेगा जिससे, "अन्यतरस्याम्" की अनुवृत्ति लाना सम्भव नहीं हो सकेगा। शेखरकार इस समस्या को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि इस स्थिति में "वाऽवसाने" सूत्र, जो प्रसिद्ध अष्टाध्यायी पाठ में (८।४।५६) का सूत्र है, वह अब भाष्यसम्मत पाठ के अनुसार (८।४।६२) का हो जायेगा, इसलिए इस सूत्र से "वा" इस पद की अनुवृत्ति करके इस सूत्र (हलो यमाम्) की वैकल्पिकता समझनी चाहिए। यदि कहा जाय कि इस सूत्र की वैकल्पिकता में क्या प्रमाण है? तो शेखरकार का कहना है कि "लण्" सूत्र के भाष्य में इस सूत्र का वैकल्पिकत्व स्पष्ट है।

आदित्य इति। आदित्यशब्दाच्छेषार्थण्यान्ताद्देवतार्थे ण्यः। 'यस्येति चे' त्यल्लोपेऽनेन यलोपः। 'आपत्यस्ये'ति तु न। अपत्यत्वाभावात्। हल इति किं? शय्या। यमामिति किम्? आध्नोत्। यमीति किं? रामाभ्याम्।

"हलो यमां यमि लोपः" इस सूत्र का उदाहरण "हर्य्यनुभवः" "नह्य्यस्ति" इस प्रकार द्वियकारक तथा लोपपक्ष में एकयकारक दिया गया है। शंका होती है कि यह कार्य तो "अचो रहाभ्याम्" सूत्र से ही सिद्ध है तो इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस आशंका को दृष्टिगत कर इस सूत्र का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं जो किसी अन्य सूत्र से सिद्ध नहीं है। वह उदाहरण है—"आदित्यम्" यह प्रयोग। "अदितौ जातो भवो वा" इस विग्रह में पहले अदिति शब्द से ण्य प्रत्यय, भसंज्ञा, इकार का लोप और "आदिवृद्धि करके "आदित्य" शब्द बनता है। इसके बाद "आदित्यो देवता यस्य" इस विग्रह में पुनः 'दित्यदित्यादित्य' इसी सूत्र में आदित्य शब्द से ण्यप्रत्यय होता है। इसके बाद "आदित्य-य" इस स्थिति में भसंज्ञा करके अकार का लोप करने के बाद "हलो यमाम्" सूत्र से यकार का लोप होता है, जिससे "आदित्यम्" यह सिद्ध होता है। यहाँ शंका होती है कि यह कार्य यकार का लोप तो "आपत्यस्य च तद्धिते" सूत्र से ही हो सकता है ऐसी स्थिति में इस सूत्र क्या आवश्यकता है? शेखरकार ने इस शंका के उत्तर में कहा कि "आपत्यस्य" सूत्र से यहाँ यकार का लोप नहीं हो सकता है, क्योंकि यहाँ प्रथम ण्य प्रत्यय जो हुआ है वह अपत्य अर्थ में न होकर जातादि शेष अर्थ में हुआ है। "आपत्यस्य" सूत्र से अपत्यार्थक यकार का लोप होता है। इस प्रकार इस सूत्र से यलोप न होने की स्थिति में "हलो यमाम्" सूत्र से यकार का लोप कर के "आदित्यम्" रूप की सिद्धि की जाती है।

इस सूत्र द्वारा हल् से पर में रहने वाले यकार का लोप किया जाता है। यदि इस सूत्र में हल् ग्रहण न किया गया होता तो "शय्या" घटक प्रथम यकार, जो अच् से पर में है, उसका भी लोप हो जाता। इसी प्रकार यदि इस सूत्र में "यमाम्" इस पद का उल्लेख नहीं होता तो "आर्ध्नोत्" घटक धकार का लोप होने लगता। इस सूत्र में "यमि" इस सप्तम्यन्त पद के अभाव में "रामाभ्याम्" इस पद में भकारोत्तरवर्ती यकार का लोप होने लगता। इसलिए सूत्र में किये गये तीनों पदों का सार्थक्य है।

एचोऽय। 'इचोऽचि यणयवायावः' 'अवावौ यि प्रत्यये' इति सूत्रयितुमुचितमित्याहुः। यथासङ्ख्यसूत्रलब्धमर्थमाह—क्रमादिति। उदात्तादिगुण-युक्तानामन्यगुणकव्यावृत्तिस्तु स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया बोद्ध्या। एतदेवाभिप्रेत्य यथासङ्ख्यसूत्रे भाष्ये प्रकृतसूत्रे स्थानेऽन्तरतमसूत्रेण व्यवस्थोक्ता—'संवृतावर्णस्य संवृतावर्णौ विवृतावर्णस्य विवृतावर्ण' इति। एतद्भाष्यप्रामाण्येन ए-ओ इत्यनयोरकारांशे संवृतत्वम् इतरांशे विवृततरत्वं, तदुपरागाच्च न संवृतत्वस्य पृथग्ग्रहणम्। ऐ-औ इत्यनयोस्त्वकारांशेऽपि विवृतत्वमेवेति बोद्ध्यम्।

अष्टाध्यायी के वर्तमान सूत्रपाठ में गौरव की अनुभूति कर न्यासकार ने कहा कि "इको यणचि" (६।१।७७), "एचोऽयवायावः" (६।१।७८), "वान्तो यि प्रत्यये" (६।१।७९) की जगह "इचोऽचि यणयवायावः", "अवावौ यि प्रत्यये" ऐसा सूत्र करना उचित था, क्योंकि ऐसा करने से तीन सूत्रों की जगह दो ही सूत्र करने पड़ते हैं। इस प्रकार इस पक्ष में लाघव है, किन्तु यहाँ "आहुः" पद देकर शेखरकार ने इस पक्ष के प्रति अरुचि सूचित की है। अरुचि का बीज है—

ऐसे न्यास का अपाणिनीयत्व होना। अपाणिनीय न्यास से पारायणादिजन्य अदृष्ट की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए ऐसा अनुपादेय है।

इस सूत्र में "इको यणचि" सूत्र से "अचि" पद की अनुवृत्ति आती है और यथासंख्य परिभाषा की उपस्थिति होती है, जिससे इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि "अच् पर में रहने पर एच् के स्थान पर अयादि आदेश क्रम से होते हैं।" यदि एकारादि उदात्तादि गुणक हैं तो उनके स्थान पर अन्यगुणक (अनुदात्तादि गुणक) आदेश की व्यावृत्ति "स्थानेऽन्तरतमः" परिभाषा के द्वारा कर लेनी चाहिए। एतदेवाभिप्रेत्य = "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र से ही यहाँ व्यवस्था होती है, यही मानकर "यथासंख्य" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा कि प्रकृतसूत्रे 'एचोऽयवायावः' सूत्र में "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र से व्यवस्था की गई है कि संवृत अवर्ण के स्थान पर संवृत अवर्ण और विवृत अवर्ण के स्थान पर विवृत अवर्ण होता है।

यदि कहा जाय कि शास्त्र में तो विवृत अकार का ही उपदेश किया गया है, तो ऐसी स्थिति में संवृत अकार को संवृत अकार होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है? नागेश भट्ट इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि "एतद्भाष्यप्रामाण्येन" = विवृताकार को विवृत और संवृताकार को संवृत आदेश वाले भाष्य के प्रामाण्य से ऐसा जाना जाता है कि ए और ओ, जो सन्ध्यक्षर हैं अर्थात् एकार, अकार और इकार का मिश्रित रूप तथा ओकार, अकार और उकार का मिश्रित रूप हैं। इन दोनों वर्णों में अकारांश में संवृतत्व तथा इकारांश और उकारांश में विवृततरत्व है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि एकार और ओकार में अकार संवृत है तो उसका ग्रहण = ज्ञान क्यों नहीं होता है? उत्तर में शेखरकार का कहना है कि तदुपरागाच्च = विवृततरत्व की आधिक्येन प्रतीति होने के कारण संवृतत्व का वहाँ पृथग् ग्रहण = ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार ऐ और औ इन दोनों वर्णों में भी अकारांश में विवृतत्व ही है।

तस्य लो। 'उपदेशेऽ'जित्यत इदित्यनुवृत्त्या विभक्तिविपरिणामेन च सिद्धौ 'तस्य'ग्रहणं सर्वलोपार्थम्। तेन ञिटुडूनामन्त्यस्य लोपो न। 'नाऽनर्थके' इति परिभाषा तु भाष्ये प्रत्याख्यातैवेति दिक्। न भवतीति। फलाभावादिति भावः।

"तस्य लोपः" यह सूत्र इत्संज्ञाप्रकरण के अन्त में पढा गया है, इसलिए सूत्रस्थ तत् शब्द से सन्निहित इत् का परामर्श होता है, जिसका यह लोप करता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इससे पूर्वसूत्र "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" (१।३।२) से "इत्" की अनुवृत्ति कर के तथा षष्ठ्यन्तत्वेन उसका विपरिणाम कर देने से यह अर्थ हो जायेगा कि इत्संज्ञक का लोप होता है, तो ऐसी स्थिति में सूत्र में "तस्य" ग्रहण की क्या आवश्यकता है? शेखरकार इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि सम्पूर्ण इत्संज्ञक के लोप के लिए सूत्र में "तस्य" इस पद का ग्रहण किया गया है। इसलिए ञि, टु और डु का सम्पूर्ण लोप होता है। अन्यथा "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र के द्वारा इनके अन्त्य का लोप होने लगता। यदि कहा जाय कि "नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिः" इस परिभाषा से निषेध हो जाने के कारण "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होगी तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा" सूत्र के भाष्य में इस परिभाषा का प्रत्याख्यान इसलिए कर दिया गया है कि इसका कोई फल नहीं है। इसलिए "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र से अन्त्य लोप की व्यावृत्ति के लिए सूत्र में "तस्य" ग्रहण

सार्थक है। "एचोऽयवायावः" सूत्र से जो अयादि आदेश होते हैं वहाँ यकारादि का लोप उच्चारणसामर्थ्यात् नहीं होता है। जब उनका लोप ही नहीं होता तो उनकी इत् संज्ञा करना भी अनावश्यक ही है, इसलिए फलाभावात् उनकी इत्संज्ञा भी नहीं होती है।

वान्तो। 'येन विधिरि'त्यस्यापवादभूतया 'तस्मान्नुडची'त्याद्यर्थमावश्यिकया वाचनिक्या 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति वार्तिककृदुक्तपरिभाषया लब्धमर्थमाह-यकारादाविति। ओदौतोरिति। 'ओदौतोरिति वक्तव्यमि'तिवार्तिक-मूलाद्व्याख्यानादिति भावः। 'पूर्वसूत्रे वान्तौ प्रति तयोरेव स्थानित्वनिर्णयादि'ति 'स्थानेऽन्तरतम'सूत्रस्थकैयटोक्तन्तु न युक्तम्। वान्तज्ञानाय सूत्रपर्यालोचन-स्याऽऽवश्यकत्वेऽपि तद्वाक्यार्थपर्यालोचने मानाभावात्। यथासङ्ख्यसूत्रसहकारेण बोधोत्तरं तयोस्तत्त्वनिर्णयात्। अन्तरतमपरिभाषया निर्वाहे तु—लक्ष्यपर्यालोचनकाले तन्निर्णयः। अत एव 'पूर्वसूत्रे स्थानिविशेषलाभो यथासङ्ख्यसम्बन्धात्, इह तु निमित्ताभावात्तल्लाभाभावः' इति षष्ठे प्रकृतसूत्रे कैयटः ? गव्यमिति। भत्वाद्वलोपो न। यीति किम्? गोभ्याम्। प्रत्यये किम्? गोयानम्।

"वान्तो यि प्रत्यये" इस सूत्र का अर्थ कौमुदीकार ने इस प्रकार किया है कि "यकारादि प्रत्यय पर में रहने पर ओकार और औकार के स्थान पर वान्त आदेश (अव् और आव्) होता है।" यहाँ यह शंका होती है कि इस सूत्र में "यि" यह जो सप्तम्यन्त पद है वह "प्रत्यये" इस सप्तम्यन्त पद का विशेषण है। विशेषण जो होता है वह "येन विधि" सूत्र से तदन्त का बोधक होता है। ऐसी स्थिति में इस सूत्र का अर्थ होना चाहिए कि "यकारान्त प्रत्यय पर में रहने पर वान्त आदेश होता है, न कि कौमुदीकार द्वारा किया हुआ अर्थ। इस बात का उत्तर देते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि "येन विधिः" सूत्र की अपवादभूत परिभाषा जो "येन विधिः" सूत्र के भाष्य में वचन रूप से पढी गई है, वार्तिककार के द्वारा उक्त "यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे" इस परिभाषा से यहाँ तदन्तविधि को बाधकर तदादिविधि होती है। अल्मात्रबोधक सप्तम्यन्त पद जहाँ विशेषण होता है वहाँ तदन्तविधि न होकर तदादिविधि होती है। इसी बात के आधार पर कौमुदी में उपर्युक्त अर्थ किया गया है।

यदि कहा जाय कि इस परिभाषा में क्या प्रमाण है ? तो इसके उत्तर में कहा गया है कि "तस्मान्नुडचि" इत्यादि स्थलों के लिए इस परिभाषा की आवश्यकता है। यहाँ की स्थिति यह है कि "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" इस परिभाषा के द्वारा "तस्मादित्युत्तरस्य" यह सूत्र "अचि" इस सप्तम्यन्त पद को "अचः" इस रूप में षष्ठ्यन्त बना देता है। इस सूत्र में अनुवृत्त "उत्तरपद" का यह "अचः" पद विशेषण बनता है। इसके बाद "यस्मिन् विधिः" इस परिभाषा से यहाँ तदादिविधि होती है, जिससे सूत्रार्थ होता है कि "लुप्त नकार से परे अजादि उत्तरपद को नुट् होता है"। यदि यह परिभाषा नहीं होती तो "तदन्तविधि के द्वारा अजन्त उत्तरपद को नुट् हो" ऐसा सूत्रार्थ होता। परिणाम यह होता कि "अनचि च" इत्यादि निर्देश नहीं बनते, क्योंकि उत्तरपद 'अच्' यह हलन्त है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि "तस्मान्नुडचि" इत्यादि स्थलों के लिए "यस्मिन् विधिः" यह परिभाषा आवश्यक है, जिससे यहाँ तदादिविधि की जाती है।

ओकार और औकार को वान्तादेश हो, इस अर्थ का लाभ "ओदौतोरिति वक्तव्यम्" इस वार्तिकमूलक व्याख्यान के आधार पर होता है। "स्थानेऽन्तरतमः" इस सूत्र में कैयट ने कहा है कि पूर्वसूत्र "एचोऽयवायावः" में वान्त आदेश = अव् और आव् के प्रति "यथासंख्य" सूत्र की सहायता से तयोरेव = ओकार और औकार में ही स्थानिता का निर्णय हुआ है, इसलिए यहाँ "ओदौतोः" का लाभ होता है। किन्तु कैयट का यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वान्त आदेश कौन हैं, इस बात की जानकारी के लिए "एचोऽयवायावः" सूत्र की पर्यालोचना भले कर ली जाय, किन्तु इस सूत्र के वाक्यार्थ की पर्यालोचना में कोई प्रमाण नहीं है। कारण यह है कि वान्त आदेश कौन-कौन हैं? इस बात का ज्ञान तो "एचोऽयवायावः" सूत्र की पर्यालोचना मात्र से ही हो सकता है, किन्तु इन वान्तादेशों की स्थानिता कहाँ है इस बात का ज्ञान तो "एचोऽयवायावः" सूत्र के वाक्यार्थ की पर्यालोचना के बिना नहीं हो सकता है। कैयट ने स्थानिता-निर्णय के आधार पर ओदौतोः = की बात कही है और स्थानिता-निर्णय बिना वाक्यार्थ की पर्यालोचना के हो नहीं सकता, जिसकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए कैयट का कहना ठीक नहीं है। ओकार और औकार में वान्तादेश की स्थानिता का निर्णय तब होता है जब "यथासंख्य" सूत्र के सहयोग से "एचोऽयवायावः" का वाक्यार्थबोध हो जाता है। यदि 'स्थानेऽन्तरतमः' इस सूत्र से स्थानिता का निर्णय अभिप्रेत हो तो लक्ष्य की सिद्धि पर्यन्त जो पर्यालोचना है, उस समय तन्निर्णयः = स्थानिता का निर्णय होता है। कारण यह है कि लक्ष्य में यह देखना होगा कि यहाँ जिसके स्थान पर आदेश करना है उसका स्थान क्या है? जब स्थानी के स्थान का निर्णय हो जाता है तब उसी के स्थान वाले आदेश का वहाँ विधान किया जाता है। इस प्रकार लक्ष्य के पर्यालोचन काल में स्थानिता का निर्णय होता है।

अत एव = यथासंख्य सूत्र की सहायता से ही ओकार और औकार में स्थानिता का निर्णय होता है, इस बात को स्वीकार करने से ही प्रकृत सूत्र "वान्तो यि" में कैयट ने कहा है कि पूर्वसूत्र "एचोऽयवायावः" में स्थानी-विशेष का लाभ यथासंख्य के सम्बन्ध से होता है। इह तु = "वान्तो यि प्रत्यये" सूत्र में तो कोई निमित्त नहीं है, इसलिए स्थानी-विशेष का लाभ नहीं होता है। इस प्रकार कैयट एक जगह तो वान्तादेश की स्थानिता के निर्णय की बात करते हैं और दूसरी जगह वान्तादेश की स्थानिता के निर्णय के अभाव की बात करते हैं। इस प्रकार पूर्वापर विरोध के कारण कैयटग्रन्थ चिन्तनीय है।

अब शंका होती है कि "गव्यम्" इस प्रयोग में अन्तर्वर्ती विभक्ति के आधार पर "गव्" इस अंश को पद मान कर "लोपः शाकल्यस्य" सूत्र से वकार का लोप क्यों नहीं होता है? इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि यहाँ "यचि भम्" सूत्र से "गव्" इस अंश की भसंज्ञा हो जाती है, इसलिए उसमें पदत्व न होने के कारण वकार का लोप नहीं होता है।

सूत्र में "यि" इस सप्तम्यन्त पद के अभाव में "प्रत्यय पर में रहने पर वान्तादेश हो" यही सूत्रार्थ होगा। परिणाम यह होगा कि "गोभ्याम्" इस प्रयोग में भी अवादेश होने लगेगा। अतः "यि" यह पद आवश्यक है। इसी प्रकार यदि "प्रत्यये" इस पद का ग्रहण सूत्र में नहीं करेंगे तब "गोयानम्" प्रयोग में भी अवादेश की आपत्ति हो जायेगी। यहाँ "या" यह प्रत्यय न होकर "धातु" है। इसलिए यहाँ वान्तादेश नहीं होता है।

ननु 'गव्यूतिरि'त्यत्र वस्य 'हलि सर्वेषामि'ति 'लोपः शाकल्यस्ये'ति वा लोपः स्यादत आह—वान्त इत्यत्रेति। न च विशेषविहितेन कार्यित्वेन लोपे वस्य निमित्तत्वबाध इति वाच्यं, निमित्तत्वानाक्रान्ते विषये कार्यित्वस्य चारितार्थ्यात्।

तक्रकौण्डिन्यन्यायश्चानवकाशविषयो विधेयविषयश्चेति स्पष्टं 'तद्धितेष्वचामि'ति सूत्रे यङ्विधायके च भाष्ये। अन्त्ये 'उत्तरयोर्विग्रहेण विशेषासम्प्रत्ययान्नित्यग्रहणानर्थक्यं, क्रियासमभिहारे च नैतेभ्यो यङा भवितव्यमि'ति भाष्ये चेन 'विशेषासम्प्रत्ययादि'त्यनुकृष्यते। अन्यथा—तक्रकौण्डिन्यन्यायेन सिद्धे विशेषासम्प्रत्ययादित्यनुकर्षकचकारवैयर्थ्यापत्तिः। निरूपयिष्यते चेदं यङन्ते। तस्य च वार्तिकेऽनुवृत्त्या यूतौ श्रूयमाणवकारान्त आदेश इत्यर्थः। सूत्रे तु न फलं, गव्यादौ भत्वेन वान्तस्य पदत्वाभावात्; लव्ये स्वत एव तदभावाल्लोपाप्राप्तेः। गोशब्दादिभ्यः क्यजादावपि—'नः क्ये' इति नियमेन पूर्वस्य पदत्वाभावात्।

अब पुनः यहाँ यह शंका हो रही है कि "गव्यम्" इस प्रयोग में भत्वेन पदत्व का बाध हो जाने के कारण "लोपः शाकल्यस्य" सूत्र से वकार का लोप भले न हो किन्तु "गव्यूतिः" इस प्रयोग में "हलि सर्वेषाम्" सूत्र से वकार का लोप होना चाहिए। यदि कहा जाय कि इस सूत्र में यकारमात्र की अनुवृत्ति होती है तो इससे वकार के लोप की बात करना कहाँ तक उचित है ? तो इस बात को दृष्टिगत करके कह रहे हैं कि ऐसी स्थिति में यहाँ "लोपः शाकल्यस्य" सूत्र से वकार का लोप होना चाहिए। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि भत्वेन पदत्व का बाध हो जायेगा, जिससे वकार का पदान्तत्व नहीं होगा और उसका लोप नहीं होगा, क्योंकि "यूतिः" यह यादि प्रत्यय नहीं है, इसलिए यहाँ भसंज्ञा होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसलिए यहाँ वकार का लोप होना चाहिए।

इस शंका का समाधान करते हुए कौमुदीकार कहते हैं कि "वान्तो यि प्रत्यये" सूत्रघटक "वान्त" इस पद में जो वकार है उससे पूर्व एक दूसरा प्रश्लिष्ट वकार है, जिसका "लोपो व्योर्वलि" सूत्र से लोप हो गया है। वह लुप्त वकार सूत्रस्थ "वान्त" पद का विशेषण होता है, जिससे तदन्तविधि करके "यकारादि प्रत्यय पर में रहने पर वकारान्त वान्तादेश होता है" ऐसा "वान्तो यि" सूत्र का अर्थ किया जाता है। प्रश्न होता है कि वान्तादेश कहने से ही आदेश की वकारान्तता की प्रतीति हो रही है तो उसे पुनः वकारान्त बनाने की क्या आवश्यकता है ? उत्तर में कहा गया है कि वकारान्त को पुनः वकारान्त विधान का तात्पर्य यह है कि वान्तादेश सदा वकारान्त ही रहता है। उसके वकार का लोप कभी नहीं होता है। इसलिए "गव्यूतिः" प्रयोग में वकार का लोप नहीं होता है।

"वान्तो यि प्रत्यये" सूत्र में वकार से पूर्व प्रश्लिष्ट जिस वकार की "लोपो व्योर्वलि" सूत्र से लोप की बात कही गई है उसके विषय में यह शंका हो रही है कि "लोपो व्योः" सूत्र में "व्योः" अर्थात् वकार और यकार में लोप की कार्यिता है और वकार के वल् प्रत्याहारघटक होने से उसमें लोप की निमित्तता भी है। निमित्तता तो वल्सामान्य में है और कार्यिता विशेषरूपेण वकार में है। निमित्तता अधिकदेशव्यापिनी हैं और कार्यिता अल्पदेशव्यापिनी। ऐसी

स्थिति में वकारनिष्ठ विशेष विहित कार्यिता से वल्सामान्यघटक वकार में निमित्तता का बाध हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि "लोपो व्योर्वलि" सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा कि "वकारभिन्ने वलि वकारयकारयोर्लोपो भवति" अर्थात् वकार से भिन्न वल् पर में रहने पर वकार और यकार का लोप होता है। ऐसा सूत्रार्थ होने पर "व वान्तो यि प्रत्यये" यहाँ वकार का लोप नहीं होना चाहिए। ऐसी स्थिति में दीक्षितजी का यह कथन कैसे संगत होगा कि यहाँ "लोपो व्योः" सूत्र से लुप्त वकार का प्रश्लेष हुआ है? परिणामस्वरूप यहाँ "व वान्तः" इस रूप में वकार-द्वय का श्रवण होना चाहिए।

इस प्रश्न के उत्तर में नागेश भट्ट का कहना है कि "येन नाप्राप्ति" न्याय से वहीं बाध होता है जहाँ बाध्यशास्त्र की अप्राप्तिस्थल में बाधकशास्त्र अचरितार्थ हो। जैसे "हो ढः" की अप्राप्तिस्थल में कहीं भी "दादेर्धातोर्घः" सूत्र चरितार्थ नहीं है, इसलिए वहाँ अनवकाश घत्व से ढत्व का बाध होता है। यहाँ की स्थिति उससे भिन्न है। जहाँ वकार में निमित्तता नहीं है, उस निमित्तत्वानाक्रान्त विषय में वकारनिष्ठ कार्यिता चरितार्थ है। जैसे जीव् धातु से "जीवेरदानु" सूत्र से रदानु प्रत्यय करने पर "लोपोव्योः" सूत्र से वकार का लोप करके "जीरदानुः" प्रयोग बनाया जाता है। इस प्रकार निमित्तता (वकारनिष्ठ निमित्तता) की अप्राप्तिस्थल में वकारनिष्ठ कार्यिता चरितार्थ है। इसलिए यहाँ कार्यिता से निमित्तता का बाध नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि यहाँ तक्रकौण्डिन्यन्याय से कार्यिता से निमित्तता का बाध हो जायेगा, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस न्याय की प्रवृत्ति भी वहीं होती है जहाँ अनवकाश विषय हो और विधेय विषय हो। "सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्" अर्थात् सभी ब्राह्मणों को दही दो और कौण्डिन्य को तक्र दो यहाँ ब्राह्मणों को उद्देश्य कर दधिदान तथा कौण्डिन्य को उद्देश्य करके तक्रदान विधेय है। दधिदान के अप्राप्तिस्थल में तक्रदान चरितार्थ नहीं है। यदि सभी ब्राह्मणों को दधिदान कर दिया जाए तो कौण्डिन्य को पीछे से तक्र दिया जा सकता है। इसलिए "सत्यपि संभवे बाधनं भवति" इस नियम के आधार पर तक्रकौण्डिन्य न्याय से दधिदान का बाध तक्रदान से किया जाता है। परिणाम स्वरूप कौण्डिन्य को तक्रदान से पूर्व या पीछे कभी भी दधिदान नहीं होता है।

प्रस्तुत स्थल की स्थिति इससे भिन्न है। यहाँ तो "जीरदानुः" प्रयोग में जहाँ वकार में निमित्तता नहीं है वहाँ वकार में कार्यिता चरितार्थ है। इस प्रकार "तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्य" यह जो तक्रकौण्डिन्य न्याय का बीज है वह यहाँ है ही नहीं। दूसरी बात यह है कि यह न्याय "सर्वेषाम्" इत्यादि प्रयोगों में जिस प्रकार सुट् और नुट् जैसे विधेयों के विषय में प्रवृत्त होता है और वहाँ सुट् से नुट् का बाध होता है वैसी विधेयविषयता भी यहाँ नहीं है। यहाँ तो कार्यिता और निमित्तता विषयक विवाद है, न कि विधेय-विषयक। इसलिए यहाँ वकारनिष्ठ कार्यिता से वकारनिष्ठ निमित्तता का बाध नहीं होता है, इसलिए "व वान्तः" इस स्थिति में वकार का लोप होने में कोई बाधा नहीं होती है।

तक्रकौण्डिन्यन्याय की प्रवृत्ति अनवकाश और विधेय विषय में होती है, इस बात में "तद्धितेष्वचामादेः" तथा यङ्विधायक "नित्यं कौटिल्ये गतौ" और "लुपसदचर" इत्यादि सूत्र के भाष्य प्रमाण हैं। प्रथम सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि "क्रोष्टुः अपत्यं क्रौष्टुः"

तथा "जगति भवः जागतः" इन दोनों प्रयोगों में क्रमशः अन्त्यवृद्धि तथा उपधावृद्धि क्यों नहीं होती है ? ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि "आदिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धी बाधते" आदिवृद्धि अन्त्य और उपधा इन दोनों वृद्धियों को बाध लेती है। यह बाध्यबाधक भाव तक्रकौण्डिन्य न्याय से होता है। ऐसा कह कर भाष्यकार ने पुनः कहा, "विषम उपन्यासः" अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में समानता नहीं है, क्योंकि दधिदान की अप्राप्तिस्थल में कहीं भी तक्रदान चरितार्थ नहीं है। यह बात दूसरी है कि दधिदान के पहले या पीछे तक्रदान किया जा सकता है, किन्तु तक्रदान स्थल में दधिदान की प्राप्ति नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए तक्रदान से दधिदान का बाध हो जाता है, क्योंकि तक्रदान अचरितार्थ है। यहाँ की स्थिति इससे भिन्न है, क्योंकि "सुश्रुतः अपत्यं सौश्रुतः" इस स्थल में जहाँ न तो अन्त्यवृद्धि प्राप्त है और न उपधावृद्धि की प्राप्ति है, वहाँ आदिवृद्धि चरितार्थ है। ऐसी स्थिति में आदिवृद्धि से अन्त्य और उपधा वृद्धि का बाध कैसे होगा? भाष्यकार के इस कथन से स्पष्ट होता है कि तक्रकौण्डिन्य न्याय की प्रवृत्ति अनवकाश विषय में ही होती है।

अन्त्ये = यङ्विधायक उपर्युक्त सूत्रद्वय के भाष्य में इस बात का विचार इस प्रकार किया गया है—"नित्यं कौटिल्ये गतौ" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा कि इस सूत्र में नित्यग्रहण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने कहा कि नित्यग्रहण न करने पर यङ् के अभाव पक्ष में "कुटिलं क्राम्यति" यह वाक्य भी होने लगेगा। ऐसा न हो किन्तु नित्य यङ्विधान करके "चङ्क्रम्यते" यही रूप बने, वाक्य का प्रयोग यहाँ न हो, इसलिए नित्यग्रहण आवश्यक है। इसके बाद पुनः भाष्यकार ने कहा कि "उत्तरयोः विग्रहेण विशेषासम्प्रत्ययान्नित्य-ग्रहणानर्थक्यम्" अर्थात् "चङ्क्रम्यते" प्रयोग से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उस अर्थ की प्रतीति विग्रह से नहीं होती है। "चङ्क्रम्यते" इस पद से गमन वृत्ति कौटिल्य की प्रतीति होती है और "कुटिलं क्राम्यति" इस वाक्य से मार्गगत कौटिल्य की प्रतीति होती है। इसलिए वाक्य से उस विशेष अर्थ का बोध नहीं होता है जिस अर्थ-विशेष की प्रतीति "चङ्क्रम्यते" इस पद से होती है। ऐसी स्थिति में उक्त विशेष अर्थ में जब वाक्य का प्रयोग हो ही नहीं सकता तब उसकी व्यावृत्ति के लिए नित्यग्रहण की क्या आवश्यकता है ? अतः नित्यपद व्यर्थ है।

इसी प्रकार "लुपसदचर" इत्यादि सूत्र में भी नित्यग्रहण की अनुवृत्ति अनावश्यक ही है, क्योंकि इस सूत्र से भावगर्हा अर्थ में विधेय यङ् क्रियासमभिहार अर्थ में न होने लगे इसीलिए यहाँ नित्यं पद की अनुवृत्ति अपेक्षित होती है, किन्तु "जञ्जप्यते" इस पद से जिस भावगर्हा रूपी अर्थ विशेष की प्रतीति होती है उस अर्थ-विशेष की प्रतीति "क्रियासमभिहार" के यङ् से नहीं होती है। अतः विशेषासम्प्रत्ययात् लुप् आदि धातुओं से क्रियासमभिहार अर्थ में यङ् होगा ही नहीं तो यहाँ नित्यग्रहण की अनुवृत्ति की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् नित्यग्रहणानुवृत्ति यहाँ व्यर्थ है।

अब यहाँ विचारणीय यह है कि "न चैतेभ्यः क्रियासमभिहारे यङा भवितव्यम्" इस भाष्यवचन में पठित चकार से पूर्ववाक्य "उत्तरयोर्विग्रहेण विशेषासम्प्रत्ययात्" से "विशेषासम्प्रत्ययात्" की अनुवृत्ति करके कहा गया है कि जिस अर्थ-विशेष की प्रतीति "जञ्जप्यते" से होती है उस अर्थ-विशेष (भावगर्हा) की प्रतीति क्रियासमभिहार के यङ् से नहीं होती है, अतः क्रियासमभिहार

में यङ् नहीं होगा। यहाँ प्रश्न यह होता है कि भावगर्हा रूप अर्थ-विशेष में विहित यङ् से क्रियासमभिहार रूप अर्थ में सामान्य सूत्र "धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्" से विहित यङ् का तक्रकौण्डिन्यन्याय से बाध हो जाने से ही अभीष्ट सिद्धि हो सकती है, तो ऐसी स्थिति में चकार के द्वारा "विशेषासम्प्रत्ययात्" की अनुवृत्ति करके उसके द्वारा लुपादि धातुओं से क्रियासमभिहार में यङ् की निवृत्ति करना व्यर्थ ही है। इससे समझते हैं कि तक्रकौण्डिन्य न्याय की प्रवृत्ति विधेय विषय और अनवकाश विषय में ही होती है।

प्रस्तुत स्थल में विवाद भावगर्हा और क्रियासमभिहार इन दोनों अर्थों के बीच में है और अर्थ यहाँ विधेय नहीं है। दूसरी बात यह है कि क्रियासमभिहार की अविवक्षा में भावगर्हा में यङ् चरितार्थ है, अतः वह अनवकाश भी नहीं है। इसलिए तक्रकौण्डिन्य न्याय से यहाँ बाध होना सम्भव न देख कर "विशेषासम्प्रत्ययात्" की अनुवृत्ति करके उसके द्वारा क्रियासमभिहार में यङ् की व्यावृत्ति की गई है। अन्यथा यदि "तक्रकौण्डिन्यन्याय" की प्रवृत्ति अनवकाश विषय और विधेय विषय में न होकर सब जगह होती तो उसी से कार्य चल जाने की स्थिति में "विशेषासम्प्रत्ययात्" का अनुकर्षण करने के लिए किये गये "चकार" ग्रहण का वैयर्थ्य ही हो जाता। इस बात का निरूपण यङन्त प्रकरण में ग्रन्थकार के द्वारा किया जायेगा।

"वान्तो यि प्रत्यये" इस सूत्र में "वान्तः" इस पद से पूर्व प्रश्लिष्ट वकार सहित "ववान्तः" इस पद की अनुवृत्ति "गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम्" इस वार्तिक में होती है, इसलिए "यूति" शब्द पर में रहने पर गो शब्द को श्रूयमाण वकारान्त आदेश होता है। इसलिए "गव्यूतिः" इस प्रयोग में वकार का लोप नहीं होता है। वस्तुतस्तु लुप्त वकार के प्रश्लेष का फल वार्तिक के उदाहरण "गव्यूतिः" इसी प्रयोग में है, क्योंकि "यूतिः" के यकारादि प्रत्यय न होने के कारण यहाँ भसंज्ञा नहीं हो सकेगी। परिणामस्वरूप अन्तर्वर्ती विभक्ति के आधार पर वकार को पदान्त मान कर लोप होने लगेगा। इसकी निवृत्ति "ववान्त" इस निर्देश के द्वारा वकारान्त वान्तादेश विधान करके की जाती है। "वान्तो यि" इस सूत्र के उदाहरण "गव्यम्" इस प्रयोग में तो प्रश्लेष का फल नहीं है, क्योंकि यहाँ भसज्ञां से पदसंज्ञा का बाध हो जाने के कारण "गव्" इस वान्त में पदत्व ही नहीं है। "लव्यम्" इस प्रयोग में भी प्रश्लेष का फल नहीं है क्योंकि यहाँ लू धातु से यत् प्रत्यय होने के कारण "लव्" इस वान्त में स्वतः ही पदत्व नहीं है। इसलिए वकार में पदान्तत्व के अभाव के कारण लोप की प्राप्ति ही नहीं है।

यदि कहा जाय कि "गाम् इच्छति" इस विग्रह में गो शब्द से क्यच् प्रत्यय करने पर "गव्यति" इस प्रयोग में अन्तर्वर्ती विभक्ति के आधार पर वान्त "गव्" यह शब्द "सुप्तिङन्तं पदम्" सूत्र से पद है। इस जगह वकार के लोप के वारण के लिए सूत्र में वकार का प्रश्लेष आवश्यक है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि क्यच् प्रत्यय पर में रहने पर ''नः क्ये" सूत्र से नकारान्त शब्द की ही पदसंज्ञा की जाती है। इसलिए यहाँ पद संज्ञा होगी ही नहीं। ऐसी स्थिति में यहाँ भी वकारलोप के वारण के लिए वकारप्रश्लेष की सूत्र में आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार सूत्र में वकारप्रश्लेष की आवश्यकता नहीं है।

एवन्तर्हि वार्तिके एव प्रश्लेष उचित इत्याशयेनाह—छकाराद्वेति। 'लोपो व्योरि'ति सूत्रे वकारप्रत्याख्यानन्तु लौकिकोदाहरणाभावेन तदर्थतया बोद्धव्यम्।

अत एव 'इको गुणे'ति सूत्रे "—'अतो ल्वान्तस्ये'त्यत्र लुप्तनिर्दिष्टो वकार—" इत्युक्तं भाष्ये। शास्त्रीयसौत्रप्रयोगार्थन्तदिति तदाशयः। न चैवं 'विष्णवे' इत्यादौ 'तस्य लोप' इति दुर्वारं, गव्यूतावुच्चारणस्य चारितार्थ्यादिति वाच्यं, 'गवि च युक्ते' इत्यादिनिर्देशैर्वारणात्।

परे तु—सा पूर्वपक्ष्युक्तिरिति न वकारप्रश्लेषो लोपेनोचितः। किञ्च च्छन्दसि सर्वविधीनां व्यवस्थितत्वान्न वलोपप्रसक्तिस्तत्रत्ये गव्यूतौ। अध्वपरिमाणेऽपि सञ्ज्ञाशब्दोऽयम्, तत्र सञ्ज्ञात्वभङ्गापत्तेर्न वलोपः। यथा रघुनाथेति सञ्ज्ञाशब्दे नित्यस्यापि णत्वस्याभावः। सर्वनामशब्दे णत्वाऽऽशङ्का तु—तस्य सञ्ज्ञिविशेषे आधुनिक विनियोगाच्छास्त्रानुसारिशब्दस्यैव विनियोग उचित—इत्यभिप्रायेण। निरूपितञ्चैतत्सर्वादीनीति सूत्रे भाष्यप्रदीपोद्द्योते इत्याहुः। निरूपयिष्यते चेदं 'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामि'ति सूत्रे।

उपर्युक्त प्रकार से स्पष्ट हो गया है कि सूत्र में वकार के प्रश्लेष की आवश्यकता नहीं है, किन्तु वार्तिक में ही वकार का प्रश्लेष उचित है। इस बात को दृष्टिगत कर कौमुदीकार ने कहा है कि "गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम्" इस वार्तिक में ही छकार से पूर्व लुप्तवकार का प्रश्लेष है। किन्तु छकार से पूर्व वकार का प्रश्लेष स्वीकार करने पर यह प्रश्न उठता है कि यहाँ वकार का "लोपो व्योर्वलि" सूत्र से लोप कैसे होगा? क्योंकि भाष्यकार ने इस सूत्र में वकार का प्रत्याख्यान कर दिया है! शेखरकार इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि लौकिक उदाहरण के अभाव में वहाँ वकार का प्रत्याख्यान किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह के लिए तो वहाँ वकार का निर्देश आवश्यक ही है। इसीलिए "इको गुणवृद्धी" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि "अतो ल्वान्तस्य" इस सूत्र में लकार से पूर्व लुप्तवकार का निर्देश है। अर्थात् यहाँ लकार से पूर्व में वकार है, जिसका "लोपो व्योः" सूत्र से लोप हुआ है। "लोपो व्योः" सूत्र में जो वकारग्रहण है वह शास्त्रीय सौत्र प्रयोग की सिद्धि के लिए है। जैसे "गोर्यूतौ" इस वार्तिक में तथा "अतो ल्वान्तस्य" सूत्र में वकार के लोप की बात ऊपर कही जा चुकी है।

अब यह प्रश्न होता है कि इस प्रकार जब वकार में लोप की स्थानिता का निश्चय हो गया तो "विष्णवे" प्रयोग में "तस्य लोपः" सूत्र से वकार का लोप होना चाहिए। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि अवादेश में वकारोच्चारणसामर्थ्यात् "विष्णवे" प्रयोग में वकार का लोप नहीं होगा। कारण यह है कि अवादेश का वकारोच्चारण "गव्यूतिः" प्रयोग में श्रूयमाण होकर चरितार्थ है, इसलिए "विष्णवे" प्रयोग में वकार का लोप होना ही चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि "गवि च युक्ते" इस वार्तिक में "गवि" इस निर्देश में वकार को देख कर यह परिकल्पना की जाती है कि वान्तादेश में वकार का लोप नहीं होता है, इसलिए "विष्णवे" प्रयोग में वकार का लोप नहीं होता है।

"गव्यूतिः" प्रयोग में वकार के लोप के वारण के लिए वार्तिक में छकार से पूर्व किया गया लुप्तवकार का प्रश्लेष नागेश भट्ट को अभिमत नहीं है। इसी बात को "परे तु" शब्द के

द्वारा कह रहे हैं कि सा = "अतो ल्रान्तास्य" इस सूत्र में लुप्तवकार का प्रश्लेष है, यह उक्ति एकदेशी भाष्य की है, न कि सिद्धान्ती भाष्य की है। इसलिए यहाँ जिस प्रकार वकार का लोप "लोपो व्योः" सूत्र से हो गया है वैसे ही "गोर्यूतौ छन्दसि" इस वार्तिक में भी हो जायेगाः यह कहना संगत नहीं है।

यहाँ यह विचार कर लेना आवश्यक है कि "अतोल्रान्तस्य" का भाष्य एकदेशी कैसे है? वहाँ का प्रसंग इस प्रकार है—"अलावीत्" इस प्रयोग में "सिचि वृद्धिः" को अन्तरङ्गत्वात् बाध कर गुण और अवादेश करने के बाद भाष्यकार ने कहा कि यहाँ अनन्त्यत्वात् = अर्थात् इगन्तत्वाभावात् "सिचि वृद्धिः सूत्र से वृद्धि की सिद्धि नहीं होगी, ऐसा कहकर भाष्यकार ने कहा कि यह वृद्धि भले ही न हो किन्तु यहां पर 'अतो ल्रान्तस्य' से वृद्धि हो जायेगी। ऐसा कह कर भाष्यकार ने पुनः कहा—इस सूत्र की प्रवृत्ति तो लकारान्त और रकारान्त में होती है। यहाँ तो लकारान्त और रकारान्त कुछ भी नहीं है तो इससे वृद्धि कैसे होगी? ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि "अतो ल्रान्तस्य" इस सूत्र में लुप्त वकार का निर्देश है। गुण, अवादेश के बाद "अ लव्-इ-स्-ई-त्" इस स्थिति में वकारान्तत्व तो है ही। इस प्रकार "अतो ल्रान्तस्य" सूत्र में लुप्तवकार की बात कह कर भाष्यकार ने "ह्म्यन्तक्षण" सूत्र के "णिश्वि" के ग्रहण से ज्ञापन किया कि "न सिच्यन्तरङ्गं भवति" अर्थात् सिच् पर में रहने पर अन्तरङ्ग कार्य नहीं होता है। परिणाम यह होगा कि "अलावीत्" प्रयोग में अन्तरङ्ग गुण और अवादेश पहले नहीं हो सकेंगे, किन्तु "सिचि वृद्धिः" से वृद्धि करके "अलावीत्" प्रयोग की सिद्धि हो जायेगी। इस प्रकार वकारप्रश्लेष का फल "अलावीत्" प्रयोग की सिद्धि नहीं कही जा सकती है। इससे स्पष्ट होता है कि वकारप्रश्लेष (अतो ल्रान्तस्य सूत्र में) की बात एकदेशी उक्ति है। इस एकदेशी उक्ति के आधार पर "गोर्यूतौ" इस वार्तिक में लुप्तवकार का निर्देश मानना उचित नहीं है।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब "गौर्यूतौ" इस वार्तिक में वकार प्रश्लेष की बात सिद्ध नहीं हो रही है तब "गव्यूतिः" प्रयोग में वकार के लोप का वारण कैसे होगा? इस प्रश्न के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि "गव्यूतिः" यह वैदिक प्रयोग है और वेद में सभी विधियाँ व्यवस्थित होती है, अतः तत्रत्ये = वैदिक "गव्यूतिः" प्रयोग में छान्दसत्वात् वकार का लोप नहीं होगा। दो कोस का प्रतिपादक "गव्यूति" शब्द संज्ञा शब्द है। संज्ञा शब्द में कोई विकृति न हो जाय, इसलिए लौकिक गव्यूति शब्द में वकार का लोप नहीं होगा। जिस प्रकार संज्ञा भंग के भय से "रघुनाथ" शब्द में नित्य भी णत्व नहीं होता उसी प्रकार "गव्यूति" शब्द में वकार का लोप नहीं होगा।

यहाँ एक यह शंका होती है कि यदि संज्ञाभंग के भय से सूत्र की अप्रवृत्ति की बात मानी जाय तो "सर्वनाम" शब्द में भाष्यकार ने णत्व की शंका क्यों की है? इस प्रश्न के उत्तर में नागेश भट्ट का कहना है कि सर्व, विश्व आदि संज्ञि-विशेष में सर्वनाम संज्ञा का आधुनिक विनियोग है। अर्थात् सर्वादि शब्दों की सर्वनाम यह संज्ञा की गई है। शास्त्रानुसारी ही किसी शब्द का विनियोग या प्रयोग करना चाहिए। संज्ञा भी साधु शब्दों के द्वारा ही बोधिका होती है। इसी अभिप्राय से "सर्वनाम" शब्द में णत्व की शंका की गई है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संज्ञाभंग होने पर भी शास्त्र (सूत्र) की अप्रवृत्ति नहीं होती है। सर्वादि सूत्र के

भाष्यप्रदीपोद्योत में इस बात का निरूपण किया गया है। "पूर्वपदात् संज्ञायामगः" इस सूत्र के शेखर में भी इसका निरूपण होगा।

धातोस्त। 'धातो'रित्यस्याभावे प्रातिपदिकमात्रविषयो नियमः स्यात्तथा च 'गव्यमि'त्यत्र न स्यात्, 'ओयते' इत्यत्र च स्यात्। तदभावे सामान्यतो नियमापादनन्तु योगविभागैर्वकारवैयर्थ्यापत्तेरयुक्तम्। 'तन्निमित्तस्य चेद्धातोरेवे'ति नियमे बाभ्रव्यासिद्धेस्तद्वारणायैवकारः। लव्यमित्यादि। अत्र गुणवृद्ध्योर्यण्णयन्निमित्तकत्वेनैचो यादिप्रत्ययनिमित्तकता। तन्निमित्तस्येति किमिति। सूत्रमेव किमर्थमिति प्रश्नः। ओयत इति। वेञः कर्मणि लटि यकि यजादित्वात्सम्प्रसारणेऽकृत्सार्वेति दीर्घे आङा सहाऽऽद्गुणः। 'न धातुलोप' (१।१।४) सूत्रभाष्यरीत्या बहिर्भूतधातूपसर्गकार्यस्य बहिरङ्गत्वाद्वान्तादेशे गुणोऽसिद्ध इत्यरुचेराह—औयतेति। तस्मादेव कर्मणि लङि आडागमे वृद्धिः पूर्ववत्।

"धातोस्तन्निमित्तस्य" यह सूत्र यादि प्रत्यय पर में रहने पर यादिप्रत्ययनिमित्तक धात्ववयव एच् को वान्तादेश करता है। प्रश्न होता है कि "लव्यम्" जो इसका उदाहरण है, जहाँ लू धातु से "अचो यत्" सूत्र से यत् प्रत्यय और "सार्वधातुकार्ध" सूत्र से गुण होकर जो "लो + यम्" ऐसी स्थिति बनती है, वहाँ तो "वान्तो यि प्रत्यये" सूत्र से ही वान्त आदेश सिद्ध है तो यहाँ वान्तादेश करने के लिए इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? ऐसी स्थिति में यह सूत्र व्यर्थ होकर नियमार्थक होता है। नियमाकार ऐसा होता है कि "यादि प्रत्यय पर में रहने पर धातु के एच् को वान्तादेश हो तो "तन्निमित्तक (यादिप्रत्ययनिमित्तक) एच् को ही हो। परिणाम यह होता है कि "ओयते" प्रयोग में जहाँ आ उपसर्ग और धातु के ऊकार को मिलाकर गुण करके ओकार बनाया गया है वहाँ वान्तादेश नहीं होता है। किन्तु ऐसा नियम करने पर एक यह दोष आता है कि "गाम् इच्छति गव्यति" इस नामधातु के प्रयोग में वान्त आदेश नहीं होगा, क्योंकि यहाँ "गोय" धात्ववयव ओकार यादिप्रत्ययनिमित्तक नहीं है। इस शंका को दूर करने के लिए यहाँ "एचोऽयवायावः" सूत्र से अनुवृत्त "एचः" इस पद को "धातोः" इस पद का विशेषण बनाकर तदन्तविधि करके ऐसा नियमाकार बनाया जाता है कि 'एजन्त धातु को वान्तादेश हो तो यादिप्रत्ययनिमित्तक को ही हो। ऐसा नियम करने पर यहाँ का दोष हट जाता है। क्योंकि एजन्त जो "गो" यह अंश है वह धातु नहीं है और जो धातु "गोय" है वह एजन्त नहीं है। इस प्रकार नियमानाक्रान्त होने से यहाँ दोष नहीं होता है।

अब प्रश्न यह होता है कि इस सूत्र में "धातोः" इस पद का ग्रहण न किया जाय तो क्या आपत्ति है? नागेश भट्ट इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि यह सूत्र नियमार्थक तो है ही। यदि धातु का ग्रहण नहीं करेंगे तो इसका नियम प्रातिपदिक-विषयक या सामान्य-विषयक होगा। इन दोनों में प्रातिपदिक-विषयक नियम का आकार इस प्रकार होगा कि "यादि प्रत्यय पर में रहने पर प्रातिपदिक सम्बन्धी एच् को वान्तादेश हो तो यकारादि प्रत्ययनिमित्तक एच् को ही हो"। ऐसे नियम का परिणाम यह होगा कि अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोनों दोषों की आपत्ति हो जायेगी। अव्याप्ति इस प्रकार होगी कि "गव्यम्" इस

प्रयोग में जहाँ वान्तादेश वाञ्छित है वहाँ वान्तादेश नहीं होगा, क्योंकि गोशब्दावयव जो ओकार है वह यकारादि प्रत्यय- निमित्तक नहीं है। अतिव्याप्ति इस प्रकार होगी कि "प्रातिपदिक सम्बन्धी एच्-विषयक नियम होने के कारण यह नियम धातु-सम्बन्धी एच् पर प्रभावी नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि इस नियम के आधार पर प्रातिपदिक सम्बन्धी एच् को ही यादिप्रत्ययनिमित्तक होना चाहिए। किन्तु धातु सम्बन्धी एच् के ऊपर इस नियम के लागू न होने के कारण उसे यादिप्रत्यय-निमित्तक न होने पर भी वान्तादेश होगा। परिणाम यह होगा कि "ओयते" इस प्रयोग में जहाँ आ और ऊ के स्थान पर गुण करके ओकार बना है उस ओकार को वान्तादेश होने लगेगा, जिससे अतिव्याप्ति दोष पड़ने लगेगा। 'ओयते' यह प्रयोग आङ्पूर्वक वेञ् से कर्म में लट्, यक्, सम्प्रसारण, पूर्वरूप, दीर्घ और "आद्गुणः" सूत्र से गुण करने से बनता है।

इस प्रकार धातुग्रहण न करने पर प्रातिपदिक-विषयक नियम होने पर अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष हो रहे हैं। धातुग्रहण न करने पर सामान्य-विषयक जो नियम होगा वह इस प्रकार होगा—"यकारादि प्रत्यय पर में रहने पर एच् को यदि वान्त आदेश हो तो यादिप्रत्यय-निमित्तक एच् को ही हो। नागेश भट्ट इस सामान्य-विषयक नियम का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि तदभावे = धातुग्रहण के अभाव में उपर्युक्त सामान्य नियम करना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसी स्थिति में "वान्तो यि प्रत्यये तन्निमित्तस्य" इस प्रकार के एक योग से ही कार्य चल सकता था तो योगविभाग (दोनों सूत्र पृथक्-पृथक्) करने की क्या आवश्यकता थी? सामान्य-विषयक नियम से जिस अर्थ की सिद्धि हो रही है वह तो उपर्युक्त एक योग से ही हो रही है। इसलिए सामान्य-विषयक नियम करने पर योगविभाग तथा सूत्र में एवकार का ग्रहण—ये दोनों व्यर्थ हो जायेंगे। इसलिए सामान्य-विषयक नियम ठीक नहीं है। फिर भी धातुग्रहण न करने पर जो प्रातिपदिक-विषयक नियम होता है, उससे जो अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष आ रहे हैं उनके वारण के लिए सूत्र में "धातोः" इस पद का ग्रहण करना आवश्यक है।

सूत्र में एवकार ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए शेखर-कार का कहना है कि जहाँ शुद्ध नियम होता है वहाँ विपरीत नियम भी सम्भावित होता है। विपरीत नियम यहाँ इस प्रकार होता कि यादिप्रत्ययनिमित्तक एच् को वान्तादेश हो तो धातु सम्बन्धी एच् को ही हो। इस विपरीत नियम का परिणाम यह होता कि "बाभ्रव्यः" "माधव्यः" प्रयोगों की सिद्धि नहीं होती। "मधोरपत्यम्" तथा "बभ्रोरपत्यम्" इस विग्रह में मधु तथा बभ्रु शब्द से "मधुबभ्व्रो-र्ब्राह्मण- कौशिकयोः" सूत्र से यञ् प्रत्यय होता है, तत्पश्चात् "ओर्गुणः" सूत्र से तद्धित-निमित्तक गुण और आदिवृद्धि करने पर "माधो + य, बाभ्रो + य" इस स्थिति में यादिप्रत्ययनिमित्तक ओकार को वान्तादेश नहीं होगा, क्योंकि यह ओकार धातु का अवयव नहीं है। इसलिए नियम से ही एवकार का लाभ हो सकने पर भी विपरीत नियम के वारण तथा इष्ट नियम के लाभ के लिए "पतिः समास एव" की भाँति यहाँ भी एवकार ग्रहण किया गया है। जब इष्ट नियम होता है तो यादिप्रत्ययनिमित्तक प्रातिपदिकावयव ओकार को वान्त आदेश करके उक्त प्रयोगों की सिद्धि हो जाती है। क्योंकि इष्ट नियम केवल धात्ववयव एच् पर ही प्रभावी होता है। "लव्यम्" तथा "अवश्यलाव्यम्" इन दोनों प्रयोगों में एच् (ओ तथा

औ) यादिप्रत्ययनिमित्तक कैसे हैं इस बात को बतलाते हुए कह रहे हैं कि "लवितुं योग्यम्" इस विग्रह में लूञ् धातु से कर्म अर्थ में "अचो यत्" सूत्र से यत् प्रत्यय होता है। यत् प्रत्यय रूप आर्धधातुक के आधार पर धातु के ऊकार को गुण होता है। इस प्रकार "लव्यम्" इस प्रयोग में ओकार यादिप्रत्यय- निमित्तक है। 'अवश्यलाव्यम्' इस प्रयोग में अवश्यम् पूर्वक लू धातु से "ओरावश्यके" सूत्र से ण्यत् प्रत्यय होता है। साथ ही "लुम्पेदवश्यमः कृत्ये" इस पृषोदरादि वचन से अवश्यम् के मकार का लोप हो जाता है। यहाँ ण्यत् प्रत्ययनिमित्तक "अचो ञ्णिति" सूत्र से धातु के ऊकार को औकार वृद्धि होती है। इस प्रकार यहाँ औकार यादिप्रत्ययनिमित्तक है।

अब प्रश्न यह होता है कि इस सूत्र के उदाहरण "लव्यम्" और "अवश्यलाव्यम्" इन प्रयोगों में वान्तादेश तो "वान्तो यि" इस सूत्र से ही सिद्ध है तो इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? अर्थात् यहाँ नियम की क्या आवश्यकता है? इसी उद्देश्य से यहाँ प्रश्न किया है कि "तन्निमित्तस्यैव" इति किम्? इस प्रश्न का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि यहाँ "धातोः" इतना मात्र ही सूत्र बनाने में ही प्रश्न का तात्पर्य है, किन्तु "अवयवद्वारा समुदाये प्रश्नः" इस न्याय के आधार पर यह प्रश्न सम्पूर्ण सूत्र के लिए है। तात्पर्य यह है कि इस सूत्र को रखकर इसके द्वारा नियम करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि यदि यह सूत्र नहीं होता तो "ओयते" प्रयोग में भी पूर्वसूत्र से वान्तादेश होने लगता। इस प्रयोग की सिद्धि इस प्रकार होती है। वेञ् धातु से कर्म में लट् लकार, उसके स्थान पर तङ् प्रत्यय करने के बाद "यक्", सम्प्रसारण और पूर्वरूप करने पर "अकृतसार्वधातुकयोः" सूत्र से दीर्घ करके पूर्व में आ इस उपसर्ग का योग किया जाता है, जिससे आ + ऊयते ऐसी स्थिति बनती है। इस स्थिति में गुण करके "ओयते" इस रूप की सिद्धि की जाती है। इस सूत्र से किये गये नियम के कारण यहाँ वान्तादेश नहीं होता है, क्योंकि परादिवद्भाव से धात्ववयव यह ओकार यादिप्रत्ययनिमित्तक नहीं है। यह तो गुणनिष्पन्न ओकार है। इस सूत्र के अभाव में यहाँ "वान्तो यि" सूत्र से वान्तादेश दुर्वार हो जाता।

यदि कहा जाय कि इस सूत्र के अभाव में यहाँ कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह जो ओकार है वह 'न धातुलोप' सूत्र के भाष्य की रीति से वान्तादेश के निमित्त से बहिर्भूत धातु और उपसर्ग का कार्य होने के कारण पदद्वयसम्बन्धी और वर्णद्वयनिमित्तक है। पदद्वयसम्बन्धी और वर्णद्वयनिमित्तक कार्य बहिरङ्ग होता है। इस प्रकार बहिरंग ओकार "वान्तो यि" सूत्र की प्रवृत्ति के समय असिद्ध हो जायेगा, जिससे कोई दोष नहीं है। ऐसी स्थिति में इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस शंका को दृष्टिगत कर दीक्षितजी ने दूसरा उदाहरण दिया "औयत"। यह प्रयोग वेञ् धातु से कर्म में लङ् लकार, उसके स्थान पर त प्रत्यय, सार्वधातुक यक्, सम्प्रसारण, पूर्वरूप, अकृत्सार्वधातुक सूत्र से दीर्घ, आट् का आगम और "आटश्च" सूत्र से वृद्धि करने से बनता है। पूर्व प्रयोग से इसकी भिन्नता यह है कि यहाँ जो औकार है वह पदद्वयसम्बन्धी नहीं है। आट् का आगम धातु को होता है। इस प्रकार "आ + ऊयत" इस स्थिति में जो वृद्धि हुई है वह एक ही पद में हुई है। इस प्रकार इस औकार की बहिरङ्गासिद्धि नहीं हो सकती है। परिणाम यह होगा कि यदि यह सूत्र नहीं रहता है तो यहाँ पर "वान्तो यि" सूत्र

से वान्तादेश होने लगेगा। सूत्र के करने पर इसलिए नहीं होता है कि इसके द्वारा किये गये नियम के आधार पर औकार को यादिप्रत्ययनिमित्तक होना चाहिए, किन्तु यह औकार वृद्धिनिष्पन्न है न कि यादिप्रत्ययनिमित्तक। अतः यहाँ वान्तादेश नहीं होता है।

क्षय्यज। क्षि क्षये, जि जये, इत्यनयोरेव ग्रहणं, न तु क्षीष् हिंसायाम्, क्षै जै क्षये, इत्यनयोर्व्याख्यानात्। अत एव 'क्षिज्योरेवैच' इति भाष्ये उक्तम्।

शक्य अर्थ में "क्षय्य और जय्य" ये दो शब्द निपातन से सिद्ध किये जाते हैं। इन शब्दों में क्रमशः क्षयार्थक "क्षि क्षये" धातु का तथा "जि जये" इस रूप में पठित जयार्थक जि धातु का ही ग्रहण किया जाता है। हिंसार्थक क्षीष् धातु तथा क्षयार्थक क्षै और जै धातु का ग्रहण यहाँ नहीं किया जाता है। इनका ग्रहण न करने में भाष्यमूलक व्याख्यान ही प्रमाण है। भाष्यकार ने कहा कि क्षि और जि के ही एच् का यहाँ ग्रहण किया गया है अर्थात् निपातनात् अयादेश इन दोनों धातुओं के एच् को ही होता है।

तस्मै प्रेति। क्रयार्थे वस्तुनि क्रय्य इति निपात्यते इत्यर्थो व्याख्यानाद्गुण-भूतस्यापि तदा परामर्शः। क्रयार्थत्वञ्च—फलोपधानरूपं, 'तदर्थे' इति विशेषणात्तदाह—क्रेतार इति। योग्यतामात्रग्रहणे त्वव्यावर्तकं तत्स्यादिति भावः। केचित्तु—स्वीयं धान्यादि दत्त्वा यत्र तन्मूल्यग्रहणं तत्र धान्यं क्रय्यम्। यत्र तु स्वयं द्रव्यं दत्त्वा परकीयधान्यादिग्रहणं तत्र धान्यं क्रेयम्। द्रव्ये तु न क्रय्यत्वं नापि क्रेयत्वं, किन्तु धान्यादेरेव, शक्तिस्वभावात्। भाष्यस्वरसोऽप्येवमेवेत्याहुः।

"क्रय्यस्तदर्थे" यह सूत्र क्रयार्थ वस्तु को कहने के लिए "क्रय्य" इस प्रयोग का निपातन करता है। "डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये" इस धातु से कर्म में यत् प्रत्यय और "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" सूत्र से गुण करने पर क्रे+य इस स्थिति में अच् पर में न रहने के कारण अय् आदेश नहीं हो सकता था। अतः निपातन से अय् आदेश करके "क्रय्य" यह प्रयोग बनाया जाता है। यह "क्रय्य" प्रयोग तदर्थ में होता है। यहाँ पर तदर्थ शब्द विवेचन की अपेक्षा रखता है। तदर्थ शब्द के अर्थ को जानने के पहले "क्रय्य" या अर्थ जानना अपेक्षित है। क्रय्य शब्द में जो क्री धातु है उसका अर्थ है—द्रव्यविनिमय रूप क्रय का क्रयण। उसके आगे यत् प्रत्यय का अर्थ है कर्म। इस प्रकार "क्रय्य" शब्द का अर्थ है क्रयकर्म। इस अर्थ में कर्म की प्रधानता है। यदि "तदर्थे" के तत् पद से प्राधान्यात् कर्म अर्थ का ग्रहण करते हैं और 'स चासावर्थश्चेति तदर्थः' ऐसा कर्मधारय करते हैं तब तो ऐसा अर्थ होगा कि क्रयकर्मरूप स्वार्थ में क्रय्य यह प्रयोग बनता है। किन्तु ऐसा अर्थ करने पर तदर्थ ग्रहण इसलिए व्यर्थ हो जाता है कि क्रय्य शब्द तो स्वतः ही क्रयकर्म अर्थ में बनता है तो इसको कहने के लिए तदर्थ ग्रहण की क्या आवश्यकता है।

यदि 'सः क्रयणकर्मीभूतोऽर्थो यस्य स तदर्थः' ऐसा बहुव्रीहि करते हैं तब यह अर्थ होगा कि क्रयण का कर्मीभूत अर्थ है जिसका वह तदर्थ है और इसी तदर्थ में "क्रय्य" यह प्रयोग बनेगा। किन्तु ऐसा करने पर भी तदर्थ ग्रहण व्यर्थ ही है, क्योंकि "क्रय्य" शब्द का अर्थ ही है क्रयण का कर्म। इस प्रकार क्रयणकर्मीभूत अर्थ जब क्रय्य शब्द का स्वतः सिद्ध ही है तब

उसे कहने के लिए तदर्थग्रहण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार कर्मधारय तथा बहुव्रीहि दोनों समासों में तदर्थ ग्रहण व्यर्थ हो जाता है।

इस प्रकार की विसंगति को दूर करने के लिए यहाँ "क्रय्य" शब्द वाच्य "क्रयण कर्म रूप अर्थ में गुणीभूत (अप्रधानीभूत) जो क्रयण क्रिया है उस अप्रधान क्रिया का यहाँ तदा = तद् शब्द से परामर्श होता है। उस क्रयण क्रिया के लिए जो हो वह तदर्थ कहा जायेगा। उस तदर्थ में "क्रय्य" यह प्रयोग निपातित होगा। तात्पर्य यह है कि क्रयण का अर्थ है—द्रव्य का विनिमय। इसलिए जो वस्तु द्रव्य के विनिमय के माध्यम से विक्रय के लिए रखी हुई होगी वह तदर्थ कही जायेगी। इसी तदर्थ में 'क्रय्य' यह प्रयोग बनेगा। इसी बात को दृष्टिगत करते हुए कौमुदीकार ने कहा है कि "तस्मै = प्रकृत्यर्थाय इदं तदर्थम्, तस्मिन् तदर्थे"। प्रकृति का अर्थ यहाँ द्रव्यविनिमय है, उसके लिए जो वस्तु होगी वही क्रय्य कही जायेगी। जो वस्तु घर सजाने के लिए अथवा स्थान-विशेष के सौन्दर्य के लिए रखी हुई है उसका तो विनिमय होने वाला नहीं है। अतः वह तदर्थ भी नहीं है, इसलिए वहाँ "क्रय्यः" ऐसा प्रयोग न बनकर "क्रेयम्" यही प्रयोग बनता है।

"तदर्थे" यह जो विशेषण लगाकर "क्रय्य" इस प्रयोग को निपातित किया गया है इससे वस्तु का क्रयणार्थत्व फलोपधान रूप ही लिया जाता है। स्वरूप योग्यत्व रूप क्रयणार्थत्व यहाँ नहीं लिया जाता, क्योंकि ऐसा क्रयणार्थत्व तो वस्तुमात्र में ही है, तो तदर्थ ग्रहण से किसकी व्यावृत्ति की जायेगी ? परिणाम यह होगा कि स्वरूपयोग्यत्व रूप क्रयणार्थत्व के ग्रहण करने पर "तदर्थे" यह विशेषण व्यर्थ हो जायेगा। इसी उद्देश्य से दीक्षितजी कौमुदी में कहते हैं कि 'क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्ध्या आपणे प्रसारितं क्रय्यम्" अर्थात् क्रेता लोग इसका क्रयण करें इस बुद्धि से आपण में प्रसारित वस्तु क्रय्य है। इससे भिन्न क्रेय कही जाती है। वस्तु की क्रय्यता विक्रेता की अपेक्षा होती है, क्योंकि क्रेता द्वारा क्रयण के उद्देश्य से विक्रेता ही उसे आपण में रखता है। वस्तु की क्रेयता क्रेता की अपेक्षा से होती है, क्योंकि वही उसे क्रेतुं योग्य मानकर उसके क्रयण के लिए प्रवृत्त होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—वस्तु का क्रयार्थत्व फलोपधान रूप लिया जाता है। फलोपधान का तात्पर्य है कि जहाँ द्रव्य का विनिमय होता है। कोई द्रव्य (धान्यादि) देकर द्रव्यान्तर को लिया जाता हो, यही वस्तु का क्रयार्थत्व फलोपधान रूप है। इसका ग्रहण न करके यदि योग्यता मात्र का ग्रहण करते हैं अर्थात् स्वरूपयोग्यता मात्र का ग्रहण करते हैं तो तत् = तदर्थे यह विशेषण अव्यावर्तक हो जायेगा, क्योंकि क्रयणार्थ की स्वरूपयोग्यता तो वस्तु मात्र में है। इस प्रकार अव्यावर्तक होने पर तदर्थ ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा।

कुछ लोगों का कहना है कि क्रयण क्षण से अव्यवहित प्राक् क्षण में भी यदि वस्तु के क्रयण का निश्चय नहीं होता है तो उसमें फलोपधान रूप क्रयार्थत्व नहीं रहता है। दूसरी बात यह है कि यदि वस्तु का क्रयण हो जाता है तो उसमें स्वतः ही क्रयणार्थत्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार फलोपधान रूप क्रयार्थत्व वस्तु में कहीं सम्भव ही नहीं है। स्वरूपयोग्य क्रयार्थत्व लेने पर तो "तदर्थे" यह पद ही व्यर्थ हो जाता है। इसलिए यहाँ पर तादर्थ्य से "तदिच्छाधीन इच्छाविषयत्व रूप तादर्थ्य लेना चाहिए। यहाँ तत् पद से क्रयण का ग्रहण करना चाहिए। इस

प्रकार जो वस्तु क्रयण की इच्छा के अधीन इच्छा का विषय होती हो वही क्रय्य कही जायेगी।

किसी प्राचीन आचार्य के मतानुसार धान्यादि ही क्रय्य और क्रेय होते हैं। जहाँ पर विक्रेता अपने धान्य को देकर उसका मूल्य ग्रहण करता है वहाँ वह धान्यादि क्रय्य है। जहाँ पर क्रेता स्वयं द्रव्य देकर दूसरों के धान्यादि का ग्रहण करता है वहाँ का धान्य क्रेय होता है। द्रव्य में क्रय्यत्व और क्रेयत्व नहीं है। शक्तिस्वभाव से अर्थात् क्रय्यादि शब्दनिष्ठ शक्ति के स्वभाव से धान्यादि में ही क्रय्यत्व और क्रेयत्व सिद्ध होता है। भाष्य का स्वारस्य भी इसी बात में है। भाष्यकार ने इस सूत्र के भाष्य में कहा "तदित्यनेन किं प्रतिनिर्दिश्यते ? स एव क्रीणात्यर्थः। इह मा भूत्—क्रेयं नो धान्यम्। क्रेतव्यमिति तदर्थः। न चास्ति क्रय्यम् इति।" तात्पर्य यह है कि "तदर्थे" के द्वारा किसका ग्रहण होता है ? उत्तर दिया कि यहाँ तत् शब्द से वही प्रकृति का अर्थ क्रयण लिया जाता है। इसका फल यह होता है कि जहाँ वस्तु क्रयणार्थ नहीं है वहाँ "क्रेयं नो धान्यम्" यही प्रयोग होता है। 'क्रेयम्' इस पद का अर्थ "क्रेतव्यम्'' है। इस भाष्य से सिद्ध होता है कि व्यवहार की योग्यता धान्यादि में ही है, द्रव्य में नहीं है।

कुछ लोगों का कहना है कि ऐसा भी प्रयोग लोक में देखा जाता है कि "मया सुवर्णं क्रेतव्यम्" "रजतं क्रेतव्यम्" इससे स्पष्ट होता है कि द्रव्य के लिए भी "क्रय्यम्" यह प्रयोग होता ही है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि जहाँ आपण में खरीदने और बेचने के लिए कोई वस्तु रखी जाती है उसे क्रय्य कहते हैं और जो वस्तु गृह की शोभा बढ़ाने के लिए रखी हुई होती है उसमें फलोपधान रूप क्रयण का अभाव होने के कारण उसे "क्रेय" शब्द से व्यवहृत करते हैं।

लोपः शा। भोभगोअघोअपूर्वस्येत्यशीति चानुवर्तते, तत्रौकारान्तेष्वोतो गार्ग्यस्येति बाधकमित्याशयेनाह—अवर्णपूर्वयोरिति। व्योरित्यनुवृत्तावपि वर्णसमाम्नाये यकारस्य प्राक्पाठात्तत्क्रमेणाह—यवयोरिति। 'स तस्मा आचष्टे' इत्यादिभाष्यप्रयोगादत्र रोरित्यस्यासम्बन्धः। इदं सूत्रं लघुप्रयत्ने न। शाकटायनमते तयोर्विधानेन शाकल्यमते तदभावात्। अवर्णेति किम्? गौर्यत्र। पदान्तयोः किम्? हरये।

"लोपः शाकल्यस्य" (८।३।१९) इस सूत्र में "भोभगोअघो अपूर्वस्य" और "अशि'' इसकी अनुवृत्ति होती है। यद्यपि "भो भगो अघो" इन ओकारांशों में "ओतो गार्ग्यस्य" सूत्र के द्वारा बाध कर लेने के कारण दीक्षितजी ने इसकी वृत्ति में केवल 'अवर्णपूर्वस्य' इतना ही कहा है तथापि अनुवृत्ति तो सम्पूर्ण सूत्र (भोभगो) की ही होती है। यदि कहा जाय कि जब "अपूर्वस्य" इतने ही अंश की यहाँ आवश्यकता है तो सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति की यहाँ क्या आवश्यकता है ? तो इस प्रश्न का उत्तर है कि "भोभगोअघो अपूर्वस्य" इतने अंश की अनुवृत्ति "हलि सर्वेषाम्" (८।३।२२) में अपेक्षित है। इसलिए "भोभगो" (८।३।१७) सूत्र से यहाँ "भोभगोअघो अपूर्वस्य" तथा "अशि" इतने की अनुवृत्ति की जाती है। यदि इतने की अनुवृत्ति न की जाय तो आगे "हलि सर्वेषाम्" सूत्र में "भोभगोअघो" की मण्डूकानुवृत्ति करनी पड़ेगी। इसलिए

"भोभगो" सूत्र से "यः" इस अंश को छोड़ कर सम्पूर्ण सूत्र की यहाँ अनुवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त "व्योर्लघुप्रयत्नतरः" (८।३।१८) सूत्र से यहाँ "व्योः" इस पद की भी अनुवृत्ति होती है।

प्रश्न होता है कि "व्योः" इस पद में पहले वकार है तब यकार है। ऐसी स्थिति में इस सूत्र की वृत्ति में "वकारयकारयोः" ऐसा कहना चाहिए किन्तु दीक्षितजी ने तो 'यकारवकारयोः' ऐसा कहा है। इसका क्या तात्पर्य है? नागेश भट्ट इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि वर्णसमाम्नाय में पहले यकार का पाठ है, इसके बाद वकार का पाठ है। इसी वर्णसमाम्नाय के क्रम को दृष्टि में रख कर दीक्षितजी ने "यवयोः" ऐसा वृत्ति में कहा है।

अब विचार यह हो रहा है कि पूर्वसूत्र "भोभगोअघो" (८।३।१७) में "रोः सुपि" (८।३।१६) सूत्र से "रोः" इस पद की अनुवृत्ति होती है। इसलिए वह सूत्र भो आदि शब्द सम्बन्धी रु को यकार का विधान करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रस्तुत सूत्र में जिस "अपूर्वस्य" इस अंश का सम्बन्ध है वह रु शब्द से सम्बन्धित है। इसलिए इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए कि "अवर्णपूर्वक जो रु है, उसके स्थान पर जो यकार है उसका लोप हो, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भाष्यकार ने "स तस्मा आचष्टे" ऐसा प्रयोग किया है। यहाँ पर "तस्मै" पदघटक ऐकार को आय् आदेश करके उसके यकार का इस प्रस्तुत सूत्र से लोप किया है। यदि रुकारस्थानिक यकार का लोप इस सूत्र से होता तो उक्त भाष्यप्रयोग की असंगति हो जाती। दूसरी बात यह है कि इस सूत्र से वकार का भी लोप किया जाता है। किन्तु वकार तो कभी रु के स्थान पर होता ही नहीं है। इसलिए यहाँ "रोः" इस पद का सम्बन्ध नहीं होता है।

यह सूत्र लघुप्रयत्न में प्रवृत्त नहीं होता है, क्योंकि शाकटायन के मत से यकार और वकार लघुप्रयत्नतर होते हैं, किन्तु शाकल्य के मत से ऐसा नहीं होता है, इसलिए लघुप्रयत्न में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। इसका परिणाम यह होता है कि "देवा यान्ति" इस प्रयोग में 'लोपः शाकल्यस्य' से वैकल्पिक लोप न होकर "हलि सर्वेषाम्" सूत्र से नित्य ही यकार का लोप होता है।

इस सूत्र में यदि "अपूर्वस्य" का ग्रहण न किया जाय तो "गौरी + अत्र = गौर्यत्र" इस प्रयोग में पदान्त यकार का लोप होने लगेगा। इसी प्रकार "पदान्तयोः" इस पद के अभाव में "हरये" तथा "विष्णवे" इन उदाहरणों में अवर्णपूर्वक अपदान्त यकार तथा वकार का लोप होने लगेगा, इसलिए दोनों पदों का यहाँ ग्रहण करना आवश्यक है।

अशि किम्? वृक्षं वेतीति वृक्षवीः, क्विप्, तमाचष्टे इति—ण्यन्ताद्विच्। वृक्षव् करोति। क्विपि तूठ् स्यात्। विज्निमित्तको 'लोपो व्योरि'ति लोपस्तु न। णिलोपटिलोपयोः स्थानिवत्त्वात्। प्रातिपदिकाण्णिजुत्पत्त्या पदत्वाभावेन, परपदस्थाजादेशाभावेन च, लोपस्य पदचरमावयवत्वाभावेन च 'न पदान्त' इति निषेधाप्रवृत्तेः। एतेन वनिमित्तको वलोपोऽत्र दुर्वार इत्यपास्तम्। किञ्च स्थानिवत्त्वनिषेधं विनाऽस्य पदान्तत्वासिद्ध्यात्र निषेधाप्रवृत्तिः। 'स्थानिवत्त्व-

निषेधज्ञाने पदान्तत्वज्ञानं तन्निर्णये च स्थानिवत्त्वाभाववज्ञानांम'त्यन्योन्याश्रयस्तत्राप्रवृत्तौ मानम्। इदञ्च न पदान्तसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

प्रस्तुत सूत्र में "अशि" इस सप्तम्यन्त पद का फल बताते हुए शेखरकार का कहना है कि "वृक्षव् + करोति" इस प्रयोग में वकार का लोप न होना ही अश् ग्रहण का फल है। करोति का ककार अश् प्रत्याहार में नहीं आता है, अतः यहाँ वकार का लोप नहीं होता है। "वृक्षव्" इस पद का साधुत्व कैसे होता है, इस सम्बन्ध में नागेश का कहना है कि "वृक्षं वेति, वाति वा" इस विग्रह में वृक्ष उपपदक वी धातु या "वा" धातु से कर्ता अर्थ में क्विप् प्रत्यय किया जाता है। क्विप् का सर्वापहारी लोप करने के बाद "वृक्षवी" और "वृक्षवा" शब्द बनता है। इन दोनों शब्दों से "तमाचष्टे" इस अर्थ में "प्रातिपदिकात् धात्वर्थे" इस वार्तिक से णिच् प्रत्यय होता है और इष्ठवद्भाव करके टिलोप हो जाता है, जिससे दोनों जगह "वृक्षवि" यह रूप बनता है। यह "वृक्षवि" धातु बन गया है। इस धातु से पुनः कर्ता अर्थ में विच् प्रत्यय किया जाता है और उसके पर में रहने पर णिलोप कर दिया जाता है। विच् का सर्वापहारी लोप हो जाता है। इस प्रकार वृक्षव् यह रूप बनता है। इस वृक्षव् का करोति से योग करने पर "वृक्षव् + करोति" इस स्थिति में वकार का लोप न होना ही इस सूत्र में "अशि" ग्रहण का फल है। "अशि" पद के अभाव में यहाँ वकार का लोप होने लगता। अतः अशि की अनुवृत्ति यहाँ आवश्यक है।

यहाँ सन्देह होता है कि "वृक्षवि" इस ण्यन्त धातु से जो विच् प्रत्यय किया गया है, उसकी जगह क्विप् प्रत्यय क्यों नहीं किया जाता है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि यदि यहाँ क्विप् प्रत्यय किया जायेगा तो णिलोप के बाद "वृक्षव्" के वकार को "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" सूत्र से ऊठ् होने लगेगा। इसलिए क्विप् प्रत्यय न करके विच् प्रत्यय किया गया है। इस विच् पक्ष में यह शंका होती है कि "वृक्षव् + व" इस स्थिति में "लोपो व्योः" सूत्र से वृक्षव् के वकार का लोप क्यों नहीं होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हए शेखरकार का कहना है कि वकार लोप कर्तव्य में टिलोप (धातु के ईकार और आकार का लोप) का स्थानिवद्भाव हो जायेगा। यहाँ यह शंका हो सकती है कि जिस प्रकार विच्-निमित्तक वकार के लोप की कर्तव्यता में टिलोप या णिलोप के स्थानिवद्भाव की बात कही जा रही है, उसी प्रकार "वृक्षव् + करोति" इस स्थिति में "लोपः शाकल्यस्य" से लोप करने की स्थिति में भी स्थानिवद्भाव हो जायेगा। परिणामस्वरूप वकार का लोप होगा ही नहीं तो इस सूत्र में "अशि" इस पद की अनुवृत्ति की क्या आवश्यकता है? इस शंका का उत्तर यह समझना चाहिए कि "लोपः शाकल्यस्य" (८।३।१९) का लोप त्रैपादिक कार्य है और त्रैपादिक कार्य में स्थानिवद् होता ही नहीं है, क्योंकि "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" इस नियम से वहाँ निषेध हो जाता है। "लोपो व्योः" यह सापादिक सूत्र है, अतः यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता अपितु वह स्थानिवद्भाव यहाँ हो जाता है। यह स्थानिवद्भाव "अचः परस्मिन्" सूत्र से होता है। अतः विच्-निमित्तक वकार का लोप नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि "न पदान्त" सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने के कारण विच्-निमित्तक "लोपो व्योः" सूत्र से वलोप की आपत्ति दुर्वार है, अर्थात् वलोप होना ही चाहिए।

नागेश भट्ट इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यहाँ "न पदान्त" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसके तीन कारण हैं—पहला तो यह है कि णिच् प्रत्यय प्रातिपदिक से होता है। स्थानिवद्भाव का निषेध वहाँ होता है जहाँ पद का चरमावयव विधेय हो। यह बात तो यहाँ है ही नहीं। दूसरी बात यह है कि "न पदान्त" सूत्र में "पदान्त" शब्द में "पदेऽन्तः" ऐसा सप्तमी समास किया गया है, ऐसा भी एक पक्ष है। इस पक्ष के अनुसार स्थानिवद्भाव का निषेध वहीं होता है जहाँ पद पर में रहे और परपदस्थ अजादेश हुआ हो, वहीं निषेध होता है। प्रस्तुत स्थल में जिस विच् को मानकर वलोप की प्राप्ति की गई है वह विच् (व) पद ही नहीं है। इसके अतिरिक्त यहाँ जिस अजादेश के स्थानिवत् के निषेध की बात कही जा रही है वह अजादेश परपदस्थ भी नहीं है।

एतेन = इन युक्तियों के कारण "न पदान्त" सूत्र की यहाँ प्रवृत्ति न हो सकने के कारण उन लोगों का यह कथन कि 'यहाँ व-निमित्तक (विच्निमित्तक) वलोप दुर्वार है' वह कथन अपास्त हो जाता है, क्योंकि "न पदान्त" की प्रवृत्ति न होने से स्थानिवद्भाव हो जाता है, जिससे वलोप की आपत्ति होती ही नहीं है।

अब इस बात पर विचार कर रहे हैं कि हरदत्त के मतानुसार णिच् प्रत्यय सुबन्त से होता है। दूसरी बात यह है कि विधि शब्द में "विधीयते योऽसौ विधिः" यह कर्मसाधन पक्ष है। णिलोप के बाद "वृक्षव्" यह अंश तो स्थानिवत्त्वेन पद है ही। कर्मसाधन पक्ष में स्थान पद का अध्याहार कर के 'पदान्तस्य विधिः पदान्तविधिः' इस प्रकार का समास "न पदान्त" सूत्र में किया जाता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि पदचरमावयव-सम्बन्धी विधि की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव नहीं होता है। इस प्रकार कर्मसाधन पक्ष में वकार का लोप रूपी कार्य पदचरमावयवस्थानिक कार्य होता है, उसके करने की स्थिति में जब स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा तब तो वकार का लोप होना ही चाहिए। नागेश भट्ट इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि जब तक णिलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होगा तब तक वकार में पदान्तत्व नहीं आयेगा और जब तक पदान्तत्व नहीं आता है तब तक निषेध की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि पदचरमावयव सम्बन्धी विधि या पदचरमावयव के स्थान पर की जाने वाली विधि की कर्तव्यता में ही स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। इसलिए निषेध करने से पूर्व वकार में पदान्तत्व ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार स्थानिवत्त्व निषेध ज्ञान में पदान्तत्व ज्ञान के कारण होने से तथा पदान्तत्व ज्ञान के निर्णय के लिए स्थानिवत्त्व का निषेध आवश्यक होने से अथवा इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि स्थानिवत्त्व का निषेध होने पर वकार में पदान्त का ज्ञान होगा और वकार में पदान्तत्व का ज्ञान होने पर स्थानिवत्त्व का अभाव-ज्ञान (स्थानिवत्त्व का निषेध) होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय के कारण तत्र = 'वृक्षव् करोति' में "न पदान्त" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। परिणाम यह होगा कि स्थानिवद्भाव हो जायेगा जिससे कर्मसाधन पक्ष में भी वकारलोप की आपत्ति नहीं होती है। यह बात "न पदान्त" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

न च पदसञ्ज्ञायां टिलोपस्य स्थानिवत्त्वाद्वस्य पदान्तत्वमेव नास्तीत्यशीति व्यर्थमिति वाच्यम्। 'पूर्वत्रासिद्धीये' इति निषेधात्। साक्षात् पदत्वादिद्वारकपरम्परया

वा पूर्वत्रासिद्धीयप्रापकस्य तत्प्रतिबन्धकस्य वाऽतिदेशस्य तेन निषेधादिति केचित्।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि "वृक्षव् + करोति" इस प्रयोग में स्थानिवद्भाव के निषेध करने के लिए "न पदान्त" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसी स्थिति में "वृक्षव्" की पदसंज्ञा की कर्तव्यता में टिलोप का जब स्थानिवद्भाव हो जायेगा तब "वृक्षव्" यह अंश पद नहीं कहा जायेगा और वकार पदान्त नहीं होगा और जब वकार में पदान्तत्व ही नहीं होगा तब "लोपः शाकल्यस्य" सूत्र से लोप की प्राप्ति ही नहीं होगी। ऐसी स्थिति में इस सूत्र में "अशि" इस पद की अनुवृत्ति की क्या आवश्यकता है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्" अर्थात् 'त्रैपादिक कार्य करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता है' इस नियम से यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेघ हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि बहिर्भूतविभक्ति-निमित्तक पदत्व "वृक्षव्" को हो जायेगा, जिसके फलस्वरूप वकार का लोप प्राप्त होता है। इस वलोप के वारण के लिए यहाँ "अशि" पद की अनुवृत्ति आवश्यक है।

यदि कहा जाय कि पदसंज्ञा तो त्रैपादिक कार्य नहीं है, क्योंकि वह सपादसप्ताध्यायी सूत्र "सुप्तिङन्तं पदम्" (१।४।१४) से विधेय है, इसलिए यहाँ उक्त निषेध की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए तो इसके उत्तर में कह रहे हैं कि 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' से चार प्रकार के स्थानिवद्-भाव का निषेध किया जाता है—(१) साक्षात् पूर्वत्रासिद्धीयसाधक,(२) पदत्वादि के द्वारा परम्परया पूर्वत्रासिद्धीय का साधक, (३) साक्षात् पूर्वत्रासिद्धीय का प्रतिबन्धक और (४) परम्परया पूर्वत्रासिद्धीय का प्रतिबन्धक। इन चारों प्रकार के स्थानिवद्भावों का निषेध उक्त नियम से होता है। इन चारों में यहाँ परम्परया पूर्वत्रासिद्धीय का प्रतिबन्धक स्थानिवद्भाव है, क्योंकि यदि "अचः परस्मिन्" सूत्र से टिलोप का स्थानिवद्भाव हो जाता है तब वृक्षव् की पदसंज्ञा नहीं होगी और वकार पदान्त नहीं कहा जायेगा; फलस्वरूप उसके लोप के लिए "लोपः शाकल्यस्य" (८।३।१९) की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इस प्रकार यह स्थानिवद्भाव पद संज्ञा प्रतिबन्धन द्वारा त्रैपादिक "लोपः शाकल्यस्य" का प्रतिबन्धक होता है। इसलिए परम्परया पूर्वत्रासिद्धीय का प्रतिबन्धक होने के कारण इसका भी निषेध उक्त नियम से हो जाता है, जिससे वृक्षव् की पदसंज्ञा करके वलोप की प्राप्ति होती है। उसके निवारण के लिए यहाँ "अशि" इस पद की अनुवृत्ति आवश्यक होती है।

परे तु—'न पदान्ता हलोऽणः सन्ती'ति लण्सूत्रस्थभाष्याद्वृक्षवादेरनभिधानमेव। 'भोभगो' 'इति सूत्रेऽशग्रहणमनर्थकमन्यत्राभावादि'ति वार्तिकाच्च। अशोऽन्यत्र तन्निमित्तकार्यकार्यिणोऽभावादिति तदर्थः। 'न ह्यन्यत्र रुरस्ती'ति तद्व्याख्यानभाष्ये रुग्रहणमुपलक्षणम्। एतदाशयमजानानेनैकदेशिना—"उत्तरार्थं 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) इति 'वृक्षव् करोति' इत्यत्र मा भूत्" इत्युक्तम्। अस्य चैकदेश्युक्तित्वं लण्सूत्रस्थोक्तभाष्यविरोधेन स्पष्टमेव कैयटेनोक्तम्। अत एव भाष्ये 'उत्तरार्थ-मि'त्युक्त्वा 'हलि सर्वेषामि'त्यत्रैव प्रयोजनमुक्तम्। 'हलि सर्वेषामि'त्यत्र वकार-निवृत्त्यैवात्र तद्वारणसम्भवान्न तत्राप्यश्ग्रहणस्य प्रयोजनमिति तद्भाष्यमेकदेश्युक्ति-

रेवेत्याहुः।

अब "परे तु" शब्द से नागेश भट्ट अपना मत कह रहे हैं। इनका कहना है कि "न पदान्ता हलोऽणः सन्ति" अर्थात् हल् रूपी अण् पदान्त में नहीं होते हैं। "वृक्षव्" का वकार हल् रूपी अण् है; इसे पदान्त में नहीं रहना चाहिए। अर्थात् "वृक्षव्" यह प्रयोग होता ही नहीं है। इसके अतिरिक्त "भोभगो" सूत्र के "अश्ग्रहणमनर्थकमन्यात्राभावात्" इस वार्तिक के आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि "वृक्षव्" प्रयोग का अनभिधान है। इस वार्तिक का अर्थ बतलाते हुए कह रहे हैं कि "अशोऽन्यत्र" = अश् से भिन्न अक्षर पर में रहने पर तन्निमित्तक कार्य = अश्-निमित्तक कार्य यत्व-लोपादि के कार्यी अर्थात् स्थानी का अभाव है। तात्पर्य यह है कि अश्भिन्न अक्षर पर में रहने पर उस स्थानी का अभाव रहता है जिसे यकार किया जाय अथवा लोप किया जाय। ऐसी स्थिति में यहाँ अश्ग्रहण अनर्थक ही है। इस वार्तिक से भी यही सिद्ध होता है कि "वृक्षव्" प्रयोग का अनभिधान है। अन्यथा यदि यह प्रयोग होता तो पदान्त में हल् रूपी अण् की उपलब्धि हो जाती, जिसे लोप की प्राप्ति है तो ऐसी स्थिति में उक्त भाष्य और वार्तिक की असंगति हो जाती। इसलिए "वृक्षव्" का अनभिधान ही है, ऐसा मानना चाहिए।

यदि कहा जाय कि भाष्यकार ने वार्तिक में "अन्यत्राभावात्" का अर्थ किया है कि "न हि अन्यत्र रुरस्ति" अर्थात् अश् से भिन्न अक्षर पर में रहने पर "रु" नहीं मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि रु से भिन्न वकार तो अश्भिन्न वर्ण पर में रहने पर मिलता ही है। ऐसी स्थिति में "वृक्षव्" का अनभिधान कहना ठीक नहीं है। इस शंका का उत्तर देते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि "न हि अन्यत्र रुरस्ति" इस भाष्य में रु ग्रहण उपलक्षण है अर्थात् वह अपना बोध कराते हुए अपने से भिन्न वकारादि का भी बोधक है। इस प्रकार पदान्त में वकार के न मिलने के कारण "वृक्षव्" का अनभिधान समझना चाहिए। यहाँ कहा जा सकता है कि यदि "वृक्षव्" का अनभिधान माना जाता है तो फिर भाष्य में यह कैसे कहा गया कि "भोभगो" इस सूत्र का "अश्" ग्रहण "हलि सर्वेषाम्" इस उत्तरसूत्र के लिए आवश्यक है, जिससे "वृक्षव् करोति" इस प्रयोग में "हलि सर्वेषाम्" से वकार का लोप न होने लगे? इससे तो प्रतीत होता है कि "वृक्षव्" का अनभिधान नहीं है। शेखरकार इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'एतदाशयम्' = इस वार्तिक के आशय को न जानने वाले एकदेशी भाष्य का यह कथन है। इस भाष्यवचन में वार्तिक के अभिप्राय को नहीं समझा गया है। वार्तिक में रु-ग्रहण वकार का भी उपलक्षपण है। इसलिए रु और वकार ये दोनों अश्भिन्न वर्ण पर में रहने पर नहीं मिलते हैं। इस प्रकार वकार जब अश्भिन्न वर्ण के पर में रहने पर मिलता ही नहीं है तब स्पष्ट हो जाता है कि "वृक्षव् + करोति" यह प्रयोग होता ही नहीं; इसलिए 'वृक्षव्' का अनभिधान समझना चाहिए और जब 'वृक्षव्' प्रयोग है ही नहीं तब इसके लिए "लोपः शाकल्यस्य" सूत्र में "अशि" पद की अनुवृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

लण्सूत्रस्थ उक्त भाष्य से इस भाष्य का एकदेशित्व सिद्ध होता है, क्योंकि वहाँ कहा गया है कि 'पदान्त में अण् रूपी हल् रहते ही नहीं हैं।' वृक्षव् का अनभिधान न मानने पर यह भाष्य असंगत हो जायेगा। इसलिए वृक्षव् का अनभिधान और "हलि सर्वेषाम्" से सम्बन्धित

भाष्य को एकदेशी मानना चाहिए। यह बात कैयट ने स्पष्ट रूप से कह दी है। अत एव = वृक्षव् का अनभिधान स्वीकार करने से ही भाष्यकार ने "अश्" ग्रहण को उत्तरार्थ कह कर "हलि सर्वेषाम्" यहीं पर इसका प्रयोजन दिया। "हलि सर्वेषाम्" सूत्र में वकार की अनुवृत्ति न होने के कारण उससे "वृक्षव्" के वकार के लोप की स्वयमेव प्राप्ति नहीं है। इस प्रकार तत्र = "हलि सर्वेषाम्" सूत्र में अश् ग्रहण का प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार अश्ग्रहण को उत्तरार्थ मानने वाला भाष्य एकदेशी ही है।

कुछ विवेचकों का कहना है कि "भोभगो" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार के द्वारा "वृक्षव् करोति" इस वाक्य का प्रयोग करने के कारण उसका अनभिधान मानना ठीक नहीं है। "न पदान्ता हलोऽणः सन्ति" इस भाष्य के द्वारा भी नहीं कहा जा सकता कि "वृक्षव्" का अनभिधान है, क्योंकि इस वाक्य की पूर्ति "कार्यभाजः" इतने अंश को जोड़ने से होती है। इसका तात्पर्य यह है कि पदान्त में हल् रूपी अण् किसी कार्य के कार्यी नहीं होते हैं अर्थात् उन्हें कोई कार्य नहीं होता है। "हलि सर्वेषाम्" सूत्र में अश् पद की अनुवृत्ति करने से "वृक्षव्" के वकार के लोप की प्राप्ति न होने के कारण वह कार्यभाक् नहीं होता है। अथवा "कार्यभाजः" इस पद के स्थान पर "दोषभाजः" पद को रखकर यह भी कहा जा सकता है कि पदान्त में हल् रूपी अण् किसी दोष के उत्पादक नहीं होते हैं। इसलिए "हरयिह" "विष्णविह" इत्यादि प्रयोगों में हल् रूपी अण् के पदान्त में होने पर भी कोई क्षति नहीं होती है। "हलि सर्वेषाम्" सूत्र में अश् की अनुवृत्ति के कारण वकार का लोप नहीं होता है, इसलिए हल् रूपी अण् पदान्त में किसी दोष का जनक भी नहीं होता है। शेखरकार ने "हलि सर्वेषाम्" में वकार की अनुवृत्ति न करके जो वकार के लोप के वारण की बात कही है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि "व्योः" इस द्वन्द्वसमासीय पद से एकदेश वकार की अनुवृत्ति सम्भव नहीं है। इसलिए "लोपः शाकल्यस्य" सूत्र में अश् पद की अनुवृत्ति का फल जो "वृक्षव् करोति" दिया गया है वह सर्वथा ठीक ही है।

कानि सन्तीति। वाक्यसंस्कारपक्षेऽपि पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूपान्तरङ्गत्व-मादायान्तरङ्गाणां पूर्वं प्रवृत्तिरितीकारादेः स्थानिभूतादचः पूर्वत्वं बोद्धव्यम्।

"सन्ति" यह रूप अदादिगणीय अस् धातु के प्रथमपुरुष के बहुवचन का रूप है और "स्तः" यह रूप प्रथमपुरुष के द्विवचन का रूप है। दोनों जगहों पर अस् धातु के अकार का लोप "श्नसोरल्लोपः" सूत्र से हुआ है। यहाँ शंका यह है कि जब "सन्ति" के साथ "कानि" इस पद का तथा "स्तः" के साथ "कौ" इस पद का प्रयोग करते हैं तब अस् धातु के लुप्त अकार का "अचः परस्मिन्" सूत्र से स्थानिवद्भाव करके "कानि" के इकार को यण् तथा "कौ"-घटक औकार को आवादेश होना चाहिए। इसके उत्तर में कौमुदी में कहा गया है कि "न पदान्त" सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने के कारण यहाँ यण् और आवादेश नहीं होता है। कौमुदी की इस पृष्ठभूमि में शेखरकार विचार कर रहे हैं कि यहाँ जिस स्थानिवद्भाव की बात कही गई है वह यहाँ होता कैसे है? क्योंकि "अचः परस्मिन्" सूत्र से स्थानिवद्भाव करने के लिए यह आवश्यक है कि जिस अच् आदेश का स्थानिवद्भाव किया जा रहा है उसके स्थानीभूत अच् से पूर्व में देखे गये को यदि कोई विधि करनी होती है तभी उस

अजादेश का स्थानिवद्भाव होता है। यहाँ यह भी एक बात ध्यातव्य है कि पदों की सिद्धि के सम्बन्ध में पदसंस्कार पक्ष और वाक्यसंस्कार पक्ष ये दो पक्ष होते हैं। पदसंस्कार पक्ष के अनुसार पदों की सिद्धि करने के बाद उनकी संयोजना करके वाक्य बनाये जाते हैं। वाक्य-संस्कार पक्ष में वाक्य में अनेक पदों का प्रयोग करके पीछे उनकी सिद्धि (संस्कार) की जाती है।

इस उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो पदसंस्कार पक्ष में 'कानि सन्ति' का दोष है ही नहीं, क्योंकि 'कानि' का इकार लोप के स्थानीभूत अस् धातु के अकार से पूर्व में देखा ही नहीं गया है। 'कानि' पद की सिद्धि सुबन्त में और 'सन्ति' पद की सिद्धि तिङन्त में होने के कारण इकार में स्थानिभूत अच् से पूर्वत्वेन दृष्टत्व का अभाव होने से स्थानिवद्भाव न हो सकने के कारण यण् और आवादेश की प्राप्ति ही नहीं है। इसलिए शेखरकार "कानि सन्ति", "कौ स्तः" की शंका को वाक्यसंस्कार पक्ष में संगत करते हुए कह रहे हैं कि "वाक्यसंस्कार पक्ष में जिस क्रम से पद का श्रवण होता है उसी क्रम से उनका संस्कार भी किया जाता है"। "कानि सन्ति" तथा "कौ स्तः" इन वाक्यों में "कानि" और "कौ" ये दोनों पद पहले उपस्थित हैं, इसलिए पूर्वोपस्थितिकत्व रूप अन्तरङ्गत्व इन दोनों पदों में है। परिणामस्वरूप अन्तरङ्ग परिभाषा के द्वारा पहले "कानि" और "कौ" पदों की सिद्धि की जायेगी। इस प्रकार "कानि + अस् + झि" तथा "कौ + अस् + तस्" इस स्थिति में "सन्ति" और "स्तः" इन पदों की सिद्धि की जायेगी। इस स्थिति में स्पष्ट है कि "कानि" पद का इकार तथा 'कौ' पदघटक औकार अस् धातु के अकार से पूर्व में देखे जा रहे हैं। इस प्रकार अन्तरङ्गों की पूर्व प्रवृत्ति होने से अर्थात् "कानि" और "कौ" इन पदों को पहले सिद्ध कर लेने से इकार तथा औकार में "स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन" दृष्टत्व सुलभ हो जाता है, जिससे स्थानिवद्भाव होकर यण् और आवादेश प्राप्त होते हैं, जिनका निषेध "न पदान्त" सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध करके कर दिया जाता है।

एकः पूर्व। 'गुण' इत्यादेर्विधेयसमर्पकत्वेन तत्रैकत्वसङ्ख्याया विवक्षणेनोभयोः पूर्वपरयोरेकवाक्यतयैव विधेयान्वयेन चानयोः पूलयोः कटं कुर्वित्यादित इवोभयसम्बन्ध्येकविधेयस्यैव प्रतीतेरेकग्रहणं स्पष्टार्थम्।

पूर्व और पर के स्थान पर दो गुणादि न होने लग जाँय, इसलिए इस अधिकारसूत्र में एक ग्रहण किया गया है। यहाँ कहा जा सकता है कि "आद्गुणः" सूत्र में गुण पदोत्तर सु विभक्ति का अर्थ जो एकत्व है उसकी विवक्षा कर लेने से ही पूर्व और पर के स्थान पर एक गुण आदेश हो जायेगा। यदि कहा जाय कि "सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्" सूत्र घटकपदों में लिंग और वचन विवक्षित नहीं होता है, इसलिए 'गुणः' के एकवचन के आधार पर एकगुणादेश सम्भव नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि "सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्" इस वचन के द्वारा उद्देश्य दल में ही लिंग और वचन की अविवक्षा की जाती है। यहाँ पर तो "गुणः" यह पद विधेयसमर्थक है अर्थात् विधेय का बोधक है। इसलिए यहाँ तो सु विभक्ति का अर्थ एकत्व विवक्षित ही होगा। ऐसी स्थिति में "अनयोः पूलयोः कटं कुरु" ऐसा कहने पर एक पद का उच्चारण न होने पर भी जिस प्रकार विधेय कटपदोत्तर अमर्थ एकत्व की विवक्षा करके

पूलद्वयसम्बन्धी एक कट का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार "पूर्वपरयोर्गुणः" इस रूप में एकवाक्यता से पूर्व और पर का विधेय गुण के साथ अन्वय होगा और वहाँ विभक्त्यर्थ एकत्व विवक्षित होगा। इस प्रकार पूर्व और पर के स्थान पर एक गुण हो ही जायेगा, इसलिए "एकः पूर्वपरयोः" सूत्र में एक ग्रहण स्पष्टार्थ है।

उरण्। 'उः स्थाने' इति 'षष्ठीस्थाने' इति परिभाषया लब्धम्, 'उदात्तस्वरितयोर्यण' इतिवत्। 'स्थानेऽन्तरतम' इत्यतः—'स्थाने'ग्रहणमनुवर्तते, तस्य लक्षणया प्रसङ्गावस्थायामित्यर्थस्तदाह—रपरः सन्नेवेति। 'रपर' इत्यवयववाचिना परशब्देन षष्ठ्यर्थे बहुव्रीहिस्तेनास्यावयवत्वात् 'यदागमा' इति न्यायेन विशिष्टस्य गुणवृद्धित्वेन 'ऋकारस्य गुणवृद्धी अरारावेवे'ति नियमोपपत्तिः। अत एव 'रदाभ्यामि'ति सूत्रे 'थलि च सेटी'ति सूत्रे च भाष्ये—'गुणो भवति वृद्धिर्भवतीति—रेफशिरा गुणवृद्धिसञ्ज्ञकोऽभिनिर्वर्तते'—इत्युक्तम्। 'उः स्थानेऽण् प्रसज्यमान एव रपरो भवति, पूर्वभक्तश्च रेफ इत्यर्थ' इति कैयटः। अवयवत्वं वाचनिकमेव तत्सादृश्यबोधनपर्यवसायि।

अन्यथा वर्णस्य वर्णान्तरावयवत्वं 'हलन्ताच्चे'ति सूत्रभाष्योक्तरीत्याऽसङ्गतं स्यात्। पञ्चम्यर्थे बहुव्रीहिणाऽनवयवत्वे तु—गुणवृद्धिशब्देनाकारादेरेव रेफपरस्यैतदेकवाक्यतया विधानं स्यात्। गुणत्वादिकन्त्वकारादिनिष्ठमेव स्यादित्युक्तनियमानुपपत्तिः। अत एव वव्रे इत्यादौ हलादिःशेषसिद्धिः। अभ्यासावयवस्यैवानादेस्तेन निवृत्तेः।

एतेनाणमनूद्य रपरत्वं विधीयते इति परास्तम्। उक्तनियमानुपपत्तेः। अत्र पक्षे क्व रपरत्वं? क्व लपरत्वमिति व्यवस्थाऽनुपपत्तिस्तु न, रेफवत्स्थानिकस्य रेफपरत्वं, लकारवत्स्थानिकस्य लपरत्वमिति व्यवस्थासम्भवात्।

इस सूत्र (उरण् रपरः) का अर्थ किया जाता है कि "उः स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते" अर्थात् ऋकार के स्थान पर प्राप्त जो अण् है वह रपर होकर उदाहरण में प्रस्तुत होता है। यहाँ "उः स्थाने" इस अंश का लाभ "षष्ठी स्थाने योगा" इस परिभाषा के द्वारा होता है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि "विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे" इस परिभाषा के द्वारा यही प्रतिपादित है कि परिभाषा से उपस्थाप्य का अन्वय विधेय के साथ होता न कि अनुवाद (उद्देश्य) के साथ। विधेय के साथ अन्वय का तात्पर्य विधेय के विशेषण के साथ अन्वय होने में है। निष्कर्ष यह है कि परिभाषोपस्थाप्य का अन्वय विधेय के विशेषण में होता है, उद्देश्य के विशेषण में नहीं होता है। जैसे "इको यणचि" सूत्र में "स्थाने" पद की उपस्थिति "षष्ठी स्थानेयोगा" से होने पर उसका अन्वय विधेय यण् के विशेषण "इक्" पदार्थ के साथ होता है। इसीलिए कहा है—"इकः स्थाने यण् भवति" इति।

अब इस सन्दर्भ में यहाँ "उरण् रपरः" में विचार करने पर विदित होता है कि इस सूत्र से अण् को उद्देश्य करके रपरत्व का विधान किया जाता है। इस प्रकार विधेय रपरत्व है,

उसका विशेषण अण् है और अण् में विशेषण "उः" यह पद है। इस प्रकार स्पष्ट है कि "उः" यह पद अनुवाद का विशेषण है। ऐसी स्थिति में "षष्ठी स्थानेयोगा" सूत्र से उपस्थाप्य "स्थाने" पदार्थ का अन्वय "उः" के साथ नहीं होना चाहिए। इस शंका के उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि जिस प्रकार "उदात्तस्वरितयोर्यणः" इस सूत्र में "षष्ठी स्थाने" परिभाषा से उपस्थाप्य "स्थाने" पदार्थ का सम्बन्ध "अनुवाद" में अर्थात् अनुवाद के विशेषण के साथ हुआ है, उसी प्रकार यहाँ भी अनुवाद के विशेषण "उः" पदार्थ के साथ स्थान पदार्थ का अन्वय होता है।

"उदात्तस्वरितयोर्यणः" सूत्र में स्थान पदार्थ का अन्वय अनुवाद में किस प्रकार हुआ है इस बात को जानने के लिए उसके अर्थ का ज्ञान अपेक्षित है। वह इस प्रकार होता है—"उदात्त और स्वरित के स्थान पर जो यण्, उससे पर में जो अनुदात्त, उसे स्वरित होता है। इस अर्थ से विदित है कि यहाँ स्वरित विधेय है, उसका विशेषण अनुदात्त है, इसका विशेषण यण् है और यण् का विशेषण उदात्त और स्वरित है। इस प्रकार यहाँ "उदात्त-स्वरितस्थानिक यण्परक अनुदात्त" यह जो यहाँ अनुवाद अर्थात् उद्देश्य है, इस उद्देश्य-दल में अत्यन्त अप्रधान जो "उदात्तस्वरितयोः" यह पद है, उसमें भी "षष्ठी स्थानेयोगा" सूत्र से उपस्थित "स्थाने" पदार्थ का अन्वय किया जाता है। इसी प्रकार "उरण् रपरः" में भी अनुवाद के साथ "स्थाने" पद का अन्वय हो जाता है। इसके अतिरिक्त "द्वितीयं स्थानेग्रहणमनुवर्तते" इस भाष्य के आधार पर "स्थानेऽन्तरतमः" इस सूत्र से भी यहाँ "स्थाने" इस पद की अनुवृत्ति होती है। अनुवृत्त इस "स्थाने" पद की "प्रसंगावस्था" इस अर्थ में लक्षणा होती है। प्रसंगावस्था का अर्थ "प्रसंगकाले" है। प्रसंग का अर्थ प्राप्ति है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि ऋकार और लृकार के स्थान पर विधीयमान जो अण् है, वह प्रसंगकाल में रपर होकर ही लक्ष्य में प्रवृत्त होता है।

"रपरः" इस पद में जो पर शब्द है वह अवयववाची है। यहाँ "रः परः परावयवो यस्य" इस रूप में षष्ठ्यर्थ बहुव्रीहि समास है। इस प्रकार रकार जब अवयव हो जाता है तब यदागम परिभाषा से रकार-विशिष्ट अर् गुण कहा जाता है, और रकार-विशिष्ट आर् वृद्धि कहा जाता है। इसीलिए "ऋकारस्य गुणवृद्धी अरारावेव" अर्थात् ऋकार के स्थान पर गुण अर् तथा वृद्धि के रूप में आर् होता है, इस भाष्यवचन की संगति होती है। अत एव = रकार को अवयव स्वीकार करने से ही "रदाभ्याम्" तथा "थलि च सेटि" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार का यह कहना संगत होता है कि ऋकार को जहाँ गुण होता है, और जहाँ वृद्धि होती है वहाँ रेफशिरा अर्थात् रेफ है परावयव जिसका ऐसा अर् यह गुणसंज्ञक होता है, और "आर्" यह वृद्धिसंज्ञक होता है। कैयट ने भी कहा है कि ऋकार के स्थान पर अण् प्रसज्यमान अर्थात् प्राप्त होते ही रपर होता है और वह रकार पूर्व का अवयव होता है।

यहाँ शंका होती है कि जिस प्रकार एक शाखा दूसरी शाखा का अवयव नहीं होती है उसी प्रकार एक वर्ण दूसरे वर्ण का अवयव नहीं होना चाहिए। ऐसी स्थिति में यहाँ यह कैसे कहा जा रहा है कि रकार पूर्व वर्ण का अवयव होता है? इस शंका के उत्तर में नागेश भट्ट का कहना है कि यहाँ रेफ में जो अवयवत्व है वह वाचनिक है अर्थात् आरोपित है, क्योंकि एक वर्ण दूसरे वर्ण का अवयव नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि जो चीज जैसी है उसे

वचनसहस्र से भी अन्यथा जब नहीं किया जा सकता तब रेफ को वर्णान्तर का अवयव कैसे सिद्ध किया जा सकता है? इस बात का उत्तर देते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि यहाँ अवयव का अर्थ अवयव के सदृश हो जाने से है। अर्थात् रेफ अवयव के समान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ ऋकार के स्थान पर गुण या वृद्धि की जाती है, वहाँ रकार भी गुणवृद्धि पदबोध्य हो जाता है। अन्यथा = यदि इस बात को स्वीकार न करके रकार को पूर्व वर्ण का वास्तविक अवयव स्वीकार कर लिया जाय तो "हलन्ताच्च" सूत्र के भाष्य से विरोध हो जायेगा। भाष्यकार ने वहाँ कहा है कि एक वर्ण दूसरे वर्ण का अवयव नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि रेफ अवयव न होकर अवयव के समान होता है।

"रपर" शब्द में यदि "रः परो यस्मात्" इस प्रकार पञ्चम्यर्थ में बहुव्रीहि समास किया जाय और पर शब्द को अवयववाची न मान कर अवधिवाची माना जाय तो "आद्गुणः" और "उरण् रपरः" इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता (वाक्यैकवाक्यता) के द्वारा रेफपरक अकार गुण का विधान किया जायेगा। इसी प्रकार वृद्धिविधायक सूत्र के साथ एकवाक्यता करके रकार-परक आकार वृद्धि का विधान किया जायेगा। परिणाम यह होगा कि उस समय गुणत्व अकार में ही रहेगा और वृद्धित्व आकार में ही रहेगा। रकार गुण और वृद्धि का अनवयव होगा। ऐसी स्थिति में उक्त नियम = "ऋकारस्य गुणवृद्धी अरावेव" इस नियम की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इसके द्वारा तो बताया गया है कि ऋकार के स्थान पर अर् गुण होता है तथा आर् वृद्धि होती है। पञ्चम्यर्थ बहुव्रीहि में तो गुणत्व और वृद्धित्व तो अकारादि में ही रहते हैं। इस प्रकार उक्त नियम की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिए पञ्चम्यर्थ बहुव्रीहि न मान कर यहाँ षष्ठ्यर्थ बहुव्रीहि मानना चाहिए।

अत एव = रेफ को गुण और वृद्धि का अवयव मानने से ही "वव्रे"(वृङ् सम्भक्तौ के लिट् लकार में) आदि प्रयोगों में "हलादिः शेषः" सूत्र से आदि हल् का शेष और रेफ का लोप सिद्ध होता है। इस सूत्र से आदि से भिन्न अभ्यासावयव हल् का लोप होता है। यह बात तभी सम्भव होती है जब रकार गुण और वृद्धि का अवयव होता है। इस स्थल का निष्कर्ष यह है कि गुण और वृद्धि विधायक सूत्रों के द्वारा जब ऋकार के स्थान पर गुण और वृद्धि का विधान किया जाता है तब उन सूत्रों से एकवाक्यता करके यह सूत्र उस गुण-वृद्धि में रपरत्व का विधान करता है और वह रेफ गुणवृद्धि का अवयव होता है। ऐसी स्थिति में जब यह बात सिद्ध हो गई कि यह स्वतन्त्र विधि न होकर तत्तत् सूत्रों से विधेय गुण और वृद्धि में केवल रपरत्व मात्र का विधान करता है तब जो लोग उसे स्वतन्त्र विधि मानकर कहा करते थे कि यह सूत्र अण् को उद्देश्य बनाकर रपरत्व का विधान करता है, वे लोग परास्त हैं ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि इस पक्ष में जब रकार गुण और वृद्धि का अवयव नहीं हो रहा है तब उक्त नियम—"ऋकारस्य गुणवृद्धी अरारावेव" इस नियम की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। कारण यह है कि इस पक्ष में पर शब्द अवयववाची न होकर समीपवाची होता है, साथ ही गुणत्व अकार में तथा वृद्धित्व आकार में ही रहता है। इसलिए उक्त नियम की अनुपपत्ति हो जाती है।

अत्र पक्षे = जब रकार गुण और वृद्धि का अवयव होता है इस पक्ष में कहाँ रपर होगा

और कहाँ लपर होगा? क्योंकि र तो वर्णवाचक न होकर प्रत्याहार के रूप में यहाँ स्वीकृत है तो रपरत्व और लपरत्व की व्यवस्था कैसे होगी? इस प्रश्न के उत्तर में नागेश का कहना है कि इस पक्ष में उक्त व्यवस्था की अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि रेफवाले ऋकार के स्थान पर जायमान अण् रपर होगा और लकारवत् लृकार के स्थान पर जायमान अण् लपर होगा। इस प्रकार इस पक्ष में व्यवस्था सम्भव है।

तत्रान्तरतम्यादिति। स्थानत इति भावः। रेफादिद्वाराऽऽदेशस्यापि मूर्धादिस्थानत्वात्। 'तत्र—तत्राऽऽदेशानेव रलपरानुच्चार्येदं सूत्रं न कार्यमि'ति तु न वाच्यम्, 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' 'भृञामिदि'त्यादौ दोषापत्तेः। अत्राण् पूर्वेणैव, 'प्रशास्तृणामि'ति निर्देशात्। वस्तुतो रप्रत्याहाराभावेन 'रपर' इत्यस्य स्थाने 'लंपर' इति पठनीयमिति—'लपरत्वं वक्ष्यामी'ति तुल्यास्यसूत्रभाष्याल्लभ्यते।

"उरण् रपरः" सूत्र के साथ एकवाक्यता के कारण जब यह निश्चित हो गया कि रेफवत् के स्थान पर अर् और लकारवत् के स्थान पर अल् होगा, तब प्रश्न होता है ऐसा होने का कारण क्या है? तब उसके उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि "आन्तरतम्यात्" अर्थात् स्थानकृत सादृश्य के द्वारा यह कार्य होता है। अकार और ऋकार जहाँ स्थानी रहेंगे वहाँ उनके कण्ठमूर्धा स्थान के सादृश्य के आधार पर कण्ठमूर्धा स्थान वाला अर् आदेश होगा और जहाँ अकार और लृकार स्थानी होंगे वहाँ उनके कण्ठदन्त स्थान के सादृश्य के आधार पर कण्ठदन्त स्थान वाला अल् आदेश होगा। अर् आदेश रेफ के द्वारा कण्ठमूर्धा स्थान वाला होता है। इसी प्रकार अल् आदेश लकार के द्वारा कण्ठदन्त स्थान वाला होता है।

कुछ लोगों का कहना है कि तत्तद्विधि सूत्रों में रेफपरक और लकारपरक आदेशों का उच्चारण करने से तथा "अदेङ् गुणः" और "वृद्धिरादैच्" सूत्रों में अर्-अल् और आर्-आल् का विशेष रूप से उच्चारण करने से कार्य चल सकता है, इसलिए "उरण् रपरः" यह सूत्र अनावश्यक है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस मत के अनुसार "ऋत इत्" में इर् का "उदोष्ठ्यपूर्वस्य", "ऋत उत्" इत्यादि सूत्रों में तकार के स्थान पर रकार का ही उच्चारण करना पड़ेगा। "अदेङ् गुणः" की जगह "अरलदेङ् गुणः" ऐसा पाठ करना पड़ेगा तथा "वृद्धिरादैच्" की जगह "वृद्धिरारालादैच्" ऐसा सूत्र का पाठ करना पड़ेगा। इस प्रकार महागौरव की आपत्ति होगी। इस सूत्र के न करने पर दूसरा दोष यह है कि "आप्ज्ञप्यृधामित्" तथा "भृञामित्" इत्यादि स्थलों में भी अनेक अनिष्टापत्ति हो जायेगी। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—प्रस्तुत दोनों सूत्रों में जो पहला सूत्र है वह आप्, ज्ञप् और ऋध् धातु के अच् को ईत् आदेश करता है सन् पर में रहने पर। इस सूत्र से "आप्+स" इस स्थिति में आकार को ईकार करके "प्स" को द्वित्व करने के बाद अभ्यासलोप करके "ईप्सति" यह रूप बनता है। इसी प्रकार "ज्ञीप्सति" प्रयोग बनता है। ऋध् धातु जहाँ ऋकार है, उसे जब ईत् आदेश करते हैं तब वहाँ रपर होकर "ईर्त्सति" ऐसा प्रयोग बनता है। अब यदि तत्तद् सूत्रों में आदेशों का उच्चारण कर दिया जाय तब प्रस्तुत सूत्र में "यदि ईर्" ऐसा उच्चारण किया जाय तो "ईर्त्सति" के समान "ईप्सति" और "ज्ञीप्सति" प्रयोगों में भी रेफ की आपत्ति होने लगेगी।

यदि इस दोष को दूर करने के लिए वहाँ "ईत्" इस आदेश का ही पाठ स्वीकार किया जाता है तो "ईर्त्सति" प्रयोग मे रेफ की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार "भृञामित्" सूत्र में जहाँ "भृञ, माङ् और ओहाङ्" धातुओं के अभ्यास को इत् किया जाता है वहाँ "भृञ्" के अनुरोध पर यदि "इर्" का ग्रहण करते हैं तब "बिभर्ति" के समान "मिमीते" और जिहीते" प्रयोगों में भी इर् आदेश होने लगेगा। यदि कहा जाय कि इर् होने पर भी रकार का "हलादिः शेषः" सूत्र से लोप कर दिया जायेगा तो कोई दोष नहीं है? तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करने में प्रक्रियागौरव और ज्ञानगौरव दोनों प्रकार का गौरव हो रहा है। इसलिए अनेक क्लिष्ट कल्पना की अपेक्षा "उरण् रपरः" सूत्र का करना ही श्रेष्ठ है।

"अप्तृन्तृच्" सूत्र में "प्रशास्तृणाम्" ऐसा निर्देश किया हुआ है। इससे समझते हैं कि इस सूत्र में अण् प्रत्याहार पूर्व-णकार तक ही लिया जाता है। अन्यथा यदि यहाँ पर-णकार तक अण् प्रत्याहार माना जाय तो ऋकार भी अण् कहा जायेगा। इसका परिणाम यह होगा कि ऋकार के स्थान पर विधीयमान अण् दीर्घ ऋकार भी रपर होने लगेगा, जिससे "सूत्रस्थ निर्देश ही असंगत हो जायेगा। इसलिए यहाँ अण् प्रत्याहार पूर्व-णकार तक ही माना गया है।

"रपरः" शब्द के सम्बन्ध में विचार करते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि प्राचीन वैयाकरणों से र प्रत्याहार माना हुआ है। इसलिए उनके अनुसार र शब्द से रकार और लकार दोनों का बोध हो सकता है। किन्तु र प्रत्याहार तो वास्तव में होता नहीं है। ऐसी स्थिति में "रपरः" की जगह "र्लपरः" ऐसा पाठ करना चाहिए। अर्थात् "उरण् रपरः" सूत्र में रकार की भाँति लकार का भी ग्रहण करना चाहिए। "लपरत्वं वक्ष्यामि" इस भाष्य का तात्पर्य इसी बात में है।

झरो झ। 'झयो हे'त्यतो 'वाऽवसाने' इत्यतो वा विकल्पोऽनुवर्तते। हयवरट्सूत्रशेषे भाष्ये स्पष्टमिदम्। लोपे इति। ऋधधातोर्झर इति भावः।

असतीति। 'द्वित्वाभाव' इत्यनुकृष्यते। त्रिधमिति। त्रिधकारत्वं— प्रक्रियाभि-प्रायेण। न च 'द्वित्वभिन्ने पूर्वत्र कर्तव्ये परमसिद्धमि'त्यर्थकेन 'पूर्वत्रा- सिद्धीयमद्वित्वे' इत्यनेन धातुधकारस्य जश्त्वे दस्य द्वित्वमितीदमयुक्तमिति वाच्यं, फले विशेषाभावेन तदनादरणात्। न ह्यत्र जश्त्वात्पूर्वमनन्तरं वा द्वित्वे रूपे विशेषोऽस्ति, तदनन्तरञ्झश्त्वप्रवृत्तेः। तस्य परिभाषात्वेन फलविशेषे एव प्रवृत्तेरित्यन्यत्र विस्तरः।

पञ्चमीति। विनिगमकाभावादिति भावः। अत एवास्य वैकल्पिकत्वम्।

"झरो झरि सवर्णे" (८।४।६५) इस सूत्र में यथास्थित अष्टाध्यायी पाठ पक्ष में "झयो होऽन्यतरस्याम्" (८।४।६२) सूत्र से अथवा भाष्यसम्मत अष्टाध्यायी पाठ पक्ष में "वाऽवसाने" (८।४।५६) सूत्र से विकल्प की अनुवृत्ति होती है। "हयवरट्" सूत्रशेष में भाष्य में यह बात स्पष्ट है।

ऋध् धातु से क्तिन् प्रत्यय करके "झषस्तथोर्धोऽधः" सूत्र से क्तिन् के तकार को धकार और धातु के धकार को जश् के द्वारा दकार करने से "ऋद्धि" शब्द सिद्ध होता है। "कृष्ण + ऋद्धिः" इस स्थिति में गुण करके "कृष्णर्द्धिः" प्रयोग सिद्ध किया जाता है। यहाँ पर जब "कृष्णर्ध् + धि"

ऐसी स्थिति गुण करने पर होती है उस समय "अचो रहाभ्याम्" सूत्र से जब द्वित्व नहीं किया जाता, उस स्थिति में रेफ रूपी हल् से पर में रहने वाले ऋध् धात्ववयव धकाररूपी झर् का "झरो झरि" सूत्र से लोपे सति = लोप होने पर "कृष्णर्धि" ऐसा एक धकारवाला रूप बनता है।

क्योंकि "झरो झरि" का लोप विकल्प से होता है और "अचो रहाभ्याम्" का द्वित्व भी विकल्प से ही होता है। इस स्थिति में जब "झरो झरि" से लोप न किया जाय अथवा "अचो रहाभ्याम्" से द्वित्व ही न किया जाय तो दो धकार वाला "कृष्णर्द्धिः" ऐसा रूप बनता हे। कौमुदीकार ने मूल में जो "असति लोपे" ऐसा कहा है, उस वाक्य में उसके पूर्व वाक्य से "द्वित्वाभावे" इस पद का अनुकर्षण करके यह अर्थ किया जाता है कि "असति लोपे द्वित्वाभावे वा द्विधम्"। तात्पर्य यह है कि चाहे लोपाभाव किया जाय अथवा द्वित्वाभाव किया जाय दो धकारक रूप बनेगा। दो धकारक रूप की सिद्धि के लिए कौमुदीकार ने यह भी कहा है कि यदि धकार को द्वित्व कर दिया जाय और साथ ही लोप भी कर दिया जाय तब भी दो धकारक रूप बनेगा।

धकार को द्वित्व तो किया जाय किन्तु लोप न किया जाय तो तीन धकारक रूप बनता है। यहाँ यद्यपि द्विधकारक रूप में पहले धकार को और तीन धकारक रूप में प्रथम दोनों धकारों को जश् कर देने से जब दकार हो जायेगा तब 'द्विधम्' और 'त्रिधम्' यह कौमुदीकार का कहना कहाँ तक संगत है? शेखरकार इस बात का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि यह बात प्रक्रिया-दशा के आधार पर कही गई है, क्योंकि प्रक्रिया-दशा में तो दो या तीन धकार तो रहते ही हैं, बाद में उन्हें दकार बना दिया जाय यह दूसरी बात है। अथवा भूतपूर्वगति के आधार पर भी "द्विधम्" और "त्रिधम्" कहना संगत है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि "पूर्वत्रासिद्धमद्वित्वे" एक परिभाषा है जिसका अर्थ है —द्वित्व से भिन्न कार्य के विधायक पूर्वशास्त्र की कर्तव्यता में परशास्त्र असिद्ध होता है। "कृष्णर्ध् + धि" इस अवस्था में "झलां जशोऽन्ते" (८।२।३९) से जश्त्व तथा "अचो रहाभ्याम्" (८।४।४६) से द्वित्व इन दोनों की प्राप्ति साथ ही होने पर प्रस्तुत परिभाषा से द्वित्व से पहले धातु के धकार को जश्त्व हो जायेगा। परिणामस्वरूप यहाँ दकार को द्वित्व होगा। ऐसी स्थिति में दीक्षितजी का इदम् = धकार को द्वित्व होता है, ऐसा कहना असंगत है।

शेखरकार इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि चाहे जश्त्व से पूर्व में द्वित्व हो या पीछे द्वित्व हो फल में कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि रूप तो वही बनेगा। धकार का द्वित्व होने पर भी जश्त्व की प्रवृत्ति होती ही है। इसलिए यहाँ परिभाषा का आदर न करके अर्थात् प्रवृत्ति न करके धकार को ही द्वित्व किया गया है। परिभाषा की प्रवृत्ति तो फल-विशेष होने पर ही होती है। "तस्य = पूर्वत्रासिद्धमद्वित्वे" इस वचन के परिभाषा होने के कारण और परिभाषा की प्रवृत्ति फल-विशेष होने पर ही होने के कारण यहाँ उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। यह बात अन्यत्र = शब्दरत्न में विस्तार से कही गई है।

"कृष्णर्द्धिः" प्रयोग के सन्दर्भ में "तवल्कारः" इस प्रयोग पर विचार करते हुए कौमुदी में कहा गया है कि "यणो मयो द्वे वाच्ये" इस वार्तिक में "यणः" और "मयः" ये दोनों पद

षष्ठ्यन्त हैं या पञ्चम्यन्त, इस बात में कोई विनिगमक नहीं है। तात्पर्य यह है कि दोनों पद षष्ठ्यन्त भी हो सकते हैं और पञ्चम्यन्त भी हो सकते हैं। इसलिए जब जिसे षष्ठ्यन्त माना जायेगा तब उसे द्वित्व होगा, अन्यथा नहीं होगा। इसीलिए इस वार्तिक के द्वित्व को वैकल्पिक द्वित्व कहा जाता है। इस बात को सन्दर्भित करते हुए जब "यणः" इस पद को पञ्चम्यन्त मान लिया जाता है तब "यण् से पर में 'मय' का द्वित्व होता है" ऐसा इसका अर्थ होता है। इस अर्थ के अनुसार "तवल्कारः" प्रयोग में ककार को द्वित्व होता है।

कृष्णैकेति। कृष्णेति सम्बुद्ध्यन्तं पृथक्पदमिति कश्चित्।

"कृष्णस्य एकत्वम्" इस विग्रह में षष्ठीसमास करके यहाँ वृद्धि का उदाहरण दिया गया है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि "पूरणगुण" सूत्र से यहाँ षष्ठीसमास का निषेध हो जायेगा। अतः षष्ठीसमास करके वृद्धि का यह उदाहरण असंगत है। इस आशंका पर शेखरकार कह रहे हैं कि "कुछ लोगों का कहना है कि यहाँ "कृष्ण" यह सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन में पृथक् पद है। यहाँ समास हुआ ही नहीं है। इसलिए उदाहरण देना असंगत नहीं है"।

यहाँ कश्चित् पद के द्वारा नागेश भट्ट उपर्युक्त कथन में अपनी अरुचि व्यक्त करते हैं। इसका कारण यह है कि "पादपूरणम्" "संज्ञाप्रमाणत्वात्" इत्यादि पाणिनि के निर्देशों से सिद्ध होता है कि "पूरणगुण" सूत्र से समास (षष्ठी समास) का जो निषेध होता है वह अनित्य है। इसलिए "कृष्णैकत्वम्" इस प्रयोग में यदि षष्ठीसमास माना जाय तो कोई क्षति नहीं है। यदि "पूरणगुण" यह निषेध नित्य होता तो "पादपूरणम्" इत्यादि निर्देश नहीं बन पाते।

एत्येध। ऊठत्राऽऽदेश एव, व्याख्यानात्। एचीति नोठो विशेषणमूठस्तत्त्वासम्भवात्। 'एत्येधत्योरि'ति योगं विभज्य तयोरेवैचीति विशेषणस्य भाष्ये कृतत्वाच्च, तदाह—एजाद्योरिति। एतिरत्र इणेव, प्रसिद्धत्वात्। उपैतीत्यादौ 'वृद्धिरेची'त्यनेन गतार्थत्वमाशङ्क्याह—पररूपगुणेति। एत्येधत्योरेङि पररूपस्योठि चाऽऽद्गुणस्येति विवेकः। उपैधते इति। अत्र न सर्वादेशः। 'एत्येधत्याद्यवयवेऽची'त्येवं क्रमेण सूत्राणामर्थात्। अयमेवार्थ इति प्रत्ययलक्षणसूत्रस्थभाष्यस्वरसः। 'वृक्षे शाखे'तिवदेत्येधत्यूठ्स्विति सप्तमी बोध्या।

प्रष्ठौह इति। प्रष्ठं वहतीत्यर्थे वहेण्वौ ततः शस्यूठि सम्प्रसारणे पूर्वरूपेऽनेन वृद्धिः।

इस सूत्र में "ऊठ्" शब्द से किसका ग्रहण किया जाय? क्योंकि ऊठ् दो प्रकार का मिलता है। पहला तो "ऊठ्" आदेश हुआ ऊठ् है। ऊठ् आदेश भी दो प्रकार का है—पहला तो "वाह ऊठ्" से किया जाने वाला ऊठ् आदेश और दूसरा "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" सूत्र से विधेय ऊठ्। दूसरा "ऊठ्" शब्द "ऊठ उपघाते" धातु का ऊठ् शब्द। इन दोनों ऊठ् शब्दों में यहाँ किसका ग्रहण किया जाय? इस शंका के उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि यहाँ पर आदेशस्वरूप ऊठ् का ही ग्रहण करना चाहिए। इसमें प्रमाण "वाह ऊठ्" सूत्रस्थ भाष्यमूलक व्याख्यान ही है। "वाह ऊठ्" सूत्र के ऊठ् ग्रहण से भाष्यकार ने "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" यह

परिभाषा ज्ञापित की है। इस ज्ञापनपरक भाष्य के प्रमाण से ही यहाँ आदेश रूप ऊठ् लेना चाहिए।

इस सूत्र में "वृद्धिरेचि" सूत्र से "एचि" पद की अनुवृत्ति होती है। "एचि" का अर्थ "एजादि" होता है। यह एजादित्व इण् और एध् धातु में ही सम्भव है, इसलिए एचि पद "एति" और "एधति" का ही विशेषण होता है। ऊठ् का विशेषण 'एचि' पद नहीं होता है, क्योंकि ऊठ् में तत्त्व=एजादित्व का अभाव होता है। ऊठ् एजादि होता ही नहीं है। यदि कहा जाय कि "आसमन्तात् अवति" इस विग्रह में आङ्पूर्वक अव् धातु से क्विप् प्रत्यय करके वकार को ऊठ्, गुण तथा वृद्धि करने पर जो "औः" यह प्रयोग निष्पन्न होता है, वह परादिवद्भाव से एजादि ऊठ् कहा जायेगा। ऐसी स्थिति में ऊठ् एजादि नहीं होता, यह कथन कहाँ तक संगत है? इस शंका के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि भाष्यकार ने "एत्येधत्योः" का योग विभाग करके "एचि" इस पद को 'एति' और 'एधति' का ही विशेषण बनाया है। इससे स्पष्ट होता है कि "औः" जैसे प्रयोगों का अनभिधान है। फलस्वरूप ऊठ् का एजादित्व असम्भव होने के कारण "एचि" यह पद उसका विशेषण नहीं होता है। इसलिए कौमुदी में "एजाद्योः एत्येधत्योः" ऐसा कहा गया है।

इस सूत्र में "एति" पद से किसका ग्रहण किया जाय? इस शंका के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि प्रसिद्ध होने के कारण "एति" पद से यहाँ "इण्" धातु का ही ग्रहण होता है। इसका परिणाम यह होता है कि गति-व्याप्ति आदि अर्थ वाले "वी" धातु में प्रश्लिष्ट "इ" धातु का यहाँ ग्रहण नहीं होता है। यह प्रसिद्ध धातु नहीं है।

इस सूत्र के उदाहरण जो "उपैति", "उपैधते" आदि प्रयोग हैं उन सबकी सिद्धि तो "वृद्धिरेचि" सूत्र से ही हो सकती है तो इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस शंका का उत्तर कौमुदीकार ने इस प्रकार दिया है कि उक्त उदाहरणों में जहाँ एति और एधति पर में है वहाँ "वृद्धिरेचि" को बाधकर "एङि पररूपम्" सूत्र से पररूप होने लग जायेगा। इसी प्रकार इस सूत्र के अभाव में "प्रष्ठौहः" प्रयोग में "आद्गुणः" से गुण होने लगेगा। इसलिए इस सूत्र की आवश्यकता है। यह सूत्र "येन नाप्राप्ति" न्याय से पररूप और गुण दोनों का अपवाद है। इसलिए उक्त प्रयोगों में पररूप और गुण को बाध कर वृद्धि करने के लिए यह सूत्र आवश्यक है।

इस सूत्र में "एकः पूर्वपरयोः" का अधिकार आता है। इसके अतिरिक्त "आद्गुणः" सूत्र से पञ्चम्यन्त "आत्" इस पद की अनुवृत्ति होती है। पूर्व शब्द से उसी का ग्रहण होता है जिससे पर में कोई हो। जिसे पर में मान कर कार्य किया जाय वह पर शब्द से गृहीत होता है। ऐसी स्थिति में यहाँ पूर्व शब्द से अकार का ग्रहण होगा और पर शब्द से एजादि इण् और एध् धातु का ग्रहण होगा। परिणाम यह होगा कि "उप + एधते" इस स्थिति में अकार और सम्पूर्ण एध् के स्थान पर वृद्धि होनी चाहिए। वृद्धि की यह सर्वादेश की शंका केवल एध् धातु में ही है, क्योंकि इण् धातु में तो चाहे धात्ववयव एच् को वृद्धि करे या सम्पूर्ण एजादि इण् को वृद्धि करे, वह वृद्धि तो केवल "एकार" के स्थान पर ही होनी है। सर्वादेश का दोष तो एध् धातु में ही है जहाँ धात्ववयव एकार के अतिरिक्त धकार भी एक अवयव है। सर्वादेश होने पर धकार सहित "एध" को वृद्धि होनी चाहिए। इस बात को लक्षित करते

हुए शेखरकार कह रहे हैं कि "उपैधते अत्र न सर्वादेशः।" "उपैधते" इस प्रयोग में पूरे "एध" के स्थान पर वृद्धि नहीं होती है। इसका कारण बताते हुए कह रहे हैं कि इस सूत्र में "अचि" इस पद की भी अनुवृत्ति "इको यणचि" सूत्र से होती है। अचि पद की अनुवृत्ति करके इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया जाता है कि अवर्ण से एजादि इण् धात्ववयव अच् और एजादि एध धात्ववयव अच् पर में रहने पर पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। इस अर्थ के अनुसार पूर्व से अकार और पर शब्द से इण् और एधधात्ववयव अच् ही गृहीत होगा। इसलिए इन्हीं दोनों के स्थान पर वृद्धि होगी, न कि सम्पूर्ण एध के स्थान पर।

सूत्रों तथा वार्तिकों का ऐसा अर्थ करने से इस प्रकरण में कोई दोष नहीं आता है। इसी अर्थ में प्रत्ययलक्षण सूत्रस्थ भाष्य का स्वारस्य है। वहाँ का प्रसंग इस प्रकार है—"औतोऽम्शसोः" सूत्र में "अचि" पद की अनुवृत्ति करके भाष्यकार ने कहा कि "अजाद्योरम्शसोरिति नार्थः किन्तु अम्यचि, शस्यचि इत्येवार्थः" अर्थात् अजादि अम् और अजादि शस् पर में रहने पर आकार एकादेश होता है, ऐसा अर्थ यहाँ नहीं है, किन्तु अम् तथा शस् प्रत्ययावयय अच् पर में रहने पर आकार एकादेश होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ "अचि" पद का सम्बन्ध हुआ है वहाँ सभी जगह अच् पदार्थ विशेष्य होता है। इसलिए पर शब्द से प्राधान्यात् जैसे अच् का ग्रहण यहाँ हुआ है उसी प्रकार "एत्येधत्यूठ्सु" सूत्र में भी पर शब्द से प्राधान्यात् अच् का ही ग्रहण होगा। इसलिए एधधात्ववयव अच् के स्थान पर ही वृद्धि होती है। सम्पूर्ण एध के स्थान पर नहीं होती है। अब उपर्युक्त विवेचन में एक समस्या यह उपस्थित हो रही है कि जहाँ अवयवावयवीभाव सम्बन्ध रहता है वहाँ षष्ठी विभक्ति होती है, ऐसी स्थिति में "एत्येधत्यूठ्सु" सूत्र में सप्तमी कैसे हुई? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि जिस प्रकार 'वृक्षे शाखा' इस प्रयोग में सप्तमी का अर्थ घटकत्व (अवयवत्व) है, उसी प्रकार यहाँ भी घटकत्व ही सप्तम्यर्थ है। वृक्षावयव शाखा की भाँति यहाँ "एधधात्ववयव अच्" ऐसा अर्थ किया जाता है। इस प्रकार कोई दोष नहीं रह जाता है। अथवा अवयवी में आधारत्व की विवक्षा करके यहाँ सप्तमी सुलभ है। यद्यपि न्यायदर्शन के अनुसार अवयव ही अवयवी का आधार होता है तथापि लोक में अवयवी भी अवयव का आधार प्रसिद्ध है। इसी आधार पर यहाँ अवयवी में आधारत्व की विवक्षा की गई है।

"प्रष्ठौहः" प्रयोग में "प्रष्ठं वहति" इस विग्रह में प्रष्ठपूर्वक वह् धातु से "वहश्च" सूत्र से ण्वि प्रत्यय करके "प्रष्ठवाह्" शब्द बना कर उससे शस् विभक्ति लाने पर "प्रष्ठवाह् + शस्" इस स्थिति में भसंज्ञा करके सम्प्रसारणसंज्ञक ऊठ् और "सम्प्रसारणाच्च" सूत्र से पूर्वरूप करने से निष्पन्न प्रष्ठ ऊह्-अस् इस स्थिति में इस सूत्र से वृद्धि होती है, जिससे "प्रष्ठौहः" रूप की सिद्धि होती है।

प्रेदिधदिति। परे तु—'इणीकारादौ प्रतिषेध' इति वार्त्तिके एधत्यनुपादानात् 'न त्वेधतेरव्यभिचारादि'ति वृत्तेश्चास्यानभिधानमेव। 'एत्येधत्योरेचीति विशेषण-मि'ति भाष्यस्यैधत्यंशे सम्भवमात्रेणोपरञ्जकतया विशेषणमित्याशय इत्याहुः। 'उपैधयते' इत्यादावपि वृद्धिर्भवत्येव, प्रकृतिभागस्यैध्रूपत्वात्। किञ्च—एत्येधत्यवयवेऽचीत्यर्थः प्रत्ययलक्षणसूत्रभाष्यसम्मत इति—अत्र न दोषः।

कौमुदीकार ने "एजाद्योः" इस विशेषण का फल "उपेतः" और 'मा भवान् प्रेदिधत्' इन प्रयोगों में वृद्धि का न होना बताया है। इन दोनों प्रयोगों में इण् और एध् धातु एजादि नहीं है। "इदिधत्" यह ण्यन्त एध् धातु का लुङ् लकार प्रथमपुरुष के एकवचन का रूप है। "मा" इस अव्यय के प्रयोग के कारण आट् न होने के कारण यहाँ वृद्धि के अभाव से एध् धातु एजादि नहीं हो पाया है। ऐसे स्थलों में वृद्धि-वारण के लिए एचि पद इण् और एध् का विशेषण बनाया गया है।

नागेश भट्ट इस बात से सहमत नहीं है। इनका कहना है कि एचि पद को इण् तथा एध् का विशेषण बनाना व्यर्थ है, क्योंकि "इणिकारौ प्रतिषेधो वक्तव्यः" अर्थात् इकारादि इण् धातु पर में रहने पर वृद्धि का प्रतिषेध होता है, इस अर्थ वाले वार्तिक से ही "उपेतः" प्रयोग में वृद्धि की आपत्ति नहीं है। यदि कहा जाय कि इस वार्तिक से "उपेतः" प्रयोग में वृद्धि का अभाव सिद्ध होने पर भी "प्रेदिधत्" प्रयोग में तो वृद्धि के अभाव के लिए एध धातु में "एचि" पद का सम्बन्ध करना ही चाहिए तो इसके उत्तर में नागेश भट्ट का कहना है कि "नाप्येधतेरव्यभिचारात्" अर्थात् एध् धातु में एजादि यह विशेषण नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि एध् धातु में एजादित्व का व्यभिचार ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि विशेषण वही लगाया जाता है जहाँ सम्भव और व्यभिचार दोनों हों। एध् धातु यदि एजादि और एजादि रहित—इन दोनों स्थितियों में मिलता होता तो एजादि रहित स्थल की व्यावृत्ति के लिए यहाँ एजादि विशेषण लगाना उपयुक्त हो सकता था किन्तु एध् धातु में एजादित्व का व्यभिचार ही नहीं है। यह तो सब जगह एजादि ही मिलता है। इसलिए यहाँ एजादि विशेषण लगाना ठीक नहीं है। इस वृत्तिग्रन्थ से विदित होता है कि "अस्य" = इदिधत् इस प्रयोग का अनभिधान ही है। अन्यथा यदि यह प्रयोग होता तो "न त्वेधतेः" इस वृत्तिग्रन्थ से विरोध हो जाता। दूसरी बात यह है कि यदि एध् धातु इकारादि मिलता तो वार्तिक ने "इणीकारादौ प्रतिषेधः" इस वार्तिक में इसका भी उल्लेख करते। किन्तु वार्तिककार ने इकारादि एध् का उल्लेख नहीं किया है। इससे स्पष्ट होता है कि "इदिधत्" प्रयोग का अनभिधान है।

यदि कहा जाय कि एध् धातु यदि इकारादि नहीं होता है तब किसकी व्यावृत्ति के लिए भाष्यकार ने कहा है कि "एत्येधत्योरेचीति विशेषणम्" अर्थात् एचि यह पद इण् और एध् धातु का विशेषण है। इससे तो विदित होता है कि एध् धातु एजादि रहित भी होता है। इसलिए "इदिधत्" इस प्रयोग का अनभिधान कहना ठीक नहीं है। शेखरकार इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि भाष्यकार ने "एचि" पद को एध् के विशेषण की जो बात की है वह एध् धातु में एजादित्व के केवल सम्भव को ही देख कर की है। उन्होंने देखा कि एध् धातु एजादि होता है इसलिए एजादि विशेषण से उसे उपरञ्जित कर दिया। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि "इदिधत्" यह प्रयोग होता है। तस्मात् "इदिधत्" प्रयोग का अनभिधान ही है।

एध् धातु से णिच् प्रत्यय करने पर "एधयते" यह जो प्रयोग बनता है यहाँ एध् धातु तो नहीं है: ऐसी स्थिति में "उपैधयते" प्रयोग में कैसे वृद्धि होगी? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यहाँ यद्यपि ण्यधिकत्व है तथापि प्रकृतिभाग में (णिच् की प्रकृति में) एधत्व तो है ही। अतः यहाँ वृद्धि हो जाती है। दूसरी बात यह है कि "एत्येधत्यूठ्सु" इस सूत्र का प्रत्ययलक्षण

सूत्र भाष्यसम्मत अर्थ इस प्रकार है कि इण्धात्ववयव तथा एध्धात्ववयव अच् पर में रहने पर वृद्धि एकादेश होता है। इस अर्थ के अनुसार "उप + एधयते" इस स्थिति में एध्धात्ववयव अच् पर में है ही, इसलिए वृद्धि हो जाती है।

"इदिधत्" प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ विवेचकों का कहना है कि इस प्रयोग का अनभिधान मानना ठीक नहीं है। इसलिए भाष्यकार ने कहा कि "एत्येधत्योरेचीति विशेषणम्" इदिधत् प्रयोग बनने पर ही इसकी व्यावृत्ति के लिए उपर्युक्त भाष्योक्ति का औचित्य सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि एध् धातु यदि एजादि रहित = इकारादि भी होता है तो वार्तिककार ने "इणीकारादौ प्रतिषेधः" इस वार्तिक में एध् का उल्लेख क्यों नहीं किया? इससे तो लगता है कि एध् धातु इकारादि होता ही नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में "इदिधत्" प्रयोग के पक्षधरों का कहना है कि उपर्युक्त वार्तिक का अर्थ इस प्रकार है—"इण्घटितसूत्रे इकारादौ प्रतिषेधः" अर्थात् इण् धातुघटित सूत्र "एत्येधत्यूठ्सु" के भीतर पढ़े गये शब्द यदि इकारादि हों तो वहाँ वृद्धि का प्रतिषेध होता है। वह इकारादित्व इण् का हो या एध् का हो वहाँ वृद्धि नहीं होगी। इस प्रकार सिद्ध होता है कि "इदिधत्" प्रयोग होता है। दूसरी बात यह है कि "यथोत्तरं मुनीनाम्" इस वचन के आधार पर भाष्यकार का ही प्रामाण्य है। भाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "एत्येधत्योरेचीति विशेषणम्"। इससे इदिधत् प्रयोग की स्थिति असन्दिग्ध है। वृत्तिग्रन्थ भी भाष्यप्रामाण्य के सामने हेय ही है। इसलिए दीक्षितजी ने "एजाद्योः" का जो उदाहरण कौमुदी में दिया है वह ठीक ही है।

पुरस्तादिति। 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरानि'ति न्यायः। अवश्यं स्वपरस्मिन्बाधनीये भेदेनापेक्षायां प्रथमोपस्थितबाधेनाकाङ्क्षानिवृत्तिर्हि तद्बीजिम्। असाधुरेवेति। आङिणोरेकादेशस्य पूर्वान्ततयाऽऽङि पररूपेण बाधादिति भावः। अर्थवद्ग्रहणे इति। अस्या बीजं' स्वं रूपमि'ति सूत्रे उक्तम्। पररूपे प्राप्ते इति। 'पूर्वन्धातुः साधनेन युज्यते' इति सिद्धान्तादिति भावः।

"एत्येधत्यूठ्सु" सूत्र के उदाहरण "उपैति" में "एङि पररूपम्" से पररूप की प्राप्ति होती है तथा "अव + आ-इहि" इस अवस्था में अन्तरंगत्वात् गुण कर देने पर "अव + एहि" इस स्थिति में पूर्वान्तवद्भाव से "आङ् पर में मानकर "ओमाङोश्च" सूत्र से पररूप की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अपने लक्ष्यों के पररूपाक्रान्त होने के कारण "एत्येधत्यूठ्सु" (६।१।८९) यह सूत्र पररूप का अपवाद होता है। यदि अपवाद होने के कारण सामान्यतया दोनों पररूपों का बाध वृद्धि के द्वारा हो जाय तो "अव + एहि" इस स्थिति में परादिवद्भाव से एजादि इण् पर में मान कर वृद्धि हो जाने से "अवैहि" ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा। इसलिए कौमुदीकार ने कहा है कि यहाँ बाधसामान्य चिन्ता पक्ष न होकर बाधविशेष चिन्ता पक्ष है। इसमें भी पुरस्तादपवाद न्याय से यहाँ बाध होता है। "पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" यह इस न्याय का स्वरूप है। पूर्व में पढे गये अपवाद बाध्यशास्त्रों के मध्य अनन्तर = व्यवधान-शून्य विधि को बाधते हैं। जो विधि उत्तर = व्यवहित होती है उसे नहीं बाधते हैं। यह इस परिभाषा का अर्थ है। इसमें बीज बताते हुए कह रहे हैं कि पुरस्तात् अपवादशास्त्र के लिए

अपने से पर में पठित बाध्यशास्त्र बाधनीय है, ऐसी स्थिति में "भेदेनापेक्षायाम् = किं बाध्यं किं न बाध्यमित्यपेक्षायाम्" अर्थात् कौन बाध्य है और कौन बाध्य नहीं है? इस प्रकार की अपेक्षा होने पर प्रथमोपस्थित और अनन्तर बाध्य को बाधने से जब आकांक्षा की निवृत्ति अर्थात् बाधकशास्त्र की चरितार्थता हो जाती है, तब उससे पर और व्यवहित रहने वाले बाध्य को बाधने में कोई प्रमाण नहीं है। यही बात इस परिभाषा का बीज है। यहाँ बाध्य और बाधक का सूत्रक्रम इस प्रकार है—"एत्येधत्यूठ्सु" (६।१।८९), "एङि पररूपम्" (६।१।९४), "ओमाङोश्च" (६।१।९५)। इस क्रम में "एत्येधत्यूठ्सु" के लिए अनन्तरबाध्य "एङि पररूपम्" यही होता है। इसको बाधकर चरितार्थ "एत्येधत्यूठ्सु" यह सूत्र "अव + एहि" इस स्थिति में आङ् और इण् धातु के स्थान पर जायमान गुण एकादेश "एकार" में पूर्वान्तवद्भाव से आङ्बुद्ध्या प्रवृत्त "ओमाङोश्च" सूत्र के पररूप द्वारा परत्वात् बाध लिया जाता है। इसलिए "अवैहि" इस प्रकार वृद्धियुक्त प्रयोग असाधु ही है।

"प्रादूहोढो" इस वार्तिक में "अर्थवद् ग्रहण" परिभाषा से अर्थवान् ऊढ् का ग्रहण किया जाता है, इसलिए "प्रौढः" प्रयोग में वृद्धि होती है, किन्तु "प्रोढवान्" प्रयोग में वृद्धि नहीं होती है, क्योंकि यहाँ का ऊढ अनर्थक है। इस परिभाषा का बीज "स्वं रूपं" सूत्र में कहा गया है। वह इस प्रकार है—"स्वं रूपम्" सूत्र में स्व शब्द आत्मीयवाची होने के कारण अपने आत्मीय अर्थ को कहता है और रूप शब्द से शब्द का स्वरूप लिया जाता है। इस प्रकार शब्द का अपना स्वरूप और अर्थ—ये दोनों उसके संज्ञी (बोध्य) हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी शब्द से उसके अर्थ सहित स्वरूप का ग्रहण करना चाहिए। निरर्थक स्वरूप का ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार उक्त परिभाषा का बीज वहाँ कहा गया है। "प्रैषः", "प्रैष्यः" इन प्रयोगों के सम्बन्ध में कौमुदी में कहा गया है कि इष् धातु इच्छार्थक तुदादि गण का है। गति और आभीक्ष्ण्य अर्थ में यह क्रमशः दिवादि और क्र्यादि गण में पठित है। इन धातुओं से घञ् प्रत्यय करने पर "एषः" और ण्यत् प्रत्यय करने पर "एष्यः" ऐसा रूप बनता है। ऐसा रूप बनाना धातु का साधन के साथ योग कहा जाता है। साधन का अर्थ कारक और कारक प्रयुक्त कार्य है। ण्यत् आदि प्रत्यय कर्मादि अर्थ-विशेष में होने के कारण साधन के कार्य हैं। इष् धातु का पहले जब साधन से योग करके 'एषः' और 'एष्य' ऐसा रूप बनाकर पश्चात् इसका जब प्र उपसर्ग के साथी योग करते हैं तब "प्र + एषः" तथा "प्र + एष्यः" इस स्थिति में "एङि पररूपम्" सूत्र से पररूप प्राप्त होता है। उस पररूप को बाध कर "प्रादूहोढो" इत्यादि वार्तिक से वृद्धि होती है, जिससे "प्रैषः, प्रैष्यः" ये रूप बनते हैं।

यदि "पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते" यह पक्ष माना जाय तब "प्र + इष्" इस स्थिति में गुण की ही प्राप्ति है न कि पररूप की। तब तो यह बात कैसे संगत होगी कि यहाँ पररूप को बाध कर वृद्धि होती है? इसका उत्तर देते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि सिद्धान्त पक्ष तो यही है कि "पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण"। इस सिद्धान्त के आधार पर ही कौमुदी में कहा गया है कि पररूप की प्राप्ति होने पर उसे बाध कर वृद्धि होती है।

उपसर्गादृति। तपरकरणादुपऋकारीयतीत्यादौ 'वा सुपी'ति न वृद्धिः। सौत्र-ऋतिस्तु न गृह्यते, व्याख्यानात्। आदित्यनुवृत्तेन तदन्तविधिरित्याह—

अवर्णान्तादिति। 'यस्मिन्विधिरि'ति परिभाषयाऽऽह—ऋकारादाविति। पूर्वपरयोस्तयोः समुदाययोरन्त्याद्योर्वर्णयोरेकादेश इत्यर्थः। 'उपसर्गावयवाकाराद्धात्ववयवे ऋकारे तयोः पूर्वपरयोर्वृद्धिरित्युचितम्। 'गतेरि'ति तु नोक्तम्। 'अच्छर्छती'त्यादौ दोषात्।

इस सूत्र में "ऋति" पद में जो तपर किया गया है उसका फल देते हुए कह रहे हैं कि "उप + ऋकारीयति" इस प्रयोग में "वा सुप्यापिशलेः" सूत्र से वैकल्पिक वृद्धि नहीं होती है। प्रश्न होता है कि तपरकरण का फल यहाँ न देकर उत्तरसूत्र "वा सुपि" में क्यों दे रहे हैं? इसके उत्तर में कहा जाता है कि यहाँ "ऋति" यह पद धातु का विशेषण है और धातुओं के मध्य दीर्घ ऋकारादि धातु कोई प्रसिद्ध नहीं है। इसी कारण से यहाँ फल न देकर "ऋकारमात्मनः इच्छति" इस विग्रह में बने हुए "ऋकारीयति" इस पद के पर में रहने पर "उप + ऋकारीयति" इस स्थिति में "वा सुप्यापिशलेः" सूत्र की प्रवृत्ति न होना ही "ऋति" पद के तपरकरण का फल बताया गया है।

यदि कहा जाय "उपऋकारीयति" यह फल तो प्रस्तुत सूत्र का भी हो सकता है तो अग्रिम सूत्र का प्रवृत्त्यभाव यहाँ फल के रूप में क्यों कहा गया है? तो इस प्रश्न का उत्तर यह समझना चाहिए कि प्रस्तुत सूत्र में "ऋ गतौ" इत्यादि गणपठित धातुओं के साहचर्य से गणपठित धातु ही ग्राह्य हैं। "ऋकारीयति" प्रयोगस्थ "ऋकारीय" धातु तो नामधातु है, अतः उसे प्रस्तुत सूत्र के प्रत्युदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया। यहाँ पुनः शंका होती है कि "ऋति" पद से प्रथमोपस्थित "ऋतेरीयङ्" सूत्रस्थ ऋत् धातु का ग्रहण क्यों नहीं होता है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि यहाँ सौत्र "ऋत्" धातु का ग्रहण नहीं होता है। इसके दो कारण है—पहला तो यह कि यदि सौत्र ऋत् धातु का यहाँ ग्रहण करते हैं तब "प्रार्च्छति" इत्यादि प्रयोगों में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, जिससे इस प्रयोग का बनना ही असम्भव हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने विचार किया कि उपसर्ग संज्ञा धातु के योग में ही होती है, इसलिए उपसर्ग से ही धातु का आक्षेप हो सकता है। तो पुनः इस सूत्र में धातुग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार अनावश्यक धातुग्रहण योगविभाग के द्वारा पुनः वृद्धि के विधान के लिए है। इसलिए "प्रार्च्छति" प्रयोग में "ऋत्यकः' सूत्र से पाक्षिक प्रकृतिभाव नहीं होता है। इस भाष्यव्याख्यान से समझते हैं कि इस सूत्र में सौत्र ऋत् धातु का ग्रहण नहीं होता है। अन्यथा यदि सौत्र ऋत् धातु का ग्रहण यहाँ विवक्षित होता तो उसके ग्रहण के लिए इस सूत्र में धातुग्रहण आवश्यक होता। ऐसी स्थिति में उसे व्यर्थ करके उसके द्वारा पुनर्वृद्धि के विधान की बात करना—ये सारी भाष्यकार की बातें असंगत हो जातीं। इससे सिद्ध होता है कि इस सूत्र में सौत्र ऋत् धातु का ग्रहण नहीं होता है।

इस सूत्र में "आद्‌गुणः" सूत्र से "आत्" पद की अनुवृत्ति होती है। यह "आत्" पञ्चम्यन्त पद "उपसर्गात्" इस पञ्चम्यन्त पद का विशेषण है, इसलिए "येन विधिः" सूत्र से तदन्तविधि होती है। इसीलिए वृत्ति में कहा गया है—"अवर्णान्तात् उपसर्गात्" अर्थात् 'अवर्णान्त उपसर्ग से पर में ऋकारादि धातु रहने पर' इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ होता है।

इस सूत्र में "ऋति" यह सप्तम्यन्त पद "धातौ" इस सप्तम्यन्त पद का विशेषण है। विशेषण के सप्तम्यन्त होने पर तदन्तविधि न होकर तदादिविधि होती है। इसीलिए वृत्ति में कहा गया है कि "ऋकारादि धातु पर में रहने पर वृद्धि होती है। अब यह विचार हो रहा है कि इस सूत्र का अर्थ यदि इस प्रकार करते हैं कि "अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु पर में रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है, तब "प्र + ऋच्छति" इस स्थिति में पूर्व शब्द से अकारान्त शब्द का तथा पर शब्द से ऋकारादि धातु का ग्रहण करके समुदाय के स्थान पर वृद्धि होने लगेगी। इस प्रकार की वृद्धि का होना अभीष्ट नहीं है। इसलिए यहाँ उपसर्ग पद उपसर्गावयवपरक लक्षणा से हो जाता है और "आत्" पद इसका विशेष्य होता है। इसी प्रकार धातुपद भी लक्षणा से धात्ववयवपरक हो जाता है और 'ऋति' यह पद उसका विशेष्य बनता है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ ऐसा होता है कि "उपसर्गावयव अकार से धात्ववयव ऋकार पर में रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। इसी बात को शेखरकार कह रहे हैं कि पूर्व और पर ये जो दो समुदाय हैं इन दोनों समुदायों के क्रमशः अन्त्य और आदि वर्ण के स्थान पर एकादेश होता है। एकादेश का जो पूर्वस्थानी है वह पूर्वसमुदाय का अन्त्य वर्ण तथा जो परस्थानी है वह परसमुदाय का आदि वर्ण होता है। इसी बात को द्योतित करते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि उपसर्गावयव अकार से धात्ववयव ऋकार पर में रहने पर पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है, यही इस सूत्र का उचित अर्थ है।

क्रिया के योग में "प्र, परा" आदि की गतिसंज्ञा भी होती है, ऐसी स्थिति में लाघवात् "उपसर्गात्" इस पद के स्थान पर "गतेः" इस पद का पाठ करना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं किया गया। कारण यह है कि "अच्छगत्यर्थ" सूत्र से अच्छ की गतिसंज्ञा होती है। ऐसी स्थिति में "अच्छ + ऋच्छति" इस स्थिति में वृद्धि की आपत्ति होने लगेगी। इस प्रकार 'अच्छर्छति' प्रयोग में दोष के कारण "उपसर्गात्" की जगह "गतेः" ऐसा पाठ नहीं किया गया है।

अन्ता। इह 'पूर्वपरयोरि'ति वर्तते, यथासङ्ख्यञ्च, अन्तादिशब्दा-वुपस्थितै-कादेशस्थानिपरौ। पूर्वपरशब्दौ च तद्घटितसमुदायपरौ। एवञ्च—'पूर्वस्य परस्य समुदायस्यान्तादिभ्यां वर्णाभ्यां पृथगवस्थिताभ्यां ये व्यवहाराः—प्रातिपदिकत्व-सुबन्तत्व-प्रत्ययत्वादयस्ते कृतैकादेशस्य भवन्ति, न तु तद्वर्णमात्रवृत्तयोऽत्व-ह्रस्वत्वादय' इत्यर्थस्तत्फलितमाह—योऽयमित्यादि। तेन रामावित्यादौ परादिवत्त्वेन औ इत्यस्य सुप्त्वे, पूर्वमान्तस्यैकदेशविकृतन्यायेन प्रकृतित्वे, यस्माद्विहितस्तदादित-दन्तत्वमार्थसमाजग्रस्तमिति पदत्वसिद्धिः। तद्वर्णमात्रवृत्तिधर्मानतिदेशात्खट्वाभिरि-त्यत्राऽत्वनिबन्धन ऐस्न, 'अयजे इन्द्रमि'त्यादौ सवर्णदीर्घश्च न। अत एव तुक्यसिद्धवचनं चरितार्थम्। अन्यथाऽधीत्येत्यादावादिवत्त्वेन ह्रस्वत्वप्रयुक्ततु-क्सिद्धौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। तदुक्तं—'वर्णाश्रये चान्तादिवत्त्वप्रतिषेधो वक्तव्यो, न वाऽताद्रूप्यातिदेशादि'ति। अन्तादिवर्णमात्रवृत्तिधर्मानतिदेशादिति तदर्थः। 'क्षीरपेणे'त्यादावेकारविशिष्टे एकाजुत्तरपदत्वं भवत्येव।

"अन्तादिवच्च" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि इस सूत्र में "एकः पूर्वपरयोः" सूत्र का अधिकार आता है। यथासंख्य परिभाषा से पूर्व का सम्बन्ध अन्त के साथ तथा पर का सम्बन्ध आदि के साथ होता है। जहाँ एकादेश होता है वहाँ उसके दो स्थानी होते हैं—पूर्व और पर। पूर्वस्थानी जो होता है वह पूर्वसमुदाय का अन्त होता है और परस्थानी जो होता है वह परसमुदाय का आदि होता है। जैसे—"उपेन्द्रः" इस प्रयोग में अकार और इकार के स्थान पर एकार एंकादेश होता है। यहाँ पूर्वस्थानी अकार है। यह अकार पूर्वसमुदाय "उप" का अन्त है। इसी प्रकार यहाँ परस्थानी इकार है। यह इकार परसमुदाय "इन्द्र" का आदि वर्ण है। इस बात को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि यहाँ अन्त और आदि शब्द उपस्थित जो एकादेश है उसके दोनों स्थानियों के बोधक हैं। अन्त शब्द पूर्वस्थानी का तथा आदि शब्द परस्थानी का बोधक है। इनके साथ सम्बद्ध जो पूर्व और पर शब्द हैं वे दोनों लक्षणावृत्ति के द्वारा तद्घटित = पूर्वस्थानीघटित समुदाय और परस्थानीघटित समुदाय के बोधक होते हैं। इस प्रकार पूर्वान्तवत् का अर्थ होता है पूर्वस्थानिघटित समुदायवत् और परादिवत् का अर्थ होता है परस्थानिघटित समुदायवत्। "एकः पूर्वपरयोः" सूत्र से जो "एकः" पद यहाँ आया है उसका अर्थ है—एकादेशविशिष्ट। इस प्रकार की योजना के द्वारा इस सूत्र का अर्थ ऐसा होता है कि यह जो एकादेशविशिष्ट है वह पूर्वस्थानिघटित समुदाय के तुल्य तथा परस्थानिघटित समुदाय के तुल्य होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एकादेशविशिष्ट में पूर्वस्थानिघटित समुदाय और परस्थानिघटित समुदाय के धर्म जो प्रातिपदिकत्व, सुबन्तत्व और प्रत्ययत्व आदि हैं उन्हीं का अतिदेश होता है। वर्णमात्र वृत्तिधर्म जो अत्व, ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि हैं इनका अतिदेश यह सूत्र नहीं करता है। इसी बात को शेखरकार इन शब्दों में कह रहे हैं कि पूर्व और पर समुदाय के अन्त और आदि वर्ण जो पृथक्-पृथक् अवस्थित हैं उन वर्णों से युक्त जो समुदाय है उस समुदाय में सुबन्तत्व, प्रातिपदिकत्व आदि जो कुछ व्यवहार किया जाता है, वह सारा व्यवहार एकादेशविशिष्ट में करना चाहिए। वर्णमात्र वृत्ति अत्व, ह्रस्वत्व आदि व्यवहार एकादेशविशिष्ट में नहीं किया जा सकता।

इसी का फलितार्थ कौमुदी में इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि "योऽयमेकादेशः" इत्यादि।

तेन = "अन्तादिवच्च" सूत्र का उपर्युक्त अर्थ स्वीकार करने से ही "रामौ" इस प्रयोग में पदत्व की सिद्धि होती है। पदसंज्ञा के लिए "सुबन्ततदादि का होना आवश्यक होता है। सुप् है अन्त में जिसके ऐसी तदादि की पदसंज्ञा होती है। "रामौ" प्रयोग में जो "औ" है वह सुप् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह अकार और औकार के स्थान पर वृद्धि के द्वारा निष्पन्न है। इसलिए वह शुद्ध सुप् नहीं है। दूसरी बात यह है कि "औ" को पृथक् करने पर "राम्" यह जो हलन्त अंश अवशिष्ट रहता है वह "औ" का तदादि भी नहीं है, क्योंकि "औ" प्रत्यय तो अकारान्त राम से विहित है। इस स्थिति में यहाँ पदसंज्ञा कैसे हो? यह प्रश्न उपस्थित होता है, किन्तु "अन्तादिवच्च" का उपर्युक्त अर्थ करने से इस समस्या का समाधान हो जाता है। "औ" इस आदेश का परस्थानी "औ" है। तद्घटित समुदाय भी वही है, तद्वृत्तिधर्म सुप्त्व है। इस सुप्त्व का "अन्तादिवच्च" सूत्र से परादिवद्भाव से एकादेशविशिष्ट "औ" में

अतिदेश हो जाता है। इस प्रकार "औ" सुप् हो जाता है। अवशिष्ट मान्त जो "राम्" है वह एकदेशविकृत न्याय से प्रकृति हो जाता है। इस प्रकार "यस्मात् विहितस्तदादि-तदन्तत्व" रूप सुबन्ततदादित्व आर्थसमाजग्रस्त हो जाता है, जिससे "रामौ" का पदत्व सिद्ध हो जाता है।

यहाँ आर्थसमाजग्रस्त शब्द विचारणीय है। यहाँ "अर्थानामयम् आर्थः, समाजः = समुदायः, आर्थश्चासौ समाजः, आर्थसमाजः तेन ग्रस्तम् = आर्थसमाजग्रस्तम्"—इस प्रकार समास होता है। अर्थपद से यहाँ सुप्त्व और प्रकृतित्व ये दोनों विवक्षित हैं। परादिवद्भाव और एकदेशविकृत परिभाषा, इन दोनों के द्वारा 'रामौ' यह पद आर्थसमाज से अर्थात् सुबन्ततदादित्व से ग्रस्त अर्थात् व्याप्त हो जाता है, जिससे इसका पदत्व निर्बाध हो जाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस सूत्र से वर्णमात्र वृत्तिधर्म का अतिदेश नहीं होता है। इसका परिणाम यह होता है कि "खट्वाभिः" इस प्रयोग में दीर्घ एकादेश जो खट्वा का आकार है उसमें पूर्वान्तवद्भाव से अत्व का अतिदेश नहीं हुआ, क्योंकि अत्व वर्णमात्रवृत्ति (अकार मात्र वृत्ति) धर्म है। इस प्रकार अत्व का अतिदेश न हो सकने के कारण "अतो भिस" सूत्र से भिस् को ऐस् नहीं हुआ। इसी प्रकार "अयजे इन्द्रम्" इस प्रयोगस्थ "अयजे" इस पद में जहाँ अकार और उत्तमपुरुष का एकवचन "इट्" प्रत्यय के स्थान पर गुण एकादेश करके एकार बनाया गया है, इस एकार में परादिवद्भाव से इकारत्व का अतिदेश नहीं हुआ, क्योंकि इकारत्व भी वर्णमात्र वृत्तिधर्म है। परिणाम यह हुआ कि "अयजे + इन्द्रम्" इस स्थिति में सवर्णदीर्घ नहीं हो सका। यदि इकार का अतिदेश हो जाता तो "इन्द्रम्" के इकार के साथ उसका सवर्णदीर्घ होने लगता। अत एव = वर्णमात्र वृत्तिधर्म का इस सूत्र से अतिदेश नहीं होता है—इस बात को स्वीकार करने पर ही "षत्वतुकोरसिद्धः" इस सूत्र में तुक्ग्रहण चरितार्थ होता है। तात्पर्य यह है कि अधिपूर्वक इङ् धातु से क्त्वा प्रत्यय करने पर "अधि-इ-त्वा" इस स्थिति में "ह्रस्वस्य पिति कृति" सूत्र से तुक् की तथा सवर्णदीर्घ की प्राप्ति साथ होने पर धातु और उपसर्ग का कार्य होने से दीर्घ पहले हो जाता है। साथ ही समासप्रयुक्त क्त्वा को ल्यप् आदेश भी हो जाता है। इतनी प्रक्रिया के बाद "अधीय" इस स्थिति में ह्रस्व के अभाव में यहाँ तुक् का होना सम्भव नहीं है। इसलिए "षत्वतुकोः" सूत्र में तुक् ग्रहण किया गया है। तुक् की कर्तव्यता में एकादेश असिद्ध हो जाता है जिससे ह्रस्व इकार की उपलब्धि होने से तुक् की सिद्धि हो जाती है और "अधीत्य" यह प्रयोग निष्पन्न हो जाता है। यदि "अन्तादिवच्च" सूत्र से वर्णमात्रवृत्तिधर्म का अतिदेश होता तो दीर्घ ईकार में परादिवद्भाव से ह्रस्वत्व का अतिदेश हो जाता तो तुक् की स्वतः सिद्धि हो जाती। ऐसी स्थिति में "षत्वतुकोः" सूत्र में तुक् ग्रहण व्यर्थ ही हो जाता। इससे स्पष्ट है कि "अन्तादिवच्च" सूत्र से वर्णमात्रवृत्तिधर्म (ह्रस्वत्वादि) का अतिदेश नहीं होता है।

अब इस बात में वार्तिककार की सम्मति दिखाते हुए कह रहे हैं कि "तदुक्तम्" = वार्तिककार ने कहा है कि वर्णाश्रय कार्य में "अन्तादिवद्भाव का प्रतिषेध कहना चाहिए। ऐसा कहकर आगे कहा—"न वा वक्तव्यः" अर्थात् अन्तादिवद्भाव के प्रतिषेध का कहना आवश्यक नहीं है, क्योंकि "अताद्रूप्यातिदेशात्" अर्थात् ताद्रूप्य का अतिदेश होता ही नहीं है। ताद्रूप का अर्थ है—वर्णमात्रवृत्तिधर्म। "अन्तादिवच्च" सूत्र से अन्त और आदि जो वर्ण हैं उन वर्णों में रहने

वाले धर्म का अतिदेश नहीं होता है। इससे इस बात की सम्पुष्टि होती है कि "अधीत्य" प्रयोग में वर्णमात्रवृत्तिधर्म ह्रस्वत्व का अतिदेश सम्भव नहीं है, इसलिए "षत्वतुकोः" सूत्र में तुक्ग्रहण करना चाहिए, जिससे दीर्घ एकादेश असिद्ध हो जाय और ह्रस्वत्वप्रयुक्त तुक् वहाँ हो जाय।

प्राचीन वैयाकरणों ने स्थानिवत् सूत्र से "अन्तादिवच्च" सूत्र को गतार्थ माना है। उनके मत का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि "अन्तादिवच्च" सूत्र से ही "क्षीरपेण" इस प्रयोग-घटक "पे" इस अंश में जो कि एकादेशविशिष्ट है, उसमें "एकाजुत्तरपदत्व" सुलभ होता है। तात्पर्य यह है कि "क्षीरं पिबति" इस विग्रह में क्षीरम् पूर्वक पा धातु से "सुपि स्थः" सूत्र में योग विभाग के द्वारा क प्रत्यय, आकार का लोप और उपपदसमास करने से "क्षीरप" शब्द बनता है। यहाँ क्षीरम् यह पूर्वपद है तथा "पः" यह उत्तरपद है। तृतीया के एकवचन में पकारोत्तरवर्ती अकार और इन के इकार के स्थान पर गुण करने पर जो "पे" ऐसा बनता है, उसमें एकाजुत्तरपदत्व नहीं है, क्योंकि उसमें प्रत्यय का भी अंश मिला हुआ है। इसलिए "पे" इस अंश में एकाजुत्तरपदत्व लाना है, क्योंकि उसके आये बिना "एकाजुत्तरपदे णः" सूत्र से नकार को णकार नहीं हो सकेगा। अब यह एकाजुत्तरपदत्व स्थानिवत् सूत्र से लाया जाय अथवा "अन्तादिवच्च" सूत्र से लाया जाय? यह विचार प्रस्तुत होता है। प्राचीन कहते हैं कि स्थानिवत् सूत्र से लाया जाय। नागेशभट्ट इसका खण्डन करते हैं। इनका कहना है कि अल्त्वव्याप्य धर्म अच्त्व से घटित है—"एकाजुत्तरपदत्व"। स्थानिवत् सूत्र से अल्त्वव्याप्यधर्मघटित धर्म का अतिदेश नहीं होता। इसलिए "अन्तादिवच्च" सूत्र से ही यहाँ कार्य सम्भव हो सकेगा। यहाँ एकादेश का पूर्वस्थानी अकार है, उससे घटित समुदाय "प" है, उसका धर्म है एकाजुत्तरपदत्व; वह पूर्वान्तवद्भाव से एकादेशविशिष्ट 'पे' में चला आता है। इस प्रकार "अन्तादिवच्च" सूत्र से एकाजुत्तरपदत्व सुलभ हो जाता है।

यदि कहा जाय कि इस सूत्र से भी ताद्रूप्य का अतिदेश नहीं होता है। अन्तादि वर्णमात्रवृत्ति-धर्मघटित धर्म ही ताद्रूप्य कहा जाता है। ऐसी स्थिति में एकाजुत्तरपदत्व जो ताद्रूप्य है उसका अतिदेश इस सूत्र से कैसे होगा? इस शंका के उत्तर में कहा जाता है कि ताद्रूप्य का अर्थ इस प्रकार है कि अन्तादिवर्णविशिष्ट अल्मात्रवृत्तिधर्मघटित धर्म का अतिदेश नहीं होता है। अल्मात्रवृत्तिधर्म को अन्तादि वर्ण से विशिष्ट होने के लिए दो सम्बन्ध हैं—स्ववृत्तित्व तथा स्वस्थानिकादेशावृत्तित्व। इन दोनों सम्बन्धों से जो धर्म अन्तादिवर्णविशिष्ट होगा तद्घटित धर्म का अतिदेश "अन्तादिवच्च" सूत्र से नहीं होगा। प्रस्तुत में जो अच्त्व धर्म है वह एकादेश के स्थानी वृत्ति होते हुए स्वस्थानिक आदेश जो एकार "तद् अवृत्ति" नहीं है। इसलिए एकाजुत्तरपदत्व ताद्रूप्य नहीं कहा जायेगा। इसलिए इसका अतिदेश "अन्तादिवच्च" सूत्र से सुलभ हो जाता है।

स्थानिवद्भावेन तु नैतल्लभ्यम्, अप्राधान्येनालाश्रयणात्। किञ्च एकादेशे वर्णयोरेव स्थानित्वं न समुदायस्येति–भी ई भिय इत्यादावेकादेशविशिष्टे धातुत्वानापत्तिः। धातुत्वस्यैकादेशस्थानिधर्मत्वाभावात्। आनुमानिकादेशकल्प-कवाक्यमन्तादिघटितसमुदायस्यैकादेशघटित आदेश इत्येव, न तु प्रत्येकं तयोः स्थानित्वबोधकं, तथा सति स्वाश्वशब्दस्य स्थानिवत्त्वेन स्वशब्दतया तत ईरिञ्शब्दे

वृद्ध्यापत्तेः। किञ्च भवत्सम्मतस्य 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवदि'त्यस्यासङ्गतौ भवत्सम्मता'ऽभीयादि'त्याद्यसिद्धिः। स्थानिवत्त्वं तूदभयत आश्रयणे इष्यत एव। अन्यथाऽचः परस्मिन्नित्यस्याप्युभयत आश्रयणेऽप्रवृत्त्यापत्तौ प्लायत इत्याद्यसिद्धिरिति दिक्।

"पे" इस अंश में एकाजुत्तरपदत्व का अतिदेश स्थानिवद्भाव से नहीं हो सकता है, क्योंकि विशेष्यतया या विशेषणतया किसी भी रूप में अल् का आश्रयण करने पर वहाँ "अनल्विधौ" से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। प्रस्तुत स्थल में अल्मात्रवृत्तिधर्म जो अच्त्व है वह "एकाच्" में विशेषण रूप में यहाँ प्रस्तुत है। इसलिए "अनल्विधौ" से निषेध हो जाने के कारण स्थानिवत्त्वेन एकाजुत्तरपदत्व यहाँ सुलभ नहीं है।

यदि कहा जाय कि "पे" इस अंश में एकाच्त्व तो स्वतः सिद्ध है। इसे लाने की आवश्यकता नहीं है। हमें तो "पे" में केवल उत्तरपदत्व लाना है। यह उत्तरपदत्व तो अल्मात्रवृत्तिधर्म नहीं है, इसलिए स्थानिवत्त्वेन इसका अतिदेश तो यहाँ सुलभ ही है। तो इस प्रश्न का उत्तर यह समझना चाहिए कि स्थानिवद्भाव दो प्रकार का होता है—श्रौत और आनुमानिक। इन दोनों में किसी भी प्रकार से "पे" इस अंश में उत्तरपदत्व नहीं आ सकता है, क्योंकि श्रौत स्थानी जो अकार और इकार हैं उनमें किसी में उत्तरपदत्व नहीं है तो आदेश में उसका अतिदेश कैसे हो सकता है? आनुमानिक स्थान्यादेशभाव पक्ष में यही कहा जा सकता है कि "क्षीरप + इन इत्यस्य स्थाने 'क्षीरपेण' इत्यादेशः"। ऐसा कहने पर क्षीरप + इन इस स्थानी में ही जब उत्तरपदत्व नहीं है तब उसका अतिदेश ही कैसे होगा? इसी अभिप्राय से शेखरकार कह रहे हैं कि स्थानिवद्भाव से एतत् = एकाजुत्तरपदत्व लभ्य नहीं है।

यदि कहा जाय कि आनुमानिक स्थान्यादेशभाव पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि "प इत्यस्य स्थाने "पे" इत्यादेशः"। ऐसी स्थिति में पकारवृत्ति एकाजुत्तरपदत्व "पे" में आ सकता है तो इसका उत्तर देते हुए शेखरकार का कहना है कि आनुमानिक स्थान्यादेश स्वेच्छया कल्पित न होकर "अर्थवान्" के स्थान पर अर्थवान् ही आदेश परिकल्पित होता है। तात्पर्य यह है कि अन्तादिघटित समुदाय के स्थान पर एकादेशघटित आदेश होता है, यही आनुमानिकादेशकल्पक वाक्य है। इसके अनुसार केवल "प" के स्थान पर "पे" आदेश की बात असंगत है। इसलिए यहाँ एकाजुत्तरपदत्व "अन्तादिवच्च" सूत्र से ही सम्भव है न कि स्थानिवत् सूत्र से।

इसी प्रकार "भियो हेतुभये षुक्" इस सूत्र में आये "भियः" इस निर्देश की सिद्धि भी विना "अन्तादिवच्च" सूत्र के नहीं हो सकती है। यहाँ की स्थिति यह है कि णिच्-प्रक्रिया में भी धातु के दो रूप बनते हैं—"भाययते" और "भीषयते"। यहाँ "बिभेतेर्हेतुभये" सूत्र से पाक्षिक आत्वपक्ष में "षुक्" न होने लगे इसलिए "भी + ई" इस रूप में ईकार का प्रश्लेष और दीर्घ करके "भी" ऐसा धातु बनाया गया है। इस "भी" शब्द से षष्ठी का एकवचन आने पर "अचि श्नु" सूत्र से इयङ् करके "भियः" यह निर्देश बनता है। यह सूत्र धात्ववयव इकार को इयङ् करता है। "भी" इस आनुपूर्वी में धातुत्व लाना आवश्यक है, किन्तु यह धातुत्व तो स्थानिवत् सूत्र से तो नहीं आ सकता है, क्योंकि सवर्णदीर्घ के स्थानी जो दोनों ईकार हैं उनमें

किसी में भी धातुत्व नहीं है। इस प्रकार धातुत्व के एकादेश के स्थानी का धर्म न होने के कारण उसका अतिदेश नहीं हो सकता। यहाँ यह नहीं कह सकते कि "भी" और "ई" यह समुदाय एकादेश का स्थानी है, क्योंकि सवर्णदीर्घ तो यहाँ दोनों ईकारों के स्थान पर ही हुआ है। यदि समुदाय में कथञ्चित् स्थानिता सिद्ध हो जाती तो कहा जा सकता था कि "भी" का धातुत्व स्थानिवत्त्वेन "भी" में चला आयेगा, किन्तु ऐसी बात नहीं है।

यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि आनुमानिक स्थान्यादेशभाव मान कर यहाँ स्थानिवत्वेन धातुत्व आ सकता है। कारण यह है कि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि "आनुमानिक स्थान्यादेशभाव भी अन्तादिघटित समुदाय के स्थान पर एकादेशघटित आदेश होता है" इसी रूप में मान्य है। न कि तयोः = पूर्वपर समुदाय में प्रत्येक में स्थानिता मान्य है। यदि ऐसा मान लिया जाता है तब तो स्व + अश्व = "स्वाश्व" इस आदेश का स्थानी स्व भी माना जायेगा और अश्व भी माना जायेगा। परिणाम यह होगा कि स्वाश्व + ईरिन् इस स्थिति में स्थानिवद्भाव से स्वशब्दत्व "स्वाश्व" में चला आयेगा और "स्वादीरेरिणोः" वार्तिक से यहाँ वृद्धि होने लगेगी।

दूसरी बात यह है कि "अभीयात्" प्रयोग जो अभिपूर्वक इण् धातु से आर्शीलिङ् लकार में सवर्णदीर्घ करके बनाया जाता है इस प्रयोग में जब पूर्वान्तवद्भाव से उपसर्गत्व तथा परादिवद्भाव से इण्धातुत्व का अतिदेश "अभी" इस अंश में करके "एतेर्लिङि" सूत्र से ह्रस्व की प्राप्ति होती है, तब प्राचीन "उभयत आश्रयणे नान्तादिवच्च" इस वार्तिक से यहाँ अन्तादिवद्भाव का निषेध करते हैं। अब इस समय जब स्थानिवत् सूत्र से "अन्तादिवच्च" सूत्र को गतार्थ कर रहे हैं तब तो "उभयत आश्रयणे" की असंगति हो जायेगी, क्योंकि अब तो अन्तादिवद्भाव हो नहीं रहा है। अब तो स्थानिवद्भाव होगा, जिसका निषेध "उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्" नहीं कर सकेगा। परिणाम यह होगा कि "अभीयात्" प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

यदि कहा जाय कि "उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्" की जगह "उभयत आश्रयणे न स्थानिवत्" ऐसा पाठ कर स्थानिवद्भाव का भी निषेध कर दिया जायेगा, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्थानिवद्भाव तो उभयत आ[illegible]ण में करना अभीष्ट ही है। यदि उभयत आश्रयण में स्थानिवदभाव का निषेध कर दिया जाय तो "प्लायते" प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। "प्र + अयते" इस स्थिति में सवर्णदीर्घ करने के बाद "उपसर्गस्यायतौ" सूत्र से "अयति" परक उपसर्गस्थ रकार को लत्व कैसे हो, क्योंकि दीर्घ के बाद "प्रायते" बन जाने के कारण उपसर्ग और धातु की स्थिति पृथक्-पृथक् प्रतीत नहीं होती है। ऐसी स्थिति में यहाँ "अचः परस्मिन्" सूत्र से स्थानिवद्भाव करके "आयते" घटक आय् को ही अय धातु माना जाता है। अय्-धात्ववयवत्व स्थानिवत्त्वेन आकार में आ जाने से आय् ही अय् धातु हो जाता है। इसी प्रकार "प्र" उपसर्ग के रकार में जो स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टत्व था, वह भी "आयते" घटक आकार की अपेक्षा से स्थानिवद्भाव से ही आता है। इस प्रकार उभय कार्य के लिए स्थानिवद्भाव का आश्रयण करना ही यहाँ उभयतः आश्रयण है। यदि इस स्थानिवद्भाव का निषेध कर दिया जाता है तो "प्लायते" प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसलिए 'उभयत आश्रयणे न स्थानिवत्' ऐसा नहीं कहा जा सकता। अब यदि "अन्तादिवच्च" सूत्र को नहीं मानते हैं तो "उभयत

आश्रयणे नान्तादिवत्" इस वार्तिक की असंगति हो जायेगी। परिणामस्वरूप "अभीयात्" प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसलिए "अन्तादिवच्च" सूत्र को "स्थानिवत्" सूत्र से गतार्थ नहीं मानना चाहिए।

प्राचीनों के पक्षधरों का कहना है कि "अन्तादिवच्च" सूत्र "स्थानिवत्" सूत्र से गतार्थ है। "क्षीरपेण" इस प्रयोगस्थ "पे" इस अंश में एकाच्त्व तो स्वतः सिद्ध है। केवल उत्तरपदत्व मात्र यहाँ लाना है और वह अल्वृत्तिधर्म नहीं है, इसलिए उसे लाने में "अनल्विधौ" निषेध की प्रवृत्ति नहीं होगी। फलस्वरूप उसके आ जाने से "क्षीरपेण" प्रयोग में णत्व की सिद्धि हो जायेगी। "भियः" प्रयोग में जो इयङ् की अनापत्ति की बात कही गई थी वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आनुमानिक स्थान्यादेशभाव अर्थवान् में ही होता है, ऐसा मानने पर भी यहाँ तीन स्थानी तथा तीन आदेश परिकल्पित होंगे। जैसे 'भी' के स्थान पर "भी" आदेश होता है, ई के स्थान पर "ई" यह आदेश होता है तथा भी-ई के स्थान पर "भी" आदेश होता है। इस प्रकार "भी" वृत्तिधातुत्व स्थानिवत्वेन "भी" इस आदेश में चला आयेगा। इस प्रकार यहाँ इयङ् सुलभ ही है।

"स्वाश्व + ईरिन्" इस स्थिति में वृद्धि की आपत्ति दी गई थी वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ स्व के स्थान पर "स्वा" आदेश, "अश्व" के स्थान पर "आश्व" आदेश तथा "स्व-अश्व" के स्थान पर "स्वाश्व" आदेश हुआ है। ऐसा आनुमानिक स्थान्यादेशभाव मानने से स्व का स्वशब्दत्व स्वा में ही आयेगा न कि "स्वाश्व" शब्द में। इस प्रकार जब "स्वाश्व" यह आदेश स्व शब्द होता ही नहीं है तब वृद्धि की आपत्ति भी यहाँ नहीं है।

स्थानिवत् सूत्र से "अन्तादिवच्च" को गतार्थ मानने पर एक समस्या रह जाती है—"उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्" इस वार्तिक की। इस सम्बन्ध में प्राचीनों की ओर से कहा जाता है कि उभयतः आश्रयण में स्थानिवत् सूत्र से क्रियमाण स्थानिवद्भाव का ही निषेध होता है, जिससे "अभीयात्" प्रयोग में ह्रस्व की आपत्ति नहीं है। साथ ही "अचः परस्मिन्" सूत्र से प्राप्त स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता है, जिससे "प्लायते" प्रयोग की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार सारी समस्याओं का समाधान इस पक्ष के द्वारा हो जाने से "अन्तादिवच्च" सूत्र को स्थानिवत् सूत्र से गतार्थ मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

निर्देशादिति। न च 'कर्त्तरि चर्षी'त्यादौ गुणस्य पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयाश्रितत्वेन बहिरङ्गत्वाद्रेफाभावेन न विसर्ग इति वाच्यम्; गुणस्येव पदद्वयसम्बन्धिरेफखरात्मक-वर्णद्वयाश्रितत्वेन विसर्गस्यापि तत्त्वात्। परनिमित्तकत्वमप्युभयोः समम्। किञ्च कार्यकालपक्षे त्रिपाद्यां तदुपस्थितावपि पूर्वं प्रति परस्यासिद्धत्वादन्तरङ्गाभावेन पूर्वस्यान्तरङ्गनिरूपितबहिरङ्गत्वाभावात्कथं तस्यासिद्धत्वप्रतिपादनम्? न चानया पूर्वस्यासिद्धत्वादभावेन तं प्रति परासिद्धत्वं 'पूर्वत्रे'त्यनेन वक्तुमशक्यमिति वाच्यम्। एवं हि विनिगमनाविरहादुभयोरप्यप्रवृत्तौ विसर्गो दुर्वारः। एवञ्च विरोधात्कार्यकालपक्षेऽपि तदनुपस्थितिरेव त्रिपादीस्थेऽन्तरङ्गे उचिता। अत एव विसर्जनीयसूत्रे भाष्ये इमामेव युक्तिमुक्त्वा—'अयुक्तोऽयं परिहारो न वा

बहिरङ्गलक्षणत्वादि'तीत्युक्तम्। एवञ्च तत्र तत्र वचनान्येव कार्याणि, ज्ञापकानुसरणं वा कर्तव्यम्। अत एव 'निगाल्यते' इत्यादौ लत्वाद्यर्थं 'तस्य दोष' इति वचनमेवारब्धम्, अन्यथाऽन्तरङ्गत्वाण्णिलोपात्पूर्वं वैकल्पिकलत्वे—चक्रयत्र माषवपनीत्यादौ बहिरङ्गासिद्धत्वेन च सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव।

"प्रार्च्छति" प्रयोग में वृद्धि एकादेश करने के बाद "अन्तादिवच्च" सूत्र से पूर्वान्तवद्भाव के द्वारा पूर्वस्थानिघटित समुदाय "प्र" वृत्ति पदत्व को एकादेश "आर्" से विशिष्ट "प्रार्" इस अंश में लाने पर पदान्त रेफ को 'खरवसानयोः" सूत्र से विसर्ग की प्राप्ति होती है। इस दोष को दूर करने के लिए कौमुदीकार ने कहा है कि "उभयथर्क्षु:" तथा "कर्तरि चर्षि" इत्यादि पाणिनि के निर्देशों से विदित होता है कि पूर्वान्तवद्भाव से रेफ को पदान्त बना कर उसे विसर्ग नहीं किया जाता। अन्यथा उक्त पाणिनि-निर्देशों में भी विसर्ग की आपत्ति होने लगेगी।

यहाँ शंका होती है कि "चर्षि:" इस पद में "आद्गुणः" से गुण हुआ है। यह गुण "च + ऋषि" इस स्थिति में पदद्वयसम्बन्धी तथा वर्णद्वयनिमित्तक होने के कारण बहिरंग है। इसकी अपेक्षा "खरवसानयोः" का विसर्ग अन्तरंग है। ऐसी स्थिति में अन्तरंगपरिभाषा के द्वारा विसर्ग की कर्त्तव्यता में गुण असिद्ध हो जायेगा तो विसर्ग स्वयमेव प्राप्त नहीं है। इस प्रकार "चर्षि" यह निर्देश जब अनुपपन्न नहीं है तब उसके द्वारा "प्रार्च्छति" प्रयोग में विसर्ग का वारण करना उपयुक्त नहीं है।

इस शंका के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि गुण की भाँति विसर्ग भी पदद्वय-सम्बन्धी होने तथा रेफ और खर इन दो वर्णों की अपेक्षा रखने के कारण गुण के प्रति अन्तरंग नहीं कहा जा सकता है, किन्तु उसमें भी (विसर्ग में भी) तत्त्वात् = बहिरंगत्वात् अर्थात् जैसा बहिरंगत्व गुण में है वैसा ही बहिरंगत्व विसर्ग में भी है। परनिमित्तक होने से गुण को बहिरंग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जैसी परनिमित्तकता गुण की है वैसी ही विसर्ग में भी है। दूसरी बात यह है कि अन्तरंग परिभाषा जो "वाह ऊठ्" के ऊठ् ग्रहण से ज्ञापित होने के कारण सपादसप्ताध्यायी है, उसकी प्रवृत्ति त्रिपादी में यथोद्देश पक्ष में होती ही नहीं है। यहाँ विसर्ग-विधायक "खरवसानयोः" (८।३।१५) सूत्र त्रिपादी है। यदि कहा जाय कि यथोद्देश पक्ष में त्रिपादी में प्रवृत्ति न होने पर भी कार्यकाल पक्ष में तो त्रिपादी में अन्तरंग परिभाषा की प्रवृत्ति होती ही है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि कार्यकाल पक्ष में त्रिपादी में अन्तरंग परिभाषा की उपस्थिति होने पर भी "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र से पूर्वसूत्र "आद्गुणः" (६।१।८७) के प्रति परशास्त्र विसर्गविधायक "खरवसानयोः" (८।३।१५) असिद्ध है। ऐसी स्थिति में पूर्वस्य = "आद्गुणः" सूत्र में अन्तरंग "खरवसानयोः" सूत्र निरूपित बहिरंगत्व भी नहीं है तब तस्य = पूर्व बहिरंगशास्त्र गुणविधायक सूत्र के असिद्धत्व का प्रतिपादन बहिरंग परिभाषा से कैसे किया जा सकता है? सारांश यह हुआ कि "चर्षि:" इस निर्देश में गुण असिद्ध नहीं हो सकता है। फलस्वरूप वहाँ विसर्ग होना चाहिए, किन्तु पाणिनि ने विसर्ग नहीं किया है। इसलिए इस निर्देश से यही समझते हैं कि अन्तवद्भाव करके पदान्त रेफ को विसर्ग नहीं होता है।

उपर्युक्त बातों में अब एक यह शंका की जा रही है कि अनया = बहिरंग परिभाषा से विसर्ग के प्रति गुणशास्त्र असिद्ध है। यह असिद्ध गुणशास्त्र "पूर्वत्रासिद्धम्" से पूर्वपदेन

गृहीत नहीं हो सकता है। गुण पूर्व है और विसर्ग पर है, यह बात "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र नहीं कह सकता है। ऐसी स्थिति में तं प्रति = पूर्वगुणशास्त्र के प्रति पर-विसर्गशास्त्र का असिद्धत्व नहीं कहा जा सकता है। इसलिए उपर्युक्त बात कि विसर्ग के प्रति गुण असिद्ध नहीं होता है, संगत नहीं है।

इस शंका के उत्तर में नागेश भट्ट कह रहे हैं कि "चर्षि" इत्यादि स्थलों में बहिरंग परिभाषा और "पूर्वत्रासिद्धम्" दोनों की साथ ही उपस्थिति होती है। एक के द्वारा विसर्ग की बलवत्ता बोधित होती है तो दूसरे के द्वारा गुण की बलवत्ता बोधित होती है। ऐसी स्थिति में किसी के भी कार्य के होने की स्थिति नहीं है, क्योंकि कोई विनिगमक नहीं है कि यही कार्य हो और यह न हो। ऐसी स्थिति में विनिगमनाविरह से दोनों की यहाँ अप्रवृत्ति होती है। जब किसी की भी प्रवृति नहीं हुई तब तो पूर्वान्तवद्भाव से यहाँ विसर्ग दुर्वार है, किन्तु पाणिनि ने ऐसा ही निर्देश किया है; इसलिए निर्देशसामर्थ्यात् यही समझना चाहिए कि अन्तवद्भाव से पदान्त रेफ को विसर्ग नहीं होता है।

दूसरी बात यह है कि "चर्षि" आदि प्रयोगों में जब दोनों की साथ ही उपस्थिति होती है किन्तु विनिगमक के अभाव में जब किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होती है तो इस विरोध के परिहार के लिए यही मानना उचित है कि कार्यकाल पक्ष में भी बहिरंग परिभाषा की त्रिपादीस्थ अन्तरंग में प्रवृत्ति नहीं होती है।

अत एव = कार्यकालपक्ष में भी त्रिपादीस्थ अन्तरंग में बहिरंग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है—ऐसी स्वीकार करने से ही, विसर्जनीयसूत्रभाष्ये = विसर्गविधायक "खरवसानयोः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने इमामेव = 'एवं हि' शब्द से ऊपर जो कह आये हैं कि विनिगमना-विरह के कारण किसी की भी प्रवृत्ति "चर्षिः" जैसे स्थानों पर नहीं होगी, इस युक्ति को भी कह कर "नार्कुटः" प्रयोग में विसर्ग के वारण के लिए कहा—"अयुक्तोऽयं परिहारो बहिरङ्ग-लक्षणत्वात्" अर्थात् विसर्ग के प्रति वृद्धि बहिरंग है, इसलिए वह असिद्ध हो जायेगी जिससे रेफ को विसर्ग नहीं होगा, ऐसा परिहार अयुक्त है; क्योंकि बहिरंग परिभाषा और "पूर्वत्रासिद्धम्" दोनों की साथ ही उपस्थिति होने पर विनिगमनाविरह से किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। दूसरी बात यह है कि "इमामेव" इस पद में आया हुआ एवकार अपि के अर्थ में है। अर्थात् इस युक्ति को भी भाष्यकार ने कहा, साथ ही इस बात की ओर भी संकेत किया कि "पूर्वत्रासिद्धम्" के द्वारा वृद्धि के प्रति परशास्त्र विसर्गविधायक "खरवसानयोः" असिद्ध है। इसलिए अन्तरंग के अभाव में तन्निरूपित बहिरंगत्व का भी अभाव "तद्धितेष्वचामादेः" (७।२।११७) सूत्र में होने के कारण भी वह असिद्ध नहीं होगा। इसलिए "नार्कुटः" इत्यादि प्रयोगों में दोषवारण के लिए "विसर्जनीयोऽनुत्तरपदे" आदि वचन करने ही चाहिए। उत्तरपद पर में रहने पर पदान्त रेफ को विसर्ग नहीं होता है। अथवा तत्तत् स्थलों पर विभिन्न वचनों का पाठ करने में गौरव हो रहा है, इसलिए "उभयथर्क्षु कर्तरि चर्षि" इत्यादि निर्देशों के द्वारा अन्तवद्भाव से पदान्तरेफ को विसर्ग नहीं होता, ऐसे ज्ञापक का अनुसरण करना चाहिए।

अत एव = कार्यकालपक्ष में भी त्रिपादी में बहिरंग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है, इस बात को स्वीकार करने से ही "निगाल्यते" आदि प्रयोगों में "अचि विभाषा" आदि सूत्रों से

लत्व आदि की सिद्ध के लिए "तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु" इस वचन का आरम्भ किया गया। इस बात का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—भाष्यकार ने "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" अर्थात् त्रैपादिक कार्य करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता, इस वार्तिक को स्वीकार करके "न पदान्त" सूत्र में वरे, यलोप और स्वर ग्रहण को छोड़ कर जितने त्रैपादिक कार्य द्विर्वचनादि हैं उनके लिए सूत्र में किये गये द्विर्वचनादि ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया है। क्योंकि उपर्युक्त वार्तिक के द्वारा ही जब इन स्थानों में स्थानिवद्भाव नहीं हो रहा है तो उसके निषेध के लिए सूत्र में द्विर्वचनादि ग्रहण की क्या आवश्यकता है? किन्तु "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" को स्वीकार करने पर निम्नलिखित समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं। पहली बात तो यह है कि "चक्र्यत्र" प्रयोग में जब "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च"(८।२।२९) सूत्र से संयोगादि ककार का लोप प्राप्त होगा तब "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा। परिणामस्वरूप ककार का लोप होने लगेगा। इसी प्रकार निपूर्वक "गृ" धातु से णिच्-वृद्धि करने पर "निगारि" धातु से कर्मवाच्य में लट् लकार लाकर यक् कर के णिलोप करने पर "निगार्-यते" इस स्थिति में "अचि विभाषा" (८।२।२१) सूत्र से अच् पर में मान कर लत्व करने की स्थिति में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा। फलस्वरूप लुप्त णिच् के न आने के कारण लत्व नहीं होगा। इसी प्रकार वप् धातु से ल्युट् प्रत्यय, अनादेश, उगित्वात् ङीप्, "यस्येति" च सूत्र से नकारोत्तर अकार का लोप हो जाने पर 'माषस्य वपनी माषवपनी' इस प्रयोग में जब "प्रातिपदिकान्तनुम्" सूत्र से नकार को णकार करने चलते हैं तब लुप्त अकार का स्थानिवद्भाव हो जाने से नकार प्रातिपदिकान्त नहीं कहा जाता है। फलस्वरूप उसे णत्व नहीं होता है, किन्तु अब उपर्युक्त वार्तिक से जब स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा तब तो नकार प्रातिपदिकान्त कहा जायेगा और उसे णत्व की प्राप्ति हो जाती है।

इन सभी दोषों को दूर करने के लिए भाष्यकार ने "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" इस वचन के बाधक वचन "तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु" का आरम्भ किया। संयोगादिलोप, लत्व और णत्व करने में "पूर्वत्रासिद्धे" इस वार्तिक का दोष अर्थात् बाध हो जाता है। यहाँ विचार यह करना है कि यदि कार्यकाल पक्ष में त्रिपादी में बहिरंग परिभाषा की प्रवृत्ति होती तो अन्तरंग संयोगादि लोप के प्रति यण् असिद्ध हो जाता और "चक्र्यत्र" में ककार के लोप की प्राप्ति ही नहीं होती। इसी प्रकार "निगाल्यते" प्रयोग में अन्तर्भूत निमित्तकत्वेन अन्तरंग लत्व के प्रति बहिरंग णिलोप पहले ही असिद्ध हो जाता और लत्व की सिद्धि हो ही जाती। इसी प्रकार "माषवपनी" प्रयोग में बहिरंग अल्लोप की असिद्धि हो जाने से नकार का णत्वाभाव स्वयमेव सिद्ध हो जाता तो "तस्य दोषः" इस वचन के आरम्भ करने की क्या आवश्यकता थी? इसलिए उक्त वचन के आरम्भ से यही निष्कर्ष निकलता है कि कार्यकाल पक्ष में भी त्रैपादिक में बहिरंग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है।

यत्तु लक्ष्यानुरोधात्कार्यकालपक्षे उपस्थितयाऽन्तरङ्गपरिभाषयाऽऽनुमानिक्या प्रत्यक्षसिद्धस्यापि 'पूर्वत्रे'त्यस्य बाध इति, तन्न लक्षणैकचक्षुषामादरणीयम्। अत एव 'उरणि'ति सूत्रे—'रेफस्य पूर्वान्तवत्त्वे विसर्जनीयप्रतिषेधो वक्तव्यो—नार्कुटाद्यर्थमि'त्युक्तं भाष्ये इति दिक्।

कुछ लोगों का कहना है कि लक्ष्य के अनुरोध से कार्यकाल पक्ष में बहिरंग परिभाषा त्रैपादिक अन्तरंग में उपस्थित होती है। उन स्थलों में बहिरंगशास्त्र यद्यपि सपादसप्ताध्यायी है, इसलिए "पूर्वत्र" सूत्र से उसके प्रति त्रैपादिक की ही असिद्धि होनी चाहिए, तथापि आनुमानिक (ज्ञापक सिद्ध) बहिरंग परिभाषा से प्रत्यक्ष सिद्ध "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र का बाध हो जाता है, इसलिए त्रिपादी में कार्यकाल पक्ष में इसकी प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि "पूर्वत्रासिद्धम्" का बाध हो जाने से त्रैपादिक सूत्र अन्तरंग शब्द से गृहीत हो जायेगा।

नागेश भट्ट इस बात का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि यह उपर्युक्त बात लक्षणैकचक्षुष्क व्यक्तियों के द्वारा आदरणीय नहीं है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति तो लक्षण के द्वारा ही लक्ष्य के साधुत्व का निर्णय करते हैं न कि लक्ष्य को देखकर लक्षण की प्रवृत्ति करते हैं।

अतएव = कार्यकाल पक्ष में भी त्रिपादी में बहिरंग परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है—इस बात को स्वीकार करने से ही भाष्यकार ने "उरण् रपरः" सूत्र के भाष्य में कहा कि "नार्कुटः" प्रयोग में पूर्वान्तवद्भाव से रेफ को पदान्त मान कर प्राप्त विसर्ग के वारण के लिए "विसर्जनीयोऽनुत्तरपदे" अर्थात् उत्तरपद पर में रहने पर विसर्ग नहीं होता है, इस प्रकार विसर्ग का प्रतिषेध कहना चाहिए। यदि त्रिपादी में अन्तरंग परिभाषा की प्रवृत्ति होती तो इस परिभाषा के द्वारा ही अन्तरंग विसर्ग के प्रति बहिरंग वृद्धि असिद्ध हो जाती और रेफ को विसर्ग नहीं होता। ऐसी स्थिति में भाष्यकार का यह कहना कि विसर्ग के वारण के लिए प्रतिषेधवचन कहना चाहिए, असंगत हो जाता।

उपसर्गेणैवेति। तत्सञ्ज्ञायाः क्रियायोगनिमित्तत्वादित्यर्थः। यदर्थे क्रियारूपे प्रादीनामन्वयस्तं प्रत्येवोपसर्गत्वमिति भावः। प्रकृते च प्रत्यासत्त्या ऋकारादिनिमित्तोपसर्गग्रहणात्प्रगतः ऋद्धः—प्रर्द्ध इत्यत्र न। पुनरिति। प्रकृतसूत्रे भाष्ये स्फुटमेतत्।

"उपसर्गादृति धातौ" सूत्र में धातुग्रहण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उपसर्ग संज्ञा का विधान क्रिया के योग में ही होता है और क्रिया का वाचक धातु होता है। इस प्रकार धातु के बिना जब उपसर्ग संज्ञा ही नहीं होगी तब उपसर्ग से ही धातु का आक्षेप उसी प्रकार हो जायेगा जिस प्रकार पीनत्व से रात्रिभोजन का आक्षेप होता है। ऐसी स्थिति में जब कि उपसर्ग से ही धातु का आक्षेप सम्भव है तब इस सूत्र में "धातौ" इस पद की क्या आवश्यकता है? यदि कहा जाय कि आक्षिप्त का शाब्दबोध में भान नहीं होता है, इसीलिए घट पद सुनने से आश्रयतया आक्षिप्त आकाश का शाब्दबोध नहीं होता, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वैयाकरण सिद्धान्त में अर्थापत्ति से आक्षिप्त का शाब्दबोध में भान होता ही है। इसीलिए तत्तद् निर्देशों से ज्ञापित अर्थ का शाब्दबोध में भान होता ही है।

इसी सन्दर्भ में दीक्षितजी ने कौमुदी में कहा है कि उपसर्ग से ही धातु का आक्षेप सम्भव है, क्योंकि उपसर्ग संज्ञा क्रियायोगनिमित्तक है। ऐसी स्थिति में "उपसर्गादृति धातौ" सूत्र में "धातौ" इस पद की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व शेखरकार कह रहे हैं कि "उपसर्गाः क्रियायोगे" इस उपसर्गसंज्ञाविधायक सूत्र की जगह "उपसर्गाः क्रियायाम्" यदि ऐसा न्यास कर दिया गया होता तो कार्य चल सकता था तो ऐसी स्थिति में सूत्र में किये गये

योगग्रहण के सामर्थ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस क्रियारूप अर्थ में प्रादि का अन्वय होता है, उसी अर्थ के प्रति प्रादि की उपसर्ग संज्ञा होती है। "उपसर्गाः क्रियायोगे" सूत्र का ऐसा अर्थ करने का परिणाम यह होता है कि प्रस्तुत स्थल "उपसर्गादृति धातौ" सूत्र में प्रत्यासत्त्या = उपस्थितत्वात् ऋकारादि धातुनिरूपित उपसर्ग का ही ग्रहण होता है। फलस्वरूप "प्रगतः ऋद्धः प्रर्द्धः" इस प्रयोग में इस सूत्र से वृद्धि नहीं हुई, किन्तु गुण होकर "प्रर्द्धः" ऐसा प्रयोग बना। यहाँ "प्र" शब्द में जो उपसर्गत्व है वह गम् धातुनिरूपित है न कि "ऋध्" धातुनिरूपित उपसर्गत्व है। इसलिए यहाँ वृद्धि नहीं हुई।

अब इस बात का उत्तर कि जब उपसर्ग से ही धातु का लाभ हो जाता है तब इस सूत्र में "धातौ" पद की क्या आवश्यकता है? कौमुदी में कहा है कि "धातौ" यह पद योगविभाग के द्वारा पुनः वृद्धिविधान के लिए है। तात्पर्य यह है कि "उपसर्गादृति" यह एक सूत्र होगा और "धातौ" यह दूसरा सूत्र होगा। पूर्वसूत्र से ऋकारादि धात्ववयव अच् पर में रहने पर वृद्धि का विधान होगा। 'धातौ' योग में पूर्वयोग की अनुवृत्ति लाकर वही कार्य किया जायेगा जो कार्य पूर्वयोग से हो रहा है। ऐसी स्थिति में "धातौ" योग की कोई आवश्यकता न होने के कारण यह व्यर्थ होकर नियमार्थक होता है कि "उपसर्ग से ऋकारादि धातु पर में रहने पर वृद्धि ही होती है, दूसरा कार्य नहीं होता है"। इसलिए "प्र + ऋच्छति" इस स्थिति में "ऋत्यकः" सूत्र से पाक्षिक भी प्रकृतिभाव यहाँ नहीं होता है।

शेखरकार कह रहे हैं कि प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में यह बात स्पष्ट है।

सुब्धाताविति। सुबन्तप्रकृतिके धातावित्यर्थः। तुल्यास्यसूत्रे उपार्कारीयतीत्या-देरेतदुदाहरणत्वस्य भाष्ये उक्तत्वात्। शास्त्रे सुबन्तस्य धातुप्रकृतित्वेनोक्ततया तत्प्रकृतिके इति व्याख्यानमेवोचितम्। ऋषभस्य समीपमुपर्षभं, तदिच्छति उपर्षभीयतीत्यत्र तु न वृद्धिः, उपेत्यस्यानुपसर्गत्वात्। अत्रापि धातावित्यनुवर्त्य वाक्यभेदेन व्याख्येयं, तेन सुब्धातावपि न प्रकृतिभावः।

"वा सुप्यापिशलेः" इस सूत्र में "उपसर्गादृति धातौ" इस सम्पूर्ण सूत्र की तथा "आद् गुणः" से "आत्" पद की और "वृद्धिरेचि" सूत्र से वृद्धि पद की अनुवृत्ति आती है। 'आत्' पद "उपसर्गात्" का विशेषण होता है। "ऋति" यह अल्बोधक सप्तम्यन्त पद "धातौ" इस पद का विशेषण होता है। सप्तम्यन्त विशेषण होने के कारण तदादिविधि होती है। इस प्रकार अन्वय करके कौमुदीकार ने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है—"अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि सुप्धातु पर में रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है"।

नागेशभट्ट ने "सुब्धातौ" इस पद का "सुबन्त है प्रकृति जिसकी ऐसे ऋकारादि धातु पर में रहने पर वृद्धि होती है" ऐसा अर्थ किया है, किन्तु यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है; क्योंकि सुबन्तप्रकृतिकत्व तो क्यच् में है न कि धातु में है। इसलिए "सुब्धातौ" पद का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—सुबन्तप्रकृतिक जो प्रत्ययान्त धातु, उसे पर में रहने पर वृद्धि एकादेश होता है।

अपने किये हुए अर्थ में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए वे कह रहे हैं कि "तुल्यास्य" सूत्र के भाष्य में प्रस्तुत सूत्र का उदाहरण "उपार्कारीयति" इत्यादि प्रयोग दिया गया है। यहाँ = "ऋकारमिच्छति" इस विग्रह में सुबन्त ऋकार शब्द से क्यच् प्रत्यय किया गया है। शास्त्रे = "सुप आत्मनः क्यच्" इस सूत्र में सुबन्त को धातुप्रकृतिक अर्थात् धातुसंज्ञाप्रयोजक प्रत्यय क्यच् की प्रकृति बताया गया है, इसलिए "सुब्धातौ" पद का "तत्प्रकृतिक = सुबन्तप्रकृतिक जो क्यजादि प्रत्यय, तदन्त धातु पर में रहने पर" ऐसा अर्थ करना चाहिए।

"ऋषभस्य समीपम्" इस विग्रह में अव्ययीभाव समास के द्वारा "उपर्षभम्" प्रयोग सिद्ध होता है। इसके बाद "उपर्षभम् इच्छति" इस विग्रह में क्यच् प्रत्यय करने पर "उपर्षभीयति" प्रयोग बनता है। यहाँ वृद्धि नहीं होती है, क्योंकि उप का सम्बन्ध ऋषभ के साथ है और ऋषभ शब्द क्रियावाची नहीं है और क्रियावाचकत्वाभावात् उससे सम्बद्ध "उप" यह उपसर्ग-संज्ञक ही नहीं है।

इस सूत्र में भी अनुवर्तमान "धातौ" यह पद योगविभाग से पुनः वृद्धिविधान के लिए है। इसका परिणाम यह होता है कि जिस प्रकार "प्र + ऋच्छति" इस स्थिति में "ऋत्यकः" सूत्र से प्रकृतिभाव नहीं होता, उसी प्रकार "उप + ऋकारीयति" इस स्थिति में पाक्षिक प्रकृतिभाव नामधातु में भी नहीं होता है।

प्रार्षभीयतीति। अत्र 'शरोऽची'त्यस्यानुपन्यासेन व्यञ्जनात्परस्यैकस्यानेकस्य वोच्चारणे विशेषाभावेन 'अचो रहाभ्यामि'त्यस्य तन्निषेधस्य चानावश्यकता सूचिता।

"प्र + ऋषभीयति" इस स्थिति में "वा सुप्यापिशलेः" इस सूत्र से पाक्षिक वृद्धि करने पर "प्रार्-षभीयति" इस स्थिति में "अचो रहाभ्याम्" सूत्र से षकार को द्वित्व प्राप्त रहता है। इस प्राप्त द्वित्व का निषेध "शरोऽचि" सूत्र से हो जाता है, ऐसा कुछ लोगों का कहना है। शेखरकार इस बात से अपनी असहमति बताते हुए कह रहे हैं कि व्यञ्जन से पर में एक या अनेक व्यञ्जन के उच्चारण में कोई विशेषता नहीं है। कारण यह है कि अच्व्यतिरिक्त व्यञ्जन का कोई कालान्तर नहीं होता है। इस कथन से यह सूचित होता है कि "अचो रहाभ्याम्" और उसके निषेधक "शरोऽचि" इन सूत्रों की आवश्यकता नहीं है।

वाक्यभेदेनेति। इदं वृत्तौ स्पष्टं, भाष्ये तु न दृश्यते। 'एवे चे'ति वार्तिकं सूत्रे धातावित्यनुवृत्तेरारब्धम्। अवधारणं—नियमः। एवशब्दस्य द्योत्यमर्थद्वयम्—अवधारणमसम्भवरूपानवक्लृप्त्यादि च, तयोरन्त्योऽत्र एवशब्दार्थ इत्यभिप्रेत्याह—अनवक्लृप्तावेवेति। क्वेव भोक्ष्यसे? इत्युक्ते—स्थलसङ्कीर्णत्वादिना नास्ति सम्भवस्तव भोजनस्येति गम्यते।

"एङि पररूपम्" इस सूत्र में "वा सुपि" की अनुवृत्ति होती है। अनुवृत्त "वा सुपि" का वाक्यभेद करके व्याख्या की जाती है। वाक्यभेद का तात्पर्य यह है कि "एङि पररूपम्" यह पहला वाक्य होता है। इसका अर्थ होता है कि अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि धातु पर में रहने पर पररूप एकादेश होता है। इसका उदाहरण प्रेजते इत्यादि प्रयोग हैं। दूसरा वाक्य है "वा

सुपि"। इस द्वितीय वाक्य में "एङि पररूपम्" की अनुवृत्ति होती है। इसका अर्थ होता है कि उक्त पररूप के विषय में यदि सुब्धातु पर में रहे तो पररूप विकल्प से होता है। इसका परिणाम यह होता है कि एङादि सुब्धातु पर में रहने पर "उप + एडकीयति" इत्यादि स्थलों में पररूप विकल्प से होता है, जिससे "उपेडकीयति" "उपैडकीयति" ये दो रूप बनते हैं। यह वाक्यभेद का फल है।

यहाँ यदि वाक्यभेद नहीं किये होते तो एक वाक्य करने पर सूत्रार्थ ऐसा होता है कि अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि सुब्धातु पर में रहने पर पररूप एकादेश विकल्प से होता है। ऐसा अर्थ करने का परिणाम यह होता कि "प्रेजते", "उपोषति" जैसे प्रयोगों में एङादि सुप् धातु पर में न होने के कारण पररूप ही नहीं होता। इसलिए वाक्यभेद से व्याख्यान किया गया है। किन्तु इस प्रकार का वाक्यभेद वृत्तिग्रन्थ में ही देखा जाता है। भाष्य में यह वाक्यभेद नहीं देखा जाता है। भाष्य में वाक्यभेद की अनुपलब्धि से सूचित होता है कि वाक्यभेद की बात चिन्त्य है।

"एङि पररूपम्" इस सूत्र में "धातौ" इस पद की अनुवृत्ति होती है, इसलिए एङादि धातु पर में रहने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति होने के कारण "एव" शब्द पर में रहने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी; इस बात को दृष्टिगत करके "एवे चानियोगे" यह वार्तिक बनाया गया। "अवर्ण से एवघटक एङ् पर में रहने पर पूर्वपर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है" यह वार्तिक का अर्थ है। वार्तिक में जो 'एव' शब्द आया है, उसका अर्थ है अवधारण। अवधारण का अर्थ है अन्ययोगव्यवच्छेद अर्थात् नियम। अन्ययोग का जहाँ अभाव होता है वहाँ किसी न किसी के सम्बन्ध का निश्चय रहता है। इस प्रकार अनियोग अर्थात् अनिश्चय अर्थ जहाँ द्योतित रहेगा वहीं इस वार्तिक की प्रवृत्ति होती है। एव शब्द द्योतक है। इसके दो द्योत्य अर्थ होते हैं—अवधारण और असम्भव रूप अनवक्लृप्ति। इन दोनों में अन्त्य अर्थात् अनवक्लृप्ति रूप अर्थ यहाँ एव शब्द का अभिप्रेत है। "क्वेव भोक्ष्यसे" इस वाक्यप्रयोग से विदित होता है कि स्थान के संकीर्ण होने के कारण आपका भोजन सम्भव नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि यहाँ पर एवकार अनवक्लृप्ति अर्थ में है।

अचोऽन्त्या। 'अच' इति निर्धारणे षष्ठी। अन्ते भवोऽन्त्यः। 'अन्त्यादी'ति गमकत्वाद्बहुव्रीहिः। मार्तण्ड इति। मृतण्डादागतो मार्तण्डः। अण्विषये एव पररूपम्। ननु मार्तशब्दान्त्याच्तकाराकारः, स आदिर्यस्येत्यन्यपदार्थो दुर्लभ इति चेन्न। एकस्मिन्नेव समुदायरूपत्वारोपेण तदवयवत्वारोपेण च तदुपपत्तेः। एतन्मूलकमेव 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्नि'ति पठ्यते इत्यलम्।

"अचोऽन्त्यादि टि" इस सूत्रघटक "अचः" इस पद में निर्धारण अर्थ में षष्ठी विभक्ति हुई है। शंका होती है कि निर्धारण तो अनेक की अपेक्षा से होता है तो ऐसी स्थिति में "अचः" इस पद में एकवचन विभक्ति क्यों आई है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि जातिगत एकत्व के आधार पर यहाँ एकवचन हुआ है। यहाँ का अच् पद तो अच्त्व-जात्यवच्छिन्न अनेक अचों का वाचक है। इसीलिए इसकी वृत्ति में "अचां मध्ये" ऐसा कहा गया है। अन्त शब्द से

"अन्ते भवः" इस अर्थ में यत् प्रत्यय करके अन्त्य शब्द बनाया गया है। 'अन्त्यः आदिर्यस्य तत् समुदायरूपम् अन्त्यादि' इस प्रकार यहाँ बहुव्रीहि समास हुआ है। यहाँ शंका होती है कि "अचः" इस पद का अन्त्यत्व में अन्वय होने के कारण अन्त्य पद अच् पद से सापेक्ष है और जहाँ सापेक्ष की स्थिति होती है वहाँ "सापेक्षमसमर्थवत्" इस नियम के अनुसार सामर्थ्याभाव रहता है। इस प्रकार सामर्थ्याभाव होने के कारण "अन्त्यादि" पद में बहुव्रीहि समास नहीं होना चाहिए? इस शंका का उत्तर देते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि यहाँ गमकत्वात् बहुव्रीहि समास हुआ है। "गमकत्वात्" का अर्थ है—नित्य साकांक्ष होने के कारण। जहाँ पदार्थों की नित्य साकांक्षता होती है वहाँ सापेक्ष होने पर भी असमर्थता नहीं होती है। "देवदत्तस्य गुरुकुलम्" इस वाक्य में गुरु पद देवदत्त के साथ नित्य साकांक्ष है तथापि कुल पद के साथ उसका समास हुआ ही है। इसी प्रकार यहाँ अन्त्य पद का अच् पद सापेक्ष होने पर भी आदि पद के साथ समास होने में काई बाधा नहीं है।

शकन्ध्वादि गण आकृतिगण है। यहाँ आकृतिगण का अर्थ है कि पररूपविधायक शास्त्र का विषय न होने पर भी पररूपघटित आकृति से गण्य = बोध्य हो वह आकृतिगण है। "मार्तण्ड" शब्द शकन्ध्वादि गण में पठित न होने के कारण पररूपविधायक प्रस्तुत सूत्र का विषय नहीं है, किन्तु इसके स्वरूप की निष्पत्ति पररूप के द्वारा ही सम्पाद्य है, इसलिए यह आकृतिगण है। इस प्रकार "मार्तण्डः" प्रयोग में कल्पित शकन्ध्वादित्व मान कर पररूप कर लिया जाता है। "मृतण्डादागतः मार्तण्डः" इस विग्रह में अण् की विषयता में ही अर्थात् अण् आने से पहले ही "मृत + अण्ड" इस स्थिति में पररूप हो जाता है। उसके बाद मृतण्ड शब्द से "तत आगतः" सूत्र से अण् प्रत्यय और आदिवृद्धि करके "मार्तण्ड" शब्द की सिद्धि की जाती है।

यहाँ शंका होती है कि "मार्त" शब्द का अन्त्य अच् तकारोत्तरवर्ती अकार है। वह अन्त्य अच् जिसके आदि में हो उस समुदाय की टिसंज्ञा करणीय है, किन्तु वह अन्त्य अच् तो किसी के आदि में नहीं है। इस प्रकार अन्त्य पदार्थ के दुर्लभ होने के कारण टिसंज्ञा कैसे होगी? इस शंका के समाधान में शेखरकार कह रहे हैं कि तकारोत्तरवर्ती अकार जो असहाय है अर्थात् उसे आदि में कहने वाला कोई वर्णान्तर नहीं है, उस अकार में ही समुदायत्व का आरोप तथा उसी में तदवयवत्व का आरोप करके उसे ही अन्त्यादिघटित समुदाय मान कर टि संज्ञा कर ली जाती है। जिस प्रकार एक ही पुत्र में ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्वादि व्यवहार किया जाता है उसी प्रकार यहाँ व्यपदेशिवद्भाव के द्वारा—तदुपपत्तेः = टिसंज्ञा की उपपत्ति हो जाती है। इसी तात्पर्य से "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" यह परिभाषा पढी गई है।

वस्तुत आरोपस्य नात्रोपयोगः, 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प' इति पतञ्जल्युक्तेरर्थाभावेऽपि विकल्पात्मकं ज्ञानमत्र, तदपि लक्ष्यानुरोधाच्छास्त्रप्रवृत्त्युपयोगीति बोद्ध्यम्। 'पतञ्जलिरि'ति तु—अञ्जलेः पतित इति विग्रहे मयूरव्यंसकादित्वात्समासे तत्रैव निपातनादितशब्दस्य लोपे पृषोदरादित्वाद्वा तल्लोपे साधु। गोनर्ददेशे कस्यचिदृषेरञ्जलेः सन्ध्याकरणसमये पतित इत्यैतिह्यात्।

अपना मत प्रस्तुत करते हुए शेखरकार का कहना है कि वास्तव में यहाँ आरोप की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि एक विकल्पात्मक ज्ञान होता है जिस ज्ञान का विषय बाह्य वस्तु नहीं होती है, किन्तु उस वस्तु का बौद्धिक भान तो होता ही है। पतञ्जलि ने योगसूत्र में विकल्प की परिभाषा करते हुए कहा है कि "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" अर्थात् शब्द और ज्ञान जिसके अनुपाती अर्थात् जनक हैं और जिसके वाच्यार्थ का अस्तित्व बाह्य जगत् में नहीं है, वह ज्ञान विकल्प-ज्ञान कहा जाता है। अर्थ की अत्यन्त असत्ता होने पर भी उसका शब्दजन्य बौद्धज्ञान तो होता ही है। कहा भी गया है कि—"अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि"।

निष्कर्ष यह है कि विकल्पज्ञान के लिए वस्तु के अस्तित्व की अपेक्षा नहीं होती है। पतञ्जलि के उक्त कथन के अनुसार अत्र = इस व्याकरणशास्त्र में "मार्तण्ड" इत्यादि प्रयोगों में अर्थाभाव अर्थात् अन्त्यादिघटित समुदाय और तदवयवत्वाभाव के रहने पर भी विकल्पात्मक ज्ञान के आधार पर यहाँ टिसंज्ञा सिद्ध है। लक्ष्य के अनुरोध से तदपि = विकल्पज्ञान भी शास्त्र की प्रवृत्ति में उपयोगी होता है।

पतञ्जलि शब्द की सिद्धि का प्रकार बताते हुए कह रहे हैं कि "अञ्जलेः पतितः" इस विग्रह में "मयूरव्यंसकादित्वात्" समास तथा उसी (मयूरव्यंसकादिगण) में पाठ के कारण निपातन से पतित शब्दघटक "इत" भाग का लोप कर दिया जाता है। अथवा पृषोदरादित्वात् इत भाग का लोप करके पतञ्जलि शब्द की सिद्धि की जाती है। गोनर्द देश में सन्ध्योपासन के समय किसी ऋषि की अञ्जलि से भगवान् पतञ्जलि गिरे हुए हैं, ऐसा ऐतिह्य है। इसीलिए "अञ्जलेः पतितः" ऐसा विग्रह किया गया है।

वास्तव में पतञ्जलि शब्द का पाठ मयूरव्यंसकादिगण में मान कर उपर्युक्त गौरवग्रस्त प्रक्रिया की अपेक्षा यही लाघव है कि यह शकन्ध्वादिगण का शब्द है। ऐसी स्थिति में "पतन्तोऽञ्जलयो नमस्कार्यतया यस्मिन्" इस विग्रह में बहुव्रीहि समास करके विभक्तिलोपोपरान्त "पतत् + अञ्जलि" इस स्थिति में अत् भाग की टि संज्ञा और शकन्ध्वादित्वात् पररूप करके "पतञ्जलि" शब्द की सिद्धि की जानी चाहिए।

ओत्वोष्ठयोः। अत्र समर्थपरिभाषा नोपतिष्ठते; 'समासेऽङ्गुलेः सङ्गः' इत्यादौ समासग्रहणेन 'पदविधिरि'ति सूत्रस्वरसेन, भाष्यादिस्वारस्येन च पदत्वेन सुबन्तत्वेन वा यत्र साक्षादुद्देश्यता तत्रैवैतत्परिभाषाप्रवृत्तिस्वीकारात्। ओत्वोष्ठादिमात्रस्य पदत्वाभावात्। अवर्णादोत्वोष्ठयोरचि तद्घटितसमासे इत्यर्थाद्दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृत इति प्रयोगसिद्धिः। अन्यथा प्रत्यासत्त्यौत्वाद्युत्तरपदकसमास एव प्रवृत्त्यापत्तौ तदसङ्गतिः स्पष्टैव। ओतुर्बिडालः।

इस वार्तिक में "आत्", "अचि", "एकः पूर्वपरयोः" और "पररूपम्" इन पदों की अनुवृत्ति होती है। "समासे" इस पद में जो सप्तमी है उसका अर्थ घटकत्व है। इस प्रकार इस वार्तिक का अर्थ इस प्रकार होता है कि "समासघटक अकार से उसी समासघटक ओतु और ओष्ठशब्दावयव अच् पर में रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

यहाँ यह शंका होती है कि इस वार्तिक से विधेय जो पररूपविधि है वह पदविधि है, क्योंकि "ओत्वोष्ठयो:" इस पद को उद्देश्य बना कर यह पररूप किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में यहाँ 'समर्थः पदविधिः' इस परिभाषा की उपस्थिति होगी। परिणाम यह होगा कि यह पररूपविधि समास में ही होगी तब इस वार्तिक में "समासे" इस पद की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि जहाँ पदत्वेन अथवा सुबन्तत्वेन साक्षात् उद्देश्यता होती है, वहीं पर समर्थपरिभाषा की उपस्थिति होती है। उदाहरण के लिए समासविधि को लिया जा सकता है। समास में सर्वत्र 'सुप् सुपा' की अनुवृत्ति होने के कारण समासनिष्ठ विधेयतानिरूपित उद्देश्यता साक्षात् सुबन्तनिष्ठ है, इसलिए वहाँ समर्थ परिभाषा की उपस्थिति होती है। 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इस वार्तिक में न तो पद का उल्लेख है और न ही सुबन्त का उल्लेख है। इसलिए यहाँ समर्थ परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है।

इस उपर्युक्त तथ्य में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि "समासेऽङ्गुलेः सङ्गः" इस सूत्र में किया गया "समासे" पद ही इस बात में प्रमाण है कि जहाँ साक्षात् पदत्वेन अथवा सुबन्तत्वेन उद्देश्यता होती है, वहीं समर्थपरिभाषा की प्रवृत्ति होती है। अन्यथा "अगुंलेः" इस पद के कारण यह मूर्धन्यविधि भी पदविधि कही जाती और पदविधि के कारण समर्थ परिभाषा से समास का लाभ हो ही जाता तो पुनः इस सूत्र में "समासे" पद की क्या आवश्यकता रह जाती?

यदि कहा जाय कि "समासेऽङ्गुलेः" सूत्र में यदि समासग्रहण न करना पड़े तो यह लाघव ही होगा। इसलिए सूत्रस्थ "समासे" ग्रहण से यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ साक्षात् पदत्वावच्छिन्न या सुबन्तत्वावच्छिन्न उद्देश्यता हो वहीं "समर्थ परिभाषा" की उपस्थिति होती है, ऐसी स्थिति में उक्त तथ्य का सत्यापक प्रमाण क्या है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "पदविधि सूत्र के स्वारस्य से तथा भाष्यादि के स्वारस्य से यह बात व्यक्त होती है कि पदत्वेन अथवा सुबन्तत्वेन जहाँ साक्षात् उद्देश्यता होती है, वहीं समर्थपरिभाषा की प्रवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि जहाँ पदसंज्ञक समुदाय को उद्देश्य करके कोई विधि की जाय वही पदविधि कही जाती है और वहीं समर्थपरिभाषा की प्रवृत्ति होती है। "सुप आत्मनः क्यच्" सूत्र से विधीयमान क्यच् सुबन्त को उद्देश्य करके विधीयमान है, अतः यह पदविधि है। प्रस्तुत स्थल में जिस ओतु और ओष्ठ को उद्देश्य करके पररूप विधेय है वे दोनों निर्विभक्तिक मात्र तो पद हैं नहीं, जिससे इसे पदविधि कहा जाय। इसलिए पदविधि के अभाव में यहाँ समर्थ-परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है।

जैसा कि इस वार्तिक का अर्थ किया गया है कि समासघटक अकार से उसी समासघटक ओतु और ओष्ठ शब्दावयव अच् पर में रहने पर पररूप होता है, ऐसा अर्थ करने से "दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः" इस शिक्षावाक्यघटक "दन्त्योष्ठ्यः" इस पद की सिद्धि होती है। यहाँ "दन्ते भवः दन्त्यः, ओष्ठे भवः ओष्ठ्यः, दन्त्यश्चासौ ओष्ठ्यश्चेति दन्त्योष्ठ्यः" इस प्रकार समास हुआ है। इस समास में ओष्ठ शब्द के साथ न समास हुआ है और न ओष्ठ शब्द उत्तरपद है, किन्तु ओष्ठ्य शब्द उत्तरपद में है तथापि वार्तिक के उपर्युक्त अर्थ के अनुसार उस समासघटक ओष्ठशब्दावयव अच् (ओकार) तो पर में है ही; अतः यहाँ पररूप की सिद्धि हो जाती है।

अन्यथा = 'ओतु और ओष्ठ घटित समास में तद्घटक अच् पर में रहने पर पररूप होता है' ऐसा अर्थ स्वीकार न करने पर प्रत्यासत्त्या = उपस्थितत्वात् वार्तिक का अर्थ होता कि ओतु और ओष्ठ जिस समास में उत्तरपद में हों वहीं पररूप होता है। इस अर्थ का परिणाम यह होता कि "दन्त्योष्ठ्यः" प्रयोग की असंगति हो जाती अर्थात् यहाँ पररूप नहीं होता, क्योंकि यहाँ समास में ओष्ठ उत्तरपद में नहीं है अपितु ओष्ठ्य है। इसलिए पररूप नहीं होता। ओतु शब्द का अर्थ बिडाल है।

ओमाङोः। अत्र एङीति नानुवर्तते, तेनेषदर्थकाऽऽङा सह ऋषभशब्दस्य समासेऽद्य अर्षभ इत्यत्र पररूपेऽद्यर्षभसिद्धिः। न चात्र परत्वाद्दीर्घप्रसङ्गः, प्रतिपदविधित्वञ्च निरवकाशत्वे सत्येव बाधकत्वे प्रयोजकमिदञ्च मध्येऽपवादन्यायेनावेहीत्यादौ वृद्धेरेव बाधकं स्यादिति वाच्यम्; लक्ष्यानुरोधेनात्र बाध्यसामान्यचिन्ताश्रयणात्। अन्यत्र प्रतिपदविधित्वस्य बलवत्त्वे प्रयोजकतादर्शनेन परदीर्घात्पूर्वं पररूपप्रवृत्तेश्च।

अवर्ण से ओम् और आङ् शब्दावयव अच् पर में रहने पर यह सूत्र पररूप एकादेश करता है। यहाँ शंका होती है कि इस सूत्र में चकारग्रहण क्यों किया गया है? यदि कहा जाय कि पूर्वसूत्र 'एङि पररूपम्' (६।१।९४) सूत्र से 'एङि' पद की अनुवृत्ति के लिए चकार ग्रहण है तो इसके उत्तर में नागेश भट्ट का कहना है कि यहाँ "एङि" पद की अनुवृत्ति नहीं होती है। यदि "एङि" पद की अनुवृत्ति होती तो सूत्रार्थ इस प्रकार होता कि "अवर्ण से ओम् और आङ् शब्दावयव एङ् पर में रहने पर पररूप एकादेश होता है।" ऐसा अर्थ करने पर "ओम्"शब्दावयव एङ् के सुलभ होने पर भी आङ्शब्दावयव एङ् के न मिलने के कारण 'अद्यर्षभ' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि नहीं होती। इसलिए यहाँ "एङि" पद की अनुवृत्ति नहीं होती है। परिणाम यह होता है कि ईषद् अर्थ वाले आङ् का ऋषभ शब्द के साथ समास करके "आद्गुणः" सूत्र से गुण करने पर निष्पन्न 'अर्षभ' के पर में रहने पर "अद्य + अर्षभ" इस स्थिति में पूर्वान्तवद्भाव से गुणरूप एकादेश (अर्) में आङ्त्व का अतिदेश करके इस सूत्र से पररूप कर दिया जाता है, जिससे "अद्यर्षभः" प्रयोग की सिद्धि होती है।

हरदत्त का कहना है कि "अद्य + अर्षभ" इस स्थिति में पररूप को परत्वात् बाधकर यहाँ "अकः सवर्णे" सूत्र से दीर्घ होना चाहिए। यदि कहा जाय कि पररूप प्रतिपदविधि है इसलिए प्रतिपदविधित्वेन पररूप दीर्घ का बाधक हो जायेगा, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि निरवकाश होने पर ही प्रतिपदविधित्व बाधकता का प्रयोजक (बाधक) होता है। इसलिए प्रतिपदविधित्वेन यह दीर्घ का बाधक नहीं हो सकता। "ओमाङोश्च" के लक्ष्य "अवेहि" प्रयोग में 'एत्येधत्यूठ्सु' की कहीं प्राप्ति है तो कहीं 'अद्यर्षभ' आदि प्रयोगों में "अकः सवर्णे" की प्राप्ति होती है। इसलिए आङ् अंश में यह पररूप निरवकाश होकर अपवाद होता है। यह अपवाद मध्यापवाद है। यहाँ सूत्रों का क्रम इस प्रकार है—'एत्येधत्यूठ्सु' (६।१।८९), 'ओमाङोश्च' (६।१।९५), 'अकः सवर्णेदीर्घः' (६।१।१०१)। इस प्रकार यह अपवाद मध्य में है। मध्य में होने के कारण

बाध्यविशेष चिन्तापक्ष में मध्येऽपवाद न्याय से इदञ्च = "ओमाङोश्च" यह सूत्र "अवेहि" इत्यादि प्रयोगों में पूर्वविधि वृद्धि का ही बाधक है। "अकः सवर्णे" का यह बाधक नहीं है, इसलिए "अद्य + अर्षभः" इस स्थिति में दीर्घ ही होना चाहिए।

नागेश भट्ट इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि लक्ष्य के अनुरोध से यहाँ बाध्य-विशेष चिन्तापक्ष न मान कर बाध्यसामान्य चिन्तापक्ष का ही आश्रयण किया गया है। इस पक्ष का तात्पर्य है कि "मद्विषये यत् यत् प्राप्तं तत् सर्वं मया बाध्यम्"। ऐसी स्थिति में यह पररूप न केवल वृद्धि का ही बाधक होता है अपितु सवर्णदीर्घ का भी बाधक होता है। इसलिए "अद्यर्षभः" प्रयोग में सवर्णदीर्घ नहीं होता है।

कहीं-कहीं ऐसा भी देखा गया है कि निरवकाश न होने पर भी प्रतिपदविधि से नित्य और पर विधि का बाध होता है। उदाहरण के लिए नपुंसकलिंग में स्वप् शब्द से जस् विभक्ति लाकर उसे शि आदेश करने के पश्चात् "स्वप्-इ" इस स्थिति में पर और नित्य नुम् को प्रतिपदोक्तत्वात् बाध कर "अप्तृन्तृच्" सूत्र से दीर्घ हो जाता है। इसके बाद नुम्, अनुस्वार और परसर्वण करके "स्वाम्पि" यह प्रयोग बनाया जाता है। यहाँ प्रतिपदविधि "अप्तृन्तृच्" का दीर्घ निरवकाश नहीं है, क्योंकि 'आपः' प्रयोग में (स्त्रीलिंग में) जहाँ नुम् की प्राप्ति नहीं है वहाँ दीर्घ चरितार्थ है। इस प्रकार चरितार्थ प्रतिपदोक्तविधि भी बाधक होती है, यह बात स्पष्ट है। इसी बात को शेखरकार कह रहे हैं कि अन्यत्र = "स्वाम्पि" इत्यादि प्रयोगों में देखा गया है कि प्रतिपदविधित्व में बलवत्ता होती है और वह बाधक होती है, इसलिए "अद्यर्षभः" प्रयोग में पर जो "अकः सवर्णे" का दीर्घ है उसे प्रतिपदविधित्वेन बाध कर पहले पररूप की ही प्रवृत्ति होती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—इस सूत्र में चकारग्रहण अनावश्यक है। भाष्यकार ने कहा है—"चोऽनर्थकोऽनधिकारादेङः"।

अव्यक्तशब्दार्थो—ध्वनेरिति। अविद्यमानकत्वादिशब्दस्येत्यर्थः। तस्य चाच्छब्दोऽनुकरणे एव सम्भवतीत्याह—अनुकरणस्येति। अत्रालोन्त्यस्येति न प्रवर्तते, 'नानर्थके' इति निषेधात्, 'आम्रेडितस्य वे'ति वक्तव्ये 'नाम्रेडितस्ये'-त्यारम्भाद्वा। अत इति किम्? वटगिति।

"अव्यक्तानुकरणास्यात इतौ" इस सूत्र में अव्यक्त शब्द का अर्थ ध्वनि है। ध्वनि से तात्पर्य उस अव्यक्त उच्चारण से है जहाँ वर्ण का विभाग व्यक्त नहीं है। इस प्रकार अपरि-स्फुट वर्णात्मक ध्वनि ही अव्यक्त शब्द का अर्थ होता है। शेखरकार इसी बात को व्यक्त करने के लिए कह रहे हैं—"अविद्यमानकत्वादिशब्दस्येत्यर्थः, अविद्यमानं कत्वादिधर्मोयत्र" अर्थात् जहाँ पर कत्वादि धर्म विद्यमान नहीं है ऐसे शब्द को अव्यक्त कहते हैं।

तस्य च = उस अव्यक्त ध्वनि का अत् शब्द अनुकरण में ही सम्भव है, इसीलिए सूत्र में "अनुकरणस्य" ऐसा कहा गया है। ध्वनि = अव्यक्त के अनुकरण का अवयव जो अत् शब्द, उससे पर में 'इति' शब्द रहने पर उस 'अत्' शब्द का पररूप हो जाता है, यह इस सूत्र का अर्थ है। "पटत् + इति पटिति" इसका उदाहरण है। यहाँ पटत् शब्दावयव अत् का पररूप हो गया है।

यहाँ "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र के द्वारा अन्त्य तकार मात्र का पररूप नहीं होता, क्योंकि "नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिः" इत्यादि परिभाषा से यहाँ 'अलोऽन्त्यस्य' का निषेध कर दिया जाता है। अनुकरणावयव 'अत्' शब्द का अनर्थकत्व स्पष्ट ही है, अतः यहाँ 'अलोऽन्त्यस्य' इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि कहा जाय कि 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिः' यह परिभाषा प्रत्याख्यात है तो ऐसी स्थिति में यहाँ "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र का वारण कैसे होगा? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि यदि यहाँ "अलोऽन्त्यस्य" की प्रवृत्ति अभीष्ट होती तो "नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा" इस गुरुभूत सूत्र के द्वारा "पटत्पटेति" "पटत्पटदिति" इन रूपों को सिद्ध करने की क्या आवश्यकता थी? यह कार्य तो "आम्रेडितस्य वा" इस लघुभूत न्यास से ही हो सकता था। आम्रेडित का पररूप विकल्प से होता है, ऐसा कहने पर "अलोऽन्त्यस्य" के द्वारा जब अन्त्य तकार मात्र का पररूप होता तब पटत्पटेति रूष बनता और जब पररूप नहीं होता तब "पटत्पटदिति" रूप बन जाता। इस प्रकार जब दोनों रूपों की सिद्धि सम्भव थी तब लघुभूत न्यास न करके जो गुरुभूत न्यास किया गया है इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ "अलोऽन्त्यस्य" की प्रवृत्ति नहीं होती है।

"अव्यक्तानुकरणस्य" इस सूत्र में "अतः" इस पद के ग्रहण करने का फल बताते हुए कह रह रहे हैं कि यदि सूत्र में इस पद का उपादान नहीं किया होता तो "इति" शब्द पर में रहने पर अव्यक्त अनुकरण मात्र का पररूप होने लगता। परिणाम यह होता कि कपोत की ध्वनि का अनुकरण 'वटक्' के आगे इति शब्द रहने पर "वटक् + इति" इस अवस्था में भी पररूप होने लगता, जो वाञ्छित नहीं है। अतः सूत्र में "अतः" इस पद का उल्लेख किया गया है।

नाम्रेडित। 'अव्यक्तानुकरणस्ये'ति, 'अत' इति च वर्तते। अव्यक्तानुकरणावयवीभूताम्रेडितावयवाच्छब्दस्येत्यर्थः। 'नाम्रेडितस्य तस्तु वे'ति न सूत्रितं, वैचित्र्यार्थम्। फलकल्पनाभिनिवेशस्तु न युक्तो, भाष्यानुक्तेः। अत एव 'तदधीते तद्वेदे'ति सूत्रे 'द्विस्तद्ग्रहणं प्रमादकृतमाचार्यस्ये'ति भाष्ये उक्तम्। 'लाघवानवधानलक्षणोऽत्र प्रमाद' इति कैयटः। क्व तदवधानं? क्व तदनवधानमिति तु—भाष्यकृदुक्तप्रयोजने तदवधानमन्यत्रान्यदिति निर्णयम्। ननु डाचोऽभावादेतदप्राप्तिरत आह—बहुलवचनादिति।

"नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा" इस सूत्र में "अव्यक्तानुकरणस्य", "अतः", "इतौ" और "पररूपम्" इन पदों की अनुवृत्ति आती है। इस अनुवृत्ति के आधार पर सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है—अव्यक्त अनुकरण का अवयवीभूत जो आम्रेडित है, उसके अवयव अत् शब्द से इति शब्द पर में रहने पर "अत्" शब्द का पररूप नहीं होता है, किन्तु अन्त्य तकार मात्र को पररूप विकल्प से होता है। इसका उदाहरण "पटत्पटेति" यह प्रयोग है।

यहाँ यह शंका होती है कि उपर्युक्त अर्थ वाले सूत्र से जो कार्य हो रहा है वह कार्य तो "नाम्रेडितस्य तस्तु वा" ऐसा न्यास करने से भी हो सकता था, तो ऐसा न्यास न करके उपर्युक्त गुरुभूत न्यास क्यों किया गया? शेखरकार इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि वैसा न्यास वैचित्र्यार्थ नहीं किया गया है। तात्पर्य यह है कि पदलाघव और तत्प्रयुक्त मात्रालाघव होने

पर भी सब जगह ऐसा पदलाघव वाला ही न्यास करना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। इसी बात को सूचित करने के लिए "नाम्रेडितस्य तस्तु तु वा" ऐसा न्यास नहीं किया गया। इस न्यास में "अन्त्यस्य" पद का ग्रहण नहीं करना पड़ता है, यही लाघव है।

कुछ लोगों का कहना है कि प्रस्तुत सूत्र में अन्त्यग्रहण के सामर्थ्य से यह कल्पना करेंगे कि जहाँ अत् शब्द से भिन्न अगादि शब्द हैं वहाँ अन्त्य को पररूप होता है। इसलिए "वटग् वट्ग + इति" इस स्थिति में पररूप होकर "वटग्वटेति" रूप की सिद्धि होगी, जो इसका फल कहा जा सकता है। नागेश भट्ट इस बात से अपनी असहमति बताते हुए कह रहे हैं कि फल की कल्पना का अभिनिवेश ठीक नहीं है, क्योंकि भाष्यकार ने यहाँ पर इस प्रकार के किसी फल का उल्लेख नहीं किया है। अत एव = भाष्याद्यनुक्त फल की कल्पना अयुक्त है, इस बात को स्वीकार करने से ही "तदधीते तद्वेद" इस सूत्र में दो बार तत् पद का ग्रहण करना आचार्य का प्रमाद कहा गया है। अन्यथा यदि फलकल्पना का अभिनिवेश उपयुक्त होता तो दो बार तद् पद के ग्रहण से यह कल्पना की जा सकती थी कि जो अध्ययन करता है और जानता भी है वहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति हो, न कि केवल अध्ययन करने में अथवा केवल जानने में इसकी प्रवृत्ति हो। यह कल्पना यहाँ दो बार तद् पद के ग्रहण से हो सकती थी, किन्तु भाष्यादि में उल्लेख न होने के कारण फल की ऐसी परिकल्पना नहीं की गई। इसकी अपेक्षा आचार्य का यहाँ प्रमाद है, ऐसा कह दिया गया। कैयट ने कहा कि लाघव के प्रति आचार्य की अनवधानता ही यहाँ प्रमाद है।

कहाँ लाघव का विचार करना चाहिए और कहाँ नहीं करना चाहिए, इसका निर्णय भाष्यकार के द्वारा दिये गये प्रयोजनों के आधार पर करना चाहिए। भाष्यकार ने जहाँ प्रयोजन कहा है वहाँ लाघव का विचार करना चाहिए, अन्यत्र नहीं करना चाहिए। "पटत्पटेति" प्रयोग में "पटत्" इस अनुकरण को द्वित्व किया गया है। यहाँ प्रश्न होता है कि "द्वित्वविधायक डाचि बहुलं द्वे भवतः" यह वार्तिक वहीं द्वित्व करता है जहाँ डाच् प्रत्यय हुआ होता है। प्रस्तुत प्रयोग में डाच् प्रत्यय के अभाव में द्वित्व कैसे हुआ है? इसके उत्तर में कौमुदीकार ने कहा है कि वार्तिक में जो बहुलग्रहण किया गया है उसी के आधार पर डाच् प्रत्यय के अभाव में भी द्वित्व हो गया है।

तस्य परम्। अवयववाचिपरशब्दयोगेऽत एव ज्ञापकात्षष्ठी। 'तस्य'ग्रहणं स्पष्टार्थं, 'द्वे' इत्यनुवर्त्य षष्ठ्या विपरिणामेन सिद्धेः। अन्यद्विरुक्तपरस्य तु न सञ्ज्ञा, अष्टमे 'सर्वस्ये'त्येतत्प्रकरणे सञ्ज्ञाकरणात्।

"तस्य परमाम्रेडितम्" सूत्र में पर शब्द के दिग्वाची होने के कारण उसके योग में "अन्यारात्" इत्यादि सूत्र से दिग्योगलक्षणा पञ्चमी विभक्ति होनी चाहिए न कि षष्ठी विभक्ति? इस बात का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि "इसी सूत्र के निर्देश से यह ज्ञापन किया जाता है कि अवयववाची पर शब्द के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

इस सूत्र में "सर्वस्य द्वे" (८।१।१) सूत्र से 'द्वे' पद की अनुवृत्ति करके उसका षष्ठ्यन्तत्वेन विपरिणाम करके "पूर्वोऽभ्यासः" सूत्र की भाँति यदि ऐसा अर्थ कर लिया जाय कि यहाँ जो द्वित्व विहित है उसमें जो पर है, उसकी आम्रेडित संज्ञा होती है, तो इस सूत्र में "तस्य" पद

का ग्रहण स्पष्टार्थ ही कहा जायेगा। इस शास्त्र में द्वित्व का विधान छठे और आठवें अध्याय में किया गया है। "सर्वस्य द्वे" इस आठवें अध्याय के द्वित्व के प्रकरण में आम्रेडित संज्ञा का विधान किया गया है, इसलिए षाष्ठ द्वित्व-प्रकरण के पररूप की आम्रेडित संज्ञा नहीं होती है।

झलाञ्झ। अन्तग्रहणं 'झली'ति निवृत्त्यर्थम्। सर्वोपकारकतया च प्रकरणान्तेऽस्य लेखः। एतेन 'श्रदि'त्यत्रैव लेख उचित इत्यपास्तम्।

"झलां जशोऽन्ते" इस सूत्र में "झलो झलि" सूत्र से "झलि" की अनुवृत्ति के वारण के लिए अन्तग्रहण किया गया है। यह सूत्र सर्वोपकारक है, इसलिए कौमुदीकार ने प्रकरणान्त में इसका उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में उन लोगों का कथन अपास्त हो जाता है जो लोग "श्रदिति" इस प्रयोगस्थल में इसके उल्लेख को उचित बता रहे थे।

अज्झलोः सावर्ण्यनिषेधादाह—अचि किमिति। अनिष्पत्तेरिति। 'नाज्झला-वि'ति सूत्रविषयनिर्णयेऽपवादविषयपरिहारेण तत्तद्वर्णीयसवर्णपदवाच्यनिर्णयोत्तरं तावतां ग्रहणस्य ग्रहणकशास्त्रबोद्ध्यतया एतद्बोधकाले ग्रहणकशास्त्रस्य तावद्ग्रहणबोधकत्वानिष्पत्तेरित्यर्थः।

"अकः सवर्णे दीर्घः" सूत्र में "अचि" पद की अनुवृत्ति करके सवर्ण अच् पर में रहने पर इस सूत्र से दीर्घ एकादेश किया जाता है। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि यहाँ "अचि" पद की अनुवृत्ति न भी की जाय तो सवर्ण पर में रहने पर दीर्घ एकादेश होता है, इतना ही सूत्रार्थ होगा और इसी सूत्रार्थ से "दैत्यारिः" इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि हो ही जायेगी तो इस सूत्र में "अचि" पद की अनुवृत्ति की क्या आवश्यकता है? यदि कहा जाय कि "विवृतमुष्मणां स्वराणाञ्च" इस कथन के आधार पर इकार और शकार का विवृत प्रयत्न और तालुस्थानजन्यत्व समान होने के कारण इनकी सवर्ण संज्ञा हो जायेगी। ऐसी स्थिति में यदि 'अचि' पद की अनुवृत्ति नहीं होगी तब "कुमारी + शेते" इस प्रयोग में दीर्घ की आपत्ति होने लगेगी, इसलिए "अचि" पद की अनुवृत्ति आवश्यक है।

शेखरकार इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "नाज्झलौ" इस सूत्र से अच् और हल् के परस्पर सावर्ण्य का निषेध हो जायेगा तो शकार के पर में रहने पर दीर्घ की स्वयमेव प्राप्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में इस सूत्र में "अचि" पद की अनुवृत्ति करना व्यर्थ ही है। इस प्रकार "अचि" पद के वैयर्थ्य की आपत्ति होने पर कौमुदीकार ने कहा है कि "नाज्झलौ" सूत्र से यहाँ दीर्घ ईकार और शकार के सावर्ण्य का निषेध नहीं हो सकता है, क्योंकि उस सूत्र में जो अच् पद है उससे वर्णसमाम्नाय में पढे गये अच् वर्णों का ही ग्रहण होता है, न कि दीर्घादि वर्णों का, जो कि वहाँ नहीं पढे गये हैं। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि "अणुदित्" सूत्र से "नाज्झलौ" सूत्रस्थ अच् पद में सवर्णग्राहकता के द्वारा दीर्घादि का भी बोध हो जायेगा, क्योंकि सवर्ण का ग्राहक "अणुदित्" सूत्र का वाक्यार्थबोध उस समय हुआ ही नहीं होता है जिस समय सावर्ण्यविधि "तुल्यास्यप्रयत्नम्" तथा उसकी निषेधविधि "नाज्झलौ" का शाब्दबोध होता है। यहाँ सूत्रों का क्रम इस प्रकार है—"तुल्यास्य-प्रयत्नम्" (१।१।९), "नाज्झलौ" (१।१।१०), "अणुदित्सवर्णस्य" (१।१।६९)। इस प्रकार

स्पष्ट है कि सावर्ण्य विधि और निषेध के पहले अणुदित् सूत्र का वाक्यार्थबोध नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में "नाज्झलौ" सूत्रस्थ अच् पद से सवर्णी का ग्रहण नहीं हो सकेगा। परिणामस्वरूप दीर्घ ईकार और शकार के सावर्ण्य का निषेध "नाज्झलौ" नहीं कर सकेगा। परिणाम यह होगा कि "कुमारी + शेते" इस प्रयोग में सवर्णी शकार के पर में रहने पर दीर्घ की आपत्ति होने लगेगी। इसके वारण के लिए "अचि" पद की अनुवृत्ति आवश्यक है।

इसी बात को शेखरकार इस प्रकार कह रहे हैं कि "तुल्यास्य" सूत्र उत्सर्गशास्त्र है और "नाज्झलौ" उसका अपवाद है। 'प्रकल्प्य चापवादविषयम्' इस परिभाषा से अपने अपवाद के विषय को छोड़ कर उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति होती है। इसलिए "तुल्यास्य" सूत्र के पहले "नाज्झलौ" का वाक्यार्थबोध होता है। इसके बाद अपवाद के विषय को छोड़कर तत्तद्वर्णों की सवर्णसंज्ञा "तुल्यास्य" सूत्र से की जाती है। इसके बाद सवर्णपदवाच्य कितने हैं इस बात का निर्णय हो जाने पर उन्हीं का ग्रहण "अणुदित्" सूत्र से कराया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि "एतद्बोधकाले" = "नाज्झलौ" सूत्र के वाक्यार्थबोध के समय "अणुदित्" सूत्र की निष्पत्ति न होने के कारण इसके द्वारा "तावतां ग्रहणस्य" = "नाज्झलौ" सूत्रस्थ अच् पद से उनके सवर्णों का ग्रहण सम्भव नहीं है। फलस्वरूप "नाज्झलौ" सूत्र से केवल वर्णसमाम्नाय में पठित ह्रस्व अकारादि का ही हल् के साथ सावर्ण्य का निषेध किया जायेगा। इसलिए दीर्घ ईकार और शकार की सवर्ण संज्ञा होने लगेगी। परिणामस्वरूप "कुमारी + शेते" प्रयोग में दोष पड़ेगा। इसके वारणार्थ 'अचि' पद की अनुवृत्ति आवश्यक हो जाती है।

सूत्रस्थसवर्णपदानुवृत्तिमभिप्रेत्याह—ऋति सवर्ण इति। तत्फलं दध्यृकारादावेतदप्रवृत्तिः। एतद्विधेययोरइउण्सूत्रानन्तरं पाठादच्त्वं, तेन तयोः स्थाने प्लुतसिद्धि- स्तयोश्च न रपरत्वम्। द्विमात्रमिति। अत एव 'अकः सवर्णे' इत्यनेनैव ऋकारद्वयस्य स्थाने रेफद्वयवत्तारूपगुणकृतान्तर्येण कदाचिद्रेफद्वयगर्भस्य, विवृतत्वान्तर्येण कदाचिद्विवृतस्य, लृकारे लकारवत्तान्तर्येण कदाचिद्द्विलकारस्य, कदाचिद्विवृतत्वसाम्येन रेफवत्तासाम्येन च तादृशस्य ऋकारस्य सिद्ध्या विकल्पफलसिद्धिमाश्रित्यैतद्वचनद्वयं 'तुल्यास्ये'ति सूत्रे भाष्ये प्रत्याख्यातम्।

यद्यपि "ऋति ऋ वा" इसी रूप में वार्तिक भाष्य में उपलब्ध होता है, तथापि "तत्सवर्णे यथा स्यात्" इस भाष्योक्ति के आधार पर "अकः सवर्णे" सूत्र से 'सवर्णे' पद की अनुवृत्ति करके कौमुदी में "ऋति सवर्णे ऋ वा" ऐसा कहा गया है। वार्तिक में 'सवर्णे' पद की अनुवृत्ति का फल यह होता है कि दधि + ऋकारः = 'दध्यृकारः' इत्यादि प्रयोगों में इस वार्तिक की प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि इकार का सवर्णी ऋकार नहीं है।

"ऋति सवर्णे ऋ वा" तथा "लृति सवर्णे लृ वा" इन दोनों वार्तिकों से विहित ऋकार और लृकार आक्षरसमाम्नायिक ऋकार और लृकार से भिन्न हैं। यदि ऐसी बात नहीं होती और ये भी वर्णसमाम्नायपठित ऋकार और लृकार की भाँति ही होते तो वार्तिकों की क्या आवश्यकता रहती? क्योंकि यह कार्य तो 'अकः सवर्णे' सूत्र से ही हो सकता था? इसलिए वार्तिकारम्भ-सामर्थ्य से यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत वार्तिकद्वय विधेय ऋकार और लृकार वर्णसमाम्नाय वाले

ऋकार और लृकार से भिन्न हैं। अब प्रश्न यह होता है कि यदि ये वर्णसमाम्नायस्थ ऋकार लृकार से भिन्न हैं तो इनमें अच्त्वप्रयुक्त कार्य की सिद्धि किस प्रकार होगी? इस शंका के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि वार्तिकद्वय से विधेय ऋकार और लृकार का पाठ "अइउण्" सूत्र के अनन्तर है, इसलिए अच्प्रत्याहारघटक होने के कारण इनमें अच्त्वप्रयुक्त कार्य तथा प्लुतता की सिद्धि होती है। 'गुरोरनृतः' इस सूत्र से प्लुत होने का उदाहरण "होतृ३ कारः" "होलृ३कारः" ये प्रयोग हैं। "अइउण्" सूत्र के अनन्तर इनका पाठ स्वीकार करने का दूसरा फल यह होता है कि ये अण् प्रत्याहार में नहीं आते हैं, इसलिए "उरण् रपरः" सूत्र से इनका रपरत्व नहीं होता है। "अणुदित्" सूत्र को छोड़ कर सभी जगह अण् प्रत्याहार पूर्व णकार तक ही लिया जाता है और उसमें ये आते नहीं हैं।

ये दोनों ऋकार, लृकार द्विमात्रिक हैं। इनकी द्विमात्रिकता के लिए कौमुदी में कहा गया है कि ऋकार के मध्य में दो रकार हैं। इन दोनों रकारों की एक मात्रा होती है और रकारद्वय के चारों ओर जो अच्भाग है उसकी एक मात्रा होती है। इस प्रकार ऋकार दो मात्रा का होता है। इसी प्रकार लृकार भी दो मात्रा का है। द्विमात्रिक ये दोनों वर्ण रकारद्वयवत्ता और लकारद्वयवत्ता के आधार पर ईषत्, स्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं। वार्तिक की जब प्रवृत्ति नहीं होती हैं उस विकल्प पक्ष में "अकः सवर्णे" से दीर्घ किया जाता है। इस दीर्घ से निष्पन्न ऋकार और लृकार द्विमात्रिक तथा विवृत प्रयत्न वाले होते हैं। लृकार का दीर्घ ऋकार ही होता है।

अत एव = वार्तिकद्वय से विधेय ऋकार और लृकार द्विमात्रिक होते हैं, इस बात को स्वीकार करने के कारण ही भाष्यकार ने "तुल्यास्य" सूत्र के भाष्य में इन वार्तिकों का प्रत्याख्यान कर दिया है। उनके प्रत्याख्यान का प्रकार यह है कि वार्तिक से निष्पाद्य रूप तथा विकल्पपक्षीय रूप ये दोनों रूप "अकः सवर्णे" सूत्र से ही सिद्ध हैं, क्योंकि ऋकारद्वय के स्थान में जब ऋकारद्वयान्तःपाती रकारद्वयवत्ता रूप गुणकृत आन्तर्य लिया जायेगा तब दोनों ऋकारों के स्थान पर दो रकारवाले तथा ईषत्स्पृष्ट प्रयत्नवाले विलक्षण "ऋकार" की सिद्धि हो जाती है। जब दोनों ऋकारों के विवृतत्व का आन्तर्य लिया जाता है तब उनके स्थान पर विवृत प्रयत्न वाले दीर्घ ऋकार की सिद्धि होती है।

लृकार के सन्दर्भ में भी यही बात है। वहाँ भी जब 'होतृ + लृकारः' इत्यादि स्थलों में जहाँ ऋकार से पर में लृकार है वहाँ भी जब दन्तस्थानजन्यत्वविशिष्ट लकारद्वयवत्ता रूप गुणकृत आन्तर्य लिया जायेगा तब द्विलकारक ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले विलक्षण लृकार की सिद्धि हो जायेगी। यदि कहा जाय कि प्रस्तुत उदाहरण में जब दो लृ नहीं है तब लकारद्वयवत्ता से आन्तर्य कैसे लिया जा सकता है? उसका उत्तर यह समझना चाहिए कि ऋ और लृ की परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है, इसलिए ऋकार को ही लृकार मानकर लकारद्वयवत्ता की बात कही गई है। इसी प्रकार जब विवृतत्व और पूर्वसमुदायघटक रेफवत्व का साम्य लिया जायेगा तब तादृशस्य = लोकप्रसिद्ध विवृत प्रयत्न वाले दीर्घ ऋकार की सिद्धि हो जायेगी। इस प्रकार वार्तिकद्वय से वैकल्पिक विधान के द्वारा जो कार्य होता था, वह विकल्प का फल उपर्युक्त प्रकार से "अकः सवर्णे" सूत्र से ही सिद्ध हो रहा है, इसीलिए भाष्यकार ने "एतद्वचनद्वयम्" = "ऋति ऋ वा" और "लृति लृ वा" यह वार्तिक रूपी वचनद्वय प्रत्याख्यात कर दिये।

यहाँ एक बात यह विचारणीय है कि यहाँ रेफद्वयवत्ता तथा लकारद्वयवत्ता के सादृश्य को गुणकृत आन्तर्य कहा गया है, जब कि गुणकृत आन्तर्य से बाह्य प्रयत्न का ग्रहण किया जाता रहा है। इस आशंका का उत्तर समझना चाहिए कि स्थान, अर्थ और प्रमाण कृत आन्तर्य से भिन्न जितने आन्तर्य हैं वे सभी गुणकृत आन्तर्य कहे जाते हैं। इसी उद्देश्य से यहाँ गुणकृत आन्तर्य शब्द का प्रयोग किया गया है।

द्वौ रेफाविति। अत्रापि तदेव भाष्यं मानम्। द्विरेफत्वे हि रेफद्वयवति स्थानिन्ययं, लकारवत्यपर इति व्यवस्था सिद्ध्यति। अभित इति। 'द्वौ रेफावि'त्यनुषज्यते, तच्च द्वितीयान्तम्, अभितः पदयोगात्।

"ऋति सवर्णे ऋ वा" इस वार्तिक से विधेय ऋकार के मध्य में दो रकार हैं। इस बात में 'तदेव भाष्यम्' = वार्तिकप्रत्याख्यानपरक 'तुल्यास्य' सूत्रस्थ भाष्य ही प्रमाण है। दो रेफवान् होने पर ही रेफद्वयवान् स्थानी के स्थान पर अयम् = रेफद्वयवान् अपूर्व ऋकार आदेश होता है और लकारद्वयवान् स्थानी के स्थान पर अपरः = लकारद्वयवान् अपूर्व लृकार आदेश होता है। इस प्रकार की व्यवस्था सिद्ध होती है।

कौमुदी में कहा हुआ है कि "आद्यस्य मध्ये द्वौ रेफौ, तयोरेका मात्रा। अभितोऽज्भक्तेरपरा"। प्रथम वार्तिक से विधेय ऋकार के मध्य में दो रकार हैं। उनकी एक मात्रा हुई। अभितः वाली पंक्ति में "द्वौ रेफौ" का सम्बन्ध किया जाता है। "द्वौ रेफौ" ये पद द्वितीयान्त है, क्योंकि "अभितः" के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। इस प्रकार इसका अर्थ है कि दोनों रेफों के चारों ओर अच्भाग की दूसरी मात्रा है। इस प्रकार ऋकार द्विमात्रिक होता है।

एओङ्सूत्रे भाष्ये मातृणामित्यादौ णत्वादिसिद्ध्यर्थमवश्यमङ्गीकर्तव्ये 'वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते' इति पक्षे—प्रलूय खट्वाभिर्वाचा तरतीत्यादौ तुगैस्द्वयज्लक्षणानां शङ्कायाः, 'दीर्घादि'ति तुग्विधानसामर्थ्यतपरकरणसामर्थ्यं 'नौद्व्यच' इति सूत्रस्थनौग्रहणसामर्थ्यैर्भेदेनाप्रतिभासमानेषु वर्णावयवेषु अवयवसदृशस्वतन्त्रवर्णाश्रयकार्याभावज्ञापनरूपसमाधानस्य च करणवत्—प्रातर्ऋतमित्यत्र 'रोरी'त्यस्य तद्लृकार इत्यादौ 'तोर्लि'त्यस्य च शङ्कासमाधानाकरणेन 'यत्तद्रेफात्परं भक्तेरि'ति हयवरट्सूत्रस्थभाष्येण च ऋलृक्सूत्रस्थयोरर्धमात्राज्भागस्याभितः क्लृप्तत्वेन तथैवोचितत्वादिति भावः।

"वार्तिकों से विधेय ऋकार और लृकार के चारों ओर एकमात्रिक अच् है" इस बात में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि भाष्यकार ने "एओङ्" सूत्र के भाष्य में विचार किया कि "मातृणाम्" प्रयोग में नकार को णकार कैसे होगा? इस प्रकार के विचार का कारण यह था कि नकार को णकार तो वहीं होता है जहाँ नकार रकार और षकार के आगे रहे। यह स्थिति यहाँ नहीं है। यहाँ तो नकार ऋकार के आगे हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ णत्व की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि यह सिद्धान्त अवश्य अंगीकार किया जाय कि "वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते" अर्थात् वर्ण के एकदेश (अवयव) वर्ण के ग्रहण से गृहीत होते हैं। अपने इस कथन के द्वारा भाष्यकार ने ध्वनित किया कि ऋकार वर्ण के भीतर एक रकार है, जो चारों

ओर से अज्भाग से घिरा हुआ है। यह वर्णैकदेश रकार भी रकार वर्ण के द्वारा गृहीत होगा और इसके चारों ओर जो अच्भाग है, उसके व्यवधान में "अट्कुप्वाङ्" सूत्र से नकार को णकार हो जायेगा।

इस प्रकार "मातृणाम्" में णकार की सिद्धि करने पर नई समस्या यह उत्पन्न हो गई कि वर्णैकदेश भी वर्णग्रहणेन गृहीत होगा तब तो "प्रलूय" प्रयोगघटक दीर्घ ऊकार के भीतर वर्तमान ह्रस्व उकार भी ह्रस्वग्रहणेन गृहीत होगा। परिणाम यह होगा कि यहाँ "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" सूत्र से तुक् होना चाहिए। इसी प्रकार "खट्वाभिः" प्रयोगघटक आकार का एकदेश ह्रस्व अकार भी "अतो भिस" सूत्र के "अतः" पद से गृहीत हो जायेगा। परिणामस्वरूप यहाँ "अतो भिस ऐस्" सूत्र से भिस् को ऐस् होना चाहिए। इसी प्रकार "वाचा तरति" इस विग्रह में वाच् शब्द को दो अच् वाला मान कर "नौद्व्यचः" सूत्र से ठन् प्रत्यय होना चाहिए। इस प्रकार की आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि यदि ऐसी बात है तब "चेच्छिद्यते" प्रयोग में "छे च" सूत्र से ही तुक् सिद्ध है तो "दीर्घात्" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार जब दीर्घ के भीतर रहने वाला ह्रस्व भी वर्णग्रहणेन गृहीत हो जायेगा तो दीर्घ से ह्रस्वप्रयुक्त कार्य की व्यावृत्ति के लिए किया गया तपरकरण अनावश्यक ही है, क्योंकि उसके रहने पर भी दीर्घ स्थल में ह्रस्वप्रयुक्त कार्य हो रहा है। इसी प्रकार जब "वाच्" शब्द को आकारघटक अकारद्वय के आधार पर दो अच् वाला माना जा रहा है तब "नौद्व्यचः" सूत्र में 'नौ' ग्रहण की क्या आवश्यकता है? क्योंकि औकार भी दो अचों से घटित होने के कारण दो अचों वाला हो जाता है तो वहाँ द्व्यच् मान कर ही कार्य चल सकता है। इस प्रकार "दीर्घात्" के तुक्-विधान से "अतो भिस" सूत्र में "अतः" इस पद में तपर करने से तथा "नौद्व्यचः" सूत्र में 'नौ' ग्रहण करने से यह ज्ञापन किया जाता है कि जहाँ पर वर्णावयव भेदेन प्रतिभासमान (प्रतीत) नहीं होते हैं वहाँ पर अवयव-सदृश उन वर्णावयवों में स्वतन्त्र वर्ण—निमित्तक कार्य नहीं किया जाता है।

इस उपर्युक्त ज्ञापन का परिणाम यह होता है कि "प्रलूय" आदि तीनों स्थलों का दोष मिट जाता है। अब विचार यह करना है कि भाष्यकार ने "वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते" इस बात को स्वीकार कर जिस प्रकार उपर्युक्त स्थलों में शंका और उसका समाधान किया है वैसी शंका और समाधान उन्होंने "प्रातर्ऋतम्" तथा "तद्लृकारः" इन प्रयोगों में नहीं किया है। यहाँ भी तो "ऋतम्" के ऋकारघटक रकार के पर में रहने पर "प्रातर्" के रकार का "रो रि" सूत्र से लोप होने की स्थिति है ही। इसी प्रकार "तद् + लृकारः" इस प्रयोग में लृकारघटक लकार के पर में रहने पर "तोर्लि" सूत्र से दकार को लकार की आपत्ति है ही, किन्तु भाष्यकार ने यहाँ न तो ऐसी शंका की और न उसका समाधान किया।

इससे सूचित होता है कि "ऋलृक्" सूत्रस्थ जो ऋकार और लृकार हैं वे भी चारों ओर अर्धमात्रिक अच् से घिरे हुए हैं। इसीलिए अच्भाग के व्यवधान के कारण भाष्यकार ने इन दोनों प्रयोगों में शंका-समाधान नहीं किया। अच्भाग के व्यवधान में न रकार के लोप की प्राप्ति है और न दकार को लकार-विधान की ही प्राप्ति है। "हयवरट्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा भी है कि "यत्तद्रेफात् परं भक्तेः" अर्थात् रेफ से पर में जो अच् का भाग है, उसके

व्यवधान के कारण यहाँ रलोप और लत्व की प्राप्ति नहीं है। इस प्रकार जब "ऋलृक्" सूत्रस्थ ऋकार और लृकार अच्‌भाग से घिरे हैं तब वार्तिक से विधेय ऋकार और लृकार का भी "तथैवोचितत्वात्" = चारों ओर अच्‌भाग से घिरा होना ही उचित है।

द्वौ लकाराविति। हल्द्वयवत्पूर्वसाहचर्यादिति भावः। अत्र ह्रस्वऋकार-द्वयस्थानिकैकादेशे एव पूर्वस्य साधुत्वं, ह्रस्वऋकारलृकारस्थानिकैकादेशे एवोत्तरस्य साधुत्वम्। अत एव लृति न ऋकारो नाप्यृति लृकारः। अत एव वार्तिके ऋतीति तपरकरणमुत्तरवार्तिके लृतीति च चरितार्थम्। तुल्यास्यसूत्रे भाष्ये यदेतदृतीति एतदृत इति वक्ष्यामीत्येतत् वचनाश्रयणेन ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यं न कार्यमिति च सङ्गच्छते। उपस्थितरेफीयप्रयत्नत्यागे मानाभावादीषत्स्पृष्टाविमौ। विवृतत्वे हि विवृतऋकारलृकाराभ्यामनयोरपि ग्रहणे 'ऽकः सवर्णे' इत्यनेनैव सिद्धे वार्तिकस्यैव वैयर्थ्यापत्तेः।

कौमुदी में बताया गया है कि द्वितीय वार्तिक "लृति लृ वा" से विधेय लृकार में दो लकार हैं। यद्यपि इस लृकार में दो लकारों के होने का कोई गमक नहीं है, तथापि पूर्ववार्तिक "ऋति सवर्णे ऋ वा" से विधेय ऋकार में जिस प्रकार दो रकारों की बात कही गई है उसी के हल्द्वय के समान इस द्वितीय वार्तिक से विधेय लृकार में उसके साहचर्य से दो हल् हैं ऐसा मान लिया जाता है।

'दोनों वार्तिकों से विधेय ऋकार और लृकार का साधुत्व कहाँ हो सकता है' इस बात को बताते हुए कह रहे हैं कि अत्र = इन दोनों ऋकार और लृकार के मध्य पूर्वस्य = पूर्व जो ऋकार है उसका साधुत्व वहीं होता है जहाँ पूर्व और पर में दोनों ओर दो ह्रस्व ऋकार रहें। उदाहरण के लिए "होतृ + ऋकारः" इस पद को लिया जा सकता है। उत्तरस्य = उत्तरवार्तिक-विधेय लृकार का साधुत्व वहाँ होता है जहाँ ह्रस्व ऋकार के आगे लृकार रहे। ऐसे ऋकार-लृकारस्थानिक एकादेश में ही वार्तिक विधेय लृकार का साधुत्व है। अत एव = इस प्रकार से साधुत्वबोधन के लिए ही आद्य वार्तिक में "ऋति" पद का तपरकरण तथा उत्तरवार्तिक में "लृति" पद में तपरकरण चरितार्थ होता है। तपरकरण का परिणाम यह होता है कि ह्रस्व ऋकार पर में रहने पर ही पूर्ववार्तिक की तथा ह्रस्व लृकार पर में रहने पर ही दूसरे वार्तिक की प्रवृत्ति होती है।

इस उपर्युक्त व्यवस्था को स्वीकार करने से ही "तुल्यास्य" सूत्रस्थ भाष्य में "ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यं वाच्यम्" इस वार्तिक का जो प्रत्याख्यान किया गया है वह भी संगत होता है। यह वार्तिक इसलिए स्वीकार किया गया था कि ऋकार और लृकार की सवर्ण संज्ञा करके "होतृ + लृकारः" इस प्रयोग में सवर्णदीर्घ किया जा सके। इस प्रकार सवर्ण संज्ञा का फल बता कर भाष्यकार ने कहा—"होत्लृकारः" की सिद्धि तो "लृति लृ वा" इस वार्तिक से ही हो सकती है। भाष्यकार ने ऐसा कह कर पुनः आशंका की कि यदि लृकार पर में रहने मात्र से "लृ" आदेश किया जायेगा तो लृकार से पूर्व में किसी भी वर्ण के रहने पर लृ आदेश होने लगेगा। ऐसी स्थिति में "दधि + लृकारः दध्यलृकारः" यहाँ पर भी लृ आदेश की आपत्ति होने

लगेगी? इस आशंका के उत्तर में भाष्यकार ने कहा कि "यदेतदृति इति एतदृत इति वक्ष्यामि" अर्थात् ह्रस्व ऋकार के आगे ह्रस्व ऋकार पर में रहने पर ऋकार एकादेश होता है। "ऋति ऋ वा" इस वार्तिक में "सवर्णे" पद की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। ऋकार का सवर्णी ऋकार ही होता है, इसलिए इस वार्तिक की अतिप्रसक्ति कहीं नहीं होगी। इसके आगे "लृति लृ वा" और इस वार्तिक में "ऋतः" इस पद की अनुवृत्ति करके कहा कि यह वार्तिक असवर्णस्थल के लिए है। इसकी प्रवृत्ति वहीं होगी जहाँ ह्रस्व ऋकार से पर में ह्रस्व लृकार रहेगा। इस प्रकार "दधि + लृकारः" का दोष मिट जाता है। साथ ही लृकार पर में रहने पर वार्तिक की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति के आधार पर दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार अभीष्ट सिद्धि करके भाष्यकार ने "ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यं वाच्यम्" इस वार्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया है। यह प्रत्याख्यान उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार ही संगत होता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

वार्तिकद्वय से विधेय ऋकार और लृकार द्विमात्रिक और ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं, इस बात में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि वार्तिक विधेय ऋकार में जब दो रकार उपस्थित हैं तब उपस्थित रेफों का प्रयत्न जो ईषत्स्पृष्ट है, उसका त्याग करने में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए "इमौ" = ऋकार और लृकार जो वार्तिकों से विधेय हैं, ये दोनों ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं।

यद्यपि वार्तिकविधेय ऋकार और लृकार में एक मात्रा अज्भाग भी है। उसके आधार पर इन्हें विवृत भी कहा जा सकता है, किन्तु यदि इन्हें विवृत माना जाता है तो "ऋलृक्" के ऋकार और लृकार से इन दोनों वार्तिकद्वय विधेयों का भी ग्रहण हो सकता है। ऐसी स्थिति में "अकः सवर्णे दीर्घः" सूत्र से ही विवृत ॠकार और लृकार का विधान सम्भव होने के कारण "वार्तिकस्य" = दोनों वार्तिकों का ही वैयर्थ्य हो जायेगा।

यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि वार्तिक से विधेय ऋकार और लृकार ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले विलक्षण नृसिंहाकार द्विमात्रिक होते हैं। 'ऋलृक्' सूत्र के ऋकार-लृकार से इनका ग्रहण नहीं होता है। इसीलिए वार्तिकों का सार्थक्य है।

एङः। पदान्तात् किम्? भवति।

"एङः पदान्तादति" सूत्र में यदि "पदान्तात्" ग्रहण नहीं किया जाय तो एङ् से अत् (एकमात्रिक अकार) पर में रहने पर पूर्वरूप एकादेश होता है, ऐसा सूत्रार्थ होगा। इसका परिणाम यह होगा कि "भवति" प्रयोग की प्रक्रियादशा "भो + अति" इस स्थिति में भी पूर्वरूप होने लगेगा। इसलिए "पदान्तात्" यह पद "एङः" के विशेषण के रूप में इस सूत्र में गृहीत किया गया। एङ् का पदान्त होना आवश्यक है। "भो + अति" इस स्थिति में जो एङ् है वह पदान्त नहीं है, इसलिए यहाँ दोष नहीं होता है।

सर्वत्र वि। 'प्रकृत्याऽन्त' इति सूत्रात्प्रकृत्येत्यनुवर्तते। प्रकृतिशब्दोऽत्र स्वभाववाची, 'दुस्त्यजा प्रकृतिरि'त्यादौ तथा दर्शनात्। प्रकृत्या स्वभावेनावस्थानमित्यर्थः।

अत एव प्रकृतिभावे न पूर्वरूपं, नाप्ययादय इति भावः। 'नान्तः पादमि'ति पाठे त्वनेन सूत्रेण 'गोशब्दस्य यत्प्राप्तं तन्ने'ति व्याख्यानेन– 'नान्तः पादमि'त्यनेनैव पूर्वरूपत्वादिकं विकल्पेन निषिद्ध्यत इति बोद्ध्यम्।

"सर्वत्र विभाषा गोः" इस सूत्र में "प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे" (६।१।११५) सूत्र से प्रकृत्या की अनुवृत्ति होती है। प्रकृति शब्द यहाँ स्वभाववाची है। 'दुस्त्यजा प्रकृतिः" इत्यादि जगहों में प्रकृति का अर्थ स्वभाव देखा गया है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव दुस्त्यज होता है, यह उक्त वाक्य का अर्थ है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत सूत्र में अनुवृत्त "प्रकृत्या" इस पद का अर्थ स्वभाव से रहना है। स्वभाव से रहने का अर्थ है—शब्द का विकार से रहित अपने मूल स्वरूप में रहना। इसीलिए जहाँ प्रकृतिभाव होता है वहाँ न तो पूर्वरूप होता है और न अयादि आदेश ही होते हैं।

"प्रकृत्यान्तः पादम्" की जगह उपर्युक्त सूत्र में "नान्तः पादम्" ऐसा पाठ भी भाष्य में मिलता है। इस पाठ में जो नकार है वह निषेधार्थक है। निषेध वहीं होता है जहाँ पहले से कुछ प्राप्त हो। इस बात के आधार पर "नान्तः पादम्" इत्यादि सूत्र से प्रकृत्या की जगह जब "न" पद की अनुवृत्ति की जायेगी तब इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा "लोक अथवा वेद में एङन्त गो शब्द को जो-जो प्राप्त हैं" वे नहीं होते हैं। इस प्रकार "नान्तः पादम्" इसी सूत्र से ही विकल्प से पूर्वरूपादि कार्य का निषेध समझना चाहिए।

अवङ्। स्फोटोऽयनं यस्य सः, स्फोटप्रतिपादक इत्यर्थः। 'स्फौटायनस्ये'ति पाठे नडादित्वं कल्प्यम्। स्फोटायनोऽवङः स्मर्ता, अन्यस्तु तदभावस्येति स्मृत्यन्तरानुसन्धानद्वारेणात्र विकल्पो बोद्ध्यः। निवृत्तमिति। अत एव 'इन्द्रे इति सामर्थ्यान्नित्यमि'ति भाष्यादावुक्तम्। गवाग्रमिति। सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वाद्दीर्घ इति बोद्ध्यम्।

"अवङ् स्फोटायनस्य" यह सूत्र अच् पर में रहने पर पदान्त में गो शब्द को अवङ् आदेश करता है। इस सूत्र में जो स्फोटायन शब्द है उसकी व्युत्पत्ति करते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि "स्फोटः अयनं यस्यासौ स्फोटायनः"। यहाँ अयन का अर्थ प्रतिपाद्य है। स्फोट है अयन अर्थात् प्रतिपाद्य जिसका वह स्फोटायन है। अर्थात् जो शब्द-ब्रह्मात्मक स्फोट के प्रतिपादक हैं वे ही स्फोटायन हैं।

कहीं "स्फौटायन" यह पाठ मिलता है। उस समय "स्फोटस्य ऋषेः अपत्यम्" इस विग्रह में स्फोट शब्द से "नडादिभ्यः फक्" सूत्र से फक् प्रत्यय करके फ को आयन आदेश और आदिवृद्धि करके "स्फौटायन" शब्द की सिद्धि कर लेनी चाहिए।

स्फोटायन अवङ् के स्मर्ता है। अन्य ऋषि अवङ् के अभाव के स्मर्ता है। इस प्रकार स्मृत्यन्तर = दूसरे व्याकरणों के अनुसन्धान से अवङ् के विषय में विकल्प समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि स्फोटायन आचार्य गो शब्द को अवङ् करते हैं, किन्तु अन्य आचार्य नहीं करते हैं। इस प्रकार यहाँ विकल्प की सिद्धि हो जाती है।

निवृत्तमिति। इस सूत्र में "एङः पदान्तादति" सूत्र से "अति" इस पद की अनुवृत्ति नहीं होती है। इस बात को व्यक्त करते हुए कौमुदी में कहा गया है कि "अति इति निवृत्तम्"।

यहाँ "अति" पद की निवृत्ति है। अत एव = "अति" पद की यहाँ अनुवृत्ति नहीं होती इस बातको स्वीकार करने से ही भाष्यकार का यह कहना संगत होता है कि "इन्द्रे च" यह सूत्र आरम्भ- सामर्थ्य से नित्य है। भाष्यकार के इस कथन का रहस्य क्या है? इस बात को भी जानना यहाँ आवश्यक है। भाष्य में विचार यह चला कि "सर्वत्र विभाषा गोः" (६।१।१२२) सूत्र से विभाषा पद की अनुवृत्ति जिस प्रकार "अवङ् स्फोटायनस्य" (६।१।१२३) में आती हैं उसी प्रकार 'इन्द्रे च' (६।९।१२४) में क्यों नहीं आती? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया कि यदि "गवेन्द्रः" पद में वैकल्पिक अवङ् अभीष्ट होता तो यह कार्य तो "अवङ् स्फोटायनस्य" सूत्र से ही हो जाता, तो ऐसी स्थिति में "इन्द्रे च" सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए यह सूत्र आरम्भसामर्थ्य से नित्य है। अर्थात् इस सूत्र के आरम्भसामर्थ्यात् ही यहाँ विभाषा पद की अनुवृत्ति नहीं होती है। यहाँ विचारणीय यह है कि भाष्यकार ने "गवेन्द्रः" प्रयोग में "अवङ् स्फोटायनस्य" सूत्र से जो अवङ् की सिद्धि की बात कही है वह बात उस समय संगत नहीं हो सकती यदि इस सूत्र (अवङ् स्फोटायनस्य) में 'अति' की अनुवृत्ति की जाती है। क्योंकि "अति" की अनुवृत्ति करने पर इसकी प्रवृत्ति तो केवल ह्रस्व अकार पर में होने पर ही होगी। "गो + इन्द्रः" इस स्थिति में तो "अवङ् स्फोटायनस्य" की प्रवृत्ति होगी ही नहीं तो भाष्यकार ने इसके द्वारा वैकल्पिक अवङ् की सिद्धि की बात कैसे कही? इससे स्पष्ट होता है कि इस सूत्र में "अतीति निवृत्तम् अचीति सम्बद्ध्यते"। जब इस सूत्र में "अचि" पद का सम्बन्ध होता है तब "गवेन्द्रः" प्रयोग में पाक्षिक अवङ् की सिद्धि इसी सूत्र से सम्भव देखकर भाष्यकार ने "इन्द्रे च" सूत्र को आरम्भसामर्थ्यात् नित्य कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि इस सूत्र में 'अति' पद की अनुवृत्ति नहीं होती किन्तु "अचि" पद की अनुवृत्ति होती है।

अब यह शंका होती है कि "गो + अग्रम्" इस स्थिति में अग्र शब्द के अकार को अच् परे मान कर यहाँ अवङ् आदेश होता है। यह अवङ् आदेश अकार का विघातक दीर्घादेश का निमित्त नहीं बनेगा। परिणामस्वरूप यहाँ दीर्घ नहीं होना चाहिए। इस शंका के उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि "कष्टाय क्रमणे" इत्यादि निर्देशों के द्वारा सन्निपात परिभाषा की अनित्यता ज्ञापित है। इसलिए सन्निपात परिभाषा के अनित्य होने के कारण यहाँ उससे सवर्ण-दीर्घ का निषेध नहीं होता है।

व्यवस्थितेति। 'देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः। मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः॥ तेन प्राण्यवयवे ने'ति 'शाच्छोरि'ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। 'अग्नीत्प्रेषणे' इति सूत्रे 'अग्नीदग्नीन्विहरे'त्यत्र एतद्व्यावृत्त्यर्थं वार्तिककृद्बहुलग्रहण-घटितं न्यासं कृतवान्। तत्रत्याख्यानाय भाष्ये कृतेन विभाषेति योगविभागेन विभाषेत्यस्य व्यवस्थितविभाषात्वं ध्वनितम्। तथा 'अजेर्व्यघञपोरि'ति च 'व्यवस्थितविभाषे'ति 'अजेर्वी'ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। न च व्यवस्थितविभाषयेन्द्रे नित्यावङि सिद्धे 'इन्द्रे चे'ति व्यर्थमिति वाच्यं, भाष्योक्तातिरिक्तव्यवस्थित-विभाषाणामप्रामाणिकत्वज्ञापनार्थं तत्सत्त्वादित्याहुः।

"अवङ् स्फोटायनस्य" यह व्यवस्थित-विभाषा है। व्यवस्थित-विभाषा का अर्थ है उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न में कहीं भाव का विधान करना और कहीं अभाव का विधान करना। जैसे "गवाक्षः" प्रयोग में अवङ् के भाव का ही विधान किया गया है, किन्तु अभाव का विधान नहीं किया गया। "गवाग्रम्" प्रयोग में तो अवङ् के भाव के साथ उसके अभाव का भी विधान किया गया है। कहीं-कहीं कार्य का सर्वथा अभाव भी कर दिया जाता है। जैसे "गोऽक्षि" प्रयोग में "अवङ्" का सर्वथा अभाव होता है।

व्यवस्थित-विभाषा के उदाहरण के रूप में "देवत्रातः" इत्यादि श्लोक शेखर में प्रस्तुत है। इसका समन्वय निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है—"देवत्रातः" इस प्रयोग में "नुदविदोन्द" सूत्र से विहित निष्ठा के तकार का नकार संज्ञा में नहीं होता है। जैसे "देवत्रातः" "भवत्रातः" यहाँ नत्व नहीं हुआ। 'देवेन रक्षितः' इस अर्थ में "त्राणः" और "त्रातः" ये दोनों प्रयोग होते हैं। "गलः" इस प्रयोग में "अचि विभाषा" से विहित लत्व प्राण्यङ्ग कण्ठ अर्थ में नित्य ही होता है। विष अर्थ में लत्व का सर्वथा अभाव करके "गरः" प्रयोग बनाया जाता है। "विभाषा ग्रहः" सूत्र से विहत ण प्रत्यय जलचर अर्थ में नित्य होता है। जहाँ नक्षत्र अर्थ होता है वहाँ ण प्रत्यय न होकर पचाद्यच् प्रत्यय होता है, जिससे "ग्रहः" प्रयोग बनता है। "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इस सूत्र से विहित पाक्षिक शतृ और शानच् प्रत्यय "इति" शब्द के योग में नहीं होते हैं; जैसे "हन्तीति पलायते"। इसलिए "घ्नन् इति पलायमानः" यह असाधु प्रयोग कहा जाता है। वातायन अर्थ में "गवाक्षः" इस प्रयोग में "अवङ् स्फोटायनस्य" की नित्य ही प्रवृत्ति होती है। जहाँ 'अक्षि' आदि शब्द प्राण्यवयव रहेगा; जैसे "गोः अक्षि" "गोः अङ्गम्" इत्यादि स्थल हैं, यहाँ पर अवङ् नहीं होता है। इसलिए यहाँ "गोऽक्षि" "गोऽङ्गम्" इत्यादि रूप बनते हैं। व्रत अर्थ वाच्य होने पर सम्पूर्वक शो धातु से क्त प्रत्यय करने पर "शाच्छोरन्यतरस्याम्" सूत्र से नित्य ही इत्व होता है। "मिथस्ते न विभाष्यन्ते" का अर्थ इस प्रकार है—ते = वे नत्वादि मिथः = एक विषय में विकल्पित नहीं होते हैं, किन्तु विषय-भेद से इनका वैकल्पिकत्व होता है। उपर्युक्त उदाहरणों में विषयभेद स्पष्ट है।

अन्य स्थलों में भी भाष्यप्रामाण्य के आधार पर व्यवस्थित-विभाषा मानी जाती है। इसीलिए "अग्नीत् प्रेषणे परस्य च" इस सूत्र की प्रवृत्ति "अग्नीदग्नीन् विहर" इस प्रयोग में न होने लगे, इसलिए वार्तिककार ने बहुलघटित न्यास किया है। इस स्थल का तात्पर्य यह है कि "अग्नीत्प्रेषणे परस्य च" यह सूत्र अग्नीध के प्रेषण में आदि अच् को प्लुत करता है और उससे पर अच् को भी प्लुत करता है। जैसे "ओ ३ श्रा ३ वय" इस उदाहरण में यह बात स्पष्ट है। इस सूत्र की प्रवृत्ति इसी प्रकार "अग्नीदग्नीन् विहर" इस प्रयोग में यदि हो जायेगी तो "अग्नीत्" इस शब्दघटक अकार और तदुत्तर ईकार को भी प्लुत होने लगेगा, किन्तु यहाँ प्लुत वाञ्छित नहीं है। इसलिए वार्तिककार ने इस सूत्र में बहुलघटित न्यास किया है। तात्पर्य यह है कि उक्त सूत्र की जगह "ओश्रावयाश्रावयोः परस्य च" ऐसा न्यासान्तर किया है। किन्तु ऐसा न्यास करने पर अन्य प्रयोगों में प्लुत की सिद्धि कैसे होगी ? इस बात को दृष्टिगत कर उन्होंने "बहुलमन्यत्रापि" ऐसा न्यासान्तर किया है। इस बहुलग्रहण से अभीष्ट स्थलों में ही प्लुत होगा; "अग्नीत्" जैसे अनभीष्ट स्थलों में नहीं होगा।

भाष्यकार ने वार्तिककार द्वारा अभिप्रेत इन दोनों न्यासान्तरों का प्रत्याख्यान किया है। इस कार्य के लिए उन्होंने "अग्नीत्प्रेषणे परस्य च" इस सूत्र के आगे के सूत्र "विभाषा पृष्ट-प्रतिवचने हेः" इस सूत्रस्थ "विभाषा" पद का योगविभाग किया है। इस योगविभाग से स्पष्ट होता है कि यह "विभाषा" व्यवस्थित-विभाषा है। इसका परिणाम यह होता है कि "विभाषा पृष्टप्रतिवचने" सूत्र के उदाहरण "अकार्षं हि३" प्रयोग में वैकल्पिक प्लुत होता है तथा "अग्नीत्" प्रयोग में प्लुत नहीं होता है। इस प्रकार इस विभाषा का व्यवस्थितविभाषात्व ध्वनित होता है। इसी प्रकार "अजेर्व्यघञपोः" इस सूत्र के भाष्य से स्पष्ट होता है कि यह भी व्यवस्थित-विभाषा है। एतदर्थ इस सूत्र का भाष्य द्रष्टव्य है।

अब शंका यह होती है कि अवङ् स्फोटायनस्य' यदि व्यवस्थित विभाषा है तब तो इन्द्र शब्द पर में रहने पर 'गवेन्द्रः' प्रयोग में इसी से नित्य ही अवङ् सिद्ध है तो "इन्द्रे च" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि भाष्यकार ने जिस-जिस स्थल पर व्यवस्थित-विभाषा का आश्रयण किया है उससे भिन्न स्थलों में विभाषा का व्यवस्थितत्व अप्रामाणिक है। इस बात के ज्ञापन के लिए "इन्द्रे च" सूत्र की आवश्यकता है।

इन्द्रे च। क्वचिद्भाष्यपुस्तके 'च'शब्दरहितः पाठः। इन्द्रावयवेऽचीत्यर्थस्तेन षष्ठीतत्पुरुषोत्तरपदषष्ठीतत्पुरुषे 'गवेन्द्रयज्ञः' इत्यादाववङ्सिद्धिः। अन्यथा वाक्ये गोशब्दस्येन्द्रपरत्वासम्भवेन समासाक्षेपादिन्द्रशब्दस्योत्तरपदत्व एव प्रवृत्तिः स्यात्।

किसी भाष्यपुस्तक में "इन्द्रे च" सूत्र में चकाररहित पाठ है। इस सूत्र में "अचि" इस पद की अनुवृत्ति होती है। अनुवृत्त "अचि" यह पद "इन्द्रे" इस पद का विशेषण नहीं है, क्योंकि वैसा करने पर तदादि विधि के द्वारा सूत्रार्थ इस प्रकार होगा कि अजादि इन्द्र शब्द रूपी उत्तरपद पर में रहने पर गो शब्द को अवङ् आदेश होता है। ऐसा अर्थ करने का परिणाम यह होगा कि "इन्द्रस्य यज्ञः इन्द्रयज्ञः, गोरिन्द्रयज्ञः, गवेन्द्रयज्ञः" इस प्रयोग में अवङ् आदेश नहीं हो सकेगा, क्योंकि यहाँ इन्द्र शब्द उत्तरपद में नहीं है, किन्तु "इन्द्रयज्ञ" शब्द उत्तरपद में है। यद्यपि यहाँ उत्तरपद का ग्रहण नहीं किया गया है, तथापि "इन्द्रशब्दाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट गोशब्दावयव एङ् समास में ही सुलभ है। जहाँ समास नहीं है ऐसे वाक्य में तो विभक्ति से व्यवधान होने के कारण इन्द्रशब्दपरक गो शब्द मिलेगा ही नहीं। इसलिए यहाँ समास का आक्षेप होगा और समास से उत्तरपद का आक्षेप होगा। उत्तरपद का आक्षेप होने पर उपर्युक्त अर्थ होगा, जिससे "गवेन्द्रयज्ञः" में अवङ् आदेश की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

इस उपर्युक्त दोष के वारण के लिए "अचि" इस पद को विशेष्य तथा "इन्द्रे" को विशेषण रखना चाहिए। इन्द्र पद में जो सप्तमी है उसका अर्थ घटकत्व है। इस प्रकार सूत्रार्थ ऐसा होगा कि इन्द्रशब्दघटक अच् पर में रहने पर गोशब्दावयव एङ् को अवङ् आदेश होता है। इस प्रकार अर्थ करने पर "गवेन्द्रयज्ञः" का दोष हट जाता है, क्योंकि इन्द्रशब्दावयव अच् यहाँ पर मिलने से अवङ् होने में कोई बाधा नहीं होती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि वाक्य में विभक्ति से व्यवधान होने के कारण गो शब्द इन्द्र शब्द से अव्यवहित पूर्व नहीं मिलता है, इसलिए समास का आक्षेप किया जायेगा। समास में

विभक्ति का लोप हो जाता है। किन्तु समास से उत्तरपद का आक्षेप होने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति उत्तरपद में ही होने पर "गवेन्द्रयज्ञः" का दोष आ रहा था, जिसके लिए "अचि" को विशेषण न बनाकर विशेष्य बनाया गया है, किन्तु उत्तरपद के आक्षेप के बाद सूत्र का अर्थ यदि ऐसा किया जाय कि इन्द्रशब्दघटक जो अच्, तदादि उत्तरपद पर में रहने पर गो-शब्दावयव एङ् को अवङ् आदेश होता है, तब भी "गवेन्द्रयज्ञः" प्रयोग में कोई दोष नहीं होगा। क्योंकि इन्द्रयज्ञ शब्द, इन्द्रशब्दावयव अच् है आदि में जिसके ऐसा उत्तरपद तो है ही। इस प्रकार सूत्रार्थ करने का दूसरा फल यह भी होता है कि "गौश्च इन्द्रश्च देवदत्तश्चेति गविन्द्रदेवदत्ताः" तथा "गौः इन्द्रश्च प्रियो यस्यासौ गविन्द्रप्रियः" इन त्रिपदद्वन्द्व और बहुव्रीहि में अवङ् आदेश नहीं होता है, क्योंकि इन दोनों जगहों में "इन्द्रः" यह उत्तरपद न होकर मध्यमपद है।

'प्लुतप्रगृह्या' इत्यस्य 'प्रकृत्ये'ति पाठे एव सामञ्जस्यं मत्वाऽऽह—अथ प्रकृतीति। न चैतद्घटकपदार्थज्ञानाय प्रगृह्यत्वादिकथनं पूर्वं युक्तमिति वाच्यम्, 'इन्द्रे चे'त्यत्र प्राचीनपठितनित्यग्रहणस्य प्रामादिकत्वं बोधयितुं तदव्यवहितमेतत्सूत्र-लेखनात्। तत्र नित्यग्रहणे तदव्यवहितोत्तरैतत्सूत्रे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्याशयेनाह—प्लुताः प्रगृह्याश्च वक्ष्यन्त इति। अचीत्यनुवर्तमाने पुनरज्ग्रहणं प्रत्यासत्त्या यत्राप्यनयोः प्रकृतिभावस्तदज्निमित्तकार्यस्यैव तेनाभाव इत्यर्थलाभार्थं, तेन जानु उ अस्य रुजति—जानू अस्येत्यादौ सवर्णदीर्घरूपसन्धिर्भवत्येव। एहि कृष्णेति। 'दूराद्धूते चे'ति प्लुतः। अत्र प्लुतस्याऽऽश्रयात्सिद्धत्वं बोद्धव्यम्। नित्यमिति किमिति। वाग्रहणनिवृत्त्यैव तल्लाभ इति प्रश्नः। मा भूदिति। नित्यग्रहणसामर्थ्येन पुनर्विधानाद्बाधकविषयेऽप्ययमेवेति भावः।

कौमुदीकार ने प्रकृतिभाव का प्रारम्भ तो "सर्वत्र विभाषा गोः" (६।१।१२२) सूत्र में ही कर दिया है, किन्तु "अथ प्रकृतिभावः" ऐसा प्रकृतिभाव का आरम्भक वाक्य "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" (६।१।१२५) सूत्र के पहले कहा है। यहाँ शंका यह होती है कि इस आरम्भक वाक्य को "सर्वत्र विभाषा गोः" के पहले क्यों नहीं कहा, जहाँ प्रकृतिभाव का आरम्भ कर चुके हैं? शेखरकार इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "सर्वत्र विभाषा गोः" इस सूत्र में "प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे" सूत्र से "प्रकृत्या" पद की अनुवृत्ति होती है। इस सूत्र के सन्दर्भ में "नान्तः पादमव्यपरे" यह पाठान्तर भी मिलता है। ऐसी स्थिति में "सर्वत्र विभाषा गोः" इस सूत्र में यदि नञ्घटित पाठ से नञ् की अनुवृत्ति की जाय और बाध्यसामान्य चिन्तापक्ष का आश्रयण करके 'लोक और वेद में एङन्त गो शब्द को जो-जो प्राप्त है वह न होवे' ऐसा सूत्रार्थ किया जाय तो भी यहाँ अभीष्ट सिद्धि हो सकती है, क्योंकि प्रकृतिभाव के द्वारा जो कार्य होता है वही कार्य नकार की अनुवृत्ति करके निषेध के द्वारा भी हो रहा है। किन्तु "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" इस सूत्र में यदि नञ् की अनुवृत्ति करते हैं तब सूत्रार्थ इस प्रकार होगा—"अच् पर में रहने पर प्लुत और प्रगृह्य न होवें"। इसमें सन्देह नहीं है कि इस प्रकार का अर्थ यहाँ अनिष्टापादक ही होगा। इसलिए यहाँ "प्रकृत्या" की अनुवृत्ति से ही सामञ्जस्य

हो सकता है। बिना प्रकृत्या की अनुवृत्ति के यहाँ का कार्य नहीं चल सकता है। इस बात को सूचित करने के लिए ही इस सूत्र के पहले कौमुदीकार ने "अथ प्रकृतिभावः" ऐसा उल्लेख किया है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि "वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानं कारणम्" इस नियम के आधार पर "प्लुतप्रगृह्या" सूत्रघटक प्लुत और प्रगृह्य के ज्ञान के लिए यह आवश्यक था कि प्लुतादेशविधायक और प्रगृह्यसंज्ञाविधायक शास्त्रों के बाद ही "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" इस सूत्र का उल्लेख किये होते, क्योंकि प्लुतादेश और प्रगृह्यसंज्ञक शब्द ही इस सूत्र के उद्देश्य हैं। उन्हीं को उद्देश्य बना कर यह सूत्र प्रकृतिभाव करता है, इसलिए प्लुत और प्रगृह्य विधायक सूत्रों के बाद ही प्रकृतिभाव का विधान उचित है, न कि वर्तमान स्थल में। नागेश भट्ट इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि प्राचीनों ने "इन्द्रे च" सूत्र की जगह "इन्द्रे च नित्यम्" ऐसा पाठ मान रखा था। उनका यह पाठ प्रामादिक है, क्योंकि यदि ऐसा पाठ प्रामाणिक होता तो उसी से 'नित्यम्' पद की अनुवृत्ति "प्लुतप्रगृह्या" सूत्र में चली आती तो उसी से यहाँ का कार्य चल जाता। ऐसी स्थिति में "प्लुतप्रगृह्या" के नित्यग्रहण से समझते हैं कि "इन्द्रे च नित्यम्" ऐसा पाठ न होकर केवल "इन्द्रे च" यही इस सूत्र का स्वरूप है। इस प्रकार प्राचीनाभिमत पाठ प्रामादिक है, इस बात को बताने के लिए ही "इन्द्रे च" सूत्र के बाद "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" इस सूत्र का पाठ किया गया है। इसी अभिप्राय से कौमुदी में कहा गया है कि "प्लुताः प्रगृह्याश्च वक्ष्यन्ते इति" अर्थात् प्लुत और प्रगृह्य आगे कहे जायेंगे, अच् पर में रहने पर उनका प्रकृतिभाव होता है।

अब यह विचार हो रहा है कि "इको यणचि" सूत्र से "अचि" इस पद की अनुवृत्ति जो धाराप्रवाह न्याय से "इन्द्रे च" सूत्र में आती है वह "अचि" पद की अनुवृत्ति इस सूत्र में भी आ सकती है, तो पुनः इस सूत्र में "अचि" ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि "अचि" पद के ग्रहणसामर्थ्य से यह समझते हैं कि प्रत्यासत्त्या जिस अच् के पर में रहने पर अनयोः= प्लुत और प्रगृह्य का प्रकृतिभाव होता है, उसी अच्-निमित्तक कार्य का प्रकृतिभाव के द्वारा अभाव किया जाता है। अन्य अच्-निमित्तक कार्य का अभाव वहाँ प्रकृतिभाव के द्वारा नहीं होता है, अपितु वह कार्य तो होता ही है। इस प्रकार के ज्ञापन का फल यह होता है कि "जानु + उ + अस्य रुजति" इस प्रयोग में "निपात एकाजनाङ्" सूत्र से उकार की प्रगृह्य संज्ञा करने पर "अस्य" पदघटक अकाररूपी अच् को पर में मान कर इस सूत्र से उकार को जब प्रकृतिभाव कर दिया जाता है, तब पुनः अकार के आधार पर उकार को यण् नहीं होता है, किन्तु नकारोत्तरवर्ती उकार के साथ इस प्रगृह्य उकार का सवर्णदीर्घ तो होता ही है। इसके बाद 'जानू-अस्य रुजति' इस स्थिति में "मय उञः" सूत्र से ऊकार को वकार करके "जान्वस्य रुजति" प्रयोग बनाया जाता है।

"एहि कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति" इस प्रयोग में कृष्णशब्दघटक अन्तिम अकार की "दूराद्धूते च" (८।२।८४) सूत्र से प्लुत संज्ञा करने के बाद प्रस्तुत सूत्र से प्रकृतिभाव कर दिया जाता है, जिससे कोई सन्धिकार्य नहीं होता है। प्रश्न होता है कि प्लुतविधायक सूत्र त्रिपादी हैं और प्रकृतिभावविधायक प्रस्तुत सूत्र सपादसप्ताध्यायी है। ऐसी स्थिति में

"पूर्वत्रासिद्धम्" के द्वारा यहाँ प्लुत को असिद्ध हो जाना चाहिए। इस प्रश्न का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि प्लुतसंज्ञक को उद्देश्य करके "प्लुतप्रगृह्याः" सूत्र प्रकृतिभाव का विधान करता है। यदि इसके प्रति प्लुत असिद्ध हो जाय तो यह प्रकृतिभाव का विधान किसे करेगा? इसलिए प्रकृतिभाव का आश्रय अर्थात् उद्देश्य होने के कारण प्लुत असिद्ध नहीं होता है।

प्रस्तुत सूत्र में जो नित्य ग्रहण किया गया है उसकी इस सूत्र में क्या आवश्यकता है? ऐसा विचार कौमुदीकार ने किया है। उनके प्रश्न का तात्पर्य यह है कि "सर्वत्र विभाषा गोः" सूत्र से जो विभाषा पद की अनुवृत्ति होती है वह "अवङ् स्फोटायनस्य" सूत्र में आकर रुक जाती है। उसके आगे "इन्द्रे च" सूत्र में विभाषा की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए "इन्द्रे च" सूत्र नित्य ही अवङ् करता है। इसके बाद का सूत्र है—"प्लुतप्रगृह्या"। इस सूत्र में विभाषा की अनुवृत्ति के आने का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि इससे पूर्व के सूत्र में ही उसकी निवृत्ति हो चुकी है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत सूत्र से नित्य ही प्रकृतिभाव स्वतः सिद्ध है तो इस सूत्र में नित्यग्रहण की क्या आवश्यकता है?

इस उपर्युक्त शंका का उत्तर जो कौमुदी में दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि "हरी-इमौ" इस सवर्णी अच्परक उदाहरण में "प्लुतप्रगृह्याः" सूत्र प्रगृह्योद्देश्यक प्रकृतिभाव करके चरितार्थ है और "चक्रि अत्र" इस प्रयोग में "इकोऽसवर्णे" यह सूत्र चरितार्थ है। इस प्रकार अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाश ये दोनों सूत्र "हरी-एतौ" में साथ ही प्राप्त होते हैं। यहाँ पर प्रस्तुत सूत्र को परत्वात् बाधकर "इकोऽसवर्णे" सूत्र से ह्रस्वसमुच्चित्र प्रकृतिभाव न होने लगे, किन्तु यही प्रकृतिभाव हो, इस बात के लिए सूत्र में नित्यग्रहण किया गया है। नित्यग्रहण से इस बात का लाभ कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस सूत्र में "नित्यम्" इस अंश का योगविभाग किया जाता है। इस विभक्त सूत्र में पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति करके इसका अर्थ इस प्रकार किया जाता है—"प्लुत और प्रगृह्य से अच् पर में रहे तो उनका प्रकृतिभाव नित्य ही होता है। इस प्रकार "नित्यम्" इस योग का अर्थ करने पर यह शंका होती है कि यह कार्य तो "प्लुतप्रगृह्याः" इस योग से ही हो सकता है तो "नित्यम्" इस योग की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार "नित्यम्" यह योग व्यर्थ होकर पुनर्विधानसामर्थ्यात् बाधक को बाधने के लिए सार्थक होता है। "प्लुतप्रगृह्याः" का बाधक "इकोऽसवर्णे" यह सूत्र है। इसको बाध कर "हरी एतौ" इत्यादि स्थलों में नित्य ही प्रकृतिभाव का विधान करने के लिए इस सूत्र में नित्यग्रहण आवश्यक होता है।

इकोऽसवर्णे। 'एङः' इत्यतः 'पदान्तादि'त्यनुवृत्तं—प्रथमया विपरिणम्यत इत्याह—पदान्ता इति। वेति। ह्रस्वयणोर्विधानसामर्थ्यात्तु न विकल्पसिद्धिः। अपदान्तादौ यणश्चरितार्थत्वात्। सामर्थ्यादेवेति। चेन प्रकृतिभावाकर्षणेऽपि 'ऋत्यकः' इत्यत्र चानुकृष्टत्वेन तदसम्बन्ध इति तदर्थं ह्रस्वविधानसामर्थ्यस्याऽऽवश्यकत्वेन चकारो व्यर्थ इति भावः। भाष्ये स्थितमिति। 'प्रकृतसूत्रे' इति शेषः। एतेन 'ह्रस्वाभावे प्रकृतिभावार्थं चकार' इति न्यासाद्युक्तमपास्तम्। 'चक्री अत्रे'ति

तु संहिताया अविवक्षार्थो बोद्धव्यम्। 'न समासे' सिति चे'ति वार्तिकम्। पार्श्वमिति।'पर्श्वाणस् वक्तव्यः' इति णस्। 'सिति चे'ति पदत्वम्।

इस सूत्र में "एङः पदान्तादति" इस सूत्र से "पदान्तात्" इस पद की अनुवृत्ति होती है। इस सूत्र में जो "इकः" यह पद है वह प्रथमा का बहुवचन है। इसके आधार पर यहाँ अनुवृत्त "पदान्तात्" यह पञ्चम्यन्त पद प्रथमान्त रूप में परिवर्तित होता है। इसीलिए कौमुदीकार ने इस सूत्र की वृत्ति में कहा है—"पदान्ता इकोऽसवर्णे अचि प्रकृत्या स्युः" अर्थात् असवर्ण अच् पर में रहने पर पदान्त इक् को ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव होता है। कुछ लोगों का कहना है कि जहाँ इक् के आगे सवर्णी अच् रहेगा वहाँ दीर्घ के द्वारा यण् का बाध हो जायेगा। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ असवर्ण अच् रहेगा वहीं पर यण् और ह्रस्व की साथ में प्राप्ति होगी। जैसे "चक्री + अत्र" यहाँ पर यण् और ह्रस्व की साथ ही प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में दोनों सूत्रों के आरम्भसामर्थ्य से ही पर्यायेण दोनों कार्यों (ह्रस्व और यण्) की सिद्धि सम्भव है। ऐसी स्थिति में यहाँ किया गया "शाकल्यस्य" इस पद का ग्रहण उत्तरार्थ है न कि विकल्प के लिए है।

नागेश भट्ट इस बात से सहमत नहीं हैं, इसलिए उक्त कथन का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि यह कहना कि ह्रस्व और यण् के विधानसामर्थ्य से पर्यायेण उभय की सिद्धि से यहाँ विकल्प सिद्ध है, यह बात असंगत है। कारण यह है कि "गौर्यौ" प्रयोग में जहाँ अपदान्त ईकार है वहाँ ह्रस्व की प्राप्ति नहीं है किन्तु वहाँ यण् चरितार्थ है। इस प्रकार चरितार्थ यण् को "चक्री + अत्र" आदि स्थलों में ह्रस्व अपवादत्वात् बाध लेगा। परिणामस्वरूप यहाँ नित्य ह्रस्व होने लगेगा। इसलिए वैकल्पिक ह्रस्व की सिद्धि के लिए यहाँ "शाकल्यस्य" इस पद का ग्रहण आवश्यक है। शेखर के मूल में जो "अपदान्तादौ" यह पद कहा गया है इसमें आदि पद से "वाप्यश्वः" इत्यादि समासस्थल का ग्रहण होता है। यहाँ पर "न समासे" इस वार्तिक के द्वारा ह्रस्व का निषेध कर देने के कारण यण् चरितार्थ रहता है।

"इकोऽसवर्णे" सूत्र में जो चकार ग्रहण किया गया है वह प्रकृतिभाव के अनुकर्षण के लिए है, जिससे ह्रस्व के साथ प्रकृतिभाव का विधान करने से "चक्रि + अत्र" में यण् नहीं होता है। यहाँ कौमुदीकार का कहना है कि प्रस्तुत प्रयोग में ह्रस्व करने के बाद भी यदि यण् हो जाता है तो ह्रस्व-विधान ही व्यर्थ है। इसलिए ह्रस्वविधानसामर्थ्यात् ही यहाँ यणादि कार्य नहीं होंगें। ऐसी स्थिति में प्रकृतिभाव के अनुकर्षण के लिए यहाँ चकारग्रहण की क्या आवश्यकता है? अर्थात् यहाँ चकारग्रहण व्यर्थ है। नागेशभट्ट इस बात को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि "चानुकृष्टं नोत्तरत्र" जिसका अनुकर्षण चकार से होता है उसका अनुवर्तन आगे नहीं होता है। इस परिभाषा के कारण यहाँ अनुकृष्ट प्रकृतिभाव का अनुकर्षण "ऋत्यकः" सूत्र में नहीं होगा। ऐसी स्थिति में "ब्रह्म ऋषिः" इस प्रयोग में ह्रस्व के बाद प्राप्त गुण का वारण ह्रस्वविधानसामर्थ्यात् ही करना पड़ेगा। इस प्रकार एक जगह जब ह्रस्वविधानसामर्थ्य से ही सन्धिकार्य की व्यावृत्ति की जा रही है तब अन्यत्र भी ह्रस्वविधिसामर्थ्य से ही सन्धिकार्य की व्यावृत्ति सम्भव होने के कारण प्रकृतिभाव के अनुकर्षण के लिए यहाँ चकारग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है। अर्थात् यहाँ चकारग्रहण व्यर्थ ही हैं।

उपर्युक्त चकारवैयर्थ्य की बात केवल कौमुदीकार की कल्पना नहीं है किन्तु यह बात प्रकृत सूत्र के भाष्य में स्थित है। ऐसी स्थिति में न्यासादि ग्रन्थों में यह जो कहा गया है कि "चक्री + अत्र" इस स्थिति में जब ह्रस्वाभाव पक्ष है उस समय भी यण् न होकर वहाँ प्रकृतिभाव ही होता है। इस प्रकार ह्रस्वाभाव पक्ष में प्रकृतिभाव के अनुकर्षण के लिए चकारग्रहण यहाँ आवश्यक है; यह कथन अपास्त ही समझना चाहिए, क्योंकि ह्रस्वाभाव पक्ष में "चक्री + अत्र" में संहिता की अविवक्षा से यण् का अभाव होता है।

"इकोऽसवर्णे" सूत्र से "वाप्यश्वः" प्रयोग में प्राप्त ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव का निषेधक "न समासे सिति च" यह एक ही वार्तिक है। इन दोनों को सम्मिलित एक वार्तिक मानने का कारण यह है कि भाष्य में इन दोनों को कह कर "वार्तिकम्" ऐसा एकवचनान्त निर्देश किया गया है। इस वार्तिक के प्रथम भाग में पठित "न समासे" इससे "वाप्यश्वः" इस प्रयोग में प्रकृतिभाव का निषेध किया जाता है। 'वाप्याम् अश्वः' इस विग्रह में यहाँ सप्तमीसमास हुआ है।

वार्तिक के दूसरे भाग से "पर्शूनां समूहः" इस विग्रह में "पर्श्वाणस् वक्तव्यः" इस वार्तिक से णस् प्रत्यय करने पर "इकोऽसवर्णे" से प्राप्त प्रकृतिभाव का निषेध कर दिया जाता है, जिससे यण् करके "पार्श्वम्" यह प्रयोग बनाया जाता है। यहाँ "सिति च" सूत्र से पदसंज्ञा हो जाती है। फलस्वरूप भसंज्ञा न होने के कारण यहाँ "ओर्गुणः" सूत्र से गुण नहीं होता है।

ऋत्यकः। सवर्णार्थमनिगर्थञ्चेदम्। होतृ ऋकारः। ब्रह्म ऋषिः। आर्च्छदिति। आटो धात्ववयवत्वेनापदान्तत्वादिति भावः। एतेन 'आटश्चे'ति पुनर्वृद्धिविधानार्थेन चेन उस्योमाङ्क्षु पररूपबाधवत्प्रकृतिभावस्यापि बाधेनेष्टसिद्धि-रित्यपास्तम्।

समासेऽपीति। व्याख्यानादिति भावः। सप्तऋषीणामिति। 'दिक्सङ्ख्ये' इति समासः।

ह्रस्व ऋकार पर में रहने पर पदान्त अक् को प्रकृतिभाव का विधान यह सूत्र करता है। इससे पूर्व "इकोऽसवर्णे" सूत्र पदान्त इक् को असवर्ण अच् पर में रहने पर प्रकृतिभाव करता है। "ब्रह्म + ऋषिः" तथा "होतृ + ऋकारः" इस स्थिति में "इकोऽसवर्णे" सूत्र से प्रकृतिभाव सिद्ध नहीं है, क्योंकि पहले उदाहरण में इक् नहीं है और दूसरे उदाहरण में असवर्ण अच् पर में नहीं है। इसलिए सवर्ण अच् पर में रहने पर तथा इक् से भिन्न को प्रकृतिभाव का विधान करने के लिए इस सूत्र का आरम्भ किया गया है। यदि "इकोऽसवर्णे" सूत्र की जगह 'अकोऽसवर्णे" ऐसा सूत्र किया जाय तो "ब्रह्म + ऋषिः" इस प्रयोग की सिद्धि होने पर भी "होतृ ऋकारः" यह प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ सवर्णी अच् पर में है।

"ऋत्यकः" सूत्र में "पदान्तात्" इस पद की अनुवृत्ति होती है, इसलिए यह प्रकृतिभाव भी पूर्वसूत्र की भाँति पदान्त में वर्तमान अक् को करता है। पदान्त में वर्तमान अक् को प्रकृतिभाव करने का परिणाम यह होता है कि "आ + ऋच्छत् = आर्च्छत्" इस प्रयोग में "आकार" को

प्रकृतिभाव नहीं होता है। कारण यह है कि यहाँ जो "आ" है वह उपसर्ग आङ् नहीं है किन्तु यह आट् आगम का आकार है। आट् धातु का अवयव होता है, इसलिए यह पदान्त में नहीं है। इसीलिए इसे प्रकृतिभाव नहीं होता है। यदि यह आङ् का आकार होता तो पद होता।

कुछ प्राचीनों ने "आर्च्छत्" में प्रकृतिभाव के वारण के लिए उपायान्तर का अवलम्बन किया है। उनका कहना है कि "आटश्च"(६।१।९०) सूत्र में "वृद्धिरेचि" (६।१।८८) से वृद्धि पद की अनुवृत्ति सम्भव ही थी, तो ऐसी स्थिति में वृद्धि के अनुकर्षण के लिए यहाँ चकार-ग्रहण की क्या आवश्यकता थी? इस प्रकार चकारग्रहण व्यर्थ होकर पुनर्वृद्धिविधान के लिए सार्थक होता है। इसलिए "उस्रामैच्छत्" इस विग्रह में क्यजन्त उस्रीय धातु से लङ् लकार लाने पर तथा आट् का आगम करने पर "आ+उस्रीयत" इस स्थिति में "उस्यपदान्तात्" सूत्र से प्राप्त पररूप का तथा "ओङ्कारमैच्छत् औङ्कारीयत्" प्रयोग में औङ्कारीय धातु से लङ् लकार में आट् का आगम करने पर "ओमाङोश्च" सूत्र से प्राप्त पररूप का तथा "ओढमैच्छत् औढीयत्" इस प्रयोग में भी आ+ऊढ मिल कर ओढ बनने के कारण "ओमाङोश्च" सूत्र से जो पररूप प्राप्त रहता है इन तीनों स्थलों में पररूप को बाधकर "आटश्च" सूत्र से वृद्धि ही होती है। इसी प्रकार "आर्च्छत्" प्रयोग में भी प्रकृतिभाव को बाध कर वृद्धि हो जायेगी। ऐसी स्थिति में यहाँ प्रकृतिभाव को बाधने के लिए "पदान्तात्" इस पद की अनुवृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

नागेशभट्ट "पदान्तात्" पद की अनुवृत्ति करके ही "आर्च्छत्" का दोषवारण करने के पक्षधर हैं। इनका कहना है कि यदि 'पदान्तात्' की अनुवृत्ति नहीं की जायेगी तो "बहु-ऋच्छकः" प्रयोग में जहाँ बहुच् प्रत्यय हुआ है वहाँ भी प्रकृतिभाव होने लगेगा। ऐसे स्थलों पर प्रकृति-भाव का वारण करने के लिए "पदान्तात्" की अनुवृत्ति आवश्यक है। जब "पदान्तात्" की अनुवृत्ति आवश्यक हो जाती है तब उसी से "आर्च्छत्" का भी दोष हट सकता है, इसलिए पुनर्वृद्धिविधानार्थ चकार का आश्रय लेना आवश्यक नहीं है।

एतेन = "आर्च्छत्" इत्यादि प्रयोगों में अपदान्त होने के कारण ही जब प्रकृतिभाव का वारण हो रहा है तो "आटश्च" के चकार को पुनर्वृद्धिविधानार्थ मान कर "आर्च्छत्" में दोष का वारण करने वाले परास्त हैं।

"न समासे" इस वार्तिक के उदाहरण के रूप में भाष्यकार ने उन्हीं प्रयोगों का उपन्यास किया है, जिनमें "इकोऽसवर्णे" की प्राप्ति होती है। इस भाष्यव्याख्यान के आधार पर "न समासे" यह वार्तिक "इकोऽसवर्णे" का ही निषेध करता है। 'ऋत्यकः' सूत्र का वह निषेध नहीं करता है। इसलिए "ऋत्यकः" की प्रवृत्ति समास में भी होती है। "सप्त+ऋषीणाम्" यहाँ पर "ऋत्यकः" सूत्र से प्रकृतिभाव होता है। यहाँ पर "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इस सूत्र से समास होता है।

प्रकरणशुद्धये प्रकृतिभावविधायकसूत्रद्वयमुपन्यस्य 'प्लुतप्रगृह्या' इति सूत्रा-काङ्क्षितप्लुतप्रगृह्ययोर्मध्ये प्रथमोपात्तत्वात्प्लुतप्रकरणमारभते—वाक्यस्य टेः। वाक्यस्येत्यभावे पदस्य टेरित्यर्थेऽनन्त्यस्यापि पदस्य टेः प्लुतः स्यात्। तत्सत्त्वे तु वाक्यस्य टिरन्त्यपदस्यैव सम्भवतीति न दोषः। टिग्रहणाभावे प्लुतश्रुत्योपस्थिता-

च्परिभाषयाऽजन्तस्यैव स्यात्। टिग्रहणे तु तत्सामर्थ्याट्टिनाऽचो विशेषणाद्व्यञ्जनान्तस्यापि भवति।

"सर्वत्र विभाषा गोः" (६।१।१२२) सूत्र से ही प्रकृतिभाव का विधान करने पर भी "अथ प्रकृतिभावः" इस शब्द के द्वारा प्रकृतिभावप्रकरण का आरम्भ "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" इस सूत्र से किया गया है। "प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे" सूत्र जिसमें "प्रकृत्यान्तः" की जगह "नान्तः" यह पाठान्तर भी मान्य है, वहाँ से बिना प्रकृत्या की अनुवृत्ति किये "प्लुतप्रगृह्या" इस सूत्र में कार्य नहीं चल सकता है। इसके विपरीत "सर्वत्र विभाषा गोः" सूत्र में तो "नान्तःपादम्" की अनुवृत्ति से भी कार्य चल सकता है। इस बात को दृष्टिगत करके ही "प्लुतप्रगृह्या" सूत्र के पास प्रकृतिभाव का आरम्भ किया गया है। यह बात पहले भी कही जा चुकी है। इस प्रकार "प्रकृतिभावप्रकरण" का जहाँ आरम्भ किया गया है वहाँ इस प्रकरण की संगति के लिए प्रकृतिभावविधायक दो सूत्र "इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च" तथा "ऋत्यकः" को कह कर "प्लुतप्रगृह्या" इस सूत्र के वाक्यार्थबोध के लिए जिज्ञासित प्लुत और प्रगृह्य के मध्य प्रथम उपात्त (पठित) प्लुत के ज्ञान के लिए प्लुतप्रकरण का आरम्भ "वाक्यस्य टेः" सूत्र से कर रहे हैं।

इस सूत्र में यदि "वाक्यस्य" इस पद का ग्रहण न किया जाय तो "पदस्य" का अधिकार यहाँ होने से पद के टि की प्लुत संज्ञा होगी। इसका परिणाम यह होगा कि अनन्त्य पद के भी टि को प्लुत होने लगेगा। इसकी व्यावृत्ति के लिए "वाक्यस्य" इस पद का ग्रहण यहाँ आवश्यक है। "वाक्यस्य" का ग्रहण करने पर वाक्य के टि को प्लुत होता है। वाक्य का जो टि होता है वह अन्त्य पद का ही टि होता है, इसलिए अनन्त्य पद के टि को प्लुत नहीं होता है।

इस सूत्र में टिग्रहण करने से जो शब्द हलन्त हैं, उनके टि जो अच् हैं उन्हें भी प्लुत होता है। यदि टिग्रहण नहीं किया जाय तो "प्लुत" शब्द के उच्चारण के कारण यहाँ "अचश्च" इस परिभाषा की उपस्थिति होगी और उसके द्वारा षष्ठ्यन्त 'अचः' इस पद की उपस्थिति होगी। यह षष्ठ्यन्त पद "वाक्यस्य" इस पद का विशेषण होगा, जिससे तदन्तविधि करके अजन्त वाक्य को प्लुत हो, ऐसा सूत्रार्थ होगा। परिणाम यह होगा कि अजन्त वाक्य की प्लुत संज्ञा होगी, हलन्त वाक्य की प्लुत संज्ञा नहीं होगी। इसलिए यहाँ टिग्रहण आवश्यक है। टिग्रहण करने पर तद्ग्रहणसामर्थ्यात् अच् "टि" का विशेष्य बनता है, जिससे वाक्य के टि रूप अच् की प्लुत संज्ञा होती है—ऐसा सूत्रार्थ होता है। फलस्वरूप व्यञ्जनान्त के टि की भी प्लुत संज्ञा हो जाती है।

शेखर के मूल में 'टिना अचो विशेषणात्' कहा हुआ है, उसका अर्थ है टि के द्वारा अच् को विशेष्य बनाने के कारण। "विशेषणात्" इस पद में भाव में ल्युट् होने के कारण टिरूप कर्ता और अच् रूप कर्म दोनों अनुक्त है। ऐसी स्थिति में "उभयप्राप्तौ कर्मणि" सूत्र से "अचः" में षष्ठी हुई है तथा अनुक्त कर्ता "टि" में तृतीया हुई है। इस प्रकार "टिना अचो विशेषणात्" यह वाक्य निष्पन्न हुआ है।

प्रत्यभिवादे। प्रणामादिभिराशिषं वाच्यमानो गुर्वादिर्यत्प्रतिसम्भाषते

तत्प्रत्यभिवादः, न त्वाशीर्वचनं, शूद्रे आशीर्वादरूपप्रत्यभिवादाभावेनाशूद्रे इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः। अत एव भाष्ये 'अशूद्रे इति किम्? कुशल्यसि तुषजके'त्युक्तम्।

अभिवादये इति। नमस्कारादिपूर्वमाशीरादि वाचयामीत्यर्थः। 'आयुष्मा-नि'त्यायुष्मत्त्वस्य विधेयत्वात्सम्बोधनविभक्त्यभावः। एधीति। 'भवे'-त्यस्याप्युपलक्षणम्। प्रत्यभिवादे शर्मादिप्रयोगो न नियतः। 'एचोऽप्रगृह्यस्ये'ति सूत्रे प्रत्यभिवादेऽन्तस्यैचः प्लुतविधानात्। 'आयुष्मानेधि अग्निभूता ३ इ' इति भाष्ये तदुदाहरणाच्च। शर्मादिप्रयोगे तु तट्टेरेव प्लुतः। 'शर्मान्तं नाम ब्राह्मणस्ये'त्यादि-स्मृत्या तस्य नामावयवत्वबोधनात्। स्त्रियां नेति। स्त्रिया अपि नाम्नाऽभिवादप्रत्य-भिवादे इत्यर्थस्य भाष्यसम्मतत्वादिति भावः। नाम गोत्रं वेति। अभिवाद-प्रत्य-भिवादे नामगोत्राभ्यामेव स्मृतिषु प्रसिद्धेः। तत्राधिकृतस्य 'पदस्ये'त्यस्य 'प्रत्य-भिवादे' इत्यनेन विशेषणात् प्रत्यासत्त्या प्रत्यभ्युद्यमानार्थवाचकस्यैव प्लुत इति भावः। तत्र नामशब्देन द्वादशेऽह्नि पित्रादिकृतं गृह्यते। अत एव 'आयुष्मान् भव दण्डिन्नि'त्यादौ प्लुतो नेति स्पष्टं भाष्ये। भो राजन्येति। भोः शब्दस्य राजन्य-वैश्यवाचकनाम्नश्च टेः प्लुतो वेत्यर्थः। भोःशब्दस्याप्राप्ते, इतरयोस्तु नामत्वात्प्राप्ते— विभाषेयम्।

प्रत्यभिवादन का प्रयोग अभिवादन के बाद किया जाता है, इसलिए प्रत्यभिवाद शब्द का अर्थ आशीर्वचन है, ऐसा हरदत्त ने कहा है। नागेश भट्ट इस बात से असहमत हैं। इनका कहना है कि प्रत्यभिवाद शब्द का अर्थ आशीर्वचन ही नहीं है किन्तु प्रणाम करने के बाद प्रत्युत्तर के रूप में श्रेष्ठजनों द्वारा जो कुछ कहा जाता है उसे प्रत्यभिवाद कहते हैं। यदि ऐसा न मान कर आशीर्वचन मात्र को ही प्रत्यभिवाद माना जाय तो प्रस्तुत सूत्र में "अशूद्रे" ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि शूद्र के लिए आशीर्वचन के स्थान पर कुशलक्षेम पूछना ही शास्त्रसम्मत है। ऐसी स्थिति में शूद्र-विषयक आशीर्वचन के अभाव में जहाँ शूद्र का प्रत्यभिवाद रहेगा वहाँ प्लुत की प्राप्ति स्वयमेव न होने के कारण उसके निवारण के लिए किये गये "अशूद्रे" ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार प्रत्यभिवाद शब्द से आशीर्वचन मात्र का ग्रहण करने पर "अशूद्रे" ग्रहण का वैयर्थ्य स्पष्ट है। इसलिए प्रणामानन्तर श्रेष्ठजनों के वचन मात्र को प्रत्यभिवाद मानना चाहिए। इसीलिए भाष्यकार ने "अशूद्रे" ग्रहण का प्रत्युदाहरण 'कुशली असि तुषजक' यह प्रयोग दिया है। इससे स्पष्ट है कि अभिवादन के बाद आशीर्वादात्मक या कुशलादि प्रश्नात्मक जो कुछ भी श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा उच्चारित होता है वह प्रत्यभिवाद कहा जाता है। इसीलिए "कुशल्यसि तुषजक" इस वाक्य में प्लुतत्व के वारण के लिए "अशूद्रे" ग्रहण का सार्थक्य होता है।

"अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः" यह अभिवादन-वाक्य है। मैं देवदत्त प्रणामादि के द्वारा आशीर्वादात्मक आदि वचनों का उच्चारण करवाता हूँ, यही इस वाक्य का तात्पर्य है।

"आयुष्मान् एधि देवदत्त३" यह प्रत्यभिवाद वाक्य है। इस वाक्यघटक "आयुष्मान्" पद में सम्बोधन विभक्ति क्यों नहीं हुई है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि

सम्बोध्यतावच्छेदकरूपेण सम्बोध्य की सिद्धि रहने पर ही उसमें सम्बोधन विभक्ति होती है। रामत्वेन रूपेण राम की सिद्धि रहने पर ही "हे राम" ऐसा वाक्यप्रयोग होता है। प्रस्तुत स्थल में आयुष्मत्व विधेय है, अतः यह सिद्ध न होकर साध्य है। इसलिए यहाँ सम्बोधन विभक्ति नहीं होती है।

"आयुष्मान् एधि देवदत्त ३" यह प्रत्यभिवाद वाक्य है। यहाँ शंका होती है कि "आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने" इस मनुवचन के अनुसार विप्र-विषयक प्रत्यभिवाद वाक्य में "भव" का प्रयोग करना चाहिए, तो दीक्षितजी ने यहाँ "एधि" का प्रयोग क्यों किया है? इसके उत्तर में ग्रन्थकार कह रहे हैं कि "एधि" यह पद "भव" इस पद का भी उपलक्षण है, इसलिए कोई दोष नहीं है।

स्मृत्यादि ग्रन्थों में कहा गया है कि ब्राह्मण का नाम शर्मान्त होता है। ऐसी स्थिति में "आयुष्मान् एधि देवदत्त ३" इस प्रत्यभिवाद वाक्य में शर्मान्त का प्रयोग न करना कौमुदीकार की न्यूनता को ही व्यक्त करता है। इस आशंका के उत्तर में कह रहे हैं कि प्रत्यभिवाद वाक्य में शर्मा आदि का प्रयोग नियत नहीं है। कारण यह है कि "एचोऽप्रगृह्यस्य" इस सूत्र में वृत्तिकार ने प्रत्यभिवाद में अन्त्य एच् का प्लुत-विधान किया है। यदि प्रत्यभिवाद में शर्मान्त प्रयोग नियत होता तो वहाँ अन्त्य एच् के न होने के कारण एच् का प्लुत-विधान व्यर्थ हो जाता। भाष्यकार ने भी "आयुष्मान् एधि अग्निभूत ३" यह प्रत्यभिवाद का उदाहरण दिया है। इस उदाहरण में भी शर्मान्त प्रयोग नहीं है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्यभिवाद-वाक्य में शर्मान्त प्रयोग नियत नहीं है। जहाँ शर्मा आदि शब्दों का प्रयोग होगा वहाँ तो उसी के टि को प्लुत होगा, क्योंकि "शर्मान्तं नाम ब्राह्मणस्य" इस स्मृति से विदित होता है कि शर्मन् शब्द नाम का अन्त्यावयव होता है।

"स्त्रियां न" इस वार्तिक का अर्थ हैं—'स्त्री-विषयक प्रत्यभिवाद वाक्य के टि को प्लुत नहीं होता है'। कुछ लोगों का कहना है कि स्त्री के लिए अभिवादन का प्रावधान नहीं है, किन्तु स्त्रियाँ नामादि निर्देश के बिना चरणस्पर्श मात्र करती हैं। भाष्यकार ने स्त्रियों के लिए भी नामनिर्देशपूर्वक अभिवादन और प्रत्यभिवाद का उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में स्त्री-विषयक प्रत्यभिवाद वाक्य के टि को प्लुत प्राप्त होता है, जिसका "स्त्रियां न" इस वार्तिक से निषेध हो जाता है।

"नाम गोत्रं वा यत्र प्रत्यभिवादवाक्यान्ते प्रयुज्यते तत्रैव प्लुत इष्यते"। जिस प्रत्यभिवाद वाक्य के अन्त में नाम और गोत्र का प्रयोग किया गया होता है वहीं पर प्लुत होता है।

अभिवाद और प्रत्यभिवाद दोनों में नाम और गोत्र का निर्देश करना स्मृतियों में प्रसिद्ध है। तत्र = "प्रत्यभिवादेऽशूद्रे" इस सूत्र में "पदस्य" सूत्र से "पदस्य" इस पद की अनुवृत्ति आती है। अनुवृत्त पद प्रत्यभिवाद का विशेषण होता है, इसलिए तदन्तविधि के द्वारा पदान्तत्व का लाभ होता है। प्रत्यासत्ति न्याय से अभ्युद्यमान = कथ्यमान अर्थात् जिसके लिए प्रत्यभिवाद वाक्य का प्रयोग किया गया है, तदर्थ वाचक को ही प्लुत होता है। इस सूत्र में "वाक्यस्य टेः" इसका अधिकार आने से वहाँ वाक्य सम्बन्धी टि भी अपेक्षित होता है। अभिवादन और

प्रत्यभिवाद में नाम और गोत्र के उच्चारण की बात स्मृतिसिद्ध है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट होती है कि प्रत्यभिवाद के अवसर पर पदान्त (वाक्यघटक पदान्त) में नाम और गोत्र का प्रयोग किया गया हो वहीं पर "टि" को प्लुत होता है। इसी बात का अनुवादक यह प्रस्तुत वार्तिक है। यह कोई अपूर्व विधायक वार्तिक नहीं है, किन्तु अनुवादक मात्र है।

यहाँ नाम पद से "द्वादशेऽह्नि पिता नाम कुर्यात्" इस शास्त्रीय वचन के आधार पर पिता द्वारा बारहवें दिन किया गया नाम ही गृहीत होता है। इसलिए "आयुष्मान् भव दण्डिन्" इस वाक्यघटक टि को प्लुत नहीं होता है। यह बात भाष्य में स्पष्ट है।

"भो राजन्य" इस वार्तिक से "भोः" शब्द के टि को तथा राजन्य और विश् वाचक शब्द के टि को प्लुत विकल्प से होता है। यहाँ "भोः" शब्द के नामवाची न होने के कारण प्लुत संज्ञा अप्राप्त है तथा राजन्य और वैश्य अंश में नाम होने के कारण प्लुत संज्ञा नित्य ही प्राप्त है। इन दोनों अंशों में विकल्प करने के कारण यह वार्तिक उभयत्र विभाषा है।

दूराद्धूते। यावति देशे प्राकृतप्रयत्नोच्चारितं सम्बोद्ध्यमानो न शृणोति किन्त्वधिकं प्रयत्नमपेक्षते—तावद्दूरम्। दूरादाह्वानञ्च दूराद्बोधनस्योपलक्षणं न तु सम्बोधनविभक्तिनियामकस्याभिमुखीकृत्य बोधनरूपस्य सम्बोधनस्योपलक्षणम्। 'आगच्छतु भवान्देवदत्त' इत्येवमाह्वानस्यापि सम्भवात्। अत एवाऽऽकडारसूत्रे नदी-गुरुसञ्ज्ञयोः समावेशे 'वात्सीबन्धुरि'त्यत्र 'गुरोरि'ति प्लुतो, 'नदी बन्धुनी'ति पूर्वपदान्तोदात्तत्वञ्च फलमुक्त भाष्ये। अन्यथाऽत्र सम्बोधनाभावेन 'गुरोरि'-त्यस्याप्राप्त्या तदसङ्गतिः स्पष्टैव।

उपलक्षणत्वादसत्यप्याह्वाने भवति; तदाह—सक्तूनित्यादि। अत्रापि दूराद्धूते इत्येतदनुवृत्तस्य पदस्येत्यस्य विशेषणं, तेन हूयमानार्थवाचिनः पदस्यैव टेः प्लुतः, तच्च रूढं यौगिकं वेत्यन्यदेतत्।

"दूराद्धूते च" इस सूत्रघटक "दूरात्" इस पद में "दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च" इस सूत्र से प्रातिपदिकार्थमात्र में पञ्चमी हुई है। यदि "दूरं देशं समपेक्ष्य" इस प्रकार का अर्थ विवक्षित किया जाय तब "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इस वार्तिक से कर्म में पञ्चमी हो सकती है। "हूत" शब्द भाव में क्त प्रत्यय करने से बना है। इसका अर्थ है आह्वान। सूत्र में आया हुआ दूर शब्द अनियत है। कारण कि जो स्थान किसी के लिए दूर है वही स्थान दूसरे के लिए समीप हो जाता है। इस प्रकार दूरत्व की अनवस्थिति को देखते हुए उसके निराकरण के लिए शेखरकार कह रहे हैं कि जिस देश (स्थान) में स्थित पुरुष के प्रयत्नोच्चारित शब्द को सम्बोध्यमान पुरुष नहीं सुनता है किन्तु उसे सुनने के लिए अधिक प्रयत्न की अपेक्षा रखता है, वह स्थान दूर कहा जाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि "हूत" शब्द का अर्थ "आह्वान" है। यह "आह्वान" बोधन मात्र का उपलक्षण है। इसे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह सम्बोधन विभक्ति का नियामक और अभिमुख करके बोधन कराने वाले सम्बोधन का उपलक्षण है। कारण यह है कि आह्वान इस प्रकार भी होता है कि "आगच्छतु भवान् देवदत्त ३"। यहाँ सम्बोधन विभक्ति तो नहीं है किन्तु आह्वान तो है ही, इसलिए यहाँ प्लुत हुआ है। सम्बोधन

का उपलक्षण हूत शब्द है, ऐसा मानने पर यहाँ प्लुत नहीं होता, क्योंकि यहाँ सम्बोधन विभक्ति नहीं है।

अत एव = हूत शब्द का उपर्युक्त आह्वान अर्थ और आह्वान को बोधन मात्र का उपलक्षण मानने से ही "आकडारा" सूत्र के भाष्य में नदी और गुरु संज्ञाओं के समावेश का उदाहरण "वात्सीबन्धु" यह प्रयोग संगत होता है। "वात्सी" के अनन्त्य ईकार की गुरुसंज्ञा होने से "गुरोरनृतः" इस सूत्र से प्लुतत्व होता है। उसी ईकार की नदी संज्ञा होने से "नदी बन्धुनि" इस सूत्र से पूर्वपद के अन्त्य ईकार की उदात्तता होती है। अन्यथा हूत का अर्थ सम्बोधन करने पर तथा "गुरोरनृतः" सूत्र में "दूराद्धूते" का सम्बन्ध होने के कारण यहाँ (वात्सीबन्धु प्रयोग में) सम्बोधन के न होने के कारण "गुरोरनृतः" सूत्र की प्राप्ति ही नहीं होती तो उक्त भाष्य की असंगति स्पष्ट ही है।

हूत शब्द बोधन मात्र का उपलक्षण है, ऐसा स्वीकार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कथञ्चित् बोधन होने पर भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है। इसलिए आह्वान न होने पर भी "सक्तून् पिब देवदत्त ३" इस प्रयोग में प्लुत की सिद्धि हो जाती है। इस सूत्र में भी "पदस्य" की अनुवृत्ति आती है। "दूराद्धूते" यह उस अनुवृत्त "पदस्य" का विशेषण होता है। इसलिए हूयमान अर्थ के वाचक पद के ही टि को प्लुत होता है। तच्च = वह पद रूढ हो या यौगिक हो यह दूसरी बात है।

हैहेप्र। हैहयोः सम्बोधनद्योतकत्वेन केवलाभ्यामपि ताभ्यां सम्बोधनदर्शनेन च तयोरपि हूयमानार्थपदत्वाद् 'गुरोरनृत' इत्येव सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह— हैहयोरेवेति। 'हैहेऽन्ते' इत्येव सिद्धे प्रयोगग्रहणादनन्त्ययोरपि। तदाह—हे ३ रामेति। केचित्तु एकं हैहेग्रहणमनन्त्यार्थम्, अन्यथा 'वाक्यस्य टेरि'त्यधिकारादन्त्ययोरेव तयोः स्यात्, तदाह—हे३ रामेति। प्रयोग इति तु—यत्र सम्बोधनोत्तरं तयोः प्रयोगस्तत्र तेनैवाभिमुख्यस्य द्योतितत्वेन द्योत्याभावादनर्थकयोरपि तयोः प्लुतार्थं, तदाह—राम है ३ इति। अन्यथाऽप्रयुक्तयोः प्लुतासम्भवात्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। 'हैहयोरि'ति तु—तयोर्हूयमानार्थपदत्वाभावादप्राप्ते विध्यर्थम्। नियमे तु न मानम्, तेनात्र प्लुतसमावेशः, एतत्सर्वं भाष्यकैयटयोः स्पष्टमित्याहुः।

यत्तु—अयं हूयमानार्थपदस्य टेः प्लुतस्य बाधकस्तक्रकौण्डिन्यन्यायादिति, तन्न, 'शिव हे' इत्यादौ तस्याप्राप्तेस्तन्न्यायविषयाभावात्।

सम्बोधन करने पर "है" और "हे" इन दो अव्ययों से घटित वाक्य में "है" और "हे" इन दोनों का प्लुतविधान करने के लिए यह सूत्र है। कौमुदीकार ने इस सूत्र को नियमार्थक माना है। उनका तात्पर्य यह है कि "वाक्यघटक हूयमान पदावयव जो ऋकार से भिन्न अनन्त्यगुरु हो, उसे "गुरोरनृतः" सूत्र से प्लुत किया जाता है। ऐसी स्थिति में 'पाहि है ३ राम', 'पाहि हे ३ राम' इन प्रयोगों में "गुरोरनृतः" सूत्र से ही प्लुत सिद्ध है तो इस प्रस्तुत सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार यह सूत्र व्यर्थ होकर नियमार्थक होता है। यदि कहा जाय कि "गुरोरनृतः" सूत्र से वहीं प्लुत होता है जहाँ सम्बोधन वाक्य हो और सम्बोधन अर्थ वहाँ द्योतित

होता हो। "है" और "हे" इन पदों से सम्बोधन अर्थ के द्योतित न होने की स्थिति में "गुरोरनृतः" सूत्र से इन्हें प्लुत कैसे होगा? नागेश भट्ट इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "है" और "हे" ये दोनों पद सम्बोधन के द्योतक हैं। श्रेयस्काम व्यक्ति को—"आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः" ॥ इस स्मृतिवचन के अनुसार श्लोक में आये हुए नामों का उच्चारण नहीं करना चाहिए। ऐसी स्थिति में जहाँ नाम का उच्चारण न किया गया हो ऐसे स्थल "आगच्छ है ३ आगच्छ हे" इत्यादि प्रयोगों में "है" और "हे" ये सम्बोधन के द्योतक देखे गये हैं। यदि कहा जाय कि "समभिव्याहृत-पदनिष्ठशक्त्युद्बोधकत्वमेव द्योतकत्वम्" यह द्योतक का लक्षण वहाँ संगत नहीं हो रहा है जहाँ नाम का उच्चारण नहीं किया जा रहा है, तो "है" और "हे" को सम्बोधन का द्योतक कैसे माना जाय? तो इस प्रश्न के उत्तर में भैरवीकार का कहना है कि जिस प्रकार "प्रादेशं विमाय परिलिखति" इस वाक्य के अर्थ में "प्रादेशं विपरिलिखति" का प्रयोग किया जाता है और वहाँ "वि" यह उपसर्ग अविद्यमान विमान (नापना) क्रिया का द्योतक होता है, उसी प्रकार "आगच्छ है" इस प्रयोग में प्रयुक्त "है" यह अव्यय अविद्यमान सम्बोधन का द्योतक है। स्वघटित वाक्यार्थ में अन्वययोग्य पदार्थ का आक्षेप कराना ही यहाँ द्योतक के रूप में विवक्षित है। "आगच्छ है" इस वाक्य में अन्वय योग्य सम्बोधन पद का आक्षेप कराना ही यहाँ "है" और "हे" का द्योतकत्व है।

दूसरी बात यह है कि "जहाँ किसी नाम का प्रयोग नहीं भी किया गया हो वहाँ "आगच्छ है" इत्यादि स्थलों में केवल "है" और "हे" के द्वारा भी सम्बोधन देखा जाता है। इसलिए "पाहि है ३ राम" "पाहि हे ३ राम" इत्यादि प्रयोगों में "गुरोऽरनृतः" सूत्र से ही प्लुत की सिद्धि हो जाने से यह सूत्र नियमार्थक है, यह बात सुस्थिर होती है। इसीलिए कौमुदीकार ने कहा है कि "हैहयोरेव प्लुतः" दूर से सम्बोधन करने पर जिस वाक्य का प्रयोग किया जाता है, तद्वाक्यघटक टि को प्लुत न करके वहाँ 'है' और 'हे' को ही प्लुत किया जाता है।

इस सूत्र में "वाक्यस्य टेः" का अधिकार आता है। "है हे" ये वाक्य के विशेषण होते हैं। विशेषण बनने के फलस्वरूप तदन्तविधि होने पर सूत्रार्थ इस प्रकार होगा कि "है हे" शब्दान्त जो वाक्य, तद्घटक "है" और "हे" शब्द को प्लुत होता है। ऐसा अर्थ करने पर "है ३ राम" "पाहि है ३ राम" इन उदाहरणों में "है" और "हे" को प्लुत नहीं होगा, क्योंकि ये वाक्य "है" और "हे" शब्दान्त वाक्य नहीं हैं? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि 'है हे प्रयोगे' की जगह 'हैहेऽन्ते' ऐसा लघुभूत न्यास करके 'है हे' शब्दान्त वाक्यावयव "है" और "हे" इन दोनों पदों को ही प्रत्यासत्त्या प्लुत हो, ऐसा उसका अर्थ करने से ही कार्य चल सकता था तो "है हे प्रयोगे" इस प्रकार का गुरुभूत न्यास क्यों किया गया? इसलिए इस गुरुभूत न्यास से यह समझते हैं कि "है" और "हे" यदि अनन्त्य हों तो वहाँ भी इन्हें प्लतु होता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रयोगग्रहणसामर्थ्यात् यहाँ तदन्तविधि नहीं होती है, इसलिए वाक्यावयव है और 'हे' को प्लुत की सिद्धि हो जाती है, जिससे "हे ३ राम" आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

अब "केचित्तु" इस पद के द्वारा सिद्धान्त पक्ष का उल्लेख करते हुए कह रहे हैं कि इस सूत्र में "है" और "हे" का दो बार प्रयोग हुआ है। उनमें जो एकम् = आद्यम् (पहला) जो "है" और "हे" ग्रहण है, वह "है राम" इत्यादि प्रयोगों में जहाँ 'है' और 'हे' अनन्त्य हैं, उन्हें प्लुत करने के लिए हैं। अन्यथा = प्रथम "है हे" ग्रहण के अभाव में "प्रयोगे हैहयोः" ऐसा न्यास करने पर "वाक्यस्य टेः" का अधिकार आने से यहाँ तदन्तविधि हो जायेगी। परिणाम यह होगा कि "जिस वाक्य में" है हे" ये दोनों अन्त में रहेंगें वहीं इन्हें प्लुत होगा, अनन्त्य "हे" और "है" को प्लुत नहीं होगा। इसलिए प्रथम "है हे" ग्रहण अनन्त्य के प्लुत-विधान के लिए है। इसीलिए कौमुदीकार कहते हैं "हे ३ राम"—यहाँ अनन्त्य को प्लुत किया गया है।

सूत्र में "प्रयोगे"ग्रहण का फल बताते हुए कह रहे हैं कि जहाँ "राम हे ३" इस प्रकार सम्बोधन के बाद तयोः = 'है' और 'हे' का प्रयोग किया जाता है वहाँ, तेनैव = सम्बोधन पद "राम" आदि से ही आभिमुख्य अर्थ का द्योतन हो जाता है तो वहाँ दूसरे द्योत्य के न रहने के कारण "है" और "हे" पद निरर्थक हो जाते हैं। उन निरर्थक "है" और "हे" पदों के प्लुत-विधान के लिए प्रयोगग्रहण किया गया है। प्रयोगग्रहण करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन दोनों का यथाकथञ्चित् प्रयोग होना चाहिए। उन्हें प्लुत करने के लिए उनका अर्थवान् होना अपेक्षित नहीं है। किन्तु केवल उनके प्रयोग की अपेक्षा है। इसी बात को सन्दर्भित करते हुए दीक्षितजी सम्बोधन के बाद "है" का प्रयोग करते हुए उदाहरण दिये हैं "राम है ३"। अन्यथा = "प्रयोगे" ग्रहण को "अनर्थक है हे" के प्लुतार्थ स्वीकार न करने पर उसका (प्रयोगे ग्रहण का) वैयर्थ्य स्पष्ट ही है, क्योंकि जब "प्रयोगे" ग्रहण रहता है तब उसके सामर्थ्य से "अनर्थक "है, हे" का प्रयोग होता है और उन्हें प्लुत होता है। "प्रयोगे" ग्रहण को जब ऐसा नहीं मानेंगे तब उनका (अनर्थकों का) प्रयोग नहीं होगा और जब प्रयोग नहीं होगा तब अप्रयुक्तों (है और हे) की प्लुतता नहीं होगी और जब उन्हें प्लुत ही नहीं हो रहा है तब "प्रयोगे" ग्रहण की आवश्यकता ही क्या है? इस प्रकार 'प्रयोगे' ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा।

अब दूसरे "हैहयोः" पद के ग्रहण करने का प्रयोजन बताते हुए कह रहे हैं कि तयोः= "है और "हे" इन दोनों के हूयमानार्थक पद न होने के कारण पूर्वसूत्र "दूराद्धूते च" अथवा अग्रिम सूत्र "गुरोरनृतः" किसी से भी प्लुत की प्राप्ति नहीं है। अतः अप्राप्त प्लुत का विधान करने के लिए यह सूत्र विधिसूत्र है। द्वितीय 'हैहयोः' पद का ग्रहण इसी बात का सूचक है। इसका तात्पर्य यह है कि नाम और गोत्र की ही हूयमान अर्थ में शक्ति है। 'है' और 'हे' तो आभिमुख्य के द्योतक मात्र है। हूयमानार्थनिरूपित शक्ति इनमें नहीं है। इसलिए इन्हें प्लुत-विधान के लिए यह सूत्र विध्यर्थ है। इस सूत्र के नियमार्थक होने में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए इस सूत्र की वृत्ति में दीक्षितजी ने जो एवकार का प्रयोग किया है कि 'हैहयोरेव प्लुतः' यह नियमसूचक एवकार का प्रयोग ठीक नहीं है। तेन = इस सूत्र को विध्यर्थक मानने से, अत्र = "हे ३ राम ३" इस प्रयोग में "दूराद्धूते च" सूत्र से विहित प्लुत का भी समावेश हो जाता है। प्रस्तुत उदाहरण में "हे" की प्लुत संज्ञा प्रस्तुत सूत्र से तथा रामशब्दावयव टि की प्लुतसंज्ञा "दूराद्धूते च" सूत्र से होती है। कुछ लोगों का कहना है कि "हैहेप्रयोगे हैहयोः" सूत्र

से विधेय प्लुत हूयमानार्थ पद के टि का प्लुत जो "दूराद्धूते च" सूत्र से होता है, उसका तक्रकौण्डिन्य न्याय से बाधक है। किन्तु यह कहना असंगत है, क्योंकि तक्रकौण्डिन्यन्याय से बाधकता वहीं होती है जहाँ बाधकशास्त्र निरवकाश होता है। प्रस्तुत स्थल में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि "शिव हे३" इस उदाहरण में "दूराद्धूते च" सूत्र की प्राप्ति नहीं है और वहाँ प्लुत-विधान करके यह सूत्र चरितार्थ है। "दूराद्धूते च" सूत्र की प्राप्ति यहाँ इसलिए नहीं है कि "हे" यह पद हूयमान अर्थ का वाचक ही नहीं है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। यह तो आभिमुख्य का द्योतक मात्र है। इसलिए "दूराद्धूते च" की अप्राप्ति स्थल में चरितार्थ यह सूत्र उसका अपवाद नहीं हो सकता है।

निष्कर्ष यह है कि यह सूत्र नियमार्थक न होकर विध्यर्थक है। इस सूत्र में किया गया प्रथम "है हे" ग्रहण जहाँ नामोच्चारण का निषेध किया गया है, ऐसे "एहि हे" इत्यादि प्रयोगों में हूयमानार्थक शब्द के न होने के कारण अप्राप्त प्लुत के विधान के लिए है। दूसरा "हैहयोः" ग्रहण "हे ३ राम" इस प्रकार के प्रयोगों में जहाँ हूयमान का प्रयोग किया गया है, किन्तु "है" और "हे" ये वाक्य के आदि में हैं तो ऐसे स्थलों में भी पूर्वसूत्र से इनकी प्लुत संज्ञा अप्राप्त है, इसलिए यहाँ भी विधान करने के लिए यह विध्यर्थक ही है।

गुरोर।'दूराद्धूते' इत्यनुवर्त्तते, तेन दूराद्बोधन एव प्रवृत्तिः, तदाह—दूराद्धूत इति। दूरत्वञ्चात्राविवक्षितं, तेन प्रत्यभिवादे 'भो राजन्ये'त्यस्य विषयेऽप्यस्य प्रवृत्तिः। तद्विषयेऽप्युपलक्ष्यबोधनसत्त्वात्। सर्वप्लुतप्रकरणस्य तु न शेषः। तथा हि सति 'वाक्यस्य टेरि'त्यनेन सहैवास्याप्यधिकारत्वमेव कुर्यात्। एतत्त्रयविषयमेवेदमिति प्रकृतसूत्रे 'अनुदात्तम्प्रश्नान्ते'ति सूत्रे च वृत्तौ स्पष्टम्। 'अपि'-शब्दो यथाप्राप्तटिसमुच्चयार्थः। यदि तु गुरोः सन्निधानादन्त्यो गुरुरेव समुच्चीयेत, तदाऽन्त्यलघुमपि अनन्त्यगुरावेतस्य, अन्त्यलघौ 'दूराद्धूते चे'त्यादीनां दुर्वारत्वेन प्लुतसमावेशापत्तिः। एकैकग्रहणं त्वेतद्विहितानामेव पर्यायार्थं स्यात्। तेन यत्रान्त्योऽपि गुरुरनन्त्यगुरुद्वयं वा—तत्रैव पर्यायः स्यात्। व्याख्यानाच्चैतदर्थलाभः।

"गुरोरनृतः" सूत्र में "दूराद्धूते" इस पद की अनुवृत्ति होती है, इसलिए दूर से बोधन में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। इसी अभिप्राय से इस सूत्र की वृत्ति में कौमुदीकार ने कहा है कि "दूराद्धूते" इत्यादि। अर्थात् दूर से बोधन करने में वाक्यघटक ऋद्भिन्न अनन्त्य गुरु को प्लुत होता है।

शेखरकार का कहना है कि अनुवर्तमान 'दूराद्धूते' में दूरत्व अविवक्षित है। इसका फल यह होता है कि जहाँ प्रत्यभिवाद वाक्य होता है वहाँ "भो राजन्य विशां वेति वक्तव्यम्" इस वार्तिक के विषय में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि वहाँ भी अनन्त्य गुरु को प्लुत होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रत्यभिवाद वाक्य दूर से न होकर समीप से ही उच्चारित किया जाता है। अब रही बात बोधन की तो इसके विषय में शेखरकार का कहना है कि तद्विषये = "भो राजन्य विशाम्" के विषय में भी अर्थात् जिसका प्रत्यभिवादन कर रहे हैं उसके लिए भी बोधन तो वहाँ है ही।

अब यहाँ यह विचार कर रहे हैं कि इस सूत्र से विधेय प्लुत सारे प्लुत-प्रकरण का शेष क्यों नहीं होता है ? तात्पर्य यह है कि प्लुतविधायक अन्य सूत्रों से प्लुत का विधान करने पर इस प्रस्तुत सूत्र से अनन्त्य गुरु को प्लुत क्यों नहीं होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि यह (गुरोरनृत का प्लुत) प्लुत सारे प्लुत-प्रकरण का शेष नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो "वाक्यस्य टेः" के साथ "गुरोरनृतः" का भी अधिकार ही कर दिये होते। किन्तु ऐसा न करने से विदित होता है कि यह सारे प्लुत-प्रकरण का शेष (अङ्ग) नहीं है। भाष्यकार ने इस विषय में कुछ नहीं कहा है, इसलिए वृत्तिग्रन्थ का प्रमाण देते हुए कह रहे हैं कि प्रस्तुत सूत्र तथा "अनुदात्तं प्रश्नान्ते" सूत्र के वृत्तिग्रन्थ में इसे तीन सूत्रों से ही सम्बद्ध कहा गया है। ये तीन सूत्र है "प्रत्यभिवादेऽशूद्रे", "दूराद्धूते च" और "हैहेप्रयोगे हैहयोः"। प्रस्तुत सूत्र के वृत्तिग्रन्थ में कहा गया है कि "प्रत्यभिवादे" और "दूराद्धूते च" इत्यादि सूत्रों से जो प्लुत विहित है, उस प्लुत के स्थानी का निर्देश यह सूत्र करता है। "अनुदात्तं प्रश्नान्ते" के वृत्तिग्रन्थ में कहा है कि इस सूत्र से अनुदात्तत्वादि गुणमात्र का विधान किया जाता है न कि प्लुत का विधान। प्लुत का विधान तो "दूराद्धूते च" इत्यादि सूत्रों से ही किया जाता है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि यह सूत्र "दूराद्धूते च" इत्यादि सूत्रों से विहित प्लुत के स्थानी का निर्देश करता है, इसलिए यह उन तीन सूत्रों से ही सम्बद्ध है।

प्रस्तुत सूत्र में अपि शब्द आया है। इस अपि शब्द से यथाप्राप्त (प्रकरण से प्राप्त) टि का समुच्चय होता है। इसका परिणाम यह होता है कि जब टि को प्लुत होगा तब अनन्त्य गुरु को प्लुत नहीं होगा और जब अनन्त्य गुरु को प्लुत होगा तब वाक्य के टि को प्लुत नहीं होगा। यदि गुरु के सन्निधान से अपि शब्द के द्वारा अन्त्य गुरु का ही समुच्चय किया जाय तब अन्त्य लघु वाले वाक्य में इस सूत्र से अनन्त्य गुरु को प्लुत किया जायेगा और अन्त्य लघु की "दूराद्धूते च" सूत्र से प्लुतता होगी। इस प्रकार प्लुतद्वय का वहाँ समावेश होने की आपत्ति हो जायेगी। यदि कहा जाय कि इस सूत्र में एकैक ग्रहण किया गया है, उसके सामर्थ्य से दो प्लुतों का एक साथ होने का निवारण कर दिया जायेगा तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि "एकैक" ग्रहण इसी सूत्र में किया गया है, इसलिए यह एकैक ग्रहण इस सूत्र से विहित प्लुतों का ही पर्याय करेगा, न कि इसके और "दूराद्धूते च" के प्लुतों के बीच पर्याय कर सकेगा। इसलिए प्लुतद्वय का समावेश न होने लगे, एतदर्थ अपि शब्द से यहाँ अन्त्य गुरु का समुच्चय नहीं करना चाहिए, किन्तु टि का ही समुच्चय करना चाहिए। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि यदि अपि शब्द से अन्त्य गुरु का समुच्चय किया जायेगा, तो एकैक ग्रहण के द्वारा इस सूत्र से विहित प्लुतों का विकल्प होगा। परिणाम यह होगा कि जहाँ पर अनन्त्य गुरु है और अन्त्य भी गुरु है अथवा अनन्त्य ही गुरुद्वय (दो गुरु) हैं वहीं पर पर्याय होगा। अन्त्य लघु और अनन्त्य गुरु स्थल में तो "दूराद्धूते च" सूत्र से विहित प्लुत का तो सन्निवेश हो ही जायेगा।

यदि कहा जाय कि अपि शब्द के सन्निधान में अनन्त्य शब्द है इसलिए इस सन्निधि के आधार पर अपि शब्द से अन्त्य गुरु का ही समुच्चय किया जायेगा। अब रही ऐसा करने पर "दूराद्धूते च" सूत्र से विहित प्लुत के समावेश की बात, तो इसमें भी कोई आपत्ति नहीं है।

उसका समावेश भी इष्ट ही है तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि व्याख्यान से इसी अर्थ का लाभ होता है कि यहाँ अपि शब्द से यथाप्राप्त टि का ही समुच्चय होता है। टि का समुच्चायक व्याख्यान इस प्रकार है कि यहाँ टि को प्लुत करने का प्रकरण चल रहा है और टि जो होता है, वह वाक्य के अन्त्य में होता है। इसलिए अनन्त्य के समभिव्याहृत अपि शब्द से अन्त्य टि का ही समुच्चय करना उचित है।

अनन्त्यस्यापीति। अपिनाऽन्त्यस्य गुरोरगुरोश्चेत्यर्थः। पर्यायार्थमिति। अन्यथा समावेशः स्यादिति भावः। 'अनुदात्तं पदमि'ति तु त्रिपाद्यां न प्रवर्त्तत इति तत्रैव वक्ष्यते। 'प्राचामि'ति तु पक्षे सर्वेषां प्लुताभावार्थम्। विकल्प्यत इति। सा च व्यवस्थितविभाषा। तेनाग्नीदग्नीन्विहरेत्यादौ 'अग्नीत्प्रेषणे' इति न। भाष्ये तु 'विभाषा पृष्टे'ति सूत्रे 'विभाषे'ति योगविभागो दर्शितः। साऽपि व्यवस्थितविभाषेति कैयटः। अत एव—'ओश्रावये परस्येति वक्तव्यमि'ति वचनस्य—'अग्नीदग्नीनि'-त्यादौ प्लुतनिवृत्तये कृतस्य—विभाषेति योगविभागेन प्रत्याख्यानं भाष्योक्तं सङ्गच्छते। एवञ्च भाष्यसम्मतैषा व्यवस्थितविभाषेत्याहुः।

यह सूत्र ऋद्भिन्न अनन्त्य गुरु को प्लुत करता है। अनन्त्य शब्द के साथ पठित जो "अपि" यह शब्द है, इस अपि शब्द से यथाप्राप्त (प्रकरण से प्राप्त) टि का समुच्चय होता है। यह टि गुरु भी हो सकता है और अगुरु भी हो सकता है। शेखर के मूल में जो कहा है "अन्त्यस्य गुरोरगुरोश्च" इस वाक्य में आया हुआ अन्त्य शब्द टि का ही सूचक है। यह टि गुरु है या लघु, यह कोई अपेक्षणीय बात नहीं है। अनन्त्य गुरु और अन्त्य टि इन दोनों के प्लुत के प्रसंग में जब टि को प्लुत किया जायेगा तब उस समय अनन्त्य गुरु को प्लुत नहीं होगा। जब अनन्त्य गुरु को प्लुत किया जायेगा उस समय वाक्य के टि को प्लुत नहीं होगा।

सूत्र में किया गया "एकैक" ग्रहण पर्यायार्थ है। इसलिए एक पद में जितने अनन्त्य गुरु होते हैं, उन्हें पर्याय से ही प्लुत किया जाता है। अन्यथा = एकैक ग्रहण के अभाव में एक ही साथ अनेक प्लुतों का समावेश होने लगता। अर्थात् अनेक प्लुत एक ही साथ होने लगते। इसलिए "एकैक" ग्रहण आवश्यक है।

अनेक प्लुतों का एक साथ समावेश नहीं हो सकता है, इस बात को सिद्ध करने के लिए कह रहे हैं कि इस सूत्र में "वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः" इस सूत्र का अधिकार आता है। फलस्वरूप जिसे प्लुत का विधान किया जाता है, उसे उसी के साथ उदात्त भी कर दिया जाता है। इस प्रकार प्लुत के साथ उदात्त किये गये अच् से अतिरिक्त जो अच् गुरु होंगे वे सब "अनुदात्तपदमेकवर्जम्" इस सूत्र से अनुदात्त हो जायेंगें। ऐसी स्थिति में उदात्त के अभाव में तत्सहचरित प्लुत की वहाँ प्राप्ति ही नहीं होगी तो अनेक प्लुतों के समावेश की बात असंगत है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि "अनुदात्तं पदम्" (६।१।१५८) यह सपादसप्ताध्यायी सूत्र त्रिपादी में प्रवृत्त नहीं होता है, क्योंकि इसके प्रति त्रिपादी सूत्र असिद्ध हो जाते हैं। जब यह प्लुतविधायक त्रिपादी सूत्र को देखेगा ही नहीं तो उससे विहित उदात्त

के आधार पर शेष को अनुदात्त कैसे करेगा ? इसलिए अनेक प्लुतों के साथ ही समावेश के वारण के लिए "एकैक" ग्रहण करना आवश्यक है। "अनुदात्तं पदम्" सूत्र त्रिपादी में प्रवृत्त नहीं होता है, यह बात तत्रैव = "अनुदात्तं पदम्" के व्याख्यान के अवसर पर शेखर में कही जायेगी।

सूत्र में किये गये "प्राचाम्" पद के ग्रहण से सूचित होता है कि सारे प्लुत प्राचीनों के मतानुसार हैं, अन्य आचार्यों के मतानुसार नहीं है। इस बात की स्पष्टता के लिए कौमुदी में कहा है कि "इह प्राचामिति योगो विभज्यते" अर्थात् "प्राचाम्" यह योग विभक्त होकर पृथक् सूत्र है। इसमें केवल प्लुत मात्र का सम्बन्ध कर के यह अर्थ किया जाता है कि पूर्वोक्त जितने प्लुत विहित हैं वे सभी प्राचीनों के मतानुसार हैं, अन्य आचार्यों के मत में ये प्लुत नहीं हैं। इसी आशय से दीक्षितजी कौमुदी में कहते हैं—'तेन सर्वः प्लुतो विकल्प्यते" अर्थात् इस प्रकार सारे प्लुत विकल्प से होते हैं। सा च = वह प्लुत-विषयिणी विभाषा व्यवस्थित विभाषा है। इसलिए "अग्नीदग्नीन् विहर" इस प्रयोग में "अग्नीत्प्रेषणे परस्य च" इस सूत्र से प्लुत नहीं होता है।

भाष्यकार ने "विभाषा पृष्टप्रतिवचने" सूत्र में "विभाषा" इस पद का योगविभाग किया है। कैयट ने कहा है कि वह भी व्यवस्थित विभाषा है। उसका व्यवस्थितविभाषात्व वहाँ के प्रकरण से व्यक्त होता है। वहाँ की स्थिति इस प्रकार है कि वार्तिककार ने "ओ३श्रा३वय" इस प्रयोग में प्लुत की सिद्धि के लिए तथा "अग्नीदग्नीन्" प्रयोग में प्लुत की निवृत्ति के लिए "अग्नीत्प्रेषणे परस्य च" इस सूत्र की जगह "ओश्रावयाश्रावयोः परस्य च" तथा "बहुलमन्यत्रापि" ऐसा न्यासान्तर किया है। इस न्यासान्तर से अभीष्ट स्थलों में ही प्लुत होगा, अनभीष्ट स्थल "अग्नीदग्नीन्" आदि में नहीं होगा। भाष्यकार ने "विभाषा पृष्ट" सूत्र के विभाषा ग्रहण के योगविभाग से उपर्युक्त स्थलों में प्लुत की सिद्धि और निवृत्ति दोनों करके वार्तिकाभिमत न्यासान्तर का प्रत्याख्यान कर दिया है। यहे प्रत्याख्यान तभी संगत होगा, जब भाष्याभिमत विभाषा व्यवस्थितविभाषा हो। इससे स्पष्ट होता है कि यह विभाषा व्यवस्थितविभाषा है, यह बात भाष्यसम्मत है।

"अवङ् स्फोटायनस्य" सूत्र की व्याख्या के अवसर पर "चिदस्थिमाला" टीका के आधार पर यह विषय विस्तृत रूप में व्याख्यात है।

'अप्लुतवदि'त्युक्त्या प्लुत इत्यध्याहारस्तदाह—प्लुतोऽप्लुतवदिति। प्लुत एव निषिद्ध्येतेति। तत्स्थाने अप्लुतस्य विधानेन स एव निवर्त्ततेत्यर्थः। प्रसज्यप्रतिषेधेन व्याख्यानन्तु न युक्तं, गौरवात्। किञ्च तथा सति प्लुतप्रकरणे एव नोपस्थिते इति वदेत्। न च पर्युदासेऽग्नी ३ इतीत्यादौ प्रगृह्याश्रयप्रकृतिभावं बाधित्वा परत्वादप्लुतवद्भावे दीर्घादिकं स्यादिति वाच्यम्। शब्दत इतिशब्दसापेक्षाप्लुतवद्भावापेक्षया वर्णमात्रापेक्षप्रकृतिभावस्यान्तरङ्गत्वात्। 'अप्लुतवदि'त्यस्य प्लुतकार्यं नेत्यर्थस्तु न शब्दमर्यादालभ्यः। प्लुतेऽप्लुतसादृश्यविधानस्यैव शब्दतो लाभात्। भाष्ये 'प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थमि'त्युक्तिस्तु—फलितार्थाभिप्रायेणैवेति

बोध्यम्। प्रगृह्याश्रये इति। प्लुते कृतेऽपि तस्यासिद्धत्वाद्दीर्घत्वबुद्धिवत्तद्गतं प्रगृह्यत्वमनुकार्ये सुलभम्। अनुकरणे 'प्रकृतिवदनुकरणमि'त्यतिदेशात्तत्त्वमिति भावः।

"अप्लुतवदुपस्थिते" यह सूत्र प्लुत का अप्लुतवद्भाव करता है। सूत्र में 'अप्लुतवत्' इस उक्ति के द्वारा प्लुत का अध्याहार होता है। यदि प्लुत का अध्याहार न किया जाय तो इस आकांक्षा की शान्ति नहीं हो सकेगी कि यह अप्लुतवद्भाव किसे किया जाय? अर्थात् अप्लुतवद्भाव का उद्देश्य क्या है? इस प्रश्न का समाधान न हो सकेगा। परिणाम यह होगा कि इस सूत्र का सफल वाक्यार्थबोध नहीं हो सकेगा। इसलिए यहाँ प्लुत का अध्याहार आवश्यक है। इसीलिए दीक्षितजी कौमुदी में कहते हैं कि "प्लुतोऽप्लुतवद्भवति" अर्थात् प्लुत अप्लुत के समान होता है।

इस सूत्र में यदि "वत्" ग्रहण न किया जाय तो सूत्र का स्वरूप होगा "अप्लुत उपस्थिते"। अब विचार यह करना है कि "अप्लुत" शब्दघटक जो नञ् है वह प्रसज्यप्रतिषेध है अथवा पर्युदास? ऐसी आशंका में इसे प्रसज्य कहना इसलिए ठीक नहीं है कि प्रसज्य नञ् का अन्वय क्रिया में करने के लिए क्रिया का अध्याहार करना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि जब नञर्थ का अन्वय क्रिया में होगा तब उसका प्लुत के साथ समास कैसे होगा? इसलिए असमर्थ समास यहाँ करना पड़ेगा। इस प्रकार प्रसज्यप्रतिषेध मानने पर गौरव होने के कारण यहाँ पर्युदास मानना ही ठीक होगा। अब पर्युदास मानने पर सूत्रार्थ इस प्रकार होगा "अवैदिक इति शब्द पर में रहने पर प्लुत के स्थान पर प्लुतभिन्न प्लुतसदृश आदेश होवे"। ऐसा अर्थ करने पर प्लुत के स्थान पर प्लुतसदृश दीर्घ आदेश होने लगेगा। यदि अच्त्वेन सादृश्य लिया जाय तो प्रथमोपस्थितत्वात् प्लुत को ह्रस्व आदेश होने लगेगा। परिणाम यह होगा कि आदेश के द्वारा स्थानी का अपहार होने के कारण प्लुत की निवृत्ति हो जायेगी। इसी बात को कौमुदीकार ने इन शब्दों में कहा है कि "प्लुत एव निषिद्ध्येत इति" अर्थात् वत् ग्रहण के अभाव में तत्-स्थाने = प्लुत के स्थान पर अप्लुत (ह्रस्व या दीर्घ) का विधान करने से, स एव = प्लुत का ही निषेध होगा या निवृत्ति हो जायेगी।

प्रसज्यप्रतिषेध के द्वारा इस बात का समाधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऊपर बताया जा चुका है कि प्रसज्यप्रतिषेध मानने में गौरव होता है। प्रसज्यप्रतिषेध पक्ष में दूसरा दोष प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि तथा सति = वत् ग्रहण न करने पर "अप्लुत" इस शब्द के द्वारा "प्लुतो न भवति" ऐसा अर्थ करके जब प्लुत का निषेध ही करना है तब तो इससे अच्छा तो यह होता कि प्लुत-प्रकरण में "अप्लुत उपस्थिते" की जगह "नोपस्थिते" ऐसा सूत्र कर दिये होते। क्योंकि ऐसा करने में लाघव है। इसका अर्थ वही होता कि "अवैदिक इति शब्द पर में रहने पर प्लुत नहीं होता है।" किन्तु ऐसा नहीं करने से विदित होता है कि प्रसज्य पक्ष गौरवग्रस्त है। इस प्रकार यहाँ पर्युदास पक्ष का ही औचित्य सिद्ध होता है।

अब यह विचार किया जा रहा है कि पर्युदास पक्ष में भी जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि सूत्र में वत् ग्रहण के अभाव में "प्लुत" का निषेध हो जायेगा। वह निषेध न हो किन्तु

प्लुत अप्लुत की भाँति रहे, जिससे लक्ष्य में उसका श्रवण हो सके, इसलिए सूत्र में वत् ग्रहण आवश्यक है। किन्तु वत्ग्रहण करके प्लुत को अप्लुतवत् करने का परिणाम यह होता है कि वहाँ यणादि सन्धिकार्य हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में "सुश्लोकेति" इस प्रयोग में गुणसन्धि के द्वारा जब द्विमात्रिक एकार हो जाता है, तब प्लुत का श्रवण तो नहीं होता है तब वत्ग्रहण का क्या फल है? इस आशंका के उत्तर में कहा जाता है कि अप्लुतवद्भाव के द्वारा प्लुत के श्रवण का उदाहरण "आगच्छतं हे अग्नी इति" यह प्रयोग है। इस उदाहरण में "दूराद्धूते च" (८।२।८४) से प्लुत तथा 'ईदूदेद्द्विवचनम्"(१।१।११) से प्रगृह्य संज्ञा की प्राप्ति साथ ही होती है। "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र के द्वारा प्लुत के असिद्ध होने से पहले प्रगृह्य संज्ञा होती है। उसके बाद उसी ईकार की प्लुत संज्ञा भी हो जाती है। यहाँ यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि प्लुत के विधान से प्रगृह्य का आश्रय द्विमात्रिकत्व नष्ट हो जाता है, क्योंकि प्रगृह्य संज्ञा की दृष्टि में तो प्लुत संज्ञा त्रैपादिक होने के कारण सर्वदा असिद्ध ही दीखती है। इस प्रकार यहाँ प्लुत और प्रगृह्य का सह अस्तित्व है। यहाँ प्लुत का अप्लुतवद्भाव करने पर भी सन्धिकार्य इसलिए नहीं होता कि प्रगृह्याश्रय प्रकृतिभाव सन्धिकार्य का प्रतिबन्धक हो जाता है। इस प्रकार प्रगृह्याश्रय प्रकृतिभाव में यहाँ प्लुत का श्रवण कराने हेतु सूत्र में वत्ग्रहण का सार्थक्य है।

इस पृष्ठभूमि को सन्दर्भित करते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि पर्युदास पक्ष में "अग्नी इति" इस प्रयोग में प्रगृह्याश्रय प्रकृतिभाव, जो "प्लुतप्रगृह्या" (६।१।१२५) से प्राप्त होता है, उसे परत्वात् "अप्लुतवदुपस्थिते" (६।१।१२९) से बाध कर अप्लुतवद्भाव कर देने के कारण दीर्घादि कार्य होना चाहिए, किन्तु दीर्घादि कार्य यहाँ इसलिए नहीं होता है कि "अप्लुतवद्भाव इति" शब्द सापेक्ष है और प्रकृतिभाव अच् पर में रहने पर होने के कारण वर्णनिमित्तक है। इस प्रकार अल्पापेक्ष अन्तरंग प्रकृतिभाव के प्रति बहिरंग अप्लुतवद्भाव असिद्ध हो जाता है। परिणामस्वरूप दीर्घादि सन्धिकार्य यहाँ नहीं होते हैं। इस शंका-समाधान से स्पष्ट है कि "अग्नी इति" इस प्रयोग में "अग्नी" इस पदघटक ईकार में प्लुत और प्रगृह्य इन दोनों का सहअस्तित्व है, तभी तो प्लुत को अप्लुतवद्भाव करके दीर्घादि की शंका की गई है।

"अप्लुतवत्" के सम्बन्ध में किसी प्राचीन ने कहा है कि "प्लुत-कार्य नहीं होता है" यही अप्लुतवत् का अर्थ है। नागेशभट्ट इस बात का खण्डन करते हुए कहते हैं कि शब्दमर्यादा से तो यह अर्थ लभ्य नहीं है। 'तेन तुल्यम्' इस अर्थ में वति प्रत्यय से निष्पन्न 'अप्लतुवत्' शब्द की मर्यादा से यही अर्थ निकलता है कि प्लुत में अप्लुत के सादृश्य का विधान होता है अर्थात् प्लुत अप्लुत के समान हो जाता है। यदि कहा जाय कि "प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थम्" इस भाष्योक्ति से उपर्युक्त बात की ही सम्पुष्टि होती है कि जहाँ अप्लुतवद्भाव होता है वहाँ प्लुतकार्य नहीं होता है, तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि यह भाष्योक्ति फलितार्थ का कथन मात्र है। इस प्रसंग का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—यदि वत् ग्रहण न किया जाय तो "अप्लुत" ऐसा उच्चारण करने का तात्पर्य यह होगा कि यहाँ प्लुतकार्यप्रयोजकत्व का अभाव है। जब वत् ग्रहण कर दिया जाता है तब इस अर्थ की प्रतीति होती है कि यहाँ अप्लुत का सादृश्य है अर्थात् जैसे अप्लुतस्थल में प्लुतकार्य प्रयोजकत्वाभाव रहता है, वैसे ही अप्लुतवद्भाव स्थल में भी प्लुतकार्य (प्रकृतिभाव) प्रयोजकत्वाभाव रूपी सादृश्य का विधान किया जाता है। फलस्वरूप वहाँ प्लुतकार्य

का प्रतिषेध होता है, किन्तु प्लुत की त्रिमात्रता तो वहाँ रहती ही है। "यह मनुष्य सिंह के समान है" ऐसा कहने से मनुष्य में सिंह-सादृश्य का विधान होता है, न कि उसके मनुष्यत्व का निषेध होता है। भाष्यकार ने कहा है कि "वद्वचनं क्रियते, प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थम्। प्लुतकार्यं प्रतिषिध्यते। त्रिमात्रता तु न प्रतिषिध्यते"। इस भाष्य से स्पष्ट है कि अप्लुतवद्भाव से प्लुत में अप्लुत के सादृश्य का विधान किया जाता है। इसी का फलितार्थ है—"प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थम्", न कि इसके विधान में भाष्य का तात्पर्य है। सादृश्य के विधान से यह बात फलितार्थ के रूप में निकलती है। शब्दमर्यादया इसका लाभ नहीं होता है।

यहाँ यह बात कही जा सकती है कि वत् ग्रहण से अप्लुत के सादृश्य का विधान करने पर भी त्रिमात्रता का निषेध न करने की बात जो कही गई है वह व्यर्थ है, क्योंकि अप्लुतवद्भाव के द्वारा जब सन्धिकार्य होगा तब वहाँ त्रिमात्रता स्वयं समाप्त हो जायेगी। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ प्रगृह्यसंज्ञक प्लुत रहेगा; जैसे "अग्नी इति" इस उदाहरण में बताया जा चुका है कि ऐसे स्थलों में जब प्रगृह्याश्रय प्रकृतिभाव होता है, तब वहाँ प्लुत का श्रवण होता है। यह प्लुत का श्रवण ही त्रिमात्रता का निषेध न करने का फल है। यदि सूत्र में वत् ग्रहण नहीं किया जाय तो अप्लुत कहने से उस का विधान होगा अर्थात् त्रिमात्रता नष्ट हो जायेगी। परिणाम यह होगा कि प्रगृह्याश्रय प्रकृतिभाव में प्लुत का श्रवण "अग्नी इति" इत्यादि स्थलों में नहीं हो सकेगा।

अब यहाँ यह शंका होती है कि प्रगृह्यसंज्ञक प्लुत मिलेगा कहाँ? क्योंकि प्लुत त्रैमात्रिक होता है और प्रगृह्य संज्ञा द्विमात्रिक की होती है? ऐसी स्थिति में प्रगृह्यसंज्ञक प्लुत का मिलना सम्भव नहीं है। नागेश भट्ट "प्लुते कृतेऽपि" इत्यादि ग्रन्थ (पंक्ति) से इस बात का उत्तर दिये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि "आगच्छतं हे अग्नी इति" इस वाक्य में आया हुआ "अग्नी" यह रूप सम्बोधन में प्रथमा के द्विवचन के रूप का अनुकरण है। इसका अनुकार्य प्रथमा का द्विवचनान्त "अग्नी" यह रूप है। दूर से सम्बोधन करने पर यहाँ टि को प्लुत तथा "ईदूदेत्" सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा ये दोनों साथ ही प्राप्त हैं। उनमें सापादिक प्रगृह्य संज्ञा के प्रति त्रिपादी प्लुत असिद्ध हो जाता है, इसलिए पहले प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है और उसके बाद उसकी प्लुत संज्ञा भी हो जाती है। इसके बाद "अणोऽप्रगृह्यस्य" सूत्र से प्राप्त अनुनासिक के वारण के लिए ईकार की प्रगृह्य संज्ञा वाञ्छित होती है। उस समय 'कृतेऽपि प्लुते' अर्थात् प्लुत कर देने पर भी वह असिद्ध हो जाता है। उस समय "ईदूदेत्" सूत्र की उस प्लुत में दीर्घत्व बुद्धि होती है और दीर्घत्व बुद्धि से प्लुत को ही प्रगृह्य भी कर दिया जाता है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि "लक्ष्ये लक्षण" न्याय से पुनः प्रगृह्य संज्ञा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि संज्ञाएँ कार्य के लिए होती हैं। "अग्नी" के ईकार की प्लुतसंज्ञा करने के बाद प्रगृह्यनिमित्तक कार्य (अनुनासिकाभाव) की प्राप्ति होने के कारण पुनः प्रगृह्यसंज्ञा होने में कोई बाधा नहीं है। शेखरकार यहाँ इससे भिन्न बात कह रहे हैं। ये कह रहे हैं कि "तस्य = प्लुत के असिद्ध होने से जैसे ईकार में दीर्घत्व बुद्धि होती है, उसी प्रकार तद्गत = उस ईकार में पहले किया गया प्रगृह्यत्व भी अनुकार्य में सुलभ है। तात्पर्य यह है कि दुबारा प्रगृह्य संज्ञा किये बिना ही केवल असिद्धता मात्र से ही प्रगह्यत्व अनुकार्य में सुलभ है। इस प्रकार अनुकार्यगत प्लुतत्व और प्रगृह्यत्व ये

दोनों धर्म "प्रकृतिवदनुकरणम्" इस नियम से अनुकरण में आ जाते हैं। "अतिदेशात् तत्त्वम्" इस वाक्य में आये 'तत्त्वम्' का अर्थ "प्रगृह्यत्वम्" समझना चाहिए।

इस प्रकार प्रगृह्यसंज्ञक प्लुत "अग्नी इति" इस उदाहरण में मिलता है। प्रस्तुत सूत्र से अप्लुतवद्भाव करने के बाद प्रगृह्याश्रय प्रकृतिभाव में इस प्लुत का श्रवण होता है। यही यहाँ का रहस्य है।

'किम्मया कर्त्तव्यमि'ति पृष्ट आह—चिनु ही ३ इदमिति। 'विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेरि'ति प्लुतः। इदंशब्दोऽत्र वाक्यान्तरस्थ इति हेरिकारस्य वाक्यटित्वम्।

कौमुदी में "ई ३ चाक्रवर्मणस्य" सूत्र का उदाहरण "चिनु ही ३ इदम्" दिया है। मुझे क्या करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में इस वाक्य का प्रयोग किया गया है। इसमें "चिनु" यह लोट् लकार मध्यमपुरुष के एकवचन का रूप है। "हि" यह अव्यय है। "विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः" इस सूत्र से "हि" का इकार प्लुत हो गया है। इसीलिए प्लुतसूचक चिह्न "३" ऐसा उसके आगे लगा है। "इदम्" यह पृथक् पद अच्परकत्व सम्पादन के लिए है। "इदम्" इस पद को वाक्यान्तरस्थ मानने से "चिनु हि" इस वाक्यघटक "टि" "हि" का इकार होता है और इसीलिए उसे प्लुत होता है। यदि "इदम्" को वाक्यान्तरस्थ न माना जाय तो "चिनु हि इदम्" तक एक वाक्य होगा और इसका परिणाम यह होगा कि "हि" के इकार को प्लुत नहीं होगा, क्योंकि इस समय "हि" का इकार प्रश्नोत्तर वाक्यावयव टि ही नहीं है। इसलिए "इदम्" को वाक्यान्तरस्थ मानना चाहिए। ऐसा मानने से "हि" का इकार वाक्य का 'टि' होता है।

उभयत्र विभाषेयमिति। उपस्थिते प्राप्तेऽनुपस्थिते चाप्राप्ते इत्यर्थः। विभाष्यते विकल्प्यत इति विभाषा। 'गुरोश्च हल' इत्यप्रत्यये टाप्। 'न वेति विभाषायामि'ति भाष्यप्रयोगात्। भाष्ये तु 'किमर्थमिदमुच्यते? अनुपस्थितार्थं, तत्र ईग्रहणेन नार्थः, अविशेषेण चाक्रवर्मणस्याप्लुतवदित्येव, इदमपि सिद्धं-'वशा इयं वशेयमि'त्युक्तम्। तद्बलेनोपस्थिते पूर्वविप्रतिषेधेन ईग्रहणेऽपि नित्याप्लुतवद्भाव एवेष्टः। प्रत्याख्याने नित्याप्लुतवद्भावस्य 'येन नाप्राप्ति' न्यायेन वैकल्पिकतद्बोधिताभावांशबाधकत्वात्। 'उपस्थित इत्यस्य निवृत्त्या परविप्रतिषेधादुभयत्र विभाषेयमि'ति कैयटस्य प्रमादः। मूलन्तु इतिशब्दभिन्ने वैदिकेतिशब्दे चेत्येवम्परतया कथञ्चिद्व्याख्येयमित्यन्ये। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोरैक्यमापादयत् सर्वनामपर्यायेण तत्तल्लिङ्गभागितीयमिति निर्देशः।

कौमुदीकार ने "ई३ चाक्रवर्मणस्य" इस सूत्र को उभयत्रविभाषा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि उपस्थित अर्थात् अनार्ष अवैदिक इति शब्द जहाँ पर में है ऐसे "चिनु ही ३ इति" इस उदाहरण में "अप्लुतवदुपस्थिते" से अप्लुतवद्भाव प्राप्त रहता है। यह "अप्लुतवत्" सूत्र "सुश्लोकेति" उदाहरण में चरितार्थ है जहाँ "ई३चाक्रवर्मणस्य च" की प्राप्ति नहीं है। यह सूत्र "चिनु ही ३ इदम्" इस उदाहरण में चरितार्थ है जहाँ "अप्लुतवत्" सूत्र की प्राप्ति नहीं है। इस प्रकार अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाश सूत्र "चिनु ही ३ इति" इस प्रयोग में साथ ही प्राप्त होते हैं तब "ई३ चाक्रवर्मणस्य" परत्वात् "अप्लुतवत्" सूत्र को बाध लेता है। इस प्रकार अवैदिक

इति शब्द पर में रहने पर प्राप्त अप्लुतवद्भाव को बाध कर यह विकल्प करता है, इसलिए यह प्राप्त विभाषा हुआ। इससे अतिरिक्त जहाँ पर अनुपस्थितआर्ष (वैदिक) इति शब्द पर में रहेगा वहाँ अप्लुतवद्भाव किसी सूत्र से प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त "चिनु ही ३ इदम्" इस प्रयोग में भी किसी सूत्र से अप्लुतवद्भाव प्राप्त नहीं है। ऐसे अप्राप्त स्थलों में यह सूत्र विकल्प से अप्लुतद्भाव का विधान करने के कारण अप्राप्तविभाषा है। इस प्रकार यह उभयत्र विभाषा है।

किसी ने "विभाषा" पद को अव्यय कहा है। नागेश भट्ट उसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि "विभाषा" पद अव्यय नहीं है, किन्तु यह "विभाष्यते विकल्प्यते अनया" इस विग्रह में विपूर्वक भाष् धातु से "गुरोश्च हलः" इस सूत्र से स्त्रीलिंग और करण अर्थ में अ प्रत्यय और तत्पश्चात् टाप् करने से बना हुआ है। "न वेति विभाषायाम्" यह भाष्यकार का वचन इसी बात की सम्पुष्टि करता है। अन्यथा अव्यय होने पर "विभाषायाम्" यह भाष्यकार का प्रयोग असंगत हो जायेगा।

इस उभयत्र विभाषा के सम्बन्ध में भाष्यकार का मत उपर्युक्त दीक्षित के मत से भिन्न है, इस बात को बतलाते हुए कह रहे हैं कि भाष्यकार ने "ई ३ चाक्रवर्मणस्य" सूत्र के सन्दर्भ में पूछा कि इदम् = यह सूत्र क्यों बनाया गया? इसका उत्तर देते हुए कहा कि "अनुपस्थित = आर्ष (वैदिक) अच् पर में रहने पर अप्लुतवद्भाव के लिए इसकी आवश्यकता है"। ऐसा कहकर भाष्यकार ने कहा कि इस सूत्र में ईकारग्रहण की आवश्यकता नहीं है। चाक्रवर्मण आचार्य के मत के अनुसार अविशेषेण (सामान्यतया) प्लुत मात्र का अप्लुतवद्भाव होता है। ऐसा करने से ईकारग्रहण न करने के कारण लाघव तो होता ही है, साथ ही ईकारग्रहणाभाव का यह फल होता है कि "वशा ३ इयं वशेयम्" इस प्रयोग की सिद्धि हो जाती है। यहाँ प्लुत आकार का अप्लुतवद्भाव करने से गुणसन्धि करके "वशेयम्" रूप की सिद्धि का होना ही ईकार के प्रत्याख्यान का फल है। अब यहाँ यह शंका होती है कि जब ईकारग्रहण का प्रत्याख्यान है तब "सुश्लोकेति" इस प्रयोग में भी "चाक्रवर्मणस्य" सूत्र से ही अप्लुतवद्भाव सिद्ध है। ऐसी स्थिति में "अप्लुतवदुपस्थिते" यह सूत्र निरवकाश होकर इसका बाधक हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि "चिनु हीति" इस प्रयोग में नित्य ही अप्लुतवद्भाव होने लगेगा। इस प्रकार ईकारग्रहण रहने पर "चिनु हीति" प्रयोग में वैकल्पिक अप्लुतवद्भाव और प्रत्याख्यान पक्ष में नित्य अप्लुतवद्भाव होने से आरम्भ और प्रत्याख्यान पक्ष में फलभेद होने के कारण यहाँ ईकार का प्रत्याख्यान करना असंगत है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नागेश भट्ट का कहना है कि तद्बलेन = प्रत्याख्यानपरक भाष्य के बल से यह परिकल्पना की जाती है कि ईकारग्रहण वाले पक्ष में भी उपस्थित = अनार्ष इति शब्द पर में रहने पर "चिनु हीति" इत्यादि प्रयोगों में पूर्वविप्रतिषेधेन नित्य ही अप्लुतवद्भाव होता है।

प्रत्याख्यान पक्ष में जब कि "चाक्रवर्मणस्य" सूत्र की सर्वत्र अवश्य प्राप्ति रहने के कारण "अप्लुतवदुपस्थिते" सूत्र "येन नाप्राप्ति" न्याय से इसका अपवाद होता है, उस समय अप्लुतवत् सूत्र "चाक्रवर्मणस्य" सूत्र से विकल्प के द्वारा बोधित जो अभावांश = अप्लुतवद्भाव का अभावांश उसका बाधक होता है। तात्पर्य यह है कि अप्लुतवद्भाव के विधान में तो

दोनों का ऐकमत्य हैं, किन्तु "चाक्रवर्मण" के अनुसार पक्ष में अप्लुतवद्भाव का अभाव जो किया जा रहा था, उस अभाव का नित्य अप्लुतवद्भाव से बाध हो जाता है। इस प्रकार "ई" के आरम्भ और प्रत्याख्यान दोनों पक्षों में नित्य अप्लुतवद्भाव इष्ट होता है।

अब यह शंका होती है कि जब अवैदिक इति शब्द पर में रहने पर "सुश्लोकेति" "चिनु हीति" इत्यादि प्रयोगों में नित्य ही अप्लुतवद्भाव हो रहा है, तब यह "चाक्रवर्मणस्य" सूत्र उभयत्र विभाषा किस प्रकार कहा जा सकता है? ईकारग्रहण पक्ष में तो यह सूत्र अवैदिक इति शब्द पर में रहने पर परत्वात् "अप्लुतवत्" सूत्र को बाध कर विकल्प करता था और वैदिक स्थल में भी विकल्प करता था। इस प्रकार प्राप्ताप्राप्तविधायक होने से इसका उभयत्र-विभाषात्व संगत होता था। अब तो वह स्थिति नहीं है तो इसका उभयत्र-विभाषात्व किस प्रकार संगत होगा?

इस प्रश्न के उत्तर में कैयट का कहना है कि "अप्लुतवदुपस्थिते" सूत्र से "उपस्थिते" इस पद की निवृत्ति कर देने से सर्वत्र प्राप्त नित्य अप्लुतवद्भाव का पर-विप्रतिषेध से बाध हो जायेगा, जिससे वैकल्पिक अप्लुतवद्भाव की सिद्धि होगी। इस प्रकार इसका उभयत्र-विभाषात्व संगत होता है। किन्तु कैयट का यह कथन उक्त भाष्य से विरुद्ध है, क्योंकि भाष्यकार "ई" ग्रहण का प्रत्याख्यान किये हैं। उसके अनुसार "सुश्लोकेति", "चिनु हीति" इत्यादि प्रयोगों में नित्य ही अप्लुतवद्भाव होता है। कैयटमत इससे विरुद्ध है अतः यह मत प्रामादिक है।

यहाँ अब यह बात विचारणीय है कि जब कैयट का मत प्रामादिक हो गया और भाष्यकार के मतानुसार "ई" ग्रहण का प्रत्याख्यान है तब तो "चिनु हीति" इस प्रयोग में नित्य ही अप्लुतवद्- भाव होगा, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। ऐसी स्थिति में इसका उभयत्र-विभाषात्व कैसे संगत होगा? नागेश भट्ट इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि इति शब्द से भिन्न स्थल, जहाँ "अप्लुतवत्" सूत्र की प्राप्ति नहीं है; जैसे "चिनु हीदम्" आदि स्थल तथा वैदिक "इति" शब्द पर में रहने पर जहाँ पूर्वसूत्र की प्राप्ति नहीं है वहाँ यह विकल्प करने के कारण उभयत्र विभाषा कहा जायेगा। अर्थात् उभयत्र शब्द का अर्थ 'लोके वेदे च' कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि पूर्वसूत्र तो लोक में प्रवृत्त होता है और यह सूत्र लोक और वेद उभयत्र प्रवृत्त होता है। पुनः यहाँ प्रश्न होता है कि उभयत्र-विभाषा शब्द का प्रयोग तो प्राप्ताप्राप्त-विभाषा के लिए प्रसिद्ध है, ऐसी स्थिति में यहाँ यह शब्द कैसे संगत होगा? तो इसके उत्तर में नागेश का कहना है कि इस शब्द का यहाँ प्रयोग कथञ्चित् कर लेना चाहिए।

अब यह विचार प्रस्तुत है कि इस सूत्र को उभयत्रविभाषा कहा गया है। इसके लिए "उभयत्र विभाषेयम्" इस प्रकार "इयम्" पद के द्वारा स्त्रीलिंग का निर्देश किया गया है। जब कि सूत्र के लिए "इयम्" की जगह "इदम्" का प्रयोग होना चाहिए था। इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि जहाँ पर सर्वनाम उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्य (विधेय) में एकता को बताता है वहाँ पर्यायेण उभयलिंग में उसका प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए "शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य" इस वाक्य में शैत्य उद्देश्य है और जल की प्रकृति विधेय है, इसलिए यहाँ यत्

और तत् सर्वनाम पर्याय से शैत्य और प्रकृति के लिंग के अनुसार नपुंसक और स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुए हैं।

इसी प्रकार प्रस्तुत में यह सूत्र उद्देश्य है और विभाषा विधेय है, इसलिए यहाँ विधेय के लिंग के आधार पर "इयम्" इस स्त्रीलिंग का निर्देश किया गया है।

विशेषणेन तदन्तविधिमाश्रित्याह—ईदूदेदन्तमिति। द्विवचनमिति। सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिनिषेधादिति भावः। एदन्तमिति व्याख्याने फलमाह— पचेते इति।

"ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" इस सूत्र में "ईदूदेत्" अर्थात् ईत्, ऊत् और एत् ये तीनों विशेषण हैं और द्विवचन विशेष्य है। इसलिए "येन विधिः" सूत्र से तदन्तविधि होती है। इस तदन्तविधि के परिणामस्वरूप कौमुदी में इस सूत्र की वृत्ति कही गई कि "ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्"। अर्थात् ईदन्त, ऊदन्त और एदन्त जो द्विवचन उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है।

अब प्रश्न यह होता है कि "द्विवचन संज्ञा के प्रत्यय बोधक होने के कारण "प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितः" इस परिभाषा से तदादि की उपस्थिति होगी। उस तदादि को विशेष्य और द्विवचन को विशेषण बना कर "येन विधिः" सूत्र से तदादिविशेष्यक तदन्तविधि करके "ईदूदेदन्तं यद् द्विवचनान्तं तत् प्रगृह्यसंज्ञकं स्यात्" ऐसा अर्थ यहाँ क्यों नहीं किया जाता है? इस शंका के उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि "संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" इस परिभाषा से यहाँ तदन्तविधि का निषेध कर दिया जाता है, क्योंकि यहाँ प्रगृह्य संज्ञा विधि है और संज्ञा-विधि में प्रस्तुत परिभाषा से तदन्तविधि का निषेध किया जाता है। इसी आधार पर इस सूत्र की वृत्ति में "द्विवचनान्तम्" न कह कर "द्विवचनम्" कहा गया है।

इस सूत्र का वास्तविक अर्थ जो कौमुदी की वृत्ति में कहा गया, उसका समन्वय "हरी एतौ" इत्यादि प्रयोगों में किस प्रकार होता है, यह बात भी यहाँ प्रसंगवश विवेचित करना आवश्यक है। ईदन्त, ऊदन्त और एदन्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा होती है, इस बात को सन्दर्भित करके "हरी एतौ" प्रयोग पर विचार करते समय यह बात सामने आती है कि जो ईदन्त "हरी" यह पद है वह द्विवचन नहीं है किन्तु वह द्विवचनान्त है। यदि ईकार में परादिवद्भाव से द्विवचनत्व लाते हैं तो उसमें द्विवचनत्व के सुलभ होने पर भी ईदन्तत्व नहीं है, क्योंकि ईदन्त तो "हरी" यह पद है, न कि केवल ईकार ईदन्त है। ऐसी स्थिति में यहाँ प्रगृह्य संज्ञा कैसे की जाय? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्न का समाधान यह है कि "हरी"पदघटक ईकार में परादिवद्भाव से द्विवचनत्व तथा व्यपदेशिवद्भाव से तदन्तत्व (ईकारान्तत्व) लाकर उस ईकार को ही ईदन्त द्विवचन मान कर प्रगृह्य संज्ञा की जाती है।

अब एक विचार यहाँ यह उपस्थित होता है कि कौमुदीकार ने ईकारांश और ऊकारांश में तो एक-एक उदाहरण दिया है "हरी एतौ" और "विष्णू इमौ" किन्तु एकारांश में "गङ्गे अमू" और "पचेते इमौ" ये दो उदाहरण क्यों दिये हैं? इस प्रश्न का समाधान यह है कि इस सूत्र-घटक पदों के मध्य विशेषण-विशेष्यभाव का व्यत्यास करके द्विवचन को विशेषण और "ईदूदेत्" को विशेष्य क्यों न बनाया जाए? ऐसा एक पक्ष जब सामने आया तब इस विशेषण-विशेष्य-भाव में तदन्तविधि करने पर द्विवचनान्त जो 'ईदूदेत्' ऐसा सूत्रार्थ होने की स्थिति आती है,

किन्तु असम्भवात् ऐसा उदाहरण न मिलने के कारण अगत्या तदन्तविधि न करके सूत्रार्थ इस प्रकार किया जाता है—"द्विवचन रूप जो ईदूदेत् उनकी प्रगृह्य संज्ञा होती है"। ऐसा अर्थ करने पर "हरी एतौ" इस प्रयोग में लाघव भी यह होता है कि "हरी" के ईकार में केवल परादिवद्भाव से द्विवचनत्व ही लाना पड़ता है। इस पक्ष में व्यपदेशिवद्भाव की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यही बात ऊकारांश में भी है। किन्तु ऐसा अर्थ करने पर "गङ्गे अमू" उदाहरण में द्विवचन रूप एकार के मिल जाने पर भी "पचेते इमौ" इस प्रयोग में द्विवचन रूप एकार नहीं मिल रहा है, क्योंकि यहाँ द्विवचन तो "आते" यह है, जो एकार नहीं है, इसलिए यहाँ प्रगृह्य संज्ञा नहीं हो सकेगी। इस दोष को दृष्टिगत कर यहाँ विशेषण-विशेष्यभाव में व्यत्यास नहीं करना चाहिए, किन्तु यथा पूर्व में कहा गया है कि यहाँ ईदूदेत् विशेषण हैं और द्विवचन विशेष्य है, यही बात सिद्धान्ततः माननी चाहिए। ऐसा करने से ईदन्त, ऊदन्त और एदन्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा होती है, ऐसा सूत्रार्थ होता है। ऐसा अर्थ करने से "पचेते इमौ" का दोष हट जाता है। क्योंकि "पचेते" घटक "एते" यह अंश एदन्त तो स्वयमेव है, केवल परादिवद्भाव से इसमें द्विवचनत्व लाया जाता है, जिससे यहाँ प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है। इसी अभिप्राय से शेखरकार कह रहे हैं कि "एदन्तम्" इस रूप में सूत्र के व्याख्यान का फल "पचेते इमौ" यह प्रयोग है।

निपात ए। निपात इति किम्? चकारात्र। प्रत्ययस्य शास्त्रकल्पितार्थवत्त्वात्। एकाजिति कर्मधारयो वर्त्तिपदार्थप्रधानत्वेनान्तरङ्गत्वात्, 'व्याहरति मृगः' इत्यादिनिर्देशाच्च। तेन 'प्रेदमि'त्यादौ न दोषः। तदाह—एकोऽजिति। आङ्वर्ज इति। पर्युदासस्यौचित्यात्। अत एवैकाज्नाङिति नासूत्रि। वासुदेववाचकस्य अशब्दस्य आङा सहाव्ययीभावे आ आत—अमित्यादौ सत्यभिधाने स्वत आङ्भिन्नत्वेन पूर्वान्तवत्त्वेन निपातत्वेऽपि प्रगृह्यत्वन्न। पूर्वान्तवत्त्वेनाऽऽङ्त्वाति-देशेऽतिदिश्यमानधर्मविरुद्धस्वाश्रयधर्मप्रयुक्तकार्यनिवृत्तेरतिदेशस्वभावसिद्धत्वात्। ओदिति सूत्रे आ उ ओ, इत्यत्र अनाङिति-'प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भ' इति भाष्यन्तु पर्युदासेऽपि गम्यस्य प्रतिषेधस्य सत्त्वान्नानुपपन्नम्। अनाङिति पर्युदासादेव निपातैकाज्रूपत्वे लब्धे निपातैकाज्ग्रहणं स्पष्टार्थम्।

"निपात एकाजनाङ्" इस सूत्र में यदि निपातग्रहण न किया जाय तो "चकारात्र" इस प्रयोग में णल् के अकार की भी प्रगृह्य संज्ञा होने लगेगी। परिणाम यह होगा कि यहाँ दीर्घ-सन्धि नहीं हो सकेगी। यदि कहा जाय कि यहाँ अकार जो प्रत्यय है वह वर्णरूप है। इसका स्वातन्त्र्येण प्रयोग नहीं होता, इसलिए स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हत्व रूप अर्थवत्त्व के अकार में न रहने के कारण निपातग्रहण के अभाव में भी यहाँ दोष नहीं है, क्योंकि एकाच् पद से सार्थक एकाच् का ग्रहण किया जायेगा, न कि निरर्थक का? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि प्रत्यय भी शास्त्रकार द्वारा कल्पित अर्थ से अर्थवान् होते हैं। यहाँ "परोक्षे लिट्" सूत्र द्वारा णल् का अर्थ सिद्ध ही है। दूसरी बात यह है कि यहाँ स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हत्व रूप अर्थवत्त्व लिया भी नहीं जा सकता, क्योंकि वैसा करने पर सूत्र में अनाङ् ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा। आङ् की प्रगृह्य संज्ञा न हो जाय इसलिए सूत्र में इसका ग्रहण किया गया है, किन्तु

द्योतक होने के कारण 'आङ्' का ऐसा कोई मुख्यार्थ नहीं है जिसके लिए स्वातन्त्र्येण उसका प्रयोग किया जाय। इस प्रकार आङ् में जब ऐसा अर्थवत्त्व है ही नहीं तब स्वयमेव उसकी प्रगृह्य संज्ञा की प्राप्ति न रहने के कारण उसकी व्यावृत्ति के लिए अनाङ् ग्रहण व्यर्थ ही हो जायेगा। इसलिए शास्त्रकार द्वारा परिकल्पित अर्थवत्त्व ही यहाँ ग्राह्य है। वह अर्थवत्त्व णल् के अकार में सुरक्षित है। अतः निपातग्रहण के अभाव में इसकी प्रगृह्य संज्ञा होने लगेगी, इसलिए सूत्र में निपातग्रहण आवश्यक है।

अब विचार यह किया जा रहा है कि सूत्रस्थ "एकाच्" इस पद में "एकश्चासौ अच् च" इस प्रकार कर्मधारय समास है अथवा "एकः अच् यस्मिन् स एकाच्" इस रूप में बहुव्रीहि समास है? इस प्रश्न के उत्तर में नागेश भट्ट कह रहे हैं कि यहाँ अन्तरङ्गत्वात् कर्मधारय समास ही मानना चाहिए। कर्मधारय की अन्तरङ्गता का कारण यह है कि इसमें वर्तिपदार्थ = समास-घटक पदों का अर्थ ही प्रधान रहता है। इसकी अपेक्षा बहुव्रीहि में अन्यपदार्थ प्रधान होता है। यहाँ समासघटक पदों के अर्थ की अपेक्षा अन्य पदार्थ की अपेक्षा होने के कारण अधिक की अपेक्षा प्रयुक्त बहिरङ्गत्व स्पष्ट ही है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि बहिरङ्गता के कारण "एकाच्" पद में कहीं भी बहुव्रीहि समास न माना जाय और इसी आधार पर "एकाचो द्वे प्रथमस्य" इस सूत्र में भी कर्मधारय समास ही माना जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि "एक अच् रूपी एकाच् को द्वित्व करने पर जब हल् वर्ण को द्वित्व ही नहीं होगा तब तो "हलादिः शेषः" सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि हल् के द्वित्व के अभाव में यह किस हल् को शेष रखेगा और किस हल् का लोप करेगा? इसलिए अन्तरङ्गत्वात् "एकाच्" पद में कर्मधारय है, यह बात नहीं कही जा सकती। इस बात को दृष्टिगत कर "निपात एकाच्" सूत्रस्थ "एकाच्" पद में कर्मधारय का साधक दूसरा प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं कि "व्याहरति मृगः" इस पाणिनि के निर्देश से स्पष्ट होता है कि यहाँ एकाच् पद में कर्मधारय है। यदि बहुव्रीहि माना जाय तब तो "वि + आहरति" इस स्थिति में एक अच् वाले "वि" इस निपात की भी प्रगृह्य संज्ञा हो जाती। परिणामस्वरूप पाणिनि का निर्देश नहीं बन पाता। इसलिए निष्कर्ष यही समझना चाहिए कि "व्याहरति मृगः" इस निर्देश के आधार पर "निपात एकाजनाङ्" सूत्रघटक "एकाच्" पद में कर्मधारय है और 'हलादिः शेषः' सूत्रारम्भसामर्थ्यात् 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' सूत्रघटक 'एकाचः पद' में बहुव्रीहि समास है। तेन = प्रस्तुत सूत्रघटक एकाच् पद में कर्मधारय स्वीकार करने से "प्र + इदम्" 'प्रेदम्' इस प्रयोग में "प्र" की प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है, क्योंकि यह एक अच् स्वरूप न होकर एक अच् वाला है। इसी अभिप्राय से कौमुदी में इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि "एकोऽच् निपात आङ्वर्ज इति।" आङ् से भिन्न एक अच् रूपी जो निपात, उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है। 'आङ् से भिन्न जो एक अच्' ऐसा कह कर कौमुदीकार ने "अनाङ्" इस पद में 'नञर्थ पर्युदास है', इस बात को व्यक्त किया है। शेखरकार कह रहे हैं कि यहाँ पर्युदास ही उचित है। प्रसज्य मानने पर तो क्रियाध्याहार, वाक्यभेद और असमर्थसमास ये तीन बातें माननी पड़ती हैं जो एक प्रकार का गौरव है। अत एव = पर्युदास ही यहाँ अभिप्रेत है, इसीलिए "एकाज्नाङ्" ऐसा सूत्र नहीं किया गया, क्योंकि ऐसा करने से यहाँ प्रसज्यप्रतिषेध होने लगता। प्रसज्यप्रतिषेध

गौरवग्रस्त है, यह बात ऊपर कही गई है। अब पर्युदास मानने पर यहाँ यह शंका होती है कि वासुदेववाचक अ शब्द का (पञ्चम्यन्त का) आङ् के साथ अभिविधि अर्थ में "आङ् मर्यादाभिविध्योः" सूत्र से "आ आत्" इस विग्रह में अव्ययीभाव समास करके सवर्णदीर्घ और अव्ययीभाव समास के नपुंसक होने के कारण ह्रस्व करने के बाद प्रथमा के एकवचन में जो "अम्" ऐसा रूप बनता है वहाँ "अ + अम्" इस स्थिति में पूर्वान्तवद्भाव से अकार में निपातत्व तथा स्वतः सिद्ध आङ्भिन्नत्व को लेकर प्रगृह्य संज्ञा क्यों नहीं होती है? यदि प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है तो "अमि पूर्वः" से पूर्वरूप नहीं होना चाहिए? इसके उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि "सत्यभिधाने = यदि "अम्" यह प्रयोग प्रामाणिक है तो जिस प्रकार पूर्वान्तवद्भाव से निपातत्व लाया जा रहा है उसी प्रकार आङ्त्व का भी अतिदेश पूर्वान्तवद्भाव से हो सकता है। इस प्रकार अतिदिश्यमान धर्म आङ्त्व होगा, तद्विरुद्ध स्वाश्रय धर्म = स्वतः सिद्ध आङ्भिन्नत्व होगा, तत्प्रयुक्त = स्वाश्रयधर्मप्रयुक्त कार्य प्रगृह्य संज्ञा का करना है, उसकी निवृत्ति करना ही अतिदेश का स्वभाव है। तात्पर्य यह है कि जब आङ्त्व का अतिदेश किया जा रहा है तब तत्प्रयुक्त कार्य प्रगृह्य संज्ञा का अभाव ही यहाँ हो सकता है, न कि तद्विरुद्ध स्वाश्रय आङ्भिन्नत्व प्रयुक्त प्रगृह्य संज्ञा यहाँ हो सकती है।

यहाँ कुछ विवेचकों का कहना है कि 'अदसो मात्' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि 'पदान्तप्रकरणे प्रकृतिभावः' अर्थात् यह प्रकृतिभाव पदान्त में रहने वाले प्लुत और प्रगृह्य को ही होता है। इस भाष्य से स्पष्ट है कि "अम्" प्रत्यय पर में रहने पर पूर्व में पदत्व के अभाव से प्रकृतिभाव की प्राप्ति ही नहीं है तो फलाभाव के कारण यहाँ प्रगृह्य संज्ञा की भी प्राप्ति नहीं है, तब आङ्त्व का अतिदेश करके तद्विरुद्ध स्वाश्रयधर्मप्रयुक्त कार्याभाव के द्वारा प्रगृह्यत्व का वारण करना सर्वथा अर्थहीन है।

अब यह विचार प्रस्तुत है कि "ओत्" सूत्र के भाष्य से विदित होता है कि "अनाङ्" पद में प्रसज्यनञ् है, क्योंकि "ओ आयातं मरुतः" इस वाक्य में जो "ओ" यह पद है वह "आ + उ" के संयोग से बना हुआ है। यहाँ पर "ओ" में पूर्वान्तवद्भाव से आङ्त्व का अतिदेश करने से "अनाङ्" से प्रगृह्य संज्ञा का निषेध प्राप्त रहता है तब भाष्यकार "ओत्" सूत्र को उद्देश्य बना कर कहते हैं कि "प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भः" अर्थात् "अनाङ्" से यहाँ प्रगृह्य संज्ञा का निषेध प्राप्त रहने पर यहाँ प्रगृह्य संज्ञा करने के लिए "ओत्" सूत्र का आरम्भ किया गया है। इस प्रकार "अनाङ्" में जब प्रसज्य की प्रतीति स्पष्ट हो रही है तब यहाँ पर्युदास क्यों माना गया है? इसका उत्तर देते हुए नागेशभट्ट कह रहे हैं कि पर्युदास पक्ष में यद्यपि प्रतिषेध वाच्य नहीं होता किन्तु वह गम्य तो होता ही है। आङ्भिन्न को प्रगृह्य संज्ञा हो, ऐसा कहने से यह बात अर्थतः तो निकलती ही है कि आङ् की प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है। इसी गम्य प्रतिषेध के आधार पर भाष्यकार ने कहा है कि प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भः"। इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं होती है।

"अनाङ्" में नञ् पर्युदासार्थक है। पर्युदास से तद्भिन्न तत्सदृश का ग्रहण होता है। इस प्रकार "अनाङ्" पद से आङ्भिन्न आङ्सदृश का ग्रहण होगा। वह आङ्सादृश्य निपातत्वेन तथा एकाच्त्वेन रूपेण ही लिया जायेगा। इस प्रकार जब पर्युदास से ही निपात और एकाच्

का लाभ हो रहा है तब सूत्र में इनका ग्रहण क्यों किया गया है? इसके उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि इन दोनों पदों का यहाँ ग्रहण स्पष्टार्थ है।

स्वाङ्गसमुदाये स्वाङ्गत्वाभाववदच्समुदायेऽच्त्वाभावादजित्येवाच्समुदायग्रहणाभावे सिद्धे एकग्रहणमन्यत्र वर्णग्रहणे जातिग्रहणार्थम्, तेन 'धिप्सती'त्यादिसिद्धिरिति भाष्ये स्पष्टम्। जातिग्रहणार्थमित्यस्योपात्तजात्याश्रयैकानेकव्यक्तिग्रहणार्थमित्यर्थः। तेन तितउशब्दैकदेशस्य 'अउ' इत्यस्यानुकरणे 'अउ अकरोदि'त्यत्र 'अनुकरणाञ्चानिती'ति निपातत्त्वेऽपि प्रगृह्यात्वाभाव एकग्रहणफलम्बोद्ध्यम्। ननु ङकारस्य क्वाप्यश्रवणेन ङिदङिद्विवेको दुर्ज्ञेय इत्यत आह— वाक्यस्मरणयोरिति। वाक्यशब्देन स्वार्थगतमनभिमतत्वम्। स्मरणं— विस्मृतिविषयता। एवङ्किल तदिति स्मृतार्थनिर्देशः।

सूत्रस्थ एकग्रहण का फल बताते हुए कह रहे हैं कि जिस प्रकार प्रत्येक अङ्ग में पर्याप्ति सम्बन्ध से रहने वाला अङ्गत्व अङ्ग-समुदाय में नहीं रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक अच् में पर्याप्त अच्त्व अच्-समुदाय में नहीं रहता है। ऐसी स्थिति में जब कि पर्याप्तिसम्बन्धेन अच्त्वाधिकरण अच् की प्रगृह्यसंज्ञा इस सूत्र से हो रही है, तब तो अच्-समुदाय की प्रगृह्य संज्ञा स्वयमेव नहीं हो सकती है, तो अच्-समुदाय की प्रगृह्य संज्ञा के वारण के लिए सूत्र में "एक" ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि इस प्रकार एकग्रहण व्यर्थ होकर इस बात को ज्ञापित करता है कि वर्णग्रहण में जाति का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ वर्ण का ग्रहण किया गया होता है, वहाँ उस वर्णनिष्ठ जात्यवच्छिन्न का ग्रहण उस वर्णवाचक शब्द से किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रस्तुत सूत्र में यदि एक शब्द को हटा कर केवल अच् का ग्रहण किया जाय तो यह वर्णग्रहण कहा जायेगा। इस वर्णग्रहण से अच्त्वावच्छिन्न एक की भाँति अनेक अचों का भी ग्रहण होने लगेगा। इसलिए अच्-समुदाय को अच् मान कर प्रगृह्यसंज्ञा न होने लग जाय, इसके लिए सूत्र में एकग्रहण आवश्यक होता है।

वर्णग्रहण में जाति का ग्रहण होता है, इस बात को स्वीकार करने का फल यह होता है कि "धिप्सति" प्रयोग की सिद्धि हो जाती है। इसकी सिद्धि इस प्रकार होती है—दम्भ् धातु से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय करने पर "सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भु" इत्यादि सूत्र से इट् के अभाव पक्ष में "दम्भ इच्च" सूत्र से इत्व, धातु को द्वित्व तथा "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" सूत्र से अभ्यास का लोप करने पर "दिम्भ्-स-ति" इस स्थिति में "हलन्ताच्च" सूत्र से "सन्" को कित् करना है। सन् को कित् तब होता है जब वह इक् के समीप रहने वाले हल् से पर में हो। यहाँ सन् का सकार जिस भकार से पर में है वह भकार इक् के समीप नहीं है और इक् के समीप जो मकार है उससे पर में सकार नहीं है। जब एकग्रहण से यह बात ज्ञापित कर दी गई कि वर्णग्रहण से तज्जात्यवच्छिन्न का ग्रहण होता है, तब यहाँ इक्-समीप हल् से हल्त्वावच्छिन्न मकार और भकार दोनों ले लिये गये और उनसे पर में सन् को कित् करके कित्त्वात् नकार का लोप, भष्भाव तथा चर् कर के "धिप्सति" प्रयोग बनता है। यह बात भाष्य में स्पष्ट है।

शेखर के मूल में कहा गया है कि "एकग्रहणं वर्णग्रहणे जातिग्रहणार्थम्" अर्थात् वर्णग्रहण में जाति का ग्रहण करना चाहिए, यह उसका अर्थ होता है। किन्तु जाति में तो कोई कार्य हो नहीं सकता तो 'जातिग्रहणार्थं' का क्या तात्पर्य है ? उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि "जातिग्रहणार्थं' का अर्थ है—उपात्त जाति के आश्रय एक या अनेक व्यक्ति का ग्रहण करने के लिए। ऐसा स्वीकार करने का फल यह होता है कि "तितउ" शब्दघटक "अउ" का अनुकरण करके "अउ अकरोत्" इस स्थिति में "अनुकरणं चानिति परम्" इस सूत्र से अनुकरण की निपात संज्ञा होने पर भी इस सूत्र से उसकी प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है, क्योंकि यह निपात एक अच् नहीं है, किन्तु यहाँ दो अच् हैं। यही सूत्र में एकग्रहण का फल है। सूत्र में "अनाङ्" पद आया हुआ है, जिसका अर्थ है आङ् से भिन्न। विचारणीय यह है कि "आ" यह निपात दो प्रकार का होता है, एक तो ङकार इत्संज्ञक से युक्त 'आङ्' इस रूप वाला और दूसरा उससे भिन्न ङकार रहित। किन्तु किसी लक्ष्य में ङकार का प्रयोग नहीं देखा जाता। ऐसी स्थिति में यह कैसे निर्णय किया जाय कि यह आकार ङित् है और यह आकार अङित् है ? इसी भेद के स्पष्ट ज्ञान के लिए दीक्षितजी ने कहा है—"वाक्यस्मरणयोरङित्" अर्थात् वाक्य और स्मरण में आया हुआ आकार अङित् है। यहाँ वाक्य शब्द से पूर्वप्रक्रान्त वाक्यार्थ का अन्यथात्व-द्योतन लक्षित है। "आ एवं नु मन्यसे" इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है कि पहले तुम ऐसा नहीं मानते थे, अब इस समय ऐसा मानते हो। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वप्रक्रान्त वाक्यार्थ के अन्यथात्व का द्योतक यह आकार है। इसलिए इसकी प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है। जिससे वृद्धि रूप सन्धिकार्य यहाँ नहीं होता है। इसी बात को शेखरकार कह रहे हैं कि यहाँ वाक्य शब्द से वाक्यार्थगत अनभिमतत्व अभिप्रेत है। यह अनभिमतत्व पूर्वप्रक्रान्त वाक्यार्थ के प्रति ही है।

स्मरण शब्द से विस्मृत की स्मृतिविषयता ली जाती है। "आ एवं किल तत्" इस वाक्य का अर्थ है कि जो बात तुम विस्मृत हो गये थे वह ऐसी है। यहाँ आकार स्मरण का द्योतक है। इस प्रकार यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव हो जाने से वृद्धि नहीं होती है।

'निपात' इत्यनुवृत्तमोदित्यनेन विशेष्यत इत्याह—ओदन्त इति। निपातसञ्ज्ञा चादिपदोपस्थितचादीनां—सति सम्भवेऽर्थवतामेवेति—सार्थकनिपातानां निपातपदेन तत्तदर्थविशिष्टानामेवोपस्थितिरिति—गौणमुख्यन्यायेन प्रकृतसूत्रस्थनिपातपदेन गौणार्थानां न ग्रहणमिति—गोऽभवदित्यादौ च्व्यन्ते नास्य प्रवृत्तिः। एवञ्च कार्यकालपक्षेऽपि 'च्व्यन्ता निपाता' इत्यस्यानुपस्थितिरेतत्परिभाषावशात्। अव्ययसञ्ज्ञादौ तु नैतत्परिभाषाप्रवृत्तिरनित्यत्वात्। अत एवानर्थकेऽपि निपाते सा सञ्ज्ञा सिद्ध्यति।

"ओत्" सूत्र में "निपात एकाजनाङ्" सूत्र से निपात की अनुवृत्ति होती है। यह निपात पद विशेष्य होता है और "ओत्" उसका विशेषण होता है। इसके बाद "येन विधिः" सूत्र से तदन्तविधि होती है, जिससे "ओदन्त निपात" यह अर्थ होता है। अब यह विचार प्रस्तुत है कि "न गौः अगौः, अगौः गौः समपद्यत इति गोऽभवत्" इस प्रयोग में जहाँ गो शब्द गोसदृश अर्थ में लाक्षणिक है, वहाँ भी "ओत्" सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होनी चाहिए। यदि कहा जाय कि

यह प्रगृह्य संज्ञा तो निपात की होती है, यहाँ गो शब्द तो निपात नहीं है तो प्रगृह्य संज्ञा की आपत्ति यहाँ कैसे है ? तो इसका उत्तर यह है कि "उर्यादिच्विडाचश्च" सूत्र से यहाँ गो शब्द निपात है; इसलिए ओदन्त निपात गो शब्द की प्रगृह्य संज्ञा होनी चाहिए। फलस्वरूप यहाँ पूर्वरूप नहीं होना चाहिए। शेखरकार इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि निपात संज्ञा "चादयोऽसत्वे" सूत्र से होती है। यह चादि पद से उपस्थित "च वा" आदि शब्दों की होती है। वे भी 'च वा' आदि शब्द यथासम्भव अर्थवान् ही होने चाहिए, क्योंकि 'अर्थवद्ग्रहणे' परिभाषा के द्वारा निपात संज्ञा का उद्देश्य अर्थवत् चादि शब्द ही होंगें। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि निपात पद से तत्तदर्थविशिष्ट सार्थक निपात की ही उपस्थिति होती है। इस प्रकार के सार्थक निपात पद की अनुवृत्ति "ओत्" सूत्र में हुई है। यह निपात पद "च वा अह एव" इत्यादि निश्चित रूप का उपस्थापक होने के कारण विशिष्ट रूप को प्रस्तुत करता है और जहाँ विशिष्टरूपोपादान रहता है वहाँ गौणमुख्य परिभाषा की प्रवृत्ति होती है, जिससे वहाँ गौणार्थक का ग्रहण न करके मुख्यार्थक का ही ग्रहण किया जाता है। ऐसी स्थिति में प्रकृत सूत्र "ओत्" में अनुवृत्त निपात पद से गौणार्थक निपात का ग्रहण नहीं हो सकता है। इसलिए च्विप्रत्ययान्त "गोऽभवत्" के गो शब्द में इस "ओत्" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। फलस्वरूप प्रगृह्य संज्ञा न होने के कारण पूर्वरूप हो जाता है, जिससे उक्त रूप की सिद्धि हो जाती है।

यदि कहा जाय कि इस प्रकार यथोद्देश पक्ष में दोष का वारण होने पर भी "कार्यकाल पक्ष में "ओत्" सूत्र में उपस्थित "च्व्यन्ता निपाताः" के द्वारा गौणार्थक "गोऽभवत्" घटक "गो" की प्रगृह्य संज्ञा होनी ही चाहिए तो इस बात का समाधान देते हुए कह रहे हैं कि "एतत्-परिभाषावशात्" = गौणमुख्य परिभाषा के कारण कार्यकालपक्ष में भी "च्व्यन्ता निपाताः" की उपस्थिति "ओत्" सूत्र में नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि इस पक्ष में भी "गौणमुख्य" परिभाषा के कारण मुख्यार्थक शब्द का ही ग्रहण किया जायेगा। परिणाम यह होगा कि इस गौणार्थक 'गो' का यहाँ ग्रहण नहीं होगा। इसलिए "च्व्यन्ता निपाताः" की उपस्थिति इस पक्ष में यहाँ नहीं होती है। अब यह शंका होती है कि "अर्थवद्ग्रहणपरिभाषा" के द्वारा निपात संज्ञा का उद्देश्य जब अर्थवत् चादि हो रहे हैं तब "स्वरादि निपातमव्ययम्" इस अव्ययसंज्ञाविधायक सूत्र में भी निपात शब्द से सार्थक निपात ही गृहीत होंगें। परिणाम इसका यह होगा कि अनर्थक चादि की अव्यय संज्ञा नहीं होगी। इसी प्रकार "निपात एकाजनाङ्" से विहित प्रगृह्य संज्ञा तथा अर्थवत्-उद्देश्यक प्रातिपदिक संज्ञा—ये सब संज्ञाएँ नहीं हो सकेगीं। इस बात के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि अव्यय आदि संज्ञाओं की कर्त्तव्यता में एतत्परिभाषा = अर्थवद्-ग्रहण परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए अनर्थक निपात की भी अव्ययादि संज्ञाएँ हो जाती हैं। इसका फल यह होता है कि "ई अभवत्" इस प्रयोग में "ई" की प्रगृह्य संज्ञा हो गई, जिससे प्रकृतिभावप्रयुक्त सन्धिकार्य का अभाव यहाँ सिद्ध होता है। साथ ही प्रातिपदिक होने के कारण "ई" अभवत् क्रिया का कर्त्ता होता है।

त्रपो इतीत्यादौ प्रगृह्यत्वायाह—सम्बुद्धिनिमित्तक इति। सम्बुद्धिपर इति व्याख्याने तु सोर्लुका लुप्तत्वेन तत्परत्वाभावान्न स्यात्। 'न लुमते'ति निषेधानित्यत्वं

त्वगतिकगतिः। इताविति किम्? पटोऽत्र। अनार्षे किम्? ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्। संहिताया विवक्षायामप्यवादिरहितप्रयोगार्थमिदम्। तद्विवक्षा च–वर्णोच्चारणे नियतेनार्धमात्राकालव्यवायेनोच्चारणेच्छा। तदधिकार्द्धमात्राकालव्यवायेनोच्चारणेच्छा च–तदविवक्षेति बोद्ध्यम्।

"त्रपो" यह त्रपु शब्द नपुंसकलिंग का सम्बोधन का रूप है, यहाँ "स्वमोर्नपुंसकात्" सूत्र से सम्बुद्धि का लुक् हुआ है। इस प्रकार निष्पन्न "त्रपो" इस पद के आगे "इति" इस शब्द को रख कर "त्रपो+इति" इस स्थिति में "सम्बुद्धौ शाकल्यस्य" इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा वाञ्छित है। इस सूत्र में "सम्बुद्धौ" पद को देख कर "तस्मिन्निति" सूत्र की प्रवृत्ति होगी। इसका परिणाम यह होगा कि प्रगृह्यसंज्ञाविधायक इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—"सम्बुद्धिपरक जो ओकार उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है"। किन्तु ऐसा अर्थ करने से "त्रपो इति" इस प्रयोग में प्रगृह्य संज्ञा नहीं हो सकेगी, क्योंकि यहाँ सम्बुद्धि पर नहीं है। यदि कहा जाय कि प्रत्ययलक्षण द्वारा यहाँ सम्बुद्धि आ जायेगी तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "न लुमताङ्गस्य" सूत्र से निषेध हो जाने के कारण यहाँ प्रत्ययलक्षण होगा ही नहीं। ऐसी स्थिति में यहाँ प्रगृह्य संज्ञा की असम्भावना को देखकर दीक्षितजी ने "सम्बुद्धौ" इस पद में पर-सप्तमी न मान कर निमित्त-सप्तमी स्वीकार की है। शेखरकार इसी बात को व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि कौमुदीकार ने "त्रपो इति" की सिद्धि के लिए ही "सम्बुद्धौ" पद में निमित्तक सप्तमी मान कर सूत्र की वृत्ति में कहा है कि सम्बुद्धिनिमित्तक जो ओकार उसे प्रगृह्य संज्ञा होती है। ऐसा अर्थ करने से उक्त प्रयोग में "त्रपो" का जो ओकार है वह सम्बुद्धिपरक भले नहीं है, तथापि सम्बुद्धिनिमित्तक तो है ही। इस प्रकार यहाँ प्रगृह्यत्व की सिद्धि हो जाती है।

यदि कहा जाय कि "इकोऽचि विभक्तौ" सूत्रस्थ "अचि" ग्रहण से "न लुमताङ्गस्य" सूत्र की अनित्यता ज्ञापित है। इस सूत्र के अनित्य होने के कारण प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होगा। फलस्वरूप परसप्तमी पक्ष में भी सम्बुद्धिपरक ओकार मिल सकता है तो यहाँ निमित्त सप्तमी क्यों मानी जाय? शेखरकार इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "न लुमता" सूत्र का अनित्यत्व तो अगतिकगति है। यदि निमित्तसप्तमी मानने से कार्य चल सकता है तब "न लुमता" सूत्र का अनित्यत्व क्यों माना जाय? दूसरी बात यह है कि "न लुमता" सूत्र का अनित्यत्व ज्ञापक सिद्ध है और "ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र" इस नियम से ज्ञापक सिद्ध का सार्वत्रिक उपयोग भी नहीं होता। इसलिए "त्रपो इति" इस प्रयोग में प्रगृह्य संज्ञा निमित्तसप्तमी मान कर ही करनी चाहिए।

सदाशिवभट्टी के अनुसार "सौ शाकल्यस्य" इस न्यास से ही कार्य चल सकता था तो सूत्र में सम्बुद्धिग्रहण की क्या आवश्यकता थी? ऐसी स्थिति में सम्बुद्धिग्रहण इस बात का ज्ञापक होता है कि प्रगृह्य संज्ञा की कर्तव्यता में "न लुमताङ्गस्य" की प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसी स्थिति में "सम्बुद्धौ" पद में परसप्तमी मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि अब तो प्रत्यलक्षण हो ही जायेगा और सु विभक्ति पर में मिल जायेगी। इस प्रकार परसप्तमी पक्ष में "त्रपो इति" इस प्रयोग की सिद्धि हो जाने से निमित्तसप्तमी पक्ष सूत्रकारानभिमत है, यह बात व्यक्त होती है।

प्रस्तुत सूत्र में "इतौ" इसको यदि न किया जाय तो "पटोऽत्र" इस प्रयोग में भी ओकार की प्रगृह्य संज्ञा होने लगेगी, अतः "इतौ" ग्रहण सूत्र में आवश्यक है। "अनार्षे" इस पद का यदि इस सूत्र में ग्रहण न किया जाय तो "ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्" इस प्रयोग में भी प्रगृह्य संज्ञा होने लगेगी, अतः "अनार्षे" ग्रहण सूत्र में आवश्यक है। वैदिक प्रयोग होने के कारण यहाँ "इति" शब्द आर्ष ही है।

अब एक यह विचार प्रस्तुत है कि इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? इसके उदाहरण "विष्णो इति", "त्रपो इति" इन प्रयोगों की सिद्धि तो संहिता की अविवक्षा से ही हो जायेगी। इसलिए यह सूत्र व्यर्थ है? इस शंका के उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि संहिता की विवक्षा में भी प्रगृह्य संज्ञा करने के लिए यह सूत्र आवश्यक है, जिससे प्रकृतिभाव करके अवादि रहित प्रयोगों की सिद्धि हो सके। संहिता किसे कहते हैं, इस बात को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि एक वर्ण के उच्चारण के बाद दूसरे वर्ण के उच्चारण में नियमतः अर्धमात्रा काल का व्यवधान तो होता ही है। इसलिए नियत जो अर्धमात्राकाल का व्यवधान, उससे उत्तर वर्णान्तर के उच्चारण की इच्छा को संहिता की विवक्षा कहते हैं। अर्धमात्रा से अधिक काल के व्यवधान में वर्णान्तर के उच्चारण की इच्छा को संहिता की अविवक्षा कहते हैं।

उञः। अत्रोञ् निपात एव। 'उञ ऊँ' इत्येकसूत्रत्वे तु—शाकल्यग्रहणाननुवृत्तौ 'उँ इती'त्येकमेव स्यात्, प्रगृह्यसञ्ज्ञाप्रकरणेन प्रगृह्यत्वस्यादेशस्य च सह विधानात्। 'उ इति' 'विती'ति च न स्यात्। आदेशे प्रगृह्यत्वकार्यन्तु स्थानिवद्भावेन बोद्धव्यम्। प्रगृह्यत्वस्य साक्षादुद्देश्यसम्बन्धस्य क्लृप्ततया विधेयविशेषणत्वे मानाभावात्। शाकल्यग्रहणानुवृत्तावपि प्रगृह्यत्वस्य ऊँआदेशस्य विकल्पे 'ऊँ इति' 'विती'ति सिद्ध्यति, न तु 'उ इती'ति। प्रगृह्यत्वविकल्पेन पक्षे तद्भावेऽपि अस्य तात्पर्यात्, एतदभावे 'निपात एकाजि'त्यस्याप्रवृत्तेः। तदुक्तं भाष्ये—योगविभागं प्रदर्श्य—किमर्थो योगविभागः? शाकल्यमते 'ऊँ' विभाषा यथा स्यात्, 'ऊँ इति' 'उ इति'। अन्येषामाचार्याणां मतेन 'विती'ति। अनेन हि योगविभागस्य 'उ इती'ति रूपसिद्धिः फलमिति स्पष्टमेव लभ्यते। अतो योगविभागेन व्याचष्टे—उञ इति। उञो वाचकं पदं प्रगृह्यमित्यर्थः।

"उञः" सूत्र में "उञ्" यह निपात है, प्रत्याहार नहीं है। प्रत्याहार लाक्षणिक है और निपात प्रतिपदोक्त है। इसलिए प्रतिपदोक्तत्वात् यहाँ निपात उञ् ही लिया जाता है। दूसरी बात यह है कि हल् वर्णों में प्रगृह्य संज्ञा करने का कोई फल तो है नहीं, इसलिए यदि यहाँ प्रत्याहार लेना होता तो उञ् की जगह "अच्" ऐसा कहे होते, किन्तु ऐसा न करने से स्पष्ट होता है कि "उञ्" यह निपात ही गृहीत है।

यहाँ "उञः" और "ऊँ" ये दो सूत्र हैं। इति शब्द पर में रहने पर "उञ्" की प्रगृह्य संज्ञा विकल्प से होती है। इसी प्रकार दूसरे सूत्र से इति शब्द पर में रहने पर "उञ्" को प्रगृह्य संज्ञा अनुनासिक तथा दीर्घ—ये कार्य विकल्प से होते हैं। इस प्रकार "ऊँ इति" यह पहला

रूप बनता है। इसके अभाव में "उ इति" यह दूसरा रूप बनता है। इसके अभाव में यणादेश के द्वारा "विति" यह तीसरा रूप बनता है।

यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि यहाँ विधेय प्रगृह्यत्व उद्देश्य का ही विशेषण है। अर्थात् "उञ्" जो स्थानी है उसी की प्रगृह्य संज्ञा होती है और प्रगृह्य संज्ञा के समय ही उसे दीर्घ और अनुनासिकत्वविशिष्ट "ऊँ" ऐसा आदेश कर दिया जाता है। विधेय "ऊँ" यह प्रगृह्यसंज्ञक नहीं होता हैं। विधेय की प्रगृह्यसंज्ञा के अभाव में उसे यणादि कार्य होने लगेंगे? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि स्थानीवृत्ति प्रगृह्यत्व स्थानिवद्भाव से विधेय में सुलभ हो जाता है। यदि कहा जाय कि इस गौरवग्रस्त प्रक्रिया से तो यही अच्छा होता कि प्रगृह्यत्व विधेय का ही है, ऐसा स्वीकार करके प्रगृह्यत्वविशिष्ट "ऊँ" का विधान किया जाय, जिससे स्थानिवद्भाव का गौरव न हो सके, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि "निपात एकाच्" सूत्र द्वारा अप्रगृह्य स्थानी के स्थान पर प्रगृह्यादेश के विधान से यह स्पष्ट होता है कि प्रगृह्य संज्ञा उद्देश्य की ही होती है। इस प्रकार प्रगृह्यत्व का साक्षात् सम्बन्ध उद्देश्य के साथ क्लृप्त है, इसलिए उसे विधेय का विशेषण मानने का औचित्य नहीं है। उसमें तो प्रगृह्यत्व स्थानिवद्भाव से ही आता है। इन सारी बातों को सन्दर्भित करते हुए शेखर के मूल की व्याख्या इस प्रकार है—

"उञः" और "ऊँ" इन दो सूत्रों की जगह यदि "उञ ऊँ" ऐसा एक ही सूत्र किया जाय और इसमें "शाकल्यस्य" इस पद की अनुवृत्ति न की जाय तब इसका अर्थ इस प्रकार होगा— उञ् की प्रगृह्य संज्ञा हो और प्रगृह्यत्वविशिष्ट उस उञ् को "ऊँ" ऐसा आदेश हो। आदेश में प्रगृह्यत्व-प्रयुक्त कार्य स्थानिवद्भाव के द्वारा हो जायेगा, किन्तु ऐसा अर्थ करने का परिणाम यह होगा कि "ऊँ इति" यह एक ही रूप बनेगा। "उ इति" और "विति" ये दोनों रूप नहीं बन सकेंगे। क्योंकि प्रगृह्य संज्ञा का प्रकरण होने के कारण "उञ्" की प्रगृह्य संज्ञा और उसके स्थान पर सानुनासिक दीर्घ का विधान साथ-साथ ही होगा। इस प्रकार "ऊँ इति" यह एक रूप बन कर रह जायेगा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रगृह्यत्व का साक्षात् सम्बन्ध उद्देश्य के साथ क्लृप्त है, इसलिए वह विधेय का विशेषण नहीं हो सकता है, इसलिए उद्देश्य की प्रगृह्य संज्ञा और 'ऊँ' यह आदेश समकाल में ही होंगें।

यदि "शाकल्यस्य" इस पद की अनुवृत्ति करते हैं, तब जिस पक्ष में प्रगृह्य संज्ञा होगी, उस समय उसके साथ ही "ऊँ" ऐसा आदेश भी हो जायेगा। इस प्रकार प्रगृह्यत्व समान-कालिक "ऊँ" आदेश के विकल्प के कारण "ऊँ इति" और "विति" ये दो रूप बनेंगे, किन्तु "उ इति" ऐसा रूप नहीं बन सकेगा। कारण यह है कि स्थानीवृत्ति प्रगृह्यत्व स्थानिवद्भाव से आदेश ऊँ में चला आयेगा तो यणादि के अभाव के कारण "ऊँ इति" यह रूप बनेगा। "ऊँ" आदेश के अभाव पक्ष में प्रगृह्यसंज्ञा भी नहीं होगी, इसलिए उस पक्ष में यण् हो जायेगा, जिससे "विति" यह रूप बनेगा। इस प्रकार "शाकल्यस्य" के अनुवृत्ति पक्ष में "ऊँ इति" और "विति" के बनने पर भी "उ इति" यह रूप नहीं बन सकेगा। यदि कहा जाय कि "उञ ऊँ" के अभाव पक्ष में "निपात एकाजनाङ्" सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा करके "उ इति" यह रूप बन सकता है तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रगृह्य संज्ञा के विकल्प का तात्पर्य यही है कि प्रगृह्य संज्ञा के अभाव पक्ष में प्रगृह्य संज्ञा न होने पाये। इसलिए इसके अभावपक्ष में "निपात एकाजनाङ्"

की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। परिणाम यह होगा कि "उ इति" यह रूप नहीं बन सकेगा। इस बात में भाष्यकार की सम्मति दिखाते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि भाष्यकार ने "उञः" तथा "ऊँ" इस प्रकार योगविभाग को दिखला कर कहा कि इस योगविभाग का क्या प्रयोजन है? ऐसा प्रश्न करके इसके उत्तर में कहा कि शाकल्य के मत से "ऊँ" यह रूप विकल्प से जैसे बन सके इसके लिए योगविभाग है। तात्पर्य यह है कि योगविभाग में जब शाकल्य की अनुवृत्ति आयेगी तब "ऊँ इति" और "उ इति" ये दोनों रूप शाकल्य के मत से बनेंगे तथा अन्य आचार्यों के मत से "विति" यह रूप बनेगा। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि योगविभाग का फल "उ इति" इस रूप की सिद्धि है। योगविभाग न करने पर यह रूप सिद्ध नहीं हो सकता था, इसलिए कौमुदीकार ने भी "उञः" इस प्रकार पृथक् योगविभाग करके इस सूत्र की व्याख्या की है। ऊपर यह बात स्पष्ट की जा चुकी है।

"वृद्धिरादैच्" इत्यादि संज्ञाविधायक सूत्रों में देखा गया है कि संज्ञा और संज्ञी वाचक पदों का समानविभक्तिकत्व होता है, किन्तु यहाँ "उञः" यह षष्ठ्यन्त पद है, जिससे संज्ञा-संज्ञीभाव की प्रतीति नहीं हो रही है। नागेशभट्ट इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि संज्ञा और संज्ञी में जब भेद माना जाता है तब वहाँ षष्ठी विभक्ति होती है। उस समय उञ् की प्रगृह्य संज्ञा होती है, इसका अर्थ है कि उञ् का वाचक पद प्रगृह्य पद है। इसी का फलितार्थ इनका संज्ञा-संज्ञीभाव है।

शाकल्यस्येतौ प्रगृह्यमित्यनुवर्त्तते, तदाह—उञो इतौ वेत्यादि। विकल्पाननुवृत्तौ हि 'निपात एके'त्येव सिद्धे इदं व्यर्थमेव स्यात्। एवञ्च प्राप्तविभाषेयम्। 'ऊँ' इत्यत्र शाकल्यप्रगृह्यपदयोरसम्बन्धे उञ इत्यर्थाधिकारादप्रगृह्यस्यैवादेशे तस्य 'इको यणि'ति यणि 'ऊँ इती'त्यस्यासिद्धिः', दीर्घोच्चारणवैयर्थ्यापत्तिश्च। विकल्पमात्र-सम्बन्धेऽपि 'ऊँ इती'त्यस्यासिद्धिरिति—विधानसामर्थ्यात्प्रगृह्यपदसम्बन्धः। प्रगृह्यपदमात्रसम्बन्धेऽर्थाधिकारादप्रगृह्यस्य नित्ये ऊँआदेशे 'ऊँ इती'ति, प्रगृह्यस्य 'उ इती'ति सिद्धेऽपि 'विती'ति न सिद्ध्येत्। तदाह—उञ इतौ दीर्घोऽनुनासिक इत्यादि। अत्र विशिष्टस्य विधिरिति न वाक्यभेदः। न च प्रगृह्यत्वमादेशश्च शाकल्यमते इति तयोरेकप्रयोगे एव प्रवृत्तिः स्यादिति वाच्यं, योगविभागसामर्थ्येन शाकल्यमते एव भावाभावकल्पनात्। वस्तुत उञनुवादेन सञ्ज्ञाऽऽदेशयोः सह-विधानमेव न्याय्यम्। आदेशे स्थानिवद्भावात्प्रगृह्यकार्यम्। भाष्ये 'प्रगृह्यसञ्ज्ञकश्चे'-त्यपि स्थानिवद्भावलब्धार्थस्वरूपकथनमिति न्यायविदो विचारयन्तु।

प्रथम योग "उञः" सूत्र में पूर्वसूत्र से "शाकल्यस्य", "इतौ" इन दो पदों की तथा पूर्वतः अनुवृत्त "प्रगृह्यम्" इस पद की अनुवृत्ति होती है। इसीलिए कौमुदीकार ने इस प्रथम योग का अर्थ करते हुए "उञ इतौ वा" ऐसा वृत्ति में कहा है। इन तीनों पदों में "इतौ" और "प्रगृह्यम्" इन दोनों का प्रयोजन स्पष्ट होने के कारण इनकी चर्चा छोड़कर विकल्प अर्थ का प्रतिपादक "शाकल्यस्य" इस पद की अनुवृत्ति का फल बताते हुए कह रहे हैं कि यदि इस सूत्र में विकल्प की ('शाकल्यस्य' इस पद की) अनुवृत्ति नहीं करते हैं तो इसका तात्पर्य यह होगा कि "उ इति"

यही एकमात्र रूप बनेगा। ऐसी स्थिति में तो "निपात एकाजनाङ्" इस सूत्र से ही इस रूप की सिद्धि हो सकती है, पुनः इस सूत्र की (प्रथम योग की) क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार शाकल्य पद की अनुवृत्ति न करने पर यह योग व्यर्थ हो जाता है। इसलिए विकल्प की अनुवृत्ति की जाती है। अनुवृत्ति करने पर "उ इति" इस प्रयोग में "निपात एकाच्" सूत्र से प्राप्त प्रगृह्य संज्ञा का विकल्प करने के कारण यह प्राप्तविभाषा होता है।

"ऊँ" इस सूत्र में यदि शाकल्य और प्रगृह्य इन दोनों पदों का सम्बन्ध न किया जाय तो "ऊँ इति" इस रूप की सिद्धि नहीं हो सकेगी। कारण यह है कि पूर्वयोग से जिस "उञः" पद की यहाँ अनुवृत्ति होती है वह अर्थाधिकार के अनुरोध से अप्रगृह्य ही रहता है। उस अप्रगृह्य "उञ्" की ही तो प्रगृह्य संज्ञा वहाँ विधेय होती है। तात्पर्य यह है जिस "उञ्" की यहाँ अनुवृत्ति करते हैं वह अर्थाधिकार के अनुरोध से अप्रगृह्य है। "उञो वाचकं प्रगृह्यम्" इस कथन से स्पष्ट है कि प्रगृह्य वाचक है और "उञ्" उसका (वाच्य) अर्थ है। इसी अर्थ की (अप्रगृह्य उञ्) की अनुवृत्ति यहाँ आती है। पहले की स्थिति तो ऐसी थी उस अप्रगृह्य "उञ्" की प्रगृह्य संज्ञा करके तब उसके स्थान पर "ऊँ" इस आदेश का विधान करते थे। इसका परिणाम यह होता था कि स्थानी "उ" का धर्म प्रगृह्यत्व, स्थानिवद्भाव से आदेश, दीर्घ अनुनासिक "ऊँ" में चला आता था, जिससे प्रगृह्यत्वप्रयुक्त प्रकृतिभाव के कारण यणादि कार्य नहीं होते थे। किन्तु अब जब कि "ऊँ" इस सूत्र में प्रगृह्य का सम्बन्ध नहीं करते हैं और अप्रगृह्य "उञ्" के स्थान पर केवल "ऊँ" यह आदेश करते हैं तब इस "ऊँ" के प्रगृह्य न होने के कारण उसे प्रकृतिभाव नहीं हो सकेगा, किन्तु "इको यणचि" सूत्र से यण् होकर "विति" प्रयोग तो बन सकता है किन्तु "ऊँ इति" यह रूप नहीं बन सकेगा। दूसरी बात यह है कि यदि दीर्घ "ऊँ" आदेश करके यण् ही करना है तो दीर्घ तथा ह्रस्व के यण् में कोई विशेषता के न होने के कारण दीर्घोच्चारण भी व्यर्थ हो जायेगा।

यदि केवल मात्र (शाकल्यस्य) की अनुवृत्ति करते हैं तब भी प्रगृह्यत्व के न होने के कारण यणादेश के कारण "ऊँ इति" इस प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसलिए "ऊँ" ऐसे आदेश के विधान के सामर्थ्य से यहाँ प्रगृह्य पद का सम्बन्ध है, ऐसा मानना चाहिए। अन्यथा "ऊँ" का विधान ही व्यर्थ हो जायेगा।

यदि केवल "प्रगृह्य" पद का ही सम्बन्ध करते हैं अर्थात् "विकल्प" की अनुवृत्ति नहीं करते हैं तब "ऊँ" यह आदेश और प्रगृह्य संज्ञा ये दोनों कार्य एक साथ न करके दोनों को पृथक्- पृथक् करते हैं। अर्थात् कभी प्रगृह्य संज्ञा करते हैं और कभी "ऊँ" यह आदेश करते हैं। कहा जा सकता है कि आदेश के साथ-साथ प्रगृह्यसंज्ञा भी कर लेनी चाहिए, जिससे वहाँ यण् आदि सन्धिकार्य न होने पाये, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्प की अनुवृत्ति न करने के कारण यह "ऊँ" आदेश तो नित्य ही हो रहा है। अब इस नित्य विधेय "ऊँ" को यदि यण् कर दिया जाता है तब तो नित्य विधान ही व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए नित्य विधान के सामर्थ्य से ही आदेशपक्ष में यणादि सन्धिकार्य नहीं होंगे। इसलिए आदेश के साथ प्रगृह्य संज्ञा करने का कोई फल नहीं होने के कारण प्रगृह्यत्वसम्पादक वाक्य पृथक् से दूसरा ही वाक्य होगा। "ऊँ" इस सूत्र में अर्थाधिकार के अनुरोध से अप्रगृह्य "उञ्" का ही अधिकार

आया है। इसलिए अप्रगृह्य उञ् के स्थान पर नित्य "ऊँ" आदेश का विधान करके तत्सामर्थ्य से यण् का अभाव करने पर "ऊँ इति" यह रूप बनेगा। दूसरी ओर जब केवल प्रगृह्य संज्ञा ही की जायेगी तब "उ इति" यह रूप बनेगा, किन्तु "विति" यह रूप नहीं बन सकेगा। इन विसंगतियों को दूर करने के लिए दीक्षितजी ने "ऊँ" इस सूत्र में "शाकल्यस्य", "इतौ" और "प्रगृह्यम्" इन तीनों पदों की अनुवृत्ति करके वृत्ति में कहा है—"उञ् इतौ दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यश्च 'ऊँ' इत्ययमादेशो वा स्यात्"।

यहाँ यह आशंका होती है कि "उञ्" के स्थान पर दीर्घ, अनुनासिक और प्रगृह्य संज्ञा—इन तीनों का विधान करने पर प्रत्येक विधेय के लिए उद्देश्य की आवृत्ति करनी पड़ेगी। परिणामस्वरूप "उञो दीर्घः", "उञोऽनुनासिकः", "उञः प्रगृह्यम्" इस प्रकार वाक्यभेद की आपत्ति हो रही है? तो शेखरकार इस आशंका का समाधान देते हुए कह रहे हैं कि द्वितीय योग "ऊँ" इस सूत्र द्वारा अनुनासिकत्व, दीर्घत्व और प्रगृह्यत्व विशिष्ट "ऊँ" का विधान किया जायेगा, इसलिए वाक्यभेद की आपत्ति यहाँ नहीं है।

इस पक्ष में पुनः यह शंका होती है कि "उञः" सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा और "ऊँ" सूत्र से "ऊँ" यह आदेश—ये दोनों कार्य शाकल्य के मत में हो रहे हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक ही प्रयोग में ये दोनों कार्य हो रहे हैं। तब इसका परिणाम यह होगा कि "ऊँ इति" और इसके अभाव में यण् करके "विति" यह प्रयोग तो बनेगा, किन्तु 'उ इति' यह प्रयोग नहीं बन सकेगा। इसका उत्तर देते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि यदि "ऊँ इति" और "विति" ये ही दो रूप बनाने इष्ट होते तो यह कार्य तो "उञः ऊँ" इस प्रकार का एक ही सूत्र बनाकर शाकल्य के मत से इसी सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा और "ऊँ" आदेश करके बनाये जा सकते थे तो योगविभाग की क्या आवश्यकता थी? इसलिए योगविभाग के सामर्थ्य से यह समझते हैं कि "ऊँ" इस आदेश का भाव और अभाव ये दोनों बातें शाकल्य के मत में ही कल्पित है। अर्थात् 'ऊँ' आदेश करके "ऊँ इति" और इसका अभाव करके "उ इति" ये दोनों रूप शाकल्य के मत में ही होते हैं। इसके अभाव में यण् करके "विति" यह रूप अन्य आचार्यों के मतानुसार होता है। तात्पर्य यह है कि "उञः" और "ऊँ" ये दानों सूत्र शाकल्य के मतानुसार प्रवृत्त होते हैं तब उक्त दोनों वाञ्छित रूप बन जाते हैं। शाकल्य मत के अभाव में अन्य आचार्यों के अनुसार यण् हो जाता है जिससे "विति" रूप बन जाता है। इस प्रकार कोई दोष नहीं रह जाता है।

अब यह विचार प्रस्तुत है कि पहले जो कहा गया है कि यहाँ वाक्यभेद की आपत्ति को दूर करने के लिए प्रगृह्यसंज्ञकत्वविशिष्ट 'ऊँ' आदेश का विधान किया गया है, किन्तु यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि प्रगृह्य का सम्बन्ध उद्देश्य के साथ क्लृप्त है न कि विधेय के साथ। ऐसी स्थिति में विशिष्ट का विधान करना ठीक नहीं है। इस बात का उत्तर देते हुए नागेश कह रहे हैं कि वह बात तो मूल के अनुसार (कौमुदी के अनुसार) कही गई है। वास्तव में प्रगृह्य संज्ञा तो 'उञ्' को उद्देश्य करके उसी को विहित है अर्थात् उद्देश्य उञ् की ही प्रगृह्यसंज्ञा होती है और प्रगृह्यसंज्ञक उञ् के स्थान पर दीर्घ और अनुनासिकत्वविशिष्ट "ऊँ" का विधान किया जाता है। इस प्रकार उञ् की प्रगृह्य संज्ञा और 'ऊँ' यह आदेश—ये दोनों कार्य साथ

ही होते हैं। आदेश "ऊँ" में प्रगृह्यत्व स्थानिवद्भाव से लाया जाता है। यदि कहा जाय कि ऐसा करने से भाष्य-विरोध हो रहा है, क्योंकि भाष्यकार ने "ऊँ" आदेश के लिए कहा है कि यह आदेश "प्रगृह्यसंज्ञकश्च" अर्थात् इसे प्रगृह्य संज्ञा भी होती है। इधर प्रगृह्य संज्ञा उद्देश्य को की जा रही है। इस प्रकार भाष्य-विरोध हो रहा है। इसके उत्तर में कह रहे हैं कि भाष्य के इस कथन कि "प्रगृह्यसंज्ञकश्च" का तात्पर्य यही है कि यह "ऊँ" आदेश स्थानिवद्भाव के द्वारा लब्ध प्रगृह्य संज्ञावाला है, न कि इसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है। न्यायविद् लोग इस बात का विचार करें। नागेश के इस कथन पर भी मतवैभिन्न्य है। भैरवीकार का कहना है कि "असति बाधके क्लृप्तसम्बन्धत्यागे मानाभावः" इस न्याय के आधार पर तो प्रगृह्य संज्ञा उद्देश्य का ही विशेषण है। विधेय "ऊँ" में वह स्थानिवद्भाव से आती है।

अभिनवचन्द्रिकाकार का कहना है कि प्रगृह्य संज्ञा और ऊँ आदेश इन दोनों का सह-विधान करने पर वाक्यभेद की आपत्ति होती है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इसलिए प्रगृह्यत्वविशिष्ट "ऊँ" का ही विधान करना चाहिए। अर्थात् प्रगृह्यत्व विधेय का विशेषण है। ज्योत्स्नाकार का कहना है कि प्रगृह्यत्व का साक्षात् सम्बन्ध उद्देश्य के साथ जब क्लृप्त है तब उसे विधेय का विशेषण बनाने में क्या प्रमाण है?

विधेयविशेषणवादियों का कहना है कि संज्ञा और संज्ञी में समानविभक्तिकत्व रहता है। इसलिए प्रगृह्य संज्ञा उद्देश्य का विशेषण नहीं हो सकती है, क्योंकि उद्देश्य "उञः" यह पद षष्ठ्यन्त है। इसके विपरीत "ऊँ" यह विधेय प्रथमान्त है। इसलिए इसी का विशेषण "प्रगृह्यम्" यह पद है।

अन्य आचार्य का कहना है कि "प्रगृह्यम्" पद की अनुवृत्ति "ऊँ" सूत्र में करके उसका षष्ठ्यन्तत्वेन परिवर्तन करके उद्देश्य "उञः" इस षष्ठ्यन्त पद का विशेषण बना देने से यह अर्थ होगा कि प्रगृह्यसंज्ञक उञ् के स्थान पर "ऊँ" यह आदेश होता है। इस प्रकार प्रगृह्य की उद्देश्यविशेषणता ही सिद्ध होती है और वाक्यभेद की कल्पना का गौरव भी नहीं होता है।

मय उञो। व्याख्यानादत्र मय् प्रत्याहारः। अस्य त्रैपादिकत्वेनासिद्धत्वात्र 'प्लुतप्रगृह्या' इत्यनेन बाधः। नानुस्वार इति। 'किं विती'त्यादौ प्रगृह्यसञ्ज्ञाऽभावेऽस्यासिद्धत्वाद् 'इको यणि'ति यणि अनुस्वारो भवत्येव।

"मय उञो वो वा" इस सूत्र में "मय्" शब्द से "मय गतौ" इस धातु का ग्रहण किया जाय अथवा "मय्" प्रत्याहार का ग्रहण किया जाय? इस आशंका का उत्तर देते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि बहुलक्ष्यसंस्कारानुरोधमूलक व्याख्यान के आधार पर यहाँ मय् शब्द से "मय्" प्रत्याहार का ग्रहण किया जाता है, न कि मय् धातु का ग्रहण। इसीलिए "किमु + आवपनं महत्" इस स्थिति में इस सूत्र से मकारोत्तरवर्ती उकार के स्थान पर "वकार" आदेश करके "किम्वावपनं महत्" ऐसा भाष्यप्रयोग संगत होता है। यहाँ शंका होती है कि इस सूत्र के उदाहरण "किम्वुक्तम्" की प्रक्रियादशा "किमु + उक्तम्" इस स्थिति में मकारोत्तरवर्ती उकार की "निपात एकाच्" सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा कर देने पर "प्लुतप्रगृह्या" सूत्र से प्रकृतिभाव होने

की स्थिति में यहाँ "मय उञः" सूत्र से वकारादेश कैसे होता है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यह सूत्र त्रैपादिक है और प्रकृतिभावविधायक सूत्र सपादसप्ताध्यायी है। इसलिए "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र से यह सूत्र असिद्ध हो जाता है। परिणाम यह होता है कि प्रकृतिभाव की दृष्टि में जब यह सूत्र है ही नहीं तब "प्लुतप्रगृह्या" सूत्र से इसका बाध कैसे होगा? इसलिए 'प्लुतप्रगृह्या' सूत्र से इसका बाध नहीं होता है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि "किम्वुक्तम्" ऐसा रूप बन जाने पर "मोऽनुस्वारः" सूत्र से मकार को अनुस्वार की प्राप्ति होती है। इस अनुस्वार का वारण करने के लिए कौमुदी में कहा गया है कि पूर्वत्रिपादी "मोऽनुस्वारः" के प्रति परत्रिपादी "मय उञः" सूत्र असिद्ध हो जाता है, जिससे हल् पर में न मिलने के कारण मकार को अनुस्वार नहीं होता है।

कौमुदीकार के इस कथन का तात्पर्य यह है कि यदि "इको यणचि" (६।१।७७) के बाद "मय उञो वा" इस रूप में इस सूत्र का पाठ किया गया होता तो इसमें यण् की अनुवृत्ति होती और आन्तरतम्य के आधार पर उकार को वकार हो जाता और रूप की सिद्धि हो जाती साथ ही लाघव यह होता कि सूत्र में वकार का ग्रहण न करना पड़ता, किन्तु ऐसा न करके इस सूत्र का त्रिपादी में पाठ करने का रहस्य यह है कि यदि "इको यणचि" के पास इस सूत्र का पाठ होता तो यह सूत्र सपादसप्ताध्यायी हो जाता। ऐसी स्थिति में "किम्वुक्तम्" प्रयोग में जब मकार को "मोऽनुस्वारः" सूत्र से अनुस्वार करने चलते, तो त्रैपादिक अनुस्वार की दृष्टि में सापादिक यण्त्वेन बिधेय वकार असिद्ध नहीं होता। परिणाम यह होता कि यहाँ मकार का अनुस्वार हो जाता। वर्तमान स्थल त्रैपादिक में पाठ करने पर पूर्वत्रिपादी "मोऽनुस्वारः" (८।३।२३) के प्रति परत्रिपादी "मय उञः" (८।३।३३) से विधेय वकार असिद्ध हो जाता है। इसलिए मकार का अनुस्वार नहीं होता है। इसी बात को दीक्षित ने कौमुदी में कहा है— "वत्वस्यासिद्धत्वान्नानुस्वारः"। यहाँ यह ध्यातव्य है कि "किमु + उक्तम्" इस प्रयोग में उकार की प्रगृह्य संज्ञा नित्य ही होती है। "निपात एकाजनाङ्" से विधेय प्रगृह्य संज्ञा नित्य ही है। इस नित्य प्रगृह्यत्वप्रयुक्त प्रकृतिभाव को बाध कर प्रस्तुत सूत्र से उकार को वकार किया जाता हे। अनुस्वार की प्राप्ति होने पर यह वकार असिद्ध हो जाता है, जिससे मकार का अनुस्वार नहीं होता। यह "किंम्वुक्तम्" प्रयोग की स्थिति है।

"किम् + उ + इति" इस स्थिति में "उञः" तथा "ऊँ" सूत्र से वैकल्पिक प्रगृह्य संज्ञा और प्रकृतिभाव करने से "किम्-उ-इति" और "किम्-ऊँ-इति" ये दो रूप बनते हैं। प्रगृह्य संज्ञा के अभाव पक्ष में प्रस्तुत सूत्र से प्राप्त वकार त्रैपादिक होने के कारण "इको यणचि" के प्रति जब असिद्ध हो जाता है तब वहाँ यण् ही होता है। यण् का वकार "मोऽनुस्वारः" की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता, अतः इस पक्ष में मकार के स्थान पर अनुस्वार होता ही है, जिससे "किं विति" यह रूप बनता है।

ननु 'यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी'ति न्यायेन गौरीशब्दस्य सप्तम्यर्थवृत्तित्वेऽपीकारस्य तत्त्वाभावोऽत आह—ईदूदन्तमिति। शब्दस्वरूपस्य विशेष्यत्वात्तदन्तविधिरिति भावः। मामकी तनू इति। प्रगृह्येष्विति शब्दप्रयोगस्य पदकारैर्नियमितत्वात्पदपाठे प्रगृह्यत्वफलमत्र बोद्धव्यम्। ईदूतौ किम्? अग्ना

भवाति। सप्तम्या डादेशः। तपरत्वमसन्देहाय। सप्तमीति किम्? धीती, मती। ह्रस्वान्ताभ्यान्तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णे सवर्णदीर्घः।

"ईदूतौ च सप्तम्यर्थे" इस सूत्र में "शाकल्यस्य", "अनार्षे" और "इतौ" इन तीन पदों की अनुवृत्ति नहीं आती है। यहाँ किसी विधेय का उल्लेख नहीं है, इसलिए सूत्रस्थ च शब्द से "प्रगृह्यम्" पद की अनुवृत्ति की जाती है। "सप्तम्यर्थे" यह पद अधिकरण कारक का वाचक है। कारक का अन्वय क्रिया में होता है, इसलिए विद्यमानार्थक पर्यवसन्न शब्द का अध्याहार यहाँ किया जाता है। "पर्यवसन्न शब्दौ" यह विशेष्य होता है और "ईदूतौ" यह विशेषण होता है। इसके बाद "येन विधिः" सूत्र से तदन्तविधि होती है, जिससे सूत्र की वृत्ति इस रूप में बनी है—'सप्तम्यर्थे पर्यवसन्नम् ईदूदन्तं प्रगृह्यं स्यात्।' इस बात को सन्दर्भित करते हुए शेखर की व्याख्या की ओर जब मुड़ते हैं तब उसकी पंक्ति का उत्थान इस प्रकार होता है—इस सूत्र का उदाहरण "सोमो गौरी अधिश्रितः" यह प्रयोग दिया गया है। यहाँ गौरीशब्दोत्तर "ङि" विभक्ति का "सुपां सुलुक्" सूत्र से लुक् हुआ है। लुक् होने के बाद "यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी" इस न्याय से गौरी शब्द सप्तम्यर्थ में वर्तमान है अर्थात् "गौरी" पद का ही अर्थ "गौर्यधिकरण" है। यदि यहाँ तदन्तविधि नहीं की गई होती तो सूत्रार्थ होता कि सप्तम्यर्थ में वर्तमान जो ईकार और ऊकार उनकी प्रगृह्य संज्ञा होती है। किन्तु यहाँ तो सप्तम्यर्थ में वर्तमान "गौरी" शब्द है, न कि तद्घटक ईकार सप्तम्यर्थ में वर्तमान है। इस प्रकार ईकार का तत्त्वाभाव = सप्तम्यर्थवृत्तित्वाभाव होने के कारण प्रगृह्य संज्ञा ही यहाँ नहीं होती। अब जब कि तदन्तविधि कर दी गई है तब ईकारान्त गौरी के सप्तम्यर्थ में वर्तमान होने के कारण यहाँ प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है। जैसा कि ऊपर सन्दर्भ में बताया जा चुका है कि शब्दस्वरूप को विशेष्य बनाकर यहाँ तदन्तविधि होती है। इस प्रकार कोई अनुपपत्ति नहीं होती है।

कौमुदी में ऊकारान्त का उदाहरण "मामकी तनू" यह प्रयोग दिया गया है। यहाँ यह शंका होती है कि वेद में "मामकी तनू" इस प्रकार का पाठ मिलता है, जहाँ "तनू" के आगे अच् पर में है ही नहीं। ऐसी स्थिति में अच्परत्वाभाव के कारण जब यहाँ प्रकृतिभाव होने वाला ही नहीं है तब इस ऊकारान्त की प्रगृह्य संज्ञा करने का प्रयोजन क्या है? अर्थात् इसकी प्रगृह्य संज्ञा व्यर्थ है? नागेश भट्ट इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि पदकार वैदिकों के द्वारा प्रगृह्य के बाद नियमतः "इति" शब्द का प्रयोग किया जाता है, इसलिए "मामकी इति, तनू इति" इस प्रकार के पदपाठ में "तनू" के आगे इतिशब्दघटक अच् पर में रहने के कारण प्रगृह्यसंज्ञा का फल प्रकृतिभाव यहाँ सम्भव है, ऐसा समझना चाहिए।

इस सूत्र में यदि "ईदूतौ" पद का ग्रहण नहीं किया गया होता तो सूत्रार्थ होता कि 'सप्तम्यर्थ में पर्यवसन्न की प्रगृह्य संज्ञा होती है'। ऐसा अर्थ करने का परिणाम यह होता कि "अग्ना भवाति" इस प्रयोग में "अग्ना" इस आकारान्त की भी प्रगृह्य संज्ञा होने लगती। अग्नि शब्द से "ङि" विभक्ति लाने पर यहाँ "सुपां सुलुक्" सूत्र से सप्तमी (ङि) को डा आदेश हुआ है। यदि कहा जाय कि यहाँ यदि प्रगृह्य संज्ञा हो भी जाती है तो दोष क्या होगा? तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वेद में पदकारों के द्वारा प्रगृह्य के बाद नियमतः इति शब्द का प्रयोग करने

के कारण इस डान्त प्रयोग में भी इति शब्द के प्रयोग की आपत्ति हो जाती। यही यहाँ दोष होता। "ईदूतौ" पद के ग्रहण करने पर यहाँ प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है। फलस्वरूप "अग्ना" के बाद "इति" शब्द का प्रयोग नहीं होता है। यहाँ "ईदूत्" शब्द में तपरकरण का क्या प्रयोजन है? यहाँ यदि यह कहा जाय कि भिन्नकाल की व्यावृत्ति कर समकाल सवर्णी के ग्रहण के लिए तपरकरण है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि दीर्घ ईकार और ऊकार के अण् न होने के कारण जब सवर्णग्रहण की प्राप्ति ही नहीं है तब किसकी व्यावृत्ति कराकर समकाल का ग्रहण करने के लिए तपरकरण को सार्थक माना जाय? यदि कहा जाय कि उदात्तत्वादि गुणविशिष्ट वर्ण के ग्रहण के लिए तपरकरण आवश्यक है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि कोई यत्न नहीं किया जाय तो "गुणा अभेदकाः" इस परिभाषा से ही उनका ग्रहण सिद्ध है। ऐसी स्थिति में तपरकरण की यहाँ क्या आवश्यकता है? शेखरकार इस बात के उत्तर में कह रहे हैं कि यहाँ तपरकरण असन्देह के लिए है। तात्पर्य यह है कि यदि तपरकरण न किया गया होता तो ई के आगे ऊ के रहने पर सन्धिकार्य के हो जाने से "यू" यह रूप बन जाता। अब यहाँ शंका होती कि यह 'यू' रूप ह्रस्व इकार-उकार का है अथवा दीर्घ ईकार-ऊकार का है? इस प्रकार के सन्देह की निवृत्ति ही तपरकरण का प्रयोजन है। तपरकरण के कारण यहाँ सन्धिकार्य नहीं होता, जिससे सन्देह की निवृत्ति स्वतः हो जाती है।

"सप्तम्यर्थे" पदघटक अर्थग्रहण का फल पृथक् विस्तार से विवेचित होगा, इस बात को मन में रखकर "सप्तमी" पद का प्रयोजन बताते हुए कह रहे हैं कि सूत्र में यदि "सप्तमी" का ग्रहण न किया जाय तो वैदिक प्रयोग "धीती" और "मती" में प्रगृह्य संज्ञा होने लगेगी। यहाँ मूल शब्द ह्रस्व इकारान्त धीति और मति है। ये दोनों पद तृतीया के एकवचन के रूप हैं। यहाँ "धीत्या" और "मत्या" रूप की प्राप्ति थी किन्तु 'सुपां सुलुक्' सूत्र से तृतीया के एकवचन को पूर्वसवर्ण ईकार आदेश और सवर्णदीर्घ करके धीती और मती रूप बना है। यहाँ "सुपां सुलुक्" सूत्र से तृतीया का लुक् नहीं किया गया है। वैसा करने पर "धीति" और "मति" इस प्रकार ह्रस्व इकार के श्रवण की आपत्ति होने लगती। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि "धीती" और "मती" ये दोनों रूप तृतीया के एकवचन के हैं। शेखरकार इसी बात को कह रहे हैं कि उक्त दोनों रूपों में मूल ह्रस्वान्त शब्दों से पर में वर्तमान तृतीया के एकवचन को पूर्वसवर्ण के द्वारा दीर्घ ईकार करने पर सवर्णदीर्घ करके उक्त रूप बने हैं। सप्तमीग्रहण के अभाव में दीर्घ ईकारान्त की प्रगृह्य संज्ञा हो, ऐसा अर्थ करने पर यहाँ प्रगृह्य संज्ञा होने लगेगी। अतः सप्तमीग्रहण सूत्र में आवश्यक है। सप्तमीग्रहण करने पर "ईदूदन्त सप्तम्यन्त की प्रगृह्य संज्ञा होगी। अतः यहाँ पर ईदन्त तृतीयान्त की प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है।

अर्थग्रहणङ्किमिति। न च तदभावे 'ईदूदेदि'तिवदीदूदन्ता या सप्तमीत्यर्थापत्तिः। तथा च ययीत्यादावेव स्यात्, एकादेशस्य परादिवद्भावेन सप्तमीत्वात्, न तु 'गौरी-त्यादाविति—तत्सिद्ध्यर्थन्तदावश्यकमिति वाच्यम्; 'ईदूतौ सप्तमी प्रगृह्यम्', 'अदसः', 'एच्च द्विवचनमि'त्येव सिद्धे गुरुभूतन्यासकरणेन तत्प्रकरणापेक्षया वैजात्यबोधनात्, ऊकारांशेऽसम्भवाच्च—'सञ्ज्ञाविधावि'ति तदन्तग्रहणनिषेधा-

प्रवृत्त्या 'ईदूदन्तं सप्तम्यन्तमि'त्यर्थेनेष्टसिद्धेरिति प्रश्नः। 'ययी'त्यादेरनभिधानमेवेति परे।

प्रस्तुत सूत्र में अर्थग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस बात पर विचार करते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि यदि इस सूत्र में अर्थग्रहण न किया जाय तो सूत्र का स्वरूप होगा— "ईदूतौ च सप्तमी"। ऐसा सूत्र होने पर जिस प्रकार "ईदूदेत् द्विवचनं प्रगृह्यम्" सूत्र में जैसे ईदूदेत् द्विवचन के विशेषण होते हैं और वहाँ तदन्तविधि होकर 'ईदूदेदन्त द्विवचन यह अर्थ होता है, उसी प्रकार यहाँ भी 'ईदूतौ' यह पद "सप्तमी" का विशेषण होगा, जिससे तदन्तविधि करने के उपरान्त ईदूदन्तरूपा जो सप्तमी उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है, इस प्रकार के अर्थ की आपत्ति होगी, किन्तु ईदूदन्तरूपा सप्तमी के असम्भव होने के कारण "सप्तमी" प्रत्यय के द्वारा तदादि की उपस्थिति करके तदादिविशेष्यक सप्तमीविशेषणक तदन्तविधि करके "ईदूदन्त जो सप्तम्यन्त उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है" ऐसा सूत्रार्थ किया जायेगा। इस प्रकार सूत्रार्थ करने से "सोमो गौरी अधिश्रितः" प्रयोग की सिद्धि हो ही जाती है, क्योंकि गौरी में ईदन्तत्व स्वतः सिद्ध है और प्रत्ययलक्षण से सप्तम्यन्तत्व भी सुलभ है। ऐसी स्थिति में अर्थग्रहण की क्या आवश्यकता है? यदि कहा जाय कि "संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" इस परिभाषा से तदन्तविधि का निषेध हो जाने के कारण सप्तम्यंश में तदन्तविधि नहीं होगी तो "सोमो गौरी अधिश्रितः" प्रयोग की सिद्धि किस प्रकार होगी? इस आशंका के उत्तर में कहा जाता है कि यदि सप्तम्यंश में तदन्तविधि नहीं होगी तो सूत्रार्थ होगा कि ईदूदन्तरूपा जो सप्तमी उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है। ऐसा सूत्रार्थ करने पर केवल "ययी-आसक्तः" यही इस सूत्र का उदाहरण हो सकता है। ययी शब्द का सप्तमी के एकवचन में दीर्घ एकादेश करके "ययी" यह रूप बना है। यहाँ ईदन्तत्व तो स्वतः सिद्ध है। परादिवद्भाव से यह दीर्घ एकादेश सप्तमी भी है। इस प्रकार केवलमात्र इस सूत्र का उदाहरण यही प्रयोग हो सकता है। "सोमो गौरी" तो इसका उदाहरण हो ही नहीं सकता, क्योंकि यहाँ सप्तमी का लुक् हो चुका है। इसलिए इस प्रयोग की सिद्धि के लिए सूत्र में अर्थग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार अर्थग्रहण की आवश्यकता बताने पर शेखरकार का कहना है कि इस प्रकार तो अर्थग्रहण की आवश्यकता सिद्ध नहीं की जा सकती है। कारण यह है कि ईदूदन्त सप्तमी की प्रगृह्य संज्ञा होती है, ऐसा सूत्रार्थ करने पर यद्यपि ईकारांश का उदाहरण "ययी आसक्तः" यह प्रयोग मिल जाता है किन्तु ऊकारांश का तो कोई भी उदाहरण नहीं मिलता है। दूसरी बात यह है कि भाष्यकार ने ईदन्त सप्तमी वहीं माना है जहाँ "सप्तम्या दीर्घत्वमुच्यते" इस कथन के अनुसार जहाँ सप्तमी को दीर्घ होता है। जैसे "दृतं न शुष्कं सरसी शयानम्" यहाँ सरस् शब्द से ङि विभक्ति लाकर उसे दीर्घ करके "सरसी" प्रयोग बनाया गया है। यह स्थिति "ययी आसक्तः" के 'ययी' में नहीं है। इस प्रकार ईकारांश का उदाहरण "ययी" इस प्रयोग का भाष्य में अनभिधान ही है। निष्कर्ष यह निकला कि "ईदूदन्त सप्तमी की प्रगृह्य संज्ञा हो", ऐसा अर्थ करने पर उदाहरण न मिलने के कारण सम्पूर्ण सूत्र व्यर्थ होकर नियम करता है कि "संज्ञाविधौ" यह निषेध यहाँ प्रवृत्त नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि "ईदूतौ च सप्तमी प्रगृह्यम्", "अदसः", "एच्च द्विवचनम्" इस लघुभूत न्यास से ही अभीष्ट प्रयोगों की सिद्धि जब सम्भव है तब इसे छोड़ कर सूत्रकार ने जो "ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्", "अदसो मात्", "ईदूतौ च सप्तम्यर्थे" इस प्रकार का जो गुरुभूत न्यास किया है, यह न्यास भी व्यर्थ होकर तत्प्रकरणापेक्षया = लघुभूत न्यास वाले प्रकरण की अपेक्षा इस गुरुभूत न्यास में वैजात्य है, इस बात को ज्ञापित करता है। वह वैजात्य यही है कि इस प्रकरण में "संज्ञाविधौ" यह तदन्तविधि का निषेध यहाँ प्रवृत्त नहीं होता है। परिणाम यह होता है कि सप्तमी के द्वारा उपस्थापित तदादिविशेष्यक तदन्तविधि हो जाती है। तदन्तविधि हो जाने पर "ईदूदन्त जो सप्तम्यन्त उसकी प्रगृह्य संज्ञा हो" ऐसा सूत्रार्थ होता है। ऐसा अर्थ करने पर "गौरी" की प्रगृह्य संज्ञा सिद्ध हो जाती है, क्योंकि यह ईदन्त तो है ही, प्रत्ययलक्षण से सप्तम्यन्त भी है। ऐसी स्थिति में सूत्र में अर्थग्रहण की क्या आवश्यकता है? यही यहाँ "अर्थग्रहणं किम्" इस प्रश्न का तात्पर्य है।

"ययी" इस प्रयोग का तो अनभिधान ही है; जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

वृत्ताविति। अर्थग्रहणसामर्थ्यात्सप्तम्यर्थमात्रे पर्यवसन्नमित्यर्थेनात्र तत्संसृष्टाधेयार्थेऽपि वृत्तेर्न दोषः। 'सञ्ज्ञायामि'ति समासे जहत्स्वार्थायां वृत्तौ पूर्वपदस्यानर्थक्येऽपि 'सुप्सुपे'ति समासे अजहत्स्वार्थायां प्रसक्तदोषस्योक्तरीत्यैव वारणमिति भावः।

'गौरी अधिश्रित' इत्यत्राधिश्रयणक्रियायामेव गौरीपदबोद्ध्याधिकरणत्वान्वय इति गौर्यधिकरणके लक्षणायां मानाभाव इति—न तत्र दोषः।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार जब सूत्र में अर्थग्रहण के वैयर्थ्य की बात सिद्ध कर दी गई तब कौमुदीकार ने "वृत्तावर्थान्तरोपसंक्रान्ते मा भूत्" इस ग्रन्थ के द्वारा अर्थग्रहण के प्रयोजन का प्रतिपादन किया है। यदि सूत्र में अर्थग्रहण नहीं किया जाय तो "वाप्याम् अश्वः वाप्यश्वः" में "वापी + अश्वः" इस स्थिति में ईदन्त और प्रत्ययलक्षणेन सप्तम्यन्त "वापी" की भी प्रगृह्य संज्ञा होने से अनिष्टापत्ति होने लगेगी। जब अर्थग्रहण कर दिया जाता है तब सूत्रार्थ इस प्रकार होता है कि "सप्तम्यर्थ = अधिकरण मात्र में पर्यवसन्न ईदन्त और ऊदन्त की प्रगृह्य संज्ञा होती है। "वाप्यश्वः" का अर्थ है—"वाप्यधिकरणक अश्व" अर्थात् वापीनिष्ठ अधिकरणतानिरूपित आधेयतावान् अश्व। समास में समुदायनिष्ठ एक शक्ति होने के कारण वापी और अश्व का संश्लिष्ट अर्थ होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ ईदन्त वापी सप्तम्यर्थ मात्र में पर्यवसन्न नहीं है, किन्तु तत्संसृष्ट = अधिकरण अर्थ से संसृष्ट = मिले हुए आधेय अर्थ तक उसकी वृत्ति है। इसलिए यहाँ वापी की प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है। यही अर्थग्रहण का फल है।

अब यहाँ यह विचार प्रस्तुत है कि "वाप्यश्वः" इस पद में समास नामक वृत्ति है। यह वृत्ति दो प्रकार की होती है—जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था। जहत्स्वार्था का तात्पर्य यह है कि जिस वृत्ति में पद अपने अर्थ का त्याग करके समुदायार्थ को कहें। अजहत्स्वार्था उसे कहते हैं जहाँ पर पद अपने अर्थ को कहते हुए समुदायार्थ को कहें। "वाप्यश्वः" शब्द का

अर्थ दरियाई घोड़ा है अर्थात् यह संज्ञाशब्द है, ऐसा मानकर यदि "संज्ञायाम्" सूत्र से समास करते हैं और जहत्स्वार्थवृत्ति पक्ष मानते हैं तब पूर्वपद के अनर्थक होने के कारण सप्तम्यर्थ में पर्यवसन्नत्व के अभाव के कारण प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है। इस प्रकार इस पक्ष में दोष की आपत्ति नहीं है। शेखरकार इस बात के सन्दर्भ में कह रहे हैं कि "संज्ञायाम्" से समास करके जहत्स्वार्थवृत्ति पक्ष मानने पर यद्यपि पूर्वपद अनर्थक है, तथापि जब "सुप् सुपा" सूत्र से समास करके अजहत्स्वार्थवृत्ति पक्ष मानते हैं तब तो पूर्वपद सार्थक ही है। अतः इस पक्ष में प्राप्त दोष के वारण के लिए सूत्र में अर्थग्रहण करके उपर्युक्त रीति से अर्थात् सप्तम्यर्थ मात्र में पर्यवसन्न की प्रगृह्य संज्ञा होती है और यहाँ वैसा नहीं है, इसलिए प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती इसी रीति से दोष का वारण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अर्थग्रहण के सामर्थ्य से यह व्याख्या होती है कि जिस प्रकार सप्तमी के रहने पर आधेय से असंसृष्ट अधिकरण की प्रतीति होती है उसी प्रकार सप्तमी के लुप्त होने पर भी जहाँ आधेयासंसृष्ट अधिकरण की प्रतीति होगी वहीं प्रगृह्य संज्ञा होगी। "वाप्यश्वः" में ऐसी स्थिति नहीं है, अतः यहाँ प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है। वाप्यधिकरणक अश्व यह "वाप्यश्वः" का अर्थ है।

वास्तव में तोसप्तम्यर्थ और उसकी प्रकृति का अर्थ तथा इन दोनों का सम्बन्ध इतने अर्थ मात्र का वाचक तथा इससे भिन्न अर्थ का अवाचक जो ईकारान्त और ऊकारान्त शब्द उसी की प्रगृह्य संज्ञा होती है। "वाप्यश्वः" इस प्रयोग में यदि अजहत्स्वार्थवृत्ति पक्ष मानते हैं तो पूर्वपद और उत्तरपद अपने-अपने अर्थ को कहते हुए समुदायार्थ के भी वाचक होते हैं। इस प्रकार वे सप्तम्यन्त तदादि के अर्थमात्र के वाचक नहीं होते हैं। जैसे "वाप्यश्वः" प्रयोग में ही वापी और अश्व ये दोनों पद अपने-अपने अर्थ को कहते हुए समुदायार्थ को भी कहते हैं, इसलिए सप्तम्यर्थ मात्र में पर्यवसन्नत्व के अभाव के कारण प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है। जहत्-स्वार्थवृत्तिपक्ष में तो सप्तम्यन्त तदादि "वापी" यह पद निरर्थक ही हो जाता है, इसलिए सप्तम्यर्थ में पर्यवसन्नत्व के अभाव के कारण प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है।

इस व्याख्यान के सन्दर्भ में "सोमो गौरी अधिश्रितः" इस उदाहरण पर विचार के प्रसंग में शंका होती है कि गौरी शब्द के आगे सप्तमी विभक्ति का जब लुक् हो गया तब 'गौरी' और 'अधिश्रितः' इन दोनों पदों का विरुद्धविभक्तिराहित्य हो गया। ऐसी स्थिति में विरुद्धविभक्तिरहित पदों का अभेदान्वय होता है। इस बात को दृष्टिगत कर "गौरी" पद का गौर्यधिकरणक अर्थ में लक्षणा करके जब "गौर्यधिकरणक जो अधिश्रयणकर्ता" इस प्रकार अभेदान्वय करते हैं तब गौरी की प्रगृह्य संज्ञा नहीं होने की स्थिति आ आती है, क्योंकि इस समय गौरी पद आधेयसंसृष्ट अधिकरण अर्थ का बोधक होने से सप्तम्यर्थ = अधिकरण अर्थ मात्र में पर्यवसन्न नहीं है। इसके अतिरिक्त जो लोग लुप्त विभक्ति का स्मरण करके शाब्दबोध के पक्षधर हैं उनके अनुसार तो ङि विभक्ति ही अधिकरण अर्थ को कहेगी। इस प्रकार भी गौरी पद सप्तम्यर्थ में पर्यवसन्न नहीं होता है। ऐसी स्थिति में यहाँ प्रगृह्य संज्ञा किस प्रकार हो? नागेश भट्ट इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "सोमो गौरी अधिश्रितः" इस उदाहरण में गौरी पद ही "यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी" इस नियम से अधिकरण अर्थ का वाचक है। गौरीपदबोध्य इस अधिकरण का अधिश्रयण क्रिया में अन्वय होता है। इस प्रकार

"गौर्यधिकरणनिरूपित अधिश्रयण कर्ता", ऐसा शाब्दबोध यहाँ होता है। इससे स्पष्ट है कि गौरी पद आधेयासंसृष्ट अधिकरणमात्र अर्थ में पर्यवसन्न है। इसलिए यहाँ प्रगृह्य संज्ञा में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार यहाँ जब कोई दोष नहीं है तब लक्षणा करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है और न लक्षणा करने में कोई प्रमाण है।

वाप्यामश्व इति। 'सुप्सुपे'ति समासः, 'सञ्ज्ञायामि'ति वा। ननु 'सञ्ज्ञायामि'ति समासे वाक्येन सञ्ज्ञाऽनवगमान्नित्यसमासत्वेन विग्रहोऽनुचित इति चेन्न। तेषु समाससमानार्थक- वाक्याभावेन नित्यसमाससदृशत्वेऽपि नित्यसमासत्वाभावात्, विभाषाधिकारबाधे मानाभावात्। नित्यसमासे हि वृत्तिघटकपदानां पृथक् प्रयोगाभाव एव। अत्र तु पृथक्प्रयोगेऽपि तद्बोद्ध्यविशिष्टार्थाप्रतीतिमात्रमित्याहुः।

कौमुदी में "वाप्यश्वः" का विग्रह "वाप्याम् अश्वः" इस रूप में दिखाया गया है। वाप्यश्व का अर्थ है दरियाई घोड़ा। इस प्रकार यह संज्ञावाचक शब्द है। यहाँ "सुप् सुपा" या "संज्ञायाम्" सूत्र से समास हुआ है। यदि "सुप् सुपा" का समास अगतिकगति है ऐसा मानते हैं, तब "संज्ञायाम्" सूत्र से ही यहाँ समास हुआ है, ऐसा मानना चाहिए। किन्तु ऐसा मानने पर एक विप्रतिपत्ति यह उपस्थित होती है कि जहाँ वाक्य से संज्ञा का अवगम नहीं होता वहाँ नित्य समास होता है और नित्य समास में विग्रह नहीं होता है। "वाप्याम् अश्वः" इस विग्रह से संज्ञा की प्रतीति नहीं होती है, इसलिए यह नित्य समास है, किन्तु नित्य समास में विग्रह नहीं होता है। ऐसी स्थिति में "वाप्यामश्वः" यह विग्रह करना अनुचित है। शेखरकार इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "तेषु" = "संज्ञायाम्" इत्यादि समासों में समास के समानार्थक वाक्य नहीं होते; जैसे "वाप्यश्वः" का समानार्थक वाक्य "वाप्यामश्वः" यह वाक्य नहीं है, इसलिए "संज्ञायाम्" का समास नित्य समास के सदृश होने पर भी नित्य समास नहीं है। कारण यह है कि यह सूत्र विभाषाधिकार में पठित है, इसलिए यहाँ आये हुए विभाषाधिकार का बाध करने में कोई प्रमाण नहीं है। जहाँ नित्य शब्द का पाठ हो या नित्याधिकार में कोई समासविधायक सूत्र पढ़ा गया हो तो वहाँ विभाषाधिकार का बाध होता है। "संज्ञायाम्" में ऐसी बात न होने के कारण यह नित्य समास नहीं है। दूसरी बात यह है कि नित्य समास में वृत्तिघटक पदों का पृथक् प्रयोग होता ही नहीं है। अत्र = "वाप्यश्वः" इस प्रयोग में तो वृत्तिघटक पदों का पृथक् प्रयोग होने पर भी तद्बोध्य = समासबोध्यविशिष्ट अर्थ की अप्रतीति मात्र होती है। इस प्रकार "संज्ञायाम्" का समास नित्य समास न होने पर भी नित्य समास के सदृश अर्थात् गौण नित्य समास है, मुख्य नित्य समास नहीं है। इसलिए "वाप्यामश्वः" इस प्रकार इसका विग्रह-प्रदर्शन अनुचित नहीं है।

अणोऽप्र। अण इति किम्? कर्तृ हर्तृ। अत्राणपूर्वेणैव—व्याख्यानात्। 'आगच्छतमग्नी' इत्यादौ प्लुतस्यासिद्धत्वात्ततः प्रागेव यथोद्देशत्वात्प्रगृह्यत्वे जाते पश्चात्प्लुते तस्याप्यनुनासिकप्रतिबन्धार्थं पुनः सञ्ज्ञेति नानुनासिकः। सञ्ज्ञायाः कार्यार्थत्वात्पुनः प्रवृत्तौ कार्यमेव बीजम्। स्थानिवत्त्वन्तु न, प्लुतस्थान्यल्वृत्ति-

धर्मत्वेनाल्विधित्वात्। पूर्वसवर्णे कृते द्विवचनत्वन्तु— परादिवद्भावेन। तेन ताद्रूप्यानतिदेशेऽप्येतद्धर्मातिदेशाङ्गीकारात्। अत एव 'रामावि'त्यादौ परादिवद्भावेन सुप्त्वात्पदत्वं साधितम्—'अन्तादिवदि'त्यत्र भाष्ये—इति स्पष्टमाकरे।

"अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः" इस सूत्र में यदि "अणः" इस पद का ग्रहण न किया जाय तो "कर्तृ", "हर्तृ" आदि प्रयोगों में जहाँ नपुंसकलिङ्ग के कारण सु विभक्ति का लुक् हुआ है वहाँ भी ऋकार को अनुनासिक होने लगेगा। यदि कहा जाय कि पर-णकार तक अण् प्रत्याहार लेने पर तो ऋकार भी अण् ही है, तो अण्ग्रहण करने पर भी इसकी अनुनासिकत्वापत्ति दुर्वार ही है? इस आशंका के उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि इस सूत्र में अण् प्रत्याहार पूर्व-णकार से ही ग्राह्य है। यदि पर-णकार से अण् प्रत्याहार यहाँ ग्राह्य होता तो अण्ग्रहण यहाँ व्यर्थ ही हो जाता, क्योंकि ऋकार को अनुनासिक न हो इसलिए यहाँ "अणः" पद का ग्रहण वाञ्छित है। यदि इसके ग्रहण करने पर भी अण् प्रत्याहारवर्ती होने के कारण ऋकार को अनुनासिक हो रहा है तो अण्ग्रहण करना व्यर्थ ही है। तब तो लाघवात् "अणः" की जगह "अचः" ऐसा पाठ करके "अचोऽप्रगृह्यस्य" इस प्रकार सूत्र किये होते। यदि कहा जाय कि "अणः" की अपेक्षा "अचः" इस पाठ में लाघव क्या है? तो इसका उत्तर यह है कि "अणः" पाठ में यह संशय स्वाभाविक है कि यहाँ अण् प्रत्याहार पूर्व-णकार से है या पर-णकार से? यह आशंका अच्ग्रहण करने पर नहीं है। यही अच्ग्रहण करने में लाघव है।

दूसरी बात यह है कि "अप्रगृह्यस्य" इस पद में जो अप्रगृह्य शब्द आया है यह पर्युदास है। इससे प्रगृह्यभिन्न प्रगृह्यसदृश वर्ण का ग्रहण यहाँ होगा। प्रगृह्य संज्ञा अच् वर्ण की होती है, हल् वर्ण की नहीं होती है। इसलिए प्रगृह्यभिन्न, प्रगृह्यसदृश वर्ण अच् ही लिया जायेगा। ऐसी स्थिति में लाघवात् अच् का ही ग्रहण करना आवश्यक था, किन्तु वैसा न करके जो "अण्" ग्रहण किये हैं यही इस व्याख्यान में मूल है कि यहाँ अण् प्रत्याहार पूर्व-णकार तक ही लिया जाता है। इस प्रकार अण्ग्रहण करने का फल यह होता है कि "कर्तृ" और "हर्तृ" इन प्रयोगों में ऋकार को अनुनासिक नहीं होता है, क्योंकि ये अण् प्रत्याहार में नहीं आते हैं।

इस सूत्र में किये गये "अप्रगृह्यस्य" इस पद के ग्रहण करने का फल कौमुदीकार ने "अग्नी" यह प्रयोग दिया है। यह सम्बोधन का द्विवचनरूप है। क्रिया के साथ प्रयोग करने पर "आगच्छतं हे अग्नी" ऐसा इस वाक्य का स्वरूप होता है। यहाँ "दूराद्धूते च" (८।२।८४) सूत्र से यदि पहले प्लुत हो जाता है तब इसकी प्रगृह्यसंज्ञा कैसे होगी? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि इस प्रयोग में प्लुत और "ईदूदेत्" सूत्र (१।१।११) से प्रगृह्य संज्ञा दोनों साथ ही प्राप्त रहते हैं। इनमें प्लुतविधायक 'दूराद्धूते च' यह सूत्र त्रैपादिक होने के कारण प्रगृह्य संज्ञा के प्रति असिद्ध हो जाता है, इसलिए यथोद्देश्य पक्ष में प्रगृह्य संज्ञा पहले ही हो जाती है। इसके बाद वहाँ प्लुत संज्ञा भी होती है। यह प्लुत-ईकार तो प्रगृह्य से भिन्न है ही, इसलिए इसे अप्रगृह्य मान कर प्रस्तुत सूत्र से अनुनासिकत्व की प्राप्ति रहती है; इस अनुनासिकत्व के प्रतिबन्ध के लिए इस ईकार की पुनः प्रगृह्य संज्ञा होती है। इसलिए इसे अनुनासिक नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि "लक्ष्ये लक्षण न्याय" से उस ईकार की पुनः प्रगृह्य संज्ञा नहीं होनी चाहिए तो इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि संज्ञा किसी कार्य के लिए होती है। इसलिए प्रगृह्य संज्ञा की पुनः प्रवृत्ति में अनुनासिकत्वाभाव रूप कार्य ही बीज है। प्रगृह्य संज्ञा हो जाने से अनुनासिक नहीं होता है। इस प्रकार अनुनासिक का न होना ही यहाँ कार्य है, जिसके लिए पुनः प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है। दूसरी बात यह है कि "लक्ष्ये लक्षण न्याय" संज्ञातिरिक्त विधेय स्थल में ही प्रवृत्त होता है। यहाँ तो प्रगृह्य संज्ञा ही विधेय है, इसलिए लक्ष्येलक्षण न्याय की यहाँ प्रवृत्त नहीं होती है। इस न्याय की प्रवृत्ति संज्ञातिरिक्त विधेयस्थल में ही होती है। इस बात में "समः सुटि" यह सूत्र ही प्रमाण है। "संस्स्कर्ता" इस प्रकार का अनुनासिक-घटित त्रिसकारक रूप बनाने के लिए मकार को रुत्वविधानार्थ इस सूत्र की आवश्यकता है। किन्तु "समो वा लोपमेके" इस भाष्यवचन के अनुसार यदि मकार का लोप कर दिया जाता है और लोप के रुप्रकरणस्थ होने के कारण पूर्व को अनुनासिकादेश करके सकार को "अनचि च" सूत्र से दो बार द्वित्व कर दिया जाता है तो वाञ्छित रूप की सिद्धि हो जाने के कारण "समः सुटि" सूत्र व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार यह ज्ञापन करता है कि लक्ष्येलक्षणप्रवृत्ति सकृत् ही होती है। ज्ञापक साजात्य से यहाँ यह भी समझा जाता है कि यह न्याय संज्ञातिरिक्त विधेय स्थल में ही लगता है। प्राकरणिक स्थल में प्रगृह्य संज्ञा विधेय होने के कारण इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है, जिससे दुबारा प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है।

यदि कहा जाय कि स्थानिवद्भाव से ही "अग्नी" में प्रगृह्यत्व सुलभ है, तो पुनः प्रगृह्य संज्ञा करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि प्लुत का स्थानी "ईकार" अल् है। प्रगृह्यत्व उस अल् का ही धर्म है। इसलिए अल्वृत्तिधर्म को स्थानिवत्त्वेन लाने में "अनल्विधौ" से निषेध हो जायेगा, इसलिए स्थानिवत्त्वेन उसका आनयन सम्भव नहीं है। इस कथन के ऊपर यह शंका होती है कि जिस प्रकार स्थानिवद्भाव न होने से ईकार में प्रगृह्यत्व नहीं आता उसी प्रकार पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश से सम्पन्न दीर्घ ईकार में स्थानिवत्त्व के अभाव से द्विवचनत्व भी नहीं होना चाहिए? इस शंका के उत्तर में नागेश का कहना है कि पूर्वसवर्णदीर्घ करने के बाद परादिवद्भाव से ईकार में द्विवचनत्व सुलभ है। "अन्तादिवच्च" सूत्र से यद्यपि ताद्रूप्य (अल्मात्रवृत्तिधर्म) का अतिदेश नहीं होता है तथापि एतद्धर्म = द्विवचनत्व धर्म का अतिदेश तो उससे हो ही जायेगा, क्योंकि भ्यामादि अनल् में रहने वाला द्विवचनत्व अल्मात्रवृत्तिधर्म नहीं है। अत एव = अनल्वृत्तिधर्म का अतिदेश स्वीकार करने से ही "रामौ" इस प्रयोग में परादिवद्भाव से सुप्त्व का अतिदेश करके इसका (रामौ का) पदत्व सिद्ध किया गया है। कारण कि सुप्त्व भी वर्णमात्र-वृत्तिधर्म नहीं है, क्योंकि ये भ्याम्, भिस् आदि समुदायवृत्तिधर्म भी है। इसलिए इनका परादिवद्भाव से आनयन सुलभ है। यह बात "अन्तादिवच्च" सूत्र के भाष्य में कही गई है। ऐसा आकर (कैयट-ग्रन्थ) में स्पष्ट है।

विशेष—यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि पुनः प्रगृह्य संज्ञा की कर्तव्यता में "ईदूदेत्" सूत्र की दृष्टि से "अणोऽप्रगृह्यस्य" यह त्रैपादिक सूत्र असिद्ध हो जायेगा। ऐसी स्थिति में फलाभावात् "अग्नी" इस प्रयोग में प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी। कारण यह है कि "अप्रगृह्यस्य" इस पद में प्रतियोगिमुद्रया "प्रगृह्य" का सन्निवेश है। यदि यह सूत्र असिद्ध हो जाता है तब

यहाँ किया गया "अप्रगृह्यस्य" यह पर्युदास ही व्यर्थ हो जायेगा। यही व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि संज्ञा की दृष्टि में त्रैपादिक असिद्ध नहीं होते हैं। कार्यकाल पक्ष में तो संज्ञाशास्त्र भी विधिदेशीय हो जाता है, इसलिए प्रगृह्य संज्ञा जब त्रिपादीस्थ हो गई तब असिद्धत्व का कोई प्रश्न ही नहीं है।

अच्सन्धिरिति। 'सिद्धमनच्त्वादि'ति वार्तिकप्रयोगेण, 'अल्पाच्तरमि'ति सौत्रप्रयोगेण, 'कथमनच्त्वमि'ति भाष्यप्रयोगेण च—वृत्तिघटकाच्पदे पदान्तकार्यस्य तत्सन्निधानेन श्चुत्वस्य चाभावो बोद्ध्यते इति केचित्॥

॥इति स्वरसन्धिः॥

प्रकरण की समाप्ति होने पर कौमुदीकार ने "इत्यच्सन्धिः" ऐसा कहा है। यहाँ शंका होती है कि यहाँ अच् के चकार को "चोः कुः" सूत्र से कुत्व तथा सन्धि के सकार का श्चुत्व होना चाहिए? इस शंका का उत्तर देते हुए शेखरकार का कहना है कि "सिद्धमनच्त्वात्" इस वार्तिककार के प्रयोग में, "अल्पाच्तरम्" इस सूत्रकार के प्रयोग में तथा "कथमनच्त्वम्" इस भाष्यकार के प्रयोग में कहीं भी कुत्व नहीं किया गया है। इससे समझते हैं कि वृत्ति(समास)-घटक अच् पद में कुत्व जैसा पदान्तकार्य नहीं होता है और अच् पद के सन्निधान से सकार का श्चुत्व नहीं होता है; ऐसा कुछ लोगों का कहना है। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि जहाँ "अच्" यह पद सुप् विभक्ति के सकार से अव्यवहित पूर्व में नहीं रहता वहाँ कुत्व और श्चुत्व नहीं होते। उपर्युक्त भाष्यादि प्रयोगों में कहीं भी सुप् के सकार से अव्यवहित पूर्व अच् पद नहीं है, इसलिए कहीं भी कुत्व नहीं हुआ है। इसी प्रकार "अच् सन्धि" इस प्रयोग में भी सुप् के सकार से अव्यवहित पूर्वत्वाभाव के कारण कुत्व और श्चुत्व नहीं हुए हैं। जहाँ सुप् के सकार से पूर्व अच् पद रहेगा वहाँ तो कुत्व होगा ही। इसलिए "अचोऽक्षु" इस भाष्यप्रयोग में कुत्व सिद्ध होता है।

विश्वनाथमिश्र कृत लघुशब्देन्दुशेखर में स्वरसन्धि-प्रकरण की 'सुबोधिनी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

अथ हल्सन्धिप्रकरणम्

स्तोः श्चु। 'स्'–इति 'श्'–इति च लुप्तविभक्तिके भिन्ने पदे। योग इति संयोग इति तदर्थः। तेन 'चितमित्यादौ न दोषः। अत्र 'पदस्ये'त्यधिकृतमपि न सम्बद्ध्यते। 'शादि'ति ज्ञापकात्। तेन याच्ञा सिद्धा। शात्परस्य स्तोः श्चुत्वनिषेधकात् 'शादि'ति लिङ्गादेव निमित्तकार्यिणोर्यथासङ्ख्यं न। एवमुत्तरसूत्रेऽपि–'तोः षी'ति ज्ञापकान्न तत्। शकारचवर्गौ स्त इति। 'यथासङ्ख्यमि'ति शेषः। हरिश्शेते इति। 'वा शरी'ति विसर्गाभावे शः। सच्चिदिति। चुत्वस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वेन दत्वे तस्य चुत्वेन जकारे चर्त्वमिति बोद्धव्यम्। तयोरत्रालेखस्तु वैचित्र्यार्थः। विश्न इति। 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङि'ति नङि 'च्छ्वोरि'ति शादेशे ङित्त्वाद्गुणाभावः। 'प्रश्ने चासन्नकाले' इति निर्देशात्सम्प्रसारणाभावः।

"स्तोः श्चुना श्चुः" इस सूत्र के तीनों पदों की सिद्धि के सम्बन्ध में विसंवाद होने पर यदि "स् च तुश्च, अनयोः समाहारः" ऐसा विग्रह करके समाहारद्वन्द्व करते हैं तब यहाँ नपुंसकत्व की प्राप्ति होती है। इस नपुंसकत्व का वारण करने के लिए सौत्रत्वात् पुंस्त्व का विधान किया गया है। यदि इतरेतरयोगद्वन्द्व किया जाय तो द्विवचन की आपत्ति होगी। सौत्रत्वात् द्विवचनापत्ति का निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने पर "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" इस शास्त्र का साक्षात् बाध करना पड़ेगा। सौत्रत्वात् पुंस्त्व का विधान करने से लिंग का बाध होता है, जो कि लोकाश्रय है। यदि कहा जाय कि सौत्रत्वात् नपुंसकत्व का बाध करने में भी तो "स नपुंसकम्" इस शास्त्र का बाध हो रहा है? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि चाहे समाहारद्वन्द्व किया जाय अथवा इतरेतरद्वन्द्व किया जाय, दोनों पक्षों में क्लिष्ट कल्पना करनी ही पड़ती है। दूसरी बात यह है कि यहाँ स्थानी और आदेश का यथासंख्येन अन्वय होने के कारण एकधर्मावच्छिन्न में अन्वय न होने से द्वन्द्व की प्राप्ति भी नहीं है। इसलिए नागेश भट्ट गौरवग्रस्त समास के मार्ग को छोड़ कर कह रहे हैं कि "स्" और "श्" ये दोनों भिन्न पद हैं। यहाँ तालव्य "श" से "श्चुना" और "श्चुः" इन दोनों जगहों के शकार को समझना चाहिए। स्थानी "स्" के आगे षष्ठी विभक्ति का तथा 'श्चुना' में संश्लिष्ट 'श्' के आगे तृतीया विभक्ति का "सुपां सुलुक्" सूत्र से लुक् हुआ है। "श्चुः" घटक "श्" के आगे प्रथमा विभक्ति सु का "हल्ङ्याप्" सूत्र से लोप हुआ है। शास्त्र के बाध की कल्पना की अपेक्षा विभक्ति के लोप की कल्पना में ही लाघव है।

"श्चुना" इस पद में "वृद्धो यूना" की भाँति सह शब्द के योग के बिना ही तृतीया विभक्ति हुई है। कौमुदीकार ने "योगे" इस पद का अध्याहार करके उसका अर्थ "संयोगे" किया है। संयोग का अर्थ सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध यहाँ अव्यवधान रूप ही ग्राह्य है। तेन = इसलिए "चितम्" इत्यादि प्रयोगों में तकार का चुत्व नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ तवर्ग और चवर्ग का अव्यवहित योग नहीं है।

इस सूत्र में "पदस्य" का अधिकार आने पर भी यहाँ उसका सम्बन्ध नहीं है। किन्तु यह कथन अनेक आशंकाओं को जन्म देता है। जब "पदस्य" का अधिकार यहाँ आता है तब यह कहना अर्थहीन हो जाता है कि उसका यहाँ सम्बन्ध नहीं है। इसलिए इस कथन का तात्पर्य स्पष्ट होना चाहिए। यहाँ तात्पर्य यह है कि यद्यपि यहाँ "पदस्य" का अधिकार है किन्तु यहाँ आकर "पदस्य" सामानाधिकरण्येन विशेष्यतया सम्बद्ध नहीं होता है। यदि ऐसा होता तो "पदस्य" यह पद विशेष्य होता और "स्तोः" यह पद उसका विशेषण होता। इसके बाद तदन्त-विधि करके सूत्रार्थ ऐसा होता कि स्त्वन्त पद को श्चुत्व होता है, शकार और चवर्ग से योग रहने पर। किन्तु ऐसा अर्थ करने पर "विश्नः", "प्रश्नः" इन उदाहरणों में सकारान्त या तकारान्त पद के न होने के कारण जब श्चुत्व की स्वयमेव प्राप्ति नहीं है तब यहाँ श्चुत्व के निषेध के लिए "शात्" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार "शात्" सूत्र ही व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि यहाँ अधिकृत "पदस्य" यह पद सामानाधिकरण्येन अन्वित न होकर वैयधिकरण्येन अन्वित होता है। इसलिए सूत्रार्थ होता है कि पदावयव सकार और तवर्ग का शकार और चकार से योग रहने पर श्चुत्व होता है। इसलिए "याच्ञा" प्रयोग की सिद्धि होती है। नङ् प्रत्यय और टाप् करने के बाद "याच्-ना" यह पद हो जाता है, तदवयव नकार को चुत्व के द्वारा ञकार कर दिया जाता है। इस प्रकार इस प्रयोग की सिद्धि होती है। अन्यथा तकारान्त पद के अभाव में यहाँ चुत्व नहीं होता।

यहाँ स्थानी और आदेश का यथासंख्येन अन्वय होता है। परिणामस्वरूप दन्त्य सकार के स्थान पर तालव्य शकार और तवर्ग के स्थान पर चवर्ग आदेश होता है। किन्तु स्थानी (कार्यी) और निमित्त का यथासंख्यान्वय नहीं होता है। कारण यह है कि स्थानी और निमित्त (शकार और चवर्ग) का यथासंख्यान्वय होवे तो दन्त्य सकार का तालव्य शकार से योग रहने पर तथा तवर्ग का चवर्ग से योग रहने पर ही दन्त्य सकार को तालव्य शकार और तवर्ग को चवर्ग होगा। ऐसी स्थिति में "विश्नः" प्रयोग में नकार को चुत्व की प्राप्ति स्वयमेव नहीं होती है, तो यहाँ चुत्व के निषेध के लिए "शात्" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार शकार से पर में तवर्ग के चुत्व का निषेधक "शात्" सूत्र ही व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि यहाँ निमित्त और कार्यी में यथासंख्य नहीं है। इसी प्रकार उत्तरसूत्र "ष्टुना ष्टुः" में भी "तोः षि" सूत्र सामर्थ्यात् स्थानी और निमित्त में यथासंख्यान्वय नहीं होता है। अन्यथा "सन् + षष्ठः" प्रयोग में तवर्ग का टवर्ग से योग न होने के कारण टुत्व की प्राप्ति ही नहीं है तो पुनः "तोः षि" सूत्र से यहाँ टुत्व का निषेध करना व्यर्थ ही हो जाता।

कौमुदीकार ने इस सूत्र की वृत्ति में कहा है "शकारचवर्गौ स्तः"। शेखरकार इस बात को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि इस कौमुदी के पाठ के पहले "यथासंख्यम्" इस पद को जोड़

लेना चाहिए। इतना अंश वहाँ शेष है। अर्थात् इसकी वृत्ति इस प्रकार कहनी चाहिए "सकार-तवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे यथासंख्यं शकारचवर्गौ स्तः"। "हरिश्शेते" इस प्रयोग की प्रक्रियादशा "हरिस् + शेते" इस स्थिति में सकार को रुत्व-विसर्ग करने के बाद "हरिः शेते" इस स्थिति में "विसर्जनीयस्य सः" (८।३।३४) से प्राप्त सत्व को अपवादत्वात् "वा शरि" (८।३।३६) सूत्र बाध लेता है, तब "हरिः शेते" यही परिनिष्ठित रूप बनता है। "वा शरि" सूत्र के अभाव पक्ष में जब विसर्गाभाव होता है उस समय "विसर्जनीयस्य सः" विसर्ग को सकार आदेश करता है। उस सकार को 'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र शकार-विधान करता है। इस प्रकार "हरिश्शेते" इस प्रयोग की सिद्धि होती है।

"सच्चित्" प्रयोग की प्रक्रियादशा "सत् + चित्" इस स्थिति में "झलां जशोऽन्ते" (८।२।३९) से जश्त्व की, और "स्तोः श्चुना श्चुः" (८।४।४०) से चुत्व की प्राप्ति साथ ही होती है, किन्तु जश्त्व के प्रति पर-त्रिपादी चुत्व असिद्ध हो जाता है। इसलिए पहले जश्त्व के द्वारा तकार को दकार कर दिया जाता है, इसके बाद श्चुत्व के द्वारा दकार को जकार होता है। तत्पश्चात् "खरि च" सूत्र से जकार को चकार करके "सच्चित्" प्रयोग की सिद्धि की जाती है। जश्त्व और चर्त्व का उल्लेख यहाँ वैचित्र्य-द्योतन के लिए किया गया है। वैचित्र्य यही है कि जश्त्व और चर्त्व के बिना भी "सच्चित्" प्रयोग की सिद्धि हो सकती है। "विश्नः" यह "शात्" सूत्र का उदाहरण है। इसकी सिद्धि का प्रकार बतलाते हुए कह रहे हैं कि "विच्छ गतौ" धातु से "यजयाचयत" सूत्र से नङ् प्रत्यय होता है। इसके बाद "च्छ्वोः" सूत्र से चकार सहित छकार के स्थान पर शकार आदेश होता है। नङ् प्रत्यय के क्ङित् होने के कारण लघूपध गुण का अभाव होता है। "विश् + नः" इस स्थिति में प्राप्त चुत्व का "शात्" से निषेध हो जाता है। इस प्रकार इसकी सिद्धि होती है। इसी प्रकार "प्रश्नः" प्रयोग में "प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्" धातु से उक्त सूत्र से नङ् प्रत्यय और शकारादेश के बाद प्राप्त चुत्व का "शात्" सूत्र से निषेध कर दिया जाता है। यहाँ "ग्रहिज्या" सूत्र से प्राप्त सम्प्रसाण का "प्रश्ने चासन्नकाले" इस पाणिनि के निर्देश से अभाव हो जाता है।

न पदान्ता। 'पदाट्टोरि'त्येव सिद्धेऽन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्। टोः किमिति। षकारस्यापि पदान्ते जश्त्वविधानात्प्रश्नः। 'ह्रस्वात्तादावि'ति षत्वस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वाभाव इत्युत्तरम्। षण्णवतिरिति। षडधिका नवतिरिति विग्रहः। षण्णगर्य इति पृथक्पदे।

"न पदान्ताट्टोरनाम्" इस सूत्रस्थ "पदान्ताट्टोः" इसकी जगह यदि "न पदाट्टोः" ऐसा न्यास किया जाय तब भी कार्य चल सकता है। कारण कि ऐसा न्यास करके "टोः" इस पद को विशेषण और "पदात्" इस पद को विशेष्य बना कर तदन्तविधि करने पर ऐसा सूत्रार्थ होगा कि "टवर्गान्त पद से पर में वर्तमान सकार और नाम शब्दावयव नकार से भिन्न जो तवर्ग, उसे ष्टुत्व नहीं होता है। इसी अर्थ से "षट् सन्तः" इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि हो जाती है, इसलिए सूत्र में अन्तग्रहण स्पष्टार्थ है। अथवा "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" (८।२।७) तथा "संयोगान्तस्य लोपः" (८।२।२३) इन सूत्रों में किये गये अन्तग्रहण से स्पष्ट होता है कि त्रिपादी में पदग्रहण से तदन्तविधि प्रायः नहीं होती है। ऐसी स्थिति में यहाँ टुविशेषणक और पद-

विशेष्यक तदन्तविधि नहीं होगी। परिणाम यह होगा कि जहाँ टकार रूपी पद रहेगा वहीं इस सूत्र से ष्टुत्वं का निषेध होगा, अन्यत्र नहीं होगा। फलस्वरूप "षट् सन्तः" आदि प्रयोगों में ष्टुत्व का निषेध नहीं हो सकेगा। इसलिए सूत्र में अन्तग्रहण आवश्यक है।

प्रस्तुत सूत्र में "टोः" इस पद के ग्रहण करने का फल कौमुदी में "सर्पिष्टमम्" यही प्रयोग दिया गया है। एतत्सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के स्पष्टीकरण के लिए इसकी पृष्ठभूमि विचारणीय है। प्रथमतः यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि "ष्टुना ष्टुः" से "टु" की अनुवृत्ति और विभक्ति का विपरिणाम करने से जब "टोः" पद का लाभ हो सकता है, तब इस सूत्र में "टोः" ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि एकयोगनिर्दिष्ट न्याय से "टु" के साथ निर्दिष्ट षकार की भी अनुवृत्ति होने लगेगी, क्योंकि पदान्त में षकार के स्थान पर जश्त्वेन डकार हो जाता है, इसलिए पदान्त में षकार के सम्भव न हो सकने के कारण ही उसकी अनुवृत्ति नहीं होगी। नागेशभट्ट इसी बात की ओर संकेत करते हुए कह रहे हैं कि षकार का भी पदान्त में जश्त्व-विधान के द्वारा डकार ही हो जाता है, इसलिए असम्भवात् षकारानुवृत्ति के अभाव में केवल "टु" की अनुवृत्ति और विभक्ति के विपरिणमन से ही कार्य चल सकता है तो सूत्र में "टोः" ग्रहण की क्या आवश्यकता है? यही यहाँ प्रश्न का तात्पर्य है।

उत्तर का तात्पर्य यह है कि "अतिशयितं सर्पिः सर्पिष्टमम्" इस प्रयोग में पदान्त में षकार सम्भव है। सुबन्त से तद्धित की उत्पत्ति होती है, इसलिए प्रत्ययलक्षणेन "सर्पिष्" यह पद है। यदि कहा जाय कि इस षकार को भी जश्त्वेन डकार हो सकता है तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "ह्रस्वात्तादौ तद्धिते" सूत्र से यहाँ दन्त्य सकार को षकार हुआ है और यह षकार जश्त्व के प्रति असिद्ध हो जाता है, इसलिए इसे जश्त्वेन डकार नहीं हो सकता है। निष्कर्ष यह हुआ कि पदान्त में षकार सम्भव होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि पदान्त में षकार के असम्भव होने से "ष्टुना ष्टुः" सूत्र से यहाँ षकार की अनुवृत्ति नहीं आयेगी। अब जब कि वहाँ से पूरे "ष्टु" की अनुवृत्ति होगी तब पदान्त षकार और टवर्ग दोनों से पर में रहने वाले सकार और तवर्ग को ष्टुत्व का निषेध होने लगेगा। परिणाम यह होगा कि "सर्पिष्टमम्" की सिद्धि नहीं हो सकेगी, इसलिए सूत्र में "टोः" पद का ग्रहण करना चाहिए, जिससे षकार की अनुवृत्ति यहाँ न हो और तत्प्रयुक्त षकार से पर में सकार और तवर्ग को ष्टुत्व का निषेध न हो।

"अनाम्नवति" इस वार्तिक का उदाहरण "षण्णवतिः" यह प्रयोग दिया गया है। यदि यहाँ समाहारद्वन्द्व किया जाय तो नपुंसकत्व की आपत्ति है। यदि इतरेतरयोगद्वन्द्व किया जाय तो द्विवचन की आपत्ति होगी। इसलिए कह रहे हैं कि यहाँ "षडधिका नवतिः" इस विग्रह में शाकपार्थिवादित्वात् कर्मधारय समास और अधिक पद का लोप करके इस पद की सिद्धि की जाती है। यहाँ "अनवति" इस पर्युदास के कारण ष्टुत्व का निषेध नहीं होता है। "षण्णगर्यः" में "षट्" और "नगर्यः" ये दोनों पृथक्-पृथक् पद हैं। संज्ञा न होने के कारण "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" से नियमित कर्मधारय समास यहाँ नहीं हो सकता है। अतः यहाँ पृथक्-पृथक् दो पद हैं।

यरोऽनु। पदान्तस्येति किम्? वेद्मि, बध्नाति। स्पर्शे चरितार्थ इति। उपलक्षणमिदं—वलयोरपि प्रवृत्तेः। एतच्च जातिपक्षे स्पष्टमेव। व्यक्तिपक्षेऽपि तादृशव्यक्तौ चरितार्थस्य एतद्व्यक्तिविषयतयोपप्लव एव नेति बोद्ध्यम्। स्पष्टञ्चेदम् 'इको यणची'त्यत्र कैयटे।

"यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" (८।४।४५) इस सूत्र में "न पदान्ताट्टोः" (८।४।४२) सूत्र से "पदान्तात्" इस पद की अनुवृत्ति होती है और "यरः" इस षष्ठ्यन्त पद के अनुरोध से इसका षष्ठ्यन्तत्वेन विपरिणाम कर दिया जाता है। इस 'पदान्तस्य' पद का लाभ यदि इस सूत्र में नहीं होता है तो "वेद्मि" "बध्नाति" इन प्रयोगों में अपदान्त दकार और धकार को भी अनुनासिकत्व की आपत्ति हो जायेगी। इसलिए यहाँ "पदान्तस्य" यह पद आवश्यक है।

वास्तव में उपर्युक्त दोनों पद "प्रत्यये भाषायां नित्यम्" इस वार्तिक में आये हुए "पदान्तस्य" इस पद के प्रत्युदाहरण हो सकते हैं, न कि "यरोऽनुनासिके" सूत्र के प्रत्युहारण हैं। इसके प्रत्युदाहरण तो "दध्नः" "वृत्रघ्नः" आदि प्रयोग हो सकते हैं। "पदान्तस्य" के अभाव में अपदान्त धकार और घकार के अनुनासिकत्व की व्यावृत्ति इसका फल है।

"चतुर्मुखः" इस प्रयोग में रकार के स्थान पर अनुनासिकादेश के वारण के लिए कौमुदीकार ने कहा है कि "स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरितार्थो विधिरयं रेफे न प्रवर्तते" अर्थात् स्थान और प्रयत्न के द्वारा अन्तरतम (अत्यन्त सदृश) स्पर्श वर्ण में चरितार्थ यह अनुनासिकविधि रेफ में प्रवृत्त नही होती है। कौमुदी के इस कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

"चत्वारि मुखानि यस्य" इस विग्रह में निष्पन्न "चतुर्मुखः" इस पद में प्रस्तुत सूत्र से पदान्त यर् रकार के स्थान पर अनुनासिक होना चाहिए। अनेक अनुनासिकों में यहाँ कौन हो? इस जिज्ञासा में "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र की यहाँ उपस्थिति होती है। अष्टाध्यायी में "स्थानेऽन्तरतम", "उरण् रपरः" इस प्रकार ये दोनों सूत्र संहिता से पढ़े गये हैं। वहाँ पर "अन्तरतमः उरण् रपरः", "अन्तरतमे उरण् रपरः" इन दोनों रूपों में पदच्छेद हो सकता है। ऐसी स्थिति में जब प्रथमान्त पाठ मान कर "अन्तरतमः" का सम्बन्ध "यरोऽनुनासिके" सूत्र में करते हैं तब इसका सम्बन्ध आदेश के साथ होता है। उस समय पदान्त यर् के स्थान पर अन्तरतम आदेश हो, ऐसा सूत्रार्थ होता है। परिणामस्वरूप रकार का जब किसी अनुनासिक के साथ सादृश्य नहीं मिलता है तब केवल स्थानकृत सादृश्य के आधार पर इसके स्थान पर णकार की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्रथमान्त पाठ में यहाँ रकार के स्थान पर णकारापत्ति की शंका होती है। समाधान पक्ष में "अन्तरतमे" इस सप्तम्यन्त पाठ को स्वीकार किया जाता है। इस पक्ष में "अन्तरतमे स्थानिनि अनुनासिकादेशः" ऐसा सूत्रार्थ होता है। इस पक्ष में आदेश अपने अन्तरतम स्थानी की अपेक्षा करता है। णकार रूपी आदेश का अन्तरतम स्थानी स्थान और प्रयत्न के द्वारा स्पर्श वर्ण डकार ही होता है, क्योंकि मूर्धास्थान की समानता के साथ संवार, नाद, घोष और अल्पप्राण की समानता णकार की डकार के साथ ही है। इस प्रकार स्थान और प्रयत्न के द्वारा अन्तरतम स्थानी डकार के स्थान पर चरितार्थ यह अनुनासिक (णकार) विधि रेफ के स्थान पर नहीं होती है। नागेश भट्ट इस अनुनासिक विधि की चरितार्थता को उपलक्षण बताते हुए कह रहे हैं कि "उपलक्षणमिदम्" अर्थात् इदम् = अनुनासिक की अन्तरतम वर्ण

डकार में जिस चारितार्थ्य की बात कही गई है वह उपलक्षण है। उपलक्षण का अर्थ है जो अपना बोधक होते हुए अपने से इतर (भिन्न) का भी बोध कराये। प्रस्तुत में जिस स्पर्श की बात कही गई है वह स्पर्श शब्द न केवल अपना ही बोधक है, अपितु स्वेतर अन्तःस्थ वर्ण का भी बोधक होता है। अर्थात् यह अनुनासिक-विधि न केवल स्पर्श वर्ण में ही चरितार्थ है अपितु स्पर्शेतर-अन्तःस्थ वर्ण में भी चरितार्थ है। उदाहरण के लिए कमल + मनोरथः = "कमलं मनोरथः" वृक्षव् + आंश्चिनोति = "वृक्षवं आंश्चिनोति" इन प्रयोगों को लिया जा सकता है। यहाँ लकार और वकार के स्थान पर अनुनासिक अन्तःस्थ वर्ण हुए हैं।

अब यह विचार कर रहे हैं कि व्यक्तिपक्ष में प्रत्येक लक्ष्य व्यक्ति के लिए सूत्र की आवृत्ति की जाती है। इस पक्ष में यदि वह एक सूत्र उस प्रयोग रूप एक व्यक्ति में चरितार्थ नहीं होता है तो उसे व्यर्थ समझा जाता है। व्यक्तिपक्ष के विपरीत दूसरा जातिपक्ष है। इस पक्ष में उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न किसी भी लक्ष्य में यदि सूत्र की प्रवृत्ति हो चुकी है तो उसे चरितार्थ माना जाता है। इस सन्दर्भ में यदि देखा जाय तो "चतुर्मुखः" प्रयोग में अनुनासिक न होने पर भी स्थान और प्रयत्न के द्वारा अन्तरतम स्पर्श में चरितार्थ होने के कारण "यरोऽनुनासिके" यह सूत्र सफल (चरितार्थ) ही है। इसी बात को नागेश भट्ट कह रहे हैं कि एतच्च = अन्तरतम स्पर्श में चरितार्थ होने से सूत्र का चारितार्थ्य जातिपक्ष में स्पष्ट ही है। जब व्यक्तिपक्ष की बात लेते हैं तब "चतुर्मुखः" प्रयोग के लिए आंवृत्त 'यरोऽनुनासिके" सूत्र यहाँ अनुनासिक न होने के कारण अचरितार्थ ही है, तो इसका उत्तर देते हुए शेखरकार का कहना है कि इस पक्ष में भी तादृशव्यक्तौ = स्थान और प्रयत्न के द्वारा अन्तरतम व्यक्ति (डकारादि व्यक्ति में) चरितार्थ इस सूत्र का "एतद्व्यक्तिविषयतया" = "चतुर्मुखः" इस प्रयोग रूप व्यक्ति के लिए उपप्लव (आवृत्ति) ही नहीं होती है। यह बात "इको यणचि" सूत्र के कैयट में स्पष्ट है।

परे तु—स्थानेऽन्तरतमसूत्रे सप्तम्यन्तपाठस्य भाष्यकृता दूषितत्वेनैतद्युक्तेरुक्तिसम्भव एव न। तस्मात् 'अनुस्वारस्ये'ति सूत्रात्सवर्णग्रहणमपकृष्य परः सवर्णोऽनुनासिको भवतीत्यर्थान्न दोषः। तदुक्तं भाष्ये—'रेफेऽनुनासिकपरसवर्णत्वयोः प्रतिषेधो वक्तव्यो, न वक्तव्यो, रेफोष्मणां सवर्णा न सन्तीत्याहुः'।

अब "परे तु" शब्द से नागेश भट्ट अपना मत कह रहे हैं कि "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र में जिस सप्तम्यन्त पाठ के आधार पर "चतुर्मुखः" का दोषवारण किया गया है, वह सप्तम्यन्त पाठ भाष्यकार के द्वारा दूषित कर दिया गया है। इसका कारण यह है कि इस पक्ष में स्थानी को आदेश के अन्तरतम होना चाहिए। ऐसी स्थिति में "इको यणचि" सूत्र में जब अन्तरतम स्थानी का अन्वेषण होगा तो अर्धमात्राकालिक यण् (आदेश) का अन्तरतम स्थानी मात्राद्वयन्यूनकालिकत्व रूप सादृश्य के आधार पर ह्रस्व इकारादि ही हो सकते हैं। इस प्रकार अन्तरतम स्थानी के ग्रहण करने का परिणाम यह होगा कि "दध्यत्र" आदि ह्रस्व इकार वाले लक्ष्यों में ही "इको यणचि" सूत्र की प्रवृत्ति होगी, न कि "सुद्ध्युपास्यः" जैसे दीर्घ ईकार वाले उदाहरणों में भी यण् की प्रवृत्ति हो सकेगी। इसलिए भाष्यकार ने इस सप्तम्यन्त पाठ को दूषित कर दिया। अब जब कि सप्तम्यन्त पाठ दूषित हो गया तब "चतुर्मुखः" प्रयोग में दोष का वारण कैसे होगा? अर्थात् रकार के स्थान पर यहाँ अनुनासिकत्व (णकारादेश) की आपत्ति

तदवस्थ ही रह गई। नागेश भट्ट इस बात को इन शब्दों में कह रहे हैं कि "चतुर्मुखः" इस प्रयोग में अनुनासिकत्वापत्ति के लिए "स्थानेऽन्तरतम" इस रूप में निर्विसर्ग पाठ मान कर "अन्तरतमे" इस रूप में सप्तम्यन्त पाठ के द्वारा जो समाधान दिया गया है, इस युक्ति की उक्ति सम्भव नहीं है। क्योंकि ऐसा करने से "सुद्ध्युपास्यः" इत्यादि प्रयोगों में दोष आ रहा है। इसलिए "चतुर्मुखः" प्रयोग में अनुनासिकत्वापत्ति के वारण के लिए "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" इस सूत्र से सवर्ण पद का अपकर्ष "यरोऽनुनासिके" सूत्र में करके इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि "पदान्त यर् के स्थान पर सवर्ण अनुनासिक आदेश होता है" ऐसा करने से दोष का निराकरण हो जाता है, क्योंकि रेफ का सवर्णी कोई (अनुनासिकादि) होता ही नहीं। यह बात भाष्य में इस प्रकार कही गई है कि "रेफ के विषय में अनुनासिक और परसवर्ण का प्रतिषेध कहना चाहिए"। ऐसा कह कर भाष्यकार पुनः कहते हैं कि ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि रेफ और उष्म वर्णों (श ष स ह) के सवर्णी नहीं होते हैं। इस प्रकार सवर्ण-अनुनासिक के न होने के कारण "चतुर्मुखः" प्रयोग में अनुनासिकत्वापत्ति दोष नहीं होता है।

चिन्मयमिति। स्वार्थिकः 'तत्प्रकृतवचने' इति मयट्। तत्र तदिति वाक्यभेदेन क्वचित्प्राचुर्यरूपप्रकृतवचनाभावेऽपि मयडर्थम्। अत एव 'चिन्मयं ब्रह्मे'ति सामानाधिकरण्यम्। 'चिन्मात्रमि'ति क्वाचित्कोऽपपाठः, मात्रचः प्रत्ययस्यात्रोपपत्त्यभावात्। मयूरव्यंसकादिष्वेवार्थमात्रशब्देनात्र समासस्य वक्ष्यमाणत्वात्। निपातनादिति। "यवादिगणे 'ककुद्मानि'ति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायः पठ्यते" इति मतेनेदम्।

"चिन्मयम्" यह "प्रत्यये भाषायां नित्यम्" इस वार्तिक का उदाहरण है। यहाँ "तत्प्रकृतवचने" सूत्र से स्वार्थिक मयट् प्रत्यय हुआ है। स्वार्थिक का तात्पर्य है कि प्रकृति के अर्थ से मयट् का अर्थ भिन्न नहीं है, किन्तु प्रकृति के अर्थ में ही मयट् प्रत्यय हुआ है। इसलिए यहाँ "चिदेव चिन्मयम्" इस प्रकार व्युत्पत्ति की जाती है।

यहाँ प्रश्न होता है कि प्रस्तुत मयट्विधायक सूत्र तो प्रकृत वचन में अर्थात् प्राचुर्येण प्रस्तुत अर्थ में मयट् प्रत्यय करता है तो यहाँ स्वार्थ में मयट् प्रत्यय करने की क्या आवश्यकता थी? साथ ही यहाँ स्वार्थिक मयट् प्रत्यय होता कैसे है? इस प्रश्न के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि यदि यहाँ प्राचुर्य अर्थ में मयट् किया जाय तो "चिन्मयम्" इस प्रयोग में अभेद रूपी सामानाधिकरण्य नहीं हो सकेगा। चित् का अर्थ है ज्ञानस्वरूप ब्रह्म। उसमें चित् का प्राचुर्य नहीं है अपितु वह चित् स्वरूप ही है। प्राचुर्य अर्थ में मयट् करने पर तो जिस प्रकार "अन्नमयो यज्ञः" इस प्रयोग में अन्न और यज्ञ में भेद की प्रतीति होती है उसी प्रकार यहाँ चित् और ब्रह्म में भेद की प्रतीति होने लगेगी। इस अनभीष्ट अर्थ के निवारण के लिए ही यहाँ स्वार्थ में मयट् प्रत्यय किया गया है। अब रही बात कि स्वार्थ में मयट् प्रत्यय कैसे हो तो शेखरकार कह रहे हैं कि यहाँ "तत्" इस पद को विभक्त करके इसे भिन्न वाक्य बनाकर इससे प्राचुर्यरूप प्रकृत वचन के अभाव में स्वार्थिक मयट् किया जाता है। इस मयट् का

स्वार्थिकत्व इसलिए है कि यह स्वार्थिक प्रकरण में तथा अनिर्दिष्ट अर्थ में हो रहा है। इस प्रकार "चिन्मयम् ब्रह्म" इस प्रयोग में सामानाधिकरण्य की संगति होती है।

कहीं पर "चिन्मात्रम्" यह उदाहरण दिया गया है, किन्तु यह अपपाठ (असंगत पाठ) है। क्योंकि मात्रच् प्रत्यय प्रमाण अर्थ में होता है। प्रमाण का अर्थ परिच्छेदक है। प्रस्तुत स्थल में जो चित् है वह प्रमाणवाची नहीं है, इसलिए मात्रच् प्रत्यय की यहाँ उपपत्ति ही नहीं हो सकती है। किन्तु ऐसा कहने पर "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्र के उदाहरण के रूप में "चिन्मात्रम्" को प्रस्तुत करना असंगत हो रहा है। अतः इस बात के उत्तर में नागेश भट्ट कह रहे हैं कि मयूरव्यंसकादि गण में जिस "चिन्मात्रम्" का पाठ है वहाँ पर एवार्थक मात्र शब्द के साथ "चित् एव" इस विग्रह में चित् शब्द का समास हो जाता है। इस प्रकार "चिन्मात्रम्" की निष्पत्ति होती है। यह बात आगे कही जायेगी।

"ककुद्मन्तः" इस प्रयोग में मतुप् प्रत्यय पर में रहने के कारण "प्रत्यये भाषायां नित्यम्" इस वार्तिक से प्राप्त नित्य अनुनासिक नकार का वारण दीक्षितजी ने यवादि गण में दकार के निपातन से किया है। यदि वहाँ अनुनासिक इष्ट होता तो वहाँ "ककुन्मान्" ऐसा नकारविशिष्ट ही पाठ करना उचित था, किन्तु ऐसा न करके जो दकारविशिष्ट पाठ किया गया है, इससे समझा जाता है कि यहाँ निपातनात् नत्वाभाव (अनुनासिकत्वाभाव) हुआ है।

इस कथन के ऊपर यह प्रश्न होता है कि यदि यवादि गण में "ककुद्मत्" ऐसा प्रकृतिप्रत्यय-विशिष्ट का पाठ हो तब तो कहा जा सकता है कि यहाँ निपातन से अनुनासिकत्वाभाव हुआ है, किन्तु वहाँ तो यव, दल्मि, उर्मि, भूमि, इस रूप में केवल प्रकृति (प्रातिपदिक) मात्र का पाठ किया गया है। ऐसी स्थिति में जब कि वहाँ केवल "ककुद्" इस प्रातिपदिक का पाठ किया गया है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि यहाँ निपातनात् अनुनासिकत्वाभाव हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि यवादिगण में "ककुद्मान्" इस प्रकृतिप्रत्यय समुदाय का पाठ है, इस मत के आधार पर मूल कौमुदी में निपातन की बात कही गई है। वास्तव में मल्लिनाथ ने यहाँ यवादित्वात् "झयः" सूत्र से प्राप्त वत्व का ही अभाव किया है न कि अनुनासिकत्वाभाव कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ अनुनासिक तो होता ही है। यदि कहा जाय कि अनुनासिकादेश होने पर नकार के झय् न होने के कारण वत्व की प्राप्ति ही नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "झयः"(८।२।१०) इस पूर्व-त्रिपादी के प्रति "यरोऽनुनासिके" (८।४।४५) इस परत्रिपादी सूत्रस्थ वार्तिक से विहित अनुनासिक असिद्ध हो जाता है, जिससे वहाँ दकार-बुद्धि के आधार पर वत्वापत्ति होती है, जिसका वारण यवादित्वात् किया जाता है।

उदः स्था। 'तस्मादित्युत्तरस्ये'ति परिभाषालभ्यमर्थमाह—उदः परयोरिति। अत्राघोषस्येति। समनियतत्वेनान्यतमग्रहणे बाधकाभावेन श्वासविवारयोस्त्यागेऽपि न न्यूनतेति बोद्धव्यम्। थस्यासिद्धत्वादिति। त्रिपाद्यां परत्वादिति भावः। 'हलो यमामि'ति सूत्रोक्तभाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठे तु—थस्यासिद्धत्वाभावेन चर्त्वं भवत्येव। अत एव 'उत्पूर्वस्कन्दे रोगे उपसङ्ख्यानम्, उत्कन्दो रोग' इति भाष्यं

सङ्गच्छते। मूलन्तु प्राचामनुरोधेनेति परे। न चेदं सूत्रं व्यर्थं–'झलो झली'त्यनेन सस्य लोपे उत्थानस्य सिद्धेरिति वाच्यं, झलादौ प्रत्यये तेन लोप इत्यर्थस्यानेन ज्ञापनात्। 'उदस्थादि'त्यत्र तु–निर्दिश्यमानपरिभाषया निर्दिश्यमानादेरेव स्थानित्वान्न दोषः।

"उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य" इस सूत्र में "उदः" यह पञ्चम्यन्त पद है। इस पञ्चम्यन्त पद के आधार पर यहाँ "तस्मादित्युत्तरस्य" इस परिभाषा की उपस्थिति होती है। इसके द्वारा यहाँ अव्यवहितोत्तर अर्थ का लाभ होता है। इसी बात को दीक्षितजी ने इस सूत्र की वृत्ति में "उदः परयोः स्थास्तम्भोः" ऐसा कह कर स्पष्ट किया है।

"उत्थानम्" प्रयोग की सिद्धि के अवसर पर "उद् + स्थानम्" इस स्थिति में सकार के स्थान पर किया जाने वाला पूर्वसवर्ण आभ्यन्तर प्रयत्न के आधार पर सम्भव नहीं है, क्योंकि तवर्गीय वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है जब कि सकार का विवृत प्रयत्न है, इसलिए कौमुदीकार ने बाह्य प्रयत्न के आधार पर सकार को पूर्वसवर्ण का विधान करते हुए कहा है—"अत्राघोषस्य" इत्यादि। अर्थात् यहाँ अघोष और महाप्राण प्रयत्न के आन्तर्य के आधार पर सकार के स्थान पर थकार होता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि सकार और थकार का आन्तर्य तो न केवल अघोष के ही आधार पर है अपितु विवार और श्वास के आधार पर भी है, तो इन दोनों का उल्लेख कौमुदी में क्यों नहीं किया गया? नागेश भट्ट इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि समनियतत्वेन = "त्रयाणां परस्परमव्यभिचरितत्वेन" अर्थात् विवार, श्वास और अघोष—इन तीनों का परस्पर व्यभिचार नही होता है, किन्तु इन तीनों का समनियतत्व (साहचर्य) निश्चित है। खर् प्रत्याहार के वर्णों के लिए इन तीनों का होना निश्चित ही है। ऐसी स्थिति में समनियतों में से यदि अन्यतम = किसी एक का ही ग्रहण किया जाता है, तो इसमें कोई बाधा नहीं है। कारण कि समनियत होने से उनका बोध स्वयमेव सिद्ध है, इसलिए श्वास और विवार का त्याग करने से भी कोई न्यूनता नहीं है।

"उत्थानम्" प्रयोग में पूर्वसवर्णोत्तर "उद् + थ् + थानम्" इस स्थिति में "झरो झरि सवर्णे" सूत्र से थकार का वैकल्पिक लोप होता है। लोपाभाव पक्ष में दीक्षितजी ने थकार का ही श्रवण बतलाया है। इसका कारण यह है कि "खरि च" (८।४।५५) और "उदः स्थास्तम्भोः" (८।४।६१) इन दोनों त्रिपादी सूत्रों में "उदःस्था" सूत्र परत्रिपादी है, इसलिए चर्त्व के प्रति यह असिद्ध हो जाता है, अतः चर् न होने के कारण यहाँ थकार का ही श्रवण होता है।

"हलो यमाम्" सूत्रोक्त भाष्यसम्मत अष्टाध्यायी-पाठ, जिसमें "नादिन्याक्रोशे" (८।४।४८) के बाद क्रमशः "उदः स्थास्तम्भोः", "शश्छोऽटि", "अभ्यासे चर्च", "झरो झरि सवर्णे" इस प्रकार सूत्रों के क्रम का उल्लेख है। इस पाठ की दृष्टि से तो "खरि च" यह सूत्र ही परत्रिपादी हो जाता है। ऐसी स्थिति में चर्त्व के प्रति थकार के असिद्ध होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसलिए यहाँ थकार को चर्त्व होता ही है। अत एव = चर्त्व के प्रति थकार (पूर्वसवर्ण निष्पन्न) के असिद्ध न होने के कारण ही "उत्पूर्वस्कन्दे रोगे उपसंख्यानम्" इस वार्तिक के उदाहरण "उत्कन्दो रोगः" इस प्रयोग में चर्त्व किया गया है। "उत् + स्कन्द" इस स्थिति में प्रस्तुत वार्तिक से सकार को पूर्वसवर्ण थकार करके चर्त्वेन उसे तकार किया गया और द्वितकारक

उदाहरण के रूप में उसे वहाँ प्रस्तुत किया गया है। यहाँ चर्त्व नहीं होता है, यह बात जो मूल में कही गई है वह प्राचीनों के अनुरोध पर (अनुसार) है।

अब यहाँ यह शंका कर रहे हैं कि "उद् + स्थानम्" इस स्थिति में "झलो झलि" सूत्र से सकार का लोप कर देने से ही "उत्थानम्" प्रयोग की सिद्धि हो सकती है, तो "उदः स्थास्तम्भोः" इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? अर्थात् यह सूत्र व्यर्थ है। यदि कहा जाय कि लोपपक्ष में उद् के दकार को चर्त्वेन तकार करने के बाद "अनचि च" सूत्र से तकार को द्वित्व करने पर द्वितकारक रूप बनता है। सकार को थकार करने वाले पक्ष में चर्त्वेन उसे तकार करके पूर्व तकार (दकारस्थानिक तकार) को द्वित्व करने पर त्रितकारक रूप बनता है, तो इस प्रकार के फलभेद में इसकी व्यर्थता की शंका करना उचित नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि "नहि व्यञ्जनपरस्यैकस्यानेकस्य वोच्चारणे विशेषः" अर्थात् व्यञ्जनपरक एक या अनेक व्यञ्जन के उच्चारण करने में कोई विशेषता नहीं है। इस प्रकार यह सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि झलादि प्रत्यय पर में रहने पर ही "झलो झलि" सूत्र से सकार का लोप होता है। "उत्थानम्" में झलादि प्रत्यय पर में नहीं है, इसलिए यहाँ लोप नहीं होगा। ऐसी स्थिति में "उत्थानम्" की सिद्धि के लिए यह सूत्र आवश्यक है। अब यह शंका हो रही है कि "उदस्थात्" प्रयोग में यदागम परिभाषा से स्थाग्रहणेन "अस्था" का ग्रहण करके यहाँ भी पूर्वसवर्ण होना चाहिए? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" इस परिभाषा के द्वारा निर्दिश्यमान के स्थान पर ही आदेश का विधान करने के कारण यहाँ "अस्था" के आदि को पूर्वसवर्ण की आपत्ति नहीं होती। निर्दिश्यमान वही होता है जो षष्ठी प्रकृतिजन्य प्राथमिक उपस्थिति का विषय हो। प्रस्तुत स्थल में स्था शब्द से प्राथमिक उपस्थिति "स्था" इस आनुपूर्वी की ही होती है। इसके बाद "यदागम" परिभाषा से "अस्था" की उपस्थिति होती है। इस प्रकार द्वितीयोपस्थिति का विषय "अस्था" यह निर्दिश्यमान ही नहीं है। इसलिए यहाँ पूर्वसवर्ण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

'झय' इति पञ्चमीत्याह--झयः परस्येति। 'पूर्वस्ये'त्यनुवर्त्तते। घोषवत इति। समनियतत्वेऽपि विनिगमनाविरहात्स्वरूपप्रतिपादनाय च त्रितयग्रहणम्।

"झयो होऽन्यतस्याम्" इस सूत्रस्थ "झयः" और "हः" इन दोनों पदों में यह विसंवाद है कि इनमें कौन पञ्चम्यन्त है और कौन षष्ठ्यन्त है? इस सन्देह की स्थिति में यह कैसे निश्चय किया जाय कि झय् से परे हकार को पूर्वसवर्ण हो अथवा हकार से पर में रहने वाले झय् को पूर्वसवर्ण हो? इस आशंका को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि "झयः" इस पद में पञ्चमी विभक्ति है, इसलिए "झयः" यह पञ्चम्यन्त पद है। "हः" यह षष्ठ्यन्त पद है। ऐसा मानने में विनिगमक क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह समझना चाहिए कि "नाज्झलौ" यह पाणिनि का निर्देश ही इसमें प्रमाण है। यहाँ "नाच् + हलौ" ऐसा पदच्छेद होता है और हकार को पूर्वसवर्ण झकार करके "नाज्झलौ" यह निर्देश बनाया जाता है। यह बात "झयः" को पञ्चम्यन्त मानने से सम्भव है, न कि "हः" को पञ्चम्यन्त मानने से।

इस सूत्र में "उदः स्थास्तम्भोः" सूत्र से "पूर्वस्य" इस पद की अनुवृत्ति होती है। "अनुस्वारस्य ययि" इस सूत्र से "सवर्ण" पद की अनुवृत्ति होती है। "तस्मादित्युत्तरस्य" इस परिभाषा से

"परस्य" इस पद का लाभ होता है। इसीलिए सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि "झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः।"

"वाग्घरिः" इस प्रयोग की सिद्धि के अवसर पर कौमुदीकार ने हकार को पूर्वसवर्ण करने के अवसर पर कहा है कि "घोषवान्, नादवान् संवार और महाप्राण प्रयत्न वाले हकार के स्थान पर इन प्रयत्नों वाला कवर्ग का चौथा वर्ण घकार होता है"। यह कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि यदि स्थानकृत आन्तर्य लिया जाय तो हकार के स्थान पर कवर्गीय पाँचों वर्णों की प्राप्ति होती है। आभ्यन्तर प्रयत्न का आन्तर्य हकार का कवर्गीय किसी वर्ण के साथ नहीं है, क्योंकि हकार विवृत है जब कि कवर्ग का स्पृष्ट प्रयत्न होता है। इसलिए अगत्या बाह्य प्रयत्न के आधार पर आन्तर्य लेकर यहाँ हकार को घकार किया जाता है। यद्यपि हकार के संवारादि प्रयत्न (तीन प्रयत्न) समनियत हैं और समनियत में किसी एक का ही उपादान करने से तीनों का बोध हो सकता है। ऐसी स्थिति में तीनों का उपादान क्यों किया गया है? इस बात के उत्तर में शेखरकार का कहना है कि समनियत प्रयत्नों में यहाँ किस एक का ग्रहण किया जाय, इस बात में कोई विनिगमक (प्रमाण) न होने के कारण तथा प्रयत्नों के स्वरूप प्रतिपादन के लिए तीनों का ग्रहण यहाँ किया गया है।

झय इति। 'पदान्तादि'त्यपि बोद्धव्यम्। तेन 'विरप्शमि'त्यादौ छत्वं न। जकारे कृते इति। 'छत्वमि'ति शेषः। पूर्वोक्तभाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठे चर्त्वस्य छत्वं प्रत्यसिद्धत्वात्।

"शश्छोऽटि" सूत्र में "झयो हः" इत्यादि सूत्र से "झयः" इस पद की अनुवृत्ति होती है। अनुवृत्त "झयः" यह पद वहाँ पञ्चम्यन्त है। किन्तु "झयः" सामान्य से पर में रहने वाले शकार को छकार करने पर "विरप्शम्", "विरप्शी" इन प्रयोगों में भी शकार को छकार होने लगेगा। इसलिए नागेशभट्ट कह रहे हैं कि "पदान्तादित्यपि बोध्यम्" अर्थात् यहाँ "पदान्तात्" इस पद की भी अनुवृत्ति आती है। वह अनुवृत्ति "न पदान्ताट्टोः" इस सूत्र से मण्डूकप्लुत्या आती है। इस प्रकार पदान्त झय् से पर में शकार को छकार होता है। इसलिए "विरप्शम्" इत्यादि प्रयोगों में शकार को छकार नहीं होता है। विपूर्वक रप् धातु से औणादिक श और शिनी प्रत्यय करने पर विरप्शम् और विरप्शी ये रूप बनते हैं।

"तच्छिवः" इस प्रयोग की सिद्धि के अवसर पर "तद् + शिवः" इस स्थिति में श्चुत्व और छत्व दोनों प्राप्त रहते हैं तो श्चुत्व पूर्व-त्रिपादी के प्रति पर-त्रिपादी छत्व असिद्ध हो जाता है, अतः सर्वप्रथम यहाँ श्चुत्वेन दकार को जकार किया जाता है। इसके बाद छत्व और "खरि च" (८।४।५५) से चर् ये दोनों प्राप्त होते हैं, तो पूर्व-त्रिपादी चर् की अपेक्षा पर-त्रिपादी छत्व असिद्ध हो जाता है। इसलिए कौमुदीकार ने चर् करके तब छत्व का विधान किया है। इसी बात को शेखरकार कह रहे हैं कि "जकारे कृते छत्वमिति शेषः" अर्थात् जकार करने के बाद छत्व होता है। पूर्वोक्त भाष्यसम्मत अष्टाध्यायी-पाठ, जिसका उल्लेख "उदःस्था" सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर किया जा चुका है, इस पाठ के अनुसार छत्व ही पूर्व-त्रिपादी हो जाता है और चर् पर-त्रिपादी हो जाता है; इसलिए पहले छत्व होता है, इसके बाद चर्त्व होता है। "तच्छिवः" प्रयोग में "चोः कुः" (८।२।३०) सूत्र से

कुत्व इसलिए नहीं होता है कि इसके प्रति पर-त्रिपादी चर्त्व तथा श्चुत्व दोनों असिद्ध हो जाते हैं।

मोऽनु। 'पदस्ये'त्यधिकृतं 'म' इत्यनेन विशेष्यत इत्याह—मान्तस्येति। 'हलि सर्वेषामि'त्यतो 'हली'त्यनुवर्त्तते। हलि किम्? राममाश्रय।

"मोऽनुस्वारः" सूत्र में "पदस्य" का अधिकार होता है। अधिकृत "पदस्य" यह पद विशेष्य होता है और "मः" यह पद उसका विशेषण होता है। इसके बाद "येन विधिः" सूत्र से तदन्तविधि होती है। फलस्वरूप "मान्तस्य पदस्य" ऐसा अर्थ यहाँ किया जाता है। इस सूत्र में "हलि सर्वेषाम्" सूत्र से "हलि" इस सप्तम्यन्त पद की अनुवृत्ति होती है। इसलिए इसकी प्रवृत्ति हल् पर में रहने पर ही होती है। यदि "हलि" इस पद की अनुवृत्ति नहीं की जाय तो अविशेषेण सर्वत्र अनुस्वार की आपत्ति होने लगेगी। परिणाम यह होगा कि रामम् + आश्रय = "राममाश्रय" इस प्रयोग में भी अनुस्वार होने लगता। इसलिए "हलि" पद की अनुवृत्ति आवश्यक है।

नश्चा। चेन मोऽनुकृष्यते। अपदान्तस्य किम्? राजन्याहि। यशांसीति। यशश्शब्दाज्जसः शौ 'नपुंसकस्ये'ति नुमि 'सान्ते'ति दीर्घः। आक्रंस्यते इति। क्रमेर्लृट्, 'आङ उद्गमने' इति तङ्, स्यः।

"नश्चापदान्तस्य झलि" इस सूत्र में चकार से मकार का अनुकर्षण होता है। यह सूत्र अपदान्त नकार-मकार को अनुस्वार करता है। यदि यहाँ "अपदान्तस्य" इस पद का ग्रहण नहीं किया गया होता तो "राजन् + पाहि" इस प्रयोग में पदान्त नकार को भी अनुस्वार होने लगता। इस सूत्र के उदाहरण "यशांसि" प्रयोग की प्रक्रिया बताते हुए कह रहे हैं कि यशस् शब्द से प्रथमा का बहुवचन जश् विभक्ति आने पर "जश्शसोः शिः" इस सूत्र से जश् का शि आदेश हो जाने पर उसकी सर्वनामस्थान संज्ञा करके "नपुंसकस्य झलचः" सूत्र से नुम् होता है और इसके बाद "यशन् + स् + इ" इस स्थिति में "सान्तमहतः संयोगस्य" इस सूत्र से दीर्घ होता है। दीर्घ के बाद प्रस्तुत सूत्र से नकार का अनुस्वार करके "यशांसि" प्रयोग सिद्ध किया जाता है।

मकार के अनुस्वार का उदाहरण "आक्रंस्यते" की प्रक्रिया बताते हुए कह रहे हैं कि "आङ्पूर्वक क्रम् धातु से लृट् लकार लाने पर "आङ उद्गमने" सूत्र से लकार के स्थान पर तङ् आदेश किया जाता है। इसके बाद "स्यतासी" सूत्र से स्य प्रत्यय तथा प्रकृत सूत्र से मकार को अनुस्वार करके "आक्रंस्यते" इस रूप की सिद्धि की जाती है। "स्नुक्रमोरनात्मने पदे" इस सूत्र में 'अनात्मने पदे'—इस पद के ग्रहण के कारण यहाँ आत्मनेपद होने से इट् नहीं होता है।

अनुस्वारस्य। 'परे'ति लुप्तषष्ठीकं पृथक्पदम्। अत एव 'उदःस्थे'त्यादौ सवर्णग्रहणानुवृत्तिः, 'यरोऽनुनासिक' इत्यत्र तदपकर्षश्च सिद्धः। 'ययी'ति स्पष्टार्थम्। 'दंशनमि'त्यादौ तु न दोषः, शकारसवर्णाप्रसिद्धेः; प्रयत्नभेदेनाज्झलोः सावर्ण्याभावात्। अचि अनुस्वाराभावात्।

"अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" इस सूत्र में "परसवर्ण" पद को कुछ लोग समस्त पद मानते हैं। नागेश भट्ट इससे सहमत नहीं है। इनका कहना है कि "पर" यह पद लुप्तषष्ठीक पृथक् पद है। अत एव= इसे पृथक् पद मानने का परिणाम यह होता है कि "उदः स्थास्तम्भोः" सूत्र में सवर्णग्रहण की अनुवृत्ति तथा "यरोऽनुनासिके" सूत्र में सवर्ण पद का अपकर्षण सिद्ध होता है। समस्त पद मानने पर एकदेश की अनुवृत्ति करने में क्लेश का आश्रयण करना पड़ेगा।

सूत्र में "ययि" पद स्पष्टार्थ है। वह इस प्रकार है—यय् से भिन्न दो प्रत्याहार हैं—शल् और अच्। 'दंशनम्' प्रयोग में अनुस्वार के आगे शल् का शकार पर में है, किन्तु यहाँ परसवर्ण का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि शकार का कोई सवर्ण ही नहीं है। यद्यपि सूत्रकार के मतानुसार इकार और शकार में सावर्ण्य है तथापि भाष्यकार ने पाँच प्रयत्न स्वीकार कर शल् प्रत्याहार के वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न माना है। इस प्रकार अच् का विवृत और शल् का ईषद्विवृत प्रयत्न होने से प्रयत्नभेद के कारण अच् और हल् का सावर्ण्य ही नहीं है। इस प्रकार 'दंशनम्' प्रयोग में कोई दोष नहीं है। अब रही अच् की बात तो अच् पर में रहने पर अनुस्वार होता ही नहीं तो वहाँ परसवर्ण की कोई चर्चा ही नहीं है। इस प्रकार "ययि" यह पद इस सूत्र में स्पष्टार्थ है।

मो राजि। 'ने'ति सिद्धे 'मे' इत्युक्तिः 'हे मपरे' इत्येतद्विषये 'प्रशाम्ह्मलयती'-त्यादौ 'मो नो धातोरि'ति नत्वबाधनार्था, निषेधस्त्वनन्तरत्वादनुस्वारस्यैव स्यात्। ध्वनितञ्चेदम् 'एतदोऽन्', 'अमो मशि'ति सूत्रयोर्भाष्ये।

"मो राजि समः क्वौ" इस सूत्र में "मः" के स्थान पर यदि "न" ऐसा निर्देश किया गया होता तो भी सम् के मकार के स्थान पर प्राप्त अनुस्वार का निषेध हो जाने से "सम्राट्" प्रयोग की सिद्धि हो जाती, तो ऐसी स्थिति में "मो" यह गुरुभूत न्यास अनुस्वारादि विकार मात्र के बाधन के लिए सावकाश होता है। यह बात "अमो मश्" सूत्र के भाष्य में इस प्रकार कही गई है—"मकारस्य मकारवचनसामर्थ्यादनुस्वारादयो बाध्यन्ते" अर्थात् मकार के स्थान पर यदि नकार का पाठ किया गया होता—इस निषेध के द्वारा "अनन्तरस्य विधिर्भवति प्रतिषेधो वा" इस न्याय के आधार पर अनन्तर अनुस्वार का ही बाध होता, न कि आदेशान्तर का भी बाध हो सकता था। जब "मः" इस षष्ठ्यन्त पद का ग्रहण करते हैं तब "हेमपरे वा" इस सूत्र में इसकी अनुवृत्ति होती है और इस सूत्र के उदाहरण "प्रशाम् + ह्मलयति" इस प्रयोग में "मो नो धातोः" सूत्र से प्राप्त नत्व का वारण करके वहाँ मकार का ही विधान किया जाता है। यह बात "एतदोऽन्" तथा "अमो मश्" इन सूत्रों के भाष्य में ध्वनित है।

हे मपरे। 'मपरे' इति बहुव्रीहिः, न तु तत्पुरुषोऽसम्भवात्। 'मोऽनुस्वार' इत्यतो 'म' इत्यनुवर्त्तते।

"हे मपरे वा" इस सूत्रस्थ "मपरे" इस पद में "मः परो यस्मादसौ मपरः" इस प्रकार बहुव्रीहिं समास है। 'मात् परः मपरः' इस रूप में यहाँ तत्पुरुष समास नहीं है, क्योंकि मकार से पर में हकार नहीं मिलता है। इस सूत्र में "मोऽनुस्वारः" इस सूत्र से षष्ठ्यन्त "मः" इस पद

की तथा "मो राजि" सूत्र से "मः" इस प्रथमान्त पद की अनुवृत्ति होती है। इसीलिए इसकी वृत्ति में कहा गया है कि "मपरे हकारे परे मस्य म एव स्याद् वा"।

यथासङ्ख्य। सम्यक् ख्यानं—सङ्ख्या, क्रमवैशिष्ट्येन ज्ञानम्। 'यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानमि'त्यत्र सङ्ख्याशब्दस्य ज्ञानार्थताया दृष्टत्वात्। तामनतिक्रम्य यथासङ्ख्यम्। अनुदेशः—पश्चाद्भववाक्यार्थबोधकालिकः सम्बन्धः। साम्यं—सङ्ख्यया, योग्यत्वाद्व्याख्यानाच्च। एवञ्च समसङ्ख्यानां सम्बन्धे—येन क्रमेण पदज्ञानं पदादुपस्थितिर्वा तेनैव क्रमेण वाक्यार्थबोधविषयः सम्बन्धस्तेषामित्यर्थः। फलितमाह—समसम्बन्धीति। यद्यपि स्थानाख्यलौकिकप्रमाणादेव सिद्धं, तथापि 'परस्मैपदानाम्' 'एचोऽयवायाव' इत्यादौ शब्दतः सूत्रान्तस्थक्रममादाय सम्बन्ध-बोधार्थम्, 'आद्यन्तौ टकितावि'त्यादौ समासनिर्देशे साहित्ये द्वन्द्वविधानादप्राप्त-क्रमान्वयबोधनार्थञ्चेदम्? एवञ्च तत्र यथासङ्ख्येनान्वयबोधकवाक्यकल्पना एतत्प्रामाण्यात्, ततश्च बोध इति बोध्यम्।

"यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" इस सूत्र में जो "यथासंख्य" शब्द है वह "संख्यामनतिक्रम्य" इस विग्रह में पदार्थानतिवृत्ति अर्थ में अव्ययीभाव समास करके बना हुआ है। इसमें आया हुआ संख्या शब्द यद्यपि एकत्वादि संख्या का वाचक है तथापि यहाँ संख्या शब्द से रूढ़ एकत्वादि संख्या का ग्रहण नहीं किया जाता है, क्योंकि वैसा करने से सूत्रार्थ इस प्रकार होगा— "समसम्बन्धी विधि एकत्वादि संख्या का अतिक्रमण नहीं करती है"। किन्तु ऐसा अर्थ यहाँ वाञ्छित नहीं है। इसलिए कह रहे हैं कि संख्या शब्द से वह प्रसिद्ध अर्थ न लेकर "सम्यक् ख्यानं संख्या" इस यौगिक व्युत्पत्ति के आधार पर क्रमवैशिष्ट्येन ज्ञान अर्थात् क्रम से होने वाला ज्ञान संख्या शब्द का अर्थ है। यदि कहा जाय कि संख्या शब्द के ज्ञानार्थकत्व में क्या प्रमाण है? तो इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्" इस वाक्य में संख्या शब्द का ज्ञानार्थकत्व देखा गया है। ज्ञान के द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, यही इस वाक्य का अर्थ है। यहाँ संख्या शब्द का अर्थ ज्ञान है। "संख्या एव सांख्यम्" इस विग्रह में स्वार्थिक ष्यञ् प्रत्यय के द्वारा बना हुआ सांख्य शब्द संख्या शब्द से अनतिरिक्त है।

अनुदेश शब्द का पश्चाद् भव अर्थात् पदज्ञान और पदार्थोपस्थिति के बाद होने वाले वाक्यार्थबोधकालिक आकांक्षाभास्य सम्बन्ध अर्थ है। "समानाम्" इस पद में आया हुआ सम शब्द तुल्य अर्थात् साम्य का वाची है। यह साम्य या तुल्यता संख्या के आधार पर ली जाती है। ऐसा लेने का कारण यह है कि समसम्बन्धियों में संख्या के आधार पर ही तुल्यता की योग्यता है। इसके अतिरिक्त व्याख्यान (उपस्थिति रूप व्याख्यान) से भी यहाँ संख्या से ही साम्य लिया जाता है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ ऐसा होता है—"सम संख्या वालों का वाक्यार्थबोधकालिक सम्बन्ध उसी क्रम से होता है जिस क्रम से पदज्ञान अथवा पदजन्य पदार्थोपस्थिति होती है"। इसी का फलितार्थ दीक्षितजी कौमुदी में कहते हैं कि समसम्बन्धी विधि यथासंख्य होती है।

अब यह शंका हो रही है कि एक लौकिक न्याय है—"क्रमिकाणां क्रमेणैवान्वयः" अर्थात् क्रमिक पदार्थों का क्रम से ही अन्वय होता है; जैसे "शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जय" अर्थात् "शत्रुं जय मित्रं रञ्जय और विपत्तिं भञ्जय" इस प्रकार क्रम से अन्वय कर लिया जाता है। इसी प्रकार यहाँ शब्दशास्त्र में भी इसी लौकिक न्याय से यथासंख्य सूत्र के बिना ही कार्य चल सकता है। नागेश भट्ट इस लौकिक न्याय के लिए स्थानाख्य लौकिक प्रमाण शब्द का प्रयोग किये हैं। यहाँ स्थान शब्द का अर्थ क्रम है। इस प्रकार स्थानाख्य लौकिक प्रमाण से ही जब यथासंख्य अन्वय सम्भव है तब इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि जहाँ शब्द के द्वारा क्रमिकों का उपादान (कथन) रहता है वहीं पर स्थानाख्य लौकिक न्याय से कार्य होता है; जैसे "शत्रुं मित्रम्" इत्यादि में शब्दतः क्रमिकों का कथन हुआ है। किन्तु जहाँ शब्दतः क्रमिकों का कथन नहीं हुआ है; जैसे "परस्मैपदानाम्" इत्यादि सूत्र में णल् आदि आदेशों का तो शब्दतः उपादान किया गया है, किन्तु उनके स्थानी का उल्लेख शब्दतः नहीं है। उनका बोध तो परस्मैपदोपस्थाप्य और 'तिप्तस्झि' सूत्र में उनके पाठ के आधार पर होता है। इसी प्रकार "एचोऽयवायावः" सूत्र में केवल आदेश मात्र का पार्थक्येन कथन किया गया है।अयादि के स्थानियों का बोध तो "अइउण्" इत्यादि सूत्र में पठित तथा एच् पद से उनकी उपस्थिति के बाद होता है। इस प्रकार शब्दतः जहाँ सूत्रान्तर में क्रम का निर्देश हो और उदाहरणस्थल में अर्थतः उसका बोध होता हो ऐसे स्थलों के लिए 'यथासख्य' सूत्र की आवश्यकता है। ऐसे स्थलों पर सूत्रान्तरस्थ क्रम को लेकर यह सूत्र यथासंख्यान्वय कराता है। यदि कहा जाय कि सूत्रान्तरस्थ क्रम को लेकर यद्यपि विलम्ब से क्रमिकान्वय होता है तथापि वहाँ भी लौकिक प्रमाण से ही कार्य चल सकता है तो इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "आद्यन्तौ टकितौ" इत्यादि स्थलों में जहाँ द्वन्द्व समस्त पदों का निर्देश (उच्चारण) किया गया है और जहाँ साहित्य (एकधर्मावच्छिन्नान्वयत्व रूप साहित्य) प्रधान रहता है, ऐसे द्वन्द्वसमासीय स्थलों में क्रम से अन्वय अप्राप्त रहता है। इस प्रकार के अप्राप्त क्रमान्वयस्थल में क्रमबोध के लिए इस सूत्र की आवश्यकता है। इस स्थल का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—द्वन्द्व समास साहित्य में होता है। साहित्य का अर्थ है—अनेकधर्मावच्छिन्न पदार्थों का एकधर्मावच्छिन्न में अन्वय। जैसे "धवखदिरौ छिन्धि" यहाँ धवखदिर का एकधर्मावच्छिन्न छेदन क्रिया में कर्मत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। इसलिए यहाँ द्वन्द्व साधु है। "आद्यन्तौ टकितौ" सूत्र में यदि टित् का अन्वय आदि में और कित् का अन्वय अन्त में कर देते हैं तब साहित्याभावात् द्वन्द्व ही नहीं होगा। इसलिए आद्यन्त समुदाय का टित्-कित् समुदाय में अन्वय किया जाता है। इस प्रकार द्वन्द्व समास उपपन्न तो हो जाता है किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि किसका अन्वय आदि में है और किसका अन्वय अन्त में। इस प्रकार की विचिकित्सा में यथासंख्य सूत्र आवश्यक होता है। इसके द्वारा यहाँ द्वितीय वाक्यार्थबोध होता है। इस द्वितीय वाक्यार्थबोध में आद्यन्त समुदायोपस्थाप्य आदि में टित् का तथा अन्त में कित् का अन्वय होता है। लौकिक प्रमाण की प्रवृत्ति तो वहीं पर होती है जहाँ असमस्त पदों का उच्चारण किया गया होता है। समास-स्थल में इससे कार्य नहीं चल सकता। इसीलिए भाष्यकार ने कहा कि "अजाविधनौ

देवदत्तयज्ञदत्तौ; न जाने कस्याजा कस्यावयः"। अर्थात् देवदत्त और यज्ञदत्त अजावी धन हैं। पर किसकी अजा है और किसकी अवि? यह बात ज्ञात नहीं होती है। इससे स्पष्ट है कि लौकिकन्याय समासस्थल में प्रवृत्त नहीं होता है।

इस प्रकार समास में अप्राप्त जो क्रमिक अन्वय है उसे कराने के लिए यथासंख्य सूत्र आवश्यक है। इस सूत्र के सामर्थ्य से द्वन्द्व समास के बाद द्वितीय वाक्यार्थबोध होता है, जिसमें क्रमिकान्वय बोध इस सूत्र के द्वारा कराया जाता है।

अत्र स्वरितेनेत्यपकृष्यते, इति 'ख्यत्यादि'त्यादौ नातिप्रसङ्गः। तत्र प्रतिपत्तिकालिकमेव सङ्ख्यासाम्यमेतच्छास्त्रप्रवृत्त्युपयोगीति 'ञमङणनमि'ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

एते यवला निरनुनासिका एव, विधीयमानत्वेन सवर्णाग्राहकत्वात्। जातिग्रहणप्राप्तस्येव गुणाभेदकत्वप्राप्तस्यापि 'अप्रत्यय' इत्यनेन निषेधाच्च। एवं 'मय उञ' इत्यत्रापि। अत एव मतोर्मस्य नानुनासिको वकारः, अन्यथा 'तद्वानासामि'त्यादौ नित्यानुनासिकापत्त्या तन्निर्देशासङ्गत्यापत्तिरित्याहुः।

यथासंख्य सूत्र को स्वीकार करने पर एक यह समस्या उपस्थित होती है कि "ख्यत्यात् परस्य" सूत्र में भी इसके द्वारा यथासंख्य अन्वय करने पर ख्य का अन्वय ङसि के साथ तथा त्य का अन्वय ङस् के साथ होने लगेगा। परिणामस्वरूप अनिष्टापत्ति होगी। इस बात को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि अत्र = "यथासंख्य" सूत्र में "स्वरितेनाधिकारः" (१।३।११) इस सूत्र से "स्वरितेन" इस पद का अपकर्षण होता है। इसका परिणाम यह होता है कि जहाँ स्वरितत्व की प्रतिज्ञा रहेगी वहीं यथासंख्य सूत्र की प्रवृत्ति होगी। "ख्यत्यात्परस्य" इस सूत्र में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा नहीं है, अतः यहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है।

प्रतिपत्तिकालिक = प्राथमिक वाक्यार्थबोधकालिक जो संख्या की समानता है वही इस सूत्र की प्रवृत्ति में उपयोगी है। ऐसा मानने का फल यह होता है कि "स्यतासी लृलुटोः" इस सूत्र में कोई अनुपपत्ति नहीं होती है, अपितु यहाँ भी यथासंख्यान्वय हो जाता है। इस सूत्र के प्राथमिक वाक्यार्थबोध के समय विकरण (स्य और तास्) तथा निमित्त "लृ" और "लुट्" इन दोनों की संख्या में समानता है ही। पीछे लृ शब्द से लृट् और लृङ् दोनों की उपस्थिति होती है तो होती रहे। स्य विकरण तो लृत्वावच्छिन्न का होगा ही। यह बात "ञमङणनम्" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

कौमुदीकार ने "यवलपरे यवला वा" इस वार्तिक से विधेय य, व और ल को स्थानी के अनुरूप अनुनासिक आदेश करके "कियँ, ह्यः" "किवँ ह्वलयति", "किलँ ह्लादयति" तथा अभाव पक्ष में मकार के स्थान पर अनुस्वार करके उदाहरण दिया है। नागेशभट्ट इस बात से असहमत हैं। इनका कहना है कि उपर्युक्त उदाहरणों में यवल ये निरनुनासिक आदेश ही होंगे, क्योंकि जहाँ विधीयमान स्थल होता है वहाँ "अप्रत्यय" ग्रहण से सवर्ण की ग्राहकता का निषेध हो जाता है। यह "अप्रत्यय" ग्रहण न केवल अणुदित्सूत्र से प्राप्त सवर्णग्राहकता का ही निषेध करता है, अपितु जातिपक्ष से प्राप्त सवर्ण ग्राहकता का तथा उसी प्रकार गुणाभेदकत्वेन प्राप्त

सवर्ण की ग्राहकता का निषेध कर देता है। इसलिए उपर्युक्त उदाहरणों में य, व और ल निरनुनासिक ही होते हैं। इसी प्रकार "मय उञः" सूत्र से विधेय वकार भी भाव्यमान होने के कारण सवर्ण का ग्राहक नहीं होता है। फलस्वरूप वहाँ भी निरनुनासिक ही वकार आदेश होता है।

अत एव = भाव्यमान होने से सवर्ण का ग्राहक न होने के कारण मतुप् के मकार को अनुनासिक वकार आदेश नहीं होता है। अन्यथा = यदि यह बात न मानी जाय तो "तद्वानासाम्" इस प्रयोग में "झयः" सूत्र से मतुप् के मकार के स्थान पर नित्य अनुनासिक वकार हो जायेगा, जिससे इस निर्देश की ही असंगति हो जायेगी।

चयो द्वितीया इति। 'नादिन्याक्रोशे' इत्यत्र भाष्ये इदम्। एतत्सामर्थ्यादेतत्कृत-द्वितीयस्य न चर्त्वम्। 'ऊष्मोदयं प्रथमं स्पर्शमेके द्वितीयमाहुरपदान्तभाजमि'ति प्रातिशाख्ये'ऽपदान्तभाजमि'ति चर्त्वासिद्धत्वलब्धार्थानुवादः। पदान्ते जश्त्वप्रवृत्त्या चर्त्वं विना चयोऽलाभात्। अत्र तु कृते न जश्त्वप्राप्तिरस्यासिद्धत्वात्। 'अफ्सरा' 'वथ्सा' इति भाष्योदाहृते छान्दसत्वाच्चर्त्वस्यासिद्धत्वं न। एवञ्च प्रातिशाख्ये'-ऽपदान्तभाजमि'त्युत्सर्गः। यद्वा तयोरव्युत्पन्नत्वं, न त्वप्पूर्वात्सर्त्तेरसिर्वदेः सो वेत्यन्यत्र विस्तरः।

"चयो द्वितीयाः शरि" यह वार्तिक "नादिन्याक्रोशे" इस सूत्र के भाष्य में है। "प्राङ्ख् + षष्ठः", "सुगण्ठ् + षष्ठः" इत्यादि उदाहरणों में इस वार्तिक से विहित द्वितीय वर्ण खकार और ठकार को "खरि च" सूत्र से चर् नहीं होता है। क्योंकि ऐसा करने से द्वितीयादेश का विधान ही व्यर्थ हो जायेगा। चर् के द्वारा उक्त दोनों वर्णों को यदि पुनः प्रथम वर्ण ही करना था तो उन्हें द्वितीय वर्ण के विधान की क्या आवश्यकता थी? इसलिए इस वार्तिक के सामर्थ्य से उसके द्वारा विहित द्वितीय का चर्त्व नहीं होता है। इसी प्रकार इस वार्तिक से विधेय द्वितीय वर्ण को जश्त्व भी नहीं होता है, क्योंकि पूर्व-त्रिपादी "झलां जशोन्ते" (८।२।३९) के प्रति पर-त्रिपादी "नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य" (८।४।४८) इस सूत्रस्थ यह वार्तिक असिद्ध हो जाता है। वार्तिक के असिद्ध होने का तात्पर्य वार्तिक-विहित कार्य का असिद्ध होना है। इसलिए यहाँ जश्त्व नहीं होता है।

अब यहाँ एक यह विचार प्रस्तुत है कि "ऊष्मोदयं प्रथमं स्पर्शमेके द्वितीयमाहुरपदान्त-भाजम्" अर्थात् ऊष्मोदयम् = उष्म वर्ण पर में रहने पर प्रथम स्पर्श वर्ण उपलब्ध होते हैं; जैसे—"लिट्सु, लिट्त्सु" इत्यादि उदाहरणों में स्पष्ट है। द्वितीय वर्ण तो अपदान्त में ही मिलता है। कारण यह है कि जहाँ पदान्त रहेगा वहाँ तो "झलां जशोऽन्ते" सूत्र से जश् हो जाने के कारण द्वितीय वर्ण पदान्त में सम्भव नहीं है। इस प्रातिशाख्य के अनुसार तो यही मानना चाहिए कि अपदान्त चय् को ही द्वितीयादेश होता है। ऐसी स्थिति में "प्राङ्ख्-षष्ठः" इत्यादि प्रयोगों में जहाँ पदान्त की स्थिति है वहाँ द्वितीय वर्ण का आदेश नहीं होना चाहिए? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "अपदान्तभाजम्" इस पद का अर्थ यह है कि "चर्त्व के असिद्ध हो जाने के कारण द्वितीय वर्ण की उपलब्धि होती है"। तात्पर्य यह है कि "प्राङ्ख्-षष्ठः"

इत्यादि प्रयोगों के लिए जब कुक् का आगम होता है तब "प्राङ्क् + षष्ठः" इस अवस्था में "खरि च" (८।४।५५) सूत्र से चर्त्व की प्राप्ति होती है तथा उसी समय प्रस्तुत वार्तिक जो "नादिन्याक्रोशे" (८।४।४८) सूत्रस्थ है, इससे द्वितीय वर्ण का आदेश प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में पूर्व-त्रिपादी वार्तिक के प्रति चर्त्व जो परत्रिपादी है, वह असिद्ध हो जाता है। इस प्रकार चर्त्व के असिद्ध हो जाने से यहाँ द्वितीय वर्ण आदेश हो जाता है। इस प्रकार "चर्त्व के असिद्ध हो जाने से सम्पन्न जो द्वितीयादेश" यही यहाँ "अपदान्तभाजम्" इस पद का अर्थ है। अर्थात् "चर्त्व की असिद्धि से लब्ध जो अर्थ (द्वितीयादेशरूपी अर्थ) उसी का अनुवादक "अपदान्तभाजम्" यह पद है।

पदान्त में तो झल् वर्ण को प्रायः जश् ही हो जाता है। यहाँ प्रायः पद का उल्लेख इसलिए किया गया है कि "हरिस्-शेते" जैसे प्रयोगों मे जश् को बाधकर रुत्व किया जाता है। जब पदान्त में जश् कर दिया जाता है, तब उसे चर् किये बिना पदान्त में चय् का अभाव होने के कारण द्वितीय वर्ण किस के स्थान पर किया जाय? इस प्रकार पदान्त में द्वितीय वर्ण की उपलब्धि को न देखकर प्रातिशाख्य में कहा गया कि "द्वितीयमपदान्तभाजम्"। यदि कहा जाय कि जब द्वितीय वर्ण अपदान्तभाक् हो गया तो 'सुगण्ठ्-षष्ठः' इत्यादि प्रयोगों में द्वितीय वर्ण पदान्त में कैसे उपलब्ध हो रहा है? इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि अत्र तु कृते = यहाँ "सुगण्ठ्-षष्ठः" इत्यादि प्रयोगों में चर्त्व के असिद्ध हो जाने के कारण जब द्वितीय वर्ण कर दिया जाता है तब उसे जश्त्व नहीं होता है, क्योंकि पूर्वत्रिपादी जश्त्व की दृष्टि से परत्रिपादी कार्य यह द्वितीय वर्ण का विधान असिद्ध हो जाता है। इसलिए यहाँ जश्त्व नहीं होता है। यदि कहा जाय कि असिद्ध होने के कारण द्वितीय वर्ण का जश्त्व भले न हो किन्तु उसे चर् क्यों नहीं होता? तो इसका उत्तर यह है कि द्वितीयादेश चर्त्व का अपवाद है। यह उसी प्रकार का अपवाद है जिस प्रकार "सर्वेषाम्" प्रयोग में सुट् नुट् का अपवाद होता है। जिस प्रकार वहाँ सुट् के पहले तथा सुट् करने के बाद किसी भी स्थिति में नुट् नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ द्वितीय वर्ण के विधान के पहले या पीछे कभी भी चर् नहीं होता है। किन्तु ऐसा मानने पर एक समस्या यह उपस्थित होती है कि "अफ्सराः" और "वथ्सा" इन भाष्यप्रयोगों में चर् की सिद्धि नहीं हो सकेगी। यहाँ की स्थिति इस प्रकार है—"अप्सु सरति" इस विग्रह में अप्पूर्वक सृ धातु से "सर्तेरप्पूर्वादसि" इस औणादिक सूत्र से असि प्रत्यय होता है और सृ के ऋकार को गुण करके "अप् + सरस्" इस स्थिति में पकार को जश्त्वेन बकार और उस बकार को चर्त्वेन पकार किया जाता है। इसके बाद पकार को प्रस्तुत वार्तिक से फकार किया जाता है। इसी प्रकार वद् धातु से औणादिक स प्रत्यय करके दकार को चर्त्वेन तकार करने के बाद उसे थकार किया जाता है। बिना चर् किये यहाँ जब चय् नहीं मिलेगा तो द्वितीय वर्ण का विधान कैसे किया जायेगा? यदि द्वितीय वर्ण के प्रति चर् असिद्ध हो जाता है, तब चय् के अभाव में यहाँ द्वितीय वर्ण का विधान कैसे सम्भव है? तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त प्रक्रिया से "अप् + सराः" इस स्थिति के बनने के बाद "चयो द्वितीया शरि" इस वार्तिक से पकार के स्थान पर द्वितीय वर्ण फकार करके "अफ्सराः" यह प्रयोग बनाया जाता है। इसी प्रकार वद् धातु के दकार के स्थान पर चर्त्वेन तकार करने के बाद "वत् + सा" इस स्थिति में प्रस्तुत

वार्तिक से तकार को द्वितीय वर्ण थकार करके "वथ्सा" यह प्रयोग बनाया जाता है। द्वितीय वर्ण की दृष्टि में जब चर् असिद्ध है तब यहाँ उपर्युक्त प्रयोगों में फकार और थकार नहीं हो सकेंगे? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "अफ्सराः" और "वथ्सा" ये छान्दस प्रयोग हैं। इसलिए छान्दसत्वात् यहाँ चर् असिद्ध नहीं होता है। इसलिए उक्त प्रयोगों की सिद्धि हो जाती है। "द्वितीयमाहुरपदान्तभाजम्" इस प्रातिशाख्य में आया हुआ "अपदान्तभाजम्" यह पद उत्सर्ग है। उत्सर्ग का अर्थ प्रायिक है। अर्थात् कहीं पदान्त में भी द्वितीय वर्ण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि "अपदान्तभाजम्" का अर्थ है "अचर्त्वनिष्पन्नम्"। चर्त्व के द्वारा जो निष्पन्न न हो ऐसे प्रथम वर्ण के स्थान में पदान्त में भी द्वितीय वर्ण का विधान कर दिया जाता है। प्रस्तुत स्थल में कुक्-टुक् के ककार-टकार के चर्त्वानिष्पन्न होने से द्वितीयादेश हो जाता है।

अथवा औणादिक शब्दों के सम्बन्ध में पाणिनि का अव्युत्पत्तिपक्ष ही अभिमत है। इस प्रकार भाष्योक्त दोनों प्रयोग अव्युत्पन्न (प्रकृति-प्रत्यय विभागरहित ही) हैं। इसलिए यहाँ चर् के असिद्ध होने का प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि "अफ्सराः" प्रयोग में अप्पूर्वक सृ धातु से असि प्रत्यय नहीं हुआ है और "वथ्सा" प्रयोग में वद् धातु से स प्रत्यय नहीं हुआ है, किन्तु ये अव्युत्पन्न प्रयोग हैं। यदि किसी का आग्रह हो कि यहाँ व्युत्पत्ति-पक्ष ही है तब इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में "अफ्सराः" और "वथ्सा" की सिद्धि इस प्रकार की गई है कि नञ्पूर्वक प्सा धातु से असि प्रत्यय, अरङ् आदेश और नकार का लोप करके "अप्सराः" ऐसा रूप बनता है। इसी प्रकार पत् धातु से स प्रत्यय और पत् के पकार को वकार करने से "वत्सा" ऐसा रूप बनता है। इस प्रकार पकार और तकार के पदान्त में न होने के कारण यहाँ उन्हें द्वितीय अक्षर-विधान करने में कोई बाधा नहीं होती है। यह बात अन्यत्र = भाष्यादि में विस्तार से वर्णित है।

डः सि। 'सी'ति सप्तमी षष्ठ्यर्थे, व्याख्यानात्। तदाह—सस्येति। 'पदस्ये'त्यनुवर्त्तमानस्य वैयधिकरण्येनान्वयात्पदावयवस्य सत्येत्यर्थः। षट्त्सन्त इति। धुटि धस्य चर्त्वे लक्ष्यभेदात्पुनर्डस्य चर्त्वम्।

"डः सि धुट्" इस सूत्र में "डः" यह पञ्चम्यन्त पद है। इसके आधार पर यदि यहाँ "तस्म' दित्युत्तरस्य" इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है, तब "सि" इस सप्तम्यन्त पद की षष्ठ्यन्तत्वेन परिकल्पना होकर "डात् परस्य सस्य" अर्थ हो सकता है। इसी प्रकार "सि" इस सप्तम्यन्त पद के आधार पर यदि "तस्मिन्निति" इस परिभाषा की यहाँ प्रवृत्ति होती है, तब "डः" इस पञ्चम्यन्त पद की षष्ठ्यन्तत्वेन परिकल्पना करके सकाराव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टस्य डस्य धुड्' यह अर्थ भी यहाँ प्राप्त है। यदि यहाँ "उभयनिर्देशे पञ्चमी निर्देशो बलीयान्" इस परिभाषा के आधार पर "सि" पदघटक सप्तमी की षष्ठी के रूप में परिकल्पना की जाती है, तो वाञ्छित सूत्रार्थ की निष्पत्ति हो सकती है, किन्तु भाष्यकार ने प्रकल्पकत्व पक्ष को दूषित कर दिया है। इसलिए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि "सि" पदघटक सप्तमी षष्ठी के अर्थ में है। षष्ठ्यर्थ में सप्तमी मानने का क्या हेतु है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नागेश कह रहे हैं कि "व्याख्यानात्" अर्थात् पूर्वसूत्र "तस्मिन्निति" की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती है, इसलिए उसकी अप्रवृत्ति रूपी

व्याख्यान के आधार पर यहाँ षष्ठ्यर्थे सप्तमी मानी गई है। इसी आधार पर वृत्ति में कहा गया है—"सस्य धुड् वा"।

इस सूत्र में "पदस्य" की अनुवृत्ति होती है। उसका "सस्य" इस पद के साथ सामानाधिकरण्य अन्वय सम्भव नहीं है, क्योंकि डकार से पर में सान्त पद का मिलना असम्भव है। इस बात को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि अनुवर्तमान "पदस्य" इस पद का "सस्य" इस पद के साथ वैयधिकरण्येन अन्वय होता है। इसलिए सूत्रार्थ इस प्रकार होता है—"डकार से पर में पदावयव सकार को धुट् का आगम होता है"।

"षट्त्सन्तः" इस प्रयोग में धुट् करने के बाद पहले "खरि च" सूत्र से धकार को चर् करके तकार किया जाता है, इसके बाद पुनः 'खरि च' सूत्र से डकार को चर्त्व करके टकार किया जाता है। "लक्ष्ये लक्षणन्याय" की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है, क्योंकि यहाँ एक लक्ष्य न होकर दो लक्ष्य हैं। पहला लक्ष्य है "धस्" और दूसरा लक्ष्य है "ड्त्"। इस प्रकार लक्ष्यभेद होने के कारण यहाँ "खरि च" की पुनः प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं होती है।

नश्च। नकारान्तादिति। 'पदस्ये'त्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरिणम्यत इति भावः। वैयधिकरण्येनैवान्वय इति ङमुट्सूत्रथभास्यस्वरसः। नस्य पदान्तस्येति। अपदान्तनकारेऽनुस्वारप्रवृत्त्या फलितार्थप्रदर्शनमिदम्। 'नान्तस्य पदस्ये'त्युचितम्।

"नश्च" इस सूत्र में "पदस्य" की अनुवृत्ति होती है। उसका "नः" इस पञ्चम्यन्त पद के साथ सामानाधिकरण्येन अन्वय के लिए पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणाम होता है। "पदात्" यह पद विशेष्य होता है और "नः" यह पद उसका विशेषण होता है। इसके बाद तदन्तविधि करके इस सूत्र का अर्थ होता है—"नकारान्त पद से परे जो सकार उसे धुट् विकल्प से होता है।" इस प्रकार दीक्षितोक्त कौमुदी की वृत्ति की संगति करके नागेश भट्ट कह रहे हैं कि ङमुट्विधायक सूत्रस्थ भाष्य के स्वारस्य (आधार) से तो यहाँ वैयधिकरण्येन ही अन्वय करना उचित है। भाष्यकार ने वहाँ पर पदावयव जो ङम् उससे परे अच् को ङमुट् का विधान किया है। उसी प्रकार यहाँ भी पदावयव नकार से परे सकार को धुट् होता है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए। विभक्ति का विपरिणमन की अपेक्षा तो वैयधिकरणान्वय करना ही उचित है। वैयधिकरणान्वय से भी प्रयोग की सिद्धि तो होती ही है। इसलिए यही न्याय्य है।

"शि तुक्" सूत्र की व्याख्या कौमुदी में इस प्रकार की गई है—पूर्वसूत्र "नश्च" से इसमें "नः" इस पञ्चम्यन्त पद की अनुवृत्ति होती है। पूर्वसूत्र में यह पञ्चमी "सि" इस सप्तम्यन्त पद की सप्तमी को षष्ठी के रूप में प्रकल्पना करके चरितार्थ हो चुकी है, इसलिए "तस्मिन्निति" परिभाषा के द्वारा "शि" इस सप्तम्यन्त पद की सप्तमी "नः" इस पदघटक पञ्चमी की परिकल्पना षष्ठी के रूप में कर देती है। यहाँ "पदस्य" की अनुवृत्ति होती है। यह "पदस्य" "नः" का विशेषण होता है, इसलिए तदन्तविधि करके अर्थ किया गया है कि "पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा"। शकार से अव्यवहित पूर्व पदान्त नकार को तुक् का आगम विकल्प से होता है।

नागेश भट्ट का कहना है कि कौमुदी में किया गया अर्थ फलितार्थ कथन मात्र है। कारण यह है कि अपदान्त नकार का तो "नश्चापदान्तस्य" सूत्र से अनुस्वार हो जाता है। इस प्रकार बचे हुए पदान्त नकार के यहाँ ही तुक् का आगम होता है। इस प्रकार यह फलितार्थकथन

मात्र है। दूसरी बात यह है कि "पदस्य" यह पद जहाँ अनुवृत्त होता है, वहाँ विशेष्य ही रहता है, किन्तु दीक्षितजी ने उसे विशेषण बनाया है। इसीलिए विशेषणांश में तदन्तविधि करके वे कहे हैं—"पदान्तस्य नस्य तुक्'। किन्तु जब पद की विशेष्यता और नकार की विशेषणता उचित है तब तो तदन्तविधि के द्वारा "नान्तस्य पदस्य तुक्" ऐसा अर्थ करना ही उचित है।

चतुष्टयमिति। वक्ष्यमाणविकल्पैरिति भावः। तेन तुकश्शुत्वे छत्वस्यासिद्ध-त्वाच्चयो द्वितीया इति पक्षे चस्य छत्वेन छकारे छकारशकारघटितरूपद्वयाधिक्ये ञशानुस्वारविसर्गाणां द्वित्वविकल्पेनाधिक्येऽपि न क्षतिः।

"सन् + शम्भुः" इस स्थिति में तुक्, छत्व और चलोप के विकल्प के कारण चार रूप होते हैं। पहला रूप "सञ्छम्भुः" है। यह रूप—तुक् शकार को छकार, चुत्व के द्वारा तकार को चकार और नकार को ञकार करने के बाद चकार का लोप करने से बनता है। चकार का लोप न करने पर "सञ्च्छम्भुः" तथा शकार का छत्व न करने पर 'सञ् च् शम्भुः' तथा तुक् के अभाव में नकार का चुत्व के द्वारा ञकार करने पर "सञ् शम्भुः" रूप बनता है। इस प्रकार तुक्, छत्व और चलोप इन तीन कार्यों के विकल्प के कारण ये चार रूप बनते हैं, यह कौमुदी-कार का कहना है।

नागेश भट्ट का यहाँ यह कहना है कि यद्यपि वक्ष्यमाण विकल्पों (तुक्, छत्व, चलोप के विकल्पों) से कौमुदी में चार रूपों की बात कही गई है तथापि यहाँ चार ही रूप नहीं होते हैं, किन्तु अधिक भी रूप यहाँ होते हैं। अधिक रूपों के प्रकार दिखाते हुए तुक्पक्ष में रूपाधिक्य का प्रदर्शन कर रहे हैं कि "सन् + त् + शम्भुः" इस स्थिति में तुक् के तकार को चुत्वेन चकार करने के बाद "चयो द्वितीयाः" से चकार को छकार और "शश्छोऽटि" से शकार को छकार, दोनों की प्राप्ति रहने पर "चयो द्वितीयाः" के प्रति "शश्छोऽटि' का छत्व परत्रिपादी होने के कारण असिद्ध हो जाता है। इसके बाद "चयो द्वितीयाः" से चकार को द्वितीय वर्ण छकार कर दिया जाता है। तत्पश्चात् "शश्छोऽटि" सूत्र से शकार को वैकल्पिक छकार करने से 'सञ्छ्छम्भुः' तथा "सञ्छ्शम्भुः" ये दो रूप तुक्पक्ष में अधिक हुए। इन रूपों में ञकार, शकार, अनुस्वार तथा विसर्ग के द्वित्व विकल्प से होने से चार रूप और अधिक बनते हैं। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि ञकार, अनुस्वार तथा विसर्ग का वैकल्पिक द्वित्व "अनचि च" सूत्र से होगा तथा शकार का वैकल्पिक द्वित्व "शरः खयः" इस वार्तिक से 'खयः' को पञ्चम्यन्त तथा 'शरः' को षष्ठ्यन्त मानकर किया जायेगा। इस प्रकार रूपाधिक्य होने पर भी कोई क्षति नहीं है।

ङमो। 'पदस्ये'त्यनुवृत्तं सामानाधिकरण्यानुरोधात्पञ्चम्या विपरिणम्यते इत्याह —तदन्तं यत्पदं तस्मादिति। तत्र 'ङम्'—स्वयं 'ह्रस्वादि'ति विशेषणसम्बन्धमनुभूय पदविशेषणत्वेन तदन्तपर इति भावः। 'ङम' इति पञ्चमीबलादचीति सप्तमी षष्ठ्यर्थे, तदाह—अच इति। सप्तमीनिर्देशस्तु लाघवार्थः। 'ङम उत्तरस्याच' इति 'तस्मिन्नि'ति सूत्रस्थभाष्यात्। ङमन्तं यत्पदमिति किम्? 'अनिती'त्यादौ ङमुण्मा भूदिति।

"ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्" इस सूत्र में 'पदस्य' की अनुवृत्ति होती है। इसका अन्वय "ङमः" इस पञ्चम्यन्त पद के साथ वाञ्छित है, किन्तु भिन्नविभक्तिकत्व में सामानाधिकरण्य

सम्भव नहीं हो सकता, इसलिए सामानाधिकरण्य के अनुरोध से "पदस्य" इस षष्ठ्यन्त का पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणाम कर दिया जाता है। यदि कहा जाय कि "ङमः" यह पद पञ्चम्यन्त है, इसमें क्या प्रमाण है? तो इसका उत्तर यह है कि भाष्यकार ने कहा है कि "ङमः" परस्याचः ङमुट्" अर्थात् "ङम्" से परे जो अच् उस अच् को ङमुट् का आगम होता है। इस भाष्य से स्पष्ट है कि "ङमः" पद पञ्चम्यन्त पद है। यह "ङमः" पद अनुवृत्त और पञ्चम्यन्तत्वेन परिणत "पदात्" इसका विशेषण होता है। विशेषणत्वात् तदन्तविधि करके दीक्षितजी कौमुदी में कहते हैं कि तदन्तं = "ङमन्तं यत् पदं तस्मात्"। यहाँ ङम् यह स्वयं सूत्र में श्रुत "ह्रस्वात्" इस पद के साथ सम्बन्ध का अनुभव करके पद का विशेषण बनता है, जिससे तदन्तविधि के द्वारा वह तदन्तपरक हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि "ह्रस्वात्" यह ङम् का विशेषण है और 'ङमः' यह पदात् का विशेषण होता है। इसी विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध के आधार पर कौमुदी की वृत्ति कही गई है।

"ङमः" इस पद की पञ्चमी के द्वारा "तस्मादिति" इस परिभाषा के माध्यम से "अचि" इस पद की सप्तमी की षष्ठी के रूप में परिकल्पना की जाती है। अथवा इसे इस प्रकार भी कहा जाता है कि "ङमः" के पञ्चमी के बल से "अचि" की सप्तमी षष्ठी के अर्थ में है। इसीलिए कौमुदीकार कहते हैं कि "तस्मात् परस्य अचः ङमुट् इति"। इस प्रकार का अर्थ करने में "ङमः उत्तरस्याचः" यह "तस्मिन्निति" सूत्रस्थ भाष्य ही प्रमाण है। "ङमन्तं यत् पदम्" यदि इसका उपादान यहाँ नहीं किया गया होता तो "अनिति" इस आदादिक अन् धातु के प्रथमपुरुष के एकवचन के रूप में भी ङमुट् (नुट्) की आपत्ति हो जाती। किन्तु उक्त पद के ग्रहण करने पर "अन्" इतने के ङमन्त पद न होने के कारण यहाँ नुट् नहीं होता है।

भाष्ये तु विभक्तिव्यत्ययप्रकल्पने गौरवात्पदावयवङमः परस्येति वैयधिकरण्यमेवोक्तम्। 'दण्डिने'त्यत्र ङमुडभावो—मण्डूकप्लुत्या 'उञि च पदे' इत्यतः 'पदे' इत्यनुवर्त्याजादेः पदस्य ङमुडित्यर्थेन बोद्धव्यः। 'पदस्ये'त्यस्यावृत्त्या सम्बन्धेऽपि विशेषणविशेष्ययोरुभयोः सप्तम्यन्तत्वे एव तदादिविधिप्रवृत्त्या तदलाभः स्यात्। एतदर्थमेवाचीति सप्तमीनिर्देशः। ङमन्तं यत्पदमित्यर्थेऽपि परम-दण्डिनेत्यादावेतद्वारणाय 'पदे' इत्यनुवृत्तिरावश्यक्येव। अन्तर्वर्तिविभक्त्या दण्डिन्नित्यस्य पदत्वात्। 'उत्तरपदत्वे चे'ति प्रत्ययलक्षणनिषेधस्तु न, 'माषकुम्भवापेने'त्यादौ 'पदव्यवायेऽपी'ति निषेधसिद्धये तस्य यत्रोत्तरपदस्य कार्यित्वं तत्रैव प्रवृत्तेः। 'तेन निषेधेन सिद्धमि'त्येतत्सूत्रस्थभाष्योक्तिस्त्वेकदेशिन इति दिक्। 'इको यणची'ति सौत्रो निर्देशः।

नागेश कौमुदीकार की बात से असहमति व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि भाष्य में तो विभक्ति का व्यत्यय करना गौरव माना गया है। सामानाधिकरण्यान्वय के लिए दीक्षितजी ने "पदस्य" इस पद का पञ्चम्यन्तत्वेन जो विपरिणाम किया है वह गौरवग्रस्त है। इसलिए विभक्ति का व्यत्यय किये बिना यहाँ वैयधिकरणान्वय ही करना चाहिए। वह इस प्रकार होगा कि पद का अवयव जो ङम् उससे पर में जो अच्, उसे ङमुट् का आगम होता है। यदि कहा जाय

कि ऐसा अर्थ करने पर तो "दण्डिना" इस पद में भी ङमुट् की आपत्ति होगी, क्योंकि "दण्डिना" इस पद में पदावयव ङम् नकार से पर में आ रूपी अच् है ही, अतः उसे ङमुट् का आगम होना चाहिए? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि इस सूत्र में "उञि च पदे" इस सूत्र से मण्डूकप्लुति न्याय से "पदे" इस पद की अनुवृत्ति होती है। वह "पदे" यह पद "अचि" इस सप्तम्यन्त पद का विशेष्य होता है। सप्तम्यन्त विशेषण के कारण यहाँ तदन्तविधि न होकर तदादिविधि होती है। फलस्वरूप यहाँ ऐसा अर्थ होता है कि ह्रस्व से पर में जो पदावयव ङम्, उससे पर में जो अजादि पद, उसे ङमुट् होता है। "दण्डिना" इस प्रयोग में जो "आ" है वह अजादि पद नहीं है, किन्तु वह तो विभक्ति है। इसलिए यहाँ नुट् नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि यहाँ आवश्यक जो "पदस्य" की अनुवृत्ति है, उस "पदस्य" की ही आवृत्ति करके एक का अन्वय विशेषणतया ङम् में तथा दूसरे का विशेष्यतया "अचि" इस पद में करने से ही जब कार्य चल सकता था तो मण्डूकप्लुतिरूप गुरुभूत कल्पना की क्या आवश्यकता थी? नागेश भट्ट इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "पदस्य" इस पद की आवृत्ति करके सम्बन्ध करने पर भी यहाँ तदादिविधि का लाभ नहीं हो सकता था, क्योंकि "यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे" इस परिभाषा के द्वारा तदादिविधि वहीं होती है जहाँ विशेषण और विशेष्य दोनों सप्तम्यन्त हों। "अचि" सप्तम्यन्त और "पदस्य" यह षष्ठ्यन्त इस प्रकार भिन्नविभक्तिक स्थल में तदादिविधि का लाभ नहीं हो सकता था। एतदर्थमेव = तदादिविधि का लाभ करने के लिए ही "अचि" यह सप्तम्यन्त निर्देश है, न कि यह लघवार्थ है। यदि कहा जाय कि इस भाष्यानुसारी व्याख्यान के अनुसार तो "पदस्य' के अतिरिक्त "पदे" इस पद की भी अनुवृत्ति करनी पड़ती है; इसलिए यह पक्ष गौरवग्रस्त है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "ङमन्तं यत् पदम्" यह जो दीक्षितजी का पक्ष है इस पक्ष में भी "परमदण्डिना" इस प्रयोग में ङमुट्-वारण करने के लिए "पदे" की अनुवृत्ति आवश्यक ही है, क्योंकि "परमश्चासौ दण्डी परमदण्डी, तेन" इस विग्रह में निष्पन्न "परमदण्डिना" इस पद में "दण्डिन्" यह अंश प्रत्ययलक्षणेन अन्तवर्ति विभक्ति के आधार पर पद है ही; इसलिए प्राचीनों की व्याख्या के अनुसार यहाँ ङमुट् प्राप्त होता है। उसके वारण के लिए "पदे" इस पद की मण्डूकानुवृत्ति आवश्यक ही है।

यदि कहा जाय कि "उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः" इस परिभाषा से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायेगा, इसलिए "दण्डिन्" यह पद ही नहीं होगा तो ङमुट् की प्राप्ति यहाँ नहीं है; इसलिए प्राचीन मतानुसार "पदे" की अनुवृत्ति अनावश्यक है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि "माषकुम्भवापेन" इस प्रयोग में "पदव्यवायेऽपि" इस सूत्र से णत्व के निषेध के लिए उक्त परिभाषा का अर्थ इस प्रकार किया जाता है कि उत्तर को पदत्वप्रयुक्त कोई कार्य करना हो तो वहीं प्रत्ययलक्षण का निषेध होता है। "माषाणां कुम्भः माषकुम्भः, तस्य वापो माषकुम्भवापः"—यहाँ पर उत्तरपद "कुम्भ" किसी कार्य का कार्यी नहीं है। इसलिए यहाँ प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होता है और कुम्भ यह पद कहा जाता है। इसलिए "पदव्यवायेऽपि" निषेध की यहाँ प्रवृत्ति होती है। यहाँ "प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च" सूत्र से णत्व प्राप्त रहता है जिसका निषेध किया जाता है।

प्रस्तुत स्थल "परमदण्डिना" में भी उत्तरपद दण्डिन् को पदत्वप्रयुक्त कोई कार्य तो करना नहीं है, इसलिए यहाँ भी प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होगा। परिणाम यह होगा कि "दण्डिन्" यह पद कहा जायेगा, इसलिए उससे पर में रहने वाले अच् = आ को नुट् का आगम न होने लगे, एतदर्थ "पदे" इस पद की मण्डूकानुवृत्ति आवश्यक है। ऐसी स्थिति में वह भाष्य एकदेशी की उक्ति है, ऐसा समझना चाहिए, जिसमें "परमदण्डिना" इस प्रयोग में नुट् के अभाव के लिए कहा गया है कि "तेन निषेधेन सिद्धम्" अर्थात् तेन = "उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ" इस निषेध से ही "परमदण्डिनौ, परमदण्डिना" इत्यादि प्रयोगों में नुट् का अभाव सिद्ध है। यह इसलिए एकदेशी भाष्य है कि इस निषेध की प्रवृत्ति तो वहाँ होती है जहाँ उत्तरपद को पदत्वप्रयुक्त कोई कार्य करना हो। प्रस्तुत स्थल "परमदण्डिना" में उत्तरपद दण्डिन् को पदत्वप्रयुक्त कोई कार्य नहीं करना है। इसलिए यहाँ प्रत्ययलक्षण का निषेध न होने के कारण ङमुट् का अभाव सिद्ध नहीं है। इसलिए यह भाष्य एकदेशी है। "परमदण्डिना" प्रयोग में ङमुट् के वारण का एक ही उपाय है कि 'पदे' की अनुवृत्ति करके अजादि पद को ङमुट् का विधान किया जाय।

ङमुट्-विधान के नित्य होने के कारण "इको यणचि" इस सूत्र में भी ङमुट् होना चाहिए। इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "इको यणचि" यह सौत्र-निर्देश है। अतः सौत्रत्वात् "यणचि" इस अंश में ङमुट् (णुट्) नहीं होता है।

रुप्रकरणे इति। अत एव 'समः सुटी'त्यादौ प्रश्लेषेण सविधानमिति भाष्ये उक्तम्। 'रोः पूर्वस्ये'त्युपलक्षणं रुप्रकरणविधेयस्य। एवमुत्तरत्र रोः पूर्वस्मादित्यपि।

अयमधिकारः। तेनोत्तरसूत्रविषये एवास्य प्रवृत्तिर्न तु 'मतुवसोरि'त्यत्र, तत्सूत्रस्थवार्त्तिकयोश्च। अत्रेति तु—रुप्रकरण एवास्य सम्बन्धो, न त्वग्रे—'ढो ढे लोपः' इत्यादावित्यर्थसूचनार्थं—स्पष्टार्थमेव। तुशब्दः परस्य नित्यं रुत्वं पूर्वस्य वाऽनुनासिक इति विशेषद्योतनार्थः। 'पूर्वस्ये'त्यस्य च—रुस्थानिनः पूर्वस्येत्यर्थो बोद्ध्यः।

"मतुवसो रुः" इस सूत्र के बाद "अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा" इस सूत्र का पाठ होने के कारण दीक्षितजी ने कौमुदी में 'अत्र' पद का अर्थ "रुप्रकरणे" किया है। नागेश भट्ट इस बात में प्रमाण देते हुए कह रहे हैं कि अत एव = अत्र पद से रुप्रकरण का ग्रहण होता है, न कि रु इस स्वरूप का, इस बात को स्वीकार करने से ही "सम्पुङ्कानाम्" इस वार्तिक के प्रत्याख्यान के लिए "समः सुटि" इस सूत्र में सकार का प्रश्लेष करके सम् के मकार का सकार विधान करना सार्थक होता है। अन्यथा यदि 'अत्र' पद से रु के स्वरूप का ग्रहण किया जाय तो सकार विधान पक्ष में रु के न होने के कारण सकार से पूर्व को अनुनासिक की सिद्धि नहीं हो सकेगी। ऐसी स्थिति में सकार का प्रश्लेष करके वार्तिक का प्रत्याख्यान करना असंगत हो जाता। जब यहाँ अत्र शब्द से रुत्व का प्रकरण लेते हैं तब इस प्रकरण में जो कुछ विधेय हो उससे पूर्व का अनुनासिक हो, ऐसा अर्थ करने से सकार से पूर्व को भी अनुनासिक हो जाता है।

सूत्र में आये हुए पद "पूर्वस्य" को देखकर यह जिज्ञासा होती है कि यह पूर्वत्व किस की अपेक्षा से लिया जाय? दीक्षितजी ने कौमुदी में कहा है कि "रोः पूर्वस्य" अर्थात् रु से

पूर्व को अनुनासिक होता है। नागेश भट्ट इस कथन में कुछ संशोधन करते हुए कह रहे हैं कि "रोः पूर्वस्य" यह पद रुप्रकरण विधेय का उपलक्षण है। अर्थात् इस रुप्रकरण में जो कुछ विधेय होगा उससे पूर्व को अनुनासिक होता है। इसीलिए इस प्रकरण में मकार का सकार विधान करे अथवा मकार का लोप करे, सभी जगह उन विधेयों से पूर्व में अनुनासिक होता है।

इसी प्रकार आगे के सूत्र में "अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः" इस सूत्र की वृत्ति में आया हुआ "रोः पूर्वस्मात्" यह पद भी रुप्रकरणविधेयाव्यवहित "पूर्वस्मात्" का उपलक्षण है। इसलिए रुप्रकरण में विधेय सकारादेश या लोपादेश पक्ष में भी अनुस्वार का आगम होता है।

"अत्रानुनासिकः" सूत्र के विषय में यह सन्देह होता है कि यह अधिकार सूत्र है या विधि सूत्र है? कौमुदीकार ने इसे विधिसूत्र ही माना है। नागेश इस बात को असंगत बताते हुए कह रहे हैं कि यह अधिकारसूत्र है, विधिसूत्र नहीं है। इसलिए उत्तरसूत्र "समः सुटि" (८।३।५) इत्यादि के विषय में ही इसकी प्रवृत्ति होती है। इससे पूर्वसूत्र "मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि" (८।३।१) के विषय में तथा उस सूत्रस्थ दो वार्तिकों "वन उपसंख्यानम्", "विभाषा भवद्भगवदघवतामोच्चावस्य" के विषय में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। यहाँ कहा जा सकता है कि अधिकार पक्ष में अधिकार के कारण ही रुप्रकरण का लाभ हो जायेगा तो 'अत्र' ग्रहण सूत्र में अनावश्यक है। इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि रुप्रकरण में ही इस सूत्र का सम्बन्ध है, "ढो ढे लोपः" (८।३।१३) इत्यादि अग्रिम सूत्रों के विषय में इसका सम्बन्ध नहीं है, इस बात के सूचनार्थ अत्रग्रहण स्पष्टार्थ है।

अधिकार पक्ष में ही सूत्र में "तु" ग्रहण का सार्थक्य है। क्योंकि इसी पक्ष में 'तु' शब्द से यह विदित होता है कि पूर्व को तो अनुनासिक विकल्प होता है, किन्तु पर को रुत्व नित्य ही होता है। यहाँ "पूर्वस्य" इस पद का अर्थ है रु के स्थानी से पूर्व का अर्थात् रु के स्थानी से पूर्व को अनुनासिक विकल्प होता है तथा रु के स्थानी से पूर्व जो वर्ण उससे पर में रहने वाले वर्ण को नित्य ही रुत्व होता है।

यदि यहाँ विधि माना जाय तो सूत्र में 'तु' ग्रहण व्यर्थ ही है, क्योंकि इसके द्वारा तो केवल अनुनासिक मात्र का विधान करना है तो "तु" ग्रहण की क्या आवश्यकता है? अधिकार पक्ष में प्रत्येक सूत्र से सम्बन्ध करने मे गौरव अवश्य है किन्तु इस पक्ष में अधिकार से ही रुप्रकरण का लाभ होने के कारण "अत्र" ग्रहण न करने से लाघव है।

अनुनासिकात्पर इति। अत्र—'अनुनासिकादि'ति ल्यब्लोपे पञ्चमी, व्याख्यानात्। अयमागमोऽनवयव एव, अवयवत्वे मानाभावात्।

"अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः" इस सूत्र में "अनुनासिकात्" इस पद में जो पञ्चमी है वह पर शब्द के योग में दिग्योगलक्षणा पञ्चमी नहीं है, क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो यह निश्चित था कि अनुनासिक से पर में ही अनुस्वार होता। ऐसी स्थिति में लाघवात् "अत्रानुस्वारपरानुनासिकः पूर्वस्य तु वा" इस प्रकार का एक ही सूत्र बनाये होते, किन्तु ऐसा न करके "अनुनासिकात्परः" यह जो पृथक् योग किया है, इस पृथग्योगकरण रूप व्याख्यान से समझा जाता है कि "अनुनासिकात्" इस पद में पञ्चमी न होकर ल्यब्लोपे पञ्चमी है। यहाँ

ल्यबन्त पद अभावार्थक है। इसीलिए "अनुनासिकात्" पद का अर्थ "अनुनासिकं विहाय" किया गया है।

यह अनुस्वार का आगम अवयव नहीं होता है, क्योंकि इसे अवयव मानने में कोई प्रमाण नहीं है। यदि इसका अवयवत्व इष्ट होता तो पूर्वसूत्र से "पूर्वस्य" इस पद की अनुवृत्ति करके "पूर्व का अवयव अनुनासिक से पर में होता है" ऐसा व्याख्यान किये होते, न कि पञ्चमी के आधार पर व्याख्यान करते। इससे स्पष्ट है कि यह अनुस्वार कुक्-टुक् की भाँति अवयव नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि यदि अनुस्वार अवयव होगा तो उसे द्वित्व नहीं हो सकेगा, क्योंकि यदागम न्याय से अनुस्वारविशिष्ट ही अच् कहा जायेगा। ऐसी स्थिति में अनुस्वार रूप यर् जिसे द्वित्व किया जाता है, वह अच् से पर में मिलेगा ही नहीं तो उसे द्वित्व कैसे होगा? यहाँ कहा जा सकता है कि यह अनुस्वार जब कुक्-टुक् की भाँति अवयव नहीं होता तो इसमें आगमत्व का व्यवहार कैसे किया जाता है? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि जिस प्रकार कुक्-टुक् आदि आगम किसी का विनाश न करते हुए विधीयमान होते हैं, उसी प्रकार अनुस्वार भी बिना किसी का विनाश किये विधेय होता है, इसलिए इसे भी आगम कहा गया है।

खरीति। विसर्गाक्षिप्तस्याप्यवसानस्य न सम्बन्धो, व्याख्यानात्।

"विसर्जनीयस्य सः" इस सूत्र में "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" इस सूत्रस्थ "खरि" इस एक-देश में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा कर के केवल "खरि" इतने मात्र की अनुवृत्ति की जाती है। यद्यपि खर् पर में रहने पर तथा अवसान में—इन दोनों जगहों पर पदान्तरेफ को विसर्ग होता है, इसलिए विसर्ग से अवसान का भी आक्षेप होता है, किन्तु उसका सम्बन्ध "विसर्जनीयस्य" इस सूत्र में नहीं होता है। उसका सम्बन्ध न करने का कारण "प्रत्ययः" आदि निर्देशमूलक व्याख्यान ही है। यदि अवसान में भी विसर्ग को सकार होने लगे तो "प्रत्ययः" यह निर्देश कैसे बनेगा?

सो वक्तव्य इति। 'समः सुटी'त्यादिसूत्रत्रये 'स' इत्युपसङ्ख्याय—'समः सुटी'त्यत्र सकारं प्रश्लिष्य वा—एतैः सकार एव विधेय इत्यर्थः। एवञ्चास्यासिद्धत्वाद्रुत्वाभावेन विसर्गाभावे तत्तद्विधीनामप्राप्तिरेवेति भावः। स्पष्टञ्चेदं भाष्ये। विसर्गस्यानेन सत्वविधाने तु गौरवं स्फुटम्।

"संस्कर्ता" प्रयोग में रुत्वादिप्रक्रिया के बाद "संः+स्कर्ता" इस स्थिति में "विसर्जनीयस्य सः" इस सूत्र से प्राप्त सकार को बाध कर "वा शरि" सूत्र से वैकल्पिक विसर्ग प्राप्त रहता है। इस वैकल्पिक विसर्ग को बाध कर नित्य सकार करने के लिए वार्तिक है—"सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः" इस वार्तिक से यहाँ विसर्ग के स्थान पर नित्य ही सकार का विधान किया जाता है।

नागेश भट्ट का कहना है कि इस प्रक्रिया में गौरव है—मकार को रुत्व का विधान करना, उसे विसर्ग करना और उसे सकार करना। इस गौरवग्रस्त प्रक्रिया की अपेक्षा तो लाघव यह है कि "समः सुटिः", "पुमः खय्यम्परे" तथा "कानाम्रेडिते" इन तीनों सूत्रों में सकार का उपसंख्यान = कथन करके तीनों सूत्रों से मकार और नकार के स्थान पर सकार का ही विधान

कर देना चाहिए। इस प्रक्रिया में लाघव है। अथवा इसकी अपेक्षा यह और लाघव है कि "समः सुटिः" सूत्र में सकार का प्रश्लेष करके "समः स्सुटि" ऐसा न्यास करके उस प्रश्लिष्ट सकार की अनुवृत्ति "पुमः खय्यम्परे" सूत्र में कर ली जाय तथा "कानाम्रेडिते" सूत्र में उसकी मण्डूकानुवृत्ति कर ली जाय। इस प्रकार तीनों सूत्रों द्वारा रुत्व का विधान न करके सकार का विधान करना चाहिए।

यदि कहा जाय कि उक्त तीनों जगहों पर सकार-विधान के पश्चात् उन सकारों का "ससजुषो रुः" (८।२।६६) से रुत्व और विसर्ग करने के बाद सत्व आदि विधियों की प्राप्ति पहले ही की भाँति है तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि रुत्व-विधि पूर्वत्रैपादिक है; इसलिए इस पूर्वत्रैपादिक रुत्वविधि के प्रति परत्रैपादिक अस्य = सकार-विधि के असिद्ध हो जाने के कारण उसे रुत्व नहीं होगा। रुत्व के अभाव में विसर्ग नहीं होगा और उसके अभाव में सत्व आदि विधियों की प्राप्ति ही नहीं होती है। यह बात "समः सुटि" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। अनेन = "सम्पुङ्कानाम्" इस वार्तिक से सत्व-विधान करने में गौरव स्पष्ट ही है।

लोपस्यापीति। यत्तु—

'उपधारञ्जनं कुर्यान्नमो रुकरणे सति।
लोपे प्रकृतिभावे वा नोपधारञ्जनं मतम्॥'

उपधारञ्जनम् = अनुनासिकानुस्वारागमरूपम्। नमोः = नकार-मकारयोः। प्रकृतिभावोदाहरणं—नॄन्पाहि—इति। यत्तु प्रातिशाख्यत्वात्तच्छाखामात्रविषयमिति भावः। अत एव भाष्ये—'समादिषु सत्वं वक्तव्यमि'त्युक्तम्। रुत्वपक्षे चानुनासिकाद्यापत्तिर्दोषत्वेन नोक्ता। ननु लोपपक्षे एव द्वित्वेन द्विसकारस्य सिद्धत्वात् 'समः सुटी'ति व्यर्थमित्यत आह—त्रिसकारकमपीति। 'स्कोरि'ति लोपस्तु न, अस्यासिद्धत्वात्।'पुनर्द्वित्वेन त्रिसकारस्य सिद्धिरि'ति तु न युक्तं, 'लक्ष्ये लक्षणस्ये'ति न्यायात्। एतेन—'समः सुटी'त्यत्र 'वे'ति पाठेनैव पक्षे मोऽनुस्वारेण सिद्धे 'अनुनासिकात्पर' इति व्यर्थम्—इत्यपास्तम्।

ननु व्यञ्जनात्परस्यैकस्यानेकस्य वोच्चारणे विशेषाभावोऽत आह—अनुनासिकवतामिति तत्रोच्चारणे विशेषाभावकल्पने इदं वचनं व्यर्थमेव स्यादिति भावः।

हयवरट्सूत्रभाष्योक्ते शर्षूपसङ्ख्याने फलमाह—अनुस्वारवतामिति। अपिना कस्य सङ्ग्रहः। लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तेराह—वचनान्तरेणेति। 'यणो मय' इत्यनेन। एकस्यैव शास्त्रस्य पुनः प्रवृत्तौ हि स न्याय इति भावः। पूर्वत्रासिद्धत्वेन पूर्वद्वित्वस्य पूर्वं प्रवृत्त्या तेन द्वितीयस्य साधुत्वे बोधिते तदनन्तरं परद्वित्वप्रवृत्त्या तयोर्मध्ये पुनरन्यस्य साधुत्वं बोध्यते इति—त्रितयस्य निर्वाहो बोध्यः। 'अनचि चे'त्यत्र 'यणो मय' इत्यस्योपसङ्ख्यानात् 'अचो रहाभ्यामि'त्यतस्तस्य परत्वं बोध्यम्।

"समः सुटि" इस सूत्र से सम् के मकार को रुत्व-विधान करने "संस्कर्ता" आदि प्रयोगों को बनाने के प्रसंग में "समो वा लोपमेके" इस भाष्यवचन को उद्धृत किया गया है। इसका

तात्पर्य यह है कि पाणिनि से भिन्न आचार्य सम् के मकार का वैकल्पिक लोप करते हैं। यह लोप भी रुप्रकरण के अन्तर्गत ही है, अतः इस पक्ष में भी अनुनासिक और अनुस्वार का आगम होता है।

नागेश भट्ट इस प्रसंग में प्रातिशाख्य का विरोध "यत्तु" इस पद के द्वारा प्रस्तुत करते हुए "उपधारञ्जनं कुर्यात्" इस कारिका को उद्धृत किये हैं। इस प्रातिशाख्य-कारिका में "उपधारञ्जनम्" का अर्थ अनुनासिक और अनुस्वार का आगम है। इसमें आया हुआ "नमोः" यह षष्ठी का द्विवचन नकार और मकार का वाचक है। "वा" यह पद चकारार्थक है। इस प्रकार इस कारिका का अर्थ है—"नकार और मकार का रुत्व आदेश करने पर अनुनासिक और अनुस्वार का आगम करना चाहिए"। जब लोप और प्रकृतिभाव किया जाय तब अनुनासिक और अनुस्वार का आगम नहीं होता है। यहाँ प्रकृतिभाव का अर्थ शास्त्र से विधेय तत्तत् कार्य के पूर्व की स्थिति है। "नॄन् पाहि" इस स्थल में यह प्रकृतिभाव द्रष्टव्य है। "नॄन् पे" सूत्र के वैकल्पिक होने के कारण उससे विधेय रुत्व से पूर्व की स्थिति यह है ही। यहाँ प्रातिशाख्य-विरोध इस प्रकार होता है कि कौमुदी में लोपपक्ष में भी अनुनासिक और अनुस्वार का आगम किया गया है, जब कि प्रातिशाख्य के अनुसार इस पक्ष में ये कार्य नहीं होने चाहिए। इस प्रकार यहाँ प्रातिशाख्य से विरोध हो रहा है।

नागेश भट्ट इस विरोध का परिहार करते हुए कह रहे हैं कि यह कारिका प्रातिशाख्य की है, इसलिए यह तन्मात्र = ऋक्प्रातिशाख्य मात्र विषयक है, इसलिए यहाँ उससे कोई विरोध नहीं है। अत एव = उपर्युक्त कारिका के ऋक्शाखा मात्र विषयक होने के कारण ही भाष्यकार ने "समादिषु सत्वं वक्तव्यम्" ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य है कि भाष्यकार ने मकारादि का रुत्व और सत्व दो पक्ष बतलाये। इन दोनों पक्षों में रुत्व पक्ष में अनुनासिक और अनुस्वार का आगम हो रहा है और उसके अभाव पक्ष में उपधारञ्जन नहीं हो रहा है। इस प्रकार फलभेद होने के कारण भाष्यकार को रुत्व पक्ष में होने वाले अनुनासिक और अनुस्वार का आगम दोष रूप में कहना चाहिए था। किन्तु भाष्यकार ने रुत्वपक्षीय अनुनासिकादि की आपत्ति को दोष रूप में नहीं कहा। इससे स्पष्ट होता है कि भाष्यकार उक्त कारिका को तच्छाखामात्र विश्य ही मानते हैं। इसलिए यहाँ प्रातिशाख्य से विरोध नहीं होता है।

दीक्षित के मतानुसार तो रुप्रकरण में विधेय से पूर्व अनुनासिक और अनुस्वार का आगम अभिप्रेत होने के कारण जिस प्रकार रुत्व का विधान करने पर उपधारञ्जन होता है, उसी प्रकार सत्व पक्ष में भी उपधारञ्जन अभीष्ट ही है। इसलिए रुत्व पक्ष में अनुनासिक की आपत्ति न बताना ठीक ही है, क्योंकि दोनों पक्ष समान ही हैं। इस प्रकार यहाँ फलभेद होता ही नहीं है।

कौमुदी में "संस्स्कर्ता" इस प्रकार सकारद्वयघटित रूप की सिद्धि "समः सुटि" सूत्र का प्रयोजन बतलाया गया है, किन्तु मकार के लोपपक्ष में ही सुट् के सकार को यदि "अनचि च" सूत्र से पाक्षिक द्वित्व कर दिया जाय तो द्विसकारक रूप की निष्पत्ति हो सकती है, तो ऐसी स्थिति में "समः सुटि" यह सूत्र व्यर्थ है? इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए कौमुदी में कहा गया है कि न केवल यहाँ द्विसकारक रूप होता है अपितु त्रिसकारक भी होता है। रुत्व

पक्ष में "अनचि च" सूत्र से द्वित्व करने पर त्रिसकारक भी रूप होता है। यदि कहा जाय कि "स्कोः संयोगाद्योः" सूत्र से सकार का लोप हो जाने के कारण त्रिसकारक रूप नहीं बनेगा तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि संयोगादिलोप के प्रति "समः सुटि" के रुत्व के असिद्ध हो जाने के कारण संयोगादि सकार मिलेगा ही नहीं, जिसका लोप किया जाय। यदि कहा जाय कि लोपपक्ष में ही "अनचि च" सूत्र से पुनर्द्वित्व करके सकारत्रयघटित रूप की सिद्धि हो सकती है तो रुत्वविधान की क्या आवश्यकता है? तो यह कहना भी इसलिए ठीक नहीं है कि ऐसी स्थिति में "समः सुटि" सूत्र व्यर्थ होकर "लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते" इस परिभाषा का ज्ञापन कर देता है। परिणामस्वरूप पुनर्द्वित्व के न हो सकने के कारण त्रिसकारक रूप की सिद्धि के लिए "समः सुटि" का सार्थक्य होता है।

एतेन = इसी प्रकार सकारत्रयघटित रूप सिद्ध न कर सकने के कारण वे लोग भी परास्त हो जाते हैं जो "समः सुटि" सूत्र में "वा" इस अव्यय का पाठ मान कर रुत्वाभाव पक्ष में मकार का "मोऽनुस्वारः" सूत्र से अनुस्वार करके "अनुनासिकात् परः" इस सूत्र को व्यर्थ बताते थे। कारण कि मकार का अनुस्वार कर देने मात्र से तो सकारत्रयघटित रूप की सिद्धि नहीं हो रही है। इस प्रकार उनका मत असंगत ही समझना चाहिए।

कौमुदी में अनुनासिक पक्ष के तीनों रूपों में "शरः खयः" इस वार्तिक से ककार को द्वित्व करके छः रूप बनाया गया है। इससे इस बात का निराकरण हो जाता है कि व्यञ्जन से पर में एक या अनेक व्यञ्जन के उच्चारण करने में कोई विशेषता नहीं होती है। इसी बात को सूचित करने के लिए कौमुदी में कहा है "अनुनासिकवताम्" इत्यादि। तात्पर्य यह है कि व्यञ्जन से पर में ककारद्वयघटित रूप के उच्चारण में यदि कोई विशेषता नहीं होती है तो "शरः खयः" यह वार्तिक ही व्यर्थ है। अतः व्यञ्जन से पर में एक या अनेक व्यञ्जन के उच्चारण में विशेषता अवश्य स्वीकार करनी चाहिए।

भाष्यकार ने "हयवरट्" सूत्र के भाष्य में शर् प्रत्याहार में अनुस्वार, विसर्ग आदि अयोगवाहों का पाठ माना है। कौमुदीकार ने इसका फल देते हुए अनुस्वारघटित तीनों रूपों में "अनचि च" सूत्र से अनुस्वार का भी द्वित्व किया है। इस बात को उन्होंने "अनुस्वारवताम्" इत्यादि शब्दों के द्वारा व्यक्त किया है। इस वाक्य में आये हुए अपि शब्द से ककार का भी संग्रह होता है। अर्थात् अनुस्वारघटित रूप में अनुस्वार का तथा "शरः खयः" इस वार्तिक से ककार का भी द्वित्व होता है। इस प्रकार अनुनासिक वाले छः रूप तथा अनुस्वार वाले बारह रूपों में अर्थात् सब मिलाकर अठारह रूपों में "अचो रहाभ्याम्" सूत्र से तकार का द्वित्व करके "लक्ष्ये लक्षण" न्याय से "अचो रहाभ्याम्" की पुनः प्रवृत्ति न होने पर भी वचनान्तर से अर्थात् "यणो मयो द्वे" इस वचन से तकार का पुनः द्वित्व करके एक, द्वि और त्रि तकारक भी रूप बनाया गया है। लक्ष्ये लक्षण न्याय की प्रवृत्ति वही होती है, जहाँ एक ही शास्त्र की दुबारा प्रवृत्ति करानी हो। यहाँ तो एक बार "अचो रहाभ्याम्" की तथा दूसरी बार "यणो मयः" की प्रवृत्ति कराई जाती है, अतः लक्ष्ये लक्षण न्याय की प्रवृत्ति यहाँ नही होती है।

अब तकार के द्वित्व के विषय में व्यवस्था को बतलाते हुए कह रहे हैं कि 'संस्कर्ता' इस स्थिति में "अचो रहाभ्याम्" (८।४।४६) से तकार को द्वित्व प्राप्त होता है तथा उसी समय

"अनचि च" (८।४।४७) सूत्रस्थ वार्तिक "यणो मयः" से भी तकार को द्वित्व प्राप्त रहता है। ऐसी स्थिति में "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र के द्वारा वार्तिक-विधेय द्वित्व परत्रिपादी होने के कारण असिद्ध हो जाता है, इसलिए पूर्वशास्त्र "अचो रहाभ्याम्" से विधेय द्वित्व पहले प्रवृत्त होता है और उस द्वित्व के द्वारा द्वितीयस्य = दूसरे तकार का साधुत्व बोधन किया जाता है। तात्पर्य यह है कि विधिसूत्र का कार्य न केवल द्वित्वादि कार्यमात्र करना है, अपितु उस कार्य के साधुत्वबोधन पर्यन्त उसका तात्पर्य रहता है। इस प्रकार पहले 'अचो रहाभ्यां द्वे' सूत्र से द्वित्व और उस द्वित्व-निष्पन्न द्वितीय तकार के साधुत्व बोधन के पश्चात् परद्वित्व "यणो मयः" की प्रवृत्ति होती है। इससे द्वित्व के पश्चात् तयोर्मध्ये = दूसरे और तीसरे तकारों के बीच अन्यस्य = तीसरे तकार के साधुत्व का बोधन किया जाता है। इस प्रकार तकारत्रयघटित रूप का निर्वाह होता है। "अचो रहाभ्याम्" और "यणो मयः" इन दोनों में पौर्वापर्य का प्रतिपादन करने के लिए कह रहे हैं कि "यणो मयः" का कथन "अनचि च" सूत्र में किये जाने के कारण "अचो रहाभ्याम्" इस सूत्र से यह वार्तिक पर होता है, ऐसा जानना चाहिए।

पुमः खय। 'अम्परे' इति बहुव्रीहिः। ≍क≍ पयोरिति। 'कुप्वोरि'ति सूत्रविधेययो- रित्यर्थः। 'इदुदुपधस्ये'ति सूत्रे 'अप्रत्ययस्येत्यस्य प्रत्ययावयवभिन्नस्येत्यर्थादिति भावः।

अव्युत्पत्तीति। तत्पक्षे प्रकृतिप्रत्ययविभागाभावादिति भावः। षत्वेति। इदमनुनासिकपक्षे। अनुस्वारपक्षे तु—'कुप्वोरि'त्यस्यैव प्राप्तिः। अनुस्वार-व्यवधानेनोदुपधत्वाभावात्। पुंक्षीरमिति। क्षरधातोरुपधाया ईत्वेऽच्प्रत्यये क्षीरमिति भावः।

इस सूत्र की प्रवृत्ति समासोत्तर संयोगान्त लोपादि करने के बाद ही होती है। उस समय "पुम्" यही अंश शेष रहता है, इसलिए उसके अनुकरण "पुम्" इस शब्द से षष्ठी विभक्ति लाकर "पुमः" यह रूप बनाया गया है।

इस सूत्रघटक "अम्परे" इस पद में "अम् परः यस्मात्" इस विग्रह में पञ्चम्यर्थ बहुव्रीहि समास हुआ है। पुंस् शब्द के सम्बन्ध में व्युत्पत्ति और अव्युत्पत्ति दो पक्ष अभिमत हैं। व्युत्पत्ति पक्ष में पा धातु या पूञ् धातु से औणादिक डुम्सुन् प्रत्यय करके "पुंस्" शब्द बनता है। "पुमान् कोकिल इव" इस विग्रह में समास और संयोगान्त लोप करने के बाद "पुम् + कोकिलः" इस स्थिति में मकार को रुत्व तथा अनुनासिक और अनुस्वार के बाद रकार को विसर्ग कर देने पर "पुंः कोकिलः" इस स्थिति में "विसर्जनीयस्य सः" सूत्र से प्राप्त सकार को बाध कर "कुप्वोः" सूत्र से विधेय जिह्वामूलीय और उपध्मानीय की प्राप्ति होती है। 'पुंस्कोकिलः' में जिह्वामूलीय की तथा "पुंस्पुत्रः" में उपध्मानीय की प्राप्ति होती है। इस व्युत्पत्तिपक्ष में "कुप्वोः" सूत्र से विधेय कार्य को बाध कर "इदुदुपधस्य" सूत्र से षत्व की प्राप्ति नहीं होती है। दीक्षितजी यहाँ कहते हैं कि "इदुदुपधस्य" सूत्रघटक "अप्रत्यय" इस पर्युदास के द्वारा प्रत्ययावयवभिन्न विसर्ग को ही षत्व का विधान किया जाता है। यहाँ का विसर्ग प्रत्ययावयव ही है, इसलिए अप्रत्यय इस पर्युदास के कारण षत्व की प्राप्ति नहीं होती है।

पुंस् शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है, इस प्रकार जब अव्युत्पत्ति पक्ष मानते हैं तब तो विसर्ग प्रत्ययावयवभिन्न है ही। इसलिए इस पक्ष में जिह्वामूलीय को बाध कर "इदुदुपधस्य" सूत्र से विसर्ग को षत्व की प्राप्ति रहती है। कारण कि इस पक्ष में प्रकृति-प्रत्यय के विभाग का अभाव होने के कारण विसर्ग में प्रत्ययावयवभिन्नत्व रहता ही है। यह षत्व की प्राप्ति अनुनासिक पक्ष में होती है अनुस्वार पक्ष में नहीं होती है। इसका कारण यह है कि अनुस्वार पक्ष में अनुस्वार का व्यवधान होने के कारण शब्द का उदुपधत्व ही नहीं हो पाता है। अतः अनुस्वार पक्ष में "कुप्वोः" सूत्र की प्राप्ति होती है। इस प्रकार व्युत्पत्तिपक्ष में जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय की प्राप्ति होने पर तथा अव्युत्पत्तिपक्ष में भी जब अनुनासिक पक्ष है तब "इदुदुपधस्य" सूत्र से षत्व की प्राप्ति और अनुस्वार पक्ष में "कुप्वोः" सूत्र की प्राप्ति होने पर प्राप्त इन सभी विधियों को बाध कर "सम्पुङ्कानाम्" इस वार्तिक से विसर्ग को सकार किया जाता है।

कौमुदी में "अम्परे" इस पद का व्यावर्त्य "पुंक्षीरम्" यह प्रयोग बताया गया है। यहाँ पुम् के मकार को रुत्व नहीं होता है, क्योंकि "क्षीरम्" इस पद में ककार से पर में जो षकार है वह अम् नहीं है।

यहाँ यह बात विचारणीय है कि "क्षीरम्" इस पद की निष्पत्ति कैसे होती है? एक प्रकार तो यह है कि घस् धातु से "घसेः किच्च" इस सूत्र से ईरन् तथा उसे किद्वद्भाव करके "गमहन" इस सूत्र से उपधा का लोप तथा चर्त्वेन घकार को ककार और सकार को मूर्धन्य षकार करके "क्षीर" शब्द बन सकता है, किन्तु ऐसा क्षीर शब्द यहाँ अभिप्रेत नहीं है; क्योंकि "पुमः खयि" सूत्र की दृष्टि में चर्त्व के असिद्ध हो जाने के कारण खय् पर में मिलेगा ही नहीं। इसलिए नागेश भट्ट "क्षीरम्" इस पद की सिद्धि बतलाते हुए कह रहे हैं कि क्षर धातु से अच् प्रत्यय और उपधा के अकार को ईकार करके क्षीर शब्द बना हुआ है। इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं होती है। कारण कि यहाँ "क्षर्" धातु ही मूल धातु है जहाँ असिद्धि का कोई प्रश्न ही नहीं होता। अकारपरक क्षकार अम्परक खय् है ही।

नश्छवि। 'अप्रशानि'ति षष्ठ्यर्थे प्रथमा।

"नश्छव्यप्रशान्" इस सूत्रघटक "अप्रशान्" इस पद के भीतर जो "प्रशान्" यह रूप है वह प्रपूर्वक शम् धातु से क्विप् प्रत्यय करके "अनुनासिकस्य क्विझलोः" सूत्र से उपधा को दीर्घ और "मो नो धातोः" सूत्र से मकार को नकार करने से बना हुआ है। उस प्रथमान्त के अनुकरण "प्रशान्" के साथ नञ् समास करने से "अप्रशान्" यह रूप बना हुआ है। इसीलिए वृत्ति में कहा गया कि "न तु प्रशान् शब्दस्य" अर्थात् प्रशान्शब्दावयव नकार को रुत्व नहीं होता है।

प्रस्तुत सूत्र का इस प्रकार अर्थ करने के लिए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि "अप्रशान्" में जो प्रथमा विभक्ति है वह षष्ठ्यर्थ में है। अथवा अनुकरण होने से "प्रशान्" यह शब्द बन गया तो इसे लुप्तषष्ठ्यन्त भी मान सकते हैं।

नॄन्पे। 'नॄनि'ति द्वितीयान्तानुकरणम्। षष्ठ्याः सौत्रो लुक्। नलोपस्तु सौत्रत्वान्न। एवं 'कानि'त्यत्रापि।

"नृन्" यह द्वितीया बहुवचनान्त का अनुकरण है। अनुकरण अनुकार्य से भिन्न होता है, इस पक्ष में इसकी प्रातिपदिक संज्ञा करके षष्ठी विभक्ति आई थी, जिसका सौत्रत्वात् लुक् हो गया है। विभक्तिलुक् के पश्चात् नलोप भी होना चाहिए, किन्तु वह भी सौत्रत्वात् नहीं हुआ है। यही बात "कानाम्रेडिते" सूत्र के "कान्" इस पद में भी समझनी चाहिए।

चाद्विसर्ग इति। 'शर्परे' इति सूत्रात्तदनुकर्षश्चेनेति भावः।

"कुप्वोः" सूत्र में किये गये चकारग्रहण से "शर्परे विसर्जनीयः" (८।३।३५) सूत्र से "विसर्जनीयः" इस पद का अनुकर्षण होता है। इसके अतिरिक्त "विसर्जनीयस्य सः" (८।३।३४) सूत्र से "विसर्जनीयस्य" इस पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार यह सूत्र क और ख रूप कवर्ग पर में रहने पर विसर्ग को जिह्वामूलीय करता है और विसर्ग भी करता है। प और फ रूप पवर्ग पर में रहने पर विसर्ग को उपध्मानीय और विसर्ग करता है। इस प्रकार आदेशद्वय का विधान चकार के द्वारा विसर्ग का अनुकर्षण करके किया जाता है।

येन नेति। 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधक' इति न्यायेनेत्यर्थः। 'येन ने'त्यादेर्यत्कर्तृकाऽवश्यप्राप्तावित्यर्थः, नञ्द्वयस्य प्रकृतार्थदार्ढ्य-बोधकत्वात्। 'प्राप्त' इति भावे क्तः। तदप्राप्तियोग्यविषयेऽचारितार्थ्यं हि बाधकत्वे बीजम्। तदुक्तं 'शर्पूर्वा' इति सूत्रे भाष्ये—"शर्पूर्वा इत्येतद्धलादिःशेषस्य बाधकम्। ननु विषयभेदे कथं बाधकत्वम्? इदं तावदयं प्रष्टव्यः—यदि तन्नोच्येत किमिह स्यात्? हलादिःशेषश्चेत् नाप्राप्ते तस्मिन्नारम्भादिदं तद्बाधकं भविष्यति" इति। 'अजादेर्द्वितीयस्ये'ति सूत्रे भाष्येऽपि स्फुटमेतत्।

"कुप्वोः" सूत्र की जहाँ-जहाँ प्राप्ति होती है वहाँ सभी जगह "विसर्जनीयस्य सः" सूत्र की प्राप्ति है। विसर्ग के आगे शर्परक खर् पर में रहने पर "शर्परे विसर्जनीयः" की प्राप्ति इसके लक्ष्य में क्वाचित्क ही है। इसलिए कौमुदीकार ने "येन नाप्राप्ते" न्याय से "कुप्वोः" सूत्र को "विसर्जनीयस्य सः" सूत्र का ही अपवाद बतलाया है, न कि "शर्परे विसर्जनीयः" का अपवाद। इसलिए 'कः करोति' जैसे प्रयोगों में "विसर्जनीयस्य" का बाधक यह सूत्र "वासः क्षौमम्" जैसे शर्परक खर् के स्थल में "विसर्जनीयः" को नहीं बाधता है, इसलिए इस प्रयोग में विसर्ग ही रहता है। नागेश भट्ट "येन नाप्राप्ते" न्याय का पूरा स्वरूप बतलाकर उसका अर्थ कर रहे हैं कि "येन नाप्राप्ते" इतने अंश का अर्थ है—'यत्कर्तृक अवश्य प्राप्ति रहने पर'। 'नाप्राप्ते' में दो नञ् हैं। एक तो स्पष्ट देखा जा रहा है और दूसरा "अप्राप्ते" इस समस्त पद में लुप्त होकर स्थित है। दो नञ् जहाँ रहते हैं वहाँ प्रकृत अर्थ के दार्ढ्य को बताते हैं। प्रकृत अर्थ की दृढ़ता यहाँ प्राप्त है, क्योंकि उसी के साथ नञ् सम्बद्ध है। प्राप्त शब्द में क्त प्रत्यय भाव में हुआ है। इसलिए प्राप्त का अर्थ प्राप्ति है। तदप्राप्तियोग्य विषय अर्थात् बाध्यशास्त्र के अप्राप्तियोग्य स्थल में बाधकशास्त्र की अचरितार्थता ही उसके बाधकत्व का बीज है। "विसर्जनीयस्य सः" की अप्राप्ति के स्थल में "कुप्वोः" सूत्र चरितार्थ नहीं है, इसलिए यह इसी का बाधक होता है, क्योंकि "कुप्वोः" के प्राप्तिस्थल में "विसर्जनीयस्य सः" की अवश्य प्राप्ति है। इसलिए अवश्य प्राप्त विधि का आरभ्यमाण विधि से बाध होता है।

इस प्रकार की बाधकता में प्रमाण देते हुए नागेश भट्ट ने "शर्पूर्वाः खयः" सूत्र के भाष्य को यहाँ उद्धृत किया है। भाष्यकार ने वहाँ कहा कि "शर्पूर्वाः खयः" यह सूत्र "हलादिः शेषः" का बाधक है। कारण यह है कि जहाँ-जहाँ "शपूर्वाः खयः" सूत्र की प्राप्ति है वहाँ सभी जगह "हलादिः शेषः" की प्राप्ति है। इसलिए अवश्यप्राप्त "हलादिः शेषः" का यह बाधक होता है। इसके बाद भाष्यकार ने कहा कि इन दोनों सूत्रों का विषय भिन्न है, क्योंकि "हलादिः शेषः" अभ्यास के आदि हल् का शेष करता है और "शर्पूवाः खयः" शर्पूर्वक खय् का शेष करता है। ऐसी स्थिति में जब विषयभेद है तब यहाँ बाध्य बाधकभाव कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार ने कहा कि यहाँ यह बात प्रष्टव्य (विचारणीय) है कि यदि तत् = "शर्पूर्वाः खयः" सूत्र नहीं बनाया गया होता तो क्या (दोष) होता? इस प्रश्न के उत्तर में यदि यह कहा जाय कि इसके अभाव में "हलादिः शेषः" सूत्र की प्रवृत्ति होने लगेगी तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि "हलादिः शेषः" की अवश्य प्राप्ति में "शर्पूर्वाः खयः" का आरम्भ हुआ है, अतः "शर्पूर्वाः खयः" "हलादिः शेषः" का बाधक होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जिसकी अवश्य प्राप्ति में जिस सूत्र का आरम्भ होता है, वह आरभ्यमाण विधि उस अवश्य प्राप्त विधि की बाधिका होती है। "अजादेर्द्वितीयस्य" सूत्र के भाष्य में भी यह बात स्पष्ट है।

न तु शर्पर इति। न चास्य विसर्गस्य ᳵक ᳶपौ दुर्वारौ, किञ्चास्यैव तौ स्यातां, 'खरवसानयोरि'ति विहितस्य तु एतयोरसिद्धत्वात्सत्वमेव स्यादिति वाच्यं, 'शर्परे' इति सूत्रं 'कुप्वोरि'त्यत्रानुवर्त्य शर्परयोः कुप्वोः ᳵक ᳶपयोरपवादो विसर्गस्य विसर्ग इति वाक्यभेदेन व्याख्यानेनादोषात्। स्पष्टञ्चेदं भाष्ये।

ऊपर बताया जा चुका है कि "येन नाप्राप्ति" न्याय से "कुप्वोः" यह सूत्र "विसर्जनीयस्य सः" सूत्र का अपवाद है। अर्थात् उसे बाध कर खर्निमित्तक विसर्ग को यह जिह्वामूलीय और उपध्मानीय करता है। किन्तु यह "शपरि विसर्जनीयः" सूत्र का अपवाद नहीं है, इसलिए "वासः क्षौमम्" इस प्रयोग में विसर्ग ही रहता है।

इस उपर्युक्त सन्दर्भ में शंका हो रही है कि जब यह सूत्र "शपरि विसर्जनीयः" का बाधक नहीं है तब "वासः क्षौमम्" आदि प्रयोगों में "अस्यापि विसर्गस्य"-"शपरि विसर्जनीयः" सूत्र से विहित विसर्ग का भी इसके द्वारा " क" " प" आदेश होना चाहिए। यदि कहा जाय कि "शर्परक खर्निमित्तक विसर्ग का भी यदि " क " प आदेश हो जाता है तो उसका विधान ही व्यर्थ है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि "कः त्सरुः" "कः त्सरिताः" आदि प्रयोगों में जहाँ कवर्ग और पवर्ग पर में नहीं है वहाँ शर् पर खर्निमित्तक विसर्ग का श्रवण होने से उसका विधान व्यर्थ नहीं है। इसलिए "वासः क्षौमम्" में विसर्ग को जिह्वामूलीय होना चाहिए।

यदि कहा जाय कि जिस विसर्जनीय पद की यहाँ अनुवृत्ति आती है, अर्थाधिकार के अनुरोध से वह विसर्ग खर् अवसान-निमित्तक ही विसर्ग है, इसलिए "शपरि विसर्जनीयः" से विहित विसर्ग का जिह्वामूलीय नहीं होगा, तो यह कहना भी अकिञ्चित्कर ही है। क्योंकि यहाँ अर्थाधिकार का आश्रयण न करके शब्दाधिकार का आश्रयण अभिप्रेत है। शब्दाधिकार पक्ष में विसर्गशब्दवाच्य विसर्ग मात्र का जिह्वामूलीय विधेय होगा। ऐसी स्थिति में अस्यैव = 'शपरि विसर्जनीयः" सूत्र से विधेय विसर्ग को ही जिह्वामूलीय और उपध्मानीय होंगे, न कि

"खरवसानयोः" सूत्र से विहित विसर्ग को होंगे। इसका कारण यह है कि इस सूत्र से विहित विसर्ग को जब ये दोनों जिह्वामूलीय और उपध्मानीय प्राप्त होंगे तो वे दोनों पूर्वत्रिपादी "विसर्जनीयस्य सः" की दृष्टि में असिद्ध हो जायेंगे। इसलिए वहाँ तो 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से सत्व ही होगा। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि "शर्परे विसर्जनीयः" सूत्र से विहित विसर्ग को ही जिह्वामूलीय और उपध्मानीय होना चाहिए।

नागेश भट्ट इस शंका का समाधान देते हुए कह रहे हैं कि "शर्परे" सूत्र की "कुप्वोः" सूत्र में अनुवृत्ति करके जहाँ शर्परक कवर्ग और पवर्ग पर में रहेगा वहाँ जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का अपवाद विसर्ग को विसर्ग ही विधेय होता है, ऐसा अर्थ वाक्यभेद के द्वारा किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि "वासः क्षौमम्" प्रयोग में जिह्वामूलीय की आपत्ति रूप दोष नहीं होता है। यह बात भाष्य में स्पष्ट है।

वार्तिके कान्ग्रहणं शक्यमकर्तुमित्याह—यद्वेति। एवं सम्ग्रहणमपि त्यक्तुं शक्यम्। पुम्ग्रहणं त्वावश्यकमेव। अनुनासिकपक्षे इणः परत्वेन षत्वापत्तेः। एष्विण इति। गणे कृतसत्वषत्वानामेव पाठादिति भावः। क पयोरपवाद इति। 'तद्विहितविसर्गस्यापी'त्यपि बोध्यम्। 'काँस्कानि'ति वीप्सायां द्वित्वम्।

कौमुदी में "कांस्कान्" इस प्रयोग में "सम्पुङ्कानाम्" इस वार्तिक से सत्व का विधान करके "यद्वा" शब्द से "कस्कादिषु च" सूत्र से सत्व का विधान किया है। इससे व्यक्त होता है कि उक्त वार्तिक में "कान्" ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार "संस्कर्ता" प्रयोग में भी "कस्कादिषु च" सूत्र से ही सत्व सिद्ध है, इसलिए वार्तिक में सम्ग्रहण की भी आवश्यकता नहीं है। किन्तु वार्तिक में पुम्ग्रहण तो आवश्यक ही है, अन्यथा अनुनासिक पक्ष में विसर्ग इण् से पर में मिलेगा और इसका परिणाम यह होगा कि "पुंस्कोकिलः" इस प्रयोग में अनुनासिक पक्ष में "इणः षः" सूत्र से विसर्ग का मूर्धन्य षकार होने लगेगा। अनुस्वार पक्ष में यह दोष नहीं है, क्योंकि अनुस्वार का पाठ अकार के साथ होने के कारण वहाँ विसर्ग इण् से पर में नहीं होता है। दीक्षितजी ने "कस्कादिषु च" सूत्र का अर्थ करते हुए कौमुदी में कहा है कि कस्कादिगणपठित शब्दों में जहाँ इण् के आगे विसर्ग रहेगा उसे मूर्धन्य षकार होता है और जहाँ इण् के आगे विसर्ग नही है, किन्तु इण् भिन्न से पर में है तो ऐसे विसर्ग को दन्त्य सकार होता है। इसका तात्पर्य यह है कि उक्त गण में कृतषत्व और कृतसत्व का ही पाठ है। इसी बात को यह सूत्र कह रहा है।

कौमुदी में कहा गया है कि "कस्कादिषु च" सूत्र क प का अपवाद है, किन्तु वह सूत्र तो विसर्ग का भी विधान करता है। इस प्रकार विसर्ग विधान पक्ष में जब सूत्र चरितार्थ है तब उसका अपवाद यह सूत्र कैसे हो सकेगा? नागेश भट्ट इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "कस्कादिषु च" यह सूत्र न केवल प क का ही अपवाद है अपितु उसके (कुप्वोः) द्वारा विहित विसर्ग का भी यह अपवाद है। "कांस्कान्" इस प्रयोग में "कान्" इस पद का वीप्सा अर्थ में "नित्यवीप्सयोः" सूत्र से द्वित्व हुआ है।

संहितायाम्। संहिता च–स्वारसिकार्धमात्राकालव्यवायेनोच्चारणम्। ततोऽधिकार्धमात्राकालेनोच्चारणे एतदधिकारोक्तकार्यव्यावृत्तये इदम्। तदधिककालव्यवाये तु न साधुत्वं, नापि बोध इष्यते इति–वृद्धा इति; तेषां शास्त्रविषयतैव नेति भावः।

"संहितायाम्" यह अधिकार सूत्र है। एक वर्ण के उच्चारण के बाद दूसरे वर्ण के उच्चारण करने में अर्धमात्रा काल का व्यवधान अनिवार्य है। इसलिए स्वारसिक अर्धमात्राकाल के व्यवधान से किया गया उच्चारण संहिता है। स्वाभाविक अर्धमात्रा काल से अधिक अर्धमात्रा काल के व्यवधान से उच्चारण करने पर वहाँ संहिताधिकार में विहित कार्य न होने लगे, इसलिए यह सूत्र (संहितायाम्) है। अर्धमात्रा काल से अधिक काल के व्यवधान से उच्चारण करने पर वहाँ साधुत्व नहीं रहता है और वहाँ पर बोध भी इष्ट नहीं है, ऐसा वृद्धों का कथन है। "तेषां" = उन वर्णों की शास्त्रविषयता ही नहीं होती जिनका उच्चारण अर्धमात्रा के व्यवधान से अधिक में किया जाता है।

छे च। 'छे' इत्यकार उच्चारणार्थः, तेनाच्छिन्नमित्यत्र तुक्। 'ह्रस्वस्य पिती'-त्यतो 'ह्रस्वस्ये'ति 'तुगि'ति च वर्त्तते। जश्त्वेनेति। स्वशब्दे उपपदे छ्यतेः के स्वच्छशब्दो निर्मले रूढः, एवं नञ्पूर्वाच्छादयतेर्डे अच्छशब्द इति पदान्तत्वं बोद्ध्यम्। स्पष्टञ्चेदममरटिप्पणे।

"छे च" सूत्रघटक "छे" इस पद में अकार उच्चारणार्थक है, प्रयोजनार्थक नहीं है। इसलिए "अच्छिन्नम्" इस प्रयोग में जहाँ छकार इकार-विशिष्ट है वहाँ भी तुक् होता है। यहाँ "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" (६।१।७१) सूत्र से "ह्रस्वस्य" और "तुक्" की अनुवृत्ति होती है।

"स्वच्छाया" प्रयोग की सिद्धि के अवसर पर कौमुदी में कहा है—"स्वत् + छाया" इस स्थिति में चुत्व और जश्त्व दोनों की प्राप्ति होने पर जश्त्व के प्रति चुत्व असिद्ध हो जाता है, इसलिए पहले जश्त्वेन तकार का दकार होता है। इसके बाद चर्त्व और चुत्व के मध्य चर्त्व के असिद्ध होने के कारण चुत्वेन दकार का जकार होता है। इसके बाद चर् के द्वारा जकार का चकार होता है। यहाँ "चोः कुः" सूत्र से चकार का कुत्व नहीं होता, क्योंकि कुत्व के प्रति चुत्व असिद्ध हो जाता है। इस प्रकार "स्वच्छाया" रूप की सिद्धि होती है।

यहाँ शंका होती है कि "स्वच्छ" शब्द निर्मल अर्थ में रूढ़ है। ऐसी स्थिति में अपदान्त होने के कारण यहाँ "झलां जशोऽन्ते" सूत्र से जश्त्व कैसे होता है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि स्वशब्दपूर्वक छो धातु से क प्रत्यय करने से बना हुआ "स्वच्छ" शब्द निर्मल अर्थ में रूढ़ है। इसी प्रकार नञ्पूर्वक छादि धातु से ड प्रत्यय करने से अच्छ शब्द निष्पन्न होता है। इसके बाद सु के साथ समास करने से "स्वच्छ" शब्द बनता है। इसके बाद उपर्युक्त दोनों प्रकार से निष्पन्न स्वच्छ शब्द में "यदागम" न्याय से तकार पदान्त में होता है, इसलिए उसका जश्त्व निर्बाध है। यह बात अमरकोष के टिप्पण में स्पष्ट है।

आङ्माङोश्च। आङ्साहचर्यान्माङव्ययमेव।

माङ् दो प्रकार का मिलता है। एक तो "माङ्" अव्यय है और "माङ् माने" धातु का माङ् है। इस सूत्र में किस माङ् का ग्रहण किया जाय? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि आङ् के साहचर्य से माङ् भी अव्यय ही लिया जाता है। इसका फल यह होता है कि माङ्धातु से क्विप् प्रत्यय करके निष्पन्न मा शब्द का छेद के साथ समास करने पर "माछेदः" इस स्थिति में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है, किन्तु "पदान्ताद् वा" सूत्र से यहाँ वैकल्पिक तुक् ही होता है।

दीर्घस्यायमिति। वक्ष्यमाणज्ञापकाद्व्याख्यानाद्वा 'दीर्घादि'ति षष्ठ्यर्थे पञ्चमीति भावः। एओङ्सूत्रभाष्ये ध्वनितमेतत्।

कौमुदी में कहा गया है कि "दीर्घात्" सूत्र से विहित तुक् दीर्घ को होता है, छकार को नहीं होता है। तुक् आगम का आगमी दीर्घ है, छकार नहीं। शेखरकार इस बात को पुष्ट करते हुए कह रहे हैं कि वक्ष्यमाणज्ञापक = "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" यह पाणिनि का निर्देश ही इस बात का ज्ञापक है कि यह तुक् दीर्घ को ही होता है। अन्यथा यदि छकार को तुक् होता तो कित्त्वात् छकार का अन्तावयव होता। इसका परिणाम यह होता कि "सुराच्छाया" ऐसा निर्देश नहीं बन पाता। यदि कहा जाय कि "दीर्घात्" सूत्र अपदान्त में तुक् करता है। पदान्त में तो 'पदान्ताद् वा' सूत्र से तुक् होता है, इसलिए "सेनासुराच्छाया" यह निर्देश दीर्घ को तुक् होता है, इस अर्थ में ज्ञापक नहीं हो सकता है, क्योंकि यहाँ तो "पदान्ताद् वा" सूत्र से ही तुक् सिद्ध है। इसलिए यह तुक् दीर्घ का हो, किन्तु "दीर्घात्" का तुक् दीर्घ को होता है, इसमें क्या प्रमाण है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "व्याख्यानाद् वा" अर्थात् दीर्घ को ही तुक् होता है—इस बात में व्याख्यान ही प्रमाण है। यह व्याख्यान "एओङ्" सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। वहाँ यह विचार हुआ कि "वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते" इस पक्ष में "आलूय" इस प्रयोग में दीर्घ ऊकार का अवयव ह्रस्व उकार यदि ह्रस्वग्रहण से गृहीत होता है तब यहाँ "ह्रस्वस्य पिति कृति" सूत्र से तुक् होना चाहिए? ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि "दीर्घे ह्रस्वाश्रयविधिर्न भवति" अर्थात् दीर्घ में ह्रस्वाश्रय कार्य नहीं होता है, क्योंकि ऐसा करने पर तो "दीर्घात्" सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि ऐसी स्थिति में तो "छे च" सूत्र से ही दीर्घ के भीतर ह्रस्वाश्रय तुक् हो सकता है। यदि दीर्घ को न होकर छकार को तुक् होता तो भाष्यकार का उक्त कथन असंगत हो जाता, क्योंकि भाष्यकार ने दीर्घाश्रय कार्य की सिद्धि ह्रस्व के आधार पर करके "दीर्घात्" सूत्र के वैयर्थ्य की आशंका व्यक्त की है। यह बात तभी सम्भव है जब कि तुक् छकार को न होकर दीर्घ को होता हो।

इस प्रकार इस भाष्यकारीय व्याख्यान से दीर्घ को तुक् होना सिद्ध होता है, इसलिए "दीर्घात्" सूत्र की जो पञ्चमी है वह षष्ठी के अर्थ में है, ऐसा मानना चाहिए।

चेच्छिद्यते इति। तुको हलादिःशेषस्तु न। अभ्याससञ्ज्ञाप्रवृत्तिकाले स्थानिद्वारा साक्षाद्वा सन्निहितानां हलामेव तेन निवृत्तेः। अत एव 'नुगतो' इत्यादि चरितार्थम्।

"दीर्घात्" सूत्र का उदाहरण कौमुदी में "चेच्छिद्यते" यह प्रयोग दिया गया है। छिद् धातु से यङ् प्रत्यय, द्वित्व, हलादिशेष, अभ्यास को गुण करके "चेच्छिद्य" धातु से लट्, प्रथमपुरुष के एकवचन में यह रूप बनता है। "दीर्घात्" सूत्र से दीर्घ एकार को तुक् करने के बाद तुक् के तकार का पुनः हलादिशेष क्यों नहीं होता है? इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि तुक् का हलादिशेष नहीं होता है। कारण यह है कि अभ्यास संज्ञा की प्रवृत्ति के समय जो हल् स्थानी के द्वारा अभ्यासावयव हो या साक्षात् अभ्यासावयव हो, उन्हीं की निवृत्ति होती है— हलादि शेष के द्वारा। स्थानी के द्वारा का उदाहरण 'जहार' इस प्रयोग में "उरत्" सूत्र से ऋकार के स्थान पर जायमान अर् का अवयव रकार स्थानी ऋकार के द्वारा अभ्यासावयव हल् है। "पपाच्" प्रयोग में चकार साक्षात् अभ्यासावयव हल् है। ये अभ्याससंज्ञा प्रवृत्तिकाल में ही अभ्यास के सन्निहित हल् हैं। ऐसे हलों की निवृत्ति हलादिशेष के द्वारा होती है। 'दीर्घात्' सूत्र से विधेय तुक् अभ्यास संज्ञा की प्रवृत्ति के समय था ही नहीं। इसलिए हलादिशेष के द्वारा इसकी निवृत्ति नहीं होती है। अत एव = अभ्यास संज्ञा की प्रवृत्ति के समय सन्निहित हलों की ही हलादि शेष के द्वारा निवृत्ति होती है, ऐसा स्वीकार करने से ही "नुगतोऽनुनासिकस्य" सूत्र से अभ्यास को विहित नुक् का आगम सार्थक होता है। अन्यथा "जङ्गम्यते" आदि प्रयोगों में यदि हलादिशेष की पुनः प्रवृत्ति हो जाती है और नुक् की निवृत्ति हो जाती है तो नुगागम का विधान ही व्यर्थ हो जायेगा।

दीर्घात्पदान्तादिति। पदान्तस्य दीर्घस्येत्यर्थः। योगविभागोऽनयोरेओङ् इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टः। 'दीर्घान्तस्य पदस्ये'त्यर्थेन सिद्धेऽन्तग्रहणं पदान्तविधित्वमस्य, न पदविधित्वमिति बोधनद्वारा समर्थपरिभाषानुपस्थित्यर्थम्। तेनासामर्थ्येऽप्यस्य प्रवृत्तिरिति समर्थसूत्रे कैयटः।

॥ इति हल्सन्धिः ॥

कौमुदीकार ने "पदान्ताद् वा" सूत्र की वृत्ति में "दीर्घात् पदान्तात्" ऐसा वाक्य कहा है। जैसा कि "दीर्घात्" सूत्र की व्याखा में कहा जा चुका है कि "सुराच्छाया" इस निर्देशमूलक ज्ञापक तथा भाष्यकारीय व्याख्यान के आधार पर "दीर्घात्" इस पद में पञ्चमी षष्ठी विभक्ति के अर्थ में है, इसलिए वह तुक् दीर्घ को होता है, उसी प्रकार यहाँ भी "दीर्घात् पदान्तात्" की पञ्चमी विभक्ति षष्ठी के अर्थ में है। कारण यह है कि 'दीर्घात्' की अनुवृत्ति यहाँ होती है। अर्थाधिकार के अनुरोध से जैसे वहाँ षष्ठ्यर्थ में पञ्चमी है वैसे ही यहाँ भी षष्ठ्यर्थ में पञ्चमी माननी चाहिए। इसलिए "दीर्घात् पदान्तात्" का अर्थ "पदान्तस्य दीर्घस्य" है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए यह तुक् पदान्त दीर्घ को होता है।

यहाँ यह शंका होती है कि "दीर्घात्पदान्ताद् वा" ऐसा एक ही योग करना आवश्यक था तो दो योग क्यों किया गया है? शेखरकार इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "अनयोः" = "दीर्घात्" और "पदान्ताद् वा" इन दोनों सूत्रों का योगविभाग "एओङ्" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। भाष्यकार ने वहाँ पर "दीर्घात्" की पंचमी को षष्ठ्यर्थ में प्रतिपादन के अवसर पर कहा

कि "पदान्ताद् वा" यह सूत्र विकल्प से तुग्-विधान के लिए है। इसीलिए योगविभाग किया गया है, अन्यथा "दीर्घात् पदान्ताद् वा" ऐसा एक ही योग किये होते। इस भाष्य से योगविभाग की सम्पुष्टि होती है।

अब यहाँ यह विचार प्रस्तुत है कि "पदान्तात्" की जगह यदि "पदात्" यही न्यास किया गया होता तो 'दीर्घात्' यह पद उसका विशेषण होता और तदन्तविधि के द्वारा 'दीर्घान्त पद को तुक् विकल्प से हो' इस अर्थ का लाभ हो जाता और सारे अभीष्ट प्रयोगों की सिद्धि हो जाती। ऐसी स्थिति में सूत्र में अन्तग्रहण का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नागेशभट्ट का कहना है कि यदि अन्तग्रहण नहीं किया गया होता तो "पदात्" ऐसा सूत्र करने पर यह तुक्विधि पदोद्देश्यक विधि अर्थात् पदविधि कही जाती। पदविधि होने का परिणाम यह होता कि यहाँ "समर्थः पदविधिः" सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती। ऐसी स्थिति में जहाँ सामर्थ्य होता वहीं पर तुक् होता। असामर्थ्य में 'तिष्ठतु देवी च्छत्रं नय चैत्र?' इस प्रयोग में तुक् नहीं होता। इसलिए सूत्र में अन्तग्रहण आवश्यक है। उससे यह विदित होता है कि यह तुक्विधि पदान्तविधि है न कि पदविधि। जब यह पदविधि नहीं होती है तब "समर्थः पदविधिः" इस परिभाषा की यहाँ उपस्थिति नहीं होती है। इसलिए असामर्थ्य में, जैसा कि ऊपर उदाहरण दिया गया है, ऐसे स्थलों में भी इस तुक् की प्रवृत्ति हो जाती है। यह बात समर्थसूत्र के कैयट में कही गई है।

विश्वनाथ मिश्र कृत लघुशब्देन्दुशेखर में हल्सन्धि-प्रकरण की
'सुबोधिनी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

अथ विसर्गसन्धिप्रकरणम्

विसर्जनीयस्य सः। प्रख्यातमपि विसर्जनीयपदानुवृत्तिप्रदर्शनाय स्मारितम्। 'र्शपरे' इति बहुव्रीहिः। विशेष्यश्चावध्यवधिमतोः साजात्याद्विसर्जनीयाक्षिप्तः खरेव। विसर्गस्य विसर्गविधौ फलमाह—न त्वन्यदिति। अन्यदेव विवृणोति—इहेति। त्रैरूप्यमिति। विकल्पद्वयसामर्थ्यादिति भावः।

"संस्कर्ता" प्रयोग की सिद्धि के अवसर पर हल्सन्धि में इस सूत्र की व्याख्या की जा चुकी है, इसलिए यहाँ इसका पुनः उपन्यास करना उचित नहीं है, तथापि "शर्परि विसर्जनीयः" इस सूत्र में "विसर्जनीयस्य" इस पद की अनुवृत्ति होती है, इस बात को दिखाने के लिए यहाँ इस सूत्र का स्मरण करा दिया गया है। "शर्परि" इस पद में 'शर् परो यस्मात्' इस विग्रह में पञ्चम्यर्थ बहुव्रीहि समास है। यहाँ पर विशेष्यीभूत अन्यपदार्थ खर् ही है। कारण यह है कि अवधि और अवधिमान् में साजात्य होने के कारण जब अवधि रूप में शर् का उपाख्यान है तब अवधिमान् के रूप में खर् प्रत्याहार का ही आपेक्ष होता है, क्योंकि विसर्ग के निमित्त के रूप में खर् की प्रधान भूमिका रहती है। इस प्रकार विसर्जनीय से आक्षिप्त खर् ही यहाँ अन्य पदार्थ के रूप में विशेष्य अवधिमान् बनता है।

"शर्परि विसर्जनीयः" सूत्र से विसर्ग को विसर्ग ही किया जाता है। विसर्ग को विसर्ग करने का फल कौमुदी में कहा है—**न त्वन्यदिति**। विसर्ग को दूसरा कुछ नहीं होता है। फलस्वरूप "कः त्सरुः" प्रयोग में विसर्ग को सकार नहीं हुआ तथा "घनाघनः क्षोभणः" इस प्रयोग में विसर्ग का जिह्वामूलीय नहीं हुआ। कौमुदी में अन्यत् की व्याख्या "इह" शब्द से करते हुए यही बात कही गई है।

"रामः स्थाता" इस स्थिति में कौमुदी में तीन रूप बताये गये हैं। तीन रूप का कारण यहाँ दो विकल्पों का होना है। पहला विकल्प तो "खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः" है। इससे विसर्ग का लोप होने से "रामस्थाता" यह रूप बनता है। दूसरा विकल्प "वा शरि" है। इसके द्वारा विसर्ग का विसर्ग ही रूप रख दिया जाता है, जिससे "रामः स्थाता" रूप बनता है। इसके अभाव में "विसर्जनीयस्य सः" सूत्र से विसर्ग का सकार कर दिया जाता है, जिससे "रामस्स्थाता" रूप बनता है। इस प्रकार "त्रैरूप्यम्" की स्थिति होती है।

सोप। अपदाद्योरिति। सूत्रे सौत्रत्वादेकवचनम्।

"सोऽपदादौ" सूत्र में "कुप्वोः" की और "विसर्जनीयस्य" इस पद की अनुवृत्ति होती है। "अपदादौ" यह पद "कुप्वोः" का विशेषण है, इसीलिए "कुप्वोः" की द्विवचनान्तता के अनुरोध

पर वृत्ति में कहा गया है—"अपदाद्योः कुप्वोः"। कहा जा सकता है कि जब इसे द्विवचनान्त का विशेषण बनना है तो "अपदादौ" इस रूप में एकवचनान्त में इसका प्रयोग क्यों किया गया है? शेखरकार इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि सूत्र में सौत्रत्वात् एकवचन का प्रयोग किया गया है।

अनव्ययस्येति। अत्राव्ययीभावातिरिक्ताव्ययस्यैव ग्रहणं, व्याख्यानात्। तेनोपपयस्काम्यतीत्यादौ सत्वसिद्धिरिति स्पष्टम्—'अव्ययीभावश्चे'त्यत्र भाष्ये। गीः काम्यतीति। 'वाः काम्यती'त्यस्याप्युपलक्षणमिदम्।

"सोऽपदादौ" सूत्र से विहित सत्व का "अनव्ययस्येति वाच्यम्" इस वार्तिक से निषेध किया गया है कि इस सूत्र से विहित सकार अव्ययावयव से भिन्न विसर्ग को हो, अव्यय के विसर्ग को न हो। अव्यय भी दो प्रकार का होता है। एक तो अव्ययप्रकरणपठित अव्यय और दूसरा "अव्ययीभावश्च" सूत्र से विहित अव्ययीभाव समास रूपी अव्यय। "अनव्ययस्य" इस वार्तिक द्वारा जो अव्यय के विसर्ग के सत्व का निषेध किया गया है वह अव्ययीभावातिरिक्त अव्यय के विसर्ग के सत्व का निषेध किया जाता है, न कि अव्ययसामान्य के विसर्ग का। इसमें क्या प्रमाण है? इस बात के उत्तर में कह रहे हैं कि "व्याख्यानात्" अर्थात् भाष्यकारीय व्याख्यान ही इसमें प्रमाण है। भाष्यकार ने अव्ययीभाव की अव्यय संज्ञा करने का फल बताया है—"लुङ्मुखस्वरोपचाराः" अर्थात् विभक्ति का लुक् होना, मुखस्वर होना और उपचार अर्थात् विसर्ग के स्थान पर सकार—ये ही अव्ययीभाव की अव्यय संज्ञा के फल हैं। यदि सत्व का निषेध भी अव्यय संज्ञा का फल माना जाय तो उपचार पद के द्वारा सत्व का होना फल कैसे बताया गया? इससे स्पष्ट होता है कि सत्व के निषेध में अव्ययीभावातिरिक्त अव्यय का ग्रहण होता है, अव्ययीभाव का ग्रहण नहीं होता है। इसलिए "पयसः समीपम् उपपयः, तत् इच्छति" = "उपपयः + काम्यति" इस स्थिति में अव्ययीभाव के विसर्ग का सकार होकर "उपपयस्काम्यति" यह रूप सिद्ध होता है। यह बात "अव्ययीभावश्च" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। काम्यच् प्रत्यय पर में रहने पर "काम्ये रोरेवेति वाच्यम्" इस वार्तिक के अनुसार रु सम्बन्धी विसर्ग का ही "सोऽपदादौ" सूत्र से सकार होता है। इसलिए "गीः काम्यति" प्रयोग में विसर्ग का सकार नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ रुसम्बन्धी विसर्ग नहीं है। यहाँ तो "गिर्" शब्द मूलतः रकारान्त है, इसलिए यहाँ रकार का विसर्ग है। इसी प्रकार "वाः काम्यति" प्रयोग में भी जहाँ बिना रु किये ही मूल वार् शब्द के रकार का विसर्ग हुआ है, यहाँ भी विसर्ग का सकार नहीं होता है।

इणः षः। 'इदुदुपधस्ये'त्यस्यासिद्धत्वात्सर्पिष्पाशमित्यादौ सत्वनिवृत्त्यर्थं, गीष्पाशं दोष्कल्पमित्याद्यर्थञ्चेदम्। अत्रानव्ययस्येत्यपदादाविति काम्ये इति च सम्बद्ध्यते। तेनौच्चैःकल्पं, दोः पश्य, गीः काम्यतीत्यादौ षत्वं न। अत एव—'अत्र प्रकरणे सर्वत्र सत्वमेव विधेयम्, इण उत्तरस्य विसर्गस्थानिकसस्यानेन षत्वमि'ति भाष्योक्तपक्षान्तरं सङ्गच्छते। 'विसर्जनीयस्थानिके'त्युक्त्या पुँस्पुत्र इत्यादौ न दोषः, तत्र हि मस्थानिकः सः। अत्र विसर्जनीयस्येत्यनुवृत्त्यैतदर्थलाभः। 'अनव्ययस्ये'त्यादि

त्वत्र पक्षेऽत्र न सम्बद्ध्यते, तेन द्विष्कृतं दुष्काम्यतीत्यादौ षत्वसिद्धिः। 'गीः काम्यती'त्यादौ सकाराभावादेव न दोषः। अपदादाविति च न सम्बद्ध्यते। तेन दुष्करोतीति षत्वसिद्धिः। परन्त्वयं पक्षोऽसङ्गतः, उत्तरसत्वस्यासिद्धत्वेन 'निष्कृतमि'-त्यादौ षत्वासिद्धेः। 'प्रकरणे प्रकरणमसिद्धं न योगे योग' इति पक्षस्तु नास्त्येव, ज्ञापकासम्भवादिति–'उपसर्गादसमासेऽपी'त्यत्र निरूपयिष्यामः। 'विसर्जनीयस्यैव षत्वमि'ति मूलोक्तपक्षे तु सकारषकारयोः स्वरितत्वेऽपि यथायोगं सम्बन्धो मण्डूकप्लुत्येत्यन्यत्र विस्तरः।

"इणः षः" यह सूत्र इण् से पर में रहने वाले विसर्ग को मूर्धन्य षकार करता है। प्रश्न होता है कि इण् से पर में जो विसर्ग होगा वह अवश्य ही इकारोपध या उकारोपध विसर्ग होगा। ऐसी स्थिति में "इदुदुपधस्य" सूत्र से ही वहाँ षत्व सिद्ध है तो इस सूत्र की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि "सर्पिष्पाशम्" इस प्रयोग में "इदुदुपधस्य" को बाधकर "सोऽपदादौ" सूत्र से सत्व प्राप्त रहता है, उसे बाधकर षत्व करने के लिए यह सूत्र है। यह सूत्र "सोऽपदादौ" को अपवादत्वात् बाध कर षत्व का विधान करता है। इसके अतिरिक्त "गीष्पाशम्" प्रयोग में तथा "दोष्पाशम्" इन प्रयोगों में एक जगह तो दीर्घ ईकार होने के कारण तथा दूसरे प्रयोग में ओकार होने के कारण 'इदुदुपधस्य' सूत्र की प्राप्ति न होने के कारण इन प्रयोगों में षत्व के लिए इस सूत्र की आवश्यकता है।

इस सूत्र में "अनव्ययस्य", "अपदादौ", "काम्ये रोरेवेति वाच्यम्"—इन सभी का सम्बन्ध होता है। इसका फल यह होता है कि "उच्चैः कल्पम्", "दोः पश्य", "गीः काम्यति" इन प्रयोगों में षत्व नहीं होता है।

अत एव = उक्त तीनों की यहाँ अनुवृत्ति होती है, इस बात को स्वीकार करने से ही भाष्योक्त पक्षान्तर की संगति होती है। पक्षान्तर का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—भाष्यकार ने इस षत्व-प्रकरण में दो पक्षों का उपन्यास किया है। पहला पक्ष तो इस प्रकार है कि इस विसर्ग-प्रकरण के कुछ सूत्र तो षत्व के विधायक है और कुछ सूत्र सत्व के विधायक हैं। जहाँ पर इण् से उत्तर (पर) में विसर्ग रहेगा वहाँ षत्व का विधान किया जाता है तथा उससे भिन्न जगह सत्व का विधान होता है। दूसरा पक्ष यह है कि सारे सूत्र विसर्ग के स्थान पर सकार का ही विधान करते हैं। उस विसर्गस्थानिक सकार का "इणः षः" सूत्र से षकार किया जाता है। अर्थात् षत्व का विधायक यही एकमात्र सूत्र है।

अब यहाँ यह विचारणीय है कि जिस पक्ष में सारे सूत्र सकार का ही विधान करते हैं और यह सूत्र इण् के आगे रहने वाले विसर्गस्थानिक सकार का मूर्धन्यादेश करता है, उस समय तो उन सूत्रों से विहित सकार "अनव्ययस्य" आदि तीनों विशेषणों से विशिष्ट ही होता है और उसी सकार को यह मूर्धन्य षकार करता है। इससे स्पष्ट है कि उस पक्ष का षकार 'अनव्ययस्य', 'अपददादि' और 'काम्ये रोरेव' इन विशेषणों से विशिष्ट अवश्य होता है। इस बात को दृष्टिगत कर इस पक्ष पर विचार किया जाता है कि कुछ सूत्र सत्व का विधान और कुछ सूत्र षत्व का विधान करते हैं और उसी क्रम में यह सूत्र केवल शुद्ध षत्व का विधान

करता है। उस समय भी यह उपर्युक्त तीन विशेषणों से विशिष्ट विसर्ग का ही षत्व करता है। अन्यथा यदि अविशेषेण यह विसर्ग मात्र का षत्व विधान करने लगे तो पूर्वपक्ष से इस पक्ष में पार्थक्य होने से फलभेद हो जायेगा। फलभेद होने पर पक्षान्तर का समर्थन असंगत हो जायेगा। इसलिए इस पक्ष में भी उपर्युक्त तीनों पदों का यहाँ सम्बन्ध होता है, ऐसा मानना चाहिए।

यह सूत्र विसर्गस्थानिक सकार का मूर्धन्य षकार करता है, ऐसा कहने का फल यह होता है कि "पुंस्पुत्रः" आदि प्रयोगों में षत्व नहीं होता है। क्योंकि वहाँ "समः सुटि" आदि तीनों सूत्रों से सकार का ही विधान किया जाता है, इसलिए यहाँ का सकार मकारस्थानिक है, विसर्गस्थानिक नहीं है। "इणः षः" सूत्र में "विसर्जनीयस्य" इस पद की अनुवृत्ति होती है, अतः उक्त अर्थ का लाभ होता है।

जिस पक्ष में सभी सूत्रों से विहित सकार का यह मूर्धन्य षकार करता है, उस भाष्योक्त पक्षान्तर में अत्र = "इणः षः" सूत्र में "अनव्ययस्य" इत्यादि तीनों का सम्बन्ध नहीं होता है। कारण यह है कि इस पक्ष में "इदुदुपधस्य" सूत्र से विहित सकार का भी षकार इसके द्वारा विधेय होता है। "इदुदुपधस्य" सूत्र तो "निष्षत्यूहम्", "दुष्कृतम्" इत्यादि प्रयोगों में अव्ययस्थ विसर्ग का पदादि में वर्तमान ककार के पर में रहने पर ही सत्व करता है। यदि इस पक्ष में 'अनव्ययस्य' इत्यादि पदों की अनुवृत्ति की जायेगी तो विरोध स्पष्ट ही होगा; इसलिए इस पक्ष में "अनव्ययस्य" इत्यादि का सम्बन्ध नहीं होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। इसीलिए "द्विष्कृतम्", "दुष्काम्यति" इत्यादि प्रयोगों में "इदुदुपधस्य" सूत्र से सत्व का विधान करने पर भी इस सूत्र से षत्व की सिद्धि होती है। ऐसा करने पर भी अर्थात् "काम्ये रोरेव" का सम्बन्ध न करने पर भी "गीः काम्यति" प्रयोग में षत्व की आपत्ति रूप दोष नहीं होता है, क्योंकि "सोऽपदादौ" सूत्र से काम्यच् प्रत्यय पर में रहने पर उसी विसर्ग को सत्व का विधान किया जाता है, जो रु के स्थान पर हुआ हो। "गीः काम्यति" में तो मूलतः "गिर्" रकारान्त शब्द के रकार का विसर्ग है, इसलिए इसे सत्व होता ही नहीं है, इसलिए यहाँ षत्व की आपत्ति रूप दोष नहीं होता है।

"अपदादौ" इस पद के सम्बन्ध न करने का फल यह होता है कि "दुष्करोति" इस प्रयोग में ककार के पदादि में वर्तमान रहने पर भी सकार का षत्व होता है।

इस प्रकार यद्यपि इस भाष्यकारीय पक्षान्तर में सर्वेष्ट सिद्धि होती है, तथापि यह पक्ष असंगत ही है। इसका कारण यह है कि "सोऽपदादौ" सूत्र के पूर्वत्रिपादी होने के कारण उससे विहित सकार का षत्व विधान करके चरितार्थ इस सूत्र के प्रति "निष्कृतम्" इस प्रयोग में उत्तरसूत्र = परत्रिपादी "इदुदुपधस्य" सूत्र से विहित सकार असिद्ध हो जायेगा तो यहाँ षत्व नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि प्रकरण के प्रति प्रकरण असिद्ध होता है न कि 'योगे योगम्' = सूत्र के प्रति सूत्र असिद्ध होता है। इसलिए "इदुदुपधस्य च" सूत्र के असिद्ध न होने के कारण उससे विहित सकार का भी षत्व हो जायेगा। इस प्रकार भाष्यकारीय पक्ष भी ठीक ही है, तो यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि "प्रकरणे प्रकरणमसिद्धम्" यह पक्ष है ही नहीं, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। "उपसर्गादसमासेऽपि" इस सूत्र की व्याख्या के अवसर पर

इसका निरूपण किया जायेगा।

"इणः षः" सूत्र से विसर्ग को ही षत्व होता है और सत्व भी विसर्ग को ही होता है। इस मूलोक्त पक्ष में सकार और षकार दोनों में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा है, इसलिए दोनों की अनुवृत्ति साथ ही प्राप्त होती है; तथापि जहाँ जिसके होने की स्थिति हो वहाँ मण्डूकप्लुति न्याय से उसकी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। यह बात अन्यत्र भाष्यादि में विस्तार से कही गई है।

नमस्पु। इत उत्तरमपदादाविति न सम्बद्ध्यते, व्याख्यानात्। साक्षात्प्रभृतित्वादिति। 'ऊर्यादित्वाद्गतित्वं, स्वरादिपठितस्य तु गतित्वाभावः। तेन साक्षात्प्रभृतिषु च्व्यर्थवचनेऽपि न क्षतिरि'त्यन्ये।

इस सूत्र से लेकर आगे के सूत्रों में "अपदादौ" का सम्बन्ध नहीं होता है। इसीलिए "नारायणं नमस्कृत्य" इस शिष्ट प्रयोग में विसर्ग का सकारादेश पदादि कवर्ग के पर में रहने पर भी हो गया है। "नमस्करोति" इस प्रयोग में सकार का रुत्व और विसर्ग करने के बाद इस सूत्र से सकार किया जाता है।

इस सूत्र से सकार करने के लिए गतिसंज्ञा की अपेक्षा को ध्यान में रख कर कह रहे हैं कि "साक्षात्प्रभृतीनि च" सूत्र से कृञ् धातु के योग में विकल्प से "नमस्" की गतिसंज्ञा होती है। गतिसंज्ञा के अभाव में सत्व नहीं होता, अतः "नमस्करोति" और "नमः करोति" ये रूप यहाँ बनते हैं। यह सूत्र "कुप्वोः" का अपवाद है, अतः यहाँ जिह्वामूलीय होने की बात ही नहीं है।

अब 'अन्ये' शब्द के द्वारा ग्रन्थकार अपना मत कह रहे हैं कि "साक्षात्प्रभृतीनि च" सूत्र से च्व्यर्थ में ही गतिसंज्ञा होती है। जो अनमस्करणीय है उसे जहाँ नमस्कार किया जाय यह वहीं पर हो सकती है। "नारायणं नमस्कृत्य" इस वाक्य में तो च्व्यर्थ है ही नहीं तो यहाँ गतिसंज्ञा कैसे होगी? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "नमस्" का पाठ ऊर्यादि गण में मानकर "ऊर्यादिच्विडाचश्च" सूत्र से यहाँ गतिसंज्ञा हुई है। स्वरादिपठित "नमस्" शब्द की गतिसंज्ञा नहीं होती है। ऊर्यादिगणपठित की जो गतिसंज्ञा होती है वह नित्य ही होती है। ऐसी स्थिति में कौमुदी के मूल में जो यह कहा गया है कि "गतित्वाभावे" = गति संज्ञा के अभाव में "नमः करोति" ऐसा रूप बनता है तो इस बात की संगति कैसे बैठेगी जब कि ऊर्यादित्वात् नित्य ही गतिसंज्ञा की जा रही है? इस शंका के उत्तर के लिए यही मानना उचित होगा कि "साक्षात् प्रभृतीनि च" सूत्र में जो च्व्यर्थवचन की बात कही गई है वही प्रायिक है। इसलिए नमस् की अच्व्यर्थवचन में भी पाक्षिक गतिसंज्ञा करके अभीष्ट रूप की सिद्धि कर ली जाती है।

इदुदु। 'अप्रत्ययस्ये'ति पर्युदासो, लाघवात्। तत्र प्रत्ययपदं तत्सम्बन्धिपरं, तेन प्रत्ययसम्बन्धिभिन्नस्येत्यर्थः। अत एव 'कविभिः कृतमि'त्यादौ न षत्वम्। स्पष्टञ्चेदं भाष्ये इत्यन्यत्र विस्तरः।

"इदुदुपधस्य" सूत्र में जो "अप्रत्ययस्य" यह पद है यहाँ का नञ् लाघवात् पर्युदास है, प्रसज्यप्रतिषेधार्थक नहीं है। प्रसज्यप्रतिषेध मानने पर नञर्थ का क्रिया में अन्वय करने के लिए

क्रिया का अध्याहार करना पड़ता है। दूसरी बात यह कि जब नञर्थ क्रियान्वित हो गया तो नञ् का प्रत्यय के साथ समास कैसे होगा? परिणामतः असमर्थ समास करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त वाक्यभेद भी करना पड़ेगा। वह इस प्रकार होगा कि "इकारोकारोपध विसर्ग का षत्व होता है।" यह एक विधिवाक्य होगा और दूसरा निषेधक वाक्य होगा कि प्रत्ययावयव विसर्ग का षत्व नहीं होता है। इस प्रकार प्रसज्य मानने में तीन गौरव होने के कारण लाघवात् यहाँ पर्युदास माना गया है।

अप्रत्यय का अर्थ यदि प्रत्ययभिन्न किया जाय तो "कविभिः कृतम्" इस प्रयोग में भी विसर्ग का षत्व होने लगेगा, क्योंकि प्रत्यय तो यहाँ भिस् है और सकारस्थानिक विसर्ग तो प्रत्ययभिन्न है ही, इसलिए इसे षत्व होने लगेगा। इस बात को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि यह प्रत्यय पद तत्सम्बन्धी का बोधक है। अर्थात् प्रत्यय की प्रत्ययावयव में लक्षणा होती है, इसलिए प्रत्ययावयवभिन्न विसर्ग का षत्व विधान करने के कारण "कविभिः कृतम्" में विसर्ग का षत्व नहीं होता, क्योंकि यह विसर्ग प्रत्ययावयव ही है। यह बात भाष्य में स्पष्ट है। चिदस्थिमाला के अनुसार भावप्रकाश आदि ग्रन्थों में यह विस्तार से कही गई है।

एकादेशशास्त्रेति। एकादेशशास्त्रसम्पन्नरेफस्थानिकत्वेन विसर्जनीयस्यैकादेशशास्त्रनिमित्तकत्वं बोद्ध्यम्। स्पष्टञ्चेदमत्र सूत्रे, 'उरण्रपर' इति सूत्रे च भाष्ये इत्यन्यत्र विस्तरः। 'प्रत्ययभिन्नसम्बन्धिन' इति तु नार्थः, 'अग्निः करोती'त्यादावपि प्रत्ययभिन्नसमुदायसम्बन्धित्वेन षत्वापत्तेः। तपरकरणं किम्? गीः करोति। उपधा ग्रहणं व्यर्थम्, 'उपधाग्रहणं न करिष्यते, इदुद्भ्यान्तु परं विसर्जनीयं विशेषयिष्याम' इति हयवरट्सूत्रभाष्योक्तेः।

"इदुदुपधस्य" सूत्रघटक अप्रत्यय पद का अर्थ प्राचीन मत के अनुसार प्रत्ययभिन्न है तथा नवीन मतानुसार प्रत्ययावयवभिन्न है। "मातुः कृपा" इस प्रयोग में षष्ठ्यन्त "मातुः" इस पद का जो विसर्ग है, वह प्रत्ययभिन्न तथा प्रत्ययावयवभिन्न भी है, इसलिए इस विसर्ग का षत्व "इदुदुपधस्य" सूत्र से होना चाहिए। कौमुदीकार इसका उत्तर देते हुए कौमुदी में कह रहे हैं कि "एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न षत्वम्" अर्थात् एकादेशशास्त्र जिस विसर्ग का निमित्त होता है उस विसर्ग का षत्व नहीं होता है। प्रस्तुत में इस विसर्ग का निमित्त "उरत्" यह एकादेश शास्त्र है, अतः एतन्निमित्तक विसर्ग का षत्व नहीं होता है। यह विसर्ग एकादेशशास्त्र से सम्पन्न रेफस्थानिक होने के कारण एकादेशशास्त्रनिमित्तक है, यह बात स्पष्ट ही है।

एकादेशशास्त्रनिमित्तक विसर्ग के षत्व न होने में प्रमाण दीक्षितजी ने कस्कादिगण में "भ्रातुष्पुत्रः" ऐसे पाठ को माना है। तात्पर्य यह है कि यदि एकादेशशास्त्रनिमित्तक विसर्ग का "इदुदुपधस्य" सूत्र से षत्व होता तो जिस प्रकार "मातुः कृपा" इस प्रयोग में षत्व होता, वैसे ही "भ्रातुष्पुत्रः" इस प्रयोग में भी हो सकता था। ऐसी स्थिति में 'भ्रातुष्पुत्रः' इस प्रयोग में षत्व करने के लिए कस्कादिगण में इसका पाठ क्यों किया गया, इस प्रकार वहाँ किया गया "भ्रातुष्पुत्रः" का पाठ "एकादेशशास्त्र" आदि नियम का ज्ञापक होता है। यह बात प्रस्तुत सूत्र

के तथा "उरण् रपरः" सूत्र के भाष्य में है, यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गई है। किसी ने अप्रत्यय पद का प्रत्ययभिन्न सम्बन्धी विसर्ग का षत्व होता है, ऐसा वैयधिकरणान्वय करके अर्थ किया है। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करने पर "अग्निः करोति" इत्यादि प्रयोगों में षत्व की आपत्ति हो जायेगी, क्योंकि "अग्निः" यह समुदाय प्रत्ययभिन्न है, तत्-सम्बन्धी विसर्ग यहाँ भी है, अतः यहाँ षत्वापत्ति दुर्वार हो जायेगी।

इस सूत्र में "इदुत्" इस शब्द में तपरकरण किया गया है। इसका परिणाम यह होता है कि "गीः करोति" इस प्रयोग में जहाँ दीर्घ ईकारोपध विसर्ग है वहाँ षत्व नहीं होता है। इस सूत्र में उपधाग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि "हयवरट्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि इकार और उकार को विसर्जनीय का विशेषण बनायेंगें। परिणामस्वरूप सूत्रार्थ ऐसा होगा कि इकार और उकार से पर में प्रत्यय विसर्ग का षत्व होता है। इसी अर्थ से कार्य चल जाता है, तो सूत्र में उपधाग्रहण अनावश्यक ही है।

तिरसोऽन्य। अत्र गतिग्रहणं नानुवर्त्तते, पराभवे तिरस्कारशब्दप्रयोगात्। अन्तर्धावेव तिरसो गतित्वात्।

"तिरसोऽन्यतरस्याम्" यह सूत्र तिरस् के विसर्ग को विकल्प से सकार करता है, कवर्ग और पवर्ग पर में रहने पर। इसका उदाहरण तिरस्कर्ता और तिरस्कार जैसे शब्द हैं। यह बात स्पष्ट है कि तिरस्कार शब्द अनादर या पराभव आदि अर्थ का वाचक है। इसी अर्थ में तिरस्कार शब्द का प्रयोग होता है। इसलिए इस सूत्र में गतिग्रहण की अनुवृत्ति नहीं होती है। कारण कि गति संज्ञा "तिरोऽन्तर्धौ" सूत्र से अन्तर्धि अर्थ में होती है और इसका प्रयोग पराभव अर्थ में होता है। इसलिए प्रयोजनाभावात् यहाँ गतिग्रहण की अनुवृत्ति नहीं की जाती है।

द्विस्त्रि। 'कृत्वोऽर्थे' इति न विसर्गविशेषणं, चतुःशब्देऽसम्भवात्; किन्तु द्विरादीनामित्याह—वर्तमानानामेषामिति। 'इसुसोरि'ति सूत्रवक्ष्यमाणरीत्या 'सुच' इति सूत्रयितुमुचितम्; सुजन्तान्तस्य पदस्येत्यर्थात्।

"द्विस्त्रिचतुरिति कृत्वोऽर्थे" इस सूत्र में "कृत्वोऽर्थे" यह पद विसर्ग का विशेषण है या यह द्विरादि का विशेषण है? इस बात के उत्तर में कह रहे हैं कि "कृत्वोऽर्थे" यह विसर्ग का विशेषण नहीं है। इसका कारण यह है कि यदि यह विसर्ग का विशेषण होता तब सूत्रार्थ होता कि कृत्वोऽर्थ में वर्तमान विसर्ग का षत्व हो। ऐसा अर्थ करने पर "द्विष्करोति, त्रिष्करोति" इन प्रयोगों में तो कृत्वोऽर्थ में वर्तमान सुच् के सकार को विसर्ग होने के कारण इन उदाहरणों में सूत्रार्थ की संगति होने पर भी "चतुष्करोति" इस प्रयोग में जहाँ "रात्सस्य" सूत्र से सुच् के सकार का लोप हो गया है वहाँ कृत्वोऽर्थ में वर्तमान विसर्ग का मिलना असम्भव है, क्योंकि यहाँ तो "चतुर्" शब्द के रकार का विसर्ग है न कि कृत्वोऽर्थीय सुच् के सकार का विसर्ग है। इसलिए "कृत्वोऽर्थे" यह पद "द्विस्त्रिचतुः" का ही विशेषण है। इनका विशेषण होने पर सूत्रार्थ ऐसा होता है कि कृत्वोऽर्थ में वर्तमान जो द्विरादि उनके विसर्ग का षत्व हो। ऐसा अर्थ करने पर चतुर् शब्द के आगे यद्यपि सुच् का लोप हो गया है तथापि "यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी" इस नियम से चतुर् शब्द ही कृत्वोऽर्थ में वर्तमान माना जाता है और

वहाँ भी षत्व होता है। इसीलिए दीक्षितजी कौमुदी में कहते हैं कि "कृत्वोऽर्थे वर्तमानानामेषामि"त्यादि।

"इसुसोः सामर्थ्ये" सूत्र में जो रीति वक्ष्यमाण है, उसके आधार पर लाघवात् "सुचः" ऐसा ही सूत्र करना उचित था। यहाँ जो 'पदस्य' की अनुवृत्ति आती है, सूत्रस्थ सुच् उसका विशेषण होगा और तदन्तविधि करके सूत्रार्थ इस प्रकार होगा कि "सुजन्त जो पद तदवयव विसर्ग का षत्व होता है"। ऐसा अर्थ करने से 'द्विष्करोति' आदि सभी प्रयोगों की सिद्धि हो सकती है। यदि कहा जाय कि यहाँ तो कार्य चल सकता है, किन्तु "परमद्विः" शब्द में षत्व कैसे होगा? क्योंकि "परमद्विः" सुजन्त तदादि नहीं है, क्योंकि सुच् प्रत्यय तो द्वि शब्द से हुआ है न कि "परमद्वि" शब्द से हुआ है। यदि कहा जाय कि प्रत्ययलक्षण से केवल द्वि को पद माना जाय तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि "उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः" इस परिभाषा से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायेगा। निष्कर्ष यह निकला कि "सुचः" न्यास करने पर "परमद्विष्करोति" यह प्रयोग नहीं बन सकेगा।

इस उपर्युक्त आशंका को दृष्टिगत कर कहा जाता है कि "सुच् के प्रत्यय होने के कारण उससे तदादि की उपस्थिति होगी"। वह तदादि विशेष्य होगा और "सुच्" विशेषण होगा और तदादिविशेष्यक तदन्तविधि करके पहले "सुजन्तात् जो तदादि" इतने अर्थ का लाभ करने के बाद सुजन्तात् तदादि को विशेषण और पद को विशेष्य बना कर पुनः तदन्तविधि करने पर सूत्रार्थ होगा "सुजन्त जो तदादि तदन्त जो पद तदवयव विसर्ग का षत्व होता है"। ऐसा अर्थ करने से "परमद्विष्करोति" इत्यादि सभी जगह षत्व की सिद्धि हो जाने से कहीं भी दोष नहीं रहता है। इस प्रकार सर्वेष्ट सिद्धि होने के कारण लाघवात् "सुचः" ऐसा ही सूत्र करना उचित था।

चतुष्कपाल इति। 'इदुदुपधस्ये'ति नित्यं षः। पर्युदासो न। अत एव 'चतुःशब्दोऽव्युत्पन्न इति 'अप्रत्ययस्ये'ति पर्युदासो न। अत एव 'चतुष्पाद्भ्यो ढञि'त्यादिनिर्देशाः सङ्गच्छन्ते। 'चतुष्पञ्चाशदि'त्यत्रापि षत्वं भवत्येव। न चे'दुदुपधस्य सस्य यो विसर्ग' इति हयवरट्सूत्रभाष्योक्तेः कथमत्र षत्वमिति वाच्यम्। विसर्गस्य पाठाभावेनोपधात्वासम्भवात्, तत्स्थानिनिमित्तमुपधात्वं ग्राह्यमिति भाष्यतात्पर्यात्। अत एव 'समः सुटी'ति सूत्रभाष्ये 'सम्पुङ्क्तानामि'त्यनेन रुविधिरेवास्त्वित्याशङ्क्य 'पुंस्कामे'त्यत्र षत्वापादनं सङ्गच्छते।

इस सूत्र में किये गये "कृत्वोऽर्थ" ग्रहण का फल "चतुष्कपालः" यह प्रयोग दिया गया है। यहाँ पर "इदुदुपधस्य" सूत्र से नित्य ही षत्व होता है। 'चतुर्षु कपालेषु संस्कृतः' इस अर्थ में चतुष्कपाल की सिद्धि होने के कारण कृत्वोऽर्थ के अभाव में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है।

यहाँ यह शंका होती है कि चत् धातु से "चतेरुरन्" इस औणादिक सूत्र से "उरन्" प्रत्यय करने से "चतुर्" शब्द बनता है। ऐसी स्थिति में यहाँ का विसर्ग तो प्रत्ययावयव ही है, न कि प्रत्ययावयवभिन्न है। ऐसी स्थिति में यहाँ "इदुदुपधस्य" सूत्र से विसर्ग का षत्व कैसे होता

है ? इस शंका के उत्तर में नागेश का कहना है कि चतुर् शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है, इसलिए 'अप्रत्ययस्य' यह निषेध यहाँ प्रवृत्त नहीं होता है और विसर्ग का षत्व हो जाता है। अत एव= चतुर् शब्द के अव्युत्पन्न होने के कारण ही "चतुष्पाद्भ्यो ढञ्" इत्यादि षत्व- विशिष्ट पाणिनि के निर्देश संगत होते हैं। यदि कहा जाय कि ऐसी स्थिति में "चतुष्पञ्चाशत्" इस रूप में भी षत्व होना चाहिए तो कह रहें कि चतुष्पञ्चाक्षत् इस रूप में तो षत्व होता ही है। अब यहाँ एक यह शंका हो रही है कि "हयवरट्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने "इदुदुपधस्य" सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि 'इकारोकारोपध जो सकार तत्स्थानिक विसर्ग का षत्व होता है'। ऐसी स्थिति में "चतुर्" शब्द का विसर्ग जो कि रकारस्थानिक है, उसे षत्व नहीं होना चाहिए। परिणामस्वरूप उपर्युक्त उदाहरणों में (चतुष्कपालः आदि में) "इदुदुपधस्य" सूत्र से षत्व कैसे किया गया है ? इस प्रश्न का समाधान देते हुए कह रहे हैं कि उक्त भाष्य का तात्पर्य उपधात्व के सम्पादन में है। तात्पर्य यह है कि विसर्ग का पाठ वर्णसमाम्नाय में न होने के कारण इकारोपध विसर्ग का मिलना सम्भव नहीं है, इसलिए विसर्ग का भी पाठ वर्णसमाम्नाय में करना चाहिए। ऐसा कह कर भाष्यकार ने आगे कहा कि "न वा कर्तव्यः"-विसर्ग का पाठ वर्णसमाम्नाय में नहीं करना चाहिए। विसर्ग का इकारोकारोपधत्व तो उसके (विसर्ग के) स्थानी के द्वारा सम्भव ही है। शेखर के मूल में जो कहा गया है कि "इदुदुपधस्य सस्य" वहाँ "सस्य" यह पद विसर्ग के स्थानी का उपलक्षण है। इस प्रकार इसका निष्कर्ष यह है कि इदुदुपध जो विसर्ग का स्थानी उसके स्थान पर जायमान विसर्ग का षत्व होता है। ऐसा करने का परिणाम यह होता है कि विसर्ग का स्थानी करके केवल सकार ही ग्राह्य नहीं है अपितु सकार या रकार कोई हो वहाँ विसर्ग का षत्व होता है। इसलिए "चतुष्कपालः" आदि प्रयोगों में षत्व का होना सुलभ हो जाता है।

अत एव = 'हयवरट्' सूत्रस्थ भाष्य में सकार विसर्ग के स्थानी का उपलक्षण है, इस बात को स्वीकार करने से ही "समः सुटि" सूत्र के भाष्य में "सम्पुङ्कानाम्" इस वार्तिक से जब रुत्व का ही विधान होता है, उस पक्ष में "पुंस्कामः" इस प्रयोग में उस रकारस्थानिक विसर्ग का षत्व होना चाहिए? ऐसी आशंका संगत होती है। यहाँ यदि विसर्ग का स्थानी सकार ही केवल अभिप्रेत होता तो यहाँ सकारस्थानिक विसर्ग के अभाव में भाष्यकारीय शंका का उत्थान ही नहीं होता।

न च 'कृत्वोऽर्थे विद्यमानस्य पदस्येदुदुपधस्य यो विसर्ग' इत्यर्थात्र 'पञ्चकृत्वः करोती'त्यादौ दोषः, नापि 'चतुष्करोती'त्यादावव्याप्तिरिति 'द्विस्त्रिश्चतुरि'ति व्यर्थमिति वाच्यं, 'कृत्वोऽर्थे' इत्यस्यासिद्धत्वेन चतुःशब्दे 'इदुदुपधस्ये'ति नित्यषत्वापत्तेः।

'प्रकरणे प्रकरणमसिद्धमि'ति पक्षस्तु—'उपसर्गादसमासेऽपी'ति सूत्रे कैयटे, 'पूर्वपदादि'ति सूत्रे भाष्ये च दूषित एव। 'उपसर्गादि'ति सूत्रे चोपपादयिष्यते।

किञ्च पूर्वत्रेति पूर्वशब्देन प्रकरणग्रहणेऽव्यवहितप्रकरणे एव त्रिपाद्यसिद्धत्वं स्यात्, न सम्पूर्णसपादसप्ताध्याय्याम्। किञ्चास्याधिकारत्वात्प्रतिसूत्रमुपस्थित्या प्रतियोगमसिद्धत्वं दुर्वारमित्यन्यत्र विस्तरः।

यहाँ एक यह विचार प्रस्तुत है कि लाघवात् "कृत्वोर्थे" इतना मात्र ही सूत्र होना चाहिए। यदि कहा जाय कि इतना मात्र सूत्र करने पर "पञ्चकृत्वः करोति" यहाँ भी षत्व की प्राप्ति होती है तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ "पदस्य" की तथा "इदुदुपधस्य" की अनुवृत्ति करके सूत्रार्थ ऐसा किया जायेगा कि "कृत्वोऽर्थ में विद्यमान जो पद तदवयव इकारोकारोपध विसर्ग का षत्व होता है"। ऐसा अर्थ करने से "पञ्चकृत्वः करोति" में दोष नहीं रह जाता है, क्योंकि यहाँ का विसर्ग इकारोकारोपध नहीं है। इसी प्रकार "चतुष्करोति" इस प्रयोग में भी षत्व की सिद्धि हो जाने से अव्याप्ति दोष भी नहीं है, क्योंकि "यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी" इस नियम से चतुर् शब्द कृत्वोऽर्थ में वर्तमान है तथा विसर्ग भी उकारोपध है। इस प्रकार सूत्र में "द्विस्त्रिचतुः" इतना अंश व्यर्थ है। शेखरकार इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "द्विष्करोति" इस प्रयोग में प्रत्ययावयव विसर्ग होने के कारण "इदुदुपधस्य" की अप्राप्ति में "कृत्वोऽर्थे" यह सामान्य सूत्र चरितार्थ है। इसके बाद "चतुष्करोति" में इसकी तथा प्रत्ययावयव भिन्न विसर्ग होने के कारण "इदुदुपधस्य" इसकी, इस प्रकार दोनों की प्राप्ति होने पर पूर्व-त्रैपादिक "इदुदुपधस्य" के प्रति परत्रिपादी "कृर्वोऽर्थे" के असिद्ध हो जाने के कारण "इदुदुपधस्य" सूत्र से नित्य षत्व की आपत्ति होने लगेगी।

यदि कहा जाय कि "प्रकरणे प्रकरणमणिसद्धम्" अर्थात् "एक प्रकरण के प्रति दूसरा प्रकरण असिद्ध होता है, न कि सूत्र के प्रति सूत्र असिद्ध होता है" इस नियम के आधार पर 'कृत्वोऽर्थे' सूत्र असिद्ध नहीं होगा तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "प्रकरणे प्रकरणम्" यह पक्ष "उपसर्गात्" सूत्र के कैयट में तथा "पूर्वपदात्" सूत्र के भाष्य में दूषित किया जा चुका है। "उपसर्गात्" सूत्र की व्याख्या के अवसर पर इसका उपपादन किया जायेगा।

"प्रकरणे प्रकरणम्" इस नियम को स्वीकार करने पर दूसरा दोष यह आता है कि "पूर्वत्रा-सिद्धम्" सूत्र के पूर्वत्र शब्द से प्रकरण का ग्रहण करने पर "अनन्तरस्य विधिर्भवति" इस नियम से अव्यवहित पूर्व के प्रकरण का ही ग्रहण होगा और उसी के प्रति त्रिपादी की असिद्धता होगी। सम्पूर्ण सपाद सप्ताध्यायी का ग्रहण नहीं हो सकेगा। इसलिए इसमें त्रिपादी की असिद्धता नहीं होगी। दूसरी बात यह है कि अस्य = "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र के अधिकारसूत्र होने के कारण इसकी प्रत्येक सूत्र में उपस्थिति होती है और प्रतियोग में असिद्धता होती है। यह बात "प्रकरणे प्रकरणमसिद्धम्" पक्ष मानने पर नहीं हो सकेगी। यह बात भाष्यादि में विस्तार से वर्णित है।

इसुसोः। अत्रेसुसोः प्रातिपदिकावयवयोर्ग्रहणं, तेन 'पेचुः काष्ठैः', 'सख्युः पाकः', 'कविभिः कृतमि'त्यादौ षत्वं न। 'नित्यं समासे' इति सूत्रोदाहरणे समास-विषये तयोरेव सम्भवेनार्थाधिकारानुरोधात्, साहचर्याच्च। इसुसन्तपदावयव-विसर्गस्येत्यर्थः, पदस्येत्यधिकारात्।

न च प्रत्ययग्रहणपरिभाषया परमसर्पिष्करोतीत्यादौ षत्वानापत्तिः, अवयवस्येसुसन्तत्वेऽपि 'उत्तरपदत्वे चे'ति निषेधेनापदत्वादिति वाच्यम्; 'अनुत्तरपदस्थस्ये'ति निषेधेन क्वचिदुपात्तविशेष्यसत्त्वेऽपि शब्दरूपं विशेष्यमादाय तदन्तविधिज्ञापनेन शब्दरूपं विशेष्यमादाय प्रत्ययग्रहणपरिभाषया लब्धतदन्तार्थकस्य पदविशेषणतया

इसुसन्तान्तस्येत्यर्थेनादोषात्। अत एव 'वनो र चे'त्यादौ न दोषः। 'ब्राह्मणस्य सर्पिष्करोती'त्यादौ सापेक्षत्वेनासामर्थ्यं नाशङ्क्यं, तस्यैकार्थीभावसामर्थ्यविषयत्वात्। 'अधात्वभिहितं समानाधिकरणमसमर्थवदि'त्युक्तेः 'सर्पिः-कालकमि'त्यादौ न षत्वम्। 'अधात्वभिहितमि'त्युक्तेः 'सर्पिष्पीयते' इत्यत्र षत्वसिद्धिः। धातुसहचरितप्रत्ययाभिहितार्थेन समानाधिकरणमसमर्थवन्नेति तदर्थः।

इस सूत्र में परस्पर साहचर्य से प्रातिपदिकावयव इस् और उस् का ग्रहण होता है। इसका कारण यह है कि उस् यद्यपि प्रातिपदिकावयव और तिङन्तावयव दोनों प्रकार का मिलता है तथापि इस् तो केवल प्रातिपदिकावयव ही मिलता है। इस प्रकार तिङन्तानवयव इस् के साहचर्य से तिङन्तानवयव उस् का ग्रहण होगा और तिङन्तानवयव उस् प्रातिपदिकावयव होता है, इसलिए उसके साहचर्य से प्रातिपदिकावयव 'इस्' का ग्रहण होता है। दूसरी बात यह है कि "नित्यं समासे" यह सूत्र समास में वर्तमान इस् और उस् के विसर्ग का षत्व-विधान करता है। समास में विभक्ति का तो लोप हो जाता है। ऐसी स्थिति में अवशिष्ट प्रातिपदिक ही वहाँ उपलब्ध होता है, इसलिए इस् और उस् प्रातिपदिकावयव ही समास में उपलब्ध हो सकते हैं। इस प्रकार जब "नित्यं समासे" सूत्र में प्रातिपदिकावयव इस् और उस् का लेना निश्चित है तो उससे पूर्वसूत्र "इसुसोः" में भी प्रातिपदिकावयव इस्-उस् को ही लेना चाहिए, अन्यथा उत्तरसूत्र में प्रातिपदिकावयव का ग्रहण कैसे किया जा सकता है? इस प्रकार अर्थाधिकार का अनुरोध और परस्पर का साहचर्य इन दोनों बातों के आधार पर प्रस्तुत सूत्र में प्रातिपदिकावयव इस् और उस् का ग्रहण होता है। इसलिए "पेचुः काष्ठैः", "सख्युः पाकः", "कविभिः कृतम्" इत्यादि उदाहरणों में षत्व नहीं हुआ, क्योंकि उक्त प्रयोगों में इस् और उस् प्रत्ययावयव हैं। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि इस् और उस् प्रातिपदिकावयव और तिङन्तावयव के अतिरिक्त प्रत्ययावयव भी होते हैं।

इस सूत्र में "पदस्य" का अधिकार आता है। वह विशेष्य होता है और इस्-उस् उसके विशेषण होते हैं। इसके बाद तदन्तविधि होती है, जिससे सूत्रार्थ इस प्रकार होता है—"इसन्त और उसन्त जो पद तदवयव विसर्ग का षत्व होता है।" इस अर्थ के ऊपर एक विचार इस प्रकार होता है कि जहाँ विशेष्यान्तर रहता है वहाँ प्रत्ययग्रहण परिभाषा से केवल तदादित्व धर्म की उपस्थिति होती है।[१] उस समय सूत्रार्थ इस प्रकार होगा—"इसुसन्त जो तदादि तद्रूप जो पद तदवयव विसर्ग का षत्व होता है।" ऐसा इस सूत्र का निर्दुष्ट अर्थ करने पर "परमसर्पिष्करोति" इस प्रयोग में षत्व की सिद्धि नहीं हो रही है, क्योंकि "परमं च तत्सर्पिः परमसर्पिः" इस प्रकार बना हुआ जो यह पद है, वह इसन्त तदादि नहीं है; क्योंकि इस् प्रत्यय सृप् धातु से हुआ है, न कि परमसृप् से हुआ है और जो इसन्त तदादि "सर्पिः" यह आनुपूर्वी है, यह पद नहीं है। क्योंकि प्रत्ययलक्षणेन इसे पद बनाने के समय "उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ" इस परिभाषा से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाता है। इस प्रकार इसन्त तदादि रूप पद के न मिलने के कारण यहाँ षत्व नहीं हो सकता है। नागेश भट्ट इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दे रहे हैं कि

१. इस बात की विशेष जानकारी हेतु परिभाषेन्दु में प्रत्ययग्रहण परिभाषा की सुबोधिनी देखें।

"परमसर्पिःकुण्डिका" इस प्रयोग में षत्व के वारण के लिए "नित्यं समासे" सूत्र में "अनुत्तरपदस्थस्य" इस पद का ग्रहण किया गया है, किन्तु उपर्युक्त रीति से जब "परमसर्पिः" इस स्थिति में षत्व की प्राप्ति ही नहीं है तब उक्त पद के वहाँ ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार "अनुत्तरपदस्थस्य" यह पद व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि कहीं पर विशेष्यान्तर के रहने पर भी शब्दरूप अर्थात् तदादि शब्द रूप विशेष्य को लेकर तदन्तविधि हो जाती है। प्रस्तुत स्थल में "पदस्य" का अधिकार आने से वह उपात्त विशेष्य है। उसके रहने पर भी इस्-उस् प्रत्यय के द्वारा उपस्थित "तदादि" इस शब्द रूप विशेष्य को लेकर पहले तदन्तविधि होगी, जिससे 'इसुसन्त तदादि' इतने अर्थ का लाभ होगा। इसके बाद इसुसन्त तदादि को विशेषण और पद को विशेष्य बना कर दूसरी तदन्तविधि होगी, जिससे सूत्रार्थ इस प्रकार होगा—'इसुसन्त जो तदादि तदन्त जो पद, उसके अवयव विसर्ग का षत्व होता है। इस प्रकार अर्थ करने पर इसन्त तदाद्यन्त पद 'परमसर्पिः' होता है। इसलिए 'परमसर्पिष्करोति' इस उदाहरण में षत्व की सिद्धि होती है। अत एव = तदन्तविधिद्वय की सिद्धि के लिए उपात्त विशेष्य के रहने पर भी तदादि शब्द रूप विशेष्य को लेकर पहले तदन्तविधि को स्वीकार कर लेने से ही "वनो र च" सूत्र का अर्थ इस प्रकार हो जाता है कि 'वन्नन्त' जो तदादि तदन्त प्रातिपदिक, उससे ङीप् और नकार को रकार हो। इस अर्थ का परिणाम यह होता है कि "अतिधीवरी" इस प्रयोग की सिद्धि हो जाती है।

"ब्राह्मणस्य सर्पिष्करोति" इस उदाहरण में सर्पिः पदार्थ का ब्राह्मण के साथ सापेक्ष होने के कारण यहाँ सामर्थ्य नहीं है। इसलिए यहाँ षत्व नहीं होना चाहिए? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि "सापेक्षमसमर्थवत्" यह नियम एकार्थीभाव के लिए है, न कि व्यपेक्षा के लिए भी है। इस सूत्र में तो व्यपेक्षा रूप सामर्थ्य का ग्रहण किया गया है, अतः कोई दोष नहीं है।

अब यह शंका होती है कि "सर्पिःकालकम्" इस प्रयोग में भी प्रस्तुत सूत्र से षत्व क्यों नहीं होता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि "समानाधिकरणमसमर्थवत्" अर्थात् जहाँ समानाधिकरण होता है वहाँ पर व्यपेक्षारूप सामर्थ्य भी नहीं रहता है, इसलिए यहाँ सामर्थ्याभावात् षत्व नहीं होता है। किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर "सर्पिष्षीयते" इस प्रयोग में भी षत्व नहीं होना चाहिए, क्योंकि ते-प्रत्ययवाच्य कर्मत्व का सर्पिः रूप कर्म के साथ समानाधिकरण होने के कारण यहाँ भी सामर्थ्य का अभाव है ? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि इस नियम में "अधात्वभिहितम्" इतने अंश का निवेश करके इसका अर्थ ऐसा करना चाहिए कि धातु से विहित जो प्रत्यय, उससे अभिहित जो अर्थ, उस अर्थ के साथ यदि सामानाधिकरण्य है तब वहाँ असामर्थ्य नहीं होता है। इससे भिन्न जगह तो होता ही है। "सर्पिष्षीयते" इस प्रयोग में 'ते' प्रत्यय से अभिहित अर्थ कर्मत्व के साथ सर्पि का समानाधिकरण होने के कारण यहाँ असामर्थ्य नहीं है। इसलिए यहाँ षत्व हो जाता है, किन्तु इससे भिन्न स्थल "सर्पिः कालकम्" में नहीं होता है।

यदा तु—सर्पिरादिकमव्युत्पन्नं प्रातिपदिकं, पाणिनेरुणादिष्वव्युत्पत्तिपक्ष एवेति 'आयनेयीनी'ति सूत्रे भाष्ये स्पष्टमुक्तेः, तत्र हि 'शङ्खु' इत्यादावादेशानाशङ्क्य— 'उणादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः, प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेः सिद्धमि'त्युक्तम्, 'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' इति सूत्रं व्याकरणान्तररीत्यैव,

'सर्वनामस्थानमि'ति महासञ्ज्ञावत्। अत एव भाष्ये 'उणादयोऽव्युत्पन्नानी'त्येवोक्तम्, न तु 'अनेकार्था अपि धातव' इतिवदव्युत्पन्नान्यपीत्युक्तम्, तदा– 'इदुदुपधस्ये'ति नित्यं षत्वे प्राप्तेऽनेन विकल्प इति प्रत्यय ग्रहणाभावात्तत्परिभाषानुपस्थितेः– 'परमसर्पिष्करोती'त्यादौ षत्वविकल्पः सिद्धः। 'नित्यं समासे' इति सूत्रमनुत्तरपदस्थस्येति प्रतिषेधार्थम्। नित्यग्रहणन्तु न कर्त्तव्यमेव, समासे नित्यषत्वस्य 'इदुदुपधस्ये'त्येव सिद्धेः। 'सर्पिषे'त्यादौ षत्वं त्वत्र पक्षे क्वचिदन्यदेवेत्यर्थका-द्बहुलग्रहणादिति स्पष्टं भाष्ये।

आचार्य पाणनि का उणादि के सम्बन्ध में अव्युत्पत्तिपक्ष ही मान्य है। यह बात "आयनेयी" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट कही गई है। वहाँ का प्रसंग इस प्रकार है—"शमेः ठः शण्ठः", "शमेः खः शङ्खः" इन दोनों औणादिक प्रत्ययों का "आयनेयीनी" सूत्र से एय और इन की आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि "उणादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः" अर्थात् उणादि प्रत्ययों के आदेश का प्रतिषेध करना चाहिए। इसके बाद कहा कि "न वक्तव्यः" अर्थात् प्रतिषेध-वचन की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि "प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेः सिद्धम्" अर्थात् भगवान् पाणिनि उणादि शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानते हैं। यदि कहा जाय कि ऐसी स्थिति में 'आम्, अन्त, आलु, आय्य' ये प्रत्यय भी उणादि के नहीं रहेंगे तो "अयामन्ताल्वाय्य" इस सूत्र की प्रवृत्ति कहाँ होगी? तो इसके उत्तर में कह रहे हैं कि जैसे व्याकरणान्तर की रीति से "सर्वनामस्थानम्" यह महती संज्ञा की गई है उसी प्रकार व्याकरणान्तर की रीति से यह सूत्र भी चरितार्थ हो सकता है। इसीलिए भाष्य में "उणादयोऽव्युत्पन्नानि" ऐसा ही कहा गया है, न कि "अनेकार्था अपि धातवः" की भाँति "अव्युत्पन्नान्यपि" कहा गया है।

इस उपर्युक्त भाष्यकारीय विवेचन से स्पष्ट होता है कि सर्पि आदि शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं और जब ये अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं तब तो विसर्ग के प्रत्ययावयव से भिन्न होने के कारण "इदुदुपधस्य" सूत्र से नित्य ही षत्व प्राप्त रहता है, जिसे बाध कर यह विकल्प करता है। दूसरी बात यह है कि जब इस् और उस् प्रत्यय ही नहीं हैं तब "प्रत्ययग्रहणे" परिभाषा की प्रवृत्ति भी नहीं होगी, फलस्वरूप तदादि की भी उपस्थिति नहीं होगी। उस समय सूत्रार्थ यही होगा कि 'इसुसन्त शब्द को षत्व होता है।' ऐसा अर्थ करने पर "परमसर्पिष्करोति" इस प्रयोग में षत्व-विकल्प की सिद्धि भी अनायासेन हो जाती है। इसके लिए तदन्तविधिद्वय का क्लेश नहीं करना पड़ता।

यहाँ शंका होती है कि ऐसी स्थिति में समास में भी "इदुदुपधस्य च" सूत्र से नित्य ही षत्व सिद्ध है तो "नित्यं समासे" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "सर्पिष्कुण्डिका" की भाँति "परमसर्पिः कुण्डिका" इस उत्तरपदस्थ विसर्ग का नित्य षत्व न होने लगे, इसलिए इसके प्रतिषेधार्थ वह सूत्र आवश्यक है। फिर भी सूत्र में नित्यग्रहण तो अनावश्यक ही है, अतः उसका ग्रहण तो नहीं ही करना चाहिए। इस प्रकार समास में "इदुदुपधस्य" सूत्र से षत्व सिद्ध होने के कारण नित्यग्रहण की व्यर्थता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

"सर्पिस्" शब्द को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानने पर एक शंका यह उपस्थित होती है कि सर्पिस् का सकार जब प्रत्ययावयव नहीं है, तब "सर्पिषा" प्रयोग में "आदेशप्रत्यययोः" सूत्र से षत्व कैसे होगा? यदि "सर्पिष्" शब्द को इस प्रकार षकारान्त अव्युत्पन्न प्रातिपदिक स्वीकार करते हैं तब सकार के अभाव में उसे रुत्व नहीं हो सकेगा। इस विसंवाद का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "क्वचिदन्यदेव" इस अर्थवाले बहुलग्रहण से यहाँ षत्व की सिद्धि हो जायेगी। यह बात भाष्य में स्पष्ट है।

व्यपेक्षेति। व्याख्यानात्। एकार्थीभावसामर्थ्यग्रहणे 'परमसर्पिःकुण्डिके'-त्यादौ समासे विकल्पापत्तिः। 'अनुत्तरपदस्थस्ये'ति निषेधादुत्तरसूत्रस्य न प्रवृत्तिरिति भावः।

"इसुसोः सामर्थ्ये" इस सूत्र में सामर्थ्य पद से व्यपेक्षा रूप सामर्थ्य का ग्रहण व्याख्यान के आधार पर किया जाता है। व्याख्यान इस प्रकार का है कि उत्तरसूत्र "नित्यं समासे" में समासग्रहण किया गया है और समास एकार्थीभाव में होता है। इस प्रकार उत्तरसूत्र में जब एकार्थीभाव का निश्चय है तब पूर्वसूत्र में सामर्थ्य व्यपेक्षा का ही ग्राहक होता है। यदि यहाँ एकार्थीभाव का ग्रहण किया जाय 'तो परमं च तत् सर्पिः परमसर्पिः, तस्य कुण्डिका परमसर्पिःकुण्डिका' इस समास में भी विकल्प से षत्व होने लगेगा। यदि कहा जाय कि "नित्यं समासे" सूत्र से यहाँ नित्य षत्व हो जायेगा तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उस सूत्र में किये गये "अनुत्तरपदस्य" ग्रहण के द्वारा उत्तरपदस्थ विसर्ग के षत्व का निषेध कर देने के कारण यहाँ उत्तरसूत्र "नित्यं समासे" की प्रवृत्ति नहीं होती है।

नन्वनेनैव सिद्धे कस्कादिषु सर्पिष्कुण्डिकाशब्दपाठो व्यर्थ इत्यत आह—कस्कादिष्विति। एतेन 'तत्सामर्थ्यादुत्तरपदस्थस्यापि षत्वमि'त्यपास्तम्। व्यपेक्षाविरहेऽपीति। 'आनय सर्पिष्कुण्डिका तिष्ठती'त्यादौ। व्यपेक्षायामिति। 'इदं सर्पिष्कुण्डिकाया' इत्यत्र। प्रत्ययभिन्नविसर्गस्येत्यर्थम्—'इदुदुपधस्ये'त्यत्र व्याचक्षाणानां व्याख्यादर्शकृतां मतेऽव्यपेक्षायां तेन सिद्धेरिति भावः। एतेन 'कस्कादिपाठस्याव्यपेक्षायां चारितार्थ्येन व्यपेक्षायां तस्यासिद्धत्वाद्विकल्प एवोचित' इत्यपास्तम्। प्रत्ययसम्बन्धिभिन्नविसर्गस्येत्यर्थे तु तदप्राप्तिरेवेति—व्यपेक्षायां विकल्प एवेति बोद्धव्यम्।

कस्कादिगण में "सर्पिष्कुण्डिका" शब्द का पाठ षत्वार्थ किया गया है। इसके ऊपर यह शंका होती है कि जहाँ समास रहेगा वहाँ "अनेनैव" = "नित्यं समासे" इस सूत्र से ही षत्व सिद्ध है तथा जहाँ पर व्यपेक्षा रहेगी वहाँ "इसुसोः सामर्थ्ये" से षत्व सिद्ध है। ऐसी स्थिति में कस्कादिगण में 'सर्पिष्कुण्डिका' का पाठ करना व्यर्थ ही है? इस शंका के उत्तर में कौमुदी में कहा गया है कि कस्कादिगण में उक्त शब्द का पाठ इसलिए किया गया है कि जहाँ समास तथा व्यपेक्षा दोनों का अभाव है वैसे उदाहरण "तिष्ठतु सर्पिः कुण्डिकामानय" में षत्व हो सके। यहाँ 'सर्पिः' का कुण्डिका के साथ न तो समास हुआ है और न ही कोई सम्बन्ध ही है। यहाँ "इदुदुपधस्य" सूत्र से भी षत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि विसर्ग प्रत्ययावयवभिन्न

नहीं है। इस प्रकार यहाँ षत्व की सिद्धि किसी प्रकार से सम्भव न होने पर कस्कादिगण में पाठ षत्वार्थ किया गया है। इसके अतिरिक्त "सर्पिष्कुण्डिकायामस्ति" इस व्यपेक्षास्थल में प्राप्त वैकल्पिक षत्व को बाधकर नित्य षत्व के लिए भी कस्कादिगण में पाठ किया गया है। इस प्रकार जब "कस्कादिषु च" सूत्र असमास और व्यपेक्षाविरह में षत्व-विधान करके चरितार्थ है, तब जो लोग ऐसा कहते थे कि कस्कादिगण में 'सर्पिष्कुण्डिका' के पाठ के सामर्थ्य से उत्तरपदस्थ विसर्ग का भी षत्व होता है, उन्हें परास्त समझना चाहिए। क्योंकि जब उपर्युक्त स्थल में सूत्र चरितार्थ है तब गणपाठ के सामर्थ्य का क्या औचित्य है कि वह उत्तरपदस्थ को षत्व कराये?

कौमुदी में कहा हुआ है—"असमासे व्यपेक्षाविरहेऽपि" इसकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है कि समासाभाव और व्यपेक्षाभाव में षत्वार्थ कस्कादिगण में "सर्पिष्कुण्डिका" का पाठ है। शेखरकार इसका उदाहरण दे रहे हैं "आनय सर्पिः, कुण्डिका तिष्ठति"। यहाँ न समास है और न व्यपेक्षा ही है। ऐसे स्थल मे षत्वार्थ वहाँ पाठ है। ऊपर यह बात उदाहरणान्तर के द्वारा विधिवत् व्याख्यात है। कौमुदी में "सर्पिष्कुण्डिका" शब्द का कस्कादिगण में पाठ का दूसरा फल बताते हुए कहा गया है कि "व्यपेक्षायां नित्यार्थश्च" अर्थात् "इदं सर्पिष्कुण्डिकायाः" अथवा "सर्पिष्कुण्डिकायामस्ति" इन व्यपेक्षा के उदाहरणों में "इसुसोः सामर्थ्ये" सूत्र से वैकल्पिक षत्व के वारण के लिए कस्कादिगण में "सर्पिष्कुण्डिका" शब्द का पाठ किया गया है। इसकी व्याख्या भी ऊपर की जा चुकी है। व्याख्यादर्शकार का मत यहाँ इस प्रकार है—इनके अनुसार "इदुदुपधस्य च" इस सूत्र में जो अप्रत्यय पद है उसका अर्थ "प्रत्ययभिन्न विसर्ग है।" "तिष्ठतु सर्पिः पिब त्वमुदकम्" यह जो अव्यपेक्षा स्थल है वहाँ पर तेन = "इदुदुपधस्य च" इस सूत्र से ही षत्व की सिद्धि सम्भव है, क्योंकि विसर्ग तो प्रत्ययभिन्न है ही। प्रत्यय तो यहाँ इस् है और विसर्ग सकार को हुआ है, इसलिए विसर्ग प्रत्ययभिन्न है। इस प्रकार "इदुदुपधस्य" सूत्र से षत्व सिद्ध है।

इस प्रकार व्याख्यादर्शकार के अनुसार अव्यपेक्षा में जब "इदुदुपधस्प च" सूत्र से ही षत्व सिद्ध है तो इस पक्ष में कस्कादिगण में पाठ की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जब व्यपेक्षापक्ष है तब "इदं सर्पिष्कुण्डिकायाः" इस उदाहरण में "इदुदुपधस्य च" इस सूत्र से प्राप्त षत्व को विशेषविहितत्वात् बाधकर "इसुसोः सामर्थ्ये" से वैकल्पिक षत्व प्राप्त रहेगा, इसे बाध कर नित्य षत्व-विधान करने के लिए कस्कादिगण में "सर्पिष्कुण्डिका" शब्द का पाठ आवश्यक है।

"एतेन" = "व्यपेक्षायां नित्यार्थश्च" इस कथन के आधार पर उन लोगों को परास्त समझना चाहिए जो लोग कहते थे कि कस्कादिगण में "सर्पिष्कुण्डिका" शब्द का पाठ अव्यपेक्षा में षत्व-विधान करके चरितार्थ है, इसलिए व्यपेक्षा में "इसुसोः सामर्थ्ये" के प्रति यह असिद्ध हो जाता है, इसलिए यहाँ विकल्प से षत्व होता है।

यह कथन इसलिए असंगत है कि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि अव्यपेक्षा में प्रत्ययभिन्न विसर्ग होने के कारण "इदुदुपधस्य" सूत्र से ही षत्व सिद्ध है तो वहाँ इसके चरितार्थ की बात कहना असंगत ही है।

नागेश भट्ट के अनुसार तो "इदुदुपधस्य" सूत्र में "अप्रत्यय" का अर्थ प्रत्ययावयवभिन्न विसर्ग है। ऐसी स्थिति में "इदं सर्पिष्कुण्डिकायाः" इस व्यपेक्षा में तदप्राप्ति = "इदुदुपधस्य" सूत्र की अप्राप्ति ही है, क्योंकि विसर्ग प्रत्ययावयवभिन्न नहीं है। इसलिए "इदुदुपधस्य" सूत्र की अप्राप्ति में "इसुसोः सामर्थ्ये" सूत्र से यहाँ विकल्प ही होता है। इतना अवश्य है कि जहाँ समास नहीं है और व्यपेक्षा भी नहीं है, वहाँ तो "नित्यं समासे" तथा "इसुसोः सामर्थ्ये" किसी की भी प्राप्ति नहीं है। साथ ही प्रत्ययावयवभिन्न न होने के कारण "इदुदुपधस्य" सूत्र की भी प्राप्ति नहीं है, ऐसा स्थल "आनय सर्पिः, कुण्डिका तिष्ठति" इस उदाहरण में षत्व के लिए "कस्कादिषु च" सूत्रस्थ गण में "सर्पिष्कुण्डिका" का पाठ आवश्यक है; ऐसा नागेश के मतानुसार समझना चाहिए।

अतः कृ। कृशब्देन तदादिग्रहणं, समासाक्षिप्तोत्तरपदस्य विशेष्यत्वात्। 'विष्वग्देवयोरि'ति सूत्रे वप्रत्ययग्रहणेन धातोर्विशेषणत्वे तदादिविधिज्ञापनात्।

'अयस्कुम्भी'त्यादौ लिङ्गविशिष्टपरिभाषया सत्वं बोद्धव्यम्। भास्कर इति तपरकरणात् 'अतः कृ' इत्यस्याप्राप्तिः।

॥ इति विसर्गसन्धिः ॥

अकार से उत्तरवर्ती अनव्यय विसर्ग का समास में नित्य ही सकारादेश होता है, कृ धातु उत्तरपद में रहने पर—यह इस सूत्र का अर्थ है। इस सूत्रार्थ के अनुसार "अयस्करोति" प्रयोग की सिद्धि होने पर भी "अयस्कारः" इस प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि यहाँ कृ धातु पर में नहीं है। किन्तु कृ धातु से बना हुआ शब्द पर में है। इस बात को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि यहाँ कृ शब्द से तदादि का ग्रहण होता है। यदि कहा जाय कि विशेष्यवाचक पद के अभाव मे यहाँ तदादिविधि कैसे होगी? तो इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि पूर्वसूत्र "नित्यं समासे" की यहाँ अनुवृत्ति होती है। समास पूर्व और उत्तर पदघटित समुदाय का होता है, इसलिए यहाँ समास से उत्तरपद का आक्षेप होता है और वह उत्तरपद विशेष्य होता है, जिससे तदादिविधि हो जाती है। फलस्वरूप कृ आदि धातु हैं आदि में जिसके ऐसे शब्द के उत्तरपद में रहने पर सत्व-विधान किया जाता है।

यदि कहा जाय कि "धातुग्रहणे तदादिग्रहणम्" इस नियम में क्या प्रमःण है? तो इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं "विष्वग्देवयोः" इस सूत्र में किया गया "अप्रत्ययग्रहणम्" ही उक्त नियम का ज्ञापक है। उसके ज्ञापन का प्रकार इस प्रकार होता है—इस सूत्र में अप्रत्यय ग्रहण का तात्पर्य है कि जहाँ कोई प्रत्यय पर में न रहे वहीं उक्त सूत्र से टि को अद्रि आदेश होता है। इसका फल यह होता है कि "विश्वगञ्चनम्" जहाँ पर अञ्च् के आगे अन प्रत्यय पर में है यहाँ अद्रि आदेश नहीं होता है। यदि इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया जाय कि अञ्च् रूप उत्तरपद पर में रहने पर अद्रि आदेश हो तो, "विश्वगञ्चनम्" प्रयोग में अञ्च रूप उत्तरपद पर में न होने के कारण स्वयमेव अद्रि आदेश की प्राप्ति नहीं है, तो "अप्रत्यये" ग्रहण

की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार 'अप्रत्यये' ग्रहण व्यर्थ होकर उक्त नियम का ज्ञापक होता है।

प्रस्तुत सूत्र में आक्षिप्त उत्तरपद विशेष्य होता है और कृ धातु विशेषण होता है, जिससे तदादिविधि होती है। जिससे कृधातु है आदि में जिसके ऐसे शब्द के उत्तरपद में रहने पर सकार का विधान होता है, ऐसा अर्थ करके "अयस्कारः" प्रयोग में सत्व की सिद्धि की जाती है। इतना होने पर भी 'अयस्कुम्भी' प्रयोग की सिद्धि नहीं हो रही है, क्योंकि सूत्र में कुम्भ का उल्लेख है जब कि यहाँ "कुम्भी" पर में है। इसका समाधान करते हुए कह रहे हैं कि लिङ्गविशिष्ट परिभाषा के द्वारा यहाँ कुम्भ से कुम्भी का ग्रहण करके सत्व की सिद्धि कर ली जाती है। एक बात यह विचारणीय प्रस्तुत है कि "अतः कृकमि" इस सूत्र में 'अतः' इस पद में जब तपरकरण किया गया है तब "भाः+ करः" इस स्थिति में सकार की सिद्धि कैसे होगी? इसका उत्तर कौमुदी में इस प्रकार दिया गया है कि "भास्कर" शब्द का पाठ कस्कादिगण में मान कर "कस्कादिषु च" सूत्र से सकार कर लिया जाता है।

विश्वनाथमिश्र कृत लघुशब्देन्दुशेखर में विसर्गसन्धि-प्रकरण की 'सुबोधिनी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

अथ स्वादिसन्धिप्रकरणम्

यत्तु 'स्वौजसि'त्यत्र रुरेव पाठ्यः, सर्वत्र सुग्रहणे रुग्रहणमेवास्त्विति, तन्न। यशोऽत्रेत्यादौ रोरसिद्धत्वादुत्वानापत्तेः, 'अतो रोरि'त्यस्य प्रथमैकवचने चारितार्थ्यात्। तद्ध्वनयन्नाह—स्वौजसेति। 'पदस्ये'त्यनुवृत्तं ससजूभ्यां विशेष्यते, तेन तदन्तविधिः। आदेशस्त्वलोऽन्त्यस्येत्यन्त्यस्य। तत्फलितमाह—पदान्तस्येत्यादिना। 'सजूरि'त्यत्र व्यपदेशिवद्भावेन सिद्धिः। 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन", 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्ने'ति परिभाषाद्वयं प्रत्ययविधिविषयमिति—'असमासे निष्कादिभ्य' इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्। इदञ्जश्त्वापवादः। श्रेयानित्यादौ रुत्वस्यासिद्धत्वात्संयोगान्तलोप एवेति दिक्।

कुछ लोग "स्वौजसमौट्" के स्थान पर "वौंजसमौट्" ऐसा न्यास करते हैं। इस न्यास में लाघव यह है कि सकार का रुत्व-विधान नहीं करना पड़ता, इसलिए जहाँ-जहाँ "सु" का ग्रहण है वहाँ सभी जगह रु का ग्रहण ही करना चाहिए। नागेश भट्ट "तन्न" शब्द से इस मत का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि इस मत के अनुसार "यशोऽत्र" इस प्रयोग की सिद्धि नहीं होगी। कारण यह है कि रुकार का उत्व-विधायक सूत्र "अतो रोरप्लुतादप्लुते" (६।१।११३) के प्रति चतुर्थाध्याय "वौंजसमौट्" का रुत्व असिद्ध नहीं होगा तो "शिवोऽर्च्यः" इत्यादि प्रयोगों में तो उत्व हो सकता है, किन्तु 'यशोऽत्र' प्रयोग में जहाँ "यशस् + अत्र" इस स्थिति में 'ससजुषो रुः" सूत्र (८।२।६६) से रुत्व होगा। यह त्रैपादिक रुत्व उत्व के प्रति असिद्ध हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि रु के अभाव में यहाँ उत्व ही नहीं होगा। यदि कहा जाय कि रु के असिद्ध हो जाने के कारण कहीं भी उत्व करने का अवसर न मिलने पर "अतो रोरप्लुतात्" सूत्र व्यर्थ हो जायेगा, अतः तत्सामर्थ्यात् रुत्व की असिद्धि नहीं होगी, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथमा के एकवचन में जहाँ रु विभक्ति का ही आगम हो रहा है वहाँ पर चतुर्थाध्यायस्थ रु तो असिद्ध होगा नहीं, इसलिए "रामोऽस्ति", "शिवोऽर्च्यः" इत्यादि प्रयोगों में सार्थक (चरितार्थ) "अतो रोरप्लुतात्" सूत्र के सामर्थ्य से "ससुजुषो रुः" के रु के असिद्धत्व का अभाव ज्ञापित नहीं किया जा सकता।

इस उपर्युक्त बात का ध्वनन करते हुए दीक्षितजी ने कौमुदी में कहा है—"स्वौजसमौडि"-ति अर्थात् "स्वौजसमौट्" यही पाठ संगत है, न कि "वौंजसमौट्" यह पाठ। इस पाठ के अनुसार सु के सकार को रुत्व-विधान करने पर यह रुत्व "अतो रोरप्लुतात्" सूत्र की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता है। क्योंकि "ससजुषो रुः" सूत्र से विहित रु यदि उत्व के प्रति असिद्ध हो

जाय तो रुत्वाभाव में उत्व का विधान कैसे होगा ? अतः इस पक्ष में उत्व के प्रति रुत्व असिद्ध नहीं होता है।

इस "ससजुषो रुः" सूत्र में "पदस्य" का अधिकार आता है। 'ससजुष्' उसके विशेषण होते हैं और "पदस्य" विशेष्य होता है। इसके बाद "येन विधिः" सूत्र से तदन्तविधि होती है। फलस्वरूप "सान्त और सजुः शब्दान्त पद का रुत्व हो" यह सूत्रार्थ होता है। ऐसा सूत्रार्थ होने पर भी पूरे सान्त पद को तो रुत्व होता नहीं, किन्तु "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र की सहायता से अन्त्य सकार को ही रुत्व का विधान किया जाता है। इसी फलितार्थ को लेकर कौमुदी में कहा गया है—"पदान्तस्य सस्य" अर्थात् पदान्त सकार को रुत्व होता है।

उक्त अर्थ में यह शंका होती है कि "परमसजूः" प्रयोग में सजुः शब्दान्तत्व मिलने के कारण तो रुत्व-विधान सम्भव है, किन्तु केवल "सजूः" में तो सजुः शब्दान्तत्व तो नहीं है, तो यहाँ रुत्व का विधान कैसे होगा ? नागेश भट्ट इस को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि "सजूः" इस प्रयोग में व्यपदेशिवद्भावेन सजुः शब्दान्तत्व मान कर रुत्व की सिद्धि हो जाती है।

यदि कहा जाय कि "व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन" इस परिभाषा से व्यपदेशिवद्भाव का निषेध हो जाने पर "सजूः" प्रयोग में रुत्व की सिद्धि कैसे होगी ? दूसरी बात यह है कि "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति" इस परिभाषा से तदन्तविधि का निषेध हो जाने के कारण यहाँ तदन्तविधि भी दुर्लभ ही है। इस बात का समाधान देते हुए कह रहे हैं कि "जराया जरसन्यतरस्याम्" सूत्र में तदन्तविधि और व्यपदेशिवद्भाव इन दोनों बातों को देखने से यह विदित होता है कि ये दोनों परिभाषाएँ प्रत्ययविधिविषया हैं। अतः यहाँ तदन्तविधि सुलभ है। यह बात "असमासे निष्कादिभ्यः" इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। "ससजुषो रुः" यह सूत्र जश्त्व का अपवाद है। जश् पद से यहाँ "झलां जशोऽन्ते" का जश् समझना चाहिए। कारण यह है कि रुत्व के विषय में सर्वत्र उस जश्त्व की प्राप्ति है, इसलिए "येन नाप्राप्ति" न्याय से रुत्व जश्त्व का अपवाद है। यह रुत्व जश्त्व का तो अपवाद है किन्तु संयोगान्त लोप का अपवाद नहीं है, क्योंकि इसकी प्राप्ति में सर्वत्र संयोगान्त लोप की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए जश्त्वापवाद यह सूत्र संयोगान्त लोप के द्वारा बाधा जाता है। इसलिए "श्रेयान्", "विद्वान्" इत्यादि प्रयोगों में रुत्व के असिद्ध हो जाने से सकार का संयोगान्त लोप ही होता है।

यत्वस्यापवाद इति। 'यदीदं न स्यात्तर्हि यत्वं प्राप्नोती'त्येतावता। कृते त्वस्मिन् यत्वस्यासिद्धत्वादुत्वगुणयोर्यत्वाप्राप्तिरेवेति भावः।

कौमुदी में "अतो रोरप्लुतात्" सूत्र को यत्व का अपवाद कहा है, किन्तु उत्वविधायक यह सूत्र सपादसप्ताध्यायी है और यत्वविधायक "भोभगो" सूत्र त्रैपादिक है। ऐसी स्थिति में उत्व के प्रति यत्व जब स्वयमेव असिद्ध है तब इसे यत्व का अपवाद कहने का क्या औचित्य है ? इस शंका के उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि जिस प्रकार "द्वन्द्वापवादः एकशेषः" इस उक्ति के द्वारा एकशेष के लिए द्वन्द्व का अपवाद यह शब्द प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार उत्व के लिए यत्वापवाद शब्द का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार एकशेष का आरम्भ न करने पर द्वन्द्व की प्राप्ति हो जाती है और एकशेष का आरम्भ करने पर द्वन्द्व नहीं होता उसी प्रकार यदि उत्व

का आरम्भ नहीं किया गया होता तो यत्व की प्राप्ति होती, किन्तु उत्व के आरम्भ से यत्व नहीं हो पाता। यही उत्व का यत्वापवादत्व है। इस प्रकार अपवादसादृश्यात् उत्व में यत्वापवाद शब्द का व्यवहार किया गया है।

कृते तु अस्मिन् = उत्वविधायक "अतो रोः" सूत्र के करने पर इसके प्रति यत्वविधायक सूत्र के असिद्ध हो जाने से पहले उत्व होता है। इसके बाद गुण हो जाने से यत्व की प्राप्ति ही नहीं होती है।

प्रथमयोः। व्याख्यानात्प्रथमयोरित्यनेन प्रथमाद्वितीयारूपसुब्विभक्त्योर्ग्रहणम्। तदाह—प्रथमाद्वितीययोरिति। पूर्वग्रहणं किम्? 'अग्नी' इत्यत्र पक्षे परसवर्णो मा भूदिति। दीर्घग्रहणन्तु त्रिमात्रस्य स्थानिनस्त्रिमात्रो मा भूदिति। सवर्णग्रहणन्तु स्पष्टार्थम्। पूर्वस्यादीर्घत्वात्पूर्वजातीय इत्यर्थेनेष्टसिद्धेरिति स्पष्टं भाष्ये। आद्गुण इति। 'तौ सदि'ति निर्देशेन भ्रष्टावसरन्यायस्यात्र शास्त्रेऽनाश्रयणादिति भावः। देवदत्तहन्तृहतन्यायस्य तु नात्र प्रवृत्तिः। देवदत्तहन्तृहनने हि नोज्जीवनं, देवदत्तहननप्रसक्तहनने त्वस्त्येव देवदत्तजीवनम्। प्रकृते तु न हननस्थानीया वृद्धिहन्तुः पूर्वसवर्णदीर्घस्य लक्ष्ये प्रवृत्तिः, किन्तु हननोद्यमसजातीयं प्रसक्तिमात्रं, प्रसक्तस्य निषेधे बाध्योज्जीवने न बाधकमिति। स्पष्टञ्चेदं 'स्वादिष्वि'- ति सूत्रे कैयटे।

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" इस सूत्र में "प्रथमा च प्रथमा चेति प्रथमे" इस प्रकार एकशेष हुआ है। इनमें एक प्रथमा शब्द प्रथमा विभक्ति का बोधक है और दूसरा प्रथमा शब्द स्वोत्तरत्व-सम्बन्धेन लक्षणया द्वितीया विभक्ति का बोधक है। यह बात व्याख्यान के द्वारा लभ्य है। व्याख्यान इस प्रकार है—इस सूत्र में "वा सुप्यापिशलेः" (६।१।९२) सूत्र से "सुपि" इस पद की अनुवृत्ति होती है, अतः तिङ् प्रत्ययों का यहाँ ग्रहण नहीं होता है। सुप् प्रत्ययों में भी आदि से दो प्रत्ययों (सु-औ) का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि ऐसा करने पर जस् विभक्ति में पूर्वसवर्ण दीर्घ न हो सकेगा। परिणाम यह होगा कि "तस्माच्छसः" सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा। दूसरी बात यह भी है कि यहाँ "इको यणचि" सूत्र से 'अचि' की अनुवृत्ति आती है। आदि से दो प्रत्ययों का ग्रहण करने पर सु विभक्ति में अच्त्व का व्यभिचार होने के कारण इस पक्ष की निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि "शिवोऽर्च्यः" इस प्रयोग में उत्व करने पर प्रथमा विभक्ति में भी अच्त्व सुलभ है, तथापि वहाँ "नादिचि" सूत्र से निषेध कर देने से दीर्घ का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः यही मानना ठीक है कि 'प्रथमयोः' पद में एकशेष है। इसीलिए कौमुदी में "प्रथमयोः" इस पद की व्याख्या "प्रथमाद्वितीययोरचि" इस रूप में की गई है।

यदि इस सूत्र में पूर्वग्रहण नहीं किया गया होता तो केवल सवर्णग्रहण करने पर पूर्व और पर दोनों के सावर्ण्य की प्राप्ति होने पर "अग्नी" इस प्रयोग में पक्ष में पर का भी सवर्णी होने लगता। वह न हो इसलिए सूत्र में पूर्वग्रहण है, जिससे पूर्व का ही सवर्णी होता है। इस सूत्र में "अकः सवर्णे दीर्घः" सूत्र से "दीर्घ" पद की अनुवृत्ति की जाती है। इसका फल यह होता है कि "अग्नि + औ" इस स्थिति में त्रिमात्रिक स्थानी के स्थान पर आन्तरतम्यात् प्राप्त त्रिमात्रिक

आदेश नहीं होता, किन्तु दीर्घग्रहण के प्रभाव से द्विमात्रिक आदेश ही होता है। इस सूत्र में किया गया सवर्णग्रहण स्पष्टार्थ है, क्योंकि सवर्णग्रहण के अभाव में यही कहा जायेगा कि पूर्वदीर्घ हो, किन्तु "राम + अस्" इस स्थिति में पूर्व तो दीर्घ है नहीं, इसलिए वहाँ यही कहा जायेगा कि पूर्वजातीय दीर्घ हो। इस अर्थ से ही इष्टसिद्धि हो जायेगी। इस प्रकार सवर्णग्रहण स्पष्टार्थ है। "शिव + उ + अर्च्यः" इस स्थिति में "आद्गुणः" और "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" दोनों की प्राप्ति होने पर परत्वात् गुण को बाधकर पूर्वसवर्ण दीर्घ की प्राप्ति होती है, तब "नादिचि" सूत्र से इसका निषेध हो जाता है, तत्पश्चात् "आद्गुणः" से गुण और पूर्वरूप करके "शिवोऽर्च्यः" इस प्रयोग की सिद्धि की जाती है।

यहाँ यह शंका होती है कि "भ्रष्टावसर न्याय" अर्थात् जिसका अवसर भ्रष्ट हो गया वह भ्रष्ट ही है, इस न्याय से भ्रष्टावसर गुण को यहाँ नहीं होना चाहिए। इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "तौ सत्" इस पाणिनि के निर्देश के आधार पर इस शास्त्र में भ्रष्टावसर न्याय का आश्रयण नहीं किया जाता है। अन्यथा "त + औ" इस स्थिति में "वृद्धिरेचि" को बाधकर प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का "नादिचि" सूत्र से बाध होने पर भी भ्रष्टावसर वृद्धि यदि यहाँ नहीं होती तो "तौ" यह निर्देश कैसे बनता? इससे विदित होता है कि भ्रष्टावसरन्याय यहाँ अनाश्रयणीय है।

यदि कहा जाय कि "देवदत्तहन्तृहतन्याय" से यहाँ ("तौ" इस प्रयोग में) वृद्धि नहीं होनी चाहिए। देवदत्त को मारने वाले को मार देने पर भी क्या देवदत्त का जीवन हो जाता है? इसी प्रकार वृद्धि को बाधने वाले "प्रथमयोः" सूत्र का "नादिचि" सूत्र से बाध होने पर भी वृद्धि का पुनरुन्मज्जन तो नहीं ही होना चाहिए। इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि देवदत्तहन्तृहतन्याय की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है। कारण यह है कि यदि देवदत्त का वस्तुतः हनन हो गया है, तो उसके हन्ता के हनन के बाद भी देवदत्त का जीना तो नहीं हो सकता, किन्तु देवदत्त को मारने में प्रवृत्त व्यक्ति का यदि हनन कर दिया जाता है तो देवदत्त का जीवन तो रह ही जाता है। प्रस्तुत में वृद्धि के हन्ता "पूर्वसवर्णदीर्घ" की हननस्थानीय (हनन के तुल्य) लक्ष्य में प्रवृत्ति नहीं होती है, किन्तु हनन के उद्यम के तुल्य प्रसक्ति (प्राप्ति) मात्र ही होती है। प्रसक्त का यदि निषेध कर दिया जाता है, तब तो बाध्यशास्त्र का उज्जीवन होने में कोई बाधा नहीं है। "तौ" इस प्रयोग में वृद्धि को बाधने के लिए उद्यत "प्रथमयोः" सूत्र का "नादिचि" सूत्र से बाध हो जाने के कारण वृद्धि होने में कोई बाधा नहीं होती। यह बात "स्वादिषु" सूत्र के कैयट में स्पष्ट है।

सुस्रोत इति। सुस्रोतस्शब्दः कस्यचित्सञ्ज्ञा। सम्बुद्धौ 'दूराद्धूते चे'ति प्लुतः। तत्सामर्थ्यादिति। प्रतियोगित्वेन तदाश्रयणसामर्थ्यादित्यर्थः। 'आश्रयात्सिद्ध' इति भाष्योक्तेः। पयस्यटति, पयो ददातीत्यर्थे—'आगच्छ हे पयो३ट्', 'आगच्छ हे पयो३दे'त्यादावेकपदस्थवर्णद्वयसापेक्षमन्तरङ्गमुत्वं प्रति वाक्यसम्पादक-पदान्तरसापेक्षप्लुतस्यासिद्धत्वादुत्वे प्लुतसिद्धिः। अन्यथा प्लुतस्योत्वदृष्ट्या सिद्धत्वात्परत्वात्प्लुते आद्येऽप्लुतपरत्वाभावादन्त्येऽप्लुतात्परत्वाभावादुत्वं न स्यात्।

परिभाषादृष्ट्या बहिरङ्गासिद्धत्वेऽपि न क्षतिः। स्वदृष्ट्याऽसिद्धस्यापि परं प्रत्यसिद्धत्वप्रतिपादनसम्भवात्, स्वदृष्ट्याऽविद्यमानस्य परं प्रत्यविद्यमानत्व-प्रतिपादनवत्। अन्तरङ्गस्यासिद्धत्वे तु प्रतिपाद्याभावे कं प्रत्यसिद्धत्वं प्रतिपाद्येत?। तत्राद्ये—'वाक्यस्य टेरि'त्यट्शब्दाकारः प्लुतः, अन्त्ये रेफदकारसंयोगपरत्वेनाकारस्य गुरुत्वात् 'गुरोरि'ति प्लुतः। आश्रयेण तु येन नाप्राप्तिन्यायेन, प्रत्यक्षत्वेन च पूर्वत्रासिद्धत्वमेव बाध्यते, न त्विदम्। 'सुस्रोत' इत्यादौ त्वेकवाक्यमात्रसापेक्षत्वात् प्लुतोऽन्तरङ्गो, भिन्नवाक्यस्थाकारसापेक्षत्वा- दुत्वं बहिरङ्गमिति स्पष्टं भाष्ये।

कौमुदीकार ने "अतो रोरप्लुतात्" सूत्र में "अप्लुतात्" पद का प्रयोजन बताया है कि "एहि सुस्रोत३ अत्र स्नाहि" इस वाक्य में प्लुत से पर में रु को उकार न होने लगे। सुस्रोतस् शब्द किसी की संज्ञा है। सम्बोधन में "दूराद्धूते च" सूत्र से यहाँ तकारोत्तरवर्ती अकार को प्लुत किया जाता है। सूत्र में "अप्लुतात्" इस पद के अभाव में यहाँ प्लुत से पर में रु को उकार होने लगेगा। यदि कहा जाय कि उत्वविधायक सपादसप्ताध्यायी सूत्र "अतो रो" के प्रति त्रैपादिक प्लुतविधायक "दूराद्धूते च" यह सूत्र असिद्ध हो जायेगा तो "अप्लुतात्" इसके ग्रहण करने पर भी अप्लुत से पर में रु के मिलने के कारण उसे उत्वापत्ति दुर्वार ही है? तो कौमुदी में इस बात का उत्तर दिया गया है कि तत्सामर्थ्यात् = अर्थात् 'अप्लुतात्' इस पद का जो इस सूत्र में ग्रहण किया गया है उसके सामर्थ्य से प्लुत असिद्ध नहीं होता है। यदि 'अप्लुतात्' ग्रहण करने पर भी प्लुत असिद्ध हो जाता है तब "अप्लुतात्" यह पद सूत्र में व्यर्थ ही है। अतः इसके सामर्थ्य से प्लुत असिद्ध नहीं होता है।

नागेशभट्ट "तत् सामर्थ्यात्" इस प्रतीक को लेकर कह रहे हैं कि "तत् सामर्थ्यात्" इस पद का यह अर्थ नहीं है कि "अप्लुतात्"ग्रहणसामर्थ्यात् प्लुत असिद्ध नहीं होता है, किन्तु "न प्लुतः = अप्लुतः" इस प्रकार समास द्वारा निष्पन्न अप्लुत शब्द में प्रतियोगित्वेन जो प्लुत का आश्रयण किया गया है, तत्सामर्थ्यात् प्लुत असिद्ध नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि यदि सभी जगह प्लुत असिद्ध हो जाय और सर्वत्र अप्लुत के ही मिलने की स्थिति हो—तब किस की व्यावृत्ति के लिए प्रतियोगित्वेन यहाँ प्लुत का आश्रयण किया गया है? अतः प्रतियोगित्वेन प्लुत के आश्रयण के सामर्थ्य से प्लुत असिद्ध नहीं होता है। भाष्यकार ने भी कहा है कि "आश्रयात् सिद्धः" अर्थात् प्रतियोगी रूप में जो प्लुत का आश्रयण किया गया है तत्सामर्थ्यात् प्लुत सिद्ध ही रहता है, असिद्ध नहीं होता है। इसीलिए "एहि सुस्रोत ३" इस उदाहरण में रु को उत्व नहीं होता है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि ऐसा ज्ञापन करने पर "पयोऽट्" और "पयोऽद" इन प्रयोगों में रु का उत्व नहीं होगा। इन प्रयोगों की सिद्धि इस प्रकार होती है—"पयसि अटति" तथा "पयो ददाति" इस विग्रह में क्विप् प्रत्यय तथा "क" प्रत्यय करके सम्बुद्धि विभक्ति में "आगच्छ हे पयोऽट्" "आगच्छ हे पयो३द" इन प्रयोगों की प्रक्रियादशा "पयस् + अट्" तथा "पयस् + द" इस स्थिति में सकार का रुत्व करने पर पहले प्रयोग में "दूराद्धूते च" सूत्र से अट् के अकार का प्लुत प्राप्त होता है तथा दूसरे उदाहरण में "पयर्द" इस स्थिति के बन जाने

के कारण रकार और दकार के संयोग से पूर्व गुरुभूत यकारोत्तर अकार को "गुरोरनृतः" सूत्र से प्लुत प्राप्त होता है। इसी समय रु को उत्व भी प्राप्त होता है, किन्तु उपर्युक्त ज्ञापन के अनुसार प्लुत असिद्ध नहीं होगा। इसलिए पहले दोनों उदाहरणों में प्लुत कर दिया जायेगा। प्लुत कर देने के बाद रु को उत्व इसलिए नहीं होगा कि अट् के अकार के प्लुत हो जाने से रु से पर में अप्लुत अकार नहीं है। दूसरे उदाहरण में "रु" प्लुत (यकारोत्तराकार) से ही पर में है, जब कि उसे अप्लुत से पर में होना चाहिए। इस प्रकार इन दोनों उदाहरणों में उत्व की अनापत्ति हो रही है? इस प्रश्न के उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि "एकपदस्थ वर्णद्वयसापेक्ष होने से उत्व अन्तरंग है और वाक्यसम्पादक पदान्तरसापेक्ष प्लुत बहिरंग है, इसलिए "असिद्धं बहिरङ्गम्" इस परिभाषा से उत्व की दृष्टि में प्लुत असिद्ध हो जाता है; इसलिए पहले उत्व और गुण करके पीछे प्लुत होता है, जिससे अभीष्ट की सिद्धि होती है। अन्यथा यदि प्लुत उत्व की दृष्टि से सिद्ध रहता तो परत्वात् पहले प्लुत कर देने पर उत्व की सिद्धि नहीं हो सकती थी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। "असिद्धं बहिरङ्गम्" इस परिभाषा का लिंग अन्तरंगशास्त्र होता है। जहाँ यह परिभाषा अन्तरंगशास्त्र को देखती है वहीं पर वह उसका बलवत्व बोधन करती है। प्रस्तुत स्थल में उत्वविधायक शास्त्र सापादिक है और अन्तरंग है। यह परिभाषा के द्वारा दृश्य है, अतः परिभाषा की प्रवृत्ति होती है और बहिरंगशास्त्र असिद्ध हो जाता है। यदि बहिरंगशास्त्र अन्तरंग परिभाषा की प्रवृत्ति का लिंग होता तो प्रस्तुत स्थल में बहिरंगशास्त्र त्रैपादिक होने से परिभाषा के प्रति असिद्ध हो जाता, तो परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती और बहिरंग प्लुत असिद्ध नहीं होता तथा परिणामस्वरूप यहाँ उत्व की सिद्धि नहीं होती।

यहाँ कहा जा सकता है कि जिस प्रकार "अप्लुतात्" ग्रहणसामर्थ्यात् प्लुत असिद्ध नहीं होता, ऐसा ज्ञापन किया गया है वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि अन्तरंग परिभाषा से भी प्लुत की असिद्धि नहीं होती। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। कारण यह है कि प्लुत-विधायक सूत्र त्रैपादिक है और उत्वविधायक सापादिक है। इसलिए "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र के द्वारा प्लुत की असिद्धता सभी जगह प्राप्त होती है और यदि सभी जगह प्लुत असिद्ध हो जाता है, तो सूत्र में "अप्लुतात्" ग्रहण की क्या आवश्यकता रह जाती है। इसलिए 'अप्लुतात्' ग्रहण 'येन नाप्राप्तिन्याय' से अवश्य प्राप्त "पूर्वत्रासिद्धम्" के द्वारा किये जाने वाले असिद्धत्व का ही निषेध करता है कि प्लुत असिद्ध नहीं होता है। किन्तु परिभाषा के द्वारा किये जाने वाले असिद्धत्व का निषेध नहीं करता है। इसलिए यहाँ परिभाषा से प्लुत का असिद्धत्व सिद्ध होता है। दूसरी बात यह है कि "अप्लुतात्" पद का ग्रहण प्रत्यक्षरूप से सूत्र में किया गया है, अतः यह प्रत्यक्ष सूत्र "पूर्वत्रासिद्धम्" द्वारा प्राप्त असिद्धत्व का ही निषेधक होगा। अन्तरंग परिभाषा तो ज्ञापक सिद्ध है, न कि प्रत्यक्ष सिद्ध, इसलिए इसके द्वारा प्राप्त असिद्धत्व का निषेध नहीं किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में जो लोग कहते थे कि उत्वविधायक के प्रति त्रैपादिकत्वेन प्लुत का असिद्धत्व तो स्वयं सिद्ध है तो उसे परिभाषा के द्वारा असिद्ध करना व्यर्थ है, वे लोग परास्त हैं, ऐसा समझना चाहिए। अब एक यह शंका होती है कि अन्तरंग परिभाषा "वाह ऊठ्" के ऊठ्ग्रहण से ज्ञापित होने के कारण सपादसप्ताध्यायस्थ है। इसकी दृष्टि में त्रैपादिक प्लुतविधायक शास्त्र असिद्ध हैं। ऐसी स्थिति में उनके प्रति उत्व का बलत्व

बोधन करना और उत्व के प्रति प्लुत का असिद्धत्व बोधन करना कैसे सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि यद्यपि परिभाषा की दृष्टि में त्रैपादिक प्लुत असिद्ध है तथापि कोई क्षति नहीं है, क्योंकि जो वस्तु अपने प्रति असिद्ध है, दूसरे के प्रति भी उसकी असिद्धता का प्रतिपादन किया जा सकता है। जिस प्रकार तत्त्ववेत्ता के लिए असिद्ध दृश्य प्रपञ्च के मिथ्यात्व का प्रतिपादन वह दूसरे के लिए करता ही है।

यदि अन्तरंगशास्त्र त्रैपादिक है तो वह अन्तरंग परिभाषा की दृष्टि में असिद्ध है। ऐसी स्थिति में जब कि प्रतिपाद्य ही नहीं है तो तन्निरूपित बहिरङ्गत्व का पूर्वशास्त्र में प्रतिपादन कैसे किया जा सकता है? अर्थात् बहिरंग पूर्वशास्त्र की असिद्धता किसके प्रति बताई जाय, जब कि वहाँ अन्तरंग ही असिद्ध है।

यह बात ऊपर बताई जा चुकी है कि आद्य उदाहरण "हे पयो३ट्" में "दूराद्धूते च" सूत्र से प्लुत होता है तथा अन्त्य उदाहरण "हे पयो३द" में रेफ और दकार के संयोग के पर में रहने के कारण गुरुभूत यकारोत्तर अकार का "गुरोरनृतः" से प्लुत होता है। "अप्लुतात्" पद में प्रतियोगी के रूप में प्लुत के आश्रयण के सामर्थ्य से येन नाप्राप्तिन्याय से तथा प्रत्यक्ष होने के कारण केवल "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र से किये जाने वाले असिद्धत्व का ही बाध किया जाता है। परिभाषा से बोधित असिद्धत्व का बाध नहीं किया जाता। जिस प्रकार "पूर्वत्रासिद्धम्" सभी जगह प्लुत की असिद्धता का बोधन करता है उसी प्रकार परिभाषा (अन्तरंग परिभाषा) सभी जगह उत्व की अन्तरंगता और प्लुत की तत्प्रयुक्त बहिरङ्गता के कारण असिद्धत्व का ही प्रतिपादन करती है, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि "एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि" इस वाक्य में एकवाक्य मात्र सापेक्ष होने से प्लुत ही अन्तरंग है और द्वितीय वाक्य "अत्र स्नाहि" घटक अकार की अपेक्षा रखने के कारण उत्व ही बहिरंग है। इस प्रकार यहाँ परिभाषा के द्वारा प्लुत की असिद्धता की प्राप्ति नहीं है। तात्पर्य यह है कि "पूर्वत्रासिद्धम्" की भाँति परिभाषा सर्वत्र प्लुत के असिद्धत्व का प्रतिपादन नहीं करती है, इसलिए परिभाषा-प्रतिपादित असिद्धत्व का बाध अप्लुताद्ग्रहण-सामर्थ्यात् नहीं होता है, यह बात भाष्य में स्पष्ट है।

उकानुबन्धेति। उकारेत्सञ्ज्ञकरेफस्येत्यर्थ इति भावः। तेन 'देव रुही'त्यादौ न दोषः।

"प्रातरत्र" "भ्रातर्गच्छ" इत्यादि उदाहरणों में उत्व के वारण के लिए कौमुदी में कहा गया है कि "अतो रोः" सूत्रघटक 'रोः' पद उकार-अनुबन्धविशिष्ट पढ़ा गया है, इसलिए उकार है अनुबन्ध जिसमें ऐसे रु अर्थात् रकार को उत्व का विधान किया जाता है। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में रकार, उकार इत्संज्ञक वाला नहीं है, इसलिए यहाँ उत्व नहीं होता है। इसीलिए "देव रुहि" प्रयोग में भी उत्वापत्ति रूप दोष नहीं होता है। क्योंकि यहाँ का उकार इत्संज्ञक नहीं है। यह तो धातु का उकार प्रयोजनार्थ है।

भोभगो। 'रोः सुपी'त्यतो 'रोरि'ति वर्त्तते, न तु 'रो री'त्यतो 'र' इति, प्रातरत्रेत्यादावतिप्रसङ्गात्। अशब्दान्तद्वन्द्वेन पूर्वशब्दस्य बहुव्रीहिमभिप्रेत्याह—

एतत्पूर्वस्येति। नन्वेवं पूर्वरूपापत्तिरत आह—असन्धिरिति। भगो-अघोशब्दौ-कारयोरकाराभ्यां प्राप्तपूर्वरूपात्मकसन्धिकार्याभाव इत्यर्थः।

इदं प्राचामनुरोधेन। वस्तुतः सूत्रे रान्तानामेवानुकरणमसन्धिर्न्याय्य एवेति बोद्ध्यम्। न ह्यायमिति। इदमर्वाचामनुसारेण। भाष्ये तु—'रेफस्य विसर्गस्थानित्वेन तद्वृत्तिरुत्वाश्रयमपीदमल्विधिरेव, स्थान्यल्वृत्तिधर्माश्रयत्वात्। 'अग्रहीदि'त्यत्र च दीर्घे लोपे चेट्त्वेनैव निवेश इति विशेषः, अतः पयःस्वित्यादौ दोषः। तत्र हि 'रोः' सुपी'ति विसर्गः। नियमशास्त्राणि च विधायकान्येव वाच्यवृत्त्या, आर्थिकार्थमादाय तु निषेधकानीति। तत्रापि 'रो रेफस्य विसर्ग' इत्यर्थे त्वशग्रहणं व्यर्थम्'-इत्युक्तम्। नन्वेवं 'हे रामे'त्यादौ सम्बुद्ध्यवयवस्य हलः सस्य लोपे तद्वृत्तिसुप्त्वस्याल्धर्मत्वेन स्थानिवत्त्वाभावे पदत्वासिद्धिरिति चेन्न, आनुमानिकादेशस्य रामेत्यस्य स्थानिवद्भावेन सुबन्तत्वस्य, तत्प्रयुक्तकार्यस्य वा लाभेन तत्सिद्धेः। प्रत्ययलक्षणेनापि न प्रत्ययवृत्तिधर्मलाभः। लक्षणपदोपादानेन प्रत्ययनिमित्तककार्यस्य तन्निमित्तकव्यवहारस्य वाऽतिदेशात्।

एवं 'दीर्घाहो निदाघ' इत्यादौ हल्ङ्यादिलोपे उक्तरीत्या स्थानिनि जायमानस्या-सुपीति रत्वनिषेधस्यादेशे दीर्घाहञ्शब्देऽतिदेशेन प्रवृत्त्या न रेफ इति दिक्।

"भोभगोअघो" सूत्र में "रोः सुपि" (८।३।१६) सूत्र से "रोः" इस षष्ठ्यन्त पद की अनुवृत्ति है। "रो रि" (८।३।१४) सूत्र से षष्ठ्यन्त "र" पद की अनुवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि षष्ठ्यन्त 'रः' की अनुवृत्ति करने पर जहाँ रकार रहेगा, वहाँ यत्व की आपत्ति होने से "प्रातरत्र", "भ्रातर्गच्छ" इत्यादि प्रयोगों में भी रकार का यत्व होने लगेगा। रु शब्द का षष्ठी के एकवचन "रोः" की अनुवृत्ति करने पर यह दोष नहीं होता, क्योंकि "प्रातर्" आदि शब्दों में रु का रकार नहीं होता अपितु वहाँ पहले से ही रकार रहता है। अतः यहाँ यत्व का अतिप्रसंग नहीं होता।

प्रस्तुत सूत्र में भो, भगो, अघो और अ शब्द का द्वन्द्व समास करके "ते पूर्वे यस्मात्" इस विग्रह में अशब्दान्त द्वन्द्व के साथ पूर्व शब्द का पञ्चम्यर्थ बहुव्रीहि समास होता है। इसीलिए कौमुदी में कहा गया है—"एतत् पूर्वस्य" अर्थात् भो आदि हैं पूर्व में जिसके ऐसे रु का यत्व होता है।

इस सूत्र में पठित "भो" आदि शब्दों के विषय में एक यह भी पक्ष है कि ये सभी ओकारान्त के अनुकरण हैं। ऐसी स्थिति में भगो शब्द के ओकार का अघो शब्द के अकार के साथ और अघो शब्द के ओकार का अपूर्व शब्द के अकार के साथ पूर्वरूप सन्धि होनी चाहिए। अर्थात् "एङः पदान्तादति" सूत्र से यहाँ अकार का पूर्वरूप होना चाहिए। दीक्षितजी इस प्रश्न के उत्तर में कौमुदी में कहे हैं—"असन्धिः सौत्रः" अर्थात् सौत्रत्वात् यहाँ सन्धि नहीं हुई है। यदि कहा जाय कि "एङः पदान्तादति" की दृष्टि में त्रैपादिक "भोभगो" सूत्र के असिद्ध हो जाने के कारण यहाँ पूर्वरूप की प्राप्ति ही नहीं है तो "असन्धिः सौत्रः" कहने की क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि शास्त्रत्वेन रूपेण जब दो सूत्रों की

कहीं प्राप्ति होती है वहीं पर "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र से पूर्वशास्त्र के प्रति परशास्त्र असिद्ध होता है। यहाँ 'भोभगो' सूत्र लक्ष्यत्वेन उपस्थित होता है, न कि शास्त्रत्वेन। अतः यह असिद्ध नहीं होता है और सन्धिकार्य प्राप्त होता है, जिसकी निवृत्ति सौत्रत्वात् की गई है। इसीलिए इस सूत्रस्थ "योऽशि" इस पद में पूर्वरूप संगत होता है।

नागेश भट्ट कहते हैं कि यहाँ सन्धि की प्राप्ति और सौत्रत्वात् उसका निषेध ये सारी बातें प्राचीनों के अनुसार हैं। वस्तुतस्तु "भोभगो" आदि शब्द रान्त के अनुकरण हैं। रान्त या सान्त भोस् आदि शब्दों के रु को यकार करके और उसका लोप करके सूत्र निर्देश किया गया है। इस पक्ष में जब पूर्वरूप की स्थिति आयेगी उस समय लुप्त यकार असिद्ध हो जायेगा। इसलिए पूर्वरूप की आपत्ति नहीं है। इसलिए यहाँ असन्धि न्याय्य ही है, ऐसा समझना चाहिए।

कौमुदी में दीक्षितजी ने प्रस्तुत सूत्र में किये गये "अशि" इस पद का फल "देवाः सन्ति" इस प्रयोग में यत्व का न होना कहा है। सूत्र में यदि "अशि" पद नहीं रहता है तो "देवास् + सन्ति" इस स्थिति में सकार को रु आदेश करने पर इसे यकारादेश होने लगेगा। यद्यपि "देवार् + सन्ति" इस स्थिति में यत्व और विसर्ग दोनों की प्राप्ति होने पर विसर्ग के प्रति परत्रिपादी यत्व असिद्ध है तथापि रकार का विसर्ग होने पर भी स्थानिवद्भाव से उस विसर्ग को ही रु मान कर यत्व की आपत्ति है। यदि कहा जाय कि "अनल्विधौ" से निषेध होने के कारण यहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होगा तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यत्वविधि में "रु" इस समुदाय का आश्रयण किया गया है। अतः यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होगा। अतः यत्व-व्यावृत्ति के लिए "अशि" पद आवश्यक है। "न ह्ययमल्विधिः" इस प्रतीक को लेकर शेखरकार कहते हैं कि "यत्वविधि अल्विधि नहीं है" यह दीक्षितजी का कथन अर्वाचीनों के अनुरोध से है। इसका कारण यह है कि भाष्य में कहा गया है कि विसर्ग का स्थानी रेफ है, इसलिए रेफवृत्ति रुत्वाश्रय यत्व विधि भी अल्विधि ही है। कारण कि अल्विधि शब्द का अर्थ है—स्थानीरूप जो अल् तद्वृत्ति जो धर्म—वह अल्वृत्ति हो अथवा अनल्वृत्ति हो, वह अल्विधि ही कहलाता है। प्रस्तुत स्थानी (विसर्ग का स्थानी) रूपी अल् रकार है, तद्वृत्तिधर्म रुत्व है, तन्निमित्तक विधि यत्वविधि हुई। इस यत्वविधि की कर्तव्यता में 'अनल्विधौ' इस निषेध की प्रवृत्ति हो जायेगी और स्थानिवद्भाव नहीं होगा तो यहाँ यत्व की प्राप्ति भी नहीं है, अतः "देवाः सन्ति" यह अशिग्रहण का फल नहीं हो सकता है।

प्रस्तुत स्थल की स्पष्टता के लिए 'अनल्विधि' शब्द के अर्थ पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। अनल्विधि के अर्थ के सम्बन्ध में दो मत हैं। पहला मत तो इस प्रकार है कि स्थानी सम्बन्धी जो अल्, तद्वृत्ति जो अल्मात्रवृत्तिधर्म, तन्निमित्तक विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है, यह अनल्विधि का अर्थ है। दूसरा अर्थ है—स्थानी रूपी जो अल्, तद्वृत्ति जो धर्म, वह अल्मात्रवृत्ति हो या अनल्वृत्ति हो, तन्निमित्तक विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

इनमें पहले मत के अनुसार तो स्थानिवद्भाव हो जायेगा, क्योंकि स्थानीसम्बन्धी अल् रकारवृत्ति जो रुत्वधर्म है, वह अल्वृत्तिधर्म नहीं है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि "भोभगो" से विधेय यत्वविधि विसर्गस्थानिभूत रेफ का रेफत्वेन रूपेण आश्रयण नहीं करती है, किन्तु

रुत्वेन रूपेण करती है। इसलिए यत्वविधि अल्विधि नहीं है। इसलिए कौमुदी में कहा गया है—"न ह्ययमल्विधिः"। इस प्रकार इस मत के अनुसार स्थानिवद्भाव हो जाने से "रुत्वात्" यत्व की प्राप्ति होती है, उसके वारण के लिए "अशिग्रहण" सूत्र में सार्थक होता है।

भाष्यसम्मत दूसरे मत के अनुसार स्थानीरूपी अल् रकार के होने के कारण तद्वृत्तिधर्म रुत्व-निमित्तक विधि यत्वविधि भी अल्विधि ही है, अतः इस मत के अनुसार स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने के कारण रुत्व का आगमन न होने से यत्व की प्राप्ति नहीं है, अतः "अशि" ग्रहण का फल "देवाः" सन्ति" यह प्रयोग नहीं है।

मनोरमाकार ने "अग्रहीत्" इस प्रयोग के दृष्टान्त के आधार पर "देवाः सन्ति" इस प्रयोग में स्थानिवद्भाव से यत्व की आपत्ति कही है। उनका तात्पर्य है कि "अग्रह ई-स्-इत्" इस स्थिति में "ग्रहोऽलिटि" से विहित दीर्घ में स्थानिवद्भाव से इट्त्व लाकर सिच् का लोप किया जाता है, उसी प्रकार विसर्ग में भी स्थानिवद्भाव से रुत्व का अतिदेश करके यत्व की प्राप्ति होगी, उसके निराकरण के लिए सूत्र में अशिग्रहण सार्थक है।

नागेश भट्ट इस बात का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'अग्रहीत्' का दृष्टान्त यहाँ उपयुक्त नहीं है। कारण कि वहाँ पर दीर्घविधि और सिच्लोपविधि दोनों जगह इट्त्वेन रूपेण इट् का आश्रयण किया गया है, किन्तु यहाँ की स्थिति उससे भिन्न है। यहाँ तो विसर्ग में रत्व का और यत्व में रुत्व का आश्रयण किया गया है। इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य के कारण यहाँ स्थानिवद्भाव से यत्व की आपत्ति नहीं की जा सकती है। इस प्रकार इस सूत्र में "अशिग्रहण" का फल 'देवाः सन्ति' यह प्रयोग नहीं है, किन्तु इसका प्रयोजन "पयःसु" इस प्रयोग में यत्व का वारण है। यहाँ 'रोः सुपि' सूत्र से रु को विसर्ग होता है, इसलिए यहाँ स्थानितावच्छेदक धर्म रुत्व है, जो अल्मात्रवृत्ति धर्म नहीं है। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि यहाँ का स्थानी अल् रूप नहीं है। इस कारण से यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होगा और रुत्व का अतिदेश करके यत्व की प्राप्ति होगी। उसके निवारण के लिए सूत्र में अशिग्रहण आवश्यक है।

यदि कहा जाय कि "पयःसु" इस प्रयोग में भी 'खरवसानयोः' सूत्र से ही विसर्ग सिद्ध है, इसलिए "रोः सुपि" सूत्र नियमार्थक है। निष्कर्ष यह है कि "पयःसु" इस प्रयोग में भी विसर्ग का स्थानी रकार ही है। ऐसी स्थिति में "देवाः सन्ति" और "पयःसु" इन दोनों प्रयोगों की समानता हो जाने के कारण "पयःसु" प्रयोग अशिग्रहण का फल है, यह कहना समीचीन नहीं है। इस आक्षेप के उत्तर में शेखरकार कह रहे हैं कि वाच्यवृत्ति से अर्थात् वाक्यार्थ-निरूपित शक्ति के आधार पर तो नियम शास्त्रविधायक ही होते हैं। उनका निषेधकत्व तो अर्थतः = फलितार्थ रूप है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि नियमशास्त्र की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है—विधिमुख से और निषेधमुख से। विधिमुखेन प्रवृत्तिपक्ष में एक ऐसे धर्म की परिकल्पना की जाती है जो नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदक का व्याप्य हो और नियामक-शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदक का व्यापक हो। ऐसे धर्म की परिकल्पना करके तदतिरिक्तत्वेन नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न में संकोच कर दिया जाता है और वहाँ नियामक सूत्र से ही कार्य किया जाता है। प्रस्तुत स्थल में सप्तमीबहुवचनाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट रेफत्व एक

ऐसा धर्म है जो नियम्यशास्त्र "खरवसानयोः" के उद्देश्यतावच्छेदक का व्याप्य है तथा नियामकशास्त्र के उद्देश्यतावच्छेदक का व्यापक होता है, क्योंकि स्व भी स्व का व्यापक होता है। एतदतिरिक्तत्वेन जब "खरवसानयोः" के उद्देश्यतावच्छेदक में संकोच कर दिया गया तब यहाँ पर विसर्ग तो "रोः सुपि" सूत्र से ही होगा। परिणाम इसका यह होता है कि "चतुर्षु" और "पयःसु" इन प्रयोगों में नियम्य सूत्र से विसर्ग की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए यहाँ "रोः सुपि" सूत्र स्वयं विसर्ग का विधान करता है। इसके द्वारा विसर्ग का विधान करने पर भी "चतुर्षु" प्रयोग में विसर्ग नहीं होता है। क्योंकि यहाँ "रु" का रकार नहीं है, किन्तु स्वाभाविक शब्द का रकार है। "पयःसु" में तो विसर्ग होता ही है, क्योंकि यहाँ "रु" हुआ है। इस प्रकार "देवाः सन्ति" और "पयःसु" दोनों उदाहरणों में समानता की बात कहना असंगत ही है।

नियामक सूत्र की निषेधमुखेन प्रवृत्ति का प्रकार यह है कि ऊपर बताये गये ढंग से जिस रूप की परिकल्पना की जाती है उसमें पहले नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन संकोच किया जाता है। इसके बाद संकोचित तद्रूपातिरिक्त्वेन नियम्यशास्त्र के उद्देश्यतावच्छेदक में संकोच किया जाता है। जैसे 'अर्थवत्' सूत्र नियम्य है और "समासाश्च" यह नियामक है। यहाँ संकोचकतावच्छेदकरूप अर्थवत् समुदायत्व होता है। यह नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदक का व्याप्य तथा नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदक समासत्व का व्यापक है। इसमें पहले समासातिरिक्तत्वेन संकोच करके समासातिरिक्त जो अर्थवत् समुदाय 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' इत्यादि समुदाय, एतदतिरिक्तत्वेन अर्थवत्व में संकोच किया जाता है और वह स्थल समास का स्थल "राजन्-ङस्-पुरुष-सु" इत्यादि ही होता है। यहाँ पर प्रातिपदिक संज्ञा नियम्य सूत्र से ही होती है। समासेतर जो अर्थवत् समुदाय, तद्भिन्न जो अर्थवत् शब्दस्वरूप, उसकी प्रातिपदिक संज्ञा हो; ऐसा अर्थवत् सूत्र का अर्थ होता है। इस अर्थ में इतर शब्द से निषेध की अभिव्यक्ति होती है।

नियामक सूत्र की निषेधमुखेन प्रवृत्ति मानने पर "प्राप्त का बाध, स्वार्थत्याग और परार्थ की कल्पना" ये तीन गौरव होते हैं। इसलिए नियामक सूत्र की प्रवृत्ति विधिमुखेन ही की जाती है। इसीलिए शेखरकार कहते हैं कि 'नियमशास्त्राणि विधायकान्येव' अर्थात् नियम सूत्र विधायक ही होते हैं। विधायक होने पर ऊपर 'देवाः सन्ति' और 'पयःसु' इन प्रयोगों में पार्थक्य दिखाया जा चुका है। इस प्रकार अशिग्रहण का प्रयोजन 'पयःसु' यह प्रयोग है, यह बात सिद्ध होती है। यदि 'रोः सुपि' सूत्र में 'रो रि' सूत्र से "रः" इस षष्ठ्यन्त पद की अनुवृत्ति करके 'रु-सम्बन्धी रेफ का विसर्ग होता है' ऐसा "रोः सुपि" सूत्र का अर्थ करते हैं तब तो विसर्ग का स्थानी रूपी अल् रेफवृत्तिधर्म रत्व के अल्वृत्तिधर्म होने के कारण स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा, जिससे यत्व की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए यहाँ "अशि" इस पद का ग्रहण करना व्यर्थ ही है।

अब यह शंका होती है कि यदि स्थानी रूपी अल्वृत्तिधर्म अल्धर्म माना जाता है और तन्निमित्तक विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है, तो ऐसी स्थिति में "हे राम" यहाँ पदत्व की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि सम्बुद्धि का अवयव हल् जिस सकार का यहाँ लोप हुआ है तद्वृत्ति

सुप्त्व धर्म अल्वृत्तिधर्म कहा जायेगा और स्थानिवत्त्वेन उसे लाने में "अनल्विधौ" यह निषेध लग जायेगा। इस प्रकार सुप्त्व धर्म के न आने से यहाँ पदत्व की सिद्धि नहीं होगी।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि आनुमानिक स्थान्यादेशभाव से यहाँ पदत्व की सिद्धि सुलभ है। वह इस प्रकार होती है कि "राम-सु इत्यस्य स्थाने राम इत्यादेशः" इस प्रकार स्थानी और आदेश की परिकल्पना करके "राम-सु" वृत्ति सुबन्तत्व "राम" में स्थानिवद्भाव से लाकर "राम" में पदत्व की सिद्धि कर ली जाती है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि अतिदेश छः प्रकार का होता है—निमित्त, व्यपदेश, तादात्म्य, शास्त्र, कार्य और रूप। इन छः प्रकार के अतिदेशों में पदत्व का निमित्त जो सुबन्तत्व है, उसका अतिदेश करके "राम" को सुबन्त मान कर उसे पद कहा जाता है। यह निमित्तातिदेश पक्ष है। अथवा सुबन्तत्व का कार्य जो पदत्व है, सीधे उसी का अनुमानिकादेश से आतिदेश कर लिया जाता है। अर्थात् स्थानिवद्भाव से "राम-सु" वृत्ति पदत्व "राम" में चला आता है। यह कार्यातिदेश है। इस प्रकार यहाँ पदत्व की सिद्धि होती है। ऊपर यह बात कही गई है कि "हे राम" इस प्रयोग में स्थानिवद्भाव से सुबन्तत्व का लाभ होता है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि नागेश भट्ट ऊपर कह आये हैं कि नियमसूत्र की प्रवृत्ति विधिमुखेन होती है। यहाँ पर 'प्रत्ययलोपे' सूत्र नियमसूत्र है और स्थानिवत्सूत्र "नियम्य" सूत्र है। ऐसी स्थिति में यहाँ "प्रत्ययलोपे" सूत्र से ही सुबन्तत्व का लाभ होता है, ऐसा कहना उचित है, न कि स्थानिवत्त्वेन उसका लाभ कहना उचित है।

इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "प्रत्ययलक्षण" से भी पदत्व की सिद्धि होती है, क्योंकि इसके द्वारा भी "प्रत्ययनिमित्तक कार्य" अर्थात् प्रत्ययनिमित्तक प्रकृति-सम्बन्धी कार्य का अथवा तन्निमित्तक व्यवहार = प्रकृतिनिष्ठ प्रत्ययपरत्व व्यवहार का अतिदेश होता है। प्रकृति सम्बन्धी कार्य का अतिदेश करें अथवा प्रकृति में प्रत्ययपरत्व का व्यवहार करें, उभयथा वहाँ पदत्व का व्यवहार सुलभ ही है। यदि कहा जाय कि "प्रत्ययलोपे" सूत्र से प्रत्ययवृत्तिधर्म का अतिदेश होता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'प्रत्ययलोपे' प्रत्ययवत् इसी न्यास से कार्य चल सकता था तो सूत्र में लक्षणपदोपादान से यह सूत्र प्रत्ययनिमित्तक कार्य या प्रत्यय-निमित्तक व्यवहार का ही अतिदेश करता है। इस प्रकार कार्य या व्यवहार का अतिदेश करके प्रत्ययलक्षण से भी पदत्व की सिद्धि की जा सकती है।

आनुमानिक स्थान्यादेशभाव से ही "दीर्घाहो निदाघः" इस वाक्यघटक 'दीर्घाहो' पद की सिद्धि होती है। यहाँ की स्थिति इस प्रकार है—"दीर्घाणि अहानि यस्मिन् निदाघे" इस विग्रह में निष्पन्न दीर्घाहन् शब्द से पुंलिंग में सु विभक्ति लाने पर जब सु का "हल्ङ्यादि" लोप कर दिया जाता है तब यदि श्रौतस्थान्यादेशभाव के आधार पर स्थानिवद्भाव करके लोप में सुप्त्वधर्म लाना चाहें तो वहाँ "अनल्विधौ" से निषेध हो जायेगा, क्योंकि सुप्त्वधर्म स्थानीरूप अल्-सकार वृत्तिधर्म होने के कारण अल्वृत्तिधर्म है। अब यदि स्थानिवद्भाव से सु विभक्ति को लाकर "रोऽसुपि" की अप्रवृत्ति करना चाहें तो नहीं कर सकते, क्योंकि अल्वृत्तिधर्मनिमित्तक विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा। परिणामस्वरूप असुप्-परक होने से "रोऽसुपि" सूत्र से नकार का रकार होगा और रकार होने से उत्व नहीं होगा। फलस्वरूप 'दीर्घाहो' रूप नहीं बन सकेगा।

जब आनुमानिक स्थान्यादेशभाव मानते हैं तब हल्ङ्यादि लोप होने पर "दीर्घाहन्-सु इत्यस्य स्थाने दीर्घाहन् इत्यादेशः" इस प्रकार के स्थानी और आदेश की परिकल्पना होगी। यहाँ स्थानी "दीर्घाहन्-सु" में वर्तमान जो "असुपि" इस पर्युदास के द्वारा रत्व का निषेध, इसका "दीर्घाहन्" इस आदेश में भी आनुमानिकादेश के द्वारा अतिदेश हो जाता है। जिससे 'रोऽसुपि' के द्वारा नकार को रेफ (रकार) आदेश नहीं होता है, किन्तु "अहन्" सूत्र से रुत्व किया जाता है, तत्पश्चात् उत्व और गुण करके "दीर्घाहो निदाघः" इस प्रयोग की सिद्धि होती है।

तेषां रोरिति। इदञ्च—निपातानाख्याय 'विभाषा भवदि'ति वार्त्तिकं प्रत्याचक्षाणस्य वृत्तिकृतो मतेन। परे तु—तेषामपि रोरित्यर्थः। अपिना 'विभाषा भवद्भगवदघवतामोच्चावस्ये'ति वार्तिकनिष्पन्नसङ्ग्रहः। 'एषामन्त्यस्य रुः स्यादवस्य चौकारः सम्बुद्धावि'ति तदर्थः। अवग्रहणसामर्थ्यात् 'अलोऽन्त्यस्ये'ति नेति बोद्ध्यम्। वार्त्तिकनिष्पन्नानां त्रयाणां भोश्शब्दनिपातस्य चावश्यकत्वमन्यत्र स्पष्टमित्याहुः।

कौमुदीकार दीक्षित ने भोस्, भगोस् और अघोस् को सकारान्त निपात माना है और उनके सकार का रुत्व और यत्व करने पर "व्योर्लघु" सूत्र से उसके स्थान पर लघूच्चारण यत्व का विधान किया है।

नागेशभट्ट कह रहे हैं कि भोस्, भगोस् आदि की सकारान्त निपातता को स्वीकार करना वृत्तिकार के मत के अनुसार है। उन्होंने इन सान्त निपातों को कह कर (स्वीकार करके) "विभाषा भवद्भगवद्" वार्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि वे सकारान्त निपात को स्वीकार करते हैं।

अब "परे तु" इस शब्द से नागेश अपना मत कह रहे हैं कि कौमुदी के मूल में जो 'तेषाम्' यह पद आया है उसके आगे "अपि" इतना अंश मिलाकर "तेषामपि" ऐसा पढ़ना चाहिए। यहाँ "तेषाम्" पद से निपातों का ग्रहण होता है और "अपि" शब्द से "विभाषा भवद्भगवदघवताम्" इस वार्तिक से निष्पन्न शब्दों के "रु" का भी ग्रहण होता है। यह वार्तिक भवद्-भगवद् आदि शब्दों के अन्त्य अक्षर को रुत्व करता है और "अव" को ओकार आदेश करता है, सम्बुद्धि पर में रहने पर। यहाँ "अलोऽन्त्यस्य" परिभाषा से अन्त्य को ओ आदेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि वार्तिक में जो अव का ग्रहण किया गया है, तत्सामर्थ्यात् "अलोऽन्त्यस्य" की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि वार्तिक से निष्पन्न तीनों "भोर्" आदि शब्दों की तथा "भोस्" आदि सकारान्त निपातों की आवश्यकता है, यह बात अन्यत्र = मनोरमा में स्पष्ट है।

व्योर्लघु। यद्यपि वर्णसमाम्नाये यस्य प्राथम्यात् 'य्वोरि'त्युचितं, तथापि 'लोपो व्योरि'ति लोपवारणाय सौत्रत्वमाश्रयणीयं स्यात्, अतो 'व्योरि'त्युक्तम्। लघुतरः प्रयत्नो यस्योच्चारणे स लघुप्रयत्नतरः। अन्यपदार्थसम्बन्धोत्तरं वर्त्तिपदार्थप्रकर्षविवक्षया साधुः। प्रयत्ने लघुतरत्वञ्चैषां शैथिल्यजनकत्वमेव। लघूच्चारणाविति। लघुतरोच्चारणावित्यर्थः। सूत्रे सौत्रत्वादेकवचनम्। वकारोदाहरणम्—'असावादित्य' इति वृत्तिः।

"व्योर्लघुप्रयत्नतरः" इस सूत्र में "व्योः" पद के ऊपर विचार करते हुए नागेश कह रहे हैं कि यद्यपि वर्णसमाम्नाय में यकार का पाठ पहले है, इसलिए प्राथम्यात् 'य्वोः' ऐसा पाठ करना उचित था, तथापि ऐसा पाठ इसलिए नहीं किया गया कि ऐसा पाठ करने पर "लोपो व्योर्वलि" सूत्र से यहाँ यकार के लोप की प्राप्ति होती और उसका वारण करने के लिए 'सौत्रत्वान्न लोपः' ऐसा कहना पड़ता। इसलिए "य्वोः" पाठ न करके "व्योः" ऐसा पाठ किया गया है। इस पाठ में "लोपो व्योः" सूत्र की प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि वकार के आगे वल् पर में नहीं है।

"लघुप्रयत्नतरः" शब्द की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि जिसके उच्चारण में लघुतर प्रयत्न होता है वह लघुप्रयत्नतर कहा जाता है।

यहाँ यह शंका होती है कि उपर्युक्त व्याख्या से विदित होता है कि लघुतर शब्द के द्वारा लाघवगत प्रकर्ष यहाँ विवक्षित है और उसी लघु शब्द का अन्यपदार्थ के साथ अन्वय की विवक्षा भी है, क्योंकि अन्यपदार्थ की प्रधानता में ही यहाँ बहुव्रीहि समास करना है। ऐसी स्थिति में वर्ति पदार्थ लघु का प्रकर्ष के साथ तथा अन्यपदार्थ के साथ युगपद् अन्वय की विवक्षा में "विप्रतिषेध" सूत्र के द्वारा परत्वात् पहले तरप् होगा, इसके बाद प्रयत्न शब्द के साथ बहुव्रीहि होगा। इसका परिणाम यह होगा कि यहाँ "लघुतरप्रयत्नः" इस रूप की सिद्धि होगी, न कि लघुप्रयत्नतर शब्द की सिद्धि होगी? इसलिए सूत्र में "लघुतरप्रयत्नः" ऐसा निर्देश क्यों नहीं किया गया?

इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यहाँ पहले अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध करके बहुव्रीहि समास कर लेने के बाद वर्ति पदार्थ लघुगत प्रकर्ष की विवक्षा की जाती है, जिससे उक्त रूप की सिद्धि हो जाती है। इसका विग्रह-वाक्य इस प्रकार होता है—'लघुः प्रयत्नो यस्यासौ लघुप्रयत्नः'। इस प्रकार लघुप्रयत्न शब्द बनने के बाद प्रयत्नगत लाघव में जब प्रकर्ष की विवक्षा होती है, तब लघुप्रयत्न शब्द से तरप् प्रत्यय करके लघुप्रयत्नतर शब्द की सिद्धि होती है। यदि कहा जाय कि वर्तिपदार्थ लघु जब अन्यपदार्थ में विशेषण है तब उसका प्रकर्ष के साथ योग कैसे होगा? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जिस प्रकार सूक्ष्मतर वस्त्र के लिए "सूक्ष्मवस्त्रतर" ऐसा प्रयोग पूर्वपदार्थातिशय के द्योतन के लिए होता है, उसी प्रकार यहाँ पूर्वपदार्थ लाघवगत प्रकर्ष के द्योतन के लिए "लघुप्रयत्न" शब्द से भी तरप् हो जायेगा। पाणिनि का "लघुप्रयत्नतरः" यह निर्देश ही इसमें प्रमाण है।

यहाँ विचारणीय है कि प्रयत्न में लघुतरत्व क्या चीज है? नागेश इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि जिह्वाग्र आदि स्थानों का शैथिल्यजनकत्व ही प्रयत्न में लघुतरत्व है। यहाँ "एषाम्" इस पद का अर्थ जिह्वाग्र, मध्य और मूल है। इनका शैथिल्यजनकत्व ही प्रयत्न का लघुतरत्व है। कौमुदी में "लघुप्रयत्नतरः" का अर्थ "लघूच्चारणौ" किया है, किन्तु जब लाघवगत प्रकर्ष यहाँ विवक्षित है तब उक्त पद का अर्थ "लघूच्चारणौ" की जगह "लघुतरोच्चारणौ" करना चाहिए।

यहाँ पुनः यह शंका होती है कि यहाँ वकार और यकार जब लघुप्रयत्नवान् विधेय हैं तब इनके लिए द्विवचन का प्रयोग न करके "लघुप्रयत्नतरः" इस प्रकार एकवचन का प्रयोग क्यों किया गया है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि सूत्र में सौत्रत्वात् एकवचन का प्रयोग किया

गया है। कौमुदी में लघुप्रयत्नतर यकार का उदाहरण "भोयच्युत" दिया गया है, किन्तु वकार का उदाहरण नहीं दिया गया है; इसलिए वृत्तिकार द्वारा प्रस्तुत वकार के उदाहरण का उल्लेख करते हुए कह रहे हैं कि वृत्तिकार ने वकार का उदाहरण "असावादित्यः" यह प्रयोग दिया है।

ओतो। 'व्योरि'त्यत्र यकारसाहचर्याद्वकारोऽपि धात्वनवयव एव। अत्राप्यर्थाधिकारात्तथैव। तेन 'स्मृतोवच्युते'त्यादौ न दोषः। तदाह—यस्येति। तादृशवस्यासम्भवादिति भावः। 'भोभगो' इति तु नानुवर्त्तते विच्छेदात्,—तद्ध्वनयन्वक्ष्यति—पदान्तस्य किम्? तोयमिति। इदं लघुप्रयत्नयोर्न, गार्ग्यश्रुतेः, तदाह—अलघुप्रयत्नस्येति। पूजार्थमिति। व्याख्यानादिति भावः। तादृशश्च भोसादिपूर्वक एवेत्याशयेनाह—भो अच्युतेति।

भाष्यानुसारिणस्तु—भो इत्याद्यनुवृत्तेः स्मृतोवित्यादौ न दोषः, तस्यानभिधानाच्च। अपूर्वस्येति तु ओत इत्यनेन विरोधान्न सम्बध्यते। 'लोपः शाकल्यस्ये'त्येव 'भोभगो' इत्याद्यनुवृत्त्या सिद्धे नित्यत्वार्थमिदमित्याहुः।

"ओतो गार्ग्यस्य" इस सूत्र में "व्योर्लघुप्रयत्नतरः" सूत्र से "व्योः" इस पद की अनुवृत्ति आती है। उस सूत्र में यकार के साहचर्य से वकार भी धातु का अनवयव ही लिया जाता है। वहाँ से जो "व्योः" की अनुवृत्ति यहाँ हुई है वह अर्थाधिकार होने के कारण पूर्ववत् यहाँ भी वकार की ही बोधिका होती है, इसलिए यहाँ भी वकार धात्वनवयव ही लिया जाता है। इसलिए "स्मृतोवच्युत" इस प्रयोग में वकार का लोप नहीं होता है। इस प्रयोग की सिद्धि ज्योत्स्ना टीका के अनुसार इस प्रकार होती है—"स्मृतः उः = शम्भुर्येनासौ स्मृतौः, स्मृतां वाति वेति वा" इस विग्रह में स्मृतोपूर्वक वा धातु या वी धातु से विच् प्रत्यय करने से "स्मृतोवाः", "स्मृतोवीः" रूप बनता है। इसके बाद आचष्टे अर्थ में णिच् प्रत्यय, टिलोप और क्विप् प्रत्यय करके णिलोप करने पर स्मृतोव् का अच्युत से योग करने पर "स्मृतोवच्युतः" यह प्रयोग सिद्ध होता है। इसलिए दीक्षितजी ने कौमुदी में इस सूत्र की वृत्ति में कहा है कि 'अलघुप्रयत्नस्य यस्य नित्यं लोपः' अर्थात् अलघुप्रयत्न यकार का नित्य लोप होता है। इससे स्पष्ट है कि ओकार से पर में अलघुप्रयत्न वकार के सम्भव न होने के कारण कौमुदी में केवल यकार के लोप की बात कही गई है। जब ओकार से पर में वकार सम्भव ही नहीं है तब पूर्वसूत्र से वकार की अनुवृत्ति लाना भी यहाँ आवश्यक नहीं है। ऐसी स्थिति में दीक्षित के अनुसार "स्मृतोवच्युतः" इस प्रयोग का अनभिधान ही समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ओकार से पर में धातु का अनवयव और अलघुप्रयत्न वकार जब सम्भव ही नहीं है तब यहाँ वकार के लोप के लिए वकार की अनुवृत्ति अनावश्यक है। इसलिए "व्योः" इस पदघटक केवल यकार की ही यहाँ अनुवृत्ति होती है। इसी अभिप्राय से कौमुदीकार ने कहा है कि "यस्य = यकारस्य" अर्थात् ओकार से पर में पदान्त और अलघुप्रयत्न यकार का लोप होता है, वकार का लोप नहीं होता है। क्योंकि तादृश = ओकार से पर में अलघुप्रयत्न वकार सम्भव ही नहीं है। "स्मृतोवच्युतः" इस प्रयोग में तादृश वकार की बात कहना अर्थहीन है, क्योंकि इस प्रयोग का अनभिधान है, यह बात पहले कही जा चुकी है।

"ओतो गार्ग्यस्य" इस सूत्र में "भोभगो" की अनुवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि "लोपः शाकल्यस्य" इस सूत्र में ही उसके सम्बन्ध का विच्छेद हो गया है। वहाँ तो "भोभगो" सूत्र से केवल "अपूर्वस्य" और "अशि" इन दोनों पदों की ही अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार पूर्वसूत्र में ही जब 'भोभगो' का सम्बन्ध विच्छेद हो गया है, तब प्रस्तुत सूत्र में उनका सम्बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है? इसी बात को ध्वनित करते हुए कौमुदीकार ने 'पदान्तस्य' इस पद का फल "तोयम्" इस प्रयोग में दिया है। यहाँ जो यकार है वह यद्यपि ओकार से पर में तो है किन्तु वह पदान्त में नहीं है। दीक्षित का यह उदाहरण देना तभी सम्भव होता है जब इस सूत्र में "भोभगो" की अनुवृत्ति नहीं होती। यदि "भोभगो" की अनुवृत्ति यहाँ होती तो "तोयम्" इस पद को "पदान्तस्य" इस पद का प्रत्युदाहरण के रूप में उल्लेख करना ठीक नहीं होता। क्योंकि 'भोभगो' से पर में ही यकार के लोप का विधान करने के कारण "तोयम्" में यकार का लोप प्राप्त ही नहीं होता तो उसे "पदान्तस्य" का प्रत्युदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना सर्वथा अर्थहीन ही हो जाता। इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ "भोभगो" की अनुवृत्ति नहीं होती है।

लघुप्रयत्न यकार में तथा वकार में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। कारण यह है कि इस सूत्र में "गार्ग्य" शब्द का उल्लेख है। लघुप्रयत्न तो शाकटायन के मत में होता है। गार्ग्य के मत में लघुप्रयत्न होता ही नहीं। अतः वहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। दूसरी बात यह है कि इस सूत्र से विधेय लोप नित्य है। यदि लघुप्रयत्न में इसकी प्रवृत्ति हो जाय तो नित्यलोप विधान के कारण लघुप्रयत्न का विधान ही व्यर्थ हो जायेगा। इसी बात को संकेतित करते हुए कौमुदी में कहा गया है कि "अलघुप्रयत्नस्य"-अलघुप्रयत्न यकार का लोप होता है।

यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि सूत्र में गार्ग्यग्रहण करने से गार्ग्य के मत में लोप होता है, अन्य के मत से नहीं होता है। इस प्रकार गार्ग्यग्रहण विकल्पार्थ है, किन्तु यहाँ गार्ग्य ग्रहण पूजार्थ = प्रशंसार्थ है। गार्ग्य के द्वारा किये गये नित्य यलोप का स्मरण पाणिनि अपने शास्त्र में कर रहे हैं। भाष्यकार ने भी कहा है कि "ओकाराल्लोपवचनं नित्यार्थम्"। इस भाष्य-व्याख्यान से गार्ग्यग्रहण का पूजार्थत्व व्यक्त होता है। तादृशश्च = अलघुप्रयत्न यकार भोस् आदि पूर्वक ही मिलता है। इसीलिए कौमुदी में प्रस्तुत सूत्र का उदाहरण "भो अच्युत" यह प्रयोग दिया गया है।

अब नागेश भट्ट "भाष्यानुसारिणः" आदि शब्द से अपना मत व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि इस सूत्र में भोस् आदि की अनुवृत्ति होती है। इसीलिए इससे आगे के सूत्र "हलि सर्वेषाम्" (८।३।२२) में भोस् आदि की अनुवृत्ति संगत होती है। जब भोस् आदि की अनुवृत्ति होती है तब तो "स्मृतोवच्युत" में दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ वलोप की प्राप्ति ही नहीं होती है।

वास्तव में जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इस सूत्र में भोस् आदि की अनुवृत्ति नहीं होती है; इस पक्ष में स्मृतोव् आदि में दोष पड़ रहा है, इसलिए 'स्मृतोव्' आदि का अनभिधान मानना चाहिए। यदि कहा जाय कि यहाँ भोस् आदि की अनुवृत्ति नहीं हुई तो आगे के सूत्र "हलि सर्वेषाम्" में वह कैसे होगी? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि

ऐसी स्थिति में वहाँ मण्डूकानुवृत्ति से कार्य करना चाहिए। इस सूत्र में "भोभगो" सूत्र से "अपूर्वस्य" इस पद का सम्बन्ध नहीं होता। कारण यह है कि यह सूत्र ओकार से पर में अलघुप्रयत्न पदान्त यकार का लोप करता है। विचारणीय यह है कि जो यकार ओकार से पर में है वह अकार से पर में कैसे होगा? यदि इस सूत्र में "अपूर्वस्य" का सम्बन्ध किया जाता है तब "ओतः" से उसका विरोध स्पष्ट ही होता है, इसलिए इस विरोध के कारण यहाँ "अपूर्वस्य" का सम्बन्ध नहीं होता है।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि "लोपः शाकल्यस्य" सूत्र में "भोभगो" आदि की अनुवृत्ति करके उसी के द्वारा प्रस्तुत सूत्र (ओतो गार्ग्यस्य) के लक्ष्य की सिद्धि जब हो सकती है तो इसकी क्या आवश्यकता है? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि "लोपः शाकल्यस्य" सूत्र वैकल्पिक लोप का विधान करता है जो यहाँ अनभीष्ट है। अतः नित्य लोपविधान के लिए यह सूत्र आवश्यक है।

उञि च। भो इत्यादिपूर्वस्य पूर्वेण सिद्धेराह—अवर्णपूर्वयोरिति। एतदपि नित्यमेव। अत्रापि गार्ग्यग्रहणानुवृत्त्याऽलघुप्रयत्नस्यैव लोपः। एतेन—भो इत्यादिपूर्वे लघुप्रयत्नलोपार्थमत्रापि तदनुवृत्तिरित्यपास्तम्। वकारोदाहरणन्तु—'असा उ एकाग्निरि'ति वृत्तिः। उत्तरार्थमिति। 'ङमोह्रस्वादची'त्यर्थमित्यर्थः। एतत्तत्रैव निरूपितम्। 'हलि सर्वेषामि'त्यादौ तु न सम्बद्ध्यते, व्यवहिते ङम इत्यत्रैव प्रयोजनकथन-परभाष्यप्रामाण्यात्। अत एव 'लिट्त्सु' इत्यादौ धुडादयः। अन्यथा सादौ पदे इत्यर्थान्न स्युः। अत एव 'माभ्यामि'त्यादौ 'हलि सर्वेषामि'ति लोपसिद्धिरिति दिक्।

जहाँ पर यकार और वकार से पूर्व में "भो" आदि शब्द रहेंगे वहाँ पर यकार और वकार को ओकार से पर में मान कर पूर्वसूत्र "ओतो गार्ग्यस्य" से ही लोप सिद्ध है, इसलिए कौमुदीकार ने इस सूत्र में "अपूर्वस्य" का सम्बन्ध करके "अवर्णपूर्वयोः" ऐसी इस सूत्र की व्याख्या की है। पूर्वसूत्र "ओतो गार्ग्यस्य" की भाँति यह भी नित्य ही लोपविधान करता है। भो आदि की अनुवृत्ति यहाँ नहीं होती है, क्योंकि वहाँ यकार वकार के ओकार से पर में होने के कारण "ओतो गार्ग्यस्य" सूत्र से ही नित्य लोप सिद्ध है।

इस सूत्र में भी "गार्ग्य" ग्रहण की अनुवृत्ति होती है, अतः यह सूत्र भी अलघुप्रयत्न का ही लोप करता है, क्योंकि गार्ग्य के मतानुसार लघुप्रयत्न होता ही नहीं। ऐसी स्थिति में जो लोग कहते थे कि जहाँ भो आदि पूर्व में हैं वैसे स्थल में लघुप्रयत्न यकार वकार का लोप करने के लिए यहाँ तदनुवृत्ति = भोस् आदि की अनुवृत्ति करनी चाहिए, वे लोग अपास्त हो जाते हैं। कारण यह है कि गार्ग्य की अनुवृत्ति के कारण इसकी प्रवृत्ति अलघुप्रयत्न में निश्चित है तो लघुप्रयत्न में इसके द्वारा लोप की बात करना निरर्थक ही है।

यकारलोप का उदाहरण तो कौमुदी में "स उ एकाग्निः" दिया गया है। यहाँ 'सस्-उ-एकाग्निः' इस स्थिति में सकार को रुत्व और रुत्व को यत्व करने के बाद "लोपः शाकल्यस्य" से वैकल्पिक लोप की प्राप्ति होने पर उस अलघुप्रयत्न यकार का यह नित्य ही लोप करता है। वकार के लोप का उदाहरण कौमुदी में नहीं दिया गया है, इसलिए उसका उदाहरण देते हुए कह रहे हैं

कि वृत्तिकार के अनुसार "असा उ एकाग्निः" यह वकारलोप का उदाहरण है। यहाँ औकार को आव् आदेश करने के बाद इससे वकार का नित्य ही लोप हुआ है।

इस सूत्र में "पदे" इस पद का ग्रहण करके पदात्मक उञ् पर में रहने पर लोप का विधान किया जाता है। इसका फल यह होता है कि वेञ् धातु से क्त प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न "उतम्" इस पद के पर में रहने पर "तन्त्रयुतम्" इस प्रयोग में यकार का लोप नहीं होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से प्रस्तुत सूत्र में "उञ्" इस पद से प्रतिपदोक्त निपात "उञ्" का ही ग्रहण किया जायेगा। ऐसी स्थिति में "तन्त्रयुतम्" में कोई दोष नहीं है तो यहाँ "पदे" इस पद की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न को ध्यान में रखकर दीक्षितजी ने "पदे" ग्रहण को उत्तरार्थ बतलाया है। इस उत्तरार्थ प्रतीक को लेकर शेखरकार कह रहे हैं कि यहाँ उत्तरपद से "ङमो ह्रस्वादचि" यह सूत्र अभिप्रेत है। यहाँ की स्थिति यह है कि इस सूत्र में जो "ङमः" यह पञ्चम्यन्त पद है उसके साथ समानाधिकरण अन्वय के लिए वहाँ पर अनुवृत्त "पदस्य" इस षष्ठ्यन्त पद का पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणाम किया जाता है। फलस्वरूप तदन्त-विधि के द्वारा "ङमन्त जो पद, उससे पर में अच् को ङमुट् हो" ऐसा सूत्रार्थ किया जाता है। नागेश भट्ट इस विभक्तिविपरिणाम का निराकरण करते हैं। इन्होंने वहाँ वैयधिकरणान्वय स्वीकार कर सूत्रार्थ इस प्रकार किया है—"पदावयव ङम् से पर में जो अच्, उसे ङमुट् होता है"। ऐसा अर्थ करने पर "दण्डिना" पद में ङमुट् की आपत्ति होती है। इसके वारण के लिए "उञि च पदे" सूत्र से "पदे" इस पद की मण्डूकानुवृत्ति की गई है। प्रस्तुत पद में आकार के पद न होने के कारण दोष का वारण हो जाता है। इसी बात को संकेतित करते हुए नागेश भट्ट कह रहे हैं कि "ङमो ह्रस्वादचि" सूत्र में जो "पदे" की अनुवृत्ति की बात है वह "तत्रैव = "ङमो ह्रस्वादचि" सूत्र की व्याख्या के अवसर पर वहीं निरूपित है।

शंका होती है कि इस सूत्र में "पदे" यह पद उत्तरार्थ है तो इससे अव्यवहित सूत्र "हलि सर्वेषाम्" में भी इसकी अनुवृत्ति होनी चाहिए? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि भाष्यकार ने "हलि सर्वेषाम्" सूत्र में "पदे" का प्रयोजन न बताकर व्यवहित सूत्र "ङमो ह्रस्वादचि" सूत्र में ही उसका प्रयोजन बताया है। इससे स्पष्ट होता है कि "हलि सर्वेषाम्" में "पदे" की अनुवृत्ति नहीं होती है। अत एव = जिस प्रकार "हलि सर्वेषाम्" में 'पदे' की अनुवृत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार यहाँ 'इत्यादौ' पदघटक आदि पद से ग्राह्य "डः सि धुट्" में भी 'पदे' की अनुवृत्ति नहीं होती है। इस बात को स्वीकार करने से ही "लिट्त्सु" इस प्रयोग में धुट् की सिद्धि होती है। यदि यहाँ 'पदे' का सम्बन्ध होता तो तदादिविधि के द्वारा सूत्रार्थ होता कि डकार से पर में सकारादि पद को धुट् का आगम हो। ऐसा अर्थ करने पर "लिट्त्सु" प्रयोग में धुट् नहीं होता, क्योंकि "सु" सकारादि पद नहीं है।

अत एव = "हलि सर्वेषाम्" सूत्र में 'पदे' की अनुवृत्ति नहीं होती है, इस बात को स्वीकार करने से ही "माभ्याम्" इस प्रयोग में "हलि सर्वेषाम्" सूत्र से यकार का लोप सिद्ध होता है। अन्यथा "पदे" की अनुवृत्ति करके 'हलादि पद पर में रहने पर यकार का लोप होता है' ऐसा यदि सूत्रार्थ किया जाता तो यहाँ यकार का लोप नहीं होता, क्योंकि "भ्याम्" हलादि पद नहीं है।

हलि स। 'भोभगो' इत्याद्यनुवर्त्तते। तत्रौकारात्परस्य लघूच्चारणस्यैवानेन लोपः। अलघूच्चारणस्य तु 'ओत' इत्येव सिद्धम्। अपूर्वे तूभयोरपि। न चापूर्वालघुप्रयत्ने अस्यासिद्धत्वात् 'लोपः शाकल्यस्ये'ति प्राप्नोतीति वाच्यं, लघुप्रयत्नस्यैवानेन लोपे 'व्योरि'ति सूत्रेऽचीति करणेन हलि विधानाभावेनैव सिद्धावस्य सूत्रस्य वैयर्थ्यापत्त्या तद्बाधात्। न चालघुप्रयत्नयोरेव लोपः स्याद्, व्योरित्यर्थाधिकारादिति वाच्यम्, ऋषिमात्रग्रहणार्थस्य 'सर्वेषामि'त्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, विकल्पस्य विच्छिन्नत्वेन नित्यत्वसिद्धेः। अत्र च यकार एवानुवर्त्तते, न वकारः; वृत्तौ तथैवोक्तेः, फलाभावात्, 'अव्यपरे' इत्यादिनिर्देशाच्च। अन्यथा तत्र सौत्रत्वाद्याश्रयणीयं स्यात्तदाह—लघ्वलघूच्चारणस्य यस्येति।

"हलि सर्वेषाम्" सूत्र में "भोभगोअघोअपूर्वस्य" इस सूत्र की मण्डूकप्लुति न्याय से अनुवृत्ति होती है। इनमें ओकार से पर में लघूच्चारण यकार का ही लोप इस सूत्र से होता है। अलघूच्चारण यकार का तो "ओतो गार्ग्यस्य" सूत्र से ही लोप सिद्ध है। अवर्णपूर्वक यकार लघूच्चारण हो या अलघूच्चारण हो, दोनों प्रकार के यकारों का लोप यह सूत्र करता है। कारण यह है कि अवर्णपूर्वक यकार स्थल में "ओतो गार्ग्यस्य" की प्राप्ति ही नहीं होती है। शेखर के मूल में आये हुए "उभयोः" इस पद का अर्थ 'लघ्वलघूच्चारणयोः' है।

यहाँ यह शंका होती है कि अलघुप्रयत्न यकार जो अवर्णपूर्वक है वहाँ इस सूत्र की तथा "लोपः शाकल्यस्य" सूत्र की साथ ही प्राप्ति होने पर पूर्वत्रिपादी "लोपः शाकल्यस्य" के प्रति परत्रिपादी प्रस्तुत सूत्र असिद्ध हो जायेगा तो वहाँ "लोपः शाकल्यस्य" से वैकल्पिक लोप क्यों नहीं होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि ऐसी स्थिति में जब कि अलघुप्रयत्न अवर्णपूर्वक यकार में "लोपः शाकल्यस्य" की प्रवृत्ति हो रही है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि इस सूत्र से लघुप्रयत्न यकार का ही लोप होगा। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट होता है कि "व्योर्लघु" सूत्र से विहित लघूच्चारण यकार का श्रवण "अच्" पर में रहने पर ही सम्भव है, क्योंकि हल् पर में रहने पर तो "हलि सर्वेषाम्" से उसका लोप हो रहा है। जब यह बात स्पष्ट हो गई कि लघुप्रयत्न यकार की श्रुति अच् में रहने पर ही हो रही है तब "व्योर्लघु" सूत्र में "अचि" इस पद का ग्रहण करने मात्र से ही हल् प्रत्याहार पर में रहने पर स्वयमेव लघूच्चारण (लघुप्रयत्न) यकार होगा ही नहीं तो "हलि सर्वेषाम्" से उसके लोप का विधान करना व्यर्थ ही है। इस प्रकार "हलि सर्वेषाम्" सूत्र व्यर्थ होकर "लोपः शाकल्यस्य" का बाधक हो जाता है। इस प्रकार लघुप्रयत्न की भाँति अलघुप्रयत्न में भी इसकी प्रवृत्ति स्वीकार करने से "लोपः शाकल्यस्य" की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है।

"व्योर्लघुः" सूत्र में जो "व्योः" पद है वह उद्देश्य कोटि में होने के कारण अलघूच्चारण है। प्रस्तुत सूत्र में उसी की अनुवृत्ति होती है। अर्थाधिकार होने के कारण इस सूत्र से भी अलघूच्चारण यकार और वकार का ही लोप होना चाहिए। इस बात का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि यदि ऐसा किया जाता है तब ऋषि मात्र का ग्रहण करने के लिए सूत्र में

पठित "सर्वेषाम्" इस पद का वैयर्थ्य ही हो जायेगा। हल् पर में रहने पर भो, भगो, अघो एवं अकार पूर्वक लघूच्चारण तथा अलघूच्चारण यकार का सभी आचार्यों के मतानुसार लोप होता है, इसी उद्देश्य से यहाँ "सर्वेषाम्" पद का ग्रहण किया गया है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि लघूच्चारण शाकटायन के मत से ही होता है। अब यदि इस सूत्र से केवल अलघूच्चारण यकार का लोप किया जाता है तब "शाकटायनस्य" से अभिप्रेत लघूच्चारण यकार का लोप नहीं होगा तो सूत्र में "सर्वेषाम्" इस पद की क्या आवश्यकता रह जाती है?

यदि कहा जाय कि "सर्वेषाम्" यह पद ऋषिमात्र के ग्रहण के लिए नहीं है अपितु शाकल्य पद से प्रतिपाद्य विकल्प की अननुवृत्ति के द्वारा नित्यार्थ है, तो यह कहना ठीक नहीं है। कारण यह है कि "हलि सर्वेषाम्" (८।३।२२) से पूर्व "ओतो गार्ग्यस्य" (८।३।२०) तथा "उञि च पदे" (८।३।२१) में ही शाकल्य पद से जाना जाने वाला विकल्प का विच्छेद हो गया है, अर्थात् इन दोनों सूत्रों में ही जब शाकल्य का सम्बन्ध नहीं होता तब "हलि सर्वेषाम्" में कैसे हो जायेगा? फलस्वरूप इसका नित्यत्व स्वतः सिद्ध है।

प्रस्तुत सूत्र में "व्योर्लघु" सूत्र से केवल यकार की ही अनुवृत्ति होती है, वकार की नहीं; क्योंकि वृत्तिग्रन्थ में ऐसा ही कहा गया है। यदि कहा जाय कि अन्यत्र वकार की अनुवृत्ति न होने में कोई प्रमाण नहीं है, अतः यहाँ उसकी अनुवृत्ति होनी चाहिए? तो उसके उत्तर में कह रहे हैं कि "फलाभावात्" यहाँ वकार की अनुवृत्ति नहीं होती है। वृक्षव् आदि पदों में वकार का लोप करना वकारानुवृत्ति का फल हो सकता है, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि "वृक्षव्" आदि पदों का अनभिधान किया जा चुका है। वृक्षवादि प्रयोग होते ही नहीं हैं। वकार की अनुवृत्ति यहाँ नहीं होती, इस बात में सूत्रकार की सम्मति दिखाते हुए कह रहे हैं कि "प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे" इस सूत्र में "अव्यपरे" यह निर्देश यहाँ वकार की अननुवृत्ति में प्रमाण है। यदि वकार की अनुवृत्ति यहाँ होती तो इस निर्देश में वकार के लोप की प्राप्ति प्रस्तुत सूत्र से होती। उसका वारण करने के लिए सौत्रत्वात् का आश्रयण करना पड़ता और कहना पड़ता कि यहाँ सौत्रत्वात् या निपातनात् वकार का लोप नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ वकार की अनुवृत्ति नहीं होती है। इसीलिए कौमुदी में कहा गया है कि लघूच्चारण और अलघूच्चारण यकार का लोप होता है।

न तु सुपीति। पर्युदासे हि सुप्सदृशे प्रत्यय एव स्यात्, एवञ्चाहर्भातीत्यत्र न स्यात्। यदि तु सुब्भिन्ने शब्दे स्यात्— 'दीर्घाहो निदाघे'त्यत्रापि स्यात्। सुबन्तेत्यर्थस्तु न। 'उत्तमैकाभ्यामि'त्यादिनिर्देशैः सप्तमीनिर्दिष्टे प्रत्यये तदन्तविध्यभावज्ञापनात्। लक्ष्यानुरोधेन क्वचित्प्रत्ययग्रहणे शब्दस्वरूपस्य विशेषणताया एवाश्रयणाच्च। अत एव 'रदाभ्यां निष्ठे'त्यादौ न दोषः। अहरहरिति। 'नित्यवीप्सयोरि'ति द्वित्वम्। 'न लुमते'ति निषेधात्सुप्परत्वाभावः।

"रोऽसुपि" इस सूत्र में जो "असुपि" पद है इसमें प्रसज्यप्रतिषेध है, पर्युदास नहीं है। यदि यहाँ पर्युदास माना जाय तो 'सुब्भिन्न सुप्सदृश प्रत्यय पर में रहने पर अहन् के नकार

को रेफादेश हो', ऐसा सूत्रार्थ होगा। इसका परिणाम यह होगा कि "अहर्भाति" प्रयोग में नकार को रेफादेश नहीं हो सकेगा, क्योंकि "भाति" यह कोई प्रत्यय नहीं है।

यदि सुप्-सादृश्य प्रत्ययत्वेन न लेकर शब्दत्वेन लिया जाय तो "अहर्भाति" का दोष दूर हो सकता है, क्योंकि सुब्भिन्न और सुप्सदृश शब्द "भाति" के पर में रहने से यहाँ रेफादेश सम्भव है, किन्तु इस अर्थ में "दीर्घाहो निदाघः" इस प्रयोग में भी रेफादेश होने पर "हशि च" सूत्र से उत्व नहीं होगा। क्योंकि उत्व तो रु के स्थान पर होता है, न कि रकार के स्थान पर। इस प्रकार इस प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

यदि कहा जाय कि "प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितः" इस परिभाषा के द्वारा तदन्तविधि करके 'सुबन्तभिन्न सुबन्त-सदृश पर में रहने पर रेफादेश होता है' ऐसा सूत्रार्थ किया जाय तो "अहर्भाति" प्रयोग में सुबन्तभिन्न तिङन्त पर में रहने से रेफादेश हो जायेगा और 'दीर्घाहो निदाघः' प्रयोग में जहाँ सुबन्त पर में है वहाँ नहीं होगा। इस प्रकार पर्युदास मानने में कोई दोष नहीं है। इस बात का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि "सुबन्तेत्यर्थस्तु न" यहाँ तदन्तविधि करके "सुबन्तभिन्न आदि जो अर्थ किया गया है, वह अर्थ यहाँ सम्भव नहीं है क्योंकि जो प्रत्यय मात्र बोधक पद सप्तम्यन्तत्वेन निर्दिष्ट होता है वहाँ तदन्तविधि नहीं होती है। अन्यथा यदि ऐसा न माना जाय और ऐसे स्थल में तदन्तविधि कर दी जाय तो "सुपि च" सूत्र में भी तदन्तविधि करके सूत्रार्थ होगा—'यञादि सुबन्त पर में रहने पर अदन्त अंग को दीर्घ हो।' ऐसा अर्थ करने पर "उत्तमैकाभ्याम्" यह पाणिनि का निर्देश नहीं बन सकेगा। कारण कि जिस भ्याम् को पर में मानकर यहाँ दीर्घ किया गया है, वह भ्याम् यञादि सुबन्त नहीं है। इसलिए सुबन्तभिन्न इत्यादि जो अर्थ पूर्व में दिखाया गया है वह अर्थ यहाँ सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि लक्ष्य के अनुरोध से कहीं पर जहाँ प्रत्यय मात्र बोधक पद पञ्चम्यन्त पद से पर में रहता है, वहाँ पर तदादिविशेष्यक और प्रत्ययविशेषणक तदन्तविधि नहीं होती है, किन्तु वहाँ शब्दस्वरूप अर्थात् तदादि शब्दस्वरूप विशेष्य न होकर प्रत्यय का विशेषण होता है, जिससे वहाँ तदन्तविधि नहीं होती है। उदाहरण के लिए "रदाभ्यां निष्ठातो नः" सूत्र को लिया जा सकता है। यहाँ यदि तदादिविशेष्यक तदन्तविधि हो जाती तो सूत्रार्थ होता कि 'रेफ और दकार से पर में जो निष्ठान्त तदादि, तदवयव तकार को नकार हो'। इस अर्थ का परिणाम यह होता कि "दृषत्तीर्णः" इस प्रयोग में निष्ठान्त तदादि "तीर्ण" घटक धातु के तकार को भी नकार होने लगता। जब ऐसे स्थल पर तदादि विशेषण बन जाता है, तब वहाँ तदन्तविधि नहीं होती। उस समय उपर्युक्त सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है 'रेफान्त और दान्त तदादि से पर में जो निष्ठा उसके तकार को नकार हो'। ऐसा अर्थ करने का परिणाम यह होता है कि "दृषत्तीर्णः" इस प्रयोग में "रदाभ्याम्" से जो धातु के तकार को नत्वापत्ति रूप दोष हो रहा था, वह अब नहीं होता; क्योंकि "दृषद्" यह जो दकारान्त है वह तदादि ही नहीं है। यहाँ जो क्त प्रत्यय किया गया है वह तृ धातु से किया गया है, न कि "दृषद्" से किया गया है।

"रोऽसुपि" इस सूत्र का उदाहरण "अहरहः' यह प्रयोग है। अहन् इस आनुपूर्वी को "नित्यवीप्सयोः" सूत्र से द्वित्व हुआ है। अहन् के आगे लुप्त सु विभक्ति का प्रत्ययलक्षण होने से "असुपि" इस निषेध के द्वारा यहाँ रेफादेश का प्रतिषेध प्राप्त होता है। इस बात को दृष्टिगत

कर कह रहे हैं कि "न लुमताङ्गस्य" सूत्र से यहाँ प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाता है, इसलिए यहाँ सुप्परत्व नहीं होता है। इस प्रकार रत्वादेश करके उक्त प्रयोग की सिद्धि की जाती है।

गतमहो रात्रिरिति। केचित्तु भाष्ये आतिदेशिकस्याहोरात्रस्यैवोदाहरणात्, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति सूत्रे 'न हि रूपरात्ररथन्तरेषु रौ रे वा विशेषोऽस्ती'त्यत्र प्रायेण रात्रेति पाठाच्चेदृशानामनभिधानमेवेत्याहुः।

कौमुदी में "रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्" इस वार्तिक का उदाहरण "गतमहो रात्रिरेषा" दिया गया है। शेखरकार इस उदाहरण से अपनी असहमति दिखाते हुए कह रहे हैं कि भाष्यकार ने इस वार्तिक का "अहोरात्रः" यह आतिदेशिक उदाहरण दिया है। इसे आतिदेशिक इसलिए कहते हैं कि यहाँ अहन् और रात्रि का द्वन्द्व समास करके "अहःसर्वैकदेश" सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय और भसंज्ञा, इकार का लोप और पुंस्त्व विधान करके 'अहन् + रात्रः' बनने पर इस वार्तिक से रुत्व-विधान के समय रात्रि शब्द पर में नहीं मिलता है, तब "एकदेश- विकृतमनन्यवत्" इस परिभाषा से "रात्रः" इस आनुपूर्वी में रात्रिशब्दत्व का व्यवहार किया जाता है। इस प्रकार यह आतिदेशिक उदाहरण है। इस भाष्यकारीय उदाहरण को दृष्टिगत कर दीक्षितोक्त उदाहरण का अनभिधान ही समझना चाहिए।

यदि कहा जाय कि "न चोदाहरणमादरणीयम्" इस नियम से भाष्यकारीय उदाहरण के आधार पर दीक्षितोक्त उदाहरण का अनभिधान करना उचित नहीं है, तो इस बात के उत्तर में कह रहे हैं—"नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इस सूत्र के भाष्य में "नहि रूपरात्ररथन्तरेषु रौरे वा विशेषोऽस्ति" अर्थात् रूप, रात्र और रथन्तर शब्द पर में रहने पर अनन्त्य वर्ण को रु या र करने में कोई विशेषता नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि "अहन्" के नकार का "नलोपः" से लोप हो जाता है, तो हकारोत्तर अकार को रुत्व किया जाय अथवा रत्व किया जाय कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि अकार से पर में न होने के कारण यहाँ रुत्व को उत्व होने की स्थिति ही नहीं है। इस भाष्यवचन में रात्र का पाठ होने के कारण दीक्षितोक्त रात्रि शब्द वाले उदाहरण का अनभिधान समझना चाहिए।

इस भाष्यवचन को उद्देश्य कर नागेश ने यहाँ "प्रायेण" शब्द का प्रयोग किया है। इससे सूचित होता है कि इस वार्तिक में रात्रि शब्द की भी सत्ता हो सकती है। इसीलिए अनभिधान को "केचित्" के मत से कह कर उसमें अपनी अरुचि व्यक्त किये हैं।

अनन्यत्वादिति। रात्रिशब्दान्तात् समासादचि समासान्ते 'यस्येति च' इति लोपेऽपि रात्रिशब्दत्वाक्षतेरिति भावः। अनुवादे रेफविशिष्टस्योपादानाद्रेफस्य रेफविधानं व्यर्थमत आह—विसर्गापवाद इति।

"अहो रात्रः" प्रयोग जिसकी सिद्धि ऊपर की जा चुकी है, उसके सम्बन्ध में कह रहे हैं कि अहन् और रात्रि का जब द्वन्द्व समास कर लेते हैं तब रात्रि शब्दान्त द्वन्द्व समास से समासान्त अच् प्रत्यय और भसंज्ञा करके इकार का "यस्येति च" सूत्र से लोप करने पर भी हलन्त रात् शब्द में "एकदेशविकृतमनन्यवत्" इस न्याय से रात्रि शब्दत्व अक्षत ही रहता है। इसलिए "रूपरात्रिरथन्तरेषु" इस वार्तिक की प्रवृत्ति यहाँ हो जाती है।

"अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः" इस वार्तिक में "अहर्" आदि अनुवाद (उद्देश्य) हैं, वे स्वयं रेफ-विशिष्ट हैं तो ऐसी स्थिति में रेफ को रेफ-विधान करने का क्या अभिप्राय है ? इस शंका के उत्तर में कौमुदीकार ने कहा है कि "विसर्गापवादः" अर्थात् रेफ का रेफ-विधान विसर्ग को बाधने के लिए है। अन्यथा "अहर्पतिः" प्रयोग में रेफ को "खरवसानयोः" सूत्र से विसर्ग हो जाता। रेफ का रेफ-विधान वैकल्पिक है, अतः पक्ष में विसर्ग जिह्वामूलीय और उपध्मानीय होते ही हैं।

ढ्रलोपे। नायं तत्पुरुषोऽनीयरि चचारेत्यादौ च दोषापत्तेः। नापि बहुव्रीहि-र्व्यधिकरणत्वात्। अतो णिजन्तात्कर्मण्युपपदसमास इत्याह—ढरेफावित्यादि। भाष्ये तु व्यधिकरणबहुव्रीहिरेव दर्शितः। न च 'अजर्घा' इत्यादौ 'सिपि धातोरि'ति रुत्वस्य, 'लीढ' इत्यादौ ढत्वादीनां, 'पितू राज्यमि'त्यादौ संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात्कथं दीर्घ इति वाच्यम्, ढग्रहणेन लण्सूत्रे 'अजर्घा' इति भाष्योदाहरणेन च तत्तच्छास्त्रैकवाक्य-तापन्नपूर्वत्रासिद्धमिति सूत्रस्थपूर्वग्रहणेनैतत्सूत्राग्रहणबोधनात्। अणः किमिति। अच इत्येव सिद्धमिति प्रश्नः। तृंहू इति पाठे 'नकारजावनुस्वारपञ्चमाविं'ति वृद्धोक्तेः 'अनिदितामि'ति नलोपे 'तृढ' इति रूपम्। अत्राण्पूर्वेणैव व्याख्यानात्।

"ढ्रलोपे" सूत्र में जो "ढ्र" शब्द है उसमें अकार उच्चारणार्थक है, क्योंकि अकार सहित ढकार और रेफ का लोप कहीं भी नहीं होता है। "ढ्रलोपे" इस पद में समास का विचार करते हुए कह रहे हैं कि यहाँ तत्पुरुष समास नहीं है। तत्पुरुष समास का प्रकार यह है कि पहले "ढश्च रश्च इस विग्रह में द्वन्द्वसमास करके "ढ्रौ" ऐसा बनाया जायेगा, इसके बाद "ढ्रयोर्लोपः" इस विग्रह में षष्ठीतत्पुरुष समास किया जा सकता है, किन्तु नागेश भट्ट कहते हैं कि यहाँ तत्पुरुष समास नहीं है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार समास करने का तात्पर्य यह होगा कि ढकार और रेफ का लोप होने पर पूर्व अण् का दीर्घ होता है। इस अर्थ का परिणाम यह होगा कि "पचनीयम्" प्रयोग में दीर्घ होने लगेगा, क्योंकि यहाँ "अनीयर्" प्रत्यय के रेफ का लोप हुआ है। यदि कहा जाय कि यहाँ रेफ का लोप ऐसे किसी सूत्र से नहीं हुआ है जो रेफ मात्र का लोप करता हो, किन्तु अनुबन्ध होने के कारण अनुबन्ध-सामान्य का लोपविधायक "तस्य लोपः" सूत्र से हुआ है। इसलिए अनीयर् प्रत्यय वाले स्थल में कोई दोष नहीं है। इस प्रकार अनीयर् प्रत्ययस्थलीय दोष के हट जाने पर तत्पुरुष समास में दूसरा दोष दे रहे हैं कि इस समास में "चचार" इस प्रयोग में अभ्यास में दीर्घ होने लगेगा, क्योंकि यहाँ अभ्यास के रकार का लोप हुआ है। यदि कहा जाय कि यहाँ भी प्रतिपदोक्त रकार का लोप नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'प्रतिलक्ष्य लक्षण का उपप्लव होता है', इस नियम के आधार पर तत्तद्धातु-सम्बन्धी विभिन्न अभ्यास का पार्थक्येन बोध होने के कारण "चचार" प्रयोग में अभ्यास का "चर्" रूप में ग्रहण करके आदि हल् से भिन्न रकार का रत्व बुद्धि से लोप किया जाता है। इस प्रकार यहाँ लोप प्रतिपदोक्त है।

यदि कहा जाय कि "चचार" प्रयोग में अभ्यास का दीर्घ करने पर भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि दीर्घ होने के बाद "ह्रस्वः" सूत्र से अभ्यास के अच् का ह्रस्व हो जायेगा, तो यह

कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि "पर्जन्यवत् लक्षणप्रवृत्तिः" इस नियम से यहाँ पहले अभ्यास को ह्रस्व ही होगा। इसके बाद दीर्घ करने पर "लक्ष्ये लक्षणन्याय से पुनः ह्रस्व की प्रवृत्ति नहीं होगी। इस प्रकार "चचार" प्रयोग में दोषापत्ति को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि यहाँ तत्पुरुष समास नहीं है।

उपर्युक्त दोष को दूर करने के लिए यदि "ढ्रयोर्लोपो यस्मिन् असौ ढ्रलोपः" इस प्रकार बहुव्रीहि समास किया जाय तो उक्त दोष दूर हो सकता है, क्योंकि "चचार" प्रयोग में रकार का लोप किसी निमित्त को पर में मान कर नहीं हुआ है, किन्तु यहाँ बहुव्रीहि समास भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सामानाधिकरण्य में ही होता है। यहाँ तो एक पद षष्ठ्यन्त और दूसरा प्रथमान्त होने के कारण वैयधिकरण्य है। इसलिए यहाँ बहुव्रीहि नहीं हो सकता है। इस प्रकार की विप्रतिपत्ति को दृष्टिगत कर दीक्षित ने "ढ्रौ लोपयति" इस विग्रह में णिजन्त लुप् धातु से "कर्मण्यण्" सूत्र से अण् प्रत्यय करके "उपपदमतिङ्" सूत्र से उपपद समास स्वीकार किया है। इसी अभिप्राय से कौमुदी में कहा गया है—"ढरेफौ लोपयति" इत्यादि। कौमुदीकार की उक्त व्याख्या के अनुसार लुप् धातु से णिच् प्रत्यय करना तथा उपपद समास करना, इस प्रकार दो वृत्तियों का आश्रयण करना पड़ता है। वृत्तिद्वयप्रयुक्त इस गौरव को देख कर भाष्यकार ने यहाँ व्यधिकरण बहुव्रीहि को ही स्वीकार किया। "सप्तमी विशेषणे" सूत्र से सप्तम्यन्त का पूर्व प्रयोग करने से व्यधिकरण बहुव्रीहि की सम्पुष्टि होती है।

प्रस्तुत सूत्र के उदाहरणों में विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिए पहले विप्रतिपत्तियों को प्रस्तुत कर रहे हैं कि "अजर्घाः, लीढः, पितू राज्यम्" इन प्रयोगों में पूर्व-अण् को दीर्घ किया गया है, किन्तु वह अनुपपन्न है। दीर्घ की अनुपपत्ति को जानने के लिए पहले इन प्रयोगों की सिद्धि की प्रक्रिया जानना आवश्यक है। "अजर्घाः" इस प्रयोग में गृध् धातु है। इस धातु से यङ् प्रत्यय, उसका लुक्, धातु को द्वित्व, अभ्यासकार्य और अभ्यास में रुक् का आगम करने पर "जर्गृध्" धातु बनता है। इस धातु से लङ् लकार और उसके स्थान पर मध्यमपुरुष का एकवचन सिप् प्रत्यय करने पर अट् का आगम करके और लघूपध गुण करके "अजर्गर्ध्-स्" इस स्थिति में सकार का "हल्ङ्याब्भ्यः" सूत्र से लोप तथा भष्भाव के द्वारा गकार को घकार और जश्त्व के द्वारा धकार को दकार और उस दकार को "दश्च" सूत्र से रुत्व करने के उपरान्त "अजर्घ-र् + र्" इस स्थिति में "रो रि" सूत्र से रेफ का लोप होने पर इस सूत्र से धकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ और रेफ को विसर्ग करके "अजर्घाः" यह रूप बनता है। शेखर में "सिपि धातोः"(८।२।७४) सूत्र से यहाँ रुत्व की बात कही गई है, किन्तु यह सूत्र तो सकार को रुत्व का विधान करता है, जब कि यहाँ दकार को रुत्व करना है। इसलिए इसका तात्पर्य यह समझना चाहिए कि "सिपि धातोः" की अनुवृत्ति करके यहाँ "दश्च" सूत्र से रुत्व होता है। इसी प्रकार लिह् धातु से क्त प्रत्यय करके हकार को ढकार, तकार को घकार, ष्टुत्व के ठकार का लोप के बाद इस सूत्र से दीर्घ करके "लीढः" प्रयोग बनता है। "पितू राज्यम्" इस प्रयोग में "रात्सस्य" सूत्र से सकार का संयोगान्त लोप हुआ है।

उपर्युक्त तीनों प्रयोगों में क्रमशः इस सपादसप्ताध्यायी दीर्घ के प्रति "दश्च" से विहित रुत्व, "हो ढः" से विहित ढत्व तथा "रात्सस्य" से विहित संयोगान्तलोप त्रैपादिक होने के कारण

असिद्ध हो जायेंगे तो उक्त तीनों उदाहरणों में दीर्घ कैसे होगा ? इस प्रकार की शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि इस प्रकार त्रैपादिक सूत्र जब असिद्ध हो जायेंगे तो ढ़कार पर में रहने पर कहीं दीर्घ ही नहीं होगा। ऐसी स्थिति में ढकार पर में दीर्घ-विधान के लिए सूत्र में ढकारग्रहण व्यर्थ हो जाता है। रकार का ग्रहण तो व्यर्थ नहीं है, क्योंकि वह स्वतः सिद्ध रकारघटित उदाहरण "पुना रमते" में दीर्घ करा कर चरितार्थ है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में किये गये ढग्रहण से तथा भाष्यकार के प्रस्तुत सूत्र का "अजर्घाः" यह उदाहरण देने से यह ज्ञापन करते हैं कि तत्तत्शास्त्र = "दश्च", "होढः", "रात्सस्य" इन शास्त्रों के साथ एकवाक्यतापन्न "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र के पूर्व शब्द से एतत् शास्त्र = 'ढ्रलोपे' सूत्र का ग्रहण नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि "पूर्वत्रासिद्धम्" यह अधिकारसूत्र है। यह त्रैपादिक सूत्रों के साथ एकवाक्यता करके ही पूर्वशास्त्र के प्रति परशास्त्र की असिद्धता का बोधन करता है। यदि ढत्वविधायक "हो ढः" के साथ एकवाक्यतापन्न "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र के पूर्व शब्द से "ढ्रलोपे" सूत्र का ग्रहण कर लिया जाता है तब तो ढत्वविधायक सूत्र के असिद्ध हो जाने के कारण वहाँ दीर्घ होगा ही नहीं। इस प्रकार सूत्र में किया गया ढकार का ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा। तत्सामर्थ्यात् यही ज्ञापन किया जाता है कि उपर्युक्त "दश्च" आदि सूत्रों के साथ एकवाक्यतापन्न "पूर्वत्रासिद्धम्" के पूर्व शब्द से "ढ्रलोपे" सूत्र का ग्रहण नहीं होता है। इस प्रकार उक्त तीनों उदाहरणों का दोष नहीं होता है।

कौमुदी में यह प्रश्न किया गया है कि इस सूत्र में "अणः" इस पद की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि यहाँ "अचश्च" इस परिभाषा से षष्ठ्यन्त "अचः" इस पद की उपस्थिति से ही कार्य चल सकता है तो सूत्र में "अणः" इस पद की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हुए कौमुदी में कहा गया है कि "अणः" पद के अभाव में "तृढः" आदि प्रयोगों में दीर्घ होने लगेगा। उसके निवारण के लिए उक्त पद का सार्थक्य है। "तृहू" धातु से क्त प्रत्यय करने पर "तृढः" यह प्रयोग बनता है। यदि "तृहू" की "तृंहू" ऐसे पाठ माना जाय तो "नकारजावनुस्वारपञ्चमौ" इस वृद्धोक्ति के आधार पर इस अनुस्वार को नकारज अर्थात् नकार के स्थान पर हुआ माना जायेगा और उसका "अनिदिताम्" सूत्र से लोप करके 'तृढ' रूप की सिद्धि होगी। इस सूत्र में अण् प्रत्याहार व्याख्यान के आधार पर पूर्व णकार तक ही लिया जाता है, इसलिए "अण्" ग्रहण करने पर "तृढः" में दोष नहीं होता है। उपर्युक्त वृद्धोक्ति का पूरा रूप इस प्रकार है—

"नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु।
सकारजशकारश्चेर्षाट्टवर्गस्तवर्गजः" ॥

धातु में झल् पर में रहने पर अनुस्वार और पञ्चम वर्ण को नकार से जायमान समझना चाहिए। जैसे " तृंहू", स्रंसु आदि धातुओं में। चकारपरक तालव्य शकार दन्त्य सकार के स्थान पर हुआ समझना चाहिए। जैसे व्रश्च आदि। रकार और मूर्धन्य षकार से पर में टवर्ग को तवर्गज समझना चाहिए। जैसे "ऊर्णुञ्" और "ष्ठा" धातु में देखा जाता है।

विप्रतिषेधे। विप्रतिपूर्वात्कर्मव्यतिहारे वर्त्तमानात्सेधतेर्घञि परस्परविरोधार्थे विप्रतिषेधशब्दस्तत्र नित्यस्यावश्यकतयाऽन्तरङ्गस्य ज्ञापकादिनाऽपवादस्य

वचनप्रामाण्याद्बाधकत्वे स्थिते तद्भिन्नोऽस्य विषय इत्याह--तुल्यबलेति। द्वयोः शास्त्रयोः क्वचिल्लब्धावकाशयोरेकत्र प्रयोगे युगपदसम्भवि स्वकार्यसमर्पणञ्च सः। तत्र प्रायेणैकस्य कार्यद्वययोगकृतेऽसम्भवे एतस्य प्रवृत्तिः। यथा 'वृक्षेभ्य' इति। तत्र हि दीर्घैत्वयोर्युगपत्प्रवृत्तौ स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भवः।

"विप्रतिषेधे परं कार्यम्" इस सूत्र में आये हुए "विप्रतिषेध" शब्द की निष्पत्ति बताते हुए कह रहे हैं कि "वि" और "प्रति" उपसर्गपूर्वक कर्मव्यतिहार अर्थ में वर्तमान सिध् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय होने से "विप्रतिषेध" शब्द बनता है। इसका अर्थ है—परस्पर विरोध। परस्पर विरोध होने पर परशास्त्र बलवान् होता है और तद्विहित कार्य ही वहाँ होता है, इस दीक्षितजी के अर्थ की सम्पुष्टि भी विप्रतिषेध शब्द की उक्त व्याख्या के द्वारा हो जाती है।

परस्पर विरोध होने पर नित्यशास्त्र की बलवत्ता आवश्यक है। उदाहरण के लिए "तुदति" प्रयोग को लिया जा सकता है। यहाँ श प्रत्यय और लघूपध गुण दोनों साथ प्राप्त होते हैं। इनमें लघूपध गुण तो श प्रत्यय होने के बाद इसलिए नहीं हो सकता कि श प्रत्यय ङित् है, किन्तु श प्रत्यय तो लघूपध गुण के होने और न होने दोनों स्थितियों में हो सकता है। इसलिए कृताकृतप्रसंगी विधि होने से श प्रत्यय नित्य है और लघूपध गुण पर में है। इस परशास्त्र का अभाव श प्रत्यय होने पर निश्चित ही है। इसलिए जिसका अभाव सिद्ध है उसी के अभाव की कल्पना करना उचित है। इसीलिए शेखर के मूल में कह रहे हैं—"नित्यस्यावश्यकतया" अर्थात् नित्य का होना निश्चित होने के कारण आवश्यक है, इसलिए परशास्त्र की अपेक्षा नित्यशास्त्र बलवान् होता है।

अन्तरङ्गशास्त्र पर और नित्य दोनों से बलवान् होता है। इसकी बलवत्ता ज्ञापकादि-बोधित होती है। ज्ञापकादि का तात्पर्य यहाँ "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इस परिभाषा से है। यह परिभाषा "वाह ऊठ्" सूत्र के ऊठ् ग्रहण से ज्ञापित है। इसी के द्वारा अन्तरङ्गशास्त्र की बलवत्ता बोधित होती है। "उभये देवमनुष्याः" इस प्रयोग में परत्वात् "प्रथमचरम" सूत्र से विकल्प से प्राप्त सर्वनाम संज्ञा का विभक्तिनिरपेक्षत्वेन अन्तरङ्ग "सर्वादीनि" सूत्र से विहित नित्य सर्वनाम संज्ञा के द्वारा बाध किया जाता है। वचनप्रामाण्य अर्थात् सूत्रारम्भसामर्थ्य से "येन नाप्राप्ति" न्याय के द्वारा अपवादशास्त्र परादि का बाधक होता है। जैसे "धुक्, धुग्" प्रयोग में "हो ढः" से प्राप्त ढत्व का अपवादत्वात् "दादेर्धातोर्घः" सूत्र से बाध होता है। इस प्रकार के नित्यादि से भिन्न "विप्रतिषेध" सूत्र का विषय है। इसी बात को व्यक्त करते हुए कौमुदी में कहा गया है कि "तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्" अर्थात् तुल्यबल के विरोध होने पर परशास्त्र का कार्य होता है।

भिन्न-भिन्न प्रयोगों में चरितार्थ दो सूत्रों का एक लक्ष्य में यौगपद्येन असम्भवरूप स्वकार्य का समर्पण करना ही तुल्यबलविरोध है। "समर्पणञ्च" इस पद में जो चकार है, उसका अर्थ "तु" है। इसलिए ऊपर असम्भवरूप समर्पण ऐसा कहा गया है। तत्र = दो सूत्रों का परस्पर विरोध होने पर प्रायः एक स्थानी का दो कार्यों के साथ सम्बन्ध होना जहाँ असम्भव हो वहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। जैसे "वृक्षेभ्यः" इस प्रयोग में "वृक्ष + भ्यस्" इस स्थिति में "सुपि च" सूत्र से क्षकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ तथा उसी अकार को "बहुवचने झल्येत्"

सूत्र से एत्व—ये दोनों कार्य साथ ही प्राप्त होते हैं। एक अकार को ये दोनों कार्य एक साथ नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार यहाँ कार्यद्वय का यौगपद्यासम्भव है।

यदि कथञ्चित् एक ही अकार के स्थान पर दोनों सूत्रों के विधेयों को साथ ही कर दिया जाता है तो "वृक्ष्-आ-ए-भ्यस्" या "वृक्ष-ए-आ-भ्यस्" इस स्थिति में पूर्व और पर दोनों शास्त्रों का स्व-स्वनिमित्तानन्तर्य असम्भव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि "यञादि सुबव्यवहितपूर्वत्व-विशिष्ट अदन्त अंग को यञादि सुबव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट दीर्घ होता है"—यह "सुपि च" सूत्र का अर्थ है। इसी प्रकार "झलादि बहुवचन सुबव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट अदन्त अंग को झलादि बहुवचन सुबव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट एकार आदेश होता है। यह "बहुवचने" सूत्र का अर्थ है। इस अर्थ के अनुसार विधेय दीर्घ और एकार का अपने-अपने निमित्त के साथ आनन्तर्य नहीं होता है। "वृक्ष-आ-ए-भ्यस्" इस स्थिति में "बहुवचने झल्येत्" के विधेय का निमित्त के साथ आनन्तर्य होने पर भी "सुपि च" के विधेय का निमित्तानन्तर्य नहीं है। इसी प्रकार "वृक्ष-ए-आ-भ्यस्" इस स्थिति में "सुपि च" के विधेय का निमित्तानन्तर्य होने पर भी "बहुवचने" के विधेय का निमित्तानन्तर्य नहीं है। एक स्थिति में दोनों के निमित्त का आनन्तर्य नहीं है, यही यहाँ स्व-स्वनिमित्तानन्तर्य है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि "वृक्षेभ्यः" इस प्रयोग में दो कार्यों का यौगपद्यासम्भव तथा स्व-स्वनिमित्तानन्तर्यासम्भव रूप विप्रतिषेध है। इस विप्रतिषेध में यहाँ "विप्रतिषेध" सूत्र की प्रवृत्ति होती है और परत्वात् यहाँ एत्व ही होता है।

क्वचित्केवलासम्भवेऽपि, यथा 'शिष्टादि'त्यादौ। अत्र हि तातङ्शाभावयोर्युगपत्प्रवृत्तौ स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भवः। यद्यपि तातङादेः स्थानिवत्त्वेनास्त्येव तत्, तथापि अतिदेशे आदेशप्रवृत्त्युत्तरमेव, न तु तत्प्रवृत्तिकाले इति युगपदसम्भवोऽस्त्येवेति परत्वात्तातङि सकृद्गतिन्यायेन न शादेशः। स्पष्टञ्चेदं सर्वं प्रकृतसूत्रे 'इको गुणवृद्धी', 'अदसो मादि'त्यादावाकरे। तत्र युगपदुभयोः कार्ययोरसम्भवात्पर्यायेण तृजादिवच्छास्त्रद्वयप्रसङ्गे नियमार्थमिदम्—परमेवेति। तेन 'तिसृणामि'त्यत्र यौगपद्यासम्भवेन परत्वात्तिस्रादेशे पुनः स्थानिवत्त्वेन त्रयादेशो न। तत्पठ्यते—"सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेवे'ति।

शेखरकार अब "प्रायेण" पद का प्रयोजन बताते हुए कह रहे हैं कि कहीं एक स्थानी का कार्यद्वय का योग न रहने पर भी केवल असम्भव होने पर प्रस्तुत सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है। जैसे "शिष्टात्" इत्यादि प्रयोगों में देखा जा सकता है। यहाँ "शास्-हि" इस स्थिति में "शा हौ" सूत्र से शास् को शा आदेश प्राप्त है तथा "तुह्योस्तातङ्" सूत्र से हि को तातङ् प्राप्त है। इस प्रकार यहाँ दो स्थानी के स्थान पर पृथक्-पृथक् दो कार्य (आदेश) प्राप्त हैं। यहाँ यदि तातङ् और शा आदेश दोनों साथ-साथ कर दिये जाते हैं तब "शा-तात्" इस स्थिति में दोनों सूत्रों के विधेय का स्व-स्वनिमित्त से आनन्तर्य नहीं होता है। कारण यह है कि "शा हौ" सूत्र का अर्थ है—"हि" से अव्यवहित पूर्वत्वविशिष्ट शास् के स्थान पर "हि" से अव्यवहित पूर्वत्व-विशिष्ट "शा" आदेश होता है। इसी प्रकार तातङ्विधायक सूत्र का "अङ्गाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्ट "हि" के स्थान पर तादृशोत्तरत्वविशिष्ट तातङ् आदेश होता है" यह अर्थ होता है। उपर्युक्त

'शातात्' इस स्थिति में 'हि' से अव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट 'शा' नहीं मिल रहा है। इसी प्रकार धातुरूपी अङ्ग से अव्यहितोत्तरत्वविशिष्ट तातङ् नहीं मिल रहा है, क्योंकि "शा" यह धातु नहीं है। यदि कहा जाय कि स्थानिवद्भाव से "शा" को धातु तथा "तात्" को "हि" मान लेने पर निमित्त का विधेय के साथ आनन्तर्य सम्भव हो जाता है, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यह जो आनन्तर्य का सम्भव हो रहा है, वह आदेश की प्रवृत्ति के बाद अतिदेश (स्थानिवद्भाव) करने से हो रहा है, न कि तत्प्रवृत्ति = आदेश की प्रवृत्ति के समय वह सम्भव है। इस प्रकार आदेश की प्रवृत्ति के पश्चात् "शा-तात्" इस स्थिति में स्व-स्वनिमित्त का युगपत् असम्भव = आनन्तर्य का असम्भव है ही। इस यौगपद्यासम्भव रूप विप्रतिषेध में इस विप्रतिषेध सूत्र की प्रवृत्ति होती है, जिससे परत्वात् तातङ् आदेश होता है। इसके बाद "सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव" इस परिभाषा के द्वारा निषेध कर देने से पुनः "शा" आदेश नहीं होता है। यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि नागेश भट्ट स्व-स्वनिमित्तानन्तर्याभाव की जो बात करते हैं उसका तात्पर्य यह है कि स्व-स्वविधेय का निमित्त के साथ आनन्तर्य असम्भव है; जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में स्पष्ट किया जा चुका है। "शिष्टात्" प्रयोग की "शास्-हि" इस स्थिति में तो हि से पूर्व में शास् के होने से तथा शास् धातु से "अव्यवहितोत्तर "हि" के रहने से दोनों सूत्रों के उद्देश्य का निमित्त के साथ आनन्तर्य तो है ही। इसलिए विधेय के साथ निमित्त के आनन्तर्य का असम्भव होना ही यहाँ के ग्रन्थ का रहस्य समझना चाहिए।

ये सारी बातें प्रकृत सूत्र "विप्रतिषेधे परं कार्यम्", "इको गुणवृद्धी", "अदसो मात्" आदि के आकर में स्पष्ट हैं। तत्र = तुल्यबलविरोध के विषय में युगपद् दोनों कार्यों का होना असम्भव है, इसलिए जिस प्रकार ण्वुल् और तृच् ये दोनों प्रत्यय "कारकः" और "कर्ता" इत्यादि प्रयोगों में पर्यायेण होते हैं उसी प्रकार पूर्वशास्त्र और परशास्त्र की भी प्रवृत्ति लक्ष्य-विशेष में पर्यायेण हो सकती है। इस प्रकार जब परशास्त्र की प्रवृत्ति स्वयं सिद्ध है तब परशास्त्र की प्रवृत्ति के लिए "विप्रतिषेध" सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार "विप्रतिषेध" सूत्र व्यर्थ होकर नियमार्थक होता है कि विप्रतिषेध होने पर परशास्त्र का ही कार्य हो, पूर्वशास्त्र का न हो। इसका परिणाम यह होता है कि स्त्रीलिङ्ग में त्रि शब्द से आम् विभक्ति लाने पर त्रयादेश और तिसृ आदेश दोनों की साथ प्राप्ति होने पर दोनों आदेशों के यौगपद्येन होना असम्भव होने के कारण विप्रतिषेध होने से "विप्रतिषेध" सूत्र से परत्वात् तिसृ आदेश किया जाता है। तिसृ आदेश होने के बाद स्थानिवद्भाव से "तिसृ" को त्रि शब्द मान कर त्रयादेश नहीं होता है, क्योंकि एक बार जिसका बाध हो जाता है, वह बाधित ही रहता है। विप्रतिषेध सूत्र का यह नियम कि पूर्व और पर की यौगपद्येन प्राप्ति होने पर परशास्त्र की ही प्रवृत्ति होती है, न कि पूर्वशास्त्र की। इस नियम का फलितार्थ ही यह परिभाषा है कि "सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्-बाधितं तद्बाधितमेव।

यद्वा—यथा तुल्यबलयोरेकः प्रेष्यो भवति स तयोः पर्यायेण कार्यं करोति, यदा तमुभौ युगपत्प्रेषयतो नानादिक्षु च कार्ये भवतस्तदोभयोर्न करोति, यौगपद्यासम्भवात्, तथा शास्त्रयोर्लक्ष्यप्रेष्ययोः क्वचिल्लक्ष्ये यौगपद्यासम्भवाद-प्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदम् परं भवती'ति विद्ध्यर्थम्। तत्र कृते यदि पूर्वस्यापि

निमित्तमस्ति तदा तदपि भवत्येव। तत्पठ्यते—'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्सिद्धमि'ति। यथा 'भिन्धी'त्यत्र परत्वात्तातंङि पुनर्धिर्भवति। अत्र तातङ्धिभावयोर्युगपदेकस्थानि-सम्बन्धस्याङ्गरूप- निमित्तानन्तर्यस्य वा न सम्भव इति भाष्ये स्पष्टम्।

अब लौकिक दृष्टान्त से "पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्" परिभाषा की सिद्धि करते हुए कह रहे हैं कि यद्वा = अथवा जैसे सम बल वाले अर्थात् समान स्थिति वाले दो स्वामियों का एक भृत्य होता है, वह उन दोनों का कार्य पर्यायेण करता है। तात्पर्य यह है कि कभी एक का और कभी दूसरे का कार्य करता है, किन्तु जब दोनों उसे एक ही साथ अपने-अपने कार्यों के लिए भेजते हैं और उनके कार्य भिन्न-भिन्न दिशाओं में होते हैं तो एककालावच्छेदेन दोनों का कार्य असम्भव होने के कारण वह किसी का कार्य नहीं करता है। इसी प्रकार लक्ष्य है प्रेष्य अर्थात् भृत्यस्थानीय जिन शास्त्रों का, उन दोनों शास्त्रों की किसी लक्ष्य में यौगपद्येन प्रवृत्ति सम्भव न होने पर अप्रतिपत्ति = शास्त्र की अप्रवृत्ति प्राप्त होती है। जिस प्रकार लौकिक भृत्य एक साथ दोनों स्वामियों का कार्य नहीं करता है उसी प्रकार भृत्यस्थानीय लक्ष्य दो सूत्रों के कार्यों को एक साथ ग्रहण नहीं करता है। अर्थात् दो सूत्रों के कार्य एक साथ उस लक्ष्य में नहीं होते। तात्पर्य यह है कि वहाँ न पूर्वशास्त्र की प्रवृत्ति हो रही है और न परशास्त्र की। ऐसी स्थिति में परशास्त्र के कार्य के विधान के लिए "विप्रतिषेध" सूत्र सार्थक होता है। यह कहता है कि "परं भवति" अर्थात् यहाँ परशास्त्र प्रवृत्त होता है। तत्र कृते = परशास्त्र के कार्य के होने जाने पर यदि पूर्वशास्त्र की प्रवृत्ति का निमित्त वहाँ रहता है, तब पूर्वशास्त्र की प्रवृत्ति वहाँ होती ही है। इसी आशय से कहा जाता है—"पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्" अर्थात् प्राप्ति होने पर पुनः शास्त्र की प्रवृत्ति कर ली जाती है, जिससे वह कार्य सिद्ध हो जाता है।

इस न्याय का उदाहरण "भिन्धि" यह प्रयोग दिया गया है। यहाँ "भिनद् + हि" इस स्थिति में "हि" के स्थान पर "धि" तथा "तातङ्" ये दोनों साथ ही प्राप्त होते हैं, किन्तु एक स्थानी के स्थान पर दोनों का युगपत् होना सम्भव नहीं है। यहाँ इस प्रकार यौगपद्यासम्भव है। अथवा मतान्तर से दोनों कार्यों के साथ होने पर विधेय के साथ अङ्गरूप निमित्त का आनन्तर्य असम्भव है। किन्तु जब ऊपर कह आये हैं कि एक लक्ष्य में दोनों कार्य एक साथ नहीं हो सकते तो यह कहना यहाँ सर्वथा चिन्तनीय हो जाता है कि अङ्गरूप निमित्त का आनन्तर्य यहाँ असम्भव है। इस असम्भव की बात तो तब कही जा सकती है जब दोनों कार्य एक लक्ष्य में एक ही साथ हो जाँय। अस्तु।

इस प्रकार 'भिन्धि' प्रयोग में परत्वात् तातङ् हो जाने पर स्थानिवद्भाव से तातङ् को "हि" मान कर "धि" हो जाता है। किन्तु यह कथन चिन्तनीय है, क्योंकि वैकल्पिक तातङ् जिस पक्ष में होता है उसी समय उसे हिबुद्ध्या "धि" कर देने पर "भिन्तात्" यह रूप बनेगा ही नहीं। यदि कहा जाय कि "भिन्धि" यही एक रूप यहाँ बनता है "भिन्तात्" रूप नहीं बनता है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि "भिन्तात्" प्रयोग में धिभाव की आशंका कर के भाष्यकार ने सकृद्गति न्याय से उसका वारण किया है। इसलिए "भिन्तात्" प्रयोग तो बनता ही है। ऐसी स्थिति में "पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्" का उदाहरण "रमायाम्" यह प्रयोग समझना चाहिए। यहाँ ङि को आम् और उसी को "याडापः" से याट् की प्राप्ति होने पर परत्वात् ङि

को आम् आदेश करने पर स्थानिवद्भाव से आम् में ङित्व का अतिदेश करके पुनः याट् किया जाता है, जिससे "रमायाम्" प्रयोग की सिद्धि होती है। "भिन्धि" प्रयोग तो तातङ् के अभाव पक्ष में बनता ही है। ये सारी बातें भाष्य में स्पष्ट हैं।

कार्ये परत्वञ्च—परशास्त्रविहितत्वम्। कार्यकालपक्षेऽप्यष्टाध्यायीपाठपरत्वमेव नियामकम्। अत एव 'ङमो ह्रस्वादि'त्यादौ त्रिपादीस्थे कार्यकालपक्षे एव परिभाषयोः प्रवृत्त्या एकदेशस्थत्वेऽपि परत्वात् 'तस्मादित्युत्तरस्ये'त्यनेनैव व्यवस्थेति सङ्गच्छते। त्रिपादीस्थेन शास्त्रेण विरुद्धपरिभाषाद्वयमध्ये परैव काल्यते आकृष्यते न पूर्वेति तत्त्वम्।

सञ्ज्ञानां तु कार्यकालपक्षे प्रदेशे एव वाक्यार्थेन तद्बोधोत्तरमेव विरोधप्रतिसन्धानं, कार्यज्ञानञ्चेति तत्रत्यपरत्वमेवैतत्सूत्रप्रवृत्तौ बीजम्। अत एव 'कार्यकालपक्षे- ऽयादिभ्यः परैव प्रगृह्यसञ्ज्ञा' इति 'अदसो मादि'ति सूत्रे भाष्ये उक्तम्। परिभाषाणान्तु तत्पक्षे तद्देशस्थत्वेऽपि स्वस्वदेशेऽर्थबोधोऽस्त्येवेति तासां पाठकृतमेव तत्—एतत्सूत्रप्रवृत्तौ नियामकमिति बोद्ध्यम्।

ऊपर कहा गया है कि प्रेष्य के समान जो लक्ष्य है उसमें दो कार्यों का यौगपद्य असम्भव होने के कारण "विप्रतिषेध" सूत्र से "परं कार्यं भवति" ऐसा कह कर परकार्य किया जाता है। यहाँ प्रश्न होता है कि दोनों कार्य जब लक्ष्य रूपी एक ही देश में हैं तब वहाँ पूर्वत्व और परत्व का व्यवहार कैसे सम्भव है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि कार्य का परत्व यही है कि वह परशास्त्र-विहित है। जो कार्य परशास्त्र से विहित होगा वही परकार्य कहा जायेगा। इस प्रकार कोई अनुपपत्ति नहीं होती है।

"विप्रतिषेध" सूत्र (१।४।२) सपादसप्ताध्यायी है। इसके प्रति त्रिपादी सूत्र असिद्ध हैं, इसलिए त्रिपादी सूत्रों में 'विप्रतिषेध' सूत्र नहीं लगता है। कहा भी गया है—"त्रिपाद्यां नास्ति विप्रतिषेधः, अभावादुत्तरस्य"। ऐसी स्थिति में जिस त्रिपादी सूत्र में दो सापादिक सूत्रों की साथ ही प्राप्ति होगी, वहाँ इस सूत्र से परशास्त्र की बलवत्ता कैसे बोधित की जायेगी, क्योंकि वह त्रिपादी सूत्र रूपी लक्ष्य इसकी दृष्टि में असिद्ध है? इस बात का उत्तर यह है कि ऐसे स्थल पर कार्यकालपक्ष मान कर निर्वाह कर लेना चाहिए। इस पक्ष में परिभाषाशास्त्र की उपस्थिति विधिदेश में होती है और उस देश के माहात्म्य से विधिसूत्र परिभाषा सूत्र की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता है। जैसे "ङमो ह्रस्वादचि" (८।३।३२) इस त्रिपादीसूत्र में "तस्मिन्निति" और "तस्मादित्युत्तरस्य" इन दोनों की प्राप्ति होने पर परत्वात् पञ्चमी निर्देश की बलवत्ता होती है, जिससे "अचि" इस सप्तम्यन्त पद की षष्ठ्यन्तत्वेन परिकल्पना करके "ङमः परस्याचो ङमुट्" ऐसा अर्थ होता है।

यहाँ एक यह दूसरी आशंका होती है कि कार्यकालपक्ष में दोनों परिभाषाएँ (उपर्युक्त "तस्मिन्निति" और "तस्मात्") जब "ङमो ह्रस्वादचि" सूत्र के देश वाली हो गई हैं तब दोनों एकदेशस्थ हो गई हैं। ऐसी स्थिति में वहाँ पूर्वत्व और परत्व की व्यवस्था किस आधार पर की जाय? इसके उत्तर में शेखरकार का कहना है कि कार्यकालपक्ष में भी अष्टाध्यायी-पाठकृत

परत्व ही पूर्वापरीभाव का नियामक होता है। अत एव = अष्टाध्यायी-पाठकृत परत्व के व्यवस्थापक होने के कारण ही "ङमो ह्रस्वात्" सूत्र (त्रैपादिक सूत्र) में कार्यकालपक्ष में ही "परिभाषयोः" = "तस्मिन्निति" तथा "तस्मात्" इन परिभाषाओं की प्रवृत्ति होने पर दोनों के एकदेशस्थ होने पर भी अष्टाध्यायीपाठ के आधार पर ही परत्वात् "तस्मादित्युत्तरस्य" इस सूत्र से ही व्यवस्था होती है। इसका तात्पर्य यह है कि त्रैपादिक शास्त्र के द्वारा विरुद्ध दो परिभाषाओं में से पर-परिभाषा का ही कार्यकालपक्ष में आकर्षण होता है, न कि पूर्व-परिभाषा का भी आकर्षण होता है। यही कार्यकालपक्ष का अभिप्राय है।

परिभाषा-सूत्रों की अपेक्षा संज्ञासूत्रों की भिन्नता का प्रतिपादन करते हुए कह रहे हैं कि संज्ञासूत्रों का कार्यकालपक्ष में विधिदेश (प्रदेश) में ही वाक्यार्थबोध होता है, क्योंकि संज्ञासूत्र के वाक्यार्थबोध के बिना विधिसूत्र का वाक्यार्थबोध हो ही नहीं सकता है। विधिसूत्र के वाक्यार्थबोध के बाद ही विरोध का ज्ञान तथा कार्य का ज्ञान होता है, इसलिए "तत्रत्य-परत्वमेव" = विधिशास्त्र का परत्व ही "विप्रतिषेध" सूत्र की प्रवृत्ति का बीज होता है। अत एव = संज्ञासूत्र का सफल वाक्यार्थबोध विधिदेश में होने के कारण कार्यकालपक्ष में संज्ञासूत्र का देश भी विधिदेश ही हो जाता है। इस बात को स्वीकार करने से ही 'अदसो मात्' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा कि "अयादिभ्यः परैव प्रगृह्यसंज्ञा"। इसका तात्पर्य यह है कि "अदसो मात्" (१।१।१२) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने विचार किया कि "अमी अत्र", "अमी आसते", "अमू अत्र", "अमू आसाते" इन प्रयोगों में जहाँ मकार से पर में ईकार और ऊकार की प्रगृह्य संज्ञा की जाती है वहाँ "अदसो मात्" (१।१।१२) की दृष्टि में इत्वादिविधायक सूत्र "एत ईद् बहुवचने" (८।२।८१) तथा "अदसोऽसेर्दादुदो मः" (८।२।८०) के असिद्ध हो जाने के कारण "अमी" की जगह "अदे" और "अमू" की जगह "अदौ" दिखाई पड़ेगा। ऐसी स्थिति में यहाँ अयादि की प्राप्ति होती हैं जिनका निषेध करना चाहिए। इस निषेध के प्रसङ्ग में भाष्यकार ने एक यह भी उपायान्तर प्रदर्शित किया कि "परा प्रगृह्यसंज्ञा" अर्थात् कार्यकालपक्ष में "अदसो मात्" "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" (६।१।१२५) के देश में चला जायेगा और वहाँ जाने से वह "एचोऽयवायावः" (६।१।७८) अयादिविधायक सूत्र से पर में हो जायेगा। इस प्रकार पर-प्रगृह्य संज्ञा के द्वारा अयादि का बाध हो जायेगा। इस भाष्य से यह सिद्ध होता है कि कार्यकाल पक्ष में संज्ञासूत्र विधिदेशीय हो जाते हैं।

परिभाषासूत्रों का तो तत्पक्षे = कार्यकालपक्ष में विधिदेशस्थ होने पर भी अपने-अपने देश में वाक्यार्थबोध होता ही है। विधिदेश में केवल इनके विधेय का स्मरण करके कार्य किया जाता है। इसलिए परिभाषाओं का अष्टाध्यायी पाठकृत परत्व ही "विप्रतिषेध" सूत्र की प्रवृत्ति का नियामक होता है।[1]

यद्यपीयं परिभाषा तथापि कार्यग्रहणेन कार्यमात्रग्रहणात् 'तस्मिन्नि'ति 'तस्मादि'ति परिभाषयोरपि व्यवस्थापिका। कार्यकालपक्षेऽपि नैषा इक्परिभाषादिवद्विद्ध्येकवाक्यतयाऽङ्गत्वात्स्वकार्यनिष्पादिका, किन्तु वाक्यभे-

१. इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी हेतु लेखक की परिभाषेन्दुशेखर की सुबोधिनी में "यथोद्देश" परिभाषा का अवलोकन करें।

देनैव कार्यं व्यवस्थापयति। यथा–'वृक्षेभ्य' इत्यत्रैत्वदीर्घत्वयोः प्राप्तयोः परमेत्वं प्रवर्तयति।

एवम्–'असिद्धं बहिरङ्गमि'त्यादयोऽपीति 'खरवसानयोरि'त्यत्र कैयटे स्पष्टम्। एवञ्च 'विप्रतिषेधे' इत्येषा यथोद्देशैवेति स्थितम्। त्रिपाद्यां कार्यकालपक्षेऽप्यप्रवृत्तेः। पूर्वदृष्ट्या परावस्थानाभावादित्यन्यत्र विस्तरः।

"विप्रतिषेधे परं कार्यम्" यह परिभाषासूत्र है। "गुणानाञ्च परार्थत्वात्" इस नियम से इस सूत्र के द्वारा विधिसूत्र का ही उपकारकत्व या नियामकत्व होना चाहिए, न कि "तस्मिन्निति" इत्यादि परिभाषासूत्रों का भी नियमन इसके द्वारा होना चाहिए। इस बात को ध्यान में रख कर कह रहे हैं कि यद्यपि विप्रतिषेध सूत्र परिभाषासूत्र है और "तस्मिन्निति" तथा "तस्मात्" ये दोनों भी परिभाषासूत्र ही हैं, तथापि इस सूत्र में किये गये कार्यग्रहण से कार्यमात्र का ग्रहण किया जाता है। वह कार्य विधिसूत्र सम्बन्धी हो या परिभाषाशास्त्र सम्बन्धी हो, उनमें कोई विभेद नहीं किया जाता है। इसलिए यह परिभाषा "तस्मिन्निति" और "तस्मात्" इन दोनों परिभाषाओं की भी नियामिका होती है। यदि ऐसी बात नहीं होती तो केवल 'विप्रतिषेधे परम्' इतना बड़ा सूत्र किये होते। इसमें "कार्यम्" इस पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता न थी। इस प्रकार कार्यग्रहणसामर्थ्यात् इसमें कार्यमात्र का ग्रहण किया जाता है।

अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा इसकी विशेषता बताते हुए कह रहे हैं कि जिस प्रकार "इको गुणवृद्धी" आदि परिभाषासूत्र विधिशास्त्र के साथ एकवाक्यतापन्न होकर, विधिशास्त्र का अङ्ग बन कर अपने कार्य का निष्पादन करते हैं, उसी प्रकार "विप्रतिषेध" परिभाषा विधिशास्त्र से एकवाक्यतापन्न होकर स्वकार्य की निष्पादिका नहीं है, किन्तु वाक्यभेद से ही कार्य की व्यवस्था करती है। जैसे "वृक्षेभ्यः" इस प्रयोग में एत्व तथा दीर्घत्व दोनों की प्राप्ति होने पर यह परिभाषा "पर-एत्व" की प्रवृत्ति कराती है।

प्रसङ्गवश बहिरङ्ग परिभाषा की विशेषता बताते हुए कह रहे हैं कि इसी प्रकार "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इत्यादि परिभाषाएँ भी विधिशास्त्र के साथ एकवाक्यतापन्न होकर कार्य का निष्पादन नहीं करती हैं, किन्तु वाक्यभेद से ही कार्य का निष्पादन करती है। यह बात "खरवसानयोः" सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि विप्रतिषेध परिभाषा के विषय में यथोद्देश पक्ष ही है। कार्यकाल पक्ष में भी त्रिपादी में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि पूर्व (सपादसप्ताध्यायी) 'विप्रतिषेध' सूत्र की दृष्टि में पर (त्रैपादिक) सूत्र असिद्ध हो जाते हैं। यह बात अन्यत्र भाष्यादि में विस्तार से वर्णित है।

इति लोपे इति। 'उत्वं नित्यमि'ति तु न, 'भोभगो' इति सूत्रोक्तरीत्या लोपस्याल्विधित्वात्, स्थानिवत्त्वेन तद्धर्मातिदेशेऽपि उच्चारणप्रसङ्गरूपस्थानषष्ठ्यर्थाभावेन लोपे तदप्राप्तेश्च।

"मनस् + रथः" इस स्थिति में "ससजुषो रुः" सूत्र से सकार को रु और अनुबन्धलोप करने के बाद "मनर् + रथः" इस स्थिति में रकार में रुबुद्ध्या "हशि च" से उसे उत्व प्राप्त होता है तथा "रो रि" सूत्र से उसका लोप भी प्राप्त होता है। "शिवो वन्द्यः" प्रयोग में "हशि

च" के तथा "पुना रमते" प्रयोग में "रो रि" के चरितार्थ होने के कारण अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाश सूत्रों की एकत्र प्राप्ति होने पर कौमुदीकार ने "विप्रतिषेध" सूत्र के द्वारा परत्वात् रेफ के लोप की प्राप्ति बतलाई है। यहाँ शंका होती है कि परत्वात् लोप की प्राप्ति की जगह उन्होंने नित्यत्वात् उत्व की प्राप्ति क्यों नहीं कही? कारण कि लोप हो जाने पर भी स्थानिवद्भाव से उत्व की प्राप्ति होती है।

इस शंका का समाधान करते हुए शेखरकार कह रहे हैं कि उत्व नित्य नहीं है, क्योंकि "भोभगो" सूत्र में बताई गई रीति के आधार पर उत्वविधि अल्विधि है और अल्विधि में स्थनिवद्भाव होता ही नहीं, क्योंकि वहाँ "अनल्विधौ" इस अंश से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। अब यह विचार करना है कि "भोभगो" सूत्र में बताई गई कौन-सी रीति है जिसके कारण उत्वविधि अल्विधि होती है? इस प्रश्न का उत्तर यह समझना चाहिए कि अल्विधि की व्याख्या के प्रसङ्ग में वहाँ कहा गया है कि "अल्त्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्थानिता-निरूपित आदेशताश्रयधर्मिकारोपप्रकारीभूत धर्म से साक्षात् अवच्छिन्न उद्देश्यताकविधि अल्विधि कही जाती है"। यहाँ लोप का स्थानी रकारवृत्ति रुत्वधर्म को लाकर उसे उत्व करने की बात है। यहाँ अल्त्वव्याप्य धर्म रत्वधर्म है, तदवच्छिन्नस्थानितानिरूपित आदेशता लोप में है, वह लोप है धर्मी जिसमें ऐसा जो आरोप वह है "लोपः रत्ववान् भवतु" इस आरोप में लोप विशेष्य (धर्मी) और रत्व प्रकार है। रत्व का तात्पर्य यहाँ रुत्व से है, क्योंकि "हशि च" सूत्र रुत्वेन रकार का ग्रहण करके उत्व का विधान करता है। अन्यथा यदि रत्वेन रकार का ग्रहण करें तो "प्रातरत्र" प्रयोग में भी उत्व होने लगेगा। इस प्रकार रुत्वधर्म से साक्षात् अवच्छिन्नोद्देश्यताक-विधि उत्वविधि अल्विधि है। इसलिए यहाँ 'अनल्विधौ' से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा। इस प्रकार लोप होने पर उत्व की प्राप्ति न होने के कारण उत्व नित्य नहीं है।

यदि कहा जाय कि रुत्व को उद्देश्य करके विधेय उत्व अल्विधि नहीं है। क्योंकि "रु" यह अल्समुदाय है न कि अल् है। इस प्रकार अल्विधि न होने के कारण "अनल्विधौ" यह निषेध यहाँ प्रवृत्त नहीं होगा तो स्थानिवत्त्वेन लोप के बाद भी उत्व हो सकता है। इस प्रकार उत्व नित्य है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्थानिवद्भाव से रुत्व के आने पर भी उत्व नहीं हो सकता है। कारण यह है कि "हशि च" सूत्र में अनुवृत्त "रोः" इस पद में जो षष्ठी है वह स्थानषष्ठी है। इसका अर्थ है—उच्चारणप्रसङ्ग। इस प्रकार "हशि च" का अर्थ होता है "अप्लुत अकार से पर में 'रु' के स्थान पर उत्व होता है।" अर्थात् उच्चार्यमाण रु के स्थान पर उत्व होता है। प्रस्तुत स्थल में जहाँ लोप हुआ है वहाँ तो उच्चारण का अभाव ही है। इस प्रकार उच्चारणप्रसङ्ग का अभाव होने के कारण लोप होने पर उत्व नहीं हो सकता है। इसीलिए यहाँ नित्यत्वात् उत्व के होने की बात न कह कर परत्वात् रेफ के लोप की बात कही गई है।

एतत्तदोः। अनुकार्यस्वरूपभङ्गभिया कोशे इवैकशेषाभावः। 'एतत्तदोरनन्तर' इत्यर्थः। तेन 'परमस ददाती'त्यादौ न दोषः। गौणे तु न दोषः, तत्र त्यदाद्यत्वाभावेन हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् इत्यादिलोपस्य दुर्वारात्। 'सु' इति प्रथमैकवचनमेव, व्याख्यानात्।

"एतत्तदोः" इस सूत्र में जो एतत् और तत् शब्द हैं वे लक्ष्यस्थ एतत् और तत् शब्द के अनुकरण हैं। 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इस नियम से अनुकरण अनुकार्य के तुल्य होता है। इसीलिए

अनुकरण से अनुकार्य का बोध होता है। इस प्रकार सूत्रस्थ एतत् और तद् के त्यदादि होने के कारण "त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत् परं तच्छिष्यते" इस वार्तिक से यहाँ एकशेष होना चाहिए। यदि कहा जाय कि "प्रकृतिवदनुकरणम्" यह अतिदेश अनित्य है, इसलिए यहाँ उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अनित्य होने पर भी यहाँ उसकी प्रवृत्ति न होने में कोई प्रमाण नहीं है।

यदि कहा जाय कि सौत्रत्वात् यहाँ एकशेष नहीं होता तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में इस सूत्र की वृत्ति में "एतत्तदोः" न कह कर वहाँ तो एकशेष करना ही चाहिए था। इस आशंका को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि जिस प्रकार कोश में समानार्थक और विरूप शब्दों के स्वरूप के भङ्ग के भय से "विरूपाणामपि समानार्थानाम्" सूत्र से एकशेष नहीं होता उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र में अनुकार्य के स्वरूप के भङ्ग के भय से एकशेष नहीं होता है। अन्यथा एक का शेष रहने पर दूसरे के अनुकार्य के स्वरूप का निर्णय ही नहीं होता।

वास्तव में "स्वं रूपम्" इस सूत्र की सहायता से तथा लक्ष्यस्थ का अनुकरण होने के कारण सूत्रस्थ एतत् और तत् ये दोनों शब्द स्वरूप के बोधक हैं। इस प्रकार सर्वार्थ का वाचक न होने के कारण त्यदादिग्रहण से इनका ग्रहण नहीं होता है। इसलिए यहाँ "त्यदादीनामः" सूत्र से अत्व तथा "त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ" इस वार्तिक से एकशेष नहीं होता है। इसी प्रकार कोश में पठित प्रथमान्त शब्द स्वरूप के बोधक हैं, इसलिए तुल्यार्थत्व का अभाव होने के कारण वहाँ एकशेष नहीं होता है।

इस सूत्र का अर्थ ऐसा नहीं किया जा सकता कि एतत् और तत् से पर में जो सु अथवा विहित जो सु उसका लोप होता है, क्योंकि ऐसा अर्थ तो पञ्चम्यन्त पद से समवधान में ही हो सकता है। यहाँ तो "एतत्तदोः" यह षष्ठ्यन्त पद है। अतः उपर्युक्त अर्थ यहाँ सम्भव नहीं है। सु के प्रत्यय होने के कारण यहाँ अवयव-षष्ठी की सम्भावना भी नहीं है। इसलिए शेखरकार यहाँ अनन्तर पद का अध्याहार करके सूत्रार्थ की बात करते हैं कि एतत् और तत् के अनन्तर = अव्यवहितोत्तर जो सु, उसका लोप होता है। ऐसा अर्थ करने का परिणाम यह होता है कि "परमस ददाति" इत्यादि प्रयोगों में दोष नहीं होता, क्योंकि यहाँ भी तत् शब्द से अव्यवहितोत्तर सु विभक्ति का लोप हो जाता है। यदि यहाँ विहित विशेषण किया गया होता तो सुलोप नहीं होता, क्योंकि यहाँ सु विभक्ति तत् शब्द से विहित नहीं है, किन्तु परमतत् से विहित है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि यदि एतत् और तत् शब्द से अव्यवहितोत्तर सु का लोप किया जा रहा है तो जहाँ तत् शब्द गौण है ऐसे "अतितत्-ददाति" आदि प्रयोगों में भी सु का लोप होने लगेगा? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि गौण स्थल में कोई दोष नहीं है, क्योंकि "संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः" इस नियम से वहाँ का तत् शब्द सर्वनाम ही नहीं है, इसलिए वहाँ प्रस्तुत सूत्र का प्रवृत्ति नहीं होगी। किन्तु जब वहाँ त्यदादित्व का ही अभाव है, तो वहाँ "त्यदादीनामः" सूत्र की भी प्रवृत्ति नहीं होती है, फलस्वरूप वहाँ "हल्ङ्यादि" लोप होता है।

प्रस्तुत सूत्र में "सु" पद से प्रथमा के एकवचन का ही ग्रहण होता है, सप्तमी के बहुवचन का ग्रहण नहीं होता है। कारण यह है कि "स्यश्छन्दसि बहुलम्" (६।१।१३३) तथा "सोऽचि लोपे" (६।१।१३४) इन उत्तरसूत्रों में प्रथमा का एकवचन 'सु' ही सम्भव है, इसलिए अर्थाधिकार के अनुरोध से प्रस्तुत सूत्र में अनुनासिक उकारविशिष्ट सु का निर्देश है, ऐसा अनुमित किया जाता है। इसलिए सप्तमी के "सु" का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि यहाँ उकारानुबन्धक "सु" नहीं है। शेखरकार के "व्याख्यानात्" पद का यही स्वारस्य है।

अनञ्समासे किमिति। तस्य पूर्वपदार्थप्रधानत्वादुपसर्जनत्वात्त्यदाद्यत्वाभावेन हल्ङ्यादिलोपो दुर्वार इति प्रश्नः। उत्तरपदार्थप्रधानः स इत्युत्तरम्।

"असश्शिवः" इस प्रयोग में सुलोप के वारण के लिए प्रस्तुत सूत्र में "अनञ्समासे" इस पद का ग्रहण किया गया है। यहाँ यह शंका होती है कि उक्त पद के ग्रहण करने से इस सूत्र से "असश्शिवः" प्रयोग में सुलोप भले ही न हो, किन्तु नञ्समास में पूर्वपदार्थ के प्रधान होने के कारण उत्तरपदार्थ अप्रधान (गौण) हो जाता है। इसका परिणाम यह होगा कि यहाँ "त्यदादीनामः" की प्रवृत्ति नहीं होगी तो यहाँ हल्ङ्यादि लोप तो दुर्वार ही होगा। इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि "अनञ्समासे" इस पद के ग्रहणसामर्थ्य से नञ्तत्पुरुष में उत्तरपदार्थ प्रधान होता है, इसलिए "असश्शिवः" प्रयोग में सुलोप-वारण के लिए "अनञ्समासे" इस पद का सूत्र में ग्रहण करना आवश्यक है।

सोऽचि। 'ससि'ति प्रथमान्तस्य लुप्तषष्ठीकमनुकरणम्। सेमामविड्ढीति। द्वादशाक्षरपादा जगती छन्दः। स एवमुक्त्वेति। लोपेऽत्र पादापूर्तेर्न लोप इति भावः। अवधारणन्त्विति। वृद्धैर्व्याख्यातमवधारणन्त्वित्यर्थः। बहुलेत्यादि। गमकान्तराभावादिति भावः। एवञ्च तदनुवृत्त्यैव क्वचिदप्रवृत्तौ सिद्धायामवधारणपरतया व्याख्यानं व्यर्थमिति भावः। सर्वमेतदवधारणन्त्विति तुना सूचितमित्यलम्॥

॥ इति स्वादिसन्धिः ॥

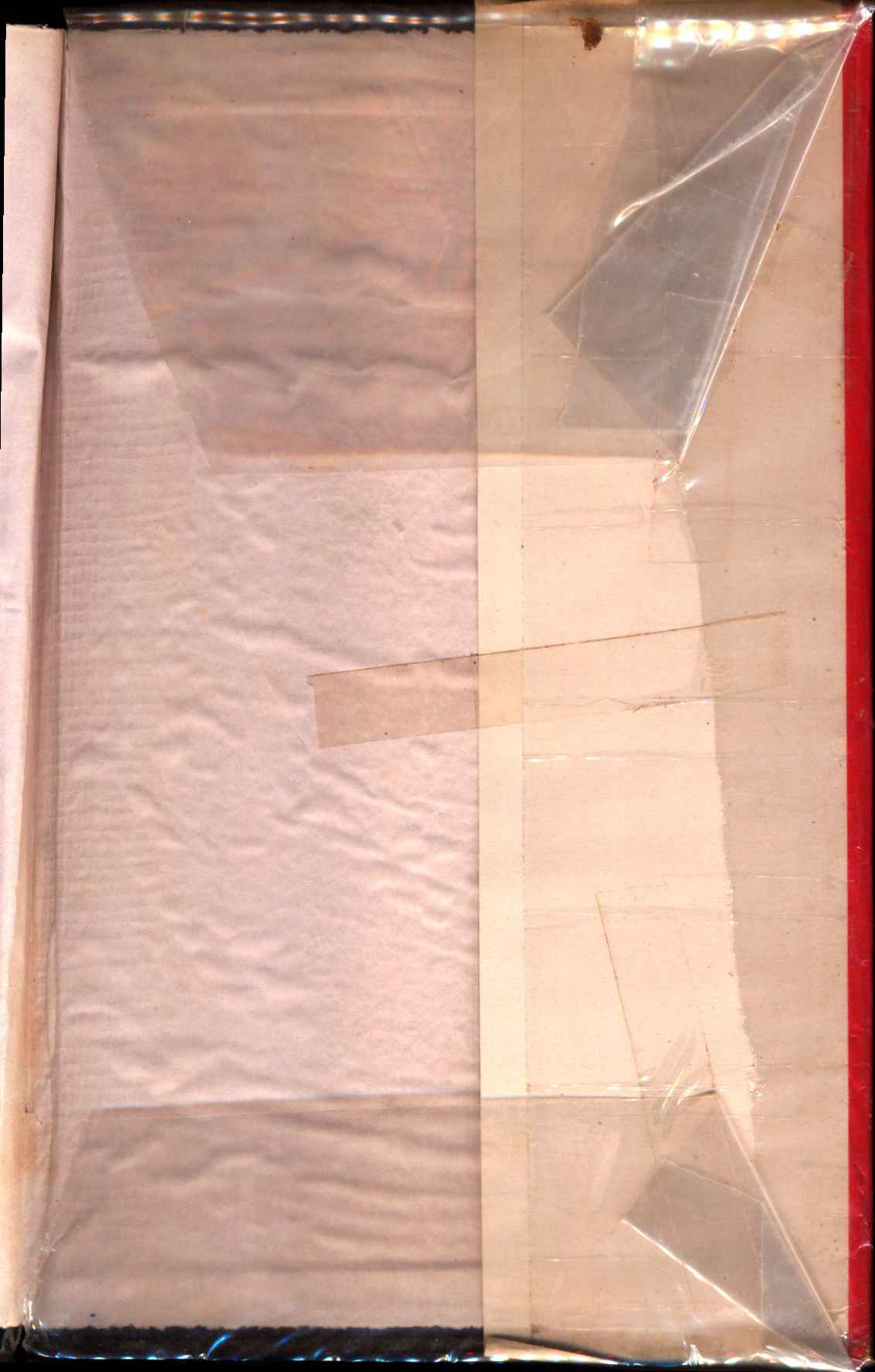
"सोऽचि लोपे" इस सूत्र में "सस्" यह प्रथमान्त का अनुकरण लुप्तषष्ठ्यन्त पद है। पूर्व- सूत्र "एतत्तदोः" से यहाँ "सुलोपः" इस पद की अनुवृत्ति होती है। इसलिए इसका अर्थ होता है "सस् इस आनुपूर्वी के 'सु' का लोप होता है।" जहाँ इस सूत्र से सुलोप करने पर पादपूर्ति होती हो और लोप न करने पर पादपूर्ति भी न होती हो वहीं इस सूत्र से सुलोप होता है। इस बात को दृष्टिगत करके कौमुदी में इसका उदाहरण "सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे" यह प्रयोग दिया गया है। यहाँ बारह अक्षरों वाला जगती छन्द है। इस प्रकार यह कथन कि "यहाँ "प्रभृतिं" तक ही एक पाद है" यह कथन परास्त समझना चाहिए। यहाँ सुलोप होने पर ही पाद की पूर्ति होती है, इसलिए यहाँ सुलोप हो जाता है।

कौमुदी में "लोपे चेत्" का फल "स एवमुक्त्वा" इस प्रयोग में प्रस्तुत सूत्र से सुलोप का न होना बतलाया गया है। यदि यहाँ इस षाष्ठ सूत्र से सुलोप किया जाता है तो "स+

वमुक्त्वा" इस स्थिति में "वृद्धिरेचि" सूत्र से यहाँ वृद्धि होने लगती, क्योंकि वृद्धि की दृष्टि यह षाष्ठ सुलोप असिद्ध नहीं होता। जब वृद्धि हो जाती तो पाद की पूर्ति नहीं होती। सलिए इस सूत्र की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है। इसकी प्रवृत्ति तो वहीं होती है जहाँ इससे लोप होने पर पादपूर्ति होती हो। अतः यहाँ सकार को रुत्व और यत्व करके उस यकार को लोपः शाकल्यस्य" इस त्रिपादी सूत्र से लोप किया जाता है। परिणाम यह होता है कि वृद्धि की कर्तव्यता में यह आष्टमिक सूत्र असिद्ध हो जाता है, जिससे बीच में यकार-बुद्धि हो जाने से वृद्धि नहीं होती है।

दीक्षितजी ने कौमुदी में कहा है कि "स्यश्छन्दसि बहुलम्" इस सूत्र से "बहुलम्" पद की यहाँ अनुवृत्ति करके "सत्येव" इस अवधारण का यहाँ लाभ हुआ है। नागेश भट्ट इस अवधारण को संकेतित करते हुए कह रहे हैं कि "वृद्धैर्व्याख्यातमवधारणन्तु" अर्थात् यहाँ अवधारणपरक व्याख्या वृद्धाभिमत है न कि सिद्धान्तपक्ष है। कौमुदी में यह जो कहा गया है कि "बहुलग्रहणानुवृत्त्या" इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ यदि अवधारण अर्थ करना अभिप्रेत है तो बहुलग्रहण की अनुवृत्ति के बिना दूसरा कोई गमक नहीं है जिससे अवधारण अर्थ का यहाँ लाभ हो सके। इस प्रकार "बहुलम्" की अनुवृत्ति से ही इस सूत्र की कहीं अप्रवृत्ति सिद्ध है, क्योंकि "बहुलम्" की यह मर्यादा है कि कहीं सूत्र की अप्रवृत्ति भी करा देता है। जब इस सूत्र की कहीं विशेष लक्ष्य में अप्रवृत्ति भी सिद्ध है तब "सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्" इस प्रयोग में इसकी प्रवृत्ति नहीं होने से यहाँ "सुलोप" स्वयमेव नहीं होगा। ऐसी स्थिति में इस प्रयोग में सुलोपाभाव के लिए अवधारणपरक व्याख्यान यहाँ व्यर्थ ही है। ये सारी बातें "अवधारणन्तु" में आगत "तु" शब्द से सूचित हैं।

विश्वनाथ मिश्र कृत लघुशब्देन्दुशेखर में स्वादिसन्धि-प्रकरण की 'सुबोधिनी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।



बृहद्धातुकुसुमाकर:

(सिद्धान्तकौमुदी के सभी धातुरूपों का संग्रह)

पं. हरेकान्त मिश्र

संस्कृत भाषा के परिज्ञान के लिए धातुरूपों का प्रचुर ज्ञान आवश्यक है। संस्कृत भाषा की सर्वोपरि विशेषता यह है कि शब्द क्रियापद धातु से ही बनते हैं और प्रयत्न सनन्तादि में उनके अर्थ बदल जाते हैं– उभयपदी भी हो जाते हैं।

धातुरूपों की जितनी पुस्तकें छपी हैं उनमें यह पुस्तक विद्यार्थियों, विद्वानों तथा अन्य संस्कृत प्रेमियों की एक बहु-प्रतीक्षित माँग की पूर्ति करती है। इस ग्रन्थ के निर्माण में पूर्व प्रकाशित उपलब्ध सभी ग्रन्थों की सहायता ली गयी है। बृहद्धातुरूपावली के नाम से जो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं वे अपूर्ण प्रतीत हो रही थीं। अतः काशी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान-लेखक ने सर्वाङ्गपूर्ण यह संस्करण प्रस्तुत किया है।

सिद्धान्तकौमुदी के भ्वादिप्रकरण से लेकर चुरादि प्रकरणान्त दशगणी धातुओं के दशों लकारों के समस्त रूपों के साथ-साथ उनके णिजन्त, सनन्त, यङन्त, भावकर्म, कर्मव्यतिहार तथा कृदन्त के सभी रूप लिखे गये हैं। गूढ स्थलों पर 'कौमुदी' नामक बृहद् टिप्पणी दे देने से इस ग्रन्थ की और भी उपयोगिता बढ़ गई है। आजतक इस प्रकार के धातुरूपों का सर्वाङ्गपूर्ण संस्करण प्रकाशित हुआ ही नहीं था।

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली